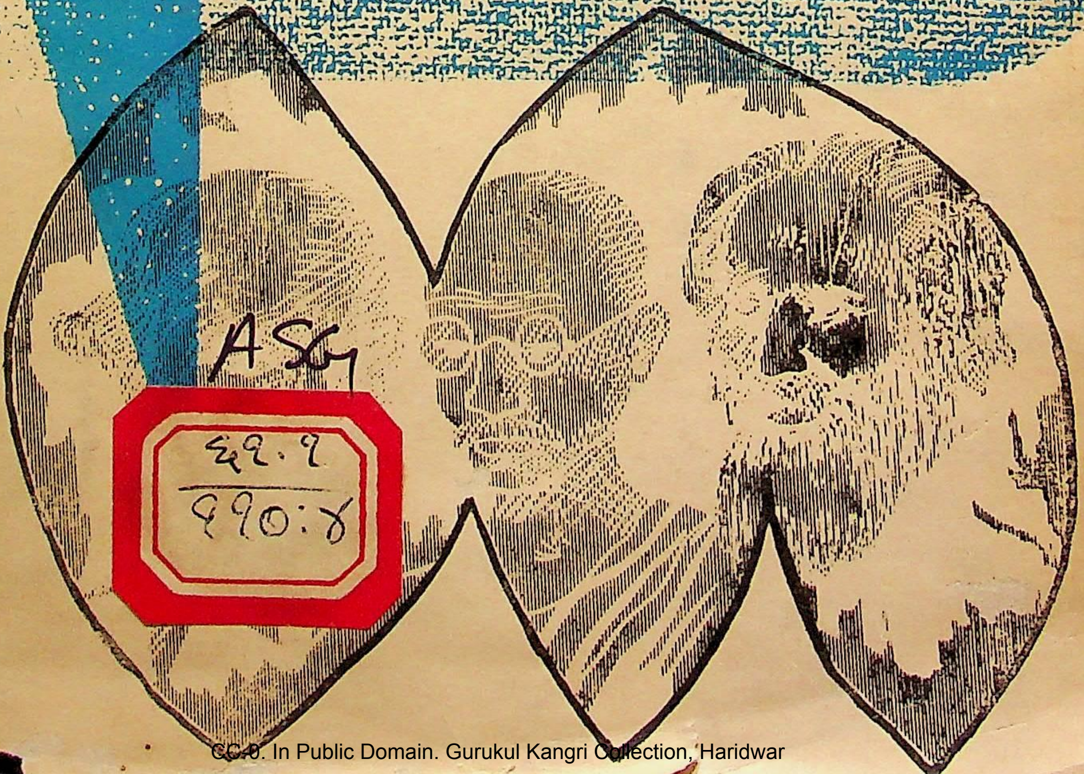
पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा

हरिदत्त वेदालंकार



पाश्चात्त्य राजनीतिक विचारधारा

[पश्चिमी जगत् के प्रमुख राजनीतिक विचारकों का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय]

(प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक विचारक)

लेखक :

हरिदत्त वेदालंकार, एम० ए०

भू० प्राध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भू० निदेशक, प्रकाशन विभाग, गो० व० पन्त विश्वविद्यालय, पन्तनगर

प्रकाशक :

रंजन प्रकाशन गृह

सी-5/13, सफदरजंग योजना,

नई दिल्ली-110 016

प्रथम संस्करण, 1985] **[मूल्य : 75 रुपये**

प्रकाशक :
रंजन प्रकाशन गृह
सी-5/13, सफदरजंग योजना,
नई दिल्ली-110 016

मुद्रक :
चोपड़ा प्रिंटर्स
मोहन पार्क, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110 032

प्रथम संस्करण की भूमिका

पश्चिमी जगत् की राजनीतिक विचारधारा का अध्ययन हमारे लिए कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखता है। पिछले दो सौ वर्षों में हमारे देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण पर और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम के आन्दोलन पर पश्चिमी विचारधाराओं तथा विचारकों का गहरा प्रभाव पड़ा है। पिछली शताब्दी में अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों के विचारों का मूलप्रेरणास्रोत फ्रांस में हुई राज्यक्रान्ति की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की तथा राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की एवं ब्रिटिश उदारवाद और सुधारवाद की भावनाएँ थीं। बीसवीं शताब्दी के मध्य में स्वतन्त्र होने के बाद बनाए गए नवीन भारतीय संविधान पर ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका, रूस, कनाडा, आस्ट्रेलिया और आयर्लैंण्ड के संविधानों और राजनीतिक विचारों का प्रभाव पड़ा है। 1950 ई० से लागू होने वाले भारतीय संविधान की प्रस्तावना पर और राज्य की नीति का संचालन करने वाले सिद्धान्तों (Directive Principles of State) पर पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा की स्पष्ट छाप है। अतः भारत के संविधान और राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को भलीभाँति समझने के लिए पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा का अनुशीलन आवश्यक है।

इस पुस्तक में इसी महत्त्वपूर्ण विचारधारा का संक्षिप्त, सुबोध, प्रामाणिक, मनोरंजक सरस और सरल विवेचन करने का विनम्र प्रयास है। जिस प्रकार हमारे देश के ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत वेद समझे जाते हैं, उसी प्रकार पश्चिम में समस्त ज्ञान की गंगोत्री ग्रीस यूनान है। पश्चिमी जगत् का समूचा तत्त्व-चिन्तन सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू से आरम्भ होता है। अतः सर्वप्रथम इन विचारकों के राजनीतिक विचारों का परिचय दिया गया है। इसके बाद यूनान के एपीक्योरियन व स्टोइक दार्शनिकों तथा रोमन साम्राज्य के विकास के साथ रोम के राजनीतिक विचारों का विवेचन किया गया है। इसके बाद ईसाइयत की विचारधारा, मध्ययुग में धर्मसत्ता और राजसत्ता के संघर्ष, सन्त आगस्टाइन और सन्त थामस एक्वीनास, मारसिलियो, परिषदीय आन्दोलन, धर्म-सुधार आन्दोलन, मेकियावेली, बोदैं, ग्रोशियस, हॉब्स, लॉक़ रूसो, मांतेस्क्यू व बर्क तथा उपयोगितावादी विचारक—बेन्थम, जॉन स्टुअर्ट मिल एवं जर्मन और ब्रिटिश दार्शनिक—काण्ट हेगल, ग्रीन, ब्रैडली और बोसांके के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण किया गया है। अन्त में बीसवीं शताब्दी पर अत्यधिक प्रभाव डालने वाले कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद तथा बहुलवादी विचारधारा के प्रमुख प्रतिनिधि

ब्रिटिश विचारक लास्की के राज्य-विषयक विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक में विषय का प्रतिपादन करते हुए इस बात का ध्यान रखा गया है कि इसमें राजनीतिक सिद्धान्तों का ही नहीं, अपितु उनकी ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का भी परिचय दिया गया है। प्रत्येक विचारक अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही चिन्तन करता है। इन परिस्थितियों को समझे बिना उसके विचारों को पूर्णरूप से नहीं समझा जा सकता है। अतः यहाँ प्रत्येक विचारक के समय की राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों का स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया है। इसके साथ ही अनेक स्थानों पर पश्चिम के प्रमुख विचारकों की चिन्तनधारा का वर्णन करते हुए इससे सादृश्य रखने वाले भारतीय विचारों को भी पाद-टिप्पणियों में प्रदर्शित किया गया है।

पहले लेखक ने पश्चिम की प्राचीन तथा मध्यकालीन और आधुनिक विचार-धाराओं का विवेचन दो पृथक् ग्रन्थों में किया था। इनको हिन्दी जगत् में बड़ी लोक-प्रियता मिली, इनके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए, इनको साहित्यिक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। इस विषय में अनेक पाठकों का यह सुझाव था कि पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा का संक्षिप्त परिचय एक पुस्तक में दिया जाए तो इसकी उपयोगिता अधिक बढ़ जाएगी। इस दृष्टि से इस पुस्तक का प्रणयन किया गया है। आशा है, पिछली पुस्तकों की भाँति यह भी इस विषय में अभिरुचि रखने वाले पाठकों, प्राध्यापकों तथा छात्रों में लोकप्रिय होगी। इस पुस्तक के लिए मुझे डॉ० जगबीरसिंह राघव से बहुमूल्य सहायता तथा सुझाव मिले हैं; इसके लिए मैं उनका अतीव आभारी हूँ। इस पुस्तक के प्रणयन की प्रेरणा और भीषण कागज की महँगाई के युग में इसे प्रकाशित करने का श्रेय श्री विश्वरंजन जी को है। इसके मुद्रण के लिए श्री पद्ममोहन नागर ने बड़ी दौड़-धूप की है। इनके सहयोग के बिना इसका शीघ्र मुद्रण सम्भव न था। अतः मैं इन दोनों का आभार मानता हूँ।

सम्भवतः इस पुस्तक के लेखन तथा मुद्रण में कुछ त्रुटियाँ रह गई होंगी। इसके लिए लेखक का विज्ञ प्राध्यापकों एवं प्रिय छात्रों से अनुरोध है कि वे लेखक को इनके बारे में तथा पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अपने बहुमूल्य सुझाव देने की कृपा करें। लेखक इसके लिए उनका अत्यन्त अनुगृहीत होगा।

—हरिदत्त

विषय-सूची

पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा

पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा

पहला अध्याय

प्लेटो

पश्चिम में राजनीतिक चिन्तन का मूलस्रोत यूनान—भारत में सब विद्याओं का आदि मूल वेद माना जाता है, पश्चिम में समूचे ज्ञान-विज्ञान की गंगोत्री यूनान है। राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से सत्य है। पश्चिमी जगत् में जिस प्रकार कानून के सृजन का श्रेय रोम को दिया जाता है, उसी प्रकार राजशास्त्र के प्रादुर्भाव का गौरव यूनान को प्रदान किया जाता है। बार्कर ने लिखा है—"राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ यूनानियों से होता है।"[1] मैकिलवेन के मतानुसार, "राजनीतिक सम्बन्धों पर विचार-विमर्श की जो धारा योरोपियन जगत् में तथा योरोपियन संस्कृति से प्रभावित देशों में बह रही है, उसका आरम्भ यूनानियों से हुआ।"[2] इसका एक बड़ा मनोरंजक प्रमाण यह है कि राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द और परिभाषाएँ—राजनीतिक (Political), लोकतन्त्र (Democracy), कुलीनतन्त्र (Aristocracy) यूनानी भाषा की हैं। यूनानी अपने वैयक्तिक कार्यों (Idios) में लगे रहने वाले व्यक्ति को निन्दा की दृष्टि से देखते थे और उसे मूर्ख (Idiot) समझते थे। उन्होंने सर्वप्रथम राज्यों का तथा शासन की विभिन्न प्रणालियों का वर्गीकरण किया; प्रजातन्त्र, अल्पतन्त्र (Oligarchy), निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny), कुलीनतन्त्र (Aristocracy) आदि विभिन्न प्रकार के शासनों के स्वरूप का मूल्यांकन किया तथा इसके आधार पर यह परिणाम निकाला कि गर्मी, सर्दी आदि ऋतुओं के चक्र की भाँति समाज में विभिन्न प्रकार के राज्यों का परिवर्तनचक्र चलता है, सबसे पहले राजतन्त्र होता है, इसके बाद क्रमशः इसके स्थान पर निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny), कुलीनतन्त्र, अल्पतन्त्र और प्रजातन्त्र स्थापित होते हैं। शासन-प्रणालियों में परिवर्तन का चक्राकार नियम (Cyclical law) यूनानियों की बहुत बड़ी खोज थी। इनके परिवर्तन का उपर्युक्त क्रम भले ही सत्य

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ॰ 1.
2. मैकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थाट इन दी वेस्ट, पृ॰ 3.

न हो, किन्तु शासन-प्रणालियों में परिवर्तन होने का विचार सर्वथा सत्य था। इसी प्रकार यूनानियों ने राज्य के उद्देश्य, प्रयोजन, स्वरूप एवं अधिकार के बारे में मौलिक चिन्तन किया। उनका यह मत था कि व्यक्ति का सर्वोच्च विकास राज्य द्वारा ही सम्भव है, वे शिक्षा के और राजनीतिक (Political) दायित्वों के तथा कानून के स्वरूप के गम्भीर और क्रमबद्ध चिन्तन का श्रीगणेश करने वाले थे। उन्होंने राज्य की सभी समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने की परिपाटी आरम्भ की। अतः ज़िमर्न ने लिखा है कि "यूनानियों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने राजनीतिक चिन्तन का आविष्कार किया।"[1] यूनान में राजनीतिक चिन्तन का सर्वोत्तम रूप हमें चौथी शताब्दी ई० पूर्व के एथेन्स में प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं में मिलता है। अतः यहाँ सर्वप्रथम प्लेटो के राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा।

जीवन-चरित्र—पश्चिमी जगत् में सर्वप्रथम आदर्श काल्पनिक राज्य (Utopia) की योजना प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक-शिरोमणि प्लेटो का जन्म एथेन्स के प्राचीन, प्रथित और समृद्ध कुल में 428-27 ई० पू० में हुआ। उसके पिता अरिस्तौन की वंशावली एथेन्स के प्राचीन राजाओं में होती हुई पोसीदन (Poseidon) देवता तक पहुँचती थी और मातृकुल का सम्बन्ध एथेन्स में सुप्रसिद्ध कानूनों का निर्माण करने वाले सोलन के साथ था। उसे सब प्रकार का सौभाग्य—उच्चकुल, वैभव, अद्वितीय सौन्दर्य, शारीरिक स्वास्थ्य और प्रखर बुद्धि प्राप्त थी। उसका वास्तविक नाम अरिस्तोक्लीज़ (Arsitoclese) था, किन्तु उसके खूब भरे हुए चौड़े कन्धों के कारण उसके मल्ल-शिक्षक ने उसे प्लेटो का नाम दिया। उसका बाल्यकाल ऐसे कुटुम्ब में बीता, जिसके सदस्य अनेक पीढ़ियों से राजनीति में प्रमुख भाग ले रहे थे। आरम्भ में उसकी इच्छा भी राजनीतिज्ञ बनने की थी। अपने जीवन के सन्ध्याकाल में उसने अपने **सातवें पत्र** (Seventh Epistle) में लिखा था—"अधिकांश युवकों की भाँति मैं यह सोचता था कि बालिग होते ही सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करूँगा।" उसको इसका बड़ा सुअवसर भी मिला। 404 ई० पू० में एक क्रान्ति द्वारा एथेन्स में लोकतन्त्र के स्थान पर 'तीस निरंकुशों' (Thirty Tyrants) का शासन स्थापित हुआ। इनमें क्रितियास आदि उसके सम्बन्धी भी सम्मिलित थे, उन्होंने इसे शासन में भाग लेने को कहा, किन्तु प्लेटो के शब्दों में उनके व्यवहार से उसका 'खून खौलने लगा', इन्होंने थोड़े समय में ही अपने काले कारनामों से पुरानी लोकतन्त्रीय सरकार को 'स्वर्ण युग' की घटना बना दिया। शीघ्र ही एथेन्स में एक दूसरी क्रान्ति द्वारा लोकतन्त्रवादियों ने शासनसत्ता हस्तगत की। प्लेटो आरम्भ में उनकी 'उदारता' से प्रभावित हुआ, किन्तु शीघ्र ही उनके कारनामों से विशेषतः सुकरात के मृत्युदण्ड के कारण उसे राजनीति से विरक्ति हो गई।

18-20 वर्ष की आयु में प्लेटो सुकरात के सम्पर्क में आया। बाह्य दृष्टि से दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर था। चपटी नाक, मोटे होंठ, भद्दी चाल तथा यूनानी वन-देवता सेटर (Satyr) के सामान भद्दी शकल वाले, शुष्क दार्शनिक सुकरात

1. लिविंगस्टोन—दी लीगेसी ऑफ ग्रीस, पृ० 331.

का सुरूप, अभिराम, यूनानी देवता अपोलो (Apollo) जैसे सुन्दर, मल्लविद्या और कविता में ख्याति प्राप्त करने वाले, रसिक, सम्भ्रान्त और कुलीन प्लेटो में कोई सादृश्य नहीं था। किन्तु सुकरात की शिक्षाओं ने प्लेटो को आकृष्ट किया। प्लेटो उसका शिष्य बना और जिस समय सुकरात पर अभियोग चलाया गया तो वह वहाँ उपस्थित था और उसने उसके लिए जमानत देने का प्रस्ताव रखा था।

जब सुकरात को विषपान का दण्ड दिया गया तो प्लेटो की आयु 28 वर्ष की थी। प्लेटो पर इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा। इसने उसे राजनीति से पराङ्मुख कर दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी बना दिया। उसने अपने **सप्तम पत्र** में लिखा है कि इसके बाद "मैं दर्शनशास्त्र की प्रशंसा में यह कहने को बाधित हुआ कि केवल इसी से व्यक्ति सार्वजनिक और वैयक्तिक न्याय का स्वरूप समझ सकता है और मैंने यह कहा कि राष्ट्र तब तक उपद्रवरहित नहीं होंगे, जब तक या तो सच्चे और वास्तविक दार्शनिकों की श्रेणी राजनीतिक पदों पर आरूढ़ नहीं होगी या राज्यों के शासक दैवी आदेश से दर्शनशास्त्र का अध्ययन नहीं करेंगे।"

399 ई० पू० में सुकरात के प्राणदण्ड के बाद सम्भवतः उसका साथी और लोकतन्त्र का विरोधी होने के कारण प्लेटो का एथेन्स में रहना निरापद नहीं था। यह वहाँ से निकटवर्ती मेगरा (Megara) नगर में अपने कुछ अन्य मित्रों के साथ चला गया। इसके बाद उसका 12 वर्ष तक का इतिहास अज्ञात है। उसके इस अज्ञातवास के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि उसने ज्ञान प्राप्ति के लिए इस काल में मिश्र, इटली आदि देशों का भ्रमण किया; यहाँ तक कहा जाता है कि उसने गंगा के तट तक भारत की यात्रा भी की थी।[1] 12 वर्ष तक वह देशदेशान्तरों में मतमतान्तरों का अध्ययन करता हुआ भ्रमण करता रहा। यद्यपि वह भौतिक रूप से इतना नहीं घूमा, तो भी मानसिक रूप से उसने इन देशों के विचारकों के सिद्धान्तों का परिचय पाया। पिथागोरस के सिद्धान्तों का ज्ञान पाने तथा दार्शनिकों का शासन देखने के लिए वह 387 ई० पू० में इटली और सिसली गया। सिसली के सिराक्यूज़ राज्य में उसकी भेंट दियोन (Dion) नामक अत्यन्त सुसंस्कृत व्यक्ति एवं वहाँ के राजा दियोनिसियस प्रथम से हुई। उसकी प्रेरणा से वह दियोनिसियस को दार्शनिक शासक बनाने को तैयार हो गया। किन्तु जब उसने रिपब्लिक के सिद्धान्तों का पाठ पढ़ाते हुए उसके अन्याय और निरंकुश शासन की बड़ी कड़ी आलोचना की तो दियोनिसियस ने उसे स्पार्टा के राजदूत को सौंप दिया[2] और उसने उसे दास के रूप में एजाइना (Aegina) के टापू में बेच दिया। यहाँ उसके एक पुराने मित्र अनीकैरिस ने उसे खरीदकर मुक्त करा दिया और एथेन्स भिजवाया। प्लेटो के भक्तों ने धन एकत्र कर अनीकैरिस को उसका रुपया वापिस लौटाना चाहा, किन्तु उसके इसे स्वीकार न करने पर इस धनराशि से एथेन्स के बाहर अकादीमस (Academicus) की वाटिका मोल ले ली गई और यहाँ प्लेटो ने अपना शिक्षणालय 383 ई० पू० में खोला। यही प्लेटो की

1. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० 20.
2. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 110,

प्रसिद्ध अकादमी थी, जिसे योरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त है। यह 529 ई० में रोमन सम्राट् जस्टीनियन द्वारा बन्द किए जाने पर नौ सौ वर्ष तक चलता रहा। प्लेटो के दास के रूप में बेचे जाने की कथा की प्रामाणिकता में सन्देह किया जाता है, किन्तु यह निर्विवाद है कि उसने अपनी आयु के 40वें वर्ष में अकादमी की स्थापना की थी और उसकी आयु के अगले 40 वर्ष यहीं अध्यापन कार्य में बीते।

367 ई० पू० में प्लेटो को दासरूप में बिकवाने वाले दियोनिसियस प्रथम की मृत्यु के बाद 30 वर्षीय **दियोनिसियस द्वितीय** राजगद्दी पर बैठा और वह दियोन की प्रेरणा से दार्शनिक शासक बनने की शिक्षा लेने के लिए तैयार हो गया। दियोन(Dion) ने प्लेटो को सिराक्यूज़ आकर अपने आदर्श को क्रियात्मक रूप देने की प्रार्थना की। प्लेटो इस समय 60 वर्ष का हो चुका था, उसका सिराक्यूज़ का पहला अनुभव दुःखपूर्ण था, फिर भी वह यह सोचकर वहाँ गया कि उसके वहाँ न जाने से वह और उसका विद्यालय दोनों स्वप्नद्रष्टा, काल्पनिक और अव्यावहारिक समझे जाएँगे, इसके अतिरिक्त वह सिराक्यूज़ तथा सिसली की सब बस्तियों को संगठित करके कार्थेज के खतरे को रोकना चाहता था। उसने लिखा था कि "यदि मैं वहाँ न जाता तो अपनी दृष्टि में स्वयमेव लज्जित होता।"

प्रारम्भ में प्लेटो शासक को दार्शनिक बनाने की प्रक्रिया में कुछ सफल हुआ, उसने उसे भूमितिशास्त्र (Geometry) पढ़ाना शुरू किया, उसकी देखादेखी अन्य दरबारी भी इसे सीखने के लिए रेत में त्रिभुजें आदि विभिन्न आकृतियाँ बनाने लगे, "दरबार में भूमितिभक्ति का ऐसा बवण्डर उठा कि सारा वातावरण धूलिमय हो उठा।" किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही, दियोनिसियस 30 वर्ष का हो चुका था, उसमें स्थिरचित्तता का अभाव था, उसे शीघ्र ही गुरु की शिक्षा नीरस बोझ प्रतीत होने लगी, चाटुकारों ने उसके कान भरे कि दियोन उसे दार्शनिक शासक बनाने के स्थान पर स्वयं शासक बनना चाहता है। दोनों में मनमुटाव यहाँ तक बढ़ा कि राजा ने दियोन को निर्वासित कर दिया, उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली, उसकी पत्नी का दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर दिया और दियोन को यह कहा कि निर्वासन को उसे विदेश में बिताई जाने वाली छुट्टी समझनी चाहिए और भूमि तथा स्त्री के छिन जाने के कारण अपने को सम्पत्ति और परिवार की चिन्ताओं से मुक्त तथा स्वतन्त्र मानना चाहिए। इस अवस्था में प्लेटो ने निराश होकर एथेन्स लौटना ही श्रेयस्कर समझा। लौटते हुए तारेन्तम (Tarentum) के दार्शनिक शासक अर्खीतास (Archytas) से उसकी भेंट एवं मैत्री हुई और यह बाद में उसे लाभप्रद सिद्ध हुई।

361 ई० पू० में दियोनिसियस ने प्लेटो को पुनः सिराक्यूज़ आने का निमन्त्रण देते हुए उससे शिक्षा पाने तथा उसके उपदेशों पर चलने का आश्वासन दिया। दियोन अभी तक निर्वासित था। पिछले कटु अनुभव के कारण प्लेटो 65 वर्ष की आयु में सिराक्यूज़ की तीसरी यात्रा करने को उत्सुक नहीं था। किन्तु तारेन्तम के शासक की प्रबल प्रेरणा पर वह वहाँ गया। दियोनिसियस को दर्शनशास्त्र के अध्ययन की कठिनाइयाँ बताईं, दियोन के साथ किए गए अन्याय को दूर करने को कहा। इसके

परिणामस्वरूप दोनों में इतना वैमनस्य बढ़ा कि प्लेटो ने शीघ्र ही अपने को प्रतिष्ठित बन्दी की दशा में अनुभव किया, अपने मित्र तारैन्तम के राजा के हस्तक्षेप और सहायता से ही वह सकुशल एथेन्स लौट सका। 81 वर्ष की आयु में वह अपने किसी शिष्य के आग्रह पर रात को एक विवाह-समारोह में सम्मिलित हुआ, उसके कोलाहल से परेशान होकर वह विश्राम और निद्रा के लिए एक दूसरे कमरे में चला गया। सवेरे शादी की धूमधाम समाप्त होने पर जब वर ने गुरु से आशीर्वाद लेने के लिए उस कमरे में प्रवेश किया तो वह चिरनिद्रा में विलीन हो चुका था। "दार्शनिकों का राजा और राजाओं को दार्शनिक बनाने वाला मृत्यु की रिपब्लिक में पहुँच चुका था।"

प्लेटो के ग्रन्थ—प्लेटो ग्रन्थ लिखने का विरोधी था, उसका कहना था कि वे चित्र में बनाई हुई व्यक्ति की आकृति की भाँति निर्जीव होते हैं, उनसे हमें अपनी शंकाओं का और जिज्ञासाओं का समाधान नहीं मिल सकता है। फिर भी उसके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों की संख्या 36 या 38 मानी जाती है, इनमें प्रामाणिक ग्रन्थ केवल 28 हैं। इनमें से रिपब्लिक, नोमोई (Laws) जैसे कुछ ग्रन्थ विशालकाय हैं और इयोन जैसे कुछ ग्रन्थ बहुत छोटे हैं। उसके सब प्रामाणिक ग्रन्थों का बर्नेट द्वारा सम्पादित आक्सफोर्ड से प्रकाशित यूनानी संस्करण 2662 पृष्ठों में समाप्त हुआ। उसके सभी ग्रन्थ संवाद या वार्त्तालाप (Dialouge) शैली में हैं, सबमें अन्तिम सिद्धान्त पक्ष रखने वाला व्यक्ति सुकरात है। उसने अपने सब विचार गुरु के मुख से प्रस्तुत किए हैं और अपना व्यक्तित्व अपने गुरु में इतने पूर्णरूप से निमज्जित कर दिया है कि आज यह नीर-क्षीर विवेक करना बहुत कठिन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कौनसे विचार प्लेटो के हैं तथा कौनसे सुकरात के हैं। प्लेटो उत्तम कवि, नाटककार और साहित्यिक था, उसने गूढ़ दार्शनिक संवादों को ऐसे नाटकीय एवं सजीव रूप में उपस्थित किया है कि इनमें औपन्यासिक रोचकता आ गई है, उसका गद्य पद्य से अधिक प्रभावशाली और सरस है। इसे उसने प्राकृतिक जगत् के दृष्टान्तों तथा पौराणिक कथाओं के समावेश से बड़ा मनोरंजक बना दिया है।

उसके ग्रन्थों में राज्यविषयक चिन्तन की दृष्टि से तीन ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(1) 378 ई० पू० के लगभग लिखा गया **पोलितेइया** अपने लैटिन नाम **रिपब्लिक** से अधिक प्रसिद्ध है। यह उसके आरम्भिक किन्तु परिपक्व विचारों का परिणाम है, इसमें उसकी साहित्यिक शैली परवर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और प्रौढ़ रूप में दिखाई देती है। (2) दूसरा ग्रन्थ **पोलिटिकस** या स्टेट्समैन (Statesman) 365 ई० पू० के लगभग लिखा गया था। (3) तीसरा ग्रन्थ **नोमोई** या लाज़ (Laws) 360 से 348 ई० पू० के मध्य का है, इसका अधिकांश भाग उसने 70 वर्ष की आयु के बाद अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में लिखा और इसे उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद उसके शिष्य एवं लेखक ओपिस के फिलिप ने प्रकाशित किया। इसमें रिपब्लिक के विचारों जैसी ऊँची उड़ान नहीं है, सिराक्यूज़ के क्रियात्मक अनुभव के कारण उसने अपने पहले के विचारों में आवश्यकतानुसार संशोधन किया है। यह उसके बुढ़ापे की रचना है, अतः सेबाइन के मतानुसार लाज़ में प्लेटो की निराशा

ध्वनित होती है। यहाँ इन ग्रन्थों के आधार पर उसके राजनीतिक विचारों का परिचय दिया जाएगा, किन्तु इससे पहले उसके मौलिक सिद्धान्त जान लेना आवश्यक है।

विचारों का सिद्धान्त (Theory of Ideas)—यह आदर्शवादी (Idealist) प्लेटो के दर्शन का मौलिक मन्तव्य है। उसका यह मत है कि इस दृश्यमान जगत् में हमें विभिन्न परिवर्तनशील पदार्थ दिखाई देते हैं, इनमें रहने वाला अतीन्द्रिय बुद्धि-ग्राह्य, एकरस तत्त्व 'विचार' या आइडिया (Idea) हैं। उदाहरणार्थ, संसार में असंख्य गौएँ मिलती हैं; भूत, वर्तमान और भविष्य में नाना रंग, स्वभाव की गौएँ होती हैं, इनमें परिवर्तन होते रहते हैं, इन्हें बताने वाले शब्द सब भाषाओं में अलग-अलग हैं। किन्तु इन सब भिन्नताओं के होते हुए भी गौओं की कुछ स्वाभाविक विशेषताएँ तीनों कालों में एक-जैसी रहेंगी। इन सबमें सामान्य रूप से पाया जाने वाला एक आदर्श (Ideal) गो स्वरूप या गोत्व है, वह सब प्रकार के भेदों और परिवर्तनों से परे तथा स्वतन्त्र है। हमारे प्रत्यक्षानुभव में आने वाली गौएँ इस आदर्श गो-स्वरूप की अधूरी आकृति हैं, सब गौएँ इस आदर्श गो-स्वरूप की विशेषाताएँ रखने के कारण ही गौएँ हैं। इस प्रकार गोत्व एक आदर्श स्वरूप है। विभिन्न गौओं के आकार नष्ट होते रहते हैं, किन्तु यह कभी नष्ट नहीं होता, अतः इसे Archetype या यूनानी भाषा में अर्खेतियान का नाम दिया गया है, इसका अर्थ है—श्रेष्ठ आकार। भारतीय दर्शन की परिभाषा में इसे 'जाति' कहा जा सकता है। प्लेटो सभी दृश्यमान पदार्थों के आदर्श स्वरूप मानता है। ये आदर्श रूप अपने पृथक् जगत् में रहते हैं, इसे आदर्श जगत् कहा जाता है। यह क्षणभंगुर संसार नित्य वास्तविक आदर्श जगत् की अनुकृति, प्रतिलिपि या छाया मात्र है। इन सब आदर्श विचारों का अन्त में सत् के विचार (Idea of Good) में एकीकरण होता है। यह आदर्श जगत् का सर्वोच्च, नित्य एवं शाश्वत रूप है। इसी से सब विचारों का प्रगटीकरण और स्पष्टीकरण होता है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में सूर्य सब वस्तुओं का रूप देखने योग्य बनाता है, उसी प्रकार सत् का विचार सब वस्तुओं को समझने योग्य बनाता है। प्लेटो ने अपनी शिक्षा व्यवस्था में इस सिद्धान्त के अध्यापन पर बहुत बल दिया है।

प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव—प्लेटो ने यद्यपि अपनी आयु के बारह वर्ष विभिन्न देशों की यात्रा में बिताए थे, पिथागोरस के सिद्धान्तों का उस पर काफी प्रभाव पड़ा था, किन्तु सबसे अधिक प्रभाव सुकरात का पड़ा। प्लेटो की रचनाओं में हमें सुकरात के विचार सर्वोत्कृष्ट रूप में मिलते हैं। यह कहा जा सकता है कि उसकी दृष्टि से अपने गुरु की आकृति कभी ओझल नहीं हुई। वस्तुतः उसके ग्रन्थों में सुकरात और प्लेटो के विचार नीर-क्षीर की भाँति ऐसे मिले हैं कि इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। फिर भी प्लेटो निम्नलिखित बातों के लिए सुकरात का ऋणी है।

(1) सद्गुण और ज्ञान का अभेद—यह बताया जा चुका है कि सुकरात सद्गुण (Virtue) और ज्ञान को अभिन्न समझता था।[1] मेयर के शब्दों में, "यदि हम ज्ञान

---

1. भगवद्गीता 13/11 में अमानित्व आदि गुणों को ज्ञान और इनसे विपरीत वस्तुओं को अज्ञान कहा गया है—एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

तथा आचरण को एक मानें, तभी आचरण का एक स्थायी मानदण्ड बना सकते हैं। जिस ज्ञान का आचरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जो ज्ञान केवल ज्ञान के लिए सम्पादित किया जाता है, ऐसा ज्ञान इस यूनानी दर्शनिक की दृष्टि में निरर्थक है। ज्ञान केवल कुछ सूचनाओं का संकलन मात्र नहीं है, इसका चरित्र निर्माण के साथ गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान बुद्धि के माध्यम से समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह इच्छाशक्ति और भावनाओं का निर्माण करता है; साहस, संयम, न्याय आदि सभी गुणों (Virtues) की उत्पत्ति ज्ञान से होती है। साहसी व्यक्ति वही बन सकता है, जो भय तथा निर्भीकता का ज्ञान रखता हो।" प्लेटो ने इस विषय में सुकरात के विचारों का अनुसरण किया है।

प्लेटो की **रिपब्लिक** के विचार का मुख्य आधार 'सद्गुण ही ज्ञान है' (Virtue is Knowledge) है। इसका अभिप्राय यह है कि संसार का समस्त ज्ञान आन्तरिक अनुभूति अथवा कल्पना आदि से न होकर वस्तुपरक सत्य के रूप में होता है। वस्तुपरक ज्ञान बुद्धिसंगत एवं तर्कसंगत अनुसन्धान से ही हो सकता है। यह सत्य वास्तविक एवं अन्तिम होता है, चाहे व्यक्ति इस विषय में किसी भी प्रकार से क्यों न विचार करे। इस सत्य की अनुभूति इसलिए नहीं होती है कि व्यक्ति उसे चाहते हैं, बल्कि इसलिए होती है कि यह वास्तविक, अन्तिम एवं ध्रुव सत्य है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यहाँ पर व्यक्ति की इच्छा गौण है। व्यक्ति क्या चाहते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे सत्य के कितने अंश की जानकारी रखते हैं। उदाहरण के लिए—संसार में एक ही वस्तु के अनेक रूप, रंग, आकार, प्रकार आदि देखने को मिलते हैं, किन्तु पूर्ण सत्य उस वस्तु का एक आदर्श स्वरूप होता है। यह आदर्श स्वरूप परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि से पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

जो व्यक्ति ज्ञानी, दार्शनिक, विद्वान अथवा राजनीतिक-वैज्ञानिक है उसे सत्य का ज्ञान सामान्य व्यक्ति की तुलना में अधिक होगा। इसलिए उसे शासन में निर्णायक शक्ति या अधिकार प्राप्त होना चाहिए। उसको सत्यता का ज्ञान ही उसे इस अधिकार का अधिकारी बनाता है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने इसी विचार को मूल आधार बनाया है, जो इसके समाप्त विचारों पर छाया हुआ है।

(2) सद्गुण का स्वरूप—प्लेटो गुण या भलाई (Virtue) के स्वरूप के सम्बन्ध में सुकरात के मत का अनुसरण करता है। इसके लिए मूल यूनानी शब्द 'अरेती' (Arete) है, इसका अर्थ उत्कृष्टता है। प्रत्येक वस्तु की भलाई या उत्कृष्टता इस बात में है कि वह जिस प्रयोजन के लिए बनाई गई है, उसे पूरा करने का गुण उसमें हो। चाकू का गुण काटना है, इसका अच्छा या बुरापन इस पर निर्भर है कि वह कितनी अच्छी या बुरी तरह काट सकता है। इस प्रकार एक मनुष्य अन्य मनुष्यों की तुलना में अच्छा या बुरा हो सकता है, इसकी अच्छाई या बुराई दो प्रकार की होती है—(क) अपनी वृत्ति या व्यवसाय सम्बन्धी—कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा चित्रकार, मूर्तिकार, बढ़ई, इंजीनियर या डाक्टर हो सकता है। (ख) किन्तु वस्तुतः, वही मनुष्य अच्छा हो सकता है, जिसमें मनुष्य को अच्छे बनाने वाले गुण अधिक मात्रा में हों। अच्छा आदमी अच्छे डाक्टर, वकील या इंजीनियर से सर्वथा भिन्न है। प्लेटो सुकरात के कथनानुसार

मनुष्य के अच्छा होने के लिए उसमें चार गुणों का होना आवश्यक समझता है। ये गुण हैं—बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय। ये चार गुण मिलकर मानवीय गुण (Human virtue) या भलाई (Goodness) का निर्माण करते हैं।[1]

(3) **शासन-संचालन**—प्लेटो ने सुकरात से यह विचार भी ग्रहण किया कि शासन-संचालन डाक्टरी, नौ-चालन आदि की भाँति एक कला है और इसका ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञ व्यक्तियों को ही शासन का अधिकार दिया जाना चाहिए। सुकरात शासक की उपमा डाक्टर से देता है, उसका कहना है "जनता बीमार है, हमें अपने स्वामियों का इलाज करना चाहिए।"[2] डाक्टर को कई बार रोगी को ठीक करने के लिए कड़वी दवाइयाँ भी देनी पड़ती हैं। सुकरात आदर्श शासक का यह आवश्यक काम समझता है कि वह ऐसी दवाइयाँ भी दे; वह पेरिक्लीज आदि यूनानी राजनीतिज्ञों की भाँति जनता की इच्छाओं को पूरा करने वाला चाटुकार नहीं, किन्तु कुशल चिकित्सक होना चाहिए।

(4) **सत्ता का सिद्धान्त**—कोकर (Coker) के अनुसार प्लेटो की दार्शनिक पद्धति का आधार सुकरात की सत्ता (Reality) का सिद्धान्त है।[3] सुकरात के इस सिद्धान्त का यह आशय है कि सत्ता वास्तव में वस्तुओं के विचारों में रहती है; ये पूर्ण, स्थायी, अपरिवर्तनशील और स्वयंभू सत्ताएँ हैं और इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील, अपूर्ण पदार्थों के मूल में रहती हैं। प्लेटो ने इसी सिद्धान्त को पहले बताए गए **विचारों के सिद्धान्त** में प्रकट किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्लेटो ने सुकरात के विचारों को बीजरूप में ग्रहण किया और अपने चिन्तन द्वारा उन्हें विकसित, पुष्पित, एवं पल्लवित किया।

रिपब्लिक का स्वरूप—यह प्लेटो की सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कृति है। पश्चिम के दार्शनिक शिरोमणि द्वारा लिखे गए ग्रन्थों में यह मुकुटमणि का स्थान रखती है। इसे प्लेटो ने 40 वर्ष की अवस्था में अपने विचार परिपक्व और प्रौढ़ होने पर लिखा था। विषय-वैविध्य और शैली की दृष्टि से यह उसका अनुपम ग्रन्थ है। प्लेटो की समग्र रचनाओं का प्रामाणिक अंग्रेज़ी अनुवाद करने वाले बेंजमिन जोवेट ने लिखा है—"प्लेटो के ग्रन्थों में अन्यत्र कहीं इससे अधिक तीखा व्यंग्य, परिहास, कल्पनाएँ अथवा नाटकीयता नहीं मिलती है।" आकार की दृष्टि से रिपब्लिक प्लेटो के अन्य सब ग्रन्थों से बड़ा होता हुआ भी **लाज़** (Laws) से छोटा है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से उससे बढ़ा-चढ़ा है। रिपब्लिक के नाम से कुछ भ्रान्ति हो जाती है, आजकल इस शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली—गणराज्य के लिए होता है। किन्तु प्लेटो ने इसका प्रयोग इस संकुचित अर्थ में नहीं किया। उसने यूनानी भाषा में इसे 'पोलीतेइया' (Politeia) का नाम दिया था, इसका अर्थ है राज्य की शासन-व्यवस्था या संवि-

---

1. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० 38। अरेति वैदिक अर्य, आर्य आदि का सजातीय शब्द है।
2. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 140.
3. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० 1.

धान।[1] अतः प्लेटो की रिपब्लिक में राज्य की आदर्श व्यवस्था का उल्लेख है, न कि उसके नाम के लैटिन अनुवाद रिपब्लिका से सूचित होने वाले गणराज्य की व्यवस्था का।

किन्तु रिपब्लिक में केवल राज्य की व्यवस्था का वर्णन नहीं है। यह महाभारत की भाँति प्लेटो के विचारों का विश्वकोश है। इसमें नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि विविध विषयों का वर्णन है। रिपब्लिक का आरम्भ आचारशास्त्र और नैतिक दर्शन की समस्याओं से होता है। इसके आरम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि न्याय क्या है, इस ग्रन्थ का दूसरा नाम दिकायेग्रस पोलितिकास अर्थात् '**राजनीतिक न्याय विषयक**' है। अतः न्याय का एवं मानवीय आत्मा के नैतिक गुणों का विवेचन करने से यह आचारशास्त्र का ग्रन्थ है। नैतिक गुणों का विकास शिक्षा से सम्भव है, उत्तम शासन के लिए शासकों की शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। अतः इसमें शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का विशद वर्णन है, इसको दृष्टि में रखते हुए फ्रेंच विचारक रूसो ने लिखा था—"रिपब्लिक राजनीतिशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है, किन्तु शिक्षा पर कभी भी लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।" (The Republic is not a work upon politics, but the finest treatise on education that ever was written) यह राजनीतिशास्त्र का भी ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें विभिन्न शासन-प्रणालियों का, राज्य के स्वरूप का तथा आदर्श शासन-प्रणाली का वर्णन है। यह अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) का भी ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें विचारों के सिद्धान्त (Theory of Ideas) तथा ज्ञान के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन है। यह इतिहास के दर्शन (Philosophy of History) का भी ग्रन्थ है क्योंकि इसमें यह बताया गया है कि ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया से किस प्रकार आदर्श राज्य का अधःपतन निरंकुश शासन (Tyranny) में होता है। इस प्रकार इस एक ही ग्रन्थ में अनेक शास्त्रों और विषयों का वर्णन है, इसका मुख्य कारण यह है कि उस समय तक यूनानियों ने ज्ञान का विभिन्न शास्त्रों में सुस्पष्ट वर्गीकरण नहीं किया था। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने यद्यपि सर्वप्रथम अध्यात्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का पृथक् ग्रन्थों में प्रतिपादन किया, किन्तु फिर भी वह राजनीतिशास्त्र और नैतिक दर्शन को अभिन्न समझता था।

यूनानी प्रकृति के दर्शन (Philosophy of Nature) की तुलना में मानव के दर्शन (Philosophy of Man) को अधिक महत्त्व देते थे। प्लेटो के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि अच्छा आदमी कौन है और उसका निर्माण कैसे हो सकता है? यह मुख्य रूप से नैतिक प्रश्न होते हुए भी यूनानियों के लिए राजनीतिक प्रश्न था, क्योंकि वे यह मानते थे कि व्यक्ति राज्य का सदस्य बनकर ही उत्तम जीवन बिता सकता है। अतः पहले प्रश्न से स्वाभाविक रूप में यह दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि उत्तम राज्य क्या है और इसका निर्माण किस प्रकार सम्भव है। इस प्रकार नैतिक दर्शन राजनीतिशास्त्र में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु इन प्रश्नों का उत्तर ज्ञान पर निर्भर है, सुकरात के सिद्धान्त के अनुसार उत्तम गुणों वाले व्यक्ति के लिए ज्ञानी होना आवश्यक है,

1. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० 35-36.

अत: तीसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उत्तम व्यक्ति को, अच्छा बनने के लिए कौन-सा चरम ज्ञान (Ultimate knowledge) पाना आवश्यक है। इस ज्ञान के स्वरूप का निर्धारण अध्यात्मशास्त्र द्वारा होता है। इस प्रश्न का अध्यात्मशास्त्र द्वारा समाधान होने पर चौथा प्रश्न यह पैदा होता है कि उत्तम राज्य मनुष्यों को सद्गुणी बनाने के लिए यह चरम ज्ञान किस प्रकार प्रदान करे। इसका उत्तर देने के लिए शिक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की आवश्यकता है। शिक्षा-पद्धति को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कुछ सामाजिक परिवर्तन करने आवश्यक होंगे, अत: सामाजिक पुनर्निर्माण आवश्यक है। इसके लिए समाज की आर्थिक व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन होने चाहिएँ। अत: प्लेटो ने मनुष्य को उत्तम बनाने के लिए रिपब्लिक में इन सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए एकसाथ आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, राज्यशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की समस्याओं का विवेचन किया है। अत: यह मानव-जीवन की सभी समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है। बार्कर ने इसके सम्बन्ध में यह सत्य ही लिखा है—"यह मानव के समग्र जीवन के दर्शन (Complete philosophy of life) का प्रयास है। प्रधान रूप से क्रियाशील मानव (Man in action) या मनुष्य के कार्य इसका विषय हैं, अत: इसका सम्बन्ध नैतिक और राजनीतिक जीवन की समस्याओं से है। किन्तु मानव एक समष्टि है, उसके कार्य उसके विचारों को जाने बिना नहीं समझे जा सकते, अत: रिपब्लिक मनुष्य के विचारों का व उसके कानूनों का भी विवेचन करती है। इस दृष्टि से रिपब्लिक मनुष्य का पूर्ण जीवन-दर्शन है।"[1] नेटलशिप ने लिखा है, "इसमें मानवीय आत्मा के उत्थान और पतन का आदर्श चित्र है। यह बताया गया है कि वह किस प्रकार अपने विकास के चरम शिखर पर पहुँच सकती है और पतन के सबसे गहरे गढ़े में गिर सकती है, ऐसा करते हुए इसमें मानवीय आत्मा का और इसकी समूची प्रकृति का वर्णन किया गया है।"[2] अत: यह मानवीय जीवन के दर्शन का नाटकीय रूप से वर्णन (Dramatised philosophy of life) है।

रिपब्लिक में मानव-जीवन की समस्याओं का समग्र चिन्तन करते हुए बड़े विविध और व्यापक विषयों पर विचार किया गया है। विल ड्यूरैण्ट के शब्दों में, "इस ग्रन्थ में उस (प्लेटो) का अध्यात्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और कला का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसमें हम ऐसी आधुनिक समस्याएँ पाते हैं, जैसे साम्यवाद, समाजवाद, नारीस्वातन्त्र्यवाद (Feminism), गर्भनिरोध, सुप्रजननशास्त्र, नीट्शे द्वारा बताई गई नैतिकता और कुलीनतन्त्र की समस्याएँ, रूसो का प्राकृतिक दशा की ओर लौटने का सिद्धान्त तथा शिक्षा की समस्याएँ, बर्गसों का Elan vital, फ्रायड का मनोविश्लेषण। यहाँ सभी कुछ है।"[3] पश्चिमी विद्वान् इसे महाभारत की भाँति मानते हैं, जिसके विषय में यह कहा गया है कि "यदिहास्ति

---

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 145.
2. नेटलशिप—लैक्चर्स ऑन दी रिपब्लिक ऑफ प्लेटो, पृ० 5.
3. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० 22.

तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।" इसीलिए इमर्सन ने लिखा है—"प्लेटो दर्शन है तथा दर्शन प्लेटो है ।" रिपब्लिक के बारे में कुरानशरीफ के सम्बन्ध में कही गई हज़रत उमर की यह उक्ति सत्य है, "सब पुस्तकालय जला दो, क्योंकि उनका ज्ञान इस पुस्तक में आ गया है ।"[1]

रिपब्लिक का प्रतिपाद्य विषय—रिपब्लिक का ग्रन्थ दस पुस्तकों[2] में विभक्त है । पहली पुस्तक में न्यायसम्बन्धी प्रचलित विचारों का वर्णन है । दूसरी से चौथी पुस्तक तक न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए राज्य में और व्यक्ति में उसका स्वरूप स्पष्ट किया गया है; सामाजिक संगठन और राज्य के स्वरूप, विलासी राज्य, राज्य के संरक्षकों (Guardians) का स्वभाव, इनका प्रशिक्षण, शासकों का चुनाव, जीवनयापन का ढंग, संरक्षकों के कर्त्तव्य, राज्य के गुणों, आत्मा के तीन भागों तथा व्यक्ति के गुणों का वर्णन है । चौथी पुस्तक में स्त्रियों की स्थिति, संरक्षकों के लिए परिवार की व्यवस्था समाप्त करने तथा युद्ध के नियमों का वर्णन है । पाँचवीं से सातवीं पुस्तक तक दार्शनिकों के राजा होने, दार्शनिकों के लक्षण, दार्शनिक के शासन करने की क्षमता का, उच्चतम ज्ञान का तथा उच्चतम अध्ययन के विषयों—गणित, भूमितिशास्त्र, ज्योतिष, तर्कविद्या (Dialectics) का वर्णन है । आठवीं तथा नवीं पुस्तक में समाज और आत्मा के पतन, न्यायपूर्ण तथा अन्यायी जीवनों की तुलना, आदर्श राज्य के कीर्तितन्त्र (Timocracy), अल्पतन्त्र, लोकतन्त्र व निरंकुश राजतन्त्र के रूप में परिणत होने की प्रक्रिया बताई गई है । दसवीं पुस्तक में दर्शन और कविता में विरोध प्रदर्शित करते हुए आदर्श राज्य से कवियों के बहिष्कार, आत्मा की अमरता तथा इहलोक और परलोक में न्याय से मिलने वाले सुफलों का वर्णन है ।

यहाँ रिपब्लिक के राज्यशास्त्र विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण विचारों का संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा ।

(I) न्याय

(i) **न्याय का अर्थ**—रिपब्लिक का आरम्भ और अन्त न्याय के स्वरूप की मीमांसा के साथ होता है । रिपब्लिक के वार्त्तालाप का श्रीगणेश एथेन्स से पाँच मील दूर दक्षिण-पश्चिम में पिरेयस नामक बन्दरगाह के निवासी धनी व्यापारी कैफालस (Cephalus) के घर पर बैंदिस नामक देवी के उत्सव की रात्रि वाले दिन होता है । इस वार्त्तालाप में भाग लेने वाले व्यक्ति प्लेटो के दो बड़े भाई ग्लौकोन (Glaucon) और अदैमान्तस (Adeimantus), कैफालस (Cephalus) और उसका

1. इमर्सन—रिप्रेज़ेण्टेटिव मैन, पृ० 41.

2. प्राचीनकाल में जब पुस्तकें पेपिरस के गोलों (Rolls) तथा खालों पर लिखी जाती थीं, तो एक बड़े गोल भाग या खाल पर लिखा जाने वाला अंश एक पुस्तक (Book) कहलाता था, इसका प्रतिपाद्य विषय के साथ कोई सम्बन्ध न होता था । अतः प्लेटो के ग्रन्थ का पुस्तकों में विभाजन सर्वथा कृत्रिम है । कार्नफोर्ड ने 'दी रिपब्लिक ऑफ प्लेटो' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1951) में विषयों की दृष्टि से इसे अध्यायों में बाँटा है । यहाँ रिपब्लिक के सभी उद्धरण इसी ग्रन्थ के आधार पर दिए गए हैं ।

बेटा पोलीमार्कस (Polymarchus) तथा लिसियास और कैल्सीदोन (Chalcedon) का अलंकार-शास्त्री सोफिस्ट थ्रेसीमेकस (Thrysymachus) और सुकरात हैं। जब सुकरात अपने साथियों के साथ उपर्युक्त उत्सव देखकर लौट रहा था तो पोलीमार्कस ने उसे अपने घर आने के लिए निमन्त्रण दिया। घर पहुँचने पर कैफालस इन सबका स्वागत करता है, अपने अतीत जीवन का सिंहावलोकन करते हुए महाकवि पिण्डार के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहता है—"जब कोई मनुष्य अपना जीवन **न्याय** और श्रद्धा के साथ बिताता है, तो उसके हृदय को आह्लादित करने के लिए तथा बुढ़ापे में सहारा देने के लिए आशा सहचरी संगिनी के समान नित्य उसके साथ रहती है।" इस पर सुकरात यह प्रश्न करता है कि न्याय क्या है? यह रिपब्लिक का मौलिक प्रश्न है।

आजकल प्रधान रूप से न्याय का अर्थ न्यायाधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना होता है, किन्तु प्लेटो के मतानुसार न्याय कोई कानूनी परिभाषा नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने उन सब कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे, जिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है।[1] समाज और राज्य अपनी आवश्यकताओं तथा व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुसार उनके लिए कुछ कर्त्तव्यों और धर्मों का निर्धारण करते हैं, इनका यथावत् पालन ही न्याय है। भारतीय परिभाषा के अनुसार स्वधर्मपालन न्याय है।[2] किन्तु अपना सिद्धान्त-पक्ष रखने से पहले प्लेटो ने उस समय न्याय के विषय में प्रचलित सभी धारणाओं या सिद्धान्तों का खण्डन किया है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(ii) **न्याय सम्बन्धी चार सिद्धान्तों का खण्डन – (1) न्याय की परम्परावादी धारणा**—यह धारणा कैफालस (Cephalus) की है। वह परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार न्याय का अर्थ "सत्य बोलना और ऋण चुकाना" समझता है। किन्तु प्लेटो का सुकरात कहता है कि यह परिभाषा दोषपूर्ण है क्योंकि ये दोनों कार्य कभी न्याय और कभी अन्याय हो सकते हैं। "उदाहरणार्थ, मैं समझता हूँ कि यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि यदि कोई आदमी अपने स्वस्थ चित्त वाले मित्र से अस्त्र ले और तदुपरान्त अस्त्र देने वाला पागल हो जाए और उन अस्त्रों को वापिस माँगे तो ऐसी अवस्था में हमें उनको नहीं लौटाना चाहिए और ऐसी अवस्था में जो उनको लौटाएगा, वह न्याय करने वाला नहीं कहा जा सकता है।"[3]

(2) उचित अंश देने का सिद्धान्त—इसके बाद कैफालस का बेटा पोलीमार्कस पिता के पक्ष का समर्थन करते हुए न्याय की **दूसरी परिभाषा** यह करता है कि यह प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित (अंश) देना है। पर यह 'उचित' क्या है? कुछ विवाद

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 153.

2. भगवद्गीता में इस पर बहुत बल दिया गया है। 18वें अध्याय में श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्म इनके स्वभाव के कारण उत्पन्न होने वाले गुणों के आधार पर निश्चित किए हैं (18/41)। इन कर्मों का वर्णन (18/42—44) करने के बाद यह कहा गया है कि मनुष्य अपने-अपने कर्म में रत रहने से ही परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं (स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः 18.45)।

3. कार्नफोर्ड—रिपब्लिक, पृ० 7.

के बाद यह परिणाम निकाला जाता है कि मित्र के प्रति भलाई और शत्रु के प्रति बुराई करने की कला (Art) न्याय है। प्लेटो के सुकरात ने इस परिभाषा में निम्न दोष बताए हैं —(1) यदि अच्छाई करना या बुराई करना एक कला[1] है तो यह अन्य कलाओं के समान दो विरोधी कार्य कर सकती है। चिकित्सक अपनी कला से रोगी को स्वस्थ तथा स्वस्थ को रोगी बना सकता है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह इसका प्रयोग भलाई के लिए करता है या बुराई के लिए। क्या न्याय भी ऐसी कला है? यदि हम उसका प्रयोग अपनी इच्छानुसार करने लगेंगे तो इसे न्याय नहीं कहा जा सकता। स्वेच्छाचार न्याय का पर्याय नहीं हो सकता है। (2) यह कहना आसान है कि न्याय मित्रों के प्रति भलाई और शत्रुओं के प्रति बुराई करना है। किन्तु मित्र और शत्रु का निश्चय कैसे होगा। कई ऊपर से मित्रता का ढोंग करते हुए वास्तव में शत्रु होते हैं। इनके प्रति क्या भलाई का व्यवहार किया जाना उचित है? यदि किया जाए तो यह हमारे लिए हितकर न होगा और न किया जाए तो न्याय की उपर्युक्त परिभाषा गलत हो जाएगी। (3) यह भी विचारणीय प्रश्न है कि क्या हमारा शत्रुओं के प्रति बुराई करना न्याय है। जिन व्यक्तियों के साथ बुराई की जाती है, उनका अधःपतन हो जाता है। किसी व्यक्ति की स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक खराब करना न्याय का ध्येय कभी नहीं हो सकता। (4) मित्र और शत्रु के प्रति भलाई और बुराई का विचार दो व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध होने से वैयक्तिक है, यह व्यष्टिवादी (Individualistic) सिद्धान्तों पर आधारित है। इसमें व्यक्ति को केन्द्र बनाकर भलाई-बुराई की जाती है। किन्तु न्याय एक सामाजिक विचार है, समष्टि के हितसाधन या कल्याण करने की दृष्टि से किया गया कार्य न्याय हो सकता है। पोलीमार्कस की परिभाषा उपर्युक्त चार दोषों के कारण मान्य नहीं हो सकती। (5) न्याय कला नहीं हो सकता है, क्योंकि न्याय का अर्जन अनुभव द्वारा सम्भव नहीं है। न्याय कला इसलिए भी नहीं है क्योंकि इसका स्वेच्छा से दो विरोधी दिशाओं में प्रयोग नहीं किया जा सकता है। न्याय आत्मा तथा हृदय का गुण है। न्याय कोई तकनीक नहीं है। (6) परम्परावादी न्याय सिद्धान्त सार्वभौमिक न्याय नहीं है; यह न्याय देश, काल, परिस्थितियों और व्यक्तियों के अनुसार परिवर्तनशील है। उपयुक्त और सही न्याय देश, काल, परिस्थितियों और व्यक्तियों के आधार पर परिवर्तित नहीं हो सकता है। दण्ड के आधार में परिवर्तन उपर्युक्त आधार पर हो सकता है किन्तु न्याय में नहीं।

---

1. प्लेटो भलाई को कला समझता है। वह सुकरात की भाँति यह मानता था कि जीवन भी एक कला है। जिस प्रकार भवननिर्माता भवन-निर्माण कला का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपनी इस योग्यता या गुण (Arete) अरेती के कारण उत्तम मकान बनाता है। इसी प्रकार जीवन-कला के उत्कृष्ट ज्ञान के कारण वह जीवन को सुखमय बना सकता है। इसके लिए उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि जीवन का क्या उद्देश्य है, कौनसी वस्तुएँ वास्तव में महत्त्व रखती हैं, और इन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञान मनुष्य के नैतिक गुण (Moral virtue) हैं। मानव-जीवन का लक्ष्य सम्पत्ति या सत्ता प्राप्त करना नहीं है, ये बिल्कुल निरर्थक हैं। इन्हें प्राप्त करने वाले व्यक्ति के सब कार्य गलत होंगे। अतः समाज का शासन उन्हीं व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए, जो सुदीर्घ-कालीन शिक्षा द्वारा मानव-जीवन के उद्देश्यों का और भलाई के सब रूपों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर चुके हों (रिपब्लिक, कार्नफोर्ड—वही, पृ० 8)।

(3) **क्रान्तिकारी सिद्धान्त—तीसरी धारणा** थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) की है। कैफालस और पोलीमार्कस की धारणाएँ प्राचीन यूनान की परम्परागत नैतिकता (Traditional Morality) का प्रतिपादन करती थीं; थ्रेसीमेकस की धारणा पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध में उत्पन्न होने वाली सोफिस्टों की नवीन क्रान्तिकारी धारणा थी। थ्रेसीमेकस ने इसे दो स्थापनाओं के रूप में रखा है—(1) **पहली स्थापना** के अनुसार **न्याय शक्तिशाली का स्वार्थ** (Interest of the Stronger) है। शक्तिशाली व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जो कानून या व्यवस्था बनाता है, वही न्याय (Just) होती है। 'राजा करे सो न्यांव', 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त जगत् में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। सभी शासक अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कानून बनाते हैं और प्रजा को इस कानून का अनुसरण करना पड़ता है। इस सिद्धान्त में न्याय (Just) और शक्ति (Potentia) को अभिन्न माना गया है। **दूसरी** स्थापना यह है कि अन्यायी न्याय से, साधुता (Virtue) और बुद्धि की दृष्टि से अच्छा होता है, अन्याय अधिक शक्तिशाली तथा प्रसन्नता देने वाला होता है। थ्रेसीमेकस लौकिक उदाहरणों से इसे पुष्ट करता हुआ कहता है, "सर्वप्रथम पारस्परिक व्यवहार का ही उदाहरण ले लो, जब कभी न्यायी और अन्यायी दोनों किसी व्यापार में साझा करेंगे तब साझे की समाप्ति पर तुम कभी ऐसा नहीं देखोगे कि न्यायी मनुष्य को अन्यायी मनुष्य से अधिक धन मिला हो, बल्कि उसको सर्वदा कम ही मिलता है। फिर राज्य से इनका जो सम्बन्ध है, उसे लो; जहाँ प्रत्यक्ष कर देने का प्रश्न आता है वहाँ बराबर सम्पत्ति पर न्यायी मनुष्य अधिक कर देता है और अन्यायी कम, और जब राज्य की ओर से धन वितरण होता है तो अन्यायी बढ़कर हाथ मारता है और न्यायी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता।" सरकारी पदों पर आरूढ़ होने वाले अन्यायी (Unjust) व्यक्ति बहुत लाभ उठाते हैं और न्यायी (Just) न केवल स्वयं लाभ नहीं उठाता, अपितु वह अपने इष्ट-मित्रों और परिचितों को नाराज कर देता है, क्योंकि वह उनकी सेवा अन्यायपूर्वक नहीं करना चाहता। छोटे पैमाने पर चोरी, डकैती, देव-मन्दिरों की लूट करने वाले चोर तथा डाकू कहलाते हैं, राज्य द्वारा पकड़े जाने पर दण्डित होते हैं; किन्तु जब कोई राजा किसी अन्य देश के नागरिकों की सम्पत्ति हरण करके उन्हें अपना बना लेता है, तो वह विजेता एवं सुकृती कहलाता है, उसके शौर्य की गाथा गाई जाती है। "अतः, हे सुकरात, पर्याप्त रूप से बड़े पैमाने पर किया गया अन्याय न्याय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, स्वच्छन्द तथा अधिक अधिकारपूर्ण है।"[1]

प्लेटो थ्रेसीमेकस की पहली स्थापना का खण्डन करते हुए निम्नलिखित तर्क उपस्थित करता है। शासन करना एक कला (Art) है, सब कलाओं का लक्ष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करना नहीं, किन्तु उन वस्तुओं के दोष दूर करना है, जिनके साथ उनका सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ, सच्चे वैद्य की कला का उद्देश्य रोगियों को ठीक करना होता है, न कि अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि। सच्चा गुरु अपने विद्यार्थी के मन के दोषों को दूर करके उसे विद्वान् और बुद्धिमान् बनाता है, न कि स्वयं अपना कोई हित साधन करता है। आदर्श वैद्य और आदर्श गुरु वही हो सकता है जो रोगी तथा

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 24-25.

शिष्य के कल्याण का ध्यान रखे, उसके सब दोषों को दूर करे। इसी प्रकार आदर्श शासक वही है जो अपने नहीं, किन्तु शासित प्रजा के हितों का ध्यान रखे और उसके दोषों, दुःखों, कठिनाइयों को दूर करे। उसका लक्ष्य स्वार्थ-सिद्धि नहीं, किन्तु प्रजा का कल्याण करना है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि न्याय शक्तिशाली शासक का स्वार्थ है। जिस प्रकार गड़रिये और ग्वाले अपनी भेड़ों और पशुओं के हित का ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार राजा प्रजा के हित की चिंता करता है।

दूसरी स्थापना का निराकरण उसने इस प्रकार किया है कि प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित कार्य (Function) और गुण (Virtue) होता है, इसे वही अच्छी तरह कर सकती है। आँख का धर्म देखना है, कान का धर्म सुनना है। इसी प्रकार आत्मा का भी निश्चित कार्य जीवन (Life) और उत्तम जीवन (Good life) बिताना है। कोई भी वस्तु अपना कार्य उस समय नहीं कर सकती, जब वह अपने स्वाभाविक धर्म से रहित हो जाए। अग्नि का कार्य जलाना है, यदि वह अपने धर्म दाहकत्व से रहित हो जाए तो वह पदार्थों को नहीं जला सकती। इसी प्रकार आत्मा अपना कार्य उसी दशा में भली-भाँति कर सकती है, जबकि वह उत्तम जीवन के गुण, अर्थात् न्याय से युक्त हो। आनन्द भी इसका स्वाभाविक गुण है, यह इसे तभी मिलता है, जब यह उत्तम जीवन बिताए तथा न्यायपरायण रहे। अतः न्यायी आत्मा ही सुखी होती है।[1] यह निर्विवाद है कि दुःख (Misery) से सुख अधिक लाभदायक है, अतः सुखी न्यायी (Just) अन्यायी से अधिक लाभ में रहता है और यह कहना सत्य नहीं है कि अन्याय से मनुष्य को लाभ होता है और इससे वह सुखी रहता है।

(4) **व्यावहारिक सिद्धान्त**—वस्तुतः अन्याय न्याय की अपेक्षा कभी लाभप्रद नहीं हो सकता है। न्यायसम्बन्धी **चौथी व्यवहारवादी**(Pragmatic) धारणा ग्लौकोन (Glaucon) की है। यह हॉब्स के सामाजिक समझौते (Social Contract) से मिलती है। इसके अनुसार आरम्भ में मनुष्य प्राकृतिक दशा (State of Nature) में रहते थे, इसमें उन पर कोई प्रतिबन्ध न होने के कारण मात्स्यन्याय में निर्बलों को शक्तिशालियों का अन्याय सहन करना पड़ता था। यह अवस्था बड़ी शोचनीय थी। इसके तीन परिणाम हुए—(1) निर्बल व्यक्तियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें जितना अधिक अन्याय सहन करना पड़ता है, उतना अन्याय अपनी निर्बलता के कारण वे दूसरों पर नहीं कर सकते, अतः वे एक-दूसरे के साथ "ऐसा समझौता या ठहराव कर लेते हैं कि वे एक-दूसरे को न तो अन्याय करने देंगे, और न इसे सहन करेंगे। (2) इस ठहराव के परिणामस्वरूप वे ऐसे कानून (Law) तथा परम्पराओं (Conventions) का निर्माण करते हैं, जो आचरण का मानदण्ड तथा न्याय की संहिता (Code of Justice) बन जाती है। (3) अन्ततोगत्वा इस समझौते और परम्पराओं के परिणामस्वरूप मानवीय प्रकृति आत्मसन्तोष के लिए कार्य करने वाली सहज भावना (Real instinct) का परित्याग कर कानून की शक्ति स्वीकार कर लेती है। अतः न्याय वस्तुतः भय की उपज है और उसे कमजोर लोगों ने ठहराव द्वारा बनाया है। ग्लौकोन के शब्दों में, "लोगों की राय

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 36-39.

है कि न्याय वास्तविक अच्छाई के रूप में स्वीकृत और पसन्द नहीं किया जाता, बल्कि ऐसी वस्तु माना जाता है कि **जिसकी मान्यता अन्याय करने की अक्षमता के कारण होती** है, क्योंकि कोई भी मनुष्य जोकि अन्याय करने की सामर्थ्य रखता है, और पुरुष कहलाने योग्य है, कदापि किसी मनुष्य के साथ अन्याय न करने और उसे न सहने का ठहराव नहीं करेगा और यदि ऐसा करे तो समझ लो कि वह पागल है।"[1] निर्बल व्यक्तियों के समझौते द्वारा इस प्रकार उत्पन्न किया जाने वाला न्याय का विचार थ्रेसीमेकस की इस धारणा के सर्वथा विपरीत है कि न्याय शक्तिशाली व्यक्तियों का स्वार्थ होता है, और वही समाज में इसकी सृष्टि करते हैं। ग्लौकोन **समाज में न्याय के विचार के सृजन का श्रेय निर्बल व्यक्तियों को देता है।** वह इसका आधार शक्तिशाली की इच्छा नहीं, किन्तु दुर्बल व्यक्तियों का भय और आशंका मानता है।

प्लेटो इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। वह कानून और न्याय को किसी समझौते पर आधारित बाह्य वस्तु नहीं मानता, किन्तु आत्मा का आन्तरिक गुण समझता है। अतः वह यह सिद्ध करता है कि न्याय की उत्पत्ति किसी बाह्य साधन से नहीं हुई, यह सनातनकाल से आत्मा का धर्म होने के कारण इसमें रहने वाली आन्तरिक वस्तु है और इसको समझने के लिए मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु यह प्रकृति बहुत सूक्ष्म है। जिस प्रकार एक ही पोथी की दो पांडुलिपियाँ हों, एक सूक्ष्म अक्षरों में तथा दूसरी स्थूल अक्षरों में लिखी हो तो सूक्ष्म अक्षर वाली प्रति स्थूल अक्षर वाली पोथी की सहायता से बड़ी सुगमतापूर्वक पढ़ी जा सकती है। इसी प्रकार न्याय का गुण व्यक्ति की आत्मा में रहता है और इसका विराट् रूप राज्य में भी रहता है। अतः इसका यथार्थ रूप जानने के लिए मोटे अक्षरों की सहायता लेनी चाहिए और राज्य के विराट् रूप में इसके दर्शन करने चाहिएँ। अतः, न्याय का स्वरूप समझने के लिए राज्य का स्वरूप समझना चाहिए। यह कोई वास्तविक ऐतिहासिक राज्य नहीं, किन्तु प्लेटो का आदर्श राज्य (Ideal State) है।

(iii) **राज्य का स्वरूप : राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध**—प्लेटो व्यक्ति और राज्य में **पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध** मानता है। व्यक्ति में जो गुण और विशेषताएँ अल्प मात्रा में पाई जाती हैं, वही विशाल रूप में राज्य में पाई जाती हैं।[2] 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' **राज्य व्यक्ति की विशेषताओं का विराट् रूप है** (The State is a man writ large)। व्यक्तियों की चेतना और गुण राज्य की चेतना का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थ, किसी राज्य में यदि अच्छे व्यक्ति रहते हैं और किसी कुमारी का शील-भंग किए जाने पर उनकी वीरता तथा साहस ऐसी दुष्टता करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रकट होती है, तो उस देश पर विदेशी राजा द्वारा आक्रमण होने पर उनका सामूहिक शौर्य आक्रान्ता के आक्रमण का निवारण करने पर प्रकट होगा। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की तथा राज्य की वीरता एक ही चेतना में निवास करती है। व्यक्ति की तथा राज्य की चेतना में भेद नहीं किया जा सकता है। राज्य की चेतना अपने को राज्य का सदस्य समझने वाले व्यक्तियों की चेतना से भिन्न नहीं हो सकती है।

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 43.
2. वही, पृ० 54.

इसीलिए प्लेटो पिण्ड को समझने के लिए ब्रह्माण्ड का, व्यक्ति को समझने के लिए राज्य का अध्ययन आवश्यक समझता है।

जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले सब कार्य आत्मा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राज्य के सभी कार्यों का उद्भव उन्हें निर्माण करने वाले मनुष्यों की आत्माओं से होता है। प्लेटो के शब्दों में, **"राज्य किसी ओक वृक्ष से या चट्टान से नहीं, किन्तु उनमें निवास करने वाले व्यक्तियों के चरित्र से बनते हैं।"** वीर पुरुषों का राज्य भी वीर होगा और नपुँसकों का नपुँसक। अतः मानवगुणों का अध्ययन उनसे बने राज्यों के अध्ययन से हो सकता है। किन्तु राज्य की संस्थाएँ मानसिक विचारों का परिणाम हैं और इनकी वास्तविक सत्ता मन में ही है। न्याय और कानून की सत्ताएँ यद्यपि विधि संहिता (legal code), न्यायाधीश आदि के रूप में भौतिक सत्ता रखती हैं, किन्तु विचारों तथा चिन्तन का परिणाम होने से ये अभौतिक हैं, आध्यात्मिक एवं मानसिक विचार की कृति हैं। न्याय को स्थूल रूप से राजदण्ड और न्यायालयों में देखा जाता है, किन्तु वस्तुतः वह आध्यात्मिक और मानसिक चिन्तन का परिणाम है। बार्कर के शब्दों में राज्य-विषयक चिन्तन में प्लेटो तथा अरस्तू की एक बड़ी देन इसे बाह्य भौतिक सत्ता न समझकर, आन्तरिक आध्यात्मिक सत्ता मानना है।[1]

यदि राज्य आध्यात्मिक सत्ता है तो उसका स्वरूप समझने के लिए मानवीय आत्मा का स्वरूप समझना आवश्यक है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त के अनुसार इसकी विशेषताएँ ही राज्य की विशेषताएँ होंगी। मानवीय आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में प्लेटो ने पिथागोरस के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए इसे त्रिगुणात्मक माना है।[2] आत्मा में तीन गुण या तत्त्व हैं— काम अथवा क्षुधा (Appetite), उत्साह (Spirit) तथा विवेक (Reason)। कामतत्त्व से हममें राग, द्वेष, भूख, प्यास, तृष्णा, अपने शरीर को सुखी और सन्तुष्ट करने की नाना प्रकार की इच्छाएँ, वासनाएँ, आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं। दूसरा तत्त्व विवेक का है, यह मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त कराने में तथा प्रेम कराने में सहायक होता है। यह राज्य के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह मनुष्यों को बताता है कि उन्हें कौनसे कार्य करने चाहिएँ तथा यह उन्हें एकता के सूत्र में सम्बद्ध करता है। इन दोनों तत्त्वों का मध्यवर्ती उत्साह, ओज या शौर्य (Spirit) का तत्त्व है, यह मनुष्यों में लड़ने की भावना को प्रोत्साहित करता है। महत्त्वाकांक्षा, साहस और स्पर्धा के भावों को उत्पन्न करता है, विवेक के सहायक के रूप में मनुष्यों में अन्याय का प्रतिरोध करने तथा न्याय को स्वीकार करने की भावना उत्पन्न करता है। ये तीन तत्त्व प्लेटो के दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त हैं, इसी के आधार पर उसने

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 168.

2. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 127—135। प्लेटो ने एक अन्य ग्रन्थ Timaeus में आत्मा के तीन तत्त्वों की शरीर के विभिन्न अंगों में स्थिति बताई है। विवेक या बुद्धि मस्तिष्क में रहती है, यह काम या इच्छा के लिए नेत्र का तथा आत्मा के नियन्ता या मार्गदर्शक का कार्य करती है। उत्साह या शौर्य का निवासस्थान हृदय तथा काम का निवासस्थान पेट और जननेन्द्रियाँ हैं। इन तीनों की तुलना सांख्यदर्शन में प्रतिपादित सत्त्व, रज और तम के गुणों से की जा सकती है।

राज्य को उत्पन्न करने वाले तीन तत्त्वों का तथा राज्य का निर्माण करने वाले तीन वर्गों का प्रतिपादन किया है।

(vi) **राज्य का निर्माण करने वाले तीन तत्त्व और तीन वर्ग**—जिस प्रकार मानवीय आत्मा का निर्माण तीन तत्त्वों से हुआ है, उसी प्रकार राज्य को उत्पन्न करने में तीन तत्त्व सहायक होते हैं—आर्थिक, सैनिक और दार्शनिक। आर्थिक तत्त्व (Economic Factor) का यह अभिप्राय है कि मनुष्य कामतत्त्व (Appetite) से सम्बन्ध रखने वाली भोजन, वस्त्र, निवास आदि की आवश्यकताएँ एकाकी रूप में पूर्ण नहीं कर सकता, ये अनेक व्यक्तियों के सहयोग से तभी पूर्ण हो सकती हैं, जब इन्हें पूरा करने के लिए समाज में अन्न उत्पन्न करने वाले किसानों, मकान बनाने वाले राजों, कपड़ा बनाने वाले जुलाहों, जूता बनाने वाले मोची आदि की विशेष आर्थिक श्रेणियाँ बन जाएँ। वस्तुतः राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं के कारण होती है, कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताएँ स्वयमेव नहीं पूरी कर सकता है, उन्हें पूरा करने के लिए समाज में विभिन्न श्रेणियों का विकास होता है तथा इनमें समन्वय और सहयोग बनाए रखने के लिए राज्य का प्रादुर्भाव होता है।

समाज के लिए इस प्रकार का श्रम-विभाजन (Division of labour) बड़ा महत्त्वपूर्ण है। एक ही व्यक्ति अनाज पैदा करने, कपड़ा, जूता और मकान बनाने का कार्य नहीं कर सकता। जब इन कार्यों के लिए विभिन्न वर्ग बन जाते हैं तो ये एक ही कार्य करने से उसके विशेषज्ञ बन जाते हैं, उसे अधिक अच्छी तरह योग्यता और दक्षता के साथ करते हैं, उत्पत्ति अधिक होती है। समाज के विभिन्न भागों में कार्यों का बँटवारा हो जाने से प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष कार्य को करता है। यही **विशेष कार्य का सिद्धान्त** (Theory of Specific Function) कहलाता है। समाज का विकास होने के साथ पेशों की संख्या बढ़ती जाती है। इन सबका आर्थिक सहयोग जीवन-यापन के लिए आवश्यक होने के कारण ये राज्य के रूप में संगठित होते हैं। इस प्रकार आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए राज्य का निर्माण होता है। इसमें प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति यदि अपना निश्चित कार्य ठीक करता रहे तो राज्य की आवश्यकताएँ भली-भाँति पूर्ण होती हैं और प्लेटो के मतानुसार यही न्याय (Justice) है। यदि किसान अपना काम ठीक न करे, अन्न का उत्पादन न हो तो समाज भूखा मरने लगेगा। किन्तु यदि वह अपने काम में लगा रहता है, उसे अधिक क्षमता के साथ करता है तो समाज को लाभ होगा। यही हाल राजनीतिज्ञों का है, यदि वे अपने शासन का कार्य ठीक करें, उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा एवं स्वार्थ-सिद्धि का साधन न बनाएँ तो राज्य ठीक चल सकता है। इसका उपाय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति 'विशेष कार्य के सिद्धान्त' के अनुसार कार्य करे। ''प्रत्येक व्यक्ति सदैव उसकी प्रकृति के अनुकूल एक ही कार्य में लगाया जाए, प्रत्येक व्यक्ति एक ही कार्य को करे, अनेक कार्य न करे, तभी सारा नगर (राज्य) एक होगा।''

आर्थिक तत्त्व के अतिरिक्त राज्य का निर्माण करने वाला **दूसरा तत्त्व सैनिक** है। यह आत्मा के गुणों में उत्साह या शौर्य के साथ साम्य रखता है। केवल आर्थिक आवश्यकताएँ पूरा करने वाला राज्य तो ग्लौकोन के शब्दों में केवल अपना पेट भरने

मात्र से सन्तुष्ट होने वाला सूअरों का राज्य होगा।[1] मनुष्य का केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तोष नहीं होता, वह केवल रोटी से ही नहीं जीता, उसमें अपने को सुसंस्कृत एवं परिमार्जित बनाने की कुछ आकांक्षाएँ होती हैं। इनसे चित्र, मूर्ति, संगीत आदि कलाओं का जन्म होता है। इन्हें पूरा करने के लिए अधिक जनसंख्या और प्रदेश होने चाहिएँ। यह प्रदेश युद्ध द्वारा प्राप्त हो सकता है।[2] अतः राज्य का एक कार्य पर्याप्त प्रदेश को उपलब्ध करना तथा उसे अपने अधिकार में बनाए रखना होता है। अतः राज्य में उत्साह (Spirit) या शौर्य का तत्त्व उत्पन्न होता है। राज्य की रक्षा के लिए शूरवीर रक्षकों (Guardians) की आवश्यकता होती है। विशेषीकरण (Specialisation) के नियम के अनुसार इसे करने वाले योद्धाओं का एक विशेष वर्ग होना चाहिए। इनसे राज्य अपनी रक्षा और प्रदेश-विस्तार का कार्य करता है। राज्य की सत्ता इन पर निर्भर है, अतः इनके प्रशिक्षण का विशेष प्रबन्ध किया जाना चाहिए। इसके बाद प्लेटो ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।

राज्य के निर्माण का **तीसरा आधार दार्शनिक तत्त्व है**। इसका सम्बन्ध आत्मा के विवेक या बुद्धितत्त्व से है। पहले यह बताया जा चुका है कि उत्साह विवेक की सहायता से अन्याय का निर्मूलक तथा न्याय को बढ़ाने वाला होता है। प्लेटो के मतानुसार सैनिक राज्य का संरक्षक होता है और संरक्षक का स्वभाव रखवाले कुत्ते के समान घर वालों के साथ प्रेम का तथा चोरों के प्रति शत्रुता का होता है।[3] कुत्ता यह जानता है कि किनके प्रति मृदुता और प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार रक्षक भी ज्ञान और विवेक द्वारा शत्रु और मित्र में भेद करके उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है। अतः राज्य के रक्षक में विवेक का गुण होना चाहिए। सैनिक योद्धा में यह गुण सामान्य रूप में पाया जाता है, किन्तु इसका विशेष विकास पूर्ण संरक्षक (Perfect guardian) या शासक में पाया जाता है। प्लेटो के मतानुसार संरक्षक दो प्रकार के होते हैं: (1) **सहायक या सैनिक संरक्षण**—इनका विशेष गुण शौर्य होता है तथा (2) **दार्शनिक संरक्षक** (Philosopher guardians)—इनका विशेष गुण विवेक होता है। ये राज्य के वास्तविक संरक्षक होते हैं। शासक का विवेक विशेष रूप से इस बात में निहित है कि वह बुद्धिमान् हो तथा शासितों से प्रेम करे, उनका कल्याण अपना कल्याण तथा उनका अहित अपना अहित समझे।[4] वह अपने विवेक और प्रजा-प्रेम की भावना से राज्य की एकता को बनाए रखता है। राज्य के निर्माण में आर्थिक आवश्यकताएँ या कामतत्त्व (Appetite) मनुष्यों को राज्य के रूप में संगठित होने की प्रेरणा करता है, उत्साह उनको सैनिक संगठन द्वारा सुदृढ़ बनाता है तथा विवेक मनुष्यों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न कर इस संगठन की एकता और स्थायित्व को सुदृढ़ बनाए रखता है।

विवेक राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, अतः विवेकसम्पन्न दार्शनिक को ही

1. रिप्ब्लिक (कॉर्नफोर्ड), पृ॰ 59.
2. वही, पृ॰ 60.
3. वही, पृ॰ 63.
4. वही, पृ॰ 101.

राजा होना चाहिए । किन्तु दार्शनिक प्रकृति सभी व्यक्तियों की नहीं हो सकती । "समूची जनता कभी दार्शनिक नहीं बन सकती ।"[1] अतः शासक वही होना चाहिए, जो दार्शनिक की बौद्धिक योग्यता रखे । इसका अभिप्राय यह है कि वह न्याय, सौंदर्य, संयम (Temperance) के गुणों के मूल विचार (Ideas) जानता हो । उसे यह ज्ञात हो कि इस दृश्यमान जगत् की विविध वस्तुओं के पीछे रहने वाले वास्तविक सत् का विचार (Idea of Good) क्या है और सब कार्यों व घटनाओं का क्या प्रयोजन है । शासक में विवेक और बुद्धि के गुण की पराकाष्ठा होनी चाहिए । राज्य का नियन्त्रण और संचालन इसी विवेक से होना चाहिए । दार्शनिक राजा (Philosopher King) का विचार प्लेटो के राज्यसम्बन्धी विचारों का स्वाभाविक तर्कसंगत परिणाम है ।

राज्य निर्माण के उपर्युक्त तीन तत्त्वों के आधार पर प्लेटो ने अपने राज्य में तीन वर्गों की सत्ता मानी है : (1) विवेक गुण का प्रतिनिधित्व करने वाले **संरक्षक** (Guardians), (2) उत्साह गुण के प्रतिनिधि **सैनिक या संरक्षक** (Auxiliary Guardians), (3) काम या क्षुधा तत्व की पूर्ति करने वाले **उत्पादक या कृषक** । समाज का यह त्रैवर्गिक विभाजन मध्यकालीन योरोप में बड़ा लोकप्रिय हुआ । उस समय योरोपीय जनसमाज को निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँटा जाता था—(1) पादरी (Oratores), (2) योद्धा (Bellatores), (3) मजदूर वर्ग (Laboratores) । भारतीय समाज को धर्मशास्त्रकारों ने मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों यथा सत्त्व, रज और तमो गुण के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में बाँटा है ।[2] इनमें पहला वर्ण संरक्षकों से, दूसरा सैनिकों से तथा तीसरा और चौथा वर्ण कृषकों से मिलता है । पश्चिमी विद्वान् उरविक ने तो यहाँ तक कल्पना की है कि समाज को तीन वर्गों में बाँटने की प्रेरणा प्लेटो को भारत से मिली थी ।[3]

प्लेटो का न्याय-विषयक सिद्धान्त : (क) स्वरूप—राज्य के स्वरूप की विस्तृत विवेचना करने के बाद प्लेटो रिपब्लिक के अन्त में पुनः न्याय का स्वरूप प्रतिपादित करता है । उसके मतानुसार व्यक्ति की भाँति राज्य के भी चार धर्म या गुण (Virtues) हैं—बुद्धिमत्ता, साहस, संयम (Temperance or self-control) और न्याय ।[4] पहले (पृ० 18, में यह बतलाया जा चुका है कि राज्य और व्यक्ति में ब्रह्माण्ड और पिण्ड का सम्बन्ध होने से राज्य के गुण व्यक्तियों में पाए जाते हैं । अतः बुद्धिमत्ता राज्य के शासक वर्ग में रहती है, वह बुद्धि द्वारा राज्य का शासन करता है । साहस सैनिकों का गुण है तथा संयम उत्पादक वर्ग का । अब चार गुणों में से न्याय ही शेष रहा । यह क्या है और उसका अधिष्ठान क्या है ? इस सम्बन्ध में प्लेटो का यह उत्तर है कि यह अपने निश्चित स्थान (Station) में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना और दूसरे के कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप न करना है ।[5] अतः, इसका निवास-स्थान या अधिष्ठान अपना निश्चित

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 197.
2. भगवद्गीता 18/41-44.
3. भोलानाथ शर्मा—आदर्श नगर व्यवस्था, पृ० 66.
4. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 116-126.
5. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 176.

कर्त्तव्य पूरा करने वाले प्रत्येक नागरिक के मन में है। उसका यह **मौलिक** सिद्धान्त है कि 'एक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य करना चाहिए, जो उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो।' उदाहरणार्थ, शासक यदि बुद्धिमत्तापूर्वक अपना कार्य करता है तो वह न्यायी है और वह राज्य भी न्यायी है क्योंकि इसका नागरिक अपने निश्चित स्थान में निश्चित कार्य को पूरा कर रहा है। **प्लेटो के मतानुसार आदर्श राज्य में इसके विभिन्न अंग अपना समुचित कार्य करते रहते हैं। इन अंगों द्वारा अपने क्षेत्र में सीमित रहते हुए दूसरे अंगों के साथ सहयोग करते हुए अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को पूरा करना या स्वधर्म का पालन करना न्याय है।**

(ख) **न्याय के दो रूप हैं—सामाजिक तथा वैयक्तिक। सामाजिक रूप** में न्याय समाज के विभिन्न अंगों से उनके कर्त्तव्यों का पालन कराते हुए उनमें सामंजस्य तथा एकता बनाए रखता है। समाज के तीनों वर्ग—उत्पादक, सैनिक और शासक अपनी आवश्यकताओं के कारण एक होकर अपने निश्चित कर्त्तव्यों का पालन करते हुए, समष्टि को बनाए रखते हैं। सैबाइन के शब्दों में, "न्याय वह बन्धन है जो समाज को व्यक्तियों का ऐसा सामंजस्यपूर्ण संगठन बनाता है, जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रशिक्षण के अनुसार कार्य करते हैं।"[1] व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए इससे अच्छी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती, वे अपने कार्यों को पूरा करें। "ट्रैफलगर में नैपोलियन के फ्रांस से लड़ने वाला इंग्लैण्ड न्यायी था, क्योंकि उस युद्ध में नेल्सन के नेतृत्व में ब्रिटिश बेड़े के नौसैनिकों ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया था।"

फोस्टर के शब्दों में प्लेटो के सामाजिक न्याय का विचार वास्तुकारात्मक (Architectonic) है।[2] गृह-निर्माण का कार्य कराते हुए प्रधान वास्तुकार या इंजीनीयर राजों, बढ़इयों, मूर्तिकारों से काम लेता है, ये उसके निरीक्षण में कार्य करते हैं। इनमें प्रत्येक का विशेष कार्य निश्चित होता है, वास्तुकार का कार्य सबके कार्य को ठीक प्रकार से संचालित करना और देख-रेख करना है। इसके विविध कार्यों में दो प्रकार की खूबियाँ और खामियाँ हो सकती हैं, पहली विशेष कारीगरों की और दूसरी वास्तुकार की। उदाहरणार्थ, एक दरवाजे को लीजिए। इसे एक बढ़ई बहुत सुन्दर बना सकता है। किन्तु वास्तुकार को यह भी देखना होगा कि भवन के अनुपात में इसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा अन्य बातें ठीक हैं। ऐसा न होने पर सुन्दर-से-सुन्दर नक्काशीदार दरवाजा भी भद्दा लगेगा। यह स्पष्ट है कि इसकी खूबी वास्तुकार की कुशलता पर अवलम्बित है। उसकी विशेषता इसी बात में है कि वह विभिन्न प्रकार के कारीगरों पर इस प्रकार का नियन्त्रण और अनुशासन रखे कि भवन-निर्माण में किसी प्रकार का दोष न आने पाए। इसी प्रकार समाज में न्याय सब मनुष्यों से उनका कर्त्तव्य पूरा कराते हुए उन पर यह अंकुश रखता है कि वे सामर्थ्य होने पर भी अपने क्षेत्र से बाहर न जाएँ, समष्टि की एकता और हित को बनाए रखें, स्वधर्म का ही पालन करें, समाज के सभी अंगों में सामंजस्य बना रहे।

न्याय का दूसरा रूप **वैयक्तिक** है। पहले बताया जा चुका है कि आत्मा में

1. **सैबाइन—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 60.**
2. **फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० 41-42**

तीन तत्त्व—विवेक, उत्साह तथा काम हैं। प्रत्येक व्यक्ति में विचार, भावनाएँ तथा इच्छाएँ पाई जाती हैं। इनमें समन्वय बना रहना वैयक्तिक न्याय तथा मानवीय सद्गुण (Human virtue) है। यदि विवेक की लगाम न रहे, भावना या इच्छा प्रबल हो तो व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड़ जाता है और वह विघटित होने लगता है। उसमें तीनों तत्त्वों का सामंजस्य न रहने पर अवांछनीय स्थिति होती है। उसमें धर्मान्धता और कामान्धता उत्पन्न होती है। न्याय का प्रयोजन आत्मा के तीनों तत्त्वों में साम्यावस्था, सामंजस्य और व्यवस्था बनाए रखना है। यह सामंजस्य आत्मा के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना शरीर के लिए स्वास्थ्य है। इस प्रकार न्याय जहाँ एक ओर समाज में सामंजस्य स्थापित करने के कारण राज्य को एक सूत्र में आबद्ध करने वाला सामाजिक गुण है, वहाँ दूसरी ओर वैयक्तिक सद्गुण भी है, क्योंकि यह मनुष्य के आध्यात्मिक सन्तुलन को ठीक बनाकर उसे श्रेष्ठ और सामाजिक बनाता है। प्लेटो के दर्शन का यह प्रथम मौलिक सिद्धान्त (First Principle) है।

इतने लम्बे विचार-विमर्श के बाद न्याय के इस स्वरूप से पाठक को बड़ी निराशा होती है। यह कहा जा सकता है कि 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया'। प्लेटो ने इतनी लम्बी मीमांसा के बाद बड़ी सामान्य और पुरानी बात कही है। किन्तु इसमें यह स्मरण रखना चाहिए कि संसार में कोई विचार नवीन नहीं होता, परिस्थितियों के अनुसार ही उनका महत्त्व होता है। प्लेटो से पहले के समाज और राज्य में बड़ी आपा-धापी तथा नैतिक अराजकता मची हुई थी। व्यष्टिवाद और स्वार्थपरता का साम्राज्य था, राज्य के पदों को अपनी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र बनाया जा रहा था। प्रत्येक राज्य धनी-निर्धन के परस्पर संघर्ष करने वाले दो वर्गों (Stasis) या राज्यों में बँटा हुआ था।[1] प्लेटो के शब्दों में "इनमें से कोई भी एक राज्य नहीं है, क्योंकि कोई भी राज्य चाहे कितना छोटा क्यों न हो, वस्तुतः दो राज्यों में बँटा हुआ है—निर्धनों का राज्य और धनियों का राज्य, और ये दोनों एक-दूसरे से युद्ध कर रहे हैं—(रिपब्लिक)।[2] अरस्तू के शब्दों में, उन दिनों व्यक्ति राजकीय पदों को इसलिए हथियाना चाहते थे कि वे उनसे लाभ उठा सकें और वैयक्तिक स्वार्थ सिद्ध कर सकें। एथेन्स की दशा बड़ी शोचनीय थी। सत्ता के लिए कुलीनों तथा लोकतन्त्रवादियों में प्रबल संघर्ष चल रहा था, कोई अपना कार्य ठीक तरह से नहीं करता था, किन्तु सत्ता को सब हथियाना चाहते थे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त न केवल क्रियात्मक रूप में था, अपितु थ्रेसीमेकस जैसे सोफिस्ट बुद्धि एवं तर्क की दृष्टि से इसे न्यायसंगत मान रहे थे। इनके विरोध में नैतिकता और सदाचरण को सुप्रतिष्ठित बनाने के लिए, तत्कालीन राज्य की कुरीतियों को दूर करने के लिए प्लेटो ने सुदृढ़ तर्क के आधार पर न्याय के विचार की स्थापना की। यह अन्यायी शासकों को तथा उनके दर्शन का समर्थन करने वाले थ्रेसीमेकस, कैलीक्लीज़ जैसे दार्शनिकों को चेतावनी थी कि न्याय केवल शक्तिशाली का स्वार्थ नहीं, वह समाज के सब अंगों का सामंजस्य है। कहा जाता है कि महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति को आध्यात्मिक बनाया।

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 149-50.
2. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 110-11.

इसी प्रकार प्लेटो को यह श्रेय है कि उसने चौथी शताब्दी ई० पू० के राज्य-विषयक चिन्तन का आध्यात्मीकरण (Spiritualisation) करके उसे नैतिक बनाया। समाज में भले ही कुछ समय के लिए शक्ति के उपासक नैतिकता के सिद्धान्तों की अवहेलना करते हुए स्वच्छन्द आचरण करें, जूलियस सीज़र, नैपोलियन और हिटलर बनें; किन्तु अन्त में इनका दु:खान्त पराभव निश्चित रूप से होता है। सीज़र अपने साथियों द्वारा मार डाला गया, नैपोलियन का अन्त सेण्ट हेलेना के बन्दी जीवन में हुआ, हिटलर ने बर्लिन के एक तहखाने में आत्महत्या की। इतिहास की साक्षी प्लेटो के न्याय की व्याख्या का पोषण करती है।

(ग) न्याय के सिद्धान्त की विशेषताएँ—प्लेटो के उपर्युक्त न्याय-विषयक विचारों का विश्लेषण करने पर हमें इस सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ प्रतीत होती हैं—

(1) **व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा**—प्लेटो की इस व्यवस्था में व्यक्ति और उसके अधिकारों का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि वह व्यक्ति को समाज का एक ऐसा अंग समझता है, जो अपना वह निर्धारित कार्य करता है जिसके लिए प्रकृति ने उसे उपयुक्त गुणों से सम्पन्न किया है। इस व्यवस्था में व्यक्तियों के अधिकारों का कोई कानूनी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। प्लेटो का यह कहना है कि "एक व्यक्ति को जब एक ही कार्य प्राप्त होगा तब व्यक्ति अपने कार्य को करेगा और इस प्रकार नगर एक होगा, अनेक नहीं।" इस व्यवस्था में एकता तथा नैतिकता के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का बलिदान कर दिया गया है। इस व्यवस्था में व्यक्ति के अधिकारों को किसी कानून द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जाता है, अपितु इनका नियन्त्रण विवेक तत्त्व के द्वारा किया जाता है। इस दृष्टि से विवेक तत्त्व का निर्धारण करने वाले दार्शनिक शासक इस व्यवस्था में सर्वोच्च निरंकुश शासक होते हैं और व्यक्तियों को कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं प्राप्त होते हैं। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि प्लेटो स्वतन्त्र समाज का शत्रु (Enemy of Open Society) है।

(2) **प्लेटो का न्याय वर्तमान न्याय की धारणा से सर्वथा भिन्न है**—प्लेटो का न्याय वर्तमान समय में प्रचलित न्याय की धारणा से इतना अधिक मौलिक भेद रखता है कि दोनों में केवल नाम की ही समानता है। वर्तमान समय में न्याय का विचार व्यक्ति के अधिकारों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और सभी राज्य व्यक्ति के कुछ मौलिक अधिकार और स्वतन्त्रताएँ स्वीकार करते हैं, जैसे जीने का, सम्पत्ति रखने का, स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन यापन करने, विचार अभिव्यक्त करने, धर्म पालन करने, संगठन बनाने का अधिकार। इन्हें विभिन्न देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों के रूप में स्वीकार किया जाता है और कोई भी राज्य यदि कभी किसी व्यक्ति के इन अधिकारों का हनन करता है तो न्यायालय के माध्यम से व्यक्ति न्याय प्राप्त कर सकता है। किन्तु प्लेटो का न्याय व्यक्ति के अधिकारों की सर्वथा उपेक्षा करता है और इसे कानून द्वारा किसी प्रकार का संरक्षण नहीं प्रदान करता है। अत: सेबाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि "प्लेटो का न्याय किसी भी रूप में विधिशास्त्रीय परिभाषा नहीं है।"

प्लेटो के न्याय में अधिकार की नहीं, अपितु कर्त्तव्य और सेवा की भावना प्रधान है, और शासक भी इसका पालन करने के लिए बाध्य है। क्योंकि दार्शनिक राजाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने विवेक तथा बुद्धि के आधार पर अपना कार्य करते रहें। प्लेटो शासक को किसी प्रकार की प्रभुसत्ता नहीं देता है क्योंकि दार्शनिक राजा बुद्धि और विवेक तत्त्व का प्रतिनिधि है और उसका कार्य यह देखना है कि अपनी विशिष्टता और योग्यता के आधार पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करता रहे और शासक इनमें सामंजस्य स्थापित करते रहें। आजकल जिस प्रकार राज्य में कानून की सर्वोपरि सत्ता मानी जाती है और कानून के शासन द्वारा व्यक्ति को न्याय प्रदान किया जाता है, वैसी कोई वस्तु प्लेटो के न्याय के सिद्धान्त में नहीं है।

(3) **प्लेटो का न्याय का सिद्धान्त भावनामूलक है**—इसके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यक्षेत्र तक ही सीमित रखने की बात कही गई है। किन्तु यदि विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाओं और कार्यक्षेत्रों में टकराव हो तो उस दशा में इसका समाधान किस प्रकार होगा, इसकी कोई व्यवस्था प्लेटो ने नहीं की है। उसके मतानुसार इसके समाधान का साधन आत्मसंयम है। आत्मसंयम एक नैतिक सिद्धान्त है और व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है। अतः प्लेटो का न्याय नैतिक भावनाओं और कर्त्तव्यों पर आधारित है। इसे पालन कराने के लिए वर्तमान राज्यों में विद्यमान कानून जैसी कोई शक्ति उसकी न्याय-व्यवस्था में नहीं है।

(4) **स्वेच्छाचारी शासन का प्रतीक**—प्लेटो का न्याय निरंकुश सत्ता में परिणत हो सकता है क्योंकि प्लेटो यह मानता है कि उसके समाज में दार्शनिक विवेक द्वारा शासन करेंगे, सत्ता प्राप्त होने पर यह स्वाभाविक होता है कि सत्तासम्पन्न व्यक्ति सार्वजनिक हितों को अपने वर्ग के हितों से अभिन्न समझने लगते हैं और स्वेच्छापूर्वक शासन करने लगते हैं। प्लेटो लोकतन्त्र का विरोधी था। अतः उसने शासन व्यवस्था में बहुमत रखने वाले उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की है; उनके अधिकारों की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की है। वे राज्य का उत्पादन करने वाले यन्त्र मात्र हैं, और दार्शनिकों के शासन से बँधे हुए हैं।

(4) **आध्यात्मिक गुण का सिद्धान्त**—प्लेटो का न्याय सिद्धान्त बाह्य न होकर आन्तरिक सिद्धान्त है। यह एक नैतिक गुण है जो आत्मा में अन्तर्निहित है। यह बाह्य शक्ति द्वारा आरोपित नहीं है। अतः यह आध्यात्मिक गुण है।

(5) **कार्य विशेषीकरण का सिद्धान्त** (Theory of Specific Function)—प्लेटो मनुष्य की तीन प्रवृत्तियों—ज्ञान, साहस तथा वासना या क्षुधा के आधार पर समाज को तीन वर्गों—शासक, सैनिक तथा उत्पादक अथवा सामान्य जनता में विभाजित करता है। प्रत्येक वर्ग को विशिष्ट कार्य सौंपता है। इस सन्दर्भ में प्लेटो का कथन है, कि "एक व्यक्ति को एक ही कार्य प्राप्त हो, अनेक नहीं।" इस प्रकार प्लेटो का न्याय सिद्धान्त कार्यविशिष्टता के साथ-साथ कार्यदक्षता एवं एकता का भी सिद्धान्त है।

(6) **अहस्तक्षेप का सिद्धान्त**—प्लेटो के आदर्श राज्य में प्रत्येक व्यक्ति के

कार्य आत्मा के गुण के अनुरूप निर्धारित एवं निश्चित हैं। न्याय यह अपेक्षा करता है कि व्यक्ति दूसरे के कामों में हस्तक्षेप न करें। उसके मतानुसार, "अपने कार्य को करना और अन्य कामों में हस्तक्षेप न करना न्याय है।" इसमें अपने कर्त्तव्य के पालन पर बल दिया गया है।

(7) **सामाजिक एकता का सिद्धान्त**—प्लेटो का न्याय सिद्धान्त सामाजिक एकता का सिद्धान्त है। कार्यों एव आत्मा के गुण के आधार पर तीन भागों में विभक्त होते हुए भी इसमें एकत्व की भावना विद्यमान है। प्लेटो के अनुसार नागरिकों को समष्टिवाद का पाठ पढ़ना है। समष्टि से पृथक् व्यक्ति का विकास रुक जाता है। प्लेटो की मान्यता है कि सामाजिक विकास में ही व्यक्ति का विकास निहित है।

(8) **दार्शनिक शासक का सिद्धान्त**—आदर्श राज्य की स्थापना के लिए दार्शनिक शासक आवश्यक है। दार्शनिक शासक ही शासन को सुचारु रूप से चला सकता है। दार्शनिक शासक अपनी आत्मा के गुण के अनुरूप निःस्वार्थ भाव से कार्य करेगा तो न्याय के सिद्धान्त की स्थापना सम्भव हो सकती है।

(9) **व्यवस्थित शिक्षा का सिद्धान्त**—प्लेटो ने न्याय के सिद्धान्त की स्थापना के लिए व्यवस्थित शिक्षा के सिद्धान्त की आवश्यकता पर बल दिया है। शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रूप से कर सकते हैं।

(10) **सावयव एकता का सिद्धान्त**—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन। व्यक्ति की व्यक्तिगत आशा, अभिलाषा, इच्छा, आवश्यकता आदि का कोई महत्त्व नहीं है। व्यक्ति राज्य रूपी शरीर का एक अंग है, इसलिए उसकी राज्य से अलग स्वतन्त्र इच्छा आदि का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(11) **वैयक्तिक एवं सामाजिक न्याय**—व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति अपनी आत्मा के गुण के अनुरूप बुद्धि के शासन द्वारा आत्मा से समन्वय स्थापित करता है तथा सामाजिक रूप में अपने-अपने कार्यों को करते हुए तथा दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता है।

(12) **नैतिक सिद्धान्त**—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का उद्देश्य सार्वभौमिक न्याय की स्थापना करना है; कानूनी न्याय की नहीं। प्लेटो का न्याय आध्यात्मिक तथा नैतिक है। यह संकीर्ण कानून से ऊपर है तथा व्यक्ति की आत्मा के अनुरूप है।

(घ) **न्याय के विचार की आलोचना**—यूनान की तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से न्याय की कल्पना उपयोगी होते हुए भी अनेक कारणों से यथार्थ नहीं प्रतीत होती है। **बार्कर** के मतानुसार इसका **सबसे बड़ा पहला दोष** यह है कि "प्लेटो का न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है, वह केवल मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों तक सीमित करने वाली भावना मात्र है। कोई ठोस कानून नहीं है।"[1] न्याय कानून का पालन कराने वाला होता है, किन्तु प्लेटो का न्याय नैतिक भावना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्लेटो ने नैतिक कर्त्तव्य और कानूनी बाध्यता (Legal obligation) को मिला दिया है। इसका

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 178.

दूसरा दोष यह है कि इसमें कर्त्तव्य की भावना प्रधान है, किन्तु अधिकार का कोई विचार नहीं है। न्याय में कर्त्तव्य और अधिकार दोनों का विचार होना चाहिए। **तीसरा** दोष यह है कि इसमें व्यक्ति को केवल एक ही कार्य तक सीमित कर दिया गया है, उसमें विविध प्रकार की योग्यताएँ होती हैं, केवल एक कार्य पर बल देने से अन्य योग्यताओं का विकास उपेक्षित रह जाता है, इससे न तो मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है और न समाज का। समाज उसकी विभिन्न योग्यताओं के विकास के कारण उसे मिलने वाले बहुमूल्य लाभों से वंचित हो जाता है। **चौथा** दोष दार्शनिक राजाओं के हाथ में राजनीतिक सत्ता का एकाधिकार प्रदान करना है। इसमें इस मनोवैज्ञानिक तत्त्व की उपेक्षा की गई है कि शक्ति मनुष्य को मदान्ध बनाती है। तुलसीदास जी के शब्दों में, 'अस को नर उपज्यो जग मांही। प्रभुता पाय नहीं मद जाहीं'। एक्टन के मतानुसार शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति (Absolute Power) पूर्णरूप से भ्रष्ट करती है। **पांचवां** दोष यह है कि इसमें अधिकारों के कारण मनुष्यों में होने वाले स्वाभाविक संघर्षों के समाधान की कोई व्यवस्था नहीं की गई। **छठा** दोष प्लेटो के न्याय के विचार का निष्क्रिय (Passive) और निश्चल (Static) होना है। यह प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित कार्य मान लेने के बाद उसकी उन्नति और विकास के सब द्वार अवरुद्ध कर देता है। **सातवाँ** दोष यह है यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र-विरोधी है। अल्पसंख्यक वर्ग को ही राजनीतिक शक्ति प्रदान करता है। यह लोकतन्त्र की मौलिक मान्यताओं—समानता एवं स्वतन्त्रता की उपेक्षा करते हुए व्यक्ति को एक निश्चित वर्ग की सीमा में रहने के लिए बाधित करते हैं। **आठवाँ** दोष यह है कि इस सिद्धान्त में आत्मा के गुण निर्धारण का कोई निश्चित आधार नहीं है, जिसके आधार पर समाज को तीन भागों में विभक्त किया गया है। **नवाँ** दोष यह है कि यह सिद्धान्त पूर्णतया अमनोवैज्ञानिक तथा अव्यावहारिक है। शासकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति और पारिवारिक जीवन की सुविधाओं से वंचित कर मानव की मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित करता है। **दसवाँ** दोष यह है कि इसमें अनुभव को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। अनुभवी व्यक्ति समाज को उचित दिशा-निर्देश दे सकने में सक्षम होता है। **ग्यारहवाँ** दोष यह है कि प्लेटो कार्य-विशेषीकरण एवं वर्ग-विभाजन पर बल देता है। इससे जाति-व्यवस्था एवं वर्ण व्यवस्था तथा विषमता उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार वह न्याय द्वारा जिस एकत्व की स्थापना करना चाहता है वह समाप्त हो जाता है। **बारहवाँ** दोष यह है कि यह सिद्धान्त पूर्णतया अनावश्यक है, क्योंकि जो व्यक्ति साहसी है वह स्वतः ही सैनिक बनना पसन्द करेगा, उसे इसको सिद्धान्त के रूप में बताने की क्या आवश्यकता है। **तेरहवाँ** दोष श्रमिकों तथा जनता की बहुसंख्या को राजनीति से वंचित करना है। वह न्याय को विभिन्न वर्गों द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन करना मानता है; इसके अनुसार शासन और राजनीति कुछ थोड़े से दार्शनिकों का कार्य है, साधारण जनता तथा उत्पादन करने वाले मजदूर वर्ग को शासन में कोई अधिकार नहीं है। सेबाइन के 'कथनानुसार' प्लेटो के मन में राजनीति शासक वर्ग की एक प्रकार से बपौती बन जाती है। तीसरे और सबसे बड़े उत्पादक वर्ग का राज्य के प्रबन्ध, उसके नीति-निर्धारण या प्रशासन से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है, ये उच्च वर्गों

के सेवक मात्र रह जाते हैं। यह मान लिया गया है कि उनमें प्रशासन की क्षमता होती ही नहीं है, यह उनमें शिक्षा द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती है।" प्लेटो इनके लिए शिक्षा की आवश्यकता नहीं मानता है। **चौदहवाँ** दोष सामान्य जनता पर अविश्वास करना है क्योंकि वह इसे शासन में कोई महत्त्वपूर्ण अधिकार नहीं देता है। सेबाइन ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि प्लेटो लोकतन्त्र प्रणाली वाले नगर-राज्य में रहता था, यहाँ प्रत्येक नागरिक से राजनीति में पूरा भाग लेने की आशा रखी जाती थी। राजनीति जनजीवन का अंग थी, ऐसे वातावरण में रहते हुए जनता पर अविश्वास करना, उसे शासन में अधिकार न देना न केवल उस समय के, अपितु वर्तमान समय के भी प्रतिकूल है। प्रो० सेबाइन ने न्याय के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है—"प्लेटो के न्याय की कल्पना जड़, आत्मपरक, निष्क्रिय, अनैतिक, अव्यावहारिक तथा अविश्वसनीय है।"

(ii) शिक्षा का सिद्धान्त

(क) **महत्त्व**—प्लेटो के विचार में न्याय राज्य का प्राण है। न्याय का अर्थ राज्य के विविध वर्गों द्वारा अपने कर्त्तव्यों और धर्मों का पालन है। यह तभी हो सकता है, जब उन्हें अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान हो। यह शिक्षा-पद्धति द्वारा ही सम्भव है। इससे हम सबको अपने यथार्थ कर्त्तव्यों का बोध करा के जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन ला सकते हैं और समाज की वर्तमान बुराइयों का संशोधन कर सकते हैं। **बार्कर** के शब्दों में यह मानसिक चिकित्सा द्वारा समाज की मानसिक व्याधि को ठीक करने का प्रयास है।[1] अतः, प्लेटो ने इस पर बहुत बल दिया है, इसका इतने विस्तार से वर्णन किया है कि रूसो के शब्दों में यह शिक्षाशास्त्र पर लिखी गई सबसे अधिक सुन्दर पुस्तक है।

(ख) **दो शिक्षा-पद्धतियाँ**—प्लेटो के समय में दो प्रकार की शिक्षा-पद्धतियाँ प्रचलित थीं: पहली पद्धति एथेन्स की थी तथा दूसरी स्पार्टा की थी। दोनों में कुछ गुण-दोष थे। इनके गुणों को लेते हुए तथा दोषों को दूर करते हुए प्लेटो ने अपनी शिक्षा-पद्धति की योजना बनाई। एथेन्स में शिक्षा राज्य का नहीं, किन्तु परिवार का निजी कार्य समझी जाती थी। रोमन साम्राज्य के समय तक यहाँ राज्य की ओर से कोई स्कूल नहीं बने थे। सोलन (Solon) के एक नियम के अनुसार माता-पिता का यह कर्त्तव्य था कि वे अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करें। एथेन्स की शिक्षा का पाठ्यक्रम तीन अवस्थाओं में बँटा था: पहली अवस्था में प्राथमिक शिक्षा के मुख्य विषय—पढ़ना, लिखना, प्राचीन कवियों के साहित्य का अध्ययन, व्यायाम और संगीत थे। यूनान में कवि धर्मगुरु भी समझे जाते थे, अतः साहित्य के अध्ययन से विद्यार्थियों को नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र की शिक्षा भी मिल जाती थी। प्राथमिक शिक्षा छः से चौदह वर्ष तक की थी। इसके बाद दूसरी माध्यमिक शिक्षा (Secondary education) धन देकर सोफिस्टों से प्राप्त की जाती थी। सोफिस्ट अलंकारशास्त्र, भाषणकला,

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 181.

राजनीति आदि पर व्याख्यान देते थे। इस शिक्षा का लाभ प्राय: धनी व्यक्ति उठाते थे। यह 14 से 18 वर्ष तक होती थी। इसके बाद **तीसरी** अवस्था (Tertiary stage) में 18 से 20 वर्ष तक एथेन्स के युवक नागरिक अधिकार प्राप्त करने से पहले सैनिक-शिक्षा ग्रहण करते थे। केवल दो वर्ष की अल्प अवधि में राज्य नागरिकों को सामाजिक शिक्षा प्रदान करता था।

प्लेटो के मतानुसार एथेन्स की शिक्षा जहाँ एक ओर युवक का समुचित मानसिक और शारीरिक विकास करती थी, वहाँ दूसरी ओर उसका बड़ा दोष यह था कि इसमें शिक्षा देना राज्य की नहीं, किन्तु परिवार की जिम्मेवारी समझी जाती थी। माता-पिता द्वारा दी जाने वाली शिक्षा राज्य की आवश्यकताओं तथा उसकी प्रकृति के प्रतिकूल होती थी और उत्तम नागरिक तैयार करने के स्थान पर उपद्रवी क्रान्ति-कारियों को तथा भ्रष्ट राजनीतिज्ञों को उत्पन्न करती थी। प्लेटो के मत में इस शिक्षा का यह बहुत बड़ा दोष था और इसीलिए एथेन्स अज्ञानी और अयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासित होने के दुष्परिणाम भोग रहा था। एथेन्स में राज्य व्यक्ति को नागरिक होने की शिक्षा नहीं देता था और इसका दण्ड उसे यह भुगतना पड़ता था कि उसके अधिकारी निकम्मे होते थे। एथेन्स के राजनीतिज्ञों के अज्ञानी होने से प्लेटो के मन में इस शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध असन्तोष एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इसके परिणामस्वरूप उसने अपनी शिक्षा-पद्धति में निम्न तत्त्वों पर बल दिया—(1) शिक्षा राज्य द्वारा दी जानी चाहिए। (2) शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिक बनाना और उन्हें अपने कार्यों का ज्ञान देना होना चाहिए। (3)एथेन्स में परिवार द्वारा शिक्षा देने की पद्धति का उन्मूलन होना चाहिए। (4) शिक्षा द्वारा योग्य एवं ज्ञानी शासक—दार्शनिक राजा तैयार किए जाने चाहिएँ और इस प्रकार सर्वोत्तम राज्य का सृजन किया जाना चाहिए।

यूनान में **दूसरी शिक्षा-पद्धति स्पार्टा** की थी। इसने भी प्लेटो पर प्रबल प्रभाव डाला। इस योद्धा राज्य में एथेन्स के सर्वथा विपरीत प्राचीन काल से राज्य की ओर से कठोर प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रचलित थी। यहाँ शिक्षा में परिवार का कोई स्थान न था, सात वर्ष की आयु से बालक राज्य के एक अधिकारी को सौंप दिए जाते थे। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य युवकों को कठोर सैनिक-प्रशिक्षण द्वारा वीर क्षत्रिय योद्धा बनाना था ताकि वे स्पार्टा की रक्षा कर सकें। इन युवकों की अनेक प्रकार की कठिन परीक्षाएँ भी ली जाती थीं। स्त्रियों के लिए भी शारीरिक शिक्षा अनिवार्य थी। प्लूटार्क ने स्पार्टा के प्रसिद्ध नियम-निर्माता लाइकरगस (Lycargus) की जीवनी में लिखा है कि यहाँ बालक-बालिकाएँ एकसाथ नग्नावस्था में विविध प्रकार के व्यायाम करते थे।[1] युवतियों के शरीर दौड़, कुश्ती, बर्छी, भाला फेंकने आदि के व्यायामों द्वारा सुपुष्ट बनाए जाते थे, ताकि उनकी सन्तान बलवान् और पुष्ट हों। पारिवारिक जीवन को राज्य की आवश्यकताओं के सम्मुख गौण समझा जाता था। बीस वर्ष की आयु के बाद वहाँ नागरिकों को विवाह करने की स्वतन्त्रता थी, किन्तु

1. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 116 से मिलाइए प्लेटो—संरक्षकों की पत्नियों को व्यायाम के लिए नग्न होना चाहिए क्योंकि उनका सच्चा आवरण उनके सत्कर्म होंगे। रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 151.

तीस वर्ष तक उन्हें 'पुरुषों के घर' (Men's house) में रहना पड़ता था, विवाह एक गुप्त एवं अवैध सम्बन्ध होता था, पति-पत्नी वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन का यापन नहीं कर सकते थे, बच्चे 7 वर्ष के होते ही उनसे पृथक् हो जाते थे। वहाँ की सामाजिक व्यवस्था भी राज्य की सैनिक-आवश्यकताओं के अनुरूप थी। सब नागरिक सामूहिक भोजनालय में भोजन करते थे, इसका व्यय अपनी जमींदारी में दासों द्वारा कराई जाने वाली खेती की आमदनी से अदा करते थे। वहाँ यह सिद्धान्त था कि किसी भी नागरिक को अमीर या गरीब नहीं होना चाहिए; वहाँ कोई सोना, चाँदी नहीं रख सकता था, मुद्रा लोहे की होती थी। शासनतन्त्र कुलीनों के हाथ में था, जो आर्थिक एवं पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अपना सारा समय राज्य द्वारा निर्धारित प्रशिक्षण में और राजकीय कार्यों में लगाते थे। स्पार्टा की यह शिक्षा-पद्धति उन दिनों इतनी प्रसिद्ध थी कि एथेन्स से शिक्षा ग्रहण करने युवक यहाँ आया करते थे।[1] अपनी इस सैनिक-शिक्षा-पद्धति के कारण स्पार्टा ने एथेन्स का पराभव किया और यहाँ अन्य नगरराज्यों की भाँति शासन-प्रणाली में परिवर्तन नहीं होते थे।

जब प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक लिखी तब स्पार्टा अपने राजनीतिक उत्कर्ष और प्रसिद्धि के शिखर पर था। उस पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उसने अपने आदर्श राज्य की अनेक विशेषताएँ स्पार्टा से ग्रहण कीं, उसकी शिक्षा-पद्धति पर इसकी स्पष्ट छाप है। किन्तु स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति में कई गम्भीर दोष भी थे। इसका पाठ्यक्रम बहुत संकुचित एवं एकांगी था, इसमें सैनिक-शिक्षा को प्रधानता देते हुए साहित्यिक शिक्षा की उपेक्षा की गई थी, अनेक स्पार्टावासी लिखना-पढ़ना तक नहीं जानते थे, यूनान के प्राचीन साहित्य से अपरिचित थे। वहाँ केवल शारीरिक शिक्षण था, मानसिक एवं बौद्धिक प्रशिक्षण उपेक्षित था। अतः यह शिक्षा मनुष्य को पूर्ण नहीं बना सकती थी। प्लेटो ने एथेन्स और स्पार्टा की शिक्षा-पद्धतियों की उत्तम बातों का अपनी शिक्षा-पद्धति में समन्वय करते हुए दोनों के दोष छोड़ दिए। उसने एथेन्स से व्यक्ति के पूर्ण विकास का विचार ग्रहण किया और स्पार्टा से उसके सामाजिक पहलू का विचार लिया, इसके अनुसार यह शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित और व्यक्ति को राज्य में अपने कर्त्तव्य का अच्छी तरह पालन करने के योग्य बनाने वाली होनी चाहिए।[2]

प्लेटो का शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में एक विशेष सिद्धान्त यह था कि मानवीय आत्मा या मन (Human soul or mind) बड़ा क्रियाशील है, वह सदैव पदार्थों की ओर दौड़ता रहता है, अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होता है। गुरु का कार्य इतना ही है कि वह विद्यार्थी के मानसिक नेत्रों को वह प्रकाश दे, जिससे वह वस्तुओं को यथार्थ रूप में देख सके। इस प्रकार शिक्षा बाह्य वातावरण के आत्मा पर पड़ने वाले प्रभाव की प्रतिक्रिया है। जिस प्रकार शरीर पर भोजन का प्रभाव आजीवन पड़ता रहता है, उसी तरह आत्मा पर वातावरण का प्रभाव मृत्युपर्यन्त पड़ता है। अतः, शिक्षा जीवन-भर चलने वाली प्रक्रिया है। किन्तु अवस्थानुसार मनुष्य पर बाह्य

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 185.
2. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 187.

वातावरण की प्रतिक्रिया बदलती रहती है, अतः मनुष्य की शिक्षा के विषयों में भी अन्तर आता रहता है। युवावस्था में आत्मा भावना एवं कल्पना प्रधान पदार्थों से प्रभावित होती है, अतः इस समय उसे संगीत, काव्य, साहित्य आदि की शिक्षा देनी चाहिए। इसके बाद दूसरे स्तर पर वह वैज्ञानिक विषयों से प्रभावित होती है, अतः इनकी शिक्षा देनी चाहिए। तीसरे स्तर पर बड़ी अवस्था होने पर उसमें तर्क-शक्ति का विकास होता है, अतः उसे दर्शन की शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि उसमें यह सामर्थ्य उत्पन्न हो कि वह अन्तिम परम तत्त्व या सत् के विचार (Idea of Good) का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

(ग) **प्रारम्भिक शिक्षा के विषय**—अवस्था-भेद के क्रम से प्लेटो की शिक्षा दो बड़े भागों में विभक्त है—प्रारम्भिक शिक्षा तथा उच्च-शिक्षा। प्रारम्भिक शिक्षा 10 से 20 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए है। यह मुख्य रूप से भावनाओं (Emotions) द्वारा चरित्र-निर्माण की शिक्षा है। इसका उद्देश्य उत्साह (Spirit) के गुण को तथा ऐसी भावनाओं को विकसित करना है, जो देश की आवश्यकताओं के तथा सैनिकों के कार्य के अनुरूप हों। यह मुख्य रूप से सामाजिक प्रशिक्षण है, इसका उद्देश्य ऐसे नागरिकों का वर्ग तैयार करना है जो सैनिक-कार्यों के दायित्व को भली-भाँति पूर्ण कर सके। इसमें प्लेटो व्यायाम और संगीत के विषयों के अध्यापन पर बल देता है। पहला शारीरिक विकास के लिए है और दूसरा मानसिक विकास के लिए। व्यायाम का अर्थ केवल शारीरिक कसरत ही नहीं, अपितु शरीर को स्वस्थ बनाए रखने वाले आहार-शास्त्र और चिकित्साशास्त्र का भी ज्ञान है। शारीरिक शिक्षण से शरीर इतना स्वस्थ हो जाना चाहिए कि वह बीमार ही न हो। प्लेटो के आदर्श राज्य में डाक्टरों का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे बीमारी का इलाज करने के स्थान पर उसे बढ़ाते हैं। उसकी सम्मति में बीमारी आलस्य और विलासिता का परिणाम है, यह धनियों की चोंचलेबाजी है।[1] सब नागरिकों को स्वस्थ बनना चाहिए। शारीरिक शिक्षण का उद्देश्य शरीर को सुदृढ़ तथा स्वस्थ बनाने के साथ नैतिक दृष्टि से चरित्र का निर्माण करना भी है। यह सहिष्णुता, साहस तथा उत्साह (Spirit) और वीरता के मानसिक गुण उत्पन्न करने के लिए है। यूनानियों में अखाड़े (Gymanasia) प्लेटो से पहले ही सैनिक-कवायद का साधन थे, ये प्रत्येक नगर-राज्य में हुआ करते थे; क्रीड़ाओं का, विशेष रूप से ओलिम्पिक खेलों का, यूनान के राष्ट्रीय और नागरिक जीवन में बड़ा महत्त्व था। प्लेटो ने इसे स्वीकार करते हुए इसे अपनी शिक्षा-पद्धति में ऊँचा स्थान दिया।

शारीरिक शिक्षण के साथ मानसिक विकास के लिए संगीत को रखा गया। संगीत का अर्थ कोरी गान विद्या नहीं, किन्तु यह काव्य, साहित्य, गीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र आदि सभी ललित कलाओं का प्रतीक है।[2] "लय और स्वरैक्य किसी भी अन्य

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 93-95.

2. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक। यूनान में साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं की विविध शाखाओं की अधिष्ठात्री नौ देवियाँ मानी जाती हैं। इन्हें Muses कहा जाता था, इनके विभिन्न विषय और कलाएँ निम्नलिखित थीं—महाकाव्य, इतिहास, वंशीवादन, दुःखान्त नाटक, नृत्य, वीणावादन, पवित्र गीत, ज्योतिष और सुखान्त नाटक। इन नौ देवियों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र और कलाएँ मौसीकी (Mousike) कहलाती थीं। बाद में इस शब्द का प्रयोग संकुचित होकर

वस्तु की अपेक्षा आत्मा के अन्तरतम प्रदेश में अधिक गहरे प्रविष्ट हो जाते हैं और उस पर सुदृढ़ अधिकार जमा लेते हैं और लालित्य इनका सहचर है। अतः यदि कोई इस विद्या में शिक्षित हो जाए तो वे आत्मा को ललित (Graceful) बना देते हैं।"[1] संगीत समस्वरता (Harmony) में है, यह आत्मा में स्वरैक्य और सामंजस्य उत्पन्न कर मनुष्यों को न्यायी (Just) बनाएगा। संगीत एवं अन्य ललित कलाएँ मनुष्य के मन को सुशिक्षित बनाती हैं, उसमें उत्साह (Spirit) तथा विवेक (Reason) की प्रसुप्त शक्ति का विकास करती हैं। "संगीत की शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति सुन्दर वस्तुओं की प्रशंसा करेगा, उनसे आनन्दित होगा तथा अपनी आत्मा के विकास के पोषण के लिए उनको अपनी आत्मा में ग्रहण करेगा एवं इस प्रकार स्वयं भला और सुन्दर बन जाएगा।"[2]

किन्तु संगीत एवं अन्य ललित कलाओं के प्रशिक्षण में प्लेटो ने चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक अंशों तथा कला-कृतियों पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध (Censorship) लगाने की व्यवस्था की है। उसके मतानुसार साहित्य से इस प्रकार के सभी अंशों को निकाल देना चाहिए, जो देवताओं की प्रकृति के प्रतिकूल हों, उनसे बुरा काम कराते हों, विद्यार्थियों के साहस को शिथिल बनाने वाले हों, मृत्यु का भयावह रूप में चित्रण करते हों, असंयम उत्पन्न करने वाले हों, भोगविलास के आनन्दों को चित्रित करने वाले हों।

प्लेटो इस शिक्षा द्वारा नागरिकों का ऐसा राज्य बना देना चाहता है कि जिसमें न्यायालयों और कानूनों की कोई आवश्यकता न रहे। आजकल राज्य का प्रधान कार्य कानून बनाना और उसका पालन कराना समझा जाता है। हॉब्स और लॉक के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों को कानूनी न्याय दिलाने की आवश्यकता से हुई है। किन्तु प्लेटो जिस प्रकार शारीरिक शिक्षण द्वारा अपने राज्य से डाक्टरों को निर्वासित करना चाहता है, इसी प्रकार संगीत की शिक्षा द्वारा वकीलों और न्यायालयों के बहिष्कार का पक्षपाती है। वस्तुतः ये दोनों आजकल इसीलिए पाए जाते हैं कि शिक्षा-पद्धति दूषित है। यदि संगीत और गानों की शिक्षा द्वारा सब नागरिकों के मनों में राज्य की व्यवस्थाएँ अंकित कर दी जायं तो वे स्वयमेव इनका पालन करेंगे, कानून बनाने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। डेनियल ओकोनेल (Danial O' connell) ने कहा था, "मुझे राष्ट्र के गीत लिखने दो। मैं इस बात की परवाह नहीं करता कि कौन कानून बनाता है।" प्लेटो का इसी प्रकार यह मत था कि "मुझे एक देश के लिए उचित प्रकार के गीत लिखने दो, किसी व्यक्ति को इस देश के कानून बनाने की आवश्यकता नहीं होगी।" कानून मानसिक भावना का विषय है, जब यह भावना शिक्षा-शास्त्री जनता के मन में उत्पन्न कर दे तो कानून बनाने की आवश्यकता ही न रह जाएगी।

केवल संगीत के लिए होने लगा। प्लेटो के संगीत का अभिप्राय साहित्य एवं कला के सभी विषयों से है।

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ॰ 88.
2. वही।

बीस वर्ष की अवस्था में दस वर्ष की प्राथमिक शिक्षा के बाद युवकों की बौद्धिक और क्रियात्मक परीक्षा होगी।[1] इसमें उत्तीर्ण होने वाले ही आगे उच्च-शिक्षा के अधिकारी होंगे। अनुत्तीर्ण होने वाले व्यक्ति देश में सैनिक एवं उत्पादक वर्ग का निर्माण करेंगे, कृषक, मजदूर, कारीगर, व्यापारी और शिल्पी के कार्य करेंगे। अयोग्य व्यक्तियों का निस्सारण और उच्च-शिक्षा के लिए अधिकारी व्यक्तियों का चुनाव निष्पक्ष भाव से किया जाएगा, इसमें धन, कुल आदि का कोई विचार न होगा।

(घ) **उच्च-शिक्षा—पाठ्यविषयों में गणित को महत्त्व देने के कारण**—प्लेटो की उच्च-शिक्षा में दो स्तर हैं 20 से 30 वर्ष तक का शिक्षण और 30 से 40 वर्ष तक का शिक्षण। यह शिक्षा राज्य का शासक या संरक्षक (Guardians) बनने वालों के लिए है। अवस्था-भेद से इनके पाठ्य-विषयों में भी अन्तर आ गया है। उच्च-शिक्षा में पहले प्लेटो ने निम्न विषयों का अध्ययन रखा है—गणित, भूमितिशास्त्र, ज्योतिष, संगीत और दर्शनशास्त्र। गणितशास्त्र थेल्स से हिप्पार्कस तक यूनानी विद्वानों का बड़ा प्रिय विषय था। उन्होंने इसके विकास में बड़ा भाग लिया। प्लेटो के समय यह विकास बड़ी तेजी से हो रहा था, अतः उसने उच्च-शिक्षा में इसे प्रथम स्थान दिया। प्लेटो पर पिथागोरस का भी प्रभाव था। इसके अनुयायी गणित को प्रकृति के रहस्यों को खोलने की कुँजी समझते थे। प्लेटो इसे दर्शनशास्त्र की प्रथम सीढ़ी के रूप में बड़ा महत्त्व देता था। वह यह समझता था कि वास्तविक सत्ता विचारों (Ideas) के रूप में इन्द्रियगोचर प्रतीयमान जगत् के पीछे छिपी हुई है; अतीन्द्रिय होने के कारण उसका दर्शन तो नहीं हो सकता, केवल चिन्तन ही किया जा सकता है। अतः वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें ऐन्द्रियिक प्रतीतियों (Sense perceptions) से ऊँचा उठना चाहिए। गणित इसमें हमारा सहायक है, क्योंकि यह जिन विषयों का विवेचन करती है, वे इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। पुल के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा। गंगा पर बने हुए एक बड़े पुल में हमें इन्द्रियों से केवल यही दिखाई देता है कि हजारों मन लोहा और सीमेंट लगा हुआ है, किन्तु गणितज्ञ और इंजीनियर मानसिक नेत्रों से यह जानता है कि इस पुल में लोहा और सीमेंट यन्त्र-विद्या (Mechanics) और गणित के किन नियमों के अनुसार किस मात्रा में लगा है और यह पुल किन नियमों के अनुसार बना है। उच्चतम गणितज्ञ स्थूल, इन्द्रियगोचर पुल को अमूर्त्त एवं सूक्ष्म नियमों के रूप में देखता है। अतः दर्शन के उच्चतम अमूर्त्त चिन्तन तक पहुँचने का प्रथम सोपान गणितशास्त्र है। प्लेटो के शब्दों में 'विशुद्ध सत्य की प्राप्ति में विशुद्ध बुद्धि का प्रयोग' गणित से सीखा जाता है।[2] इसका उस समय एक क्रियात्मक उपयोग युद्ध-विषयक भी था।[3] "योद्धा को संख्या (Number) के उपयोग का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वह अपनी सेनाओं को व्यूह-रचना में व्यवस्थित नहीं कर सकेगा।" दर्शन के भावी अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने तथा युद्ध में उपयोगी होने के कारण उच्च-शिक्षा में प्रथम स्थान गणित को दिया गया

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 102.
2. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 237.
3. वही, पृ० 236.

है। प्लेटो की अकादमी के प्रवेशद्वार पर यह वाक्य अंकित था कि "गणित का ज्ञान रखने वाले ही इसमें प्रवेश के अधिकारी हैं।"

उच्च-शिक्षा का दूसरा विषय भूमितिशास्त्र (Geometry) गणित से ही संवद्ध था, इसका युद्ध में उपयोग था तथा यह सत् के विचार (Idea of Good) के ज्ञान के लिए दृष्टि को निर्मल बनाने वाला था। तीसरा विषय ज्योतिष (Astronomy) तथा चौथा विषय संगीत का शास्त्रीय ज्ञान (Harmonics—समस्वरता-शास्त्र) था। ज्योतिष में केवल ग्रह-नक्षत्रों की गतियों के स्थूल ज्ञान पर नहीं, अपितु इन गतियों को उत्पन्न करने वाले कारणों के अध्ययन पर बल दिया जाता था।

तीस वर्ष की आयु में उच्च-शिक्षा पाने वाले संरक्षकों (Guardians) में पुनः एक अन्य चुनाव एवं परीक्षा होती है। इसमें योग्य समझे जाने वाले व्यक्ति ही राज्य के पूर्ण संरक्षक बनेंगे। इनके लिए पाँच वर्ष तक प्लेटो ने उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था की है। ये तीस से पैंतीस वर्ष की आयु तक दर्शनशास्त्र (Dialectics) का अध्ययन करते हैं, यदि गणितशास्त्र भौतिक पदार्थों से अमूर्त्त चिन्तन की ओर बढ़ने का पहला सोपान था तो विशुद्ध विचारों (Pure ideas) और अन्तिम सत् के विचार तक पहुँचने के लिए दूसरा सोपान दर्शनशास्त्र है, इसी के माध्यम से वह सत् के विचार तक पहुँचता है। (रिपब्लिक, पृ० 24)।

35 वर्ष की आयु तक शिक्षा देने के बाद भी प्लेटो संरक्षकों के शिक्षण को अपूर्ण मानता है। अभी तक उन्हें कोरी बौद्धिक शिक्षा मिली है, उन्हें संसार का क्रियात्मक अनुभव नहीं है। शासक बनने के लिए यह नितान्त आवश्यक है। अतः प्लेटो ने अगले पन्द्रह वर्ष तक इन बुद्धिजीवी दार्शनिकों को संसार की पाठशाला में तूफानी थपेड़े और धक्के खाकर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था की है। इस प्रकार पचास वर्ष की आयु तक सांसारिक जीवन की कठोर परीक्षाओं में खरे उतरने वाले, लोक-व्यवहार और शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान रखने वाले दार्शनिक ही प्लेटो की सम्मति में शासक बनने के अधिकारी हैं।

(ङ) **विशेषताएँ**—प्लेटो की शिक्षा-पद्धति में कई बड़ी विशेषताएँ हैं : **पहली** विशेषता इसका मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होना है, इसमें मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के तथा आत्मा के तीन तत्त्वों के आधार पर शिक्षण की व्यवस्था की गई है। **दूसरी** विशेषता इसकी सर्वाङ्गीणता है, इसमें शरीर और आत्मा दोनों के विकास पर समान बल दिया गया है, यह एकांगी या अधूरी शिक्षा नहीं है। संरक्षकों के प्रशिक्षण में बौद्धिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा को पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष दिए गए हैं। **तीसरी** विशेषता शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति को राज्य का उत्तम नागरिक बनाना तथा अपने कर्त्तव्य पूर्ण करने की उपयुक्त शिक्षा देना था। **चौथी** विशेषता नैतिकता और धर्म पर बल देना तथा इनको इस प्रकार की शिक्षा देना था कि व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध न रहे। **पाँचवीं** विशेषता उच्च-शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था करना था। उसकी अपनी अकादमी ने इन विषयों की शिक्षा का आदर्श प्रबन्ध किया। तत्कालीन एथेन्स के लिए यह सर्वथा महत्त्वपूर्ण और नई व्यवस्था थी। इसकी **छठी** विशेषता सुशासन के लिए शासकों के शिक्षण पर बल देना है। **सातवीं**

विशेषता संगीत का सदुपयोग है। संगीत की तान बदलने के साथ ही सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन को प्लेटो स्वीकार करता है। यही कारण है कि वह संगीत और कला पर राज्य का नियन्त्रण स्वीकार करता है। **आठवीं** विशेषता, उचित आयु में उचित शिक्षा की व्यवस्था करना है। **नवीं** विशेषता पाठ्यक्रम को कुछ निश्चित विषयों तक सीमित न रखकर सम्पूर्ण मानव जीवन से सम्बन्धित रखना है।

किन्तु प्लेटो की शिक्षा-पद्धति में कई **महत्त्वपूर्ण दोष** भी हैं—

(1) इसका क्षेत्र बड़ा संकुचित है। यह केवल संरक्षकों और शासकों के लिए है। सैबाइन (Sabine) के मतानुसार उसने राज्य की अधिकांश जनसंख्या— कृषक, कारीगर, मजदूर आदि वर्गों के लिए प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की।[1] उसके 'न्याय' के सिद्धान्त के अनुसार समाज में सब वर्गों को अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए और इसकी शिक्षा मिलनी चाहिए। किन्तु वह वस्तुतः शिक्षा का प्रबन्ध केवल शासक वर्ग के लिए करता है।

(2) उसने अपने पाठ्यक्रम में गणित को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और साहित्य की उपेक्षा की है।

(3) उसका शिक्षा-क्रम बड़ा लम्बा है, पैंतीस वर्ष तक की आयु तक चलने वाली शिक्षा बड़ी व्यय-साध्य है, इतनी लम्बी शिक्षा से लाभ उठाने का उत्साह बहुत कम व्यक्तियों में होता है।

(4) पैंतीस वर्ष तक शिष्य बने रहने वाले शासकों में प्रायः नवीन कार्यों को करने की भावना का लोप हो जाता है, गुरु पर अवलम्बित रहने के कारण उनमें आत्म-निर्भरता और स्वयमेव कार्य-संचालन की क्षमता उत्पन्न नहीं होती है। ऐसे व्यक्ति उत्तम शासक नहीं बन सकते।

(5) इस शिक्षा-योजना में व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास पर कोई बल नहीं दिया गया, उसके विकास को राज्य के हितों के लिए बलिदान कर दिया गया है, राज्य के अंग के रूप में ही उसके प्रशिक्षण का प्रबन्ध है।

(6) प्लेटो ने संगीत एवं कला पर राज्य का नियन्त्रण स्वीकार कर कवि एवं कलाकार को नियन्त्रित किया है। चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक अंशों एवं कलाकृतियों पर नियन्त्रण लगाने का अधिकार राज्य को दिया है। वह चाहता है कि भूतकालीन कवियों की रचनाओं के साथ-साथ भविष्य में भी कवियों की रचनाओं से आपत्तिजनक अंश को निकाल दिया जाए। इस प्रकार वह कला एवं काव्य के स्वाभाविक विकास पर नियन्त्रण लगा देता है। बार्कर के शब्दों में— "नैतिक उपदेशों के पाश में जकड़ी हुई कला मानव-हृदय का स्पर्श नहीं कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप में मानव-हृदय को नहीं गुदगुदा सकती, वह उसके आचार-विचार को भी प्रभावित नहीं कर सकती।"[2]

(7) प्लेटो स्त्रियों तथा पुरुषों को समान शिक्षा की व्यवस्था करता है। स्त्री-पुरुष की प्रकृति एवं भावनाओं को समान स्वीकार करता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य के

---

1. सैबाइन – ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ॰ 65.
2. बार्कर—ग्रीक पोलीटिकल थियोरी, पृ॰ 125.

रूप में यह स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष बौद्धिक दृष्टि से समान होते हुए भी भावनात्मक आधार पर असमान होते हैं। अतः दोनों की शिक्षा-व्यवस्था में भेद होना चाहिए।

(8) प्लेटो की शिक्षा उसके न्याय सिद्धान्त से सम्बद्ध और संगत नहीं। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के कार्यों में कुशलता एवं श्रेष्ठता की माँग करता है, किन्तु उत्पादक वर्ग के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में नहीं है। प्रशिक्षण के बिना कार्यों में कुशलता, दक्षता एवं श्रेष्ठता समान नहीं हैं।

(9) प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था का उद्देश्य 'अच्छाई', 'शुभ' और 'सत्य' के दर्शन करना है, किन्तु इन शब्दों की स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयत्न उसने कहीं भी नहीं किया है।

(10) प्लेटो का जीवन-विषयक दृष्टिकोण निराशाजनक है। उच्च वर्ग के अतिरिक्त उसने निम्न वर्ग की ओर ध्यान नहीं दिया है।

(11) प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था में मानव-रुचि के अनुरूप वैविध्य नहीं है।

(III) दार्शनिक राजाओं का शासन

स्वरूप—यह प्लेटो का सबसे मौलिक (Original) सिद्धान्त है, इसी लिए उसने शासकों के लिए 50 वर्ष की आयु तक के सुदीर्घ प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। उसे अपने जीवन में एथेन्स आदि राज्यों के अज्ञानी (Ignorant) शासकों के दुष्परिणामों को देखकर यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि संसार में तब तक शान्ति नहीं स्थापित हो सकती, जब तक सच्चे दार्शनिक शासक न बनें। उसने अपने **सातवें पत्र** में लिखा है, "अन्त में मैंने यह देखा कि सब वर्तमान राज्यों का संविधान बुरा है, उनकी संस्थाओं के दोष दूर करना तब तक सम्भव नहीं, जब तक क्रान्तिकारी साधनों (Radical measures) तथा सौभाग्यपूर्ण परिस्थितियों का संयोग न हो। सच्चे दर्शन की प्रशंसा करते हुए मैं यह दृढ़तापूर्वक कहने के लिए बाधित हुआ कि केवलमात्र ऐसे दर्शन से ही सार्वजनिक और वैयक्तिक अधिकार (Right) को ठीक तरह से समझा जा सकता है। अतएव मानव-जाति के कष्ट का तब तक अन्त न होगा, जब तक कि बुद्धिमत्ता के सच्चे प्रेमी राजनीतिक सत्ता की बागडोर अपने हाथ में न लेंगे या राजनीतिक सत्ता सम्भालने वाले किसी दैवी आदेश से ज्ञान के प्रेमी न बनेंगे।" "मैं इसी भावना को लेकर सिसली तथा इटली गया।"[1] रिपब्लिक में उसने अपने इस विश्वास को दृढ़तापूर्वक रखते हुए राजकीय शक्ति और दार्शनिक बुद्धिमत्ता के संगम पर बल देते हुए घोषणा की है—"**हमारे नगर (राज्यों) में तब तक कष्टों का अन्त नहीं होगा, जब तक दार्शनिक राजा न होंगे या इस संसार के राजाओं और राजकुमारों में दर्शन की भावना और सत्ता न होगी**" (Until philosophers are kings or kings and princes of this world have the spirit and power of philosophy, cities will never rest from their evils.)[2] । केवल इसी प्रकार

---

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), भूमिका।
2. वही, पृ० 174.

स्वार्थपरायण राजनीतिज्ञों के कुशासन और दलबन्दियों का अन्त हो सकता है। प्लेटो के दार्शनिक न केवल ज्ञानी हैं, किन्तु आगे बताई जाने वाली साम्यवाद की व्यवस्था के कारण कांचन और कामिनी के मोह से मुक्त वीतराग, नि.स्वार्थ और कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति हैं। इन्हीं के शासन से संसार के कष्टों का अन्त हो सकता है। यह समाधान प्रस्तुत करते समय उसके सम्मुख एथेन्स के लोकतन्त्र, स्पार्टा के अल्पतन्त्र, सिराक्यूज़ के निरंकुशतन्त्र (Tyranny) के उदाहरण थे। उसने रिपब्लिक की आठवीं, नवीं पुस्तक में विभिन्न शासन-प्रणालियों का वर्णन करते हुए व्यष्टिवाद और स्वार्थपरता को प्रोत्साहन देने वाली प्रचलित शासन-प्रणालियों की कड़ी आलोचना की है। एथेन्स की शासन-प्रणाली में अज्ञान का साम्राज्य था क्योंकि यहाँ शासन का क ख ग न जानने वाले व्यक्ति भी उच्च राजकीय पद लाटरी द्वारा पा लेते थे। इसीलिए वहाँ के शासन में अयोग्य और स्वार्थपरायण व्यक्तियों का बोलबाला था। प्लेटो की दृष्टि में इसका एकमात्र हल ज्ञानी दार्शनिकों को राजा बनाना था।

रिपब्लिक की पाँचवीं-छठी पुस्तकों में दार्शनिक के शासन का समर्थन करते हुए प्लेटो ने इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।[1] "उसमें उच्चतम प्राकृतिक गुण हैं और वह इनका अधिकतम उपयोग करता है।" वह सत्य का अन्वेषक है और तब तक अपना प्रयत्न जारी रखता है, जब तक उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता है। उसमें तृष्णा और ऐन्द्रियिक विषयों को भोगने की लालसा नहीं होती। उसमें 'सुन्दर आत्मा के सभी गुण' होते हैं। वह मृत्यु से नहीं डरता, सत्य का अपलाप नहीं करता, उसे 'न्याय, सौन्दर्य और संयम' के विचारों (Ideas) का तथा परम सत् के विचार (Idea of Good) का तथा मानवीय जीवन के अन्तिम प्रयोजन और कार्यों का ज्ञान पहले बताई शिक्षा-पद्धति द्वारा होता है। इस प्रकार का ज्ञानी और गुणी व्यक्ति ही प्लेटो की दृष्टि में शासक बनाया जाना चाहिए।

प्लेटो ने दार्शनिकों के शासन को एक शासक होने पर राजतन्त्र का तथा अनेक शासक होने पर कुलीनतन्त्र (Aristocracy) का नाम दिया है।[2] उसकी यह विशेषता है कि वह इन्हें निरंकुश शासक बनाता है; ये किसी प्रकार के कानूनों से बँधे हुए नहीं हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो के आदर्श राज्य में कानूनों की सत्ता नहीं है। इस प्रकार वह दार्शनिक शासकों के मनमाने, स्वेच्छाचारपूर्ण तथा निरंकुश शासन (Tyranny) की व्यवस्था करता है। इनका निरंकुश अधिकार आजकल के सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) के विचार से मिलता है, जिसमें हिटलर और मुसोलिनी जैसे अधिनायक शासन करते हैं। प्लेटो का दार्शनिक शासक कानून के सब बन्धनों से ऊपर उठा हुआ ऐसा निःस्वार्थ व्यक्ति है, जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित हिस्सा देता है, अपने विवेक और अन्तःकरण के अनुसार शासन करता है।

दार्शनिक राजा पर प्रतिबन्ध—प्लेटो निरंकुश शासन (Tyranny) को राजतन्त्र का सबसे भ्रष्ट रूप मानता था (रिपब्लिक, पृ० 285-304)। फिर भी

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 193.
2. वही, पृ० 142.

उसने अपने आदर्श राज्य में दार्शनिकों को निरंकुश शासक माना। यह उसके सिद्धान्तों में बड़ी असंगति (Paradox) है। अतः इसे उसने शासक पर कुछ प्रतिबन्ध लगाकर दूर करना चाहा है। दार्शनिक राजा भले ही लिखित कानून के बन्धन से मुक्त हो, किन्तु वह संविधान के मौलिक नियमों के बन्धन से मुक्त नहीं है। बार्कर के मतानुसार वह चार प्रकार के नियमों का पालन करने के लिए बाधित था[1]—(1) दार्शनिक शासक को अपने राज्य में सम्पन्नता या निर्धनता को नहीं बढ़ने देना चाहिए (रिपब्लिक, पृ० 111) क्योंकि धन विलासिता, आलस्य आदि की बुराइयों को उत्पन्न करता है, राज्य में अमीर-गरीब के संघर्ष को बढ़ाकर इसे निर्बल बनाता है, इसकी एकता को खण्डित करता है। (2) **दूसरा बन्धन** यह है कि उसे राज्य का आकार इतना अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए कि उसकी एकता खण्डित होने लगे। यह न तो बहुत बड़ा और न बहुत छोटा, किन्तु आत्मनिर्भर होना चाहिए (रिपब्लिक, पृ० 111)। (3) शासकों पर **तीसरा बन्धन** यह है कि उन्हें 'न्याय' की ऐसी व्यवस्था बनाए रखनी चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य का पालन करता रहे (रिपब्लिक, पृ० 111)। (4) दार्शनिक राजा पर चौथा बन्धन यह है कि वह शिक्षा-पद्धति में कोई नवीन परिवर्तन नहीं करेगा। क्योंकि "जब संगीत की तानें बदलती हैं तो उसके साथ ही राज्य के मौलिक नियम भी बदल जाते है।" अतः प्लेटो अपने दार्शनिक राजा को इन बन्धनों द्वारा अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था का सेवक बनाता है, उसकी सत्ता को मर्यादित एवं सीमित करता है।

दार्शनिक शासन के दोष—किन्तु दार्शनिक राजा पर उपर्युक्त प्रतिबन्ध होते हुए भी इस व्यवस्था में कई गम्भीर दोष हैं: (1) **अव्यावहारिकता** – यह सर्वथा अव्यावहारिक योजना है। शास्त्रों का तथा लौकिक व्यवहार का पूरा ज्ञान रखने वाले तथा सांसारिक विषयों में अनुराग न रखने वाले दार्शनिक दुर्लभ हैं। तत्त्व-चिन्तन में लीन रहने के कारण वे प्रायः सांसारिक विषयों से पराङ्मुख और लोक-व्यवहार-शून्य होते हैं। 'पात्राधारं तैलं तैलाधारं पात्रम्वा' (बर्तन में तेल है या तेल में बर्तन है, इसके लिए तेल-भरे बर्तन को उलटकर देखने वाले), मूढ़ बुद्धि दार्शनिकों की कमी नहीं है। प्लेटो के बड़े भाई अदैमान्तास ने सुकरात को चेतावनी देते हुए कहा था कि दर्शन के प्रेमी जब 35 वर्ष तक इसका अध्ययन करेंगे तो वे बिल्कुल निकम्मे हो जाएँगे (रिपब्लिक, पृ० 190)। इस आयु तक उनके विचार, प्रवृत्तियाँ और स्वभाव परिपक्व हो जाते हैं। उनसे 15 वर्ष तक संसार की ठोकरें खाकर व्यावहारिक ज्ञान सीखने की आशा दुराशामात्र है। ऐसे कोरे दार्शनिक शासन करने के लिए नितान्त अयोग्य हैं। शासन करने के लिए दर्शन की फक्किकाओं का नहीं, किन्तु मनुष्यों के मनोविज्ञान का, कानून का, सैनिक रणनीति का और अर्थशास्त्र का ज्ञान होना चाहिए, न कि गणित का या 'परम सत्' के विचार का। प्लेटो के दार्शनिक राजा उसके आदर्श राज्य (Ideal State) का शासन करने में भले ही सफल हों, किन्तु व्यावहारिक जगत् में सफल नहीं हो सकते हैं।

---

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 205.

(2) **निरंकुशता**—प्लेटो ने दार्शनिक को शासन का अमर्यादित अधिकार देकर निरंकुश शासन का समर्थन किया है। यद्यपि उसने अपने शासन पर चार प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए हैं, किन्तु वे उसकी स्वच्छन्दता को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। एक्टन के शब्दों में, "सत्ता मनुष्य को बिगाड़ती है और पूर्णसत्ता पूर्णरूप से बिगाड़ती है।' कौटिल्य ने लिखा है कि शक्ति मन को दूषित कर देती है (बलं चित्तं विकरोति, अधि० 7, 3, 14)। सत्ता का मद स्वाभाविक है। मदोन्मत्त स्वच्छन्द शासकों का स्वेच्छाचारी शासन वही दुष्परिणाम उत्पन्न करने वाला है, जिनके निवारण के लिए प्लेटो ने दार्शनिक राजाओं की व्यवस्था की है।

(3) **स्वतन्त्रता का हनन**—दार्शनिकों को इच्छानुसार अधिकारों का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता देकर प्लेटो ने राज्य के अन्य सभी व्यक्तियों को जड़ मशीन के पुर्जे बना दिया है, विचारों की स्वतन्त्रता के और स्वशासन के मूल्यवान् अधिकार उनसे छीन लिए हैं। यह यूनानियों के इस विचार के सर्वथा प्रतिकूल है कि राज्य समान अधिकार रखने वाले व्यक्तियों का संगठन है। दार्शनिक राजा द्वारा शासित होने वाले राज्य के प्रजाजन गड़रिये द्वारा देखभाल किए जाने वाले पशुओं के रेवड़ की भाँति हैं।

(4) **सनकीपन**—अध्यात्मविद्या और दर्शन का अत्यधिक चिन्तन व्यक्तियों को सनकी और व्यवहारशून्य बना देता है। ऐसे व्यक्ति शासन करने में अयोग्य होते हैं।

(5) **जनता की उपेक्षा**—दार्शनिक राजाओं का शासन इसलिए भी सफल नहीं हो सकता कि ये अपने को 'अफलातून' मानते हुए जनता से परामर्श नहीं लेते, उसे हेय समझते हैं, अपने विचारों और सुधारों के उत्साह में जनता की मनोवृत्ति और आकांक्षाओं को नहीं समझते और क्रान्तिकारी परिवर्तनों को प्रस्तावित कर समाज में विक्षोभ उत्पन्न करते हैं। जोवेट (Jowett) के शब्दों में, "दार्शनिक राजा या तो भविष्य में बहुत दूर तक देखने वाला होता है या अतीत में पीछे की ओर देखता है, वर्तमान की वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।" प्लेटो ने यद्यपि अपने स्वप्नद्रष्टा दार्शनिकों को व्यावहारिक आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है। वह स्वयं सिराक्यूज़ के दियोनिसियस को आदर्श दार्शनिक राजा नहीं बना सका था।

(IV) साम्यवाद का सिद्धान्त
(Theory of Communism)

(क) **स्वरूप**—प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में 'न्याय' को बनाए रखने के लिए शिक्षा-पद्धति के साथ एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के स्थापित करने पर भी बल दिया है। इसके अनुसार संरक्षकों (Guardians) तथा सैनिकों को राज्य के हित की दृष्टि से वैयक्तिक सम्पत्ति (Private Property) और परिवार नहीं रखना चाहिए। यदि वे इन्हें रखेंगे तो कांचन और कामिनी के मोह में फँस जाएँगे; धनलोलुपता, स्वार्थपरता, पारिवारिक कार्यों में आसक्ति उनके निश्चिन्त और निष्पक्षभाव से शासन के स्वकर्त्तव्यपालन में बाधक होगी। वे इन झंझटों में फँसने के कारण राज्य के

कार्यों की उपेक्षा करेंगे, अतः वीतराग वृत्ति से उनके शासन के संचालन के लिए सम्पत्ति और परिवार के क्षेत्र में साम्यवाद की व्यवस्था आवश्यक है।

सामुदायिक सम्पत्ति की साम्यवादी व्यवस्था यूनान के लिए नई नहीं थी। यूनानी इतिहास के आरम्भ में भूमि वैयक्तिक (Private) नहीं, किन्तु सामूहिक (Communal) सम्पत्ति समझी जाती थी, ऐतिहासिक युग में एथेन्स जैसे राज्य में वनों, खानों पर राज्य का स्वामित्व होता था। स्पार्टा में भूमि वैयक्तिक होने पर भी इससे होने वाली आय से सब व्यक्तियों के सामूहिक भोजनालय का खर्चा चलाया जाता था। क्रीट में भू-सम्पत्ति सार्वजनिक समझी जाती थी, सार्वजनिक दासों द्वारा जोती जाती थी और इसकी आमदनी से वहाँ के भोजनालयों का व्यय चलाया जाता था। प्लेटो पर स्पार्टा और क्रीट की इन प्रथाओं का प्रभाव पड़ा था।[1] प्लेटो से पहले कुछ विचारक दासों के अधिकारों की विवेचना करते हुए वैयक्तिक सम्पत्ति पर आक्रमण कर चुके थे। अरिस्तोफेनीज़ (Aristophanes) ने 390 ई० पू० के लगभग अपने एक नाटक में चाँदी, भूमि तथा अन्य वस्तुओं को सबकी सामूहिक सम्पत्ति बताया है।

(ख) **मूल प्रेरक कारण**—प्लेटो ने सम्पत्ति के साम्यवाद (Communism of property) का निम्नलिखित आधारों पर समर्थन किया है: (1) **मनोवैज्ञानिक आधार**—पहले यह बताया जा चुका है कि आत्मा के तीन तत्त्वों—काम, उत्साह और बुद्धि के आधार पर प्लेटो ने समाज के तीन वर्ग—उत्पादक, सैनिक और संरक्षक निश्चित किए हैं। उसके न्याय के विचार के अनुसार इनको अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। अतः सैनिकों और संरक्षकों को उत्पादक वर्ग की आर्थिक वृत्तियों का परित्याग करना चाहिए। वे यदि ऐसा नहीं करेंगे, तो आर्थिक भावना, धनलिप्सा और स्वार्थपरता उनकी बुद्धि को प्रभावित और भ्रष्ट कर सकती है; रक्षक अपने स्वार्थ के लिए भक्षक बन सकता है। "पशुओं की देखभाल करने वाले कुत्ते को जब क्षुधा (Appetite) भेड़िया बना सकती है तो यह सैनिकों और संरक्षकों की बुद्धि को भी स्वार्थपरता से दूषित कर सकती है।" बुद्धि निःस्वार्थ होती है। इसका यह अर्थ है कि इससे अनुप्राणित मनुष्य अपने वैयक्तिक स्वार्थ को त्यागकर सामूहिक कल्याण के कार्य में लग सकता है। बुद्धि द्वारा ही मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह राज्य का अंग है और राज्य की सेवा के लिए उसे स्व-अर्थ या अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का त्याग करना चाहिए। अतः विशुद्ध बुद्धि और विवेक को बनाए रखने के लिए साम्यवाद आवश्यक हो जाता है।

(2) **राजनीतिक आधार पर** भी प्लेटो ने साम्यवाद का समर्थन किया क्योंकि उसे यूनानी राज्यों के तत्कालीन उदाहरणों से यह निश्चय हो गया था कि एक ही वर्ग के हाथ में यदि राजनीतिक या आर्थिक शक्ति चली जाए तो यह राजनीतिक जीवन की विशुद्धता और क्षमता के लिए बहुत घातक होती है। इन दोनों शक्तियों का संगम भयावह है। जहाँ कहीं ऐसा होता है राजनीतिक सत्ता रखने वाला वर्ग आर्थिक स्वार्थों की सिद्धि करते हुए बुद्धिमत्ता को तथा निःस्वार्थ रहने के कर्त्तव्य को भुला

---

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 207.

देता है। इस देश की प्रजा शासकवर्ग की स्वार्थलिप्सा के प्रति असन्तोष प्रकट करने लगती है। राज्य दो विरोधी भागों में बँट जाता है, उसकी एकता और सामुदायिक भावना का अन्त हो जाता है। अतः राज्य की अखण्डता को बनाए रखने के लिए साम्यवाद आवश्यक है।

(3) **दार्शनिक आधार** पर इसे विशेष कार्य (Specific Function) के सिद्धान्त द्वारा पुष्ट किया गया है। जिन्हें शासन का महत्त्वपूर्ण विशेष कार्य सौंपा गया है, उन्हें अपने कार्य में बाधा और विघ्न डालने वाले सभी सांसारिक तत्त्वों से बचना चाहिए। धन इसी प्रकार का तत्त्व है, अतः संरक्षकों को इससे पृथक् रहना चाहिए। मध्यकाल में ईसाई सन्त भी इसी दृष्टि से अपने पारलौकिक कार्य में बाधा डालने वाले सांसारिक विषयों से पृथक् रहा करते थे। भारतीय साहित्य में इसी दृष्टि से संन्यासियों को कांचन स्पर्श वर्जित है।[1]

प्लेटो ने अपना साम्यवाद राज्य के दो अल्पसंख्यक वर्गों, शासकों तथा सैनिकों तक ही सीमित रखा है। उसके मतानुसार इनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है, वैयक्तिक या सामूहिक रूप से उनका एक विस्वा भूमि पर स्वामित्व नहीं है, भूमि तथा इसकी पैदावार पर कृषकों का स्वत्व है। इनके पास अपने निजी घर भी नहीं हैं, प्लेटो ने इनके लिए ऐसे शिविरों में रहने की व्यवस्था की है, जो सदैव खुले और सार्वजनिक हों, उन्हें सोना, चाँदी नहीं रखना चाहिए।

उसने इनकी जीवन-चर्या का वर्णन करते हुए लिखा है[2]—"प्रथम तो, जितनी कम-से-कम व्यक्तिगत सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है, उससे अधिक सम्पत्ति उनमें से किसी को नहीं रखनी चाहिए। दूसरे किसी के पास ऐसा घर अथवा भण्डार (कोष) नहीं होना चाहिए, जो सबके स्वेच्छापूर्वक प्रवेश के लिए नित्य खुला न रहता हो। उनकी भोजनादि सामग्री इतनी मात्रा में और ऐसी होनी चाहिए जोकि संयमी एवं साहसी योद्धा भटों के लिए उपयुक्त हो, और यह उनको अन्य नागरिकों से सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित रूप में उनकी संरक्षकता की वृत्ति के रूप में इतनी मात्रा में मिल जानी चाहिए कि न तो वर्ष के अन्त में आवश्यकता से अधिक रहे और न कम ही पड़े। युद्ध-शिविर में रहने वाले योद्धाओं के समान उनका भोजन एवं रहना एक स्थान पर होना चाहिए। रही सोने-चाँदी की बात, सो इसके विषय में हम उनसे कहेंगे कि दिव्य प्रकार का स्वर्ण और रजत तो उनको देवताओं (ईश्वर) से नित्य ही अपनी आत्मा के भीतर प्राप्त है।[3] अतः, उनको मर्त्यलोक की निम्न कोटि की धातु की कोई आवश्यकता

---

1. पराशरस्मृति 1/60 यतये कांचनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे। चौरेभ्योप्यभयं दत्वा दातापि नरकं व्रजेत्॥

2. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 106.

3. यहाँ प्लेटो का संकेत 'धातुओं की कथा' (Myth of Metals, रिपब्लिक, पृ० 104) की ओर है। उसके मतानुसार आदर्श राज्य के सब नागरिकों में ऐसी कहानी का प्रचार करना चाहिए कि यद्यपि सारे नगर-निवासी भाई-भाई हैं, फिर भी भगवान् ने उन्हें विभिन्न प्रकार से बनाया है। जो आज्ञा देने का अधिकार रखते हैं, वे सोने से बनाए गए हैं, अतः वे सर्वोच्च सम्मान के अधिकारी हैं। सहायक (Auxiliaries) या सैनिक वर्ग का निर्माण चाँदी से हुआ है, कृषकों तथा शिल्पियों का लोहे और पीतल से।

नहीं है तथा उनकी पवित्रता की अपनी दैवी सम्पदा के साथ मर्त्यलोक की धातु का मिश्रण कर उसको अमेध्य बनाना सहन नहीं होना चाहिए।···सारे नगर-निवासियों में से **केवल इन्हीं के लिए सोने-चाँदी को हाथ में लेना अथवा स्पर्श करना उनके साथ एकत्र छत के नीचे रहना या आभरणों के रूप में उनको अपने अंगों में धारण करना अथवा सोने-चाँदी के पात्रों का पीने के लिए उपयोग करना अवैध होगा।** इस प्रकार रहते हुए वे अपनी भी रक्षा कर सकेंगे और अपने नगर की भी। परन्तु जब कभी वे अपनी भूमि, घर और धन उपार्जित कर लेंगे तब वे अपने अन्य नागरिक जनों के सहायक बने रहने की अपेक्षा उन पर द्वेषपूर्ण अत्याचार करने वाले शासक (Tyrant) हो जाएँगे। उनके जीवन के सारे दिन नागरिकों से घृणा करने में और उनके द्वारा घृणा किए जाने में, उनके विरुद्ध कुचक्र रचने में तथा उनके द्वारा कुचक्र का पात्र बनने में तथा बाह्य वैदेशिक शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं के भय से बहुधा त्रस्त रहने में ही बीतेंगे और इस प्रकार अन्त में वे अपने तथा राष्ट्र के सर्वनाश का ही मार्ग प्रशस्त करेंगे।"

(ग) साम्यवाद की विशेषताएँ— उपर्युक्त वर्णन से प्लेटो के साम्यवाद की कई **विशेषताएँ** स्पष्ट होती हैं। **पहली विशेषता यह है कि यह साम्यवाद सब नागरिकों के लिए नहीं,** किन्तु शासकों के लिए है। यह कुछ इने-गिने, किन्तु समाज के सर्वोत्तम व्यक्तियों के लिए होने के कारण अभिजातवर्गीय (Aristocratic) साम्यवाद है। इसका उद्देश्य **सारे समाज का कल्याण है,** किन्तु यह सारे **समाज द्वारा** व्यवहार में नहीं लाया जाता। इसकी **दूसरी** विशेषता **इसका तपस्यात्मक** (Ascetic) **स्वरूप है।** उपरले वर्गों को राज्य के हित की दृष्टि से यह कांचन और कामिनी का मोह छोड़ने के लिए बाधित करता है, उन्हें वीतराग संन्यासी की वृत्ति अंगीकार करने के लिए विवश करता है। वह यह जानता है कि उसकी इस व्यवस्था में रहने वाले सुखी नहीं रह सकते (रिपब्लिक, पृ० 107-8)। अदैमान्तास के शब्दों में वे राज्य में बिल्कुल किराये के सैनिकों के समान निठल्ले बैठे रहने के लिए नियुक्त किए गए हैं। 'वे भोजन-भृति पर चाकरी करने वाले' ऐसे नौकरों के समान हैं, जिन्हें भोजन के अतिरिक्त कुछ वेतन नहीं मिलता, वे यदि चाहें तो भी 'यात्रा नहीं कर सकते, प्रेयसियों को उपहार नहीं दे सकते'; सुखी समझे जाने वाले व्यक्तियों के समान धन का व्यय नहीं कर सकते। क्या यह उनके जीवन को दुःखपूर्ण नहीं बना देगा! इसका उत्तर प्लेटो ने यह दिया कि 'समग्र राज्य का महत्तम सुख अधिक महत्त्वपूर्ण है' (पृ० 107)। अतः उन्हें अपने भौतिक सुखों का बलिदान करके राज्य को अधिकतम सुखी बनाने का तपस्यात्मक मार्ग वरण करना चाहिए।

तीसरी विशेषता इस साम्यवाद का आर्थिक नहीं, किन्तु राजनीतिक होना है। वर्तमान साम्यवाद का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विषमता को दूर करना है। किन्तु प्लेटो इससे तत्कालीन राजनीति के दोष दूर करना चाहता है। उसका यह उद्देश्य है कि भ्रष्टाचार से धन कमाने वाले तथा शासन कला का ज्ञान न रखने वाले तत्कालीन शासकों के स्थान पर करों द्वारा वसूल की गई राशि से निश्चित वेतन पाने वाले, शासन कला में सुशिक्षित व्यक्तियों का प्रशासन स्थापित हो। इसमें राजनीतिक सेवाओं के लिए

वेतन देने की प्रणाली सम्भवतः उसने पेरीक्लीज़ से ग्रहण की, शासकों के एकसाथ सामूहिक भोजन की व्यवस्था स्पार्टा से ली और शासकों को विशेषज्ञ और प्रशिक्षित बनाने का विचार उसका अपना है।

(घ) **वर्तमान साम्यवाद से तुलना और समानताएँ**—मैक्सी ने लिखा है कि प्लेटो साम्यवादी विचारों का मुख्य प्रेरणास्रोत है और रिपब्लिक में सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारों के मूल बीज मिलते हैं।[1] यह धारणा पूरी तरह सत्य नहीं है। प्लेटो के तथा वर्तमान साम्यवाद में कई सादृश्यों और समानताओं के कारण यह धारणा उत्पन्न हुई है। दोनों में प्रमुख समानताएँ निम्नलिखित हैं—(1) दोनों राज्य को सर्वोपरि मानते हुए उसके हितों को प्रधानता देते हैं, व्यक्ति के हितों को गौण समझते हैं। (2) दोनों मनुष्य की स्वार्थ-प्रधान मौलिक प्रवृत्ति की उपेक्षा करते हैं। (3) दोनों व्यष्टिवाद पर आधारित अनियन्त्रित आर्थिक प्रतियोगिता को हटाना चाहते हैं। (4) दोनों का उद्देश्य एक-सा है, वे राज्य में 'न्याय' की व्यवस्था स्थापित कर राजनीतिक एकता और सामाजिक बन्धुभाव की वृद्धि करना चाहते हैं। (5) वर्तमान साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है। प्लेटो अपने समाज के दो उच्च वर्गों के लिए ही वैयक्तिक सम्पत्ति रखने का निषेध करता है। (6) दोनों सार्वजनिक तथा सामाजिक हित में ही व्यक्ति का हित समझते हैं। इन समानताओं के कारण दोनों में अभेद का भ्रम होना स्वाभाविक है। (7) प्लेटो का साम्यवाद मानव-स्वभाव के एक पक्ष अर्थात् नैतिक तथा आध्यात्मिक पहलू पर बल देता है। आधुनिक साम्यवाद भी केवल आर्थिक पक्ष पर अधिक बल देता है। (8) प्लेटो का साम्यवाद अधिकारों के स्थान पर कर्त्तव्यों पर अधिक बल देता है। आधुनिक साम्यवाद भी व्यक्तियों से इतने अधिक कर्त्तव्यों की अपेक्षा करता है कि उसके अधिकार अत्यन्त सीमित होकर नाममात्र के लिए रह जाते हैं। (9) प्लेटो का साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद सीमित क्षेत्र में ही सफल हो सकते हैं, सम्पूर्ण विश्व में नहीं। (10) दोनों ही साम्यवाद स्त्रियों को पुरुषों के समान स्वीकार कर स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों की व्यवस्था करते हैं। (11) दोनों ही साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति को बुराई की जड़ स्वीकार करते हैं।

(ङ) **भेद**—किन्तु दोनों में निम्नलिखित भेद यह स्पष्ट करते हैं कि प्लेटो का साम्यवाद आधुनिक साम्यवाद से बहुत भिन्नता रखता है : (1) **प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक** (Political) **है**। उसने उस समय के राजनीतिक भ्रष्टाचार और कुशासन को दूर करने के लिए इसकी व्यवस्था की थी। वर्तमान साम्यवाद आर्थिक (Economic) है। इसका प्रादुर्भाव पूँजीवाद के कारण समाज में उत्पन्न हुए आर्थिक वैषम्य को दूर करना है। (2) प्लेटो का साम्यवाद **अधूरा** अथवा **आधा साम्यवाद** (Half Communism) है। यह पूरे समाज के लिए नहीं, किन्तु उसके अल्पसंख्यक भाग—शासक और सैनिक-वर्गों के लिए है। इसका प्रभाव समाज के आधे से भी कम व्यक्तियों

1. मैक्सी—तोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 55.

और बहुत कम सम्पत्ति पर पड़ता है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद आर्थिक विषमता को उत्पन्न करने वाले उत्पादन के सभी साधनों—भूमि, खानों, कारखानों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है। दूसरे शब्दों में प्लेटो का साम्यवाद उच्च श्रेणियों तक सीमित होने से **अभिजात-तन्त्रीय** (Aristocratic) है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद समाज के सब वर्गों के लिए होने के कारण लोकतन्त्रीय (Democratic) है। (3) प्लेटो का साम्यवाद **निषेधात्मक** (Negative) है, वह भौतिक धन-सम्पत्ति को शासकों के राज्यकार्य के संचालन में बाधक समझते हुए उन्हें ऐसी सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित करता है। किन्तु वर्तमान साम्यवाद भौतिक पदार्थों को बड़ा महत्त्व देता है, इन्हें जीवन के लिए आवश्यक समझते हुए सब व्यक्तियों में इनके समान वितरण पर बल देता है। इस विषय में उसका दृष्टिकोण विशुद्ध **भावात्मक** (Positive) है। (4) पहले वह बताया जा चुका है कि प्लेटो के साम्यवाद में सम्पत्ति की सामूहिक व्यवस्था के साथ, स्त्रियों के बारे में भी साम्यवाद की व्यवस्था मानी गई है। वर्तमान साम्यवाद स्त्रियों के सम्बन्ध में इस व्यवस्था को नहीं मानता। (5) यद्यपि दोनों सिद्धान्तों का उद्देश्य समाज में न्याय की व्यवस्था स्थापित करना है, तथापि दोनों के 'न्याय' के स्वरूप में मौलिक अन्तर है। प्लेटो का न्याय सब व्यक्तियों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन है; धन सैनिकों और शासकों द्वारा कर्त्तव्य के पालन में बाधक हो सकता है, इसलिए वह उन्हें धन से वंचित करता है। किन्तु आधुनिक साम्यवादी न्याय का अर्थ व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप भृति या वेतन देना मानते हैं, इसे दिलाने के लिए वे साम्यवाद का समर्थन करते हैं। (6) प्लेटो का दृष्टिकोण **आध्यात्मिक और धर्मप्रधान है,** वह वर्तमान दृश्य जगत् को अवास्तविक मानता हुआ, इसके मूल में विद्यमान विचारों (Ideas) को वास्तविक मानता है, किन्तु वर्तमान साम्यवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism) में विश्वास रखते हुए भौतिक जगत् को वास्तविक मानता है, जड़ प्रकृति से भिन्न किसी आध्यात्मिक सत्ता में आस्था नहीं रखता, धर्म को अफीम समझता है। (7) आधुनिक साम्यवाद के प्रमुख मौलिक सिद्धान्त हैं[1]—आर्थिक विषमता को दूर करना, उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण और सम्पत्ति का समान वितरण। उसके मतानुसार उत्पादन के सब साधनों पर राज्य का स्वामित्व और नियन्त्रण होना चाहिए। प्लेटो के साम्यवाद में इनमें से एक भी तत्त्व नहीं है, रिपब्लिक में कहीं भी उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व करने की चर्चा नहीं है। वह केवल उत्पादन के उतने हिस्से को समाज की सम्पत्ति बनाना चाहता है, जिससे संरक्षकों और सैनिकों को वार्षिक वेतन मिलता रहे। इसके अतिरिक्त वह उत्पादक वर्ग के कृषकों, कारीगरों आदि की वैयक्तिक सम्पत्ति को अक्षुण्ण रखता है। वर्तमान साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का उच्छेद करना चाहता है। दोनों में मौलिक अन्तर है। अतः टेलर ने यह सत्य ही लिखा है कि "रिपब्लिक के समाजवाद और साम्यवाद के सम्बन्ध में बहुत कहा जाने के बावजूद वस्तुतः इस ग्रन्थ में न तो साम्यवाद पाया जाता है और न ही साम्यवाद मिलता है।"[2] (8) प्लेटो का साम्यवाद कार्य-विशेषीकरण

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 213.
2. टेलर—प्लेटो, पृ० 276.

को महत्त्व देकर समाज को वर्गों में विभाजित करता है, जबकि आधुनिक साम्यवाद सामूहिक कार्य पर बल देकर वर्ग-भेद को समाप्त करने पर बल देता है। (9) प्लेटो का साम्यवाद यूनानी नगर-राज्यों तक ही सीमित है, आधुनिक साम्यवाद सम्पूर्ण विश्व में परिवर्तन करना चाहता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय है। (10) प्लेटो के साम्यवाद में आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ अलग-अलग वर्गों को सौंपी गई हैं, आधुनिक साम्यवाद में दोनों शक्तियाँ एक ही स्थान पर एक ही वर्ग को दी गई हैं। (11) प्लेटो का साम्यवाद उच्च वर्ग को गरिमा प्रदान करता है, आधुनिक साम्यवाद निम्न वर्ग को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। (12) प्लेटो के साम्यवाद में वर्ग बने रहते हैं तथा राज्य भी समाप्त नहीं होता है, किन्तु आधुनिक साम्यवाद वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना का पोषक है। (13) प्लेटो का साम्यवाद पूर्ण रूप से काल्पनिक एवं अव्यावहारिक है, जबकि आधुनिक साम्यवाद वास्तविक तथा व्यावहारिक है। (14) प्लेटो समन्वय की बात करता है, जबकि मार्क्स वर्ग-संघर्ष की। वर्ग-संघर्ष ही वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज के निर्माण की कुन्जी है। (15) प्लेटो का साम्यवाद त्याग पर बल देता है, आधुनिक साम्यवाद भौतिक सुखवाद पर।

(च) अरस्तू द्वारा प्लेटो के सम्पत्तिविषयक साम्यवाद की आलोचना—प्लेटो के प्रमुख शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु की इस विषय में कटु आलोचना करते हुए कहा है[1] कि (1) यह व्यवस्था समाज में झगड़ों और फूट को बढ़ाने वाली है। वैयक्तिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वार्थ का क्षेत्र अलग होने से पारस्परिक कलह का एक मुख्य कारण दूर हो जाता है। किन्तु साम्यवाद में वैयक्तिक क्षेत्र सुनिश्चित न होने के कारण विवाद अधिक होगा। समाज की उन्नति अवरुद्ध हो जाएगी। (2) मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी निजी सम्पत्ति रखना चाहता है, उसमें गर्व और गौरव का अनुभव करता है, उसे बढ़ाने में दिन-रात लगा रहता है। किसी वस्तु को अपना समझने में मनुष्य को अवर्णनीय आनन्द होता है। साम्यवाद में यह लाभ नहीं मिल सकता है। (3) वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण व्यक्ति परोपकार के कार्य कर सकता है; मित्रों, अतिथि-अभ्यागतों अथवा साथियों के प्रति दया और सहायता करने से उसे अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है। (4) प्लेटो राज्य की एकता बनाए रखने के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है, किन्तु यह एकता उपयुक्त शिक्षा द्वारा ही स्थापित हो सकती है, न कि साम्यवाद द्वारा। (5) प्लेटो के साम्यवाद में अधिकांश नागरिकों पर यह सिद्धान्त लागू न करके राज्य को दो समुदायों में बाँट दिया गया है, इससे राज्य की एकता बनाए रखना असम्भव हो जाता है।

(छ) स्त्रियों का संयुक्त स्वामित्व (Community of Wives) – प्लेटो ने संरक्षक एवं सैनिक वर्ग को न केवल वैयक्तिक सम्पत्ति से, किन्तु पृथक् घरों में वैयक्तिक परिवार बनाकर रहने की व्यवस्था से भी वंचित किया है। जिस प्रकार कृषकों तथा शिल्पियों से प्राप्त पैदावार की सम्पत्ति पर सब संरक्षकों और सैनिकों का संयुक्त स्वामित्व (joint ownership) समझा जाता था, उसी प्रकार स्त्रियों पर भी इनका संयुक्त स्वत्व माना जाता था। इसका यह उद्देश्य था कि शासक कांचन के समान

1. बार्कर—पालिटिक्स ऑफ अरिस्टाटल, पृ० 48-55.

कामिनी के भी मोह तथा चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करें तथा इनके कारण किन्हीं प्रलोभनों और स्वार्थों के वशीभूत होकर अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा न करें। परिवार का मोह कई बार धन के मोह से अधिक प्रबल होता है। मनुष्य इनके लिए अनेक प्रकार के स्वार्थपूर्ण, अनुचितऔर अनैतिक कार्य करता है। तुलसीदास जी ने कहा है—'गृह कारज नाना जंजाला'। प्लेटो अपने शासकों को इस जंजाल से मुक्त करने के लिए यह व्यवस्था करता है और बड़ी विस्तृत युक्तियों द्वारा चौथी-पाँचवीं पुस्तकों (रिपब्लिक, कार्नफील्ड, पृ० 141-170) में इनका समर्थन करता है।

अरस्तू ने यह लिखा है कि प्लेटो से पहले किसी ने स्त्रियों के संयुक्त स्वामित्व जैसी अनोखी बातों की चर्चा नहीं की। किन्तु हमें प्लेटो से पूर्ववर्ती यूनानी साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। हिराडोटस ने यह लिखा है कि अगाथिर्सियन (Agathyrsian) जाति के लोगों में स्त्रियाँ सबकी समझी जाती हैं तथा सोरोमेशियन (Sauromatian) जाति के पुरुषों के साथ घोड़ों की पीठ पर चढ़कर शिकार करने जाती हैं। अरस्तू ने लिबिया में ऐसी व्यवस्था का वर्णन किया है (बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 45)। स्पार्टा में पति अपनी स्त्रियाँ दूसरे पुरुषों को राज्य के लिए उत्तम सन्तान पैदा करने के लिए दिया करते थे। एथेन्स में स्त्रियों की दशा बड़ी शोचनीय थी और सुकरात विवाह को उत्तम सन्तानोत्पत्ति का साधन मात्र मानता था।[1] प्लेटो को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम विभिन्न युक्तियों से स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए उपर्युक्त योजना की पुष्टि की।

प्लेटो ने अपने सिद्धान्त का स्वरूप बताते हुए कहा है—"संरक्षक स्त्री, पुरुषों, में कोई भी अपना निजी घर (परिवार) नहीं बनाएगा (कोई भी किसी के साथ व्यक्तिगत रूप से सहवास नहीं कर सकेगा), **स्त्रियाँ सबकी समान रूप से पत्नियाँ होंगी, इनकी सन्तानें, समान रूप से सबकी होंगी और न तो माता-पिता अपनी सन्तान को जान सकेंगे और न सन्तान माता-पिता को**" (रिपब्लिक, पृ० 153)। प्लेटो ने अपनी इस योजना का समर्थन निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर किया है—

(1) **परिवार के घातक प्रभाव से संरक्षकों को मुक्त रखना**—वह परिवार को सब स्वार्थी भावनाओं को उत्पन्न करने तथा संकीर्ण एवं पार्थक्यवादी मनोवृत्तियों को जन्म देने वाला मानता है। उसका नारा था—घरों की दीवारें भूमिसात् कर दो, उनमें खुली हवा का संचार होने दो। परिवार की ममता, माया-मोह अनेक पारिवारिक कलहों को उत्पन्न करके राज्य में अशान्ति का और एकता के विघटन का कारण बनता है। यह मनुष्यों को पारिवारिक चिन्ताओं में डालकर उन्हें कर्त्तव्य-बिमुख करता है और समाज में 'न्याय' को स्थापित करने में बाधा डालता है। अतः परिवार की व्यवस्था का अन्त होना चाहिए। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्लेटो का उद्देश्य इस प्रथा का समूलोन्मूलन है। वह वस्तुतः वर्तमान संकीर्ण परिवार प्रथा का अन्त करके इसके स्थान पर समूचे राज्य को ही विशाल परिवार बनाना चाहता था, जिसके सब सदस्य एक-दूसरे से घनिष्ठ आत्मीयता रखने वाले हों।

---

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 218.

(2) **नारियों की मुक्ति तथा समानाधिकार**—उन दिनों एथेन्स में नारियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी, वे घर की चारदीवारी में बन्द रहती थीं। उसकी दृष्टि में स्त्रियों का जीवन चूल्हे-चौके में बरबाद हो रहा था। वह नर-नारी की योग्यता में विशेष अन्तर नहीं मानता था और योग्य स्त्रियों को घर की चारदीवारी से बाहर निकालकर, इनकी प्रतिभा और शक्ति का प्रयोग राज्य के हित में करने को उत्सुक था। उसका यह मत है कि प्रकृति ने नारी को नर की भाँति राज्य के सभी कार्य करने में समर्थ बनाया है। उसके मतानुसार, "**स्त्री प्राकृतिक रूप से राज्य के सभी कार्यों में भाग लेने की योग्यता रखती है**।" इसकी पुष्टि उसने एक मनोरंजक किन्तु हीनकोटि के दृष्टान्त से की है। जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामी के जान-माल की रक्षा करता है उसी प्रकार प्लेटो की व्यवस्था में संरक्षक (Guardians) राज्य के हित की रक्षा करते हैं। उसने संरक्षकों की तुलना पहरा देने वाले कुत्तों से की है और उसका यह मत है कि जैसे इस कार्य को कुत्ता एवं कुतिया दोनों कर सकते हैं, उसी तरह नर-नारी भी इसे करने में समान रूप से समर्थ हैं। उनमें बल की दृष्टि से भले ही कुछ अन्तर हो, किन्तु योग्यताओं की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों में कोई ऐसा भेद नहीं, जो उनके राजनीतिक जीवन में भाग लेने में बाधा बन सके। प्लेटो स्त्रियों को परिवार की सेवा से मुक्त करके राज्य की सेवा में लगाना चाहता है। इसमें वह स्त्रियों के साम्यवाद के अतिरिक्त कोई अन्य व्यवस्था नहीं कर सकता था, क्योंकि संरक्षकों के लिए वह यह पहले ही मान चुका है कि वे खुले सार्वजनिक शिविरों में रहेंगे। उनके पास अपनी पत्नी रखने के लिए कोई पृथक् स्थान या घर न होगा। स्त्री संरक्षकों को भी इसी प्रकार का जीवन बिताना है, अतः इस अवस्था में स्त्रियों के साम्यवाद की व्यवस्था स्वाभाविक थी।

(3) **उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए सुप्रजननशास्त्र की दृष्टि से भी** प्लेटो को यह व्यवस्था आवश्यक प्रतीत होती थी। उसका यह मत था कि उत्तम जाति के शिकारी कुत्ते, मुर्गे, घोड़े प्राप्त करने के लिए जैसी शक्तिशाली और उत्तम गुणों वाले नर-मादा का समागम कराया जाता है (रिपब्लिक, पृ० 154-55), वैसे ही "मानव-समुदाय को श्रेष्ठ अवस्था में बनाए रखना हो तो श्रेष्ठ पुरुषों का श्रेष्ठ स्त्रियों से सहवास अधिक-से-अधिक सम्भव दशाओं में होना चाहिए···और फिर यदि संरक्षकों के समुदाय को पारस्परिक फूट और कलह से यथासम्भव मुक्त रखना हो तो उपर्युक्त प्रबन्ध के उपाय की जानकारी शासकों के अतिरिक्त और किसी को नहीं होनी चाहिए।" (रिपब्लिक, पृ० 155-56)। अपनी योजना की क्रियात्मक रूपरेखा देते हुए उसने यह व्यवस्था की है कि इस प्रकार का सहवास कुछ विशेष अवसरों पर ही हो। "हमको कुछ उत्सवों और यज्ञों का विधान करना होगा, जिनमें वर-वधुओं का सम्मिलन होगा तथा हमारे कवियों को उस समय सम्पन्न होने वाले विवाहों के अनुरूप स्तोत्रों की रचना करना होगी।" ऐसी पद्धति की योजना करनी होगी कि निकृष्ट जन वर-वधू के वरण के अवसर पर शासकों को दोष न देकर दैव को दोष दें। श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ सहवास के अधिक सतत अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। किन्तु सन्तान होने के बाद उनका इससे कोई सम्बन्ध न रहेगा, इनकी देखरेख के लिए

नियुक्त स्त्री-पुरुष पदाधिकारी इन बच्चों को राजकीय शिशु-गृहों में उन धायों के पास पहुँचा देंगे, जो नगर के अलग मुहल्ले में रहती हैं। निकृष्ट और सदोष सन्तानों को अज्ञात स्थान में लेजाकर नष्ट कर दिया जाएगा, ताकि किसी को यह पता न चले कि उनका क्या हुआ। बच्चों का पालन-पोषण करने वाले पदाधिकारी इसका पूरा प्रयत्न करेंगे कि कोई माता अपने शिशु को न पहचान सके।"

उत्तम सन्तान पाने के लिए स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध पूर्ण यौवनकाल में होना चाहिए। अतः प्लेटो ने यह व्यवस्था की है—"स्त्रियाँ बीस बर्ष की अवस्था से लेकर चालीस वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान उत्पन्न करेंगी और पुरुष पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेने के उपरान्त पच्चीस वर्ष की अवस्था से लेकर पचपन वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान पैदा करेंगे।"[1] इस परिपक्व अवस्था से पहले सन्तानोत्पत्ति करने वालों का कार्य अधर्म, अन्यायपूर्ण और अवैध होगा।[2] उपर्युक्त निर्धारित प्रजनन अवस्था को पार कर लेने पर "पुरुषों को पुत्री एवं माता तथा उनके प्रत्यक्ष पूर्वज अथवा सन्तान को छोड़कर तथा स्त्रियों को पुत्र और पिता इत्यादि को छोड़कर अन्य किसी से सहवास की स्वतन्त्रता होगी।" (रिपब्लिक, पृ० 158); किन्तु इस अवस्था में गर्भ को जन्म न लेने देने की व्यवस्था की जाएगी।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि माता-पिता का ज्ञान न होने पर पिता-पुत्र आदि के सम्बन्धों का ज्ञान कैसा होगा। प्लेटो ने इसका यह समाधान किया है कि "पुरुष वर बनने के बाद सातवें मास से लेकर दसवें मास तक के मध्य में उत्पन्न हुए बच्चों को पुरुष होने पर पुत्र और स्त्री होने पर पुत्री कहेगा और वे सन्तानें उसको पिता कहेंगी और इसी प्रकार वह इनकी सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे उनके समुदाय के पुरुषों और स्त्रियों को दादा-दादी कहेंगी तथा वे सब बच्चे जोकि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजननकाल में उत्पन्न हुए हैं "एक-दूसरे को भाई-बहन मानेंगे" (रिपब्लिक, पृ० 158)। प्लेटो यह समझता है कि इस व्यवस्था से न केवल उत्तम सन्तान उत्पन्न होगी, किन्तु सारा राज्य एक विशाल कुटुम्ब का रूप धारण कर लेगा, सब इदं मम (यह मेरा है), इदं न मम (यह मेरा नहीं है) शब्दों का प्रयोग एक ही

---

1. रिपब्लिक (कार्नफील्ड), पृ० 157। भारत में सुश्रुत (शरीरस्थान अध्याय 10, श्लोक 47/4) ने युवावस्था से पहले विवाह के दुष्परिणामों का उल्लेख करते हुए विवाह की आयु पुरुष के लिए 25 वर्ष और स्त्री के लिए 16 वर्ष निश्चित की है—ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते। जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्त-बालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

2. प्लेटो की उपर्युक्त व्यवस्था से स्पष्ट है कि उसका स्त्रियों को सामूहिक बनाना अनेक विधि-विधानों तथा नियमों द्वारा नियन्त्रित है, इसका काम-सम्बन्ध की खुली छूट और स्वच्छन्द मैथुन की स्वतन्त्रता देने वाली कामाचार (Promiscuity) या स्वैराचरण की व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह इससे भी स्पष्ट हो जाएगा कि प्रजनन अवस्था में वर्तमान कोई पुरुष यदि ऐसी स्त्री से सहवास करेगा जिससे उसका समागम शासकों द्वारा निश्चित नहीं किया गया, तो वह धर्म-विरुद्ध अवैध कार्य होगा (भोलानाथ शर्मा—आदर्श नगर व्यवस्था, पृ० 340)। अतः टेलर ने (प्लेटो—दी मैन एण्ड हिज वर्क, पृ० 278) यह ठीक ही लिखा है कि रिपब्लिक में यौन-सम्बन्धविषयक व्यवस्थाएँ (मध्यकालीन) ईसाई समाज की अपेक्षा अधिक कठोर हैं।

प्रकार से, एक ही वस्तु के लिए करने लगेंगे। राज्य में एकता की अनुभूति बढ़ेगी। "जिस तरह उँगली में चोट लगने से सारे शरीर को पीड़ा होती है, इसी तरह राज्य के एक व्यक्ति पर दुःख आ पड़ने पर सारा राष्ट्र उससे दुःखी होगा।"[1] (रिपब्लिक, पृ० 160)। इससे राज्य में सुदृढ़ता और एकता आएगी और यही राज्य की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे राज्य को निर्बल बनाने वाले कलह समाप्त हो जाएँगे, विद्रोहों की सम्भावना मिट जाएगी और शान्ति का अखण्ड साम्राज्य होगा।

आजीवन अविवाहित रहने वाले प्लेटो को स्वयमेव इस योजना के उपयोगी होने पर भी क्रियान्वित होने में सन्देह था। उसके मतानुसार जनता को यह समझाना बहुत कठिन था कि यह अच्छी या सम्भव योजना है (रिपब्लिक, पृ० 153)। वृद्धावस्था में लिखे गए अपने अन्तिम ग्रन्थ लाज़ (Laws) में उसने साम्यवाद को आदर्श मानते हुए शासकों के लिए भी इसे क्रियात्मक प्रस्ताव नहीं बताया। उसके शिष्य अरस्तू ने (पालिटिक्स, पृ० 40-48) इस योजना की भी सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व की भाँति निम्नलिखित कारणों के आधार पर प्रबल आलोचना की थी : (1) अरस्तू का कहना था कि राज्य न तो कभी विशाल कुटुम्ब का रूप धारण कर सकता है और न ही परिवार की एकता व सुदृढ़ता को पा सकता है। जब एक बच्चे का एक नहीं, किन्तु सौ माता-पिता होंगे, और इनके भी सौ बच्चे होंगे तो इनमें प्रेम की वह प्रगाढ़ता और सम्बन्धों की घनिष्ठता नहीं हो सकती, जो एक छोटे परिवार के माता-पिता तथा सन्तान में होती है। "जिस प्रकार थोड़ी-सी मधुर मदिरा बहुत अधिक जल के साथ मिलकर स्वादरहित घोल बन जाती है, इसी प्रकार ऐसे समाज में भी इन (पिता-पुत्र आदि) नामों द्वारा सूचित कौटुम्बिक भावना भी अवश्य ही शिथिल (नष्टप्राय) हो जाएगी।" इस व्यवस्था से राज्य में प्लेटो द्वारा अभीष्ट एकता और सुदृढ़ता नहीं उत्पन्न हो सकेगी। (2) इस व्यवस्था से समाज में कलहों की शान्ति होने के स्थान पर, स्त्रियों को लेकर झगड़े बहुत अधिक बढ़ जाएँगे। (3) जो वस्तु सबकी होती है, उसकी परवाह सबसे कम की जाती है। जब बच्चे सबके समझे जायेंगे तो उनका लालन-पालन वैसे प्रेम, ममता और सावधानी से नहीं हो सकता, जैसा वर्तमान परिवार व्यवस्था में होता है। प्लेटो इस व्यवस्था द्वारा सब बच्चों का पालन अनाथों की तरह कराना चाहता है। (4) बच्चों के माता-पिता का नाम गुप्त रखने का कितना ही प्रयत्न किया जाए, सन्तान की आकृति का माता-पिता के साथ इतना सादृश्य होता है कि वह पहिचान ली जाएगी और प्लेटो इनके नाम गुप्त रखकर शासकों को जिस ममता और मोह से मुक्त रखना चाहता है, वह अवश्य उत्पन्न हो जाएगा। (5) निकट एवं सपिण्ड व्यक्तियों में हानिकर विवाहों (Incestuous marriages) की दूषित प्रथा प्रचलित हो जाएगी। (6) पशु-जगत् के उदाहरणों को मानव-समाज पर लागू करना ठीक नहीं है। (7) राज्य द्वारा श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों के समागम की योजना सर्वथा अव्यावहारिक है। (8) प्लेटो परिवार को केवल स्वार्थपरता और कलहों का मूल समझता है, किन्तु इससे समाज को होने वाले अमित लाभों को विस्मृत कर देता है।[2] परिवार व्यक्तियों

---

1. अरस्तू की राजनीति—भोलानाथ शर्मा कृत अनुवाद, पृ० 141.
2. हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० 14.

को सेवा, सहयोग, प्रेम, स्वार्थत्याग, संयम, सदाचार और परोपकार का पाठ पढ़ाता है। (9) प्लेटो शासकों को पारिवारिक जीवन से प्राप्त होने वाले आनन्द और लाभ से वंचित कर देता है। वह यौन-जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा करता है, उसकी पुरुषों को सांड बनाने तथा स्त्रियों को बच्चा पैदा करने की मशीन मात्र बनाने की योजना सर्वथा अक्रियात्मक और असम्भव तथा मानव स्वभाव की मौलिक प्रवृतियों के प्रतिकूल है। यद्यपि उसकी यह योजना समाज के अल्प वर्ग के लिए ही है, किन्तु इसमें भी यह कभी क्रियान्वित नहीं हो सकती है।

आदर्श राज्य (Ideal State) के मौलिक सिद्धान्त

उपर्युक्त विवरण से प्लेटो के आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते हैं। ये निम्नलिखित हैं: (क) **न्याय** (Justice)—यह उसके राज्य का संचालन करने वाला प्राण है। इसका अर्थ केवल इतना है कि इसके सब अंग अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें। (ख) **राज्य**—यह व्यक्ति का वृहत् रूप है, व्यक्ति की सब विशेषताएँ राज्य में पाई जाती हैं, (ग) **विशेष कार्य का सिद्धान्त** (Theory of specific function)—अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए यह आवश्यक है कि समाज में श्रम-विभाजन (Division of labour) हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष कार्य को अधिक दक्षता और योग्यता से करे। (घ) **शिक्षा का सिद्धान्त** (Theory of education)—विभिन्न व्यक्तियों को अपने कार्यों का ज्ञान देने के लिए उसने विशेष शिक्षा-पद्धति की व्यवस्था की है। (ङ) **नागरिकों के तीन वर्ग**—आत्मा के तीन तत्त्वों—काम या क्षुधा (Appetite), उत्साह (Spirit), विवेक (Reason) के आधार पर उसने नागरिकों को उत्पादक वर्ग, सैनिक अथवा सहायक संरक्षक वर्ग तथा संरक्षक (Guardians) नामक तीन वर्गों में बाँटा है। (च) **दार्शनिक राजाओं का शासन**—उसका यह विश्वास है कि शासक जब तक दार्शनिक नहीं होंगे, तब तक राज्यों में शान्ति और सुशासन स्थापित नहीं हो सकता। (छ) **साम्यवाद**—दार्शनिकों को सुशासक बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वे वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार न रखें, कामिनी, काँचन के मोह से मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य पालन करें। (ज) **नर-नारियों का समानाधिकार**—अपने राज्य में वह नारियों को घर की चहारदीवारी के बाहर निकालकर शिक्षा, शासन आदि सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करता है। (झ) प्लेटो का राज्य विशुद्ध, आध्यात्मिक और नैतिक लक्ष्य वाला है, वह दृश्यमान जगत् को अवास्तविक और इसके विचारों (Ideas) को वास्तविक मानता है, इसका अन्तिम रूप 'सत् का विचार' है, राज्य उत्तम जीवन बिताने के लिए है। (ञ) राज्य का हित सर्वोपरि तथा प्रधान है, व्यक्ति राज्य का अंग मात्र है। प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना का आशय यह है कि राज्य इस प्रकार का होना चाहिए, उसने सब देशों और कालों के लिए अपनी **रिपब्लिक** में आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं है कि ऐसा राज्य वास्तव में कहीं है या नहीं, वर्तमान राज्य उसके आदर्शों के अनुरूप है या नहीं, उसकी योजनाएँ क्रियात्मक हैं या नहीं। उसका प्रयोजन तो केवल आदर्श राज्य की योजना प्रस्तुत करना है।

प्लेटो के आदर्श राज्य की योजना उसके शिष्य अरस्तू के समय से कई दोषों के कारण तीव्र आलोचना का शिकार बनती रही है। **पहला** दोष यह है कि उसने राज्य और व्यक्ति की समानता को अत्यधिक अनुचित महत्त्व दिया है, मानवीय आत्मा के तीन तत्त्वों के आधार पर राज्य के नागरिकों को केवल तीन वर्गों में बाँटना वस्तु-स्थिति से बहुत भिन्न है। व्यक्ति और राज्य में अभेद करके उसने उसे नैतिकता और राजनीति का विचित्र सम्मिश्रण कर दिया है। **दूसरा** दोष यह है कि प्लेटो के समष्टिवाद (Collectivism) तथा राज्य को दी गई अनुचित महत्ता ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों को बिल्कुल कुचल दिया है। उसने व्यक्ति को राज्यरूपी महान् यन्त्र का तुच्छ पुर्जा मात्र बना दिया है। हेगेल (Hegel) के शब्दों में प्लेटो के राज्य में व्यक्ति की स्वाधीनता का कोई स्थान नहीं है। **तीसरा** दोष राज्य के बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग की शोचनीय उपेक्षा है, वह अन्य दोनों वर्गों के समान इनके लिए विशेष शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करता है। **चौथा** दोष प्लेटो का तत्कालीन समाज के एक बड़े दोष दास-प्रथा के सम्बन्ध में मौन रहना है। **पाँचवाँ** दोष दार्शनिकों को निरंकुश राजसत्ता सौंपना है। इन व्यक्तियों को शिक्षा द्वारा भले ही कितना निस्पृह और वीतराग बना दिया जाए, किन्तु शक्ति पाने पर मानवीय प्रकृति के अनुसार इनमें विकृति आना स्वाभाविक है। **छठा** दोष यह है कि प्लेटो ने अपने राज्य में शासन के लिए आवश्यक अनेक तत्त्वों की घोर उपेक्षा की है। आजकल कानूनों के बिना किसी भी राज्य का शासन चलना असम्भव है, किन्तु प्लेटो इन्हें सर्वथा अनावश्यक मानता है, उसने सरकारी पदाधिकारियों की नियुक्ति, न्यायालयों की स्थापना, अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था का कोई वर्णन नहीं किया। **सातवाँ** दोष प्लेटो के आदर्श राज्य की अनेक अव्यावहारिक व्यवस्थाएँ हैं। वह अपने राज्य में कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं मानता, किन्तु वस्तुतः इनके बिना किसी भी राज्य का संचालन असम्भव है। उसकी अन्य अक्रियात्मक व्यवस्थाएँ दार्शनिक राजाओं का शासन, साम्यवाद अथवा शासकों के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार से वंचित होना है।

क्या प्लेटो का राज्य काल्पनिक है?—उपर्युक्त अव्यावहारिक योजनाओं के आधार पर प्रायः यह कहा जाता है कि प्लेटो स्वप्नदृष्टा था, उसकी **रिपब्लिक** में वर्णित राज्य सर्वथा काल्पनिक है, इस पृथ्वी पर उसकी कहीं सत्ता न होने से वह यूटोपिया (Utopia)[1] या गन्धर्वनगर मात्र है। 'वह बादलों में बना शहर है। मनःप्रसूत सृष्टि मात्र है।' किन्तु प्लेटो पर ऐसा आरोप यथार्थ नहीं है। बार्कर के शब्दों में रिपब्लिक का राज्य ऐसा नहीं है जो कहीं न हो।[2] यह वास्तविक परिस्थितियों पर

1. यूटोपिया ग्रीक के नहीं वाचक Ou तथा स्थान वाची Topos शब्द से मिलकर बना है, इसका शब्दार्थ है जो किसी स्थान पर न हो। सर थामस मोर ने इस शब्द को गढ़ा और इस नाम से 1516 ई० में एक पुस्तक लिखी, जिसमें एक ऐसे काल्पनिक द्वीप का वर्णन था, जहाँ की राजनीतिक और सामाजिक पद्धति आदर्श थी। उस समय से इस शब्द का प्रयोग काल्पनिक और आदर्श योजनाओं के लिए होने लगा है। संस्कृत में आकाश में अथवा मृग-मरीचिका आदि के कारण कल्पना से दिखाई देने वाले अवास्तविक नगर के लिए गन्धर्वनगर शब्द का प्रयोग होता है—देखिए महाभारत 1/126/35 गन्धर्वनगराकारं तथैवान्तर्हितं पुरः।

2. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी पृ० 239.

आधारित है और इसका अभिप्राय वास्तविक जीवन को (नये) साँचे में ढालना और प्रभावित करना है। प्लेटो के कोरा कल्पनावादी न होने का तथ्य अनेक प्रमाणों से पुष्ट होता है।

पहला प्रमाण यह है कि रिपब्लिक वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है। इसकी आठवीं तथा नवीं पुस्तकों में यूनान की तत्कालीन शासन-प्रणालियों—स्पार्टा के अल्पतन्त्र (Oligarchy) और कीर्तितन्त्र (Timocracy), एथेन्स के लोकतन्त्र तथा सिराक्यूज़ के निरंकुशतन्त्र (Tyranny)—का उल्लेख है। प्लेटो की दृष्टि में ये रुग्ण (Diseased) शासन-प्रणालियाँ हैं। इन सब में ज्ञान की उपेक्षा और अज्ञान की प्रधानता है। इनमें विवेक (Reason) के अतिरिक्त, अन्य दो तत्त्वों क्षुधा या कामभाव (Appetite) का तथा उत्साह एवं शौर्य के तत्त्वों का बोलबाला है, इसी कारण इनमें झगड़ों, दलबन्दियों और स्वार्थपरता का साम्राज्य है। प्लेटो इस तरह वर्तमान राज्यों के रोग का निदान और कारण ढूँढ़ने के पश्चात् इसकी चिकित्सा भी बताता है। उसकी सम्मति में राज्यों के रोग की शान्ति विवेक (Reason) या बुद्धि को सर्वोच्च स्थान देने, एक नई शिक्षा-पद्धति स्थापित करने तथा साम्यवाद की प्रणाली द्वारा क्षुधा (Appetite) और उत्साह (Spirit) की भावना को विवेक द्वारा नियन्त्रण में रखने से हो सकती है। रोगों के निदान की भाँति इसका इलाज भी उसने वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर तय किया है। सातवीं पुस्तक में बतायी गई विभिन्न विषयों की शिक्षा उसकी अकादमी में वस्तुतः दी जाती थी। उसके साम्यवाद (Communism) की प्रणाली यद्यपि इतने विस्तृत और व्यापकरूप में प्रचलित नहीं थी, फिर भी वह अनेक अंशों में स्पार्टा में तथा अन्य राज्यों में पायी जाती थी। अतः बार्कर के मतानुसार रिपब्लिक में राज्यों के रोग का निदान और इलाज दोनों ही केवल किन्हीं पहले से माने हुए दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित नहीं किए गए, अपितु यूनानी जीवन के तथ्यों के आधार पर निर्धारित किए गए हैं।[1] (The Republic is not only a deduction from first principles, it is also an induction from the facts of Greek life.)

प्लेटो के कोरी कल्पना के आधार पर उड़ान न लेने का **दूसरा प्रमाण** यह है कि उसके रिपब्लिक, लाज़ तथा **पत्रों** (Epistles) के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वह तत्कालीन राजनीति में क्रियात्मक सुधार करने की तीव्र इच्छा रखता था। यदि वह राजनीतिक आदर्शवादी (Political idealist) था तो इसके साथ ही वह वास्तविक राजनीतिज्ञ (Actual politician) भी था।[2] सिराक्यूज की यात्रा उसने वहाँ

---

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 239.

2. बर्ट्रेण्ड रसेल ने हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलासफी (पृ० 139-40) में लिखा है कि प्लेटो की रिपब्लिक वर्तमान गन्धर्वनगरों (Utopias) की भाँति काल्पनिक नहीं थी, उसका उद्देश्य इसे वास्तव में स्थापित करना था। यह उस समय इतना ऊटपटांग और असम्भव नहीं था, जितना हमें आज प्रतीत होता है। दार्शनिकों का शासन पिथागोरस ने स्थापित करने का प्रयत्न किया था, प्लेटो जब सिसली और दक्षिणी इटली गया तो तारस (Taras वर्तमान टारण्टो) में पिथागोरस सम्प्रदाय के दार्शनिक आर्खिटस (Archytas) का शासन था। उन दिनों नवीन नगर प्रायः दार्शनिक विद्वानों को अपने नगर के कानून निर्माण का कार्य सौंपते थे। सोलन ने एथेन्स के लिए तथा प्रोतेगोरस

की दशा सुधारने और वहाँ के शासक को दार्शनिक राजा बनाने की दृष्टि से की थी। वह कोरा आदर्शवादी नहीं था, उसने रिपब्लिक में जिन सुधारों का समर्थन किया है, वह उन्हें जल्दी-से-जल्दी क्रियात्मक रूप देना चाहता था। उसकी व्यावहारिकता इसी से स्पष्ट है कि उसने साम्यवाद की व्यवस्था सारे राज्यवासियों पर लागू न करके, केवल शासक तथा सैनिक वर्ग तक ही सीमित रखी है ताकि यह शीघ्र ही क्रियारूप में परिणत हो सके। वह रिपब्लिक में जिस नगरराज्य की स्थापना कर रहा है, वह काल्पनिक नहीं, किन्तु एक वास्तविक यूनानी राज्य है। उसका कहना था कि इसकी स्थापना "असम्भव नहीं, किन्तु कठिन अवश्य है।"[1] "राज्य और इसकी सरकार के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह केवल दिवास्वप्न मात्र नहीं है; यद्यपि यह कठिन है, किन्तु सम्भव है। यह केवल तभी सम्भव हो सकता है, जब दार्शनिक राजा बनें या राजा दार्शनिक बनें।"[2] वह यह मानता था कि दार्शनिक राजाओं के मिलने पर अपनी शिक्षण-पद्धति से वह इस आदर्श को क्रियान्वित कर सकता है, इसीलिए उसने 'दस वर्ष से ऊपर के सभी नागरिकों को' शहर से दूर देहात में भेजने तथा इन बच्चों का जीवन आदर्श न्याय-पद्धति के अनुरूप ढालने पर बल दिया है।

तीसरा प्रमाण यह है कि प्लेटो भले ही आदर्शवादी हो, किन्तु वह आदर्श को व्यवहार के पथ-प्रदर्शन के लिए आवश्यक मानता था और उसके आदर्शों का पश्चिम के राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। प्लेटो ने आदर्श नगर के सम्बन्ध में नवीं पुस्तक के अन्त में लिखा है—"मेरे विचार में पृथ्वी पर तो ऐसा नगर कहीं भी नहीं है।...इसका नमूना स्वर्गलोक में स्थित है।...इस समय इसकी सत्ता है या नहीं, इन बातों से इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता" (रिपब्लिक, पृ० 312-13)। क्योंकि यह नगर आदर्श विचारों से बना होने से सदैव अमर है और लोगों को सदैव ऐसे नमूने का नगर निर्माण करने की प्रबल प्रेरणा देता रहेगा। आदर्श सदैव ध्रुव तारे की भाँति ऊँचा और हमारा मार्ग-प्रदर्शक रहना चाहिए। यदि आदर्श व्यवहार में आ गया तो वह आदर्श नहीं रहेगा। हमारा व्यवहार सदैव आदर्श से बहुत पीछे रहता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम आदर्श को छोड़ दें। सत्य बोलना आदर्श है, दुनिया में झूठ बोला जाता है, किन्तु फिर भी हम 'सत्यमेव जयते नानृतम्' को अपना आदर्श बनाते हैं। प्लेटो का राज्य भले ही आदर्श कल्पना, दिवास्वप्न या हवाई महल हो, किन्तु इससे उसकी महत्ता कम नहीं होती। महल पहले हवा में या कल्पना में ही बनाए जाते हैं, बाद में स्थूल सामग्री से उनका निर्माण होता है। सपने और आदर्श न हों तो मनुष्य

(Protagoras) ने थुरी (Thuri) के लिए यह कार्य किया था। उन दिनों उपनिवेश इन्हें स्थापित करने वाले नगरों के नियन्त्रण से मुक्त होते थे, अतः प्लेटो के अनुयायियों के लिए यह सर्वथा सम्भव था कि वे स्पेन या गाल (फ्रांस) के समुद्र तट पर एक नये उपनिवेश में अपना आदर्श राज्य बसा लेते। दुर्भाग्यवश जब प्लेटो सिराक्यूज़ गया, यह व्यापारिक नगर उन दिनों कार्थेज के भीषण युद्धों में लगा हुआ था। इस अवस्था में कोई भी दार्शनिक अधिक कार्य नहीं कर सकता था। अगली पीढ़ी में मैसीडोनिया के उत्थान ने लघु राज्यों को पुरातन इतिहास की वस्तु बना दिया और लघु राज्यों के सम्बन्ध में राजनीतिक परीक्षण करना निरर्थक कार्य हो गया।

1. रिपब्लिक (कार्नफोर्ड), पृ० 203.
2. वही, पृ० 256.

घोर स्वार्थ और पशुता के पंक में डूबा रहे, ये उससे ऊँचा उठने तथा अपनी ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। मनुष्य विचारशील प्राणी है, आदर्श उस पर वास्तविक घटनाओं जैसा गहरा प्रभाव डालते हैं।

प्लेटो की रिपब्लिक भले ही काल्पनिक राज्य और गन्धर्वनगर हो, किन्तु "इतिहास पर उसका उतना ही गम्भीर प्रभाव पड़ा है, जितना स्पार्टा के वास्तविक राज्य का।" मध्ययुग में यूरोप में पादरी (Clergy) वर्ग प्लेटो के संरक्षकों के समान कामिनी-कांचन के मोह से मुक्त था, अपनी योग्यता, सरलता, उच्च जीवन के कारण समाज में ऊँची स्थिति रखता था; और रोमन कैथोलिक धर्म के स्वर्ग-नरक के विचारों पर रिपब्लिक की अन्तिम पुस्तक की, सृष्टि-विज्ञान पर Timoeus की, वास्तविकता (Realism) के सिद्धान्त पर विचारों के सिद्धान्त (Theory of ideas) की और चतुःशास्त्रीय (Quadrivium) शिक्षा अर्थात् चार विषयों—अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिष और संगीत के अध्ययन पर प्लेटो की शिक्षा-पद्धति की गहरी छाप है। दक्षिण अमरीका के पैरागुए राज्य में जेसुइट पादरियों ने कुछ समय तक प्लेटो के संरक्षकों की भाँति अपने ज्ञान और योग्यता के आधार पर बर्बर जनता का शासन किया। नवम्बर, 1917 में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति करने वाली कम्यूनिस्ट पार्टी भी आरम्भ में प्लेटो के संरक्षकों की भाँति थी। प्लेटो के आदर्श राज्य स्थापित करने के कुछ साधन भले ही असम्भव एवं मानवीय प्रकृति के प्रतिकूल समझे जाएँ, किन्तु उसके इस सिद्धान्त में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि शासन योग्य एवं बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए, राजनीतिज्ञों का प्रशिक्षण उसी प्रकार से होना चाहिए, जैसा डाक्टरों और इंजीनियरों का होता है। ऐसा राजनीतिक प्रशिक्षण पाने वाले और शासन कला में निष्णात व्यक्तियों को राजकीय पद दिए जाने चाहिएँ। प्लेटो का इससे बड़ा प्रभाव और क्या हो सकता है कि आजकल यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका है कि शासकीय सेवाओं के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। लोकतन्त्र की व्यवस्था में यद्यपि अभी तक मन्त्रियों और विधानसभाओं के सदस्यों के लिए ऐसा कोई प्रशिक्षण नहीं है, किन्तु उसकी आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। प्लेटो ने रिपब्लिक में शासन के कुछ शाश्वत आदर्श बताए हैं, वे पिछले 2200 वर्षों से राजनीतिक नेताओं का पथप्रदर्शन करते रहे हैं और भविष्य में भी उनका आलोक-स्तम्भ बने रहेंगे।

शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण और परिवर्तन चक्र—प्लेटो का दार्शनिकों द्वारा शासित आदर्श राज्य यदि इस भूतल पर स्थापित हो जाए तो जगत् के परिवर्तनशील होने के कारण वह स्थायी नहीं होगा और उसमें अधःपतन आने से विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का उत्थान तथा पतन होगा। प्लेटो इनमें एक निश्चित प्रकार का क्रम मानता है और उसने रिपब्लिक की आठवीं और नवीं पुस्तकों में इनका विस्तार से वर्णन किया है। उसने इन्हें पाँच वर्गों में बाँटा है—राजतन्त्र (Monarchy), कीर्तितन्त्र (Timocracy), अल्पतन्त्र (Oligarchy), लोकतन्त्र (Democracy) तथा निरंकुशतन्त्र (Tyranny)।

पहली प्रणाली में जनता को सबसे अधिक सुख मिलता है और इसके बाद इसकी मात्रा घटती जाती है, अन्तिम निरंकुशतन्त्र में इसकी मात्रा सबसे कम हो जाती

है। पहली और पाँचवीं प्रणाली में एक व्यक्ति का शासन होता है, दूसरी और तीसरी में कुछ व्यक्तियों का तथा चौथी में अधिकांश जनता शासक होती है। न्याय के परिपालन की दृष्टि से दार्शनिक राजा द्वारा शासित पहली प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु साम्यवाद के परित्याग और वैयक्तिक सम्पत्ति के अभ्युदय से इसका पतन होने लगता है, संरक्षक लोभवृत्ति से समूची भूमि को हथियाकर आपस में बाँट लेते हैं, स्वतन्त्र कृषकों को दास बना लेते हैं, संरक्षकों का ध्येय युद्ध करना तथा अपना गौरव बढ़ाने के लिए राज्य-विस्तार करना हो जाता है। इसमें सारी राजशक्ति ज़मींदार योद्धाओं के हाथ में आ जाती है, इसे कीर्तितन्त्र (Timocracy) कहा जाता है, क्योंकि इसमें न्याय की भावना से नहीं, किन्तु योद्धा अपनी कीर्ति (Time) और सम्मान, महत्त्वाकांक्षा और गौरव बढ़ाने की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। यह राजतन्त्र से उत्पन्न होने वाला पहला विकार है। कीर्तितन्त्र शनैः-शनैः अल्पतन्त्र (Oligarchy) में परिणत होता है। इसमें सारी सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों और कुलों के हाथ में आ जाती है, इसके आधार पर वे शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेते हैं और वैयक्तिक लाभ तथा स्वार्थ की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। इस अवस्था से साधारण दरिद्र जनता में तीव्र असन्तोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। इसके परिणामस्वरूप लोकतन्त्र स्थापित होता है। किन्तु लोकतन्त्र में जनता स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर देती है। इसका अन्त करने के लिए जनता में एक नेता उठ खड़ा होता है, यह जनता को बड़ा मोहक आश्वासन देता है, वह उनके ऋण माफ करा देगा, ज़मींदारियों का उन्मूलन करेगा, उसके सब कष्टों का अन्त कर राम-राज्य स्थापित करेगा। जनता उसके भुलावे में आकर उस पर विश्वास करती हुई उसे राजसत्ता तथा सैनिक-शक्ति प्रदान करती है और वह जनता के आश्वासनों की पूर्ति करने के स्थान पर वैयक्तिक स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपना स्वेच्छाचारी शासन स्थापित कर लेता है, यही निरंकुशतन्त्र (Tyranny) या तानाशाही की सबसे निकृष्ट शासन-प्रणाली है।

लोकतन्त्र की आलोचना—प्लेटो ने यद्यपि निरंकुशतन्त्र को सबसे खराब शासन माना है, किन्तु रिपब्लिक में लोकतन्त्र की भी उसने कम तीव्र आलोचना नहीं की। उसे अपने गुरु को विषपान कराने वाले एथेन्स के लोकतन्त्र का बड़ा प्रत्यक्ष और कटु अनुभव था। अतः इसकी निन्दा का गीत गाने में उसने कोई कसर बाकी नहीं रखी। उसके मतानुसार इसमें निम्नलिखित बड़े दोष हैं—(1) लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्त स्वतन्त्रता (Liberty) और समानता हैं। प्लेटो यह समझता है कि ये दोनों सिद्धान्त समाज में उच्छृंखलता और अव्यवस्था लाने वाले तथा अनुशासन का लोप करने वाले हैं। 'पुत्र पिता के तुल्य बन जाता है और अपने माता-पिता के प्रति आदर और भय की भावना नहीं रखता, जिससे वह स्वतन्त्र व्यक्ति बन सके।···ऐसी परिस्थिति में अध्यापक अपने शिष्यों से डरता और उनकी चापलूसी करता है और विद्यार्थी अपने उपाध्यायों का तिरस्कार करते हैं।···ऐसे राष्ट्र में सार्वजनिक स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा तो तब होती है, जबकि क्रीतदास और दासियाँ भी उनको मूल्य देकर मोल लेने वाले स्वामियों के बराबर स्वतन्त्र हो जाती हैं।" लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता और समानता की भावना इस हास्यास्पद सीमा तक पहुँचती है कि पशु भी इसका दावा

करने लगते हैं। इस विषय में वह अयस्खिलस (Aeschylus) की उक्ति उद्धृत करते हुए कहता है—"इस प्रकार के राष्ट्र में रहने वाले पशु किसी अन्य राष्ट्र के पशुओं की अपेक्षा कितने अधिक स्वतन्त्र होंगे इसका विश्वास बिना प्रत्यक्ष अनुभव के किसी को नहीं हो सकता। कुतिएँ तक लोकोक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए अपनी स्वामिनी के समान हो जाती हैं और इसी प्रकार घोड़े और गधे भी मार्ग में अत्यधिक स्वतन्त्रता और गौरव के साथ चलने के अभ्यासी हो जाते हैं तथा जो भी उनके सामने आकर उनके लिए रास्ता नहीं छोड़ता, वे उसी पर झपट पड़ते हैं और इसी प्रकार सब चीजें सर्वत्र समानता की भावना से फट पड़ने को तैयार हो जाती हैं (रिपब्लिक, कार्नफोर्ड, पृ० 282-83)। लोकतन्त्र का बड़ा दोष यह है कि यह सबको, योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियों को समानाधिकार प्रदान करता है। सच्ची समानता सबको एक जैसे अधिकार नहीं, किन्तु समान योग्यता होने पर समान अधिकार देना है। (2) लोकतन्त्र अराजकता (Anarchy) है, क्योंकि इसमें किसी एक व्यक्ति की या आत्मा के तीन तत्त्वों में से किसी एक की प्रधानता नहीं होती, किन्तु बहुतन्त्र (Polyarchy) होने के कारण अनेक तत्त्वों और व्यक्तियों का शासन होता है। इसमें एक संविधान नहीं, किन्तु 'संविधानों का बाज़ार' (Bazaar of constitutions) होता है। यह रंग-बिरंगे फूलों से कढ़ी हुई अनेक रंगों वाली पोशाक के समान है और जिस प्रकार "लड़के और स्त्रियाँ चटकीले रंगों की वस्तुओं को देखकर सुन्दरतम बताते हैं, इसी प्रकार बहुत से व्यक्ति इसे सुन्दर समझते हैं।" किन्तु यह सबको अबाध स्वच्छन्दता देने के कारण बहुत दोषपूर्ण है, इसमें कोई नियम या अनुशासन नहीं चलता। एकता और व्यवस्था नहीं होती, सब लोग अपनी-अपनी डफली लेकर अपना राग अलापते हैं। लोकतन्त्र के समर्थक इसका एक सबसे बड़ा गुण यह बताते हैं कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी मौलिक विशेषताओं से राज्य को समृद्ध बनाता है। पेरिक्लीज़ से जॉन स्टुअर्ट मिल तक सभी विचारक लोकतन्त्र में वैविध्य को महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं, किन्तु प्लेटो एकत्ववादी है, वह दृश्य जगत् के पीछे एक सामान्य विचार की सत्ता मानता है, अद्वैतवादी होने से उसे नानात्व की प्रवृत्ति असह्य है। अतः वह लोकतन्त्र के नानात्व को अराजकता, गड़बड़ी और अव्यवस्था का प्रतीक मानता है। (3) लोकतन्त्र प्लेटो की न्याय-व्यवस्था का विरोधी है। वह इसे राज्य में सर्वोच्च स्थान देता है, न्याय-व्यवस्था **श्रम-विभाजन** (Division of labour) पर तथा **विशेष कार्य के सिद्धान्त** (Theory of specific function) पर आश्रित है। इसका अर्थ है कि विशेष कार्य के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति होने चाहिएँ। किन्तु एथेन्स के लोकतन्त्र में कोई भी व्यक्ति न्यायाधीश, सेनापति या शासक के पद पर चुना जा सकता था। प्लेटो प्रत्येक व्यक्ति को उसकी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार कार्य देना चाहता है, किन्तु लोकतन्त्र में एक ही व्यक्ति कोई भी कार्य कर सकता है। वह "पहलवान, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और सैनिक" बन सकता है, दूसरे शब्दों में वह गिरगिट के समान रंग बदलने वाला होता है। प्लेटो को लोकतन्त्र न्याय के विचार से प्रतिकूल होने से मान्य नहीं है। (4) उसके मतानुसार शासन प्रशिक्षित ज्ञानी दार्शनिकों द्वारा किया जाना चाहिए, किन्तु लोकतन्त्र में यह वोट बटोर सकने वाले, स्वार्थी और अज्ञानी शासकों के हाथ में चला जाता है और वे अपने पद पर बने रहने के लिए जनता की खुशामद करते

रहते हैं, उनको खुश करने के लिए विविध व्यवस्थाएँ करते हैं। लोकतन्त्र वास्तव में भीड़तन्त्र (Mobocracy) है; भीड़ जैसा चाहती है, अपने शासकों से वैसा कानून बनवा लेती है। प्रत्येक व्यक्ति शासक बनकर मनमाना कार्य करना चाहता है। प्लेटो ने इसे 'जहाज के कप्तान' के एक रूपक द्वारा समझाया है। "कल्पना करो कि एक नाव में एक कप्तान या पोतनायक अन्य नाविकों से ऊँचाई और बल में अधिक है; पर थोड़ा बहरा है, दृष्टिदोष से युक्त है, उसका नौ-चालन कला का ज्ञान भी उसकी श्रवण-शक्ति और दृष्टि-शक्ति के समान है। नाविक कप्तान बनने के लिए झगड़ रहे हैं, उनमें से प्रत्येक का दावा है कि नाव संचालन की कला पर उसका अधिकार है, यद्यपि उसने नौ-चालन कला नहीं सीखी।...इससे भी बढ़कर बात यह है कि वे यह प्रतिपादित करते हैं कि यह कला सिखाई बिल्कुल नहीं जा सकती और जो कोई यह कहे कि यह सिखाई जा सकती है वे उसे काटकर खण्ड-खण्ड करने को तैयार हैं। इसी बीच में वे लगातार नौकाध्यक्ष के चारों ओर झुण्ड-के-झुण्ड बनाकर उससे अनुनय विनय करते हैं कि वह संचालनाधिकार उनको सौंप दे और जब कभी वे असफल हो जाते हैं, और अन्य लोग अधिक सफलता प्राप्त करते हैं तो वे उन दूसरों को मार डालते हैं या नौका से समुद्र में फेंककर निर्वासित कर देते हैं और तत्पश्चात् अभिजात नौकाध्यक्ष को भांग-धतूरे अथवा किसी मादक द्रव्य से या अन्य प्रकार से मूर्छित करके वे नौका की अध्यक्षता प्राप्त कर लेते हैं, नौका के भण्डार को मनमाना उड़ाने लगते हैं" (रिपब्लिक—कार्नफोर्ड, पृ० 191)। लोकतन्त्र का इससे अधिक व्यंग्यपूर्ण चित्र क्या हो सकता है।

रिपब्लिक में प्लेटो लोकतन्त्र का उग्र विरोधी है। किन्तु बाद में अवस्था और अनुभव की परिपक्वता के कारण तथा सुकरात के विषपान की स्मृति क्षीण होने पर वह जनतन्त्र का इतना कटु आलोचक नहीं रहा। **पोलिटिकस** (Politicus) में उसने विभिन्न शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण करते हुए लोकतन्त्र को अल्पतन्त्र से अधिक उत्कृष्ट माना है, जबकि रिपब्लिक में उसने इसे अल्पतन्त्र से निकृष्ट माना था। बार्कर के शब्दों में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। "अब भी उन दिनों की स्मृति बची हुई है, जबकि लोकतन्त्रात्मक राज्य ने ज्ञानी दार्शनिक को मारा था, किन्तु अब यह स्मृति उतनी तीखी नहीं रही, जितनी **'गोर्जियास'** (Gorgias) तथा **रिपब्लिक** लिखते समय थी।"[1] पहले उसने **विशेष कार्य के सिद्धान्त** का पालन करने के कारण लोकतन्त्र को अन्यायपूर्ण ठहराया था। किन्तु अनुभव बढ़ने पर उसने कानून को अनुभव और बुद्धिमत्ता का परिणाम समझा तथा कानून के शासन पर स्थापित लोकतन्त्र को उच्च स्थिति प्रदान की। उसकी अन्तिम रचना **'लाज'** (Laws) में लोकतन्त्र को **पोलिटिकस** से भी ऊँची स्थिति दी गई है और कानून पर आधारित राजतन्त्र और लोकतन्त्र के समन्वय को आदर्श राज्य के बाद दूसरा स्थान दिया गया है।

पोलिटिकस (Politicus)—प्लेटो की यह रचना सम्भवतः 367-361 ई० पू० के बीच में या इसके बाद उस काल में लिखी गई, जब वह सिराक्यूज में

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 291.

दियोनिसियस द्वितीय के सुधार में लगा हुआ था।[2] उसे सिराक्यूज़ के राजतन्त्र से बहुत आशाएँ थीं और वह कानून की सत्ता को महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक मानने लगा था। यह रिपब्लिक के प्रकाशित होने के काफी समय बाद लिखी गई है, इसमें लोकतन्त्र का विरोध पहले जैसा उग्र नहीं है, कानूनों को बिल्कुल अनावश्यक और निरर्थक नहीं माना गया, किन्तु कुछ योग्य दार्शनिक व्यक्तियों के परम-शक्तिवाद (Absolutism) में उसकी आस्था पहले की तरह बनी हुई है। वह आदर्श राज्य का पक्षपाती होते हुए भी अब व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) बन गया है। इसमें उसके विचार रिपब्लिक की अपेक्षा अधिक तर्कपूर्ण और सुनिश्चित हैं। सिराक्यूज़ के परीक्षण की विफलता से उत्पन्न निराशा तथा एथेन्स में लोकतन्त्र के पतन ने एवं आयु बढ़ने के साथ बुद्धि और विचारों की परिपक्वता ने आदर्श राज्य के प्रति उसके प्रबल उत्साह को शिथिल कर दिया है, किन्तु अभी तक दार्शनिक राजाओं के शासन में उसकी आस्था अक्षुण्ण बनी हुई है।

शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण—कानून को शासन का आधार-स्तम्भ बताते हुए प्लेटो ने शासन-प्रणालियों के दो वर्गों में छः भेद किए हैं: (क) **कानून द्वारा संचालित** (1)—एक व्यक्ति का शासन—राजतन्त्र, (2) कुछ व्यक्तियों का शासन—कुलीनतन्त्र (Aristocracy), (3) अनेक व्यक्तियों का शासन—लोकतन्त्र (Democracy)। (ख) दूसरा वर्ग **कानून द्वारा संचालित न होने वाले** शासनों का है। ये भी तीन हैं—(1) एक व्यक्ति का शासन—निरंकुशतन्त्र (Tyranny), (2) कुछ का शासन—अल्प-तन्त्र (Oligarchy), (3) बहुत व्यक्तियों का शासन—अतिवादी लोकतन्त्र (Extreme Democracy)। इस वर्गीकरण में प्लेटो के मतानुसार राजतन्त्र इस दृष्टि से श्रेष्ठ है कि कानून द्वारा शासित राज्य की इस व्यवस्था में प्रजा का अधिकतम कल्याण होता है। किन्तु एक व्यक्ति का शासन जहाँ नियमबद्ध होने पर प्रजा का महान् कल्याण कर सकता है, वहाँ अनियन्त्रित होने पर महान अपकार भी कर सकता है। अतः वह राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ, निरंकुशतन्त्र को निकृष्टतम मानता है। बहुतों का शासन—प्रजातन्त्र न तो जनता का अधिक उपकार कर सकता है, और न अपकार कर सकता है, क्योंकि इसमें शक्ति बहुत अधिक व्यक्तियों में बँटी हुई होती है। अतः प्रजातन्त्र कानून पर आधारित शासनों में सबसे बुरा और कानूनरहित शासनों में सबसे अच्छा शासन (Worst of all lawful governments and best of all lawless ones) है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रजातन्त्र में जहाँ कानून द्वारा शासन होता है, वहाँ शासन करने वाले अज्ञानी और शासन कला में उतने सुशिक्षित एवं दक्ष नहीं होते, जितने राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में होते हैं, अतः यह इन दोनों शासनों से निकृष्ट है। किन्तु जिन राज्यों में कानून द्वारा शासन नहीं होता, उनमें से प्रजातन्त्र में ही प्रजा का सबसे कम अहित होता है, क्योंकि यहाँ अहित पहुँचाने वाले शासक को जनता समाप्त कर देती है। किन्तु राजतन्त्र और अल्पतन्त्र में शासक अपनी सत्ता का दुरुपयोग करके जनता पर भीषण अत्याचार करते हैं। अतः ऐसी अवस्था में प्रजातन्त्र इन दोनों से श्रेष्ठ है।"

---

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 271.

लाज़ (Laws) **तथा उप-आदर्श राज्य** (Sub-Ideal State)—यह प्लेटो का अन्तिम ग्रन्थ है जो उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद 347 ई० पू० में प्रकाशित हुआ। यह उसकी अन्तिम रचना है और इसमें यथार्थवाद (Realism) की मात्रा **पोलिटिकस** से भी अधिक है। यद्यपि **रिपब्लिक** अपने विचारों की उड़ान, विषयों के वैविध्य, शैली की सरलता और प्रवाह तथा प्रभाव की दृष्टि से लाज़ की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से लाज़ रिपब्लिक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्लेटो सिराक्यूज़ में अपने अनुभव से यह जान चुका था कि दार्शनिक राजा का प्रशिक्षण कितना कठिन है। इस विफलता से वह निराश नहीं हुआ। उसने यह सोचा कि यदि दार्शनिक राजा का प्रशिक्षण सम्भव नहीं है, तो वह सब राज्यों के लिए ऐसी दार्शनिक विधिसंहिता (Code) का निर्माण क्यों न करे, जिसके अनुसार राज्यों का आदर्श शासन हो सके। प्लेटो ने यद्यपि रिपब्लिक के दार्शनिकों द्वारा आदर्श राज्य के शासन के विचार को कभी नहीं छोड़ा, किन्तु इसके सम्भव न होने पर **दूसरे सर्वोत्तम** (Second best) विकल्प के रूप में उसने दार्शनिक नियमों की संहिता द्वारा शासन का प्रयत्न किया। यद्यपि यह उसका आदर्श राज्य (Ideal State) तो नहीं था, तथापि उससे कुछ घटिया दर्जे का **उप-आदर्श राज्य** (Sub-Ideal State) था। यह वस्तुतः आदर्श एवं व्यवहार का मध्यबिन्दु था; यह आदर्श तो नहीं था, पर आदर्श के निकट था। लाज़ में प्लेटो ने ऐसे ही कानूनों का संग्रह तैयार किया है। इसकी योजना उसने 361 ई० पू० में बनाई थी और सिराक्यूज़ की घटनाओं ने इन नियमों के निर्माण की आवश्यकता उसे तीव्रतापूर्वक अनुभव कराई। पहले यह बताया जा चुका है कि दियोनिसियस द्वारा दियोन के निर्वासित किए जाने पर अनेक झगड़े उठ खड़े हुए थे। दियोनिसियस को आदर्श शासक बनाने में उसे विफलता मिलने के साथ इन झगड़ों के कारण उसे यह भी अनुभव हुआ कि आदर्श शासक की नहीं तो आदर्श कानून की प्रभुता अवश्य स्थापित की जानी चाहिए। इन दिनों उसकी अकादमी में भी कानूनों का चिन्तन और अध्ययन हो रहा था। इसके परिणामस्वरूप उसने कानूनों का या विधियों (Laws) का निर्माण किया।

लाज़ (Laws) **की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—**

(1) **व्यावहारिकता**—रिपब्लिक की अपेक्षा इसमें व्यावहारिकता और यथार्थवाद की मात्रा स्वाभाविक रूप से अधिक थी। यह इससे स्पष्ट है कि इसमें प्लेटो की रिपब्लिक की अनेक अव्यावहारिक योजनाओं के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन करके इन्हें क्रियात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया है। रिपब्लिक में उसने शासकों को कांचन और कामिनी की दुश्चिन्ताओं से मुक्त करने के लिए साम्यवाद की व्यवस्था की थी। इसके अनुसार शासक न तो वैयक्तिक सम्पत्ति रख सकते थे और न विवाह करके परिवार रख सकते थे। किन्तु **लाज़** में इन्हें राज्य के निरीक्षण में वैयक्तिक सम्पत्ति रखने तथा विवाह करने की अनुमति दी गई है। विवाह पर केवल इस दृष्टि से प्रतिबन्ध लगाए गए हैं कि राज्य को उत्तम सन्तान प्राप्त हो सके। शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण की व्यवस्था को रिपब्लिक की अपेक्षा अधिक उदार बनाया गया है। स्त्रियों को सब क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार तो दिए गए हैं, किन्तु उन्हें रिपब्लिक की भाँति गृहकार्यों से मुक्ति नहीं दी गई। **लोकतन्त्र के सम्बन्ध में इसका** रिपब्लिक

वाला उग्र विरोध कम हो गया है। उसने शासन में दार्शनिकों के स्थान में जनता को महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए हैं।

(2) धार्मिकता—रिपब्लिक में धर्म-निरपेक्ष किन्तु नैतिक राज्य का स्वर्ग में चित्रण किया गया है, लाज़ में धर्म पर आधारित राज्य का चित्रण इस भूतल पर किया गया है। अपने जीवन के संध्याकाल में प्लेटो ईश्वर में अधिक विश्वास रखने वाला आस्तिक हो गया था। उसने यह अनुभव किया था कि भगवान् ही सब कुछ है, मनुष्य कुछ नहीं है। वह गीता के 'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया' (गीता 18/61) की भाँति यह मानता था कि मनुष्य ईश्वर के हाथ की कठपुतली मात्र है।[1] अतः लाज़ का ग्रन्थ धार्मिकता की भावना से ओतप्रोत है। इसमें धार्मिक अविश्वासों तथा नास्तिकता को दण्डनीय अपराध बताया है।

(3) एथेन्स के प्रभाव की प्रधानता—रिपब्लिक में प्लेटो पर स्पार्टा का प्रभाव अधिक था। लाज़ के लिखे जाने से पूर्व ही 371 ई० पू० में स्पार्टा की सैनिक शक्ति का पूर्ण पराभव हो चुका था, उसके दोष और दुर्बलताएँ स्पष्ट हो चुकी थीं। एथेन्स पुनः उत्कर्ष पर था। अतः लाज़ की शासन-व्यवस्था में प्लेटो ने सोलन के नियमों तथा एथेन्स की शासन-प्रणाली का अधिक अनुसरण किया हैं।

रिपब्लिक और लाज़ की तुलना से यह स्पष्ट है कि पहले में जवानी का जोश है; दूसरे में वृद्धावस्था की गम्भीरता और परिपक्वता है। पहला ग्रन्थ यदि बौद्धिक काव्य है, तो दूसरा धार्मिक प्रवचन, पहले में यदि दार्शनिक राजा के निरंकुश शासन और साम्यवाद पर बल है तो दूसरे में कानूनों के आधार पर जनतन्त्र और कुलीनतन्त्रों के मिश्रित संविधान द्वारा प्रशासन पर बल है। पहला आदर्श राज्य में कानून की उपेक्षा करता है, दूसरा उसी को शासन का आधार-स्तम्भ बनाता है।

लाज़ का प्रतिपाद्य विषय—प्लेटो के अन्य ग्रन्थों के समान यह भी संवादशैली में लिखा गया है। इसमें वार्तालाप करने वाले तीन व्यक्ति हैं—क्रीटवासी क्लीनियास (Cleinias), स्पार्टावासी मेगिल्लस (Megillus) तथा एथेन्सवासी विदेशी। वार्तालाप का स्थल क्रीट का टापू है। क्रीट के निवासियों ने एक पुराने परित्यक्त नगर को बसाना है, इस काम के लिए नियत किए गए दस कमिश्नरों में एक क्लीनियास भी है। क्रीटवासी ज़ूस (Zeus) देवता को अपना मनु या आरम्भ में नियमों का निर्माण करने वाला मानते हैं। क्लीनियास नये नगर के नियमों के निर्माण से पूर्व ज़ूस के प्रसिद्ध मन्दिर की यात्रा करते हुए मार्ग में दो साथियों से मिलता है। इन तीनों में नियमों के सम्बन्ध में विचार आरम्भ हो जाता है। संविधान और नियमों का विशेषज्ञ एथेन्सवासी क्रीटवालों के नये नगर राज्य के लिए आवश्यक नियमों का विस्तार से प्रतिपादन करता है। इसके मुँह से प्लेटो ने अपने ही विचार कहलवाए हैं। ये विचार और व्यवस्थाएँ न केवल क्रीटवालों के नये नगर के लिए, किन्तु सभी नगरों के लिए आदर्श का काम देने वाली हैं। उन दिनों यूनानी प्रायः अपनी नई बस्तियों के नियमों का निर्माण विशेषज्ञों द्वारा कराया करते थे। यद्यपि रिपब्लिक में भी ऐसी आदर्श व्यवस्था है, किन्तु वह पहले से विद्यमान राज्यों के दोष दूर करने के लिए है और

---

1. डायलाग्स ऑफ प्लेटो (रैण्डम हाउस, सं०), पृ० 558.

इन्हें वह दार्शनिक शासकों के तथा साम्यवादी व्यवस्था के माध्यम से दूर करना चाहता है। यह कार्य अधिक कठिन है। पुराने शासकों को तथा समाज की परम्परागत व्यवस्था को एकदम बदलना असम्भव है। लाज़ में नये नगर के आदर्श नियमों का वर्णन है। इसमें प्लेटो **अपना कार्य कोरी स्लेट से आरम्भ करता है,** अतः इसमें सफलता की सम्भावना अधिक है।

लाज़ बारह भागों में विभक्त है। पहले दो भागों में संगीत तथा नृत्य का शिक्षा-पद्धति में महत्त्व बताया गया है, तीसरे में राज्य के ऐतिहासिक विकास का विवरण है और चौथे में राजनीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का। पाँच से आठ तक के भागों में राज्य के कानूनों, शासन-विधान, पदाधिकारियों, राज्य की जनसंख्या, शिक्षा-पद्धति आदि का वर्णन है। नवें से ग्यारहवें भाग तक फौजदारी और दीवानी नियमसंहिताओं (Codes) का वर्णन है। ये भाग लाज़ का सर्वोत्तम अंश है, इनमें वह कवि और दार्शनिक ही नहीं, किन्तु उत्तम कानून-निर्माता तथा राजनीतिज्ञ भी है। बारहवें भाग में कर्त्तव्यच्युत होने वाले सरकारी अधिकारियों के लिए दण्ड की व्यवस्था है और उस नैश परिषद् (Nocturnal Council) का वर्णन है, जिसकी सभाएँ सदैव रात के समय होती हैं और जो लोगों के नैतिक जीवन का निरीक्षण और नियन्त्रण करती हैं।

मिश्रित संविधान
(Mixed Constitution)

शासन-पद्धति—लाज़ की शासन-प्रणाली रिपब्लिक से बहुत भिन्न है, उसमें दार्शनिक राजा के विचार का परित्याग करते हुए राजतन्त्र और लोकतन्त्र के गुणों का समन्वय करते हुए ऐसी व्यवस्था की गई है कि दोनों के दोष उत्पन्न न हों। इसमें राज्य के 5040 सदस्य एथेन्स की भाँति सामान्य सभा (General Assembly) के सदस्य समझे जाते हैं। राज्य की सर्वोच्च सत्ता पचास से सत्तर वर्ष की आयु के 37 सदस्यों के बोर्ड में रखी गई है। यह इस सिद्धान्त के अनुसार है कि वृद्धावस्था में विचारों की परिपक्वता तथा अनुभव की सुस्थिरता होती है। तिहरे चुनाव द्वारा निर्वाचित ये व्यक्ति कानून के संरक्षक हैं। पहले निर्वाचन में समस्त नागरिकों में से 300 उम्मीदवार चुने जाते थे, दूसरे निर्वाचन में 100 तथा तीसरे में इन 100 में से 37। इनका काम निरीक्षणात्मक था। इस बोर्ड के आदेशों को क्रियात्मक रूप देने वाली तथा शासन करने वाली संस्था 360 सदस्यों की प्रशासन परिषद् (Administrative Council) थी। इसमें सम्पत्ति के आधार पर चार, तीन, दो या एक भूखण्ड रखने वाले निश्चित चार वर्गों में से प्रत्येक वर्ग से प्रति वर्ष 90 सदस्य चुने जाते थे। विभिन्न वर्गों के सदस्य चुने जाने की प्रक्रिया में अन्तर था। पहले और दूसरे अर्थात् चार तथा तीन भूखण्ड रखने वाले वर्गों के सदस्यों के चुनाव में चारों वर्गों के व्यक्तियों को आवश्यक रूप से वोट देना पड़ता था, वोट न देने पर जुर्माने का दण्ड दिया जाता था। दो भूखण्ड रखने वाले तीसरे वर्ग के सदस्यों के चुनाव में पहले तीन वर्गों को आवश्यक वोट देना होता था, न देने पर अर्थदण्ड होता था। एक भूखण्ड रखने वाले चौथे वर्ग के व्यक्तियों को वोट देने या न देने की

स्वतन्त्रता थी। चौथे वर्ग के उम्मीदवारों के चयन में पहले दो वर्गों के व्यक्तियों को वोट देना होगा, अन्यथा उन्हें जुर्माना किया जाएगा। यह जुर्माना दूसरे वर्ग के लिए पहले जुर्माने की अपेक्षा तिगुना तथा पहले वर्ग के लिए चौगुना है। तीसरे-चौथे वर्ग को मत देने या न देने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इस प्रकार उम्मींदवारों के चयन या चुनाव का पहला दौर समाप्त होने पर चुने गए उम्मीदवारों में से दूसरा चुनाव किया जाएगा, चुनाव में भाग न लेने पर सामान्य जुर्माने से दुगना अर्थदण्ड दिया जाएगा। इस द्वितीय चुनाव द्वारा चारों वर्गों में से प्रत्येक के 180 उम्मीदवार चुने जाएँगे। इसके बाद तीसरी अवस्था में, प्रत्येक वर्ग के लिए इन 180 में से लाटरी द्वारा 90 चुने लिए जाएँगे। चुनाव निर्वाचन और लाटरी की मिली-जुली पद्धति से होता था।

360 सदस्यों की प्रशासन परिषद् की इस तिहरी जटिल निर्वाचन पद्धति का मुख्य प्रभाव यह है कि पहले दो वर्गों को उम्मीदवारों के चयन में अधिक महत्त्व मिल जाता है। इसके साथ उम्मीदवारों के आरम्भिक चुनाव में सब वर्ग सम्मिलित हो सकते हैं, और इनके छाँटने की प्रक्रिया में सबको सम्मिलित होना पड़ता है तथा अन्तिम अवस्था में लाटरी का उपयोग सबको समानाधिकार देने वाला है। इसमें सार्वभौम मताधिकार (Universal sufferage) तथा वर्ग मताधिकार (Class sufferage) का समन्वय है तथा यूनानियों के निर्वाचन की कुलीनतन्त्रीय मतदान प्रणाली का और लाटरी की लोकतन्त्रीय प्रणाली का सामंजस्य किया गया है। प्लेटो के मतानुसार यह बुद्धिमत्ता के मुख्य तत्त्व वाली राजतन्त्रीय प्रणाली तथा स्वतन्त्रता के प्रधान तत्त्व वाली लोकतन्त्रीय प्रणाली का मध्यम मार्ग है। इसमें बुद्धिमान समझे जाने वाले उपरले दोनों वर्गों को उम्मीदवारों के चुनाव में अधिक अधिकार देतें हुए, सबको चुनाव का अधिकार दिया गया है और लाटरी की व्यवस्था की गई है। उसके मतानुसार सच्ची समानता सबको एक-जैसा अधिकार देना नहीं, किन्तु उनको उनकी योग्यता और गुणों के अनुपात से तुल्य अधिकार देना है। अधिक योग्यता वालों को अधिक अधिकार देना ही उनके साथ न्याय करना है। इसी से राज्य में सन्तोष और एकता बनी रह सकती है। यदि उच्च वर्ग वालों को उनकी योग्यता के अनुसार अधिक अधिकार न दिया गया तो वे असन्तुष्ट रहेंगे, यदि सामान्य जनता को लाटरी द्वारा तुल्य अधिकार न मिला तो वे रुष्ट रहेंगे। अतः उसने उपर्युक्त चुनाव-पद्धति द्वारा राजतन्त्र और लोकतन्त्र का मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) बनाया है; किन्तु इसका एक बड़ा दोष यह है कि इसमें धन और योग्यता को समानार्थक मान लिया है।

प्रशासन परिषद् के, बोर्ड का चुनाव करने के, अतिरिक्त निम्नलिखित कार्य थे—(1) पहले दो वर्गों में से स्थानीय एवं बाजार की देखभाल करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति। (2) सैनिक-अवस्था वाले सब नागरिकों द्वारा सेनापतियों का चुनाव। (3) राज्य को हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों के मुकदमे सुनना। (4) यदि कोई कानून बदलने की आवश्यकता प्रतीत हो तो इसकी सहमति देना। (5) यह विदेशियों को अपने राज्य में 20 वर्ष की निश्चित अवधि से अधिक रहने की अनुमति दे सकती है। बार्कर के मतानुसार प्लेटो की जनरल असेम्बली का स्वरूप एवं अधिकार

एथेन्स के लिए सोलन द्वारा बनाई गई असेम्बली के समान है।[1]

शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रशासन परिषद् 12 भागों में विभक्त हो जाती है और प्रत्येक भाग एथेन्स की असेम्बली की भाँति एक मास के लिए शासन करता है। यह शासन-कार्य पहले बताए हुए 37 सदस्यों के बोर्ड के सहयोग से किया जाता है। इसका कोई भी सदस्य 50 वर्ष से कम अथवा 70 वर्ष से अधिक आयु का नहीं हो सकता। इनके कार्यकाल की अवधि 20 वर्ष होती थी। आयु की यह व्यवस्था स्पार्टा के अनुसार है, जहाँ कोई व्यक्ति 60 वर्ष की आयु से पहले सीनेट (Gerusia) का सदस्य नहीं हो सकता था। लाज की न्याय-व्यवस्था में एथेन्स की भाँति सब नागरिक भाग ले सकते थे।

प्लेटो की उपर्युक्त शासन-पद्धति में विभिन्न शासन-प्रणालियों के तत्त्वों का ऐसा सम्मिश्रण किया गया है कि इसे न तो कुलीनतन्त्र (Aristocracy) कहा जा सकता है, न लोकतन्त्र और न अल्पतन्त्र। प्लेटो मिश्रित संविधान की व्यवस्था का पहला प्रतिपादक था, उसके बाद अरस्तू, पोलिबियस और मांतेस्क्यू ने इसका समर्थन किया। अरस्तू यद्यपि स्वयमेव मिश्रित संविधान का पक्षपाती है, किन्तु उसने प्लेटो के मिश्रित संविधान पर निम्न आपत्तियाँ की हैं—(1) प्लेटो का संविधान लोकतन्त्र और निरंकुशतन्त्र (Tyranny) का सम्मिश्रण है। वस्तुतः इन दोनों में कोई संविधान ही नहीं होता, अथवा ये सबसे रद्दी संविधान हैं। यदि अच्छा मिश्रित संविधान बनाना हो तो उत्तम शासन-प्रणालियों का समन्वय होना चाहिए, न कि निकृष्ट शासन-प्रणालियों का। (2) प्लेटो का संविधान केवल दो शासन-प्रणालियों का सम्मिश्रण है। उत्तम संविधान में अनेक शासन-प्रणालियों के उदात्त तत्त्वों का समन्वय होना चाहिए। (3) प्लेटो के राज्य में राजतन्त्र के कोई तत्त्व नहीं हैं, यह अल्पतन्त्र और लोकतन्त्र का सम्मिश्रण है, इसमें धन को प्रधानता दी गई है।

अरस्तू की ये आपत्तियाँ सर्वांश में सत्य नहीं हैं। प्लेटो स्वयमेव यह कहता है कि वह इसमें राजतन्त्र के उत्कृष्ट अंश का लोकतन्त्र के श्रेष्ठ तत्त्व के साथ समन्वय कर रहा है। उसके मत में राजतन्त्र का उत्कृष्ट तत्त्व बुद्धि का शासन और लोकतन्त्र का उत्कृष्ट अंश जनता का नियन्त्रण (Popular control) है। उसने राजतन्त्र का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में किया है कि इसमें एक व्यक्ति का तथा अनेक व्यक्तियों का शासन सम्मिलित है। इन्हें लोकतन्त्र के साथ मिलाते हुए उसने अरस्तू द्वारा उत्तम ठहराई जाने वाली, अनेक संविधानों के मिश्रण की प्रणाली का अनुसरण किया है। वस्तुतः उसने **बुद्धिमत्तापूर्ण शासन और जनता के नियन्त्रण के दो सिद्धान्तों का सम्मिश्रण किया है** और शासन में सम्मिश्रण के लिए आदर्श सिद्धान्त यही हो सकते हैं। किन्तु अरस्तू की अन्तिम आपत्ति में सत्य का बहुत बड़ा अंश है। प्लेटो ने बुद्धि के शासन की व्यवस्था के स्थान पर वस्तुतः धनिकों के शासन की व्यवस्था की है, यही अल्पतन्त्र (Oligarchy) का मौलिक तत्त्व है। उसके पहले दूसरे वर्गों के नागरिक क्रमशः 4 और 3 भूखण्ड रखने वाले इने-गिने धनी-मानी व्यक्ति हैं। नगर तथा बाज़ार व्यवस्था के अधिकारी भी उसने पहले दो वर्गों के व्यक्ति बनाए हैं, तीसरे चौथे वर्ग

---

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकस थिओरी, पृ० 336.

वाली बहुसंख्या को इससे वंचित रखा है। सम्पत्तिशाली अल्पतन्त्रों में प्रायः ऐसी व्यवस्था होती है। प्लेटो के शासन में वास्तविक शक्ति दो उच्च वर्गों में निहित है, इन पर जनता का कोई नियन्त्रण नहीं है, जिसे स्थापित करना वह अपना आदर्श मानता है। इसमें जनता का वह असन्तोष बना रहता है, जिसे दूर करना राज्य की स्थिरता की दृष्टि से वह आवश्यक समझता है। प्लेटो के मिश्रित संविधान का सबसे बड़ा मौलिक दोष यह है कि इसमें विभिन्न तत्त्वों का ऐसा सम्मिश्रण नहीं हुआ कि वे मिलकर मानव-शरीर में पाई जाने वाली सच्ची एकता (Organic unity) का निर्माण करें, इसमें सब तत्त्व समान रूप से क्रियाशील होते हैं; किन्तु प्लेटो के राज्य में सक्रिय तत्त्व केवल उपरले वर्ग हैं, साधारण जनता शासन में कोई बड़ा क्रियात्मक भाग नहीं लेती।

किन्तु प्लेटो को बुद्धिमान् दार्शनिकों के शासन का सिद्धान्त इतना अधिक प्रिय था कि उपर्युक्त व्यवस्थाएँ करने के बाद लाज़ की बारहवीं तथा अन्तिम पुस्तक में उसने पुनः इसका समर्थन करते हुए शासन के सब कार्यों पर देख-रेख और नियन्त्रण रखने वाली तथा रात्रि में अपनी बैठकें करने वाली एक नैश परिषद् (Nocturnal Conncil) की स्थापना का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

लाज़ का प्रभाव—आजकल प्लेटो की रिपब्लिक को अधिक लोकप्रियता प्राप्त है, किन्तु प्राचीन काल में इसकी अपेक्षा लाज़ का तत्कालीन विचारकों पर अधिक प्रभाव पड़ा। उसका शिष्य अरस्तू 'लाज़' से अत्यधिक प्रभावित है। उसकी पालिटिक्स तथा लाज़ में कई गहरे सादृश्य हैं, वह कानून की सर्वोच्च प्रभुसत्ता, मिश्रित संविधान, राज्य के विकास, कृषि व्यापार आदि की व्यवस्थाओं और शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में 'लाज़' की व्यवस्थाओं का अनुसरण करता है या इनसे प्रेरणा ग्रहण करता है। बार्कर के मतानुसार वह पालिटिकस के सामान्य सिद्धान्तों के और आदर्श राज्य के वर्णन के लिए लाज़ का ऋणी है। आजकल पश्चिम में कानून का मूल स्रोत रोम माना जाता है। किन्तु बार्कर का यह मत है कि रोमन कला और साहित्य की भाँति रोमन कानून भी यूनानियों की देन है। प्लेटो के लाज़ ने तथा कानून का अध्ययन करने वाली तथा अनेक विधिशास्त्रियों को जन्म देने वाली उसकी अकादमी ने रोमन कानून के विकास पर गहरा प्रभाव डाला था। लाज़ के ईश्वरवादी आस्तिक विचारों का ईसाइयत के आरम्भिक प्रवर्त्तकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। एक बार लाज़ में प्रतिपादित संविधान को मूर्त्तरूप देने का भी प्रयत्न किया गया। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लोटिनस (जन्मकाल 205 ई०) ने रोमन सम्राट् गैलिनस (शासनकाल 260-68 ई०) से एक विध्वस्त नगर को प्लेटो-नगर (Platopolis) के नाम से बसाने तथा उसे लाज़ के आधार पर शासित करने का विफल प्रयत्न किया। मध्यकाल में मोर (More) की 'यूटोपिया' पर तथा रूसो की रचनाओं पर लाज़ का प्रभाव पड़ा।

प्लेटो ने वर्तमान काल की अनेक प्रमुख विचारधाराओं पर प्रभाव डाला है। इनमें साम्यवाद (Communism), आदर्शवाद (Idealism) तथा फासिज़्म विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये सब विचारधाराएँ प्लेटो की विचारधारा से बहुत भिन्न हैं, किन्तु इनको प्लेटो से प्रबल प्रेरणा मिली है। पहले प्लेटो के साम्यवाद की

वर्तमान साम्यवाद से तुलना की जा चुकी है (पृ० 114-15)। यहाँ केवल फासिज़्म की विचारधारा के साथ प्लेटोवाद के सादृश्य का उल्लेख किया जाएगा।

प्लेटोवाद तथा फासिज़्म : (क) समानताएँ—प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों के बीच में फासिज़्म की विचारधारा बहुत प्रबल थी। इसका प्लेटोवाद के साथ गहरा सादृश्य है और इसने प्लेटो की रचनाओं से अनेक तत्त्व ग्रहण किए हैं। कई विद्वान् प्लेटो को राजनीतिक दर्शन में **पहला फासिस्ट और सर्वाधिकारवादी** (Totalitarian) मानते हैं। दोनों में निम्नलिखित सादृश्य हैं – (1) दोनों लोकतन्त्र के विरोधी हैं। फासिस्ट 19वीं शताब्दी के उदारवादी लोकतन्त्र के उग्र आलोचक हैं, प्लेटो ने एथेन्स के लोकतन्त्र की कटु आलोचना की थी। (2) प्लेटो दार्शनिक राजा के शासन पर विश्वास रखता है, फासिज़्म फासिस्ट पार्टी के नेता की अधिनायकता (Dictatorship) स्थापित करना चाहता है। (3) प्लेटो बुद्धि का शासन (Rule of Intellect) स्थापित करने के लिए थोड़े से संरक्षकों को समूचा शासन सौंपना चाहता है, फासिज़्म फासिस्ट पार्टी को शासक बनाने का इच्छुक है। (4) दोनों राज्यों के हित को सर्वोपरि मानते हैं, व्यक्ति का राज्य की तुलना में कोई पृथक् अधिकार या स्वत्व नहीं है। व्यक्ति समष्टि में निहित है। व्यक्ति को राज्य का परम भक्त होना चाहिए और उसके कार्यों में पूरा भाग लेना चाहिए। (5) दोनों मानवीय समानता (Human equality) की भावना के बड़े विरोधी हैं। प्लेटो नागरिकों के सिवाय विदेशियों और दासों को शासन में कोई अधिकार नहीं देता है। फासिज़्म भी सब मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त का घोर विरोधी है। (6) दोनों राज्य के नियन्त्रण में ही समूचे सामूहिक जीवन को व्यवस्थित करने का समर्थन करते हैं। जिस प्रकार प्लेटो नगरराज्य को सर्वोच्च आदर्श मानता है, इसी तरह फासिज़्म राष्ट्रीय राज्य की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करता है। प्लेटो नगरराज्य के दासों तथा विदेशियों को राज्य में कोई दर्जा नहीं देता। फासिस्ट राज्य में गैर-फासिस्ट संस्थाओं को कोई महत्त्व या स्थान प्राप्त नहीं है।

(ख) भेद—किन्तु इन समानताओं के साथ दोनों में कुछ महत्त्वपूर्ण भेद भी हैं। **पहला** भेद साम्राज्यवाद का है। प्लेटो नगरराज्य का समर्थक होते हुए साम्राज्यवाद का व अपने राज्य को विस्तृत करने का घोर विरोधी था, फासिज़्म इसका कट्टर समर्थक है। **दूसरा** भेद आदर्शवाद का है। प्लेटो राजनीतिक आदर्शवाद में गहरा विश्वास रखता था। फासिज़्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं, वह राजनीतिक यथार्थवाद (Realism) का अनुयायी है। **तीसरा** भेद यह है कि प्लेटो का राज्य उसके दर्शन पर आधारित है और फासिस्ट दर्शन फासिस्ट राज्य पर आधारित है। **चौथा** भेद यह है कि प्लेटो ने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का वशवर्त्ती अंग माना है, किन्तु फासिस्ट नीतिशास्त्र को राजनीतिशास्त्र की चेरी बनाना चाहते हैं। **पाँचवाँ** भेद कम्यूनिज़्म के विषय में है। प्लेटो के आदर्श राज्य में संरक्षकों के लिए सम्पत्ति और स्त्रियों के सम्बन्ध में साम्यवाद का विधान है। फासिज़्म साम्यवाद का कट्टर विरोधी है।[1] **छठा** भेद यह है कि प्लेटो के मतानुसार न्याय शक्तिशाली का हित या

1. भंडारी तथा सेठी—प्लेटो एण्ड आरिस्टाटल, पृ० 126-27।

स्वार्थ नहीं है किन्तु फासिज़्म शक्ति का उपासक है, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त को ही न्याय मानता है। **सातवाँ** भेद प्लेटो द्वारा राज्य में सामंजस्य (Harmony) के तत्त्व को अधिक महत्त्व देना है, फासिज़्म संघर्ष और शक्ति को महत्त्वपूर्ण मानता है। **आठवाँ** भेद **बुद्धिवाद** (Rationalism) विषयक है। प्लेटो बुद्धि एवं विवेक को बहुत ऊँचा स्थान देता है, फासिस्ट बुद्धिवाद के उग्र विरोधी हैं। **नवाँ** भेद यह है कि प्लेटो के राज्य की समूची रचना का आधार उसके दार्शनिक विचार हैं, फासिस्ट इससे सर्वथा विपरीत राज्य को अधिक महत्त्व देते हैं और उसके आधार पर अपने दर्शन का निर्माण करते हैं।

प्लेटोवाद तथा फासिज़्म की उपर्युक्त तुलना से, दोनों की समानताओं और भेदों के विवरण से यह स्पष्ट है कि दोनों के भेद इनकी समानताओं की अपेक्षा अधिक मौलिक और गम्भीर हैं।

प्लेटो का मूल्यांकन और प्रभाव—पश्चिम में प्लेटो सुव्यवस्थित राजनीतिक चिन्तन करने वाला पहला विचारक था और 2400 वर्ष बीत जाने के बाद आज भी उसका प्रभाव अक्षुण्ण है। वह राज्य-विषयक दर्शन, सुधार और चिन्तन की सभी क्रांतिकारी योजनाओं का प्रेरणादायक, वर्तमान साम्यवाद, फासिज़्म और आदर्शवाद को प्रभावित करने वाला है। उसकी रिपब्लिक के नमूने पर आदर्श राज्य स्थापित करने की अनेक योजनाएँ बनी हैं। शिक्षा और सुप्रजननशास्त्र के कार्यक्रमों द्वारा समाज को उन्नत करने की सभी योजनाओं का आदिस्रोत वही है। मध्ययुग में उससे प्रेरणा पाकर सर थामस मोर ने अपना यूटोपिया लिखा, रूसो के समय 18वीं शताब्दी से प्लेटो का राजनीतिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ने लगा। 19वीं शती के मध्य में आगस्त कोम्त (Auguste Comte) ने प्लेटो की तरह इस बात पर बल दिया कि समाज का शासन वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा होना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन के आदर्शवादी (Idealist) विचारक ग्रीन (Green) तथा बोसांके (Bosanquet) प्लेटो से प्रभावित हैं। साम्यवाद, फासिज़्म आदि की विचारधाराओं पर प्लेटो के विचारों की गहरी छाप है। प्लेटो राजनीतिक चिन्तन के कुछ शाश्वत प्रश्नों की सुन्दर मीमांसा करने के कारण अब तक अजर अमर बना हुआ है और जब तक मानव-समाज में राज्य की सत्ता रहेगी, उसका यही स्थान बना रहेगा। पिछले 2400 वर्षों के इतिहास में विशाल राज्यों को बनाने वाले प्रतापी राजाओं, शक्तिशाली सम्राटों, कुशल राजनीतिज्ञों की कमी नहीं रही, किन्तु इनमें से किसी का भी राजनीतिक विचारों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना प्लेटो का पड़ा है। उसकी रचनाएँ चौबीस शताब्दियाँ बीत जाने के बाद भी आदर के साथ पढ़ी जाती हैं, इनसे प्रेरणा ग्रहण की जाती है और इनके आधार पर अपने मतों की पुष्टि की जाती है। किसी विचारक की अमरता और महत्त्व का इससे अधिक प्रबल कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता है।[1]

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 54-55.

दूसरा अध्याय

अरस्तू (384 ई० पू० से 322 ई० पू०)

जीवन-चरित्र—पश्चिमी जगत् में प्लेटो द्वारा प्रवर्त्तित राजनीतिक तत्त्व-चिन्तन को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय उसके प्रधान शिष्य अरस्तू को है। अरस्तू का जन्म एथेन्स के उत्तर में 200 मी० दूर स्तागिरा (Stagira) के लघु नगर में हुआ था। उसका पिता निकोमाखस मैसीडोन के राजा एवं सिकन्दर के दादा के दरबार में राजवैद्य था। बचपन में अरस्तू को सम्भवतः अपने पिता से रोगों के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर रोगियों की चिकित्सा करने की वैज्ञानिक पद्धति का तथा जीवशास्त्रीय विषयों का आरम्भिक परिचय मिला। उसने पालिटिक्स की चौथी, पाँचवीं तथा छठी पुस्तकों में एक जीवशास्त्रवेत्ता की भाँति विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का वर्णन किया है और डाक्टर की भाँति विभिन्न शासनों में उत्पन्न होने वाले रोगों की चिकित्सा के उपाय लिखे हैं। अपनी आयु के 17वें वर्ष में वह प्लेटो की कीर्ति से आकृष्ट होकर ज्ञानार्जन के लिए एथेन्स आया तथा उसकी अकादमी में सम्मिलित हुआ। उसने जीवन के अगले बीस वर्ष (367-347 ई० पू०) अपने गुरु के चरणों में बैठकर विद्याभ्यास में बिताए। प्लेटो अपने शिष्य की प्रतिभा से इतना प्रसन्न था कि वह उसे अकादमी की शरीरधारिणी बुद्धिमत्ता (Nous) कहा करता था। उसके मतानुसार अकादमी के दो भाग थे: उसका धड़ विद्यार्थी थे और दिमाग अरस्तू। अरस्तू को ग्रन्थ संग्रह करने का बड़ा शौक था, अतः प्लेटो उसके घर को 'पाठक का घर' कहता था।

किन्तु गुरु शिष्य में कई मौलिक भेद थे : गुरु दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन में और शिष्य वैज्ञानिक विषयों में अनुराग रखता था। कहा जाता है कि अरस्तू में छैलापन था और वह अपने कपड़ों की ओर उससे कहीं अधिक ध्यान देता था, जितना एक दर्शन का अध्ययन करने वाले को देना चाहिए। प्लेटो ने एक बार अरस्तू के लिए कहा था कि 'वह उस घोड़ी के समान है, जो माँ का दूध पीने पर उसे लतिया देती है।' हमें यह पता नहीं कि ऐसे व्यवहार को उत्पन्न करने वाले कौनसे मतभेद थे, किन्तु यह निश्चित है कि प्लेटो की मृत्यु पर 347 ई० पू० में जब अकादमी में उसका उत्तराधिकारी निश्चित करने का समय आया तो विदेशी होने के कारण उसे यह पद नहीं मिला और प्लेटो का भतीजा स्प्यूसिप्पस इसके लिए चुना गया। अरस्तू का इससे निराश होना स्वाभाविक था। फिर भी उसे यह सन्तोष था कि

उसने अपने गुरु की 60 से 80 वर्ष की परिपक्वावस्था में उससे सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त करते हुए अपनी जवानी के बीस वर्ष व्यतीत किए हैं। अकादमी में उसकी स्थिति पहले अनुसन्धान करने वाले विद्यार्थी के तथा बाद में इसके कार्य में सहायता देने वाले के रूप में रही होगी। उसने प्लेटो को 'लाज़' (Laws) के प्रणयन में बहुत सहयोग दिया होगा। अरस्तू के विचारों पर लाज़ की गहरी छाप है।

342 ई० पू० में उसे सिकन्दर के पिता फिलिप ने अपने पुत्र के प्रशिक्षण के लिए मैसीडोनिया की राजधानी पेल्ला में बुलाया। फिलिप (359-336 ई० पू०) बड़ा महत्त्वाकांक्षी राजा था, 356 ई० पू० में उसने थ्रेस को जीतकर उसकी सोने की खानों द्वारा राज्य के विस्तार के लिए प्रभूत धनराशि प्राप्ति की, उसके कृषक बर्बर होने पर भी बड़े साहसी थे। सिकन्दर को उसने यह शिक्षा दी थी कि वह यूनानियों का नेता (Leader) तथा बर्बर जातियों का स्वामी बने। सिकन्दर को शिक्षा देना शेर के बच्चे को साधना था। मैसीडोनिया के राज-दरबार का वातावरण भी अनुकूल नहीं था। फिर भी सिकन्दर ने उसे 'पिता' समझा और अरस्तू ने उसे होमर के काव्यों का वीर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कहा जाता है कि अरस्तू ने सिकन्दर के लिए **'राजत्व पर'** (On Kingship) और **'उपनिवेशों के सम्बन्ध में'** (Concerning Colonies) नाम के दो ग्रन्थ उसकी प्रेरणा से लिखे थे। सिकन्दर ने भौतिक एवं प्राणिशास्त्रीय विषयों की खोज के लिए उसे 800 टैलेण्ट (40 लाख डालर या चार करोड़ रुपये) दिए थे। प्लिनी के कथनानुसार उसने अपने शिकारियों, बहेलियों, मालियों, मछियारों को यह आदेश दिया था कि यदि उन्हें अपने क्षेत्र में कोई अद्भुत जीव-जन्तु या वस्तु प्राप्त हो तो वे उसकी सूचना अरस्तू को दें, तथा उसकी मनचाही सामग्री प्रस्तुत करें। 335 ई० पू० में सिकन्दर ने राजगद्दी पर बैठते ही अपने गुरु के विध्वस्त नगर स्तागिरा को पुनः बनवा दिया। जब सिकन्दर अरस्तू के मित्र अन्तिपातेर (Antipater) को यूनानी राज्यों की देखभाल का काम सौंपकर विश्व विजय पर निकला तो अरस्तू को मैसीडोनिया में रहना निरर्थक प्रतीत हुआ, एथेन्स ने उसे पुनः अपनी ओर आकृष्ट किया। उसने अपने जीवन के अन्तिम 13 वर्ष (335 से 322 ई० पू०) एथेन्स में ही बिताए।

एथेन्स लौटने पर अरस्तू ने अपने गुरु की अकादमी जैसा एक नया विद्यापीठ स्थापित किया। इसे ल्यूकिओन (Lukeion) या लाइसियम (Lyceum) कहा जाता है, क्योंकि यह भेड़ियों से पशुओं के रक्षक अपोलो लिसियस (Lyceius) नामक देवता के मन्दिर के निकटवर्ती उद्यानकुँज में अवस्थित था। यहाँ अरस्तू अज्ञान के भेड़ियों से संघर्ष करने के लिए अपने विद्यार्थियों को शिक्षित करने लगा। उसकी आदत प्रायः शिष्यों के साथ घूमते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर देने तथा पढ़ाने की थी। अतः इसे **पर्यटक विद्यालय** (Peripatetic School) या **भ्रमणशील दार्शनिक का विद्यालय** भी कहते थे।

अरस्तू का जीवनकाल यूनानी इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसी समय यूनानी नगर-राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता खोई। इन्हें पराधीन बनाने वाला मैसीडोनिया का राजा फिलिप 360 ई० पू० में गद्दी पर बैठा, 22 वर्ष के आक्रमणात्मक संघर्ष के बाद उसने 338 ई० पू० में खेरोनिया के युद्ध में यूनानी

राज्यों को परास्त किया। 336 ई० पू० में उसकी हत्या के बाद सिकन्दर गद्दी पर बैठा और 13 वर्ष की सैनिक विजयों से यूनान से भारत तक के विशाल साम्राज्य की स्थापना द्वारा उसने यूनानी नगरराज्यों को अतीत की वस्तु बना दिया। किन्तु अरस्तू के विचारों पर इस महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। "वह अपने समय के आन्दोलनों से अप्रभावित है, समकालीन घटनाओं से पृथक् है।"[1] उसकी दृष्टि वर्तमान की ओर नहीं, किन्तु अतीत की ओर है। वह नगर-राज्य को ही आदर्श समझता है। प्लेटो से अनेक अंशों में मतभेद रखने पर भी, वह प्राय: उसके सिद्धान्तों और मन्तव्यों से अत्यधिक प्रभावित है और उनका अनुसरण करता है। किन्तु उसकी पद्धति प्लेटो से सर्वथा भिन्न है।

अरस्तू की पद्धति—अपने वैद्यवंश के पारिवारिक वातावरण के कारण अरस्तू बचपन से विशेष घटनाओं और तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य परिणाम निकालने का अभ्यस्त हो गया। सभी विज्ञानों में इस पद्धति का प्रयोग होता है। यह कहा जाता है कि अरस्तू ने एक हजार व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण, अन्वेषण और सामग्री के संकलन के लिए लगाया था। इस सामग्री और निरीक्षण के आधार पर उसने विभिन्न विज्ञानों के बारे में अनेक नियमों की शोध की। विशेष घटनाओं से सामान्य नियम निकालने की (विशेषात् सामान्यस्य अनुमानम्) इस पद्धति को **सामान्यानुमान या उद्गमन** (Induction) की पद्धति कहते हैं। इसके विपरीत पहले कुछ सामान्य नियम निश्चित करके उनके आधार पर विशेष सिद्धान्त बनाने की पद्धति (सामान्याद्विशेषस्यानुमानम्) **विशेषा-नुमान या निगमन** (Deduction) कहलाती है। अरस्तू को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र में उद्गमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। यह कहा जाता है कि उसने तत्कालीन यूनानी जगत् के एथेन्स, स्पार्टा आदि 158 नगर-राज्यों के संविधानों का संकलन कराया, इन संविधानों के सम्यक् निरीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उसने अपना राजनीतिविषयक ग्रन्थ लिखा तथा आदर्श राज्य का स्वरूप प्रस्तुत किया। उससे पहले प्लेटो ने कल्पनाओं के आधार पर आदर्श राज्य का निर्माण किया था, किन्तु अरस्तू ने निरीक्षण और शोध की वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर राजनीतिशास्त्र को वैज्ञानिक अध्ययन का स्वरूप प्रदान किया। अतः उसे पश्चिम में **राजनीतिशास्त्र का प्रथम वैज्ञानिक** (First Political Scientist) कहा जाता है।

अरस्तू की रचनाएँ—अरस्तू सर्वतोमुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था। उसने तर्कशास्त्र, प्राणिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, अध्यात्म-शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भाषणकला, लेखनकला और काव्यकला पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इसके बनाए ग्रन्थों की संख्या 400 के लगभग बताई जाती है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रन्थ संग्रह 3500 पृष्ठों के 12 खण्डों में छपा है। वह अपने समय के ग्रीक ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोष था। अपनी अगाध विद्वत्ता के कारण मध्ययुग में वह सबसे बड़ा 'एकमात्र दार्शनिक' (The Philosopher)

1. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० 121.

तथा इटालियन कवि दांते के शब्दों में वह ज्ञानियों का भी गुरु है। दुर्भाग्यवश उसकी अनेक रचनाएँ लुप्त हो चुकी हैं और उपलब्ध रचनाओं में भी रचना-शैली की वह प्रौढ़ता, प्रांजलता, सुसम्बद्धता, रोचकता तथा प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता, जो प्लेटो की रचनाओं में है। ये ग्रन्थ सम्भवतः अरस्तू द्वारा अथवा उसके शिष्यों द्वारा लिखे गए उसके व्याख्यानों के स्मृतिसूत्र या नोट्स (Lecture Notes) मात्र हैं। इन्हीं को सम्पादकों ने अपनी समझ के अनुसार नाना ग्रन्थों में ग्रथित कर दिया है। अरस्तू ने इनका अन्तिम रूप में सम्पादन या संशोधन नहीं किया, इसीलिए इनमें अनेक असंगतियाँ और विरोध पाए जाते हैं। राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति **पालिटिक्स** में इस प्रकार के अनेक दोष हैं।

अरस्तू पर प्लेटो के लाज़ का प्रभाव—प्लेटो का शिष्य होने से अरस्तू पर गुरु का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उसकी पालिटिक्स पर इसकी स्पष्ट छाप है। जब अरस्तू प्लेटो के पास आया तो उस समय बुढ़ापे में प्लेटो **लाज़** की रचना में लगा हुआ था, अतः अरस्तू पर इसका प्रभाव पड़ा। अरस्तू की पालिटिक्स तथा लाज़ में निम्नलिखित सादृश्य प्लेटो के प्रभाव को सूचित करते हैं[1]—(1) अरस्तू लाज़ की भाँति कानून की सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty of Law) का सिद्धान्त तथा शासकों को कानून का संरक्षक और सेवक मानता है (पालिटिक्स 3/16/4)। (2) अरस्तू राज्यरहित मनुष्य को देवता या पशु मानता है (पालिटिक्स 1/2/14-16)। यह लाज़ के एक सन्दर्भ (डायलाग्स ऑफ प्लेटो, पृ० 618-20) का रूपान्तर है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे लिखते समय उसके सामने लाज़ का उपर्युक्त उद्धरण था। (3) परिवार से राज्य के विकास का वर्णन करते हुए (पालि० 1/3/6-8) अरस्तू ने लाज़ की तीसरी पुस्तक का अनुसरण किया है और होमर के ग्रन्थ से उद्धरण भी वही दिया है, जो प्लेटो ने दिया था। (4) वह प्लेटो की इस युक्ति को दोहराता है कि स्पार्टा की भाँति युद्ध अपने-आपमें लक्ष्य नहीं है, किन्तु इसका प्रयोजन शान्ति की स्थापना होना चाहिए। (5) मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) की कल्पना दोनों ग्रन्थों में समान रूप से पाई जाती है और दोनों स्पार्टा को इसका उदाहरण बताते हैं। (6) अरस्तू ने कृषि की महत्ता, व्यापार और सूदखोरी के बारे में पालिटिक्स की पहली पुस्तक में जो बातें लिखी हैं, वे लाज़ की आठवीं तथा 11वीं पुस्तक की व्यवस्थाओं से मिलती हैं। (7) पालिटिक्स की सातवीं-आठवीं पुस्तक में वर्णित आदर्श राज्य की लाज़ के आदर्श राज्य से गहरी समानता है। इसके कुछ सादृश्य निम्नलिखित हैं—(क) आदर्श राज्य का समुद्र के पास होना। (ख) प्रत्येक नागरिक की भूमि दो खण्डों में विभक्त होनी चाहिए, एक टुकड़ा नगर के निकट तथा दूसरा सीमा के समीप होना चाहिए। (ग) नगरराज्य की इमारतों का वर्णन दोनों में एक जैसा है। (घ) अरस्तू की सातवीं पुस्तक की शिक्षा-योजना लाज़ में प्रतिपादित योजना से मिलती है। (ङ) दोनों निन्दात्मक भाषा (Abusive language) के विरुद्ध कानून बनाने के बाद राज्य में सुखान्त नाटकों (Comedies) को करने का समर्थन करते हैं। इन समानताओं के आधार

1. बार्कर—ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 180-81.

पर बार्कर ने यह परिणाम निकाला है कि यद्यपि अरस्तू ने पॉलिटिक्स के आरम्भ में रिपब्लिक तथा लाज़ के सिद्धान्तों की आलोचना की है, किन्तु वह पालिटिक्स के के सामान्य सिद्धान्तों के लिए लाज़ का ऋणी है और आदर्श राज्य के वर्णन में वह उसका बहुत अधिक अनुसरण करता है। यद्यपि पालिटिक्स उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर लिखी है, किन्तु इसके अधिकांश विचार प्लेटो के हैं। "पॉलिटिक्स में पूर्णरूप से नई बात उतनी ही कम है, जितनी मैग्नाकार्टा में है। इनमें कोई भी नया नहीं है, दोनों का उद्देश्य पूर्ववर्ती विकास को संहिताबद्ध (Codify) करना है।"[1] सरल शब्दों में इसका अर्थ यही है कि पालिटिक्स में मुख्य रूप से लाज़ के विचारों का अनुसरण मात्र है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पालिटिक्स लाज़ की कार्बन कापी है, वस्तुतः दोनों में महत्त्वपूर्ण मौलिक भेद हैं।

अरस्तू तथा प्लेटो की तुलना : मौलिक भेद और सादृश्य -- अरस्तू तथा प्लेटो की पद्धति में विचारों और दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है : (1) प्लेटो कल्पनावादी (Imaginative), हवाई योजनाएँ बनाने वाला (Utopian) और कल्पनागगन में उन्मुक्त उड़ान लेने वाला है। इसके विपरीत अरस्तू यथार्थवादी, क्रियात्मक, व्यावहारिक और भूतल की वास्तविकताओं से बँधा हुआ है। प्लेटो इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले दृश्य जगत् को अवास्तविक तथा इन दृश्य पदार्थों के पीछे विद्यमान इनके विचारों (Ideas) को वास्तविक मानता है। उसकी दृष्टि में स्थूल रूप से दिखाई देने वाला वास्तविक जगत् काल्पनिक है और विचारों (Ideas) का काल्पनिक जगत् वास्तविक है। अरस्तू ने प्लेटो के **'विचारों के सिद्धान्त'** का खण्डन करते हुए कहा है कि विचार (Idea) वास्तविक सत्ता (Reality) नहीं हो सकते, वे किसी वस्तु का कारण नहीं बन सकते और विज्ञान में मौलिक सिद्धान्तों के रूप में स्वीकृत नहीं किए जा सकते। अतः प्लेटो जहाँ कल्पना को वास्तविकता से अधिक महत्त्व देता है, वहाँ अरस्तू काल्पनिक विचारों का खण्डन करते हुए ठोस, प्राकृतिक और वास्तविक तथ्यों के आधार पर अपने राजनीतिशास्त्र का निर्माण करना चाहता है। फ्रैडरिक पोलक के शब्दों में "प्लेटो गुब्बारे में बैठकर नये प्रदेशों में घूमता हुआ कभी-कभी नीहारिका के आवरण को चीरकर किसी दृश्य को अत्यन्त स्पष्टता के साथ देखता है, किन्तु अरस्तू एक श्रमजीवी उपनिवेशवादी की भाँति उस क्षेत्र में जाता है और मार्ग का निर्माण करता है।"

(2) दोनों की विचार-पद्धति में मौलिक अन्तर है। प्लेटो की पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है, वह सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना करता है। अरस्तू उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति तथा विशेष घटनाओं और परिस्थितियों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य नियम बनाता है। प्लेटो पहले न्याय (Justice) आदि गुणों (Virtues) के कुछ विशेष दार्शनिक रूप तय कर लेता है और फिर इन्हें अपने आदर्श राज्य में लागू करता है, इनके विषय में सामान्य व्यवस्थाएँ करता है। वह सच्चाई, भलाई, सौन्दर्य आदि अमूर्त्त विचारों का विश्लेषण करते हुए सूक्ष्म से स्थूल की ओर, सामान्य से विशेष की ओर बढ़ता है। अरस्तू दृश्यमान जगत् के

1. बार्कर--ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृ० 382.

वास्तविक पदार्थों को अपने विचार का आधार बनाते हुए स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। वह तत्कालीन यूनानी समाज में प्रचलित यूनानी नगरराज्यों के 158 शासन-विधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राज्यविषयक सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है। उसके सब विचार इतिहास और निरीक्षण पर आधारित हैं। अतः वे प्लेटो के विचारों की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट, सुनिश्चित, व्यावहारिक, तर्कसंगत और क्रमबद्ध हैं। प्लेटो के विचार निगमनात्मक तर्क पर प्रतिष्ठित होने के कारण अस्पष्ट, अनिश्चित और अव्यावहारिक हैं।[1]

(3) दोनों में उपर्युक्त मौलिक अन्तर होने के कारण स्वाभाविक परिणाम यह है कि मैक्सी के शब्दों में प्लेटो ऐसे अतिमानव (Superman) की खोज में है, जो आदर्श राज्य की सृष्टि करे, अरस्तू ऐसे अतिविज्ञान (Superscience) का अन्वेषण करना चाहता है, जो राज्य को अच्छे-से-अच्छा बना सके। प्लेटो अपने दार्शनिक राजाओं द्वारा आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है, किन्तु अरस्तू एक ऐसा शास्त्र बना देना चाहता है जिसमें निर्धारित नियमों का अनुसरण करते हुए आदर्श राज्य की सृष्टि हो सके।

(4) प्लेटो कल्पनावादी होने के कारण क्रान्तिकारी (Radical) विचारक है और अरस्तू व्यवहार को प्रधानता देने के कारण रूढ़िवादी (Conservative) है। प्लेटो के कुछ क्रान्तिकारी विचारों के उदाहरण दार्शनिक शासकों के लिए सम्पत्ति विषयक साम्यवाद (Communism) तथा उन्हें वैयक्तिक परिवार से वंचित कर सब स्त्रियों पर सामूहिक स्वत्व देना, नर-नारी के समानाधिकार का प्रबल समर्थन करना था। वह अपनी कल्पना द्वारा जिस राज्य को आदर्श समझता था, उसे लाने के लिए उसे समाज की किसी व्यवस्था, रूढ़ि, नियम या परम्परा को बदलने में रत्ती-भर संकोच न था। किन्तु अरस्तू व्यवहार और यथार्थ को प्रधानता देते हुए समाज की व्यवस्थाओं और नियमों में मौलिक परिवर्तन करने का विरोधी था। उसने घोषणा की थी कि हमें युगों से चले आने वाले अनुभवों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए" (पालिटिक्स 2/5)। इसीलिए उसने पालिटिक्स के आरम्भ में प्लेटो के साम्यवाद की कड़ी आलोचना की है। प्लेटो ने कहा था कि स्त्री को घर की चहारदीवारी से निकलकर राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए, पुरुषों की भाँति सब कार्य करने चाहिएँ, क्योंकि नर-नारी की योग्यताओं में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। अरस्तू ने इसका विरोध करते हुए उसकी सर्वोत्तम स्थिति घर में पति द्वारा शासित होने में मानी। "पुरुष का साहस आज्ञा देने में प्रदर्शित होता है और स्त्री का आज्ञापालन करने में।·· कवि ने कहा है—मौन ही नारी का गौरव है" (पालि० 1/13)। वह नारी को पूर्णरूप से वशवर्ती बनाने के लिए स्त्री-पुरुष के लिए विवाह की आयु क्रमशः 20 और 37 वर्ष नियत करता है (पालि० 7/16) विल ड्यूरैण्ट ने प्लेटो के क्रान्तिकारी विचारक होने का एक कारण यह भी बताया है कि उसके समय में राजनीतिक वातावरण प्रायः शान्त था, ऐसे समय में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के प्रस्ताव आसानी से रखे जा सकते हैं, किन्तु अरस्तू का समय

---

1. गैटल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० 48.

राजनीतिक दृष्टि से बड़ा अशान्त था, अतः उसने समाज में मौलिक परिवर्तनों का विरोध किया।[1] प्लेटो अतिवादी (Extremist) था, किन्तु अरस्तू मध्यमार्ग (Golden Mean) का अनुसरण करने वाला था।

(5) अरस्तू और प्लेटो का एक अन्य मौलिक अन्तर यह था कि अरस्तू ने राजनीतिक विचारों को नैतिक विचारों से पृथक् किया। प्लेटो की रचनाओं में दोनों प्रकार के विचार पूर्ण रूप से मिश्रित थे, वह राजनीति को नीतिशास्त्र का अंग मानता है। प्लेटो ने भलाई (Goodness) को सार्वभौम अमूर्त्त विचार मात्र माना था। अरस्तू के मतानुसार भलाई कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं, किन्तु वस्तुओं और परिस्थितियों से निर्धारित होती है। मनुष्य की अधिकतम भलाई राज्य में ही सम्भव है, अतः वह इसका विवेचन करना राजनीतिशास्त्र का कार्य समझता है और इस प्रकार इसे नीतिशास्त्र से पृथक् करके एक स्वतन्त्र विज्ञान बनाता है।[2] वह नीतिशास्त्र को वैयक्तिक (Individual) भलाई का शास्त्र, अर्थशास्त्र को घरेलू भलाई (Domestic good) का शास्त्र मानते हुए इन्हें मानव-समाज के कल्याण का प्रतिपादन करने वाले राजनीतिशास्त्र का अंग मानता है।

(6) कल्पनाशील होने के कारण प्लेटो उपमाओं और रूपकों के रूप में सोचता है। अतः उसकी शैली काव्यात्मक और सरल तथा समन्वयात्मक (Synthetic) है। इसके विपरीत अरस्तू की शैली तथ्यों के निरीक्षण पर आधारित होने के कारण विश्लेषणात्मक, शुष्क और नीरस है।

(7) प्लेटो वेदान्तियों की भाँति एकत्ववादी है। वह राज्य की एकता (Unity) सुदृढ़ करने के लिए संरक्षकों (Guardians) के लिए वैयक्तिक परिवार और सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त करना चाहता है। किन्तु अरस्तू नानात्व या वैविध्य (Diversity) का भक्त है, वह परिवार और सम्पत्ति द्वारा विभिन्नता बनाए रखने के पक्ष में है।

(8) प्लेटो दार्शनिकों के शासन को सर्वोत्तम समझता था। किन्तु अरस्तू यह मानता था कि कोई एक शासन-प्रणाली सर्वत्र और सदैव सर्वोत्तम नहीं हो सकती है। यह मनुष्यों की आवश्यकताओं और परिस्थितियों पर निर्भर होती है, किसी समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली प्रणाली उसके लिए श्रेष्ठ होती है।

(9) प्लेटो का यह विश्वास था कि राजनीतिक सत्ता कुछ थोड़े से बुद्धिमान् और धनी व्यक्तियों के हाथ में होनी चाहिए, वह दार्शनिकों के शासन का पक्षपाती था। किन्तु अरस्तू यह मानता था कि सर्वोत्तम राज्य वही हो सकता है, जिसमें सभी नागरिक राजनीतिक जीवन में अधिकतम भाग लें।

(10) प्लेटो दार्शनिकों के शासन को सर्वोत्तम समझते हुए उसके बाद दूसरे दर्जे की सर्वोत्तम (Second best) व्यवस्था कानून का शासन (Rule of Law) समझता है। किन्तु अरस्तू पहले को अव्यावहारिक समझते हुए उसके दूसरे दर्जे के सर्वोत्तम शासन (Second best) को सर्वश्रेष्ठ (best) मानता है।

प्लेटो और अरस्तू के उपर्युक्त अन्तर उनकी मौलिक प्रवृत्तियों में भेद के कारण हैं। इसीलिए "प्लेटो राजनीतिक दर्शन के आदर्शवादियों, स्वप्नदर्शियों

1. विलड् यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलोसफी, पृ० 91.
2. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, खं० 1, पृ० 49-51.

(Romantists), क्रान्तिकारियों, कल्पनावादियों (Utopians) का पिता है और अरस्तू यथार्थवादियों, वैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों (Pragmatists) तथा उपयोगितावादियों का जनक है।"[1] किन्तु इन सब विरोधों के होते हुए हमें दोनों की मौलिक समानताएँ नहीं भूलनी चाहिएँ। दोनों में नैतिक जीवन के प्रति गहरी आस्था है, न्याय की व्यवस्था तथा बुद्धिमत्ता के प्रति अगाध अनुराग है, शिक्षा द्वारा मनुष्य को सुधारने में अमिट विश्वास है, दोनों उत्तम जीवन की प्राप्ति को अपना ध्येय मानते हैं। राज्य को मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं और समाज का निर्माण न्याय, तर्क एवं बुद्धि के आधार पर करने के लिए उत्सुक हैं।

पालिटिक्स—यह राजनीतिशास्त्र पर अरस्तू की महत्त्वपूर्ण रचना है और आठ पुस्तकों में विभक्त है। ये आठ पुस्तकें विषय की दृष्टि से तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं। **पहले** भाग में पहली; दूसरी तथा तीसरी पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक में राज्य को जन्म देने वाली कुटुम्ब व्यवस्था, राज्य के स्वरूप, इसके उद्गम और आन्तरिक संगठन का वर्णन है, दूसरी पुस्तक में प्लेटो जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित आदर्श राज्यों की तथा स्पार्टा, क्रीट, कार्थेज आदि तत्कालीन राज्यों की समीक्षा है। तीसरी पुस्तक में आदर्श राज्य की खोज के लिए राज्यों के वर्गीकरण, नागरिकता और न्याय के स्वरूप का वर्णन है। **दूसरा** भाग चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकों का है। चौथी पुस्तक में विभिन्न प्रकार की वास्तविक शासन-प्रणालियों का प्रतिपादन है, पाँचवीं पुस्तक में विभिन्न शासन-प्रणालियों में होने वाले वैधानिक परिवर्तनों और क्रान्ति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। छठी पुस्तक में उन उपायों का वर्णन है, जिनसे लोकतन्त्रों तथा अल्पतन्त्रों (Oligarchies) को सुस्थिर बनाया जा सकता है। **तीसरा** भाग सातवीं, आठवीं पुस्तकों का है; सातवीं पुस्तक में राजनीतिक आदर्शों तथा शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना है और आठवीं पुस्तक में युवकों के प्रशिक्षण की सामान्य योजना, शारीरिक प्रशिक्षण, संगीत की शिक्षा के उद्देश्यों तथा उपायों का वर्णन है।

पालिटिक्स की विभिन्न पुस्तकों के रचनाकाल और क्रम के सम्बन्ध में जायगार (Jaegar), आर्नीम (Arnim) आदि विद्वानों ने बड़ा ऊहापोह किया है। किन्तु इस विषय में सबसे नवीनतम और उपयुक्त मत बार्कर का जान पड़ता है। उसका यह कहना है कि इसकी रचना अरस्तू के एथेन्स में दूसरे निवास-काल में, आयु के अन्तिम बारह वर्षों में (335 ई० पू० से 323 ई० पू०) हुई है। यद्यपि यह अरस्तू की प्रौढ़तम आयु की कृति है, किन्तु उसकी अन्य कृतियों के समान यह सम्भवतः उसके व्याख्यानों के नोट्स मात्र हैं, इसे भलीभाँति संशोधित एवं पूर्ण नहीं किया गया। इसकी शैली रिपब्लिक की तरह रोचक नहीं है। फिर भी इसका प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और कई शताब्दियों से राजनीतिक चिन्तन का प्रेरणा-स्रोत बना हुआ है, अतः जेलर (Zeller) ने लिखा है कि यह "हमें प्राचीनकाल से उपलब्ध होने वाली सबसे मूल्यवान निधि है। यह राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सबसे बड़ी देन है।" दूसरी ओर इस ग्रन्थ की अपरिपक्वता को लक्ष्य में रखते हुए डॉ० ए० ई० टेलर ने लिखा है—

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 78.

"अरस्तू का कोई भी अन्य ग्रन्थ पालिटिक्स जैसे विशाल विषय का इतना साधारण विवेचन नहीं करता है।" पालिटिक्स के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(1) राज्यविषयक विचार

(i) **राज्य का प्रादुर्भाव**—अरस्तू ने पालिटिक्स की पहली पुस्तक के द्वितीय खण्ड में राज्य के विकास और स्वरूप का सुन्दर प्रतिपादन किया है। इसके मतानुसार राज्य का प्रादुर्भाव कुछ मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होता है। मनुष्य एकाकी रूप में अपनी सब आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता है। सर्वप्रथम वंशविस्तार तथा मानव-जाति को उच्छेद से बचाने की आवश्यकता पूरी करने के लिए नर-नारी मिलकर कुटुम्ब का निर्माण करते हैं। नर-नारी को शरीर धारण के लिए अन्नादि भौतिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। इस कारण कुटुम्ब में इन वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए दास रखे जाते हैं, इस प्रकार स्वामी-सेवक के सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है। प्रजनन तथा अल्पतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुटुम्ब का तथा उसमें उपर्युक्त दो प्रकार के सम्बन्धों का जन्म होता है। कुटुम्ब का समुदाय या समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्राम का रूप धारण करता है। ग्राम में कुटुम्ब की पहली दोनों आवश्यकताएँ पूर्ण होने के साथ मनुष्य की कुछ अन्य आवश्यकताएँ भी पूर्ण होने लगती हैं, आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए ग्राम-पंचायत का निर्माणहोता है, गाँव के मेलों तथा उत्सवों द्वारा उसकी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। तीसरी दशा में अनेक ग्रामों के सम्मिलन से नगरराज्य का जन्म होता है। इससे कुटुम्ब और ग्राम की आवश्यकताएँ पूरी होने के साथ कुछ अन्य आवश्यकताएँ भी पूरी होती है। राज्य सैनिक संगठन बनाकर अपने निवासियों की विदेशी आक्रान्ताओं से रक्षा करता है, न्याय का कार्य ग्राम-पंचायत की अपेक्षा अधिक क्षमता और सुचारुता के साथ करता है, इसमें विद्याओं और कलाओं का विकास होता है, यह मनुष्य की बौद्धिक और नैतिक शक्तियों को विकसित करने की आवश्यकता पूरी करता है। वस्तुतः नगर-राज्य का महत्त्व मनुष्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ पूरी करने में है। नगरराज्य न केवल मानव प्रकृति की सभी आवश्यकताएँ पूरी करता है, बल्कि उसकी प्रकृति के उच्चतर अंश की नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएँ विशेष रूप से पूर्ण करता है। अतः नगरराज्य मनुष्यों का अन्तिम और पूर्ण (Perfect) एवं श्रेष्ठतम समुदाय है। यह उसे पूर्ण जीवन बिताने में सहायक होता है।

इस प्रकार राज्य का विकास तीन स्थितियों में से होकर गुजरता है और यह मनुष्य की सहज नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर आधारित है। पहली सहज प्रवृत्ति नर-नारी को परस्पर आकृष्ट कर प्रजनन व्यापार द्वारा मानव-जाति को उच्छिन्न होने से बचाती है। दूसरी प्रवृत्ति स्वामी और सेवक, प्रभु और दास के सम्बन्ध को उत्पन्न कर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इन दोनों नैसर्गिक प्रवृत्तियों से कुटुम्ब की उत्पत्ति होती है। कुटुम्ब बढ़कर ग्राम का रूप धारण करते हैं और ग्रामों का समुदाय नगरराज्य बनता है। राज्य के निर्माण तक की उपर्युक्त तीनों स्थितियों तथा इनके

उद्दश्यों का परिचय निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाएगा[1]—

1. कुटुम्ब अथवा गृहस्थी	प्रजनन तथा अल्पतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति = क
2. ग्राम	क + न्याय के लिए ग्राम-पंचायत तथा धार्मिक उत्सव आदि = ख
3. नगरराज्य (पोलिस)	क + ख + (न्याय तथा सैनिक संरक्षण, विद्या तथा कलाओं का विकास)।

(ii) **राज्य का स्वरूप और विशेताएँ**—(1) राज्य प्राकृतिक समुदाय है। राज्य का विकास-क्रम स्पष्ट करने के साथ-साथ अरस्तू राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली उसकी कुछ मौलिक विशेषताओं का प्रतिपादन करता है। **पहली विशेषता राज्य का प्राकृतिक** (Natural) **होना है।** प्लेटो तथा अरस्तू से पहले सोफिस्ट यह मानते थे कि राज्य मनुष्यों का एक कृत्रिम (Artificial) समुदाय है, वह मनुष्यों ने आपस में समझौता या अनुबन्ध (Contract) करके बनाया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कानूनों के पालन के लिए मनुष्य के पास कोई स्वाभाविक आधार नहीं रहता, क्योंकि मनुष्य इसका पालन केवल दण्ड के भय से अथवा पुरस्कार की आशा से करता है। किन्तु मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। वह केवल उन नियमों का पालन पूरी तरह कर सकता है, जो उसे बुद्धिसंगत प्रतीत हों। यह केवल उन्हीं कार्यों और नियमों के लिए सम्भव है, जिन्हें उसकी बुद्धि अपने लिए हितकर समझे। यदि उसे कानूनों का पालन बुद्धि द्वारा अपने हितों के प्रतिकूल प्रतीत हो तो वह इनका उल्लंघन करने में कोई संकोच नहीं करेगा, केवल दण्ड का भय उसे ऐसा करने से नहीं रोक सकता। वस्तुतः प्रबल नैतिक शक्ति ही उसे कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य कर सकती है। सोफिस्टों के सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे राज्य को कृत्रिम मानते हुए उसके कानून का पालन कराने में समर्थ नैतिक शक्ति की सत्ता अस्वीकार करते हैं। इसके विपरीत अरस्तू ने राज्य को प्राकृतिक मानते हुए उसको वह नैतिक शक्ति प्रदान की है, जिससे नागरिक उसके कानूनों का पालन करें। अरस्तू का यह कहना है कि विवेकशील मनुष्य बुद्धि द्वारा अपने हित की वृद्धि करना अपना नैतिक दायित्व समझता है, यह हित राज्य में ही पूरा हो सकता है, अतः वह राज्य के नियमों का पालन करता है। इस प्रकार राज्य के नियमों का पालन करने का एक नैतिक आधार हो जाता है और मनुष्य अपने हित की दृष्टि से इनका पालन करने लगते हैं।

राज्य को **प्राकृतिक** (Natural) मानने के कई कारण हैं : **पहला कारण उसका** कुटुम्ब से शनैः-शनैः स्वाभाविक रूप से विकसित होना है। कोई भी व्यक्ति कुटुम्ब को कृत्रिम नहीं मानता, सोफिस्ट भी यह कहने का दुस्साहस नहीं कर सकते कि परिवार मनुष्य पर कृत्रिम रूप से थोपी हुई व्यवस्था है। यह मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। अतः यह मनुष्य के विकास में सहायक है, उसका अवरोधक नहीं है। "यह घोंसले की तरह है, न कि पिंजरे की भाँति।"[2] कुटुम्ब की इस स्वाभाविक

1. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ॰ 90.
2. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ॰ 128.

व्यवस्था से राज्य का विकास हुआ है। अतः राज्य भी कुटुम्ब की भाँति स्वाभाविक है। **दूसरा** कारण यह है कि राज्य मनुष्य को उस उद्देश्य की पूर्ति की क्षमता प्रदान करता है, जिसके कारण वह शेष सृष्टि से भिन्न समझा जाता है। मनुष्य की शेष सृष्टि से भिन्नता उसके बुद्धिमान् और भाषण-कलासम्पन्न प्राणी होने में है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्य तथा अन्य पशुओं में कोई भेद नहीं है, उसकी इनसे विलक्षणता, तर्कशीलता, विवेक और भाषा की शक्ति हैं। मनुष्य भाषा के वरदान से एक-दूसरे के सुख-दुख की अनुभूतियों का अनुभव कर सकता है, इसी से वह दूसरों पर यह स्पष्ट करता है कि क्या न्यायोचित है तथा क्या अन्याय है। वह इसी की सहायता से नैतिक और आध्यात्मिक प्रश्नों का निर्णय करता है। अरस्तू के मतानुसार जब कोई वस्तु विकसित होकर चरम शक्ति को प्राप्त हो जाए तथा जिस कार्य के लिए प्रकृति ने उसका निर्माण किया, उसको भलीभाँति सम्पादन कर सके तो उस स्थिति को उसका **वास्तविक या स्वाभाविक रूप मानना** चाहिए। राज्य में मनुष्य को पशुओं से पृथक् करने वाले बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास का अवसर मिलता है, अतः राज्य प्राकृतिक है। किन्तु राज्य का प्राकृतिक होना प्रकृति की अन्य घटनाओं से कुछ भिन्नता रखता है। मधुमक्खियों का छत्ता भी एक प्राकृतिक संगठन है, यह नियमों द्वारा शासित होता है। किन्तु यह राज्य से भिन्न है। इसमें रहने वाली मक्खियाँ राजनीतिक जीवन नहीं बितातीं, क्योंकि वे उन्हें शासित करने वाले नियमों को नहीं समझतीं है। राजनीतिक जीवन की एक बड़ी विशेषता यह है कि मनुष्य जिन नियमों से शासित होते हैं, उनके सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि वे उन पर बुद्धि-पूर्वक विचार करें, शासक अपने कानूनों को तर्क की दृष्टि से उचित ठहराते हुए लागू करें, मनमानी इच्छा को नियम न बनाएँ। प्रजा द्वारा कानून का पालन दण्ड के भय से नहीं, किन्तु बुद्धि की प्रेरणा से होना चाहिए।

राज्य के प्राकृतिक होने के कारण अरस्तू ने **मनुष्य को राजनीतिक प्राणी** (Political animal) **कहा** है, क्योंकि उसकी प्रकृति का सर्वोत्तम विकास **पोलिस** या राज्य में ही सम्भव है। कोई व्यक्ति राज्य से पृथक् रहते हुए अपना विकास नहीं कर सकता. इस दशा में न तो उसकी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होंगी और न ही उसकी बौद्धिक और नैतिक शक्तियाँ विकसित हो पाएँगी। यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि वह राज्य से पृथक् रह सकता है, तो अरस्तू के शब्दों में वह या तो पशु है या देवता (पालिटिक्स)। पहली अवस्था में उसमें बौद्धिक और नैतिक शक्तियों का पशुओं की भाँति सर्वथा अभाव है और दूसरी दशा में उसमें इनका पूर्ण विकास हो चुका है। अरस्तू द्वारा मनुष्य को राजनीतिक प्राणी मानने का यह आशय है कि वह इसको सदैव राज्य में रहने वाला व्यक्ति समझता है।[1] उसके अनुसार किसी ऐसी अवस्था या

1. अरस्तू ने राजनीतिक शब्द का प्रयोग वर्तमान संकीर्ण अर्थ में नहीं, किन्तु बड़े व्यापक अर्थ में किया है। इसमें आजकल के शासन, कानून निर्माण, न्याय के प्रशासन के अतिरिक्त धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक, साहित्यिक और कलात्मक कार्य भी सम्मिलित थे। पुराने यूनान में धार्मिक उत्सव कराना, मन्दिरों का निर्माण, संचालन आदि कार्य राज्य द्वारा किए जाते थे। राज्य सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य करता था। अतः अरस्तू के राजनीतिक शब्द में इन सब का समावेश है।

स्थिति की कल्पना नहीं हो सकती, जबकि वह राज्य से स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता रखे। अरस्तू 17वीं-18वीं शताब्दी के रूसो, हाब्स आदि दार्शनिकों द्वारा मानी जाने वाली राज्य से पूर्ववर्त्ती ऐसी कोई प्राकृतिक दशा (State of Nature) नहीं मानता, जिसमें मनुष्य परम आनन्द की अथवा मात्स्यन्याय की स्थिति में रहता था।

(2) **पूर्ववर्तिता**—राज्य की **दूसरी विशेषता** उसका परिवार और व्यक्ति से पूर्ववर्त्ती (Prior) होना है। पहले यह बताया जा चुका है कि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आरम्भ में व्यक्तियों से मिलकर कुटुम्ब बने, कुटुम्बों से ग्राम और ग्रामों से राज्य। अतः कालक्रम की दृष्टि से व्यक्ति पहले था और राज्य सबसे अन्त में बना। किन्तु अरस्तू ऐतिहासिक सम्बन्ध (Historical relation) की दृष्टि से राज्य को परवर्त्ती मानते हुए भी **तर्कसम्मत सम्बन्ध** (Logical relation) की दृष्टि से उसे पूर्ववर्त्ती मानता है। इस विषय में उसका तर्क इस प्रकार है। व्यक्ति और राज्य में अवयव (Organ) और अवयवी (Organism), व्यष्टि तथा समष्टि (Whole) का सम्बन्ध है। अवयव और अवयवी में अवयवी का प्राग्भाव या पहले होना मानना अनिवार्य है क्योंकि अवयवी के अभाव में अवयव की कल्पना नहीं की जा सकती। अरस्तू ने इसे शरीर के उदाहरण से स्पष्ट किया है। इसके विभिन्न अवयवों—हाथ-पैर की सत्ता तथा उपयोगिता अवयवी या शरीर के होने पर ही होती है। यदि शरीर न हो तो हाथ, पैर आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता। अतः अवयवी को विचार की दृष्टि से अवयव से पहले होना ही चाहिए। राज्य अवयवी है, अतः उसका उसके अवयव—व्यक्ति से पहले होना (प्राग्भाव या पूर्ववर्त्तिता) अनिवार्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "**राज्य व्यक्ति से पूर्ववर्त्ती** (Prior) **होता है।**"

(3) **नगर-राज्य का चरम और श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन होना**—अरस्तू की दृष्टि में नगर-राज्य मानव समाज का सर्वोत्तम समुदाय है। प्रत्येक समुदाय किसी हित की सिद्धि के लिए बनाया जाता है। राज्य सबसे बड़ा समुदाय है, अतः यह उसके सबसे बड़े हित बौद्धिक और नैतिक विकास की सिद्धि के लिए होना चाहिए। इस कारण उसे सर्वोत्तम समुदाय मानना चाहिए। राज्य को सर्वश्रेष्ठ समुदाय मानने के कई कारण हैं: **पहला** कारण यह है कि अरस्तू के मतानुसार यह सामाजिक विकास का चरम रूप है, कुटुम्ब से आरम्भ होने वाला विकास नगरराज्य के रूप में परिपूर्णता को प्राप्त करता है। यद्यपि अरस्तू के सामने फिलिप ने यूनान के नगरराज्यों को समाप्त कर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, किन्तु वह इस परिवर्तन के महत्त्व को नहीं आंक सका। नगरराज्यों और साम्राज्यों के बाद इतिहास में राष्ट्रीय राज्यों (National States) का आविर्भाव हुआ। 20वीं शताब्दी में अणुबमों और अन्तरिक्षगामी राकेटों के युग में राष्ट्रीय राज्य के स्थान पर सब राज्यों के विश्वसंघ की कल्पना की जाने लगी है। किन्तु अरस्तू ने नगरराज्य को ही सामाजिक विकास का चरम रूप मानते हुए सर्वश्रेष्ठ माना। इसे श्रेष्ठ मानने का **दूसरा कारण** यह है कि इसमें मनुष्य की जितनी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, उतनी किसी दूसरे समुदाय में नहीं होतीं। कुटुम्ब और ग्राम केवल कुछ भौतिक आवश्यकताएँ ही पूरी करते हैं, किन्तु मनुष्य की सभी आध्यात्मिक और बौद्धिक आवश्यकताएँ नगरराज्य से ही पूर्ण होती हैं।

(4) **राज्य का आत्मनिर्भर** (Self-sufficient) **होना**—अरस्तू इसे सब वस्तुओं के विषय में आत्मनिर्भरता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ कहता है। आत्म-निर्भरता का अर्थ सामान्यतः अपनी सब आवश्यकताएँ स्वयमेव पूरा करना होता है, किन्तु अरस्तू ने इसका प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है। इसके लिए उसने 'औताकेंइया' (Autarkeia) शब्द का प्रयोग किया है और इसकी परिभाषा करते हुए अपने 'आचारशास्त्र' में लिखा है कि "यह वह गुण है, जिसके द्वारा स्वतः जीवन वांछनीय बन जाता है, तथा जिसमें कोई अभाव नहीं होता है।" कुटुम्ब और ग्राम द्वारा मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अधूरे रूप में होती है, राज्य द्वारा न केवल इनकी पूर्ति पूर्णरूप से होती है, किन्तु इसके साथ ही मनुष्य की उच्चतर प्रकृति (Higher-nature) की बौद्धिक और नैतिक आवश्यकताएँ भी पूरी होने लगती हैं, अतः राज्य में मनुष्य को किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता है। वह उत्तम जीवन बिता सकता है। उत्तम जीवन का अर्थ केवल अच्छा खान-पान और रहन-सहन नहीं है, किन्तु बुद्धि और मन की शक्तियों का विकास है। पेट भरने का काम तो पशु भी करते हैं, मनुष्य का मनुष्यत्व इसीलिए है कि वह अपने विशेष गुणों का विकास करे। यह आत्मनिर्भर राज्य में सम्भव है। अतः अरस्तू यह कहता है कि "राज्य की उत्पत्ति तो केवल मात्र जीवन की आवश्यकता के कारण हुई, किन्तु (पूर्णता को पहुँचने पर) उसकी सत्ता अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए बनी रहती है।" यहाँ अरस्तू के अच्छे जीवन (Good life) का तात्पर्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। अच्छा जीवन श्रेष्ठ भलाई के अनुसार बिताया जाने वाला जीवन है। किन्तु भलाई क्या है ? अरस्तू के मतानुसार भलाई के दो प्रकार हैं—बुद्धि की भलाई तथा चरित्र की भलाई। बुद्धि की भलाई या सद्बुद्धि हमें यह बताती है कि अच्छे या सुखी जीवन के क्या नियम हैं और चरित्र की भलाई हमें उन नियमों के अनुकूल आचरण करने में समर्थ बनाती है। इन दोनों की सहायता से मनुष्य उत्तम आचार वाला बनता है।

(5) **राज्य का एकत्व और बहुत्व** (Unity and Plurality in State)—प्लेटो ने राज्य के एकत्व (Unity) पर बहुत बल दिया था। वह समूचे राज्य को एक विशाल परिवार बनाना चाहता था। उसके मतानुसार राज्य में अवयवी शरीर (Organism) की भाँति एकता होनी चाहिए, जिस प्रकार पैर में काँटा चुभने पर सारे शरीर को उसकी अनुभूति होती है, वैसी ही एकता की अनुभूति राज्य में होनी चाहिए। वह एकत्व को ही राज्य का स्वरूप समझता है। किन्तु अरस्तू इससे सहमत नहीं है।[1] उसका कहना है कि राज्य में यदि इतनी एकता होगी तो वह राज्य ही नहीं रहेगा, **वस्तुतः राज्य का स्वरूप बहुत्व** (Plurality) **में ही है**। वह विभिन्न प्रकार के तत्त्वों से मिलकर बनता है। यदि इनकी भिन्नता का अन्त करके एकता स्थापित की जाए, तो राज्य का ही अन्त हो जाएगा। सुन्दर संगीत की सृष्टि कई प्रकार की सुरीली ध्वनियों के समन्वय से होती है; यदि उसमें एक ही ध्वनि हो तो वह उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसी तरह राज्य के लिए अनेक तत्त्वों की आवश्यकता है। ये उसमें विभिन्न प्रकार के कार्य करते हुए उसे अधिक उन्नत, उत्कृष्ट और समृद्ध बनाते हैं। राज्य में

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 40-42.

एकता होनी चाहिए, किन्तु यह प्लेटो के विचारों के अनुसार कठोर अनुशासन द्वारा व्यक्तियों के विभिन्न भेदों का अन्त करके स्थापित नहीं होनी चाहिए, किन्तु विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के समुचित संगठन द्वारा स्थापित होनी चाहिए।

(iii) **राज्य का उद्देश्य और कार्य**—अरस्तू का यह विचार है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य की अधिकतम भलाई करना है,[1] अतः उसका यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को भला और सद्गुणी बनाने का तथा उसके नैतिक और बौद्धिक गुणों के विकास का प्रयत्न करे। "राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है, न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए" (पालिटिक्स 3/16)। उसका यह दृष्टिकोण भावात्मक (Positive) है तथा मध्ययुग में लॉक द्वारा प्रतिपादित किए जाने वाले इस दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है कि राज्य का उद्देश्य अभावात्मक (Negative) तथा केवल इतना ही है कि वह अपने सदस्यों द्वारा अधिकारों के उपभोग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करे। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि यदि वह दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता तो स्वतन्त्रतापूर्वक रह सके, बोल सके, सम्पत्ति रख सके। यदि कोई व्यक्ति अनुचित रूप से दूसरे की स्वतन्त्रता के अधिकार का अपहरण करता है तो राज्य का कर्त्तव्य है कि वह उसका दमन करे। राज्य का कार्य केवल मात्र इतने क्षेत्र तक ही सीमित है कि वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करे, इनको हानि पहुँचाने वाले या इनका अपहरण करने वाले तत्त्वों का दमन करे। इस निवारणात्मक और निरोधात्मक कार्य से अधिक रंचमात्र कार्य भी राज्य को नहीं करना चाहिए।

किन्तु अरस्तू इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। उसका यह कहना है कि यदि राज्य केवल इतना ही कार्य करता है कि उसके निवासी एक-दूसरे के विरुद्ध कोई अपराध न करें, कोई हानि न पहुँचाएँ, तो इससे राज्य के कार्यों की इतिश्री नहीं होती। ऐसी संस्था को राज्य नहीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि इस दशा में राज्य अपने महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को तथा प्रधान कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता है। यह उद्देश्य और कार्य मनुष्यों को अच्छा, भला और सद्गुणी बनाना है। पालिटिक्स की तीसरी पुस्तक के नवें अध्याय में अरस्तू ने विभिन्न उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि राज्य को 'नागरिकों की भलाई के लिए चिन्ताशील होना चाहिए और उन्हें सच्चरित्र और सद्गुणी बनाना चाहिए; बुरे कार्य भले ही दूसरे के अधिकारों का अपहरण करें या न करें, समान रूप से निन्दनीय हैं। राज्य यदि दूसरे के अधिकारों के अपहरण करने वाले कार्यों को रोकता है और अन्य बुरे कार्यों को नहीं रोकता तो वह कर्त्तव्य का पूरा पालन नहीं करता। राज्य का सम्बन्ध अपने नागरिकों के उन्हीं कार्यों से नहीं है, जो दूसरों के लिए अहितकर हों, किन्तु उसका वास्तविक और गहरा सम्बन्ध अपने नागरिकों को सच्चरित्र बनाने से है, ताकि वे बुरे काम कर ही न सकें। अपराधी को केवल दण्ड के भय से ही अपराध से विरत नहीं रहना चाहिए, किन्तु राज्य को उसे ऐसा सच्चरित्र बना देना चाहिए कि वह अपराधों की ओर प्रवृत्त ही न हो।

राज्य यह कार्य शिक्षा द्वारा कर सकता है। वर्तमान समय में अधिकांश राज्य नागरिकों को बौद्धिक शिक्षा प्रदान करते हैं। प्लेटो और अरस्तू इससे सन्तुष्ट नहीं हैं,

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 118-120.

वे उसे नैतिक शिक्षा प्रदान कर सच्चरित्र और सद्गुणी नागरिक बनाना चाहते हैं। आजकल यह कार्य राज्य का नहीं, किन्तु चर्च या धार्मिक संस्थाओं का समझा जाता है। पुराने यूनानी राज्यों में धार्मिक कार्य राज्य की ओर से होते थे, अतः वहाँ राज्य और धर्म में कोई पार्थक्य या भेद नहीं था। मध्ययुगीन योरोप में धार्मिक शिक्षा का कार्य चर्च द्वारा होता था, अतः लॉक ने राज्य का कार्यक्षेत्र अभावात्मक तथा दूसरों को हानि पहुँचाने वाले कार्यों के निवारण मात्र तक सीमित रखा। लॉक से राजनीतिक आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण करने वाले उदारवादी (Liberal) ग्रेट ब्रिटेन में और सं० रा० अमरीका में राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक इसी विचारधारा की प्रधानता रही। किन्तु अरस्तू के राज्य के उद्देश्य की कल्पना इससे बहुत अधिक विस्तृत, व्यापक और भावात्मक है तथा वह राज्य का यह कर्त्तव्य समझती है कि वह अपने नागरिकों को शिक्षा द्वारा सच्चरित्र और सद्गुणी बनाए। राज्य के कार्यक्षेत्र के उपर्युक्त विवेचन से राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। अरस्तू प्लेटो की भाँति राज्य और व्यक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण सादृश्य मानता था, फिर भी वह उसकी भाँति राज्य को व्यक्ति से अधिक महत्त्व नहीं देता था।

(2) दास-प्रथा

यूनानी जगत् में होमर के समय से दास-प्रथा समाज का एक आवश्यक अंग थी। ग्रीक संस्कृति के भव्य प्रासाद की नींव में दासों के श्रम का महत्त्वपूर्ण भाग था। खेती-बाड़ी और आर्थिक उत्पादन का कार्य दासों द्वारा होता था। यद्यपि यूनानियों की दास-प्रथा रोमन लोगों की दास-प्रथा की भाँति क्रूर तथा अमानुषिक नहीं थी, किन्तु इसके सामाजिक बुराई होने में कोई सन्देह नहीं है। अरस्तू के पहले एण्टीफोन आदि कुछ सोफिस्ट विचारकों ने मानवीय समानता के आधार पर इसका विरोध किया था, किन्तु अरस्तू ने रूढ़िवादी होने के कारण यह माना कि कुछ व्यक्तियों के लिए दास-प्रथा अधिक अच्छी और न्यायपूर्ण स्थिति है, उसने दास-प्रथा के औचित्य का समर्थन निम्नलिखित कारणों के आधार पर किया :

(क) कारण—(1) यह प्रकृति की स्वाभाविक व्यवस्था और प्राकृतिक प्रथा है, क्योंकि प्रकृति में यह नियम दृष्टिगोचर होता है कि उत्कृष्ट (Superior) निकृष्ट पर शासन करता है (पॉलिटिक्स 1/5)। आत्मा उत्कृष्ट है, वह निकृष्ट शरीर पर शासन करती है। पुरुष प्रकृत्या उच्चतर है, वह निम्नतर स्त्री पर शासन करता है। विषमता प्रकृति का नियम है। कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए। कुछ आज्ञा देने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ आज्ञा पालन के लिए। आज्ञा देने वाले स्वामी तथा पालन करने वाले दास होते हैं। शासक-शासित का यह भेद समग्र जड़-चेतन प्रकृति में व्याप्त है। मनुष्य-समाज में जो व्यक्ति विवेक-शक्ति से शून्य है तथा केवल शारीरिक शक्ति रखता है, वह दास होता है तथा जो विवेक-शक्तिसम्पन्न होता है, वह स्वामी होता है। अरस्तू का यह मत है कि "प्रकृति स्वतन्त्र पुरुष और दास के शरीरों में भेद करना चाहती है, अतः वह एक (अर्थात् दास) के शरीर को आवश्यक सेवाकार्यों के लिए बलवान् बनाती है तथा स्वतन्त्र पुरुष के शरीर को सरल और सीधा बनाती है और वह शारीरिक श्रम के लिए बेकार होता

है" (पालिटिक्स 1/5)। इस प्रकार प्रकृति स्वामी और दास की न केवल मानसिक रचना में, किन्तु शारीरिक रचना में भेद करती है। मानसिक दृष्टि से दास विवेक-शक्ति से शून्य होते हैं, उनमें केवल इतनी ही बुद्धि होती है कि वे स्वामी की आज्ञाओं को समझकर उन्हें क्रियान्वित कर सकें। शारीरिक दृष्टि से प्रकृति उन्हें सेवाकार्य करने के लिए शक्तिशाली और सुदृढ़ शरीर प्रदान करती है। शासक और शासित के प्राकृतिक नियम तथा विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ प्रदान करने की व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि दास-प्रथा प्राकृतिक (Natural) संस्था है।

(2) **दास-प्रथा इस दृष्टि से भी न्यायोचित है कि यह स्वामी और सेवक दोनों के लिए तथा समाज के लिए लाभप्रद है** (पालिटिक्स 1/5)। विवेक-शक्ति-सम्पन्न स्वामियों को दासों की आवश्यकता इसलिए है कि वे इनकी सहायता से अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास कर सकें। इनका विकास तभी हो सकता है, जब मनुष्य के पास अवकाश (Leisure) हो। यह अवकाश उसे तभी मिल सकता है, जब दास उसकी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रम करें; अन्यथा उसे यह श्रम करना पड़ेगा, उसका सारा समय इसमें लग जाएगा और वह उत्तम जीवन के लिए आवश्यक गुणों का विकास नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार वीणा आदि वाद्ययन्त्रों की सहायता के बिना उत्तम संगीत नहीं उत्पन्न हो सकता, उसी प्रकार दासों के बिना स्वामी के उत्तम जीवन का तथा बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास सम्भव नहीं है।

(3) दास-प्रथा इसलिए भी आवश्यक है कि यह दास के जीवन के विकास के लिए भी आवश्यक है। अरस्तू दास को विवेक-शक्तिशून्य प्राणी मानता है, उसकी स्थिति बच्चे की तरह है, यदि बालक को माँ-बाप का संरक्षण और प्रशिक्षण न प्राप्त हो तो उसका समुचित विकास नहीं हो सकता। यही दशा दास की है। जिस प्रकार बच्चा यह नहीं जानता कि उसे कितना खाना है और क्या करना है, यह अत्यधिक या अभक्ष्य भक्षण से और अकरणीय कार्यों से अपने को हानि पहुँचा सकता है, उसी तरह दास भी विवेक-शक्तिसम्पन्न न होने के कारण अपना अहित कर सकता है, अतः उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वामी के संरक्षण में रहे। इस विषय में अरस्तू ने पालतू जानवरों का दृष्टान्त दिया है (पालिटिक्स 1/4)। मनुष्य के अनुशासन में रहने के कारण ये बहुत-सी अच्छी बातें सीख जाते हैं, जंगली जानवरों से अधिक अच्छे रहते हैं, क्योंकि इन्हें इसमें सुरक्षा की प्राप्ति होती है। यही बात दासों के विषय में लागू होती है। अतः दासों के हित की दृष्टि से यह प्रथा वांछनीय है।

(ख) **मानवीय व्यवस्थाएँ**—दास-प्रथा का समर्थक होने पर भी अरस्तू ने इसके सम्बन्ध में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण मानवीय व्यवस्थाएँ की हैं कि इनसे दास-प्रथा द्वारा होने वाले अन्यायों का तथा इसके दूषणों का कुछ अंशों तक प्रतिकार हो जाता है।[1] उसकी **पहली** व्यवस्था यह है कि स्वामी और दासों के हित समान हैं। इस प्रथा का उद्देश्य दोनों का हित करना है, अतः स्वामी को अपनी सत्ता और अधिकारों का कभी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। उसे दास के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। **दूसरी** व्यवस्था यह है कि दासों को मुक्त करने की आशा दी जाए। उसने स्वयमेव अपने

1. रॉस—अरिस्टाटल, पृ॰ 242.

जीवन में इस पर आचरण किया था। यूनानी दार्शनिकों के जीवन की कहानियाँ लिखने वाले दियोजेनेस लार्एत्तियस (Diogenes Laertius) के कथनानुसार उसने अपने वसीयतनामे द्वारा अनेक दासों को मुक्त किया था। **तीसरी व्यवस्था** उसकी यह धारणा थी कि दासता प्राकृतिक गुणों के कारण होती है, इसका कोई कानूनी आधार नहीं है, यह जन्ममूलक भी नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि दास का बेटा दास हो, यदि उसमें विवेक-शक्ति है तो वह दास नहीं है। वह स्वयमेव यह मानता है कि गुणों के आधार पर दास-अदास में भेद करना कई बार बहुत कठिन होता है। दास-प्रथा को गुणमूलक बनाकर उसने इसकी उग्रता और कठोरता को बहुत कम कर दिया है।

उसकी **चौथी** महत्त्वपूर्ण व्यवस्था यह है कि युद्ध में विजयमात्र से किसी व्यक्ति को दास नहीं बनाया जा सकता (पालिटिक्स 1/6)। प्राचीन काल में युद्धबन्दियों को गुलाम बनाने की कुप्रथा प्रचलित थी। अरस्तू ने सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका विरोध किया है। वह विजेता को विजितों को दास बनाने का अधिकार देने वाली रूढ़ि को तथा इस प्रकार प्रचलित होने वाली कानूनी दासता (Legal slavery) को अमान्य ठहराता है। उसका यह मत है कि युद्ध में जीतने वाला अधिक शक्तिशाली अवश्य होता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अधिक गुणों वाला तथा उत्कृष्ट विवेक वाला हो। युद्ध में ऐसे व्यक्ति भी पकड़े जा सकते हैं, जो नैतिक और बौद्धिक गुणों की दृष्टि से इन्हें बन्दी बनाने वाले व्यक्तियों से उत्कृष्ट हों। ऐसे व्यक्ति दास नहीं बनाए जाने चाहिएँ। इन्हें दास बनाने वाली व्यवस्था मान्य नहीं हो सकती। कई बार युद्ध अन्यायपूर्ण कारणों से छेड़ा जाता है, ऐसे युद्ध में बन्दियों को दास बनाना सर्वथा अनुचित और अन्यायमूलक है। उसकी **पाँचवीं** व्यवस्था यह है कि यूनानियों को दास नहीं बनाया जा सकता, केवल बर्बर (यूनानियों से भिन्न) जातियों के व्यक्ति ही दास हो सकते हैं। यूनानी विद्या और बुद्धि की दृष्टि से अपने को अन्य जातियों से बहुत उत्कृष्ट समझते थे; और उत्कृष्ट गुणों वाले व्यक्तियों को अरस्तू दास होने योग्य नहीं मानता।

(ग) आलोचना—अरस्तू द्वारा दास-प्रथा का उपर्युक्त समर्थन बड़ा अयुक्तियुक्त और अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यह मानवीय समानता और स्वतन्त्रता के आजकल सर्वत्र सत्य माने जाने वाले मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। रॉस (Ross) के मतानुसार (अरिस्टाटल, पृ० 242) अरस्तू का मानव-जाति को गुणों के तथा शासक-शासित के आधार पर दो वर्गों में बाँटने के विचार का समर्थन नहीं किया जा सकता। मनुष्य के नैतिक और बौद्धिक गुणों में अन्तर अवश्य होता है, किन्तु इसके आधार पर कुछ व्यक्तियों को शासक बनाना और कुछ को शासित बनाना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अरस्तू जिन्हें विवेक-शक्तिरहित होने के कारण शासित मानता है, वे वस्तुतः बुद्धिशून्य नहीं होते। वह स्वयमेव यह मानता है कि इनमें स्वामी के आदेश समझने और पालन करने की बुद्धि होनी चाहिए, उसका यह भी कहना है कि दास, दास के रूप में नहीं, किन्तु मनुष्य के रूप में अपने स्वामी का मित्र हो सकता है। मनुष्य होने के कारण उसमें विवेक, बुद्धि आदि गुण अवश्य होंगे। अतः उसे इनसे रहित समझते हुए मनुष्यों का दो भागों में वर्गीकरण सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक है तथा इसके आधार पर दास-प्रथा को न्यायोचित ठहराना सर्वथा अयुक्तियुक्त है। बार्कर ने यह सत्य ही लिखा है—"यदि दास को किसी दृष्टि से मनुष्य समझा जाता है तो उसे सभी दृष्टियों से मानव

मानना चाहिए और यदि उसे मनुष्य मान लिया जाए तो यह उसे पूर्णरूप से विवेक-बुद्धिशून्य दास मानने की उस धारणा का खण्डन करता है, जिसके आधार पर अरस्तू ने उसे दास बनाए रखना न्यायोचित ठहराया है।"[1] अरस्तू ने स्वयमेव इसकी व्यावहारिक कठिनाइयों को स्वीकार किया है। वह कोई ऐसी सुनिश्चित या प्रामाणिक कसौटी नहीं बताता, जिसके आधार पर यह तय किया जा सके कि कौनसा व्यक्ति प्राकृतिक रूप से दास माना जाए और उसे पशुओं के तुल्य दर्जा दिया जाए।

वस्तुतः दास-प्रथा के सम्बन्ध में अरस्तू ने अपने यथार्थवाद के कारण मध्यमार्ग का अवलम्बन किया है। उस समय यूनान में एक ओर ऐसे विचारक थे, जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से दासों को रखना, इन्हें युद्धों में पकड़कर बन्दी बनाना सर्वथा न्यायोचित समझते थे। दूसरी ओर सोफिस्टों का यह मत था कि स्वतन्त्रता प्रत्येक प्राणी का जन्मसिद्ध अधिकार है, दासों की व्यवस्था समाज में नहीं होनी चाहिए। किन्तु यदि इसका उन्मूलन कर दिया जाता तो समूची यूनानी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती। उस समय मशीनों के अभाव में सामुद्रिक और औद्योगिक राज्यों में आर्थिक उत्पादन का सारा कार्य दास करते थे। पहले बताया जा चुका है कि इनकी संख्या कोरिन्थ में 4,60,000, एजिना (Aegina) में 4,70,000 तथा एट्टिका में 309 ई० पू० की जनगणना के अनुसार चार लाख थी। इन दासों के श्रम के कारण ही नागरिकों को अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास का तथा शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर मिलता था। अतः अरस्तू इस प्रथा के समूलोन्मूलन के पक्ष में नहीं था। फिर भी उसने युद्धों द्वारा दास बनाने की प्रथा का विरोध किया, इसी तरह कानूनी (Legal) अथवा परम्परागत दास-प्रथा का विरोध किया और इसे केवल नैतिक आधार पर ही न्यायोचित ठहराया, क्योंकि उसकी दृष्टि में विवेकशून्य दास अपने स्वामी का वशवर्ती रहने से उसके नैतिक गुणों और योग्यताओं से लाभ उठाता है।

(3) सम्पत्ति और परिवार

इन्हें अरस्तू मानव-समाज के लिए आवश्यक संस्थाएँ मानता है। प्लेटो राज्य के संरक्षकों के लिए इनका उन्मूलन करना चाहता है, किन्तु अरस्तू इसका घोर विरोधी है। उसके इस विरोध को देखने से पहले सम्पत्ति के विषय में अरस्तू के विचार जान लेने चाहिएँ। उसने पालिटिक्स की प्रथम पुस्तक के 8वें से 11वें अध्याय तक इस विषय का विशद विवेचन किया है। उसके मतानुसार सम्पत्ति का उद्देश्य जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करना है। ये आवश्यकताएँ निम्न प्रकार की वृत्तियों से पूरी की जाती हैं—पशुपालन, शिकार, डकैती, मछलियाँ पकड़ना, खेती और व्यापार। मनुष्यों की सबसे अधिक संख्या अपनी जीविका कृषि से प्राप्त करती है। इसे अरस्तू सर्वश्रेष्ठ मानता है। वह धनोपार्जन के दो स्वरूप मानता है—प्राकृतिक और अप्राकृतिक। प्राकृतिक स्वरूप का अर्थ है मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला धनोपार्जन। उसके मत में सम्पत्ति "**उन साधनों** (Instruments) **के समूह का नाम है, जिनका घर या राज्य में प्रयोग होता है।**" सम्पत्ति साधन है, उसका उद्देश्य आवश्यकताएँ पूरी करना

1. बार्कर—दी पोलिटिकल थाट ऑफ प्लेटो एण्ड अरिस्टटाल (1906), पृ० 366.

है, अतः उसका उत्पादन उसी सीमित मात्रा तक होना चाहिए जहाँ तक हमारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, क्योंकि साधन का स्वरूप सदैव इसके कार्यों से सीमित होता है। उदाहरणार्थ, हथौड़ा लोहा कूटने-पीटने का एक साधन है, उसे अपना कार्य ठीक तरह करने के लिए भारी होना चाहिए; किन्तु उसी सीमा तक भारी होना चाहिए, जहाँ तक वह अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सके। यही दशा सम्पत्ति की है, वह उसी सीमा तक होनी चाहिए, जहाँ तक वह हमारी आवश्यकताएँ पूरी कर सके। यही प्राकृतिक धनोपार्जन है। किन्तु जब इसमें सीमा का कोई विचार नहीं रखा जाता, तब सम्पत्ति साधन नहीं, किन्तु साध्य बन जाती है। यह प्रवृत्ति विनिमय के साथ शुरू होती है, मुद्रा का प्रचलन होने पर व्यापार की वृद्धि के साथ बढ़ने लगती है। अरस्तू व्यापार को उसी हद तक अच्छा मानता है, जहाँ तक इसका लक्ष्य जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का प्राप्त कराना है। किन्तु जब इसका लक्ष्य केवल धन कमाना और अपरिमित सम्पत्ति का संग्रह करना हो तो यह नितान्त अप्राकृतिक और निन्दनीय हो जाता है। सूदखोरी को वह इसी दृष्टि से जघन्य मानता है, क्योंकि इसमें रुपये द्वारा अपनी आवश्यकता पूरी नहीं की जाती है, किन्तु दूसरे की बेबसी और गरीबी का लाभ उठाते हुए पैसे द्वारा अधिक पैसे को पैदा किया जाता है। अरस्तू के शब्दों में, "वित्तोपार्जन का सबसे अधिक घृणित उपाय सूद लेना है और इसका घृणिततम होना नितान्त युक्तिसंगत है, क्योंकि इसमें मुद्रा का उपयोग करने वाली विनिमय की पद्धति से लाभ कमाने के स्थान पर स्वयं मुद्रा से ही लाभ प्राप्त किया जाता है। मुद्रा का प्रचलन विनिमय के साधन के रूप में हुआ था, न कि सूद के द्वारा धन बढ़ाए जाने के लिए।...अतएव धन कमाने के उपायों में सूद लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक उपाय है।"[1]

डानिंग ने अरस्तू के सम्पत्तिविषयक विचारों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है[2] कि उसने उत्पादन और विनिमय के आरम्भिक विचारों को स्पष्टता के साथ रखा है, मुद्रा के प्रधान प्रयोजन का वर्णन बड़े सुन्दर रूप में किया है, किन्तु वह पूँजी के महत्त्व को नहीं समझ सका, अतः सूद के सम्बन्ध में उसका विचार बड़ा बेहूदा है। इसके साथ ही उसका दूसरा दोष डकैती को जीविकोपार्जन की स्वाभाविक वृत्ति मानना है। इसका मुख्य कारण **प्रकृति** (Nature) शब्द के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति है। अरस्तू राजनीतिशास्त्र के आरम्भ (1/2/8) में इसका प्रयोग बड़े सुनिश्चित अर्थ से करता है —यह सब योग्यताओं के पूर्ण विकास की स्थिति है (A condition of perfect development of all potentialities); किन्तु पहली पुस्तक के अन्त में वह इसका प्रयोग एक आरम्भिक अविकसित दशा के लिए करता है। एक ओर उसने मनुष्य को प्रकृति से राजनीतिक प्राणी कहा है क्योंकि उसकी योग्यताओं का पूर्णतम विकास राज्य में सम्भव है, दूसरी ओर वह डकैती को वित्तोपार्जन का प्राकृतिक उपाय इसलिए कहता है कि यह प्राकृतिक अर्थात् अविकसित और जंगली जातियों में पाया जाता है।

सम्पत्ति के उत्पादन और विनिमय के अतिरिक्त उसने वितरण के सम्बन्ध में भी सुन्दर विवेचन किया है। वस्तुतः समाज में धन के दूषित वितरण ने ही आर्थिक

1. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० 115.
2. डनिंग—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, खं० 1, पृ० 61.

विषमता, धनी-निर्धन का भेद, भीषण असन्तोष और साम्यवाद आदि क्रान्तिकारी विचारधाराओं को उत्पन्न किया है। इसके सम्बन्ध में अरस्तू ने(पालिटिक्स 2/5) तीन प्रकार की वैकल्पिक व्यवस्थाओं का वर्णन किया है—(1) भूसम्पत्ति **वैयक्तिक** हो किन्तु इसका उपभोग **सामूहिक** हो, सब लोग इसका समान रूप से उपयोग कर सकें। (2) सम्पत्ति **सामूहिक** हो, पर इसका उपभोग **वैयक्तिक** हो। (3) सम्पत्ति **सामूहिक** हो, इसका उपभोग भी **सामूहिक** हो। अरस्तू इन तीनों में से पहले विकल्प के पक्ष में है। वह प्लेटो की सम्पत्ति को सामूहिक बनाने की साम्यवादी व्यवस्था का उग्र विरोधी है; आगे इसका उल्लेख होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह सम्पत्ति को वैयक्तिक रखते हुए इसका उपयोग समाज की भलाई के लिए करना चाहता है।[1] उसका सिद्धान्त है—व्यक्तौ स्वाम्यं, भोगे साम्यम्। उसके मतानुसार धनियों को अपना धन सार्वजनिक कार्यों में लगाना चाहिए, उनके पुस्तकालय, चित्रशालाएँ उद्यान साधारण जनता के लिए खुले होने चाहिएँ।

रॉस[2] के शब्दों में अरस्तू इस दृष्टि से साम्यवादी (Socialist) है कि राज्य उद्योगधन्धों का अधिक अच्छा संगठन सार्वजनिक हित की दृष्टि से करे, क्योंकि वह व्यष्टिवाद (Individualism) की मुक्तद्वार नीति (Laissez faire) का विरोधी है। पहले बताया जा चुका है कि उसकी दृष्टि में राज्य का कार्य नागरिकों को सद्गुणी बनाना तथा उनकी भलाई का भावात्मक कार्य करना है, न कि उन्हें मनमाना कार्य करने की खुली छुट देना है। किन्तु इस अर्थ में व्यष्टिवादी न होते हुए भी अरस्तू इस दृष्टि से व्यष्टिवादी है कि वह वैयक्तिक सम्पत्ति को आवश्यक समझता है और इसका उच्छेद नहीं करना चाहता।

अरस्तू वैयक्तिक सम्पत्ति को बनाए रखने के पक्ष में वर्त्तमान पूंजीवादियों का यह प्रधान तर्क उपस्थित नहीं करता हैं कि यदि मनुष्यों को अपने परिश्रम से कमायी सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार दिया जाएगा तो वे इसे बढ़ाने की लालसा से अधिक परिश्रम करेंगे, किन्तु यदि इसका लाभ सार्वजनिक कोष में जाना हो तो उनका उत्साह मन्द पड़ जाएगा, वे अधिक परिश्रम नहीं करेंगे। अरस्तू को यह तर्क स्वीकार नहीं है, क्योंकि वह जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित धन से अधिक द्रव्य की प्राप्ति निन्दनीय समझता है। वैयक्तिक सम्पत्ति को बनाए रखने के पक्ष में उसका सबसे बड़ा तर्क यह है कि यह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक तथा स्वाभाविक है। यह उसे आनन्द प्रदान करती है, उसमें परोपकार, दया, दाक्षिण्य, उदारता आदि सद्गुणों का विकास करती है। परिवार का भी वह इसी आधार पर समर्थन करता है और इसीलिए वह प्लेटो के साम्यवाद का विरोधी है।

(4) अरस्तू द्वारा प्लेटो के आदर्श राज्य की आलोचना

उपर्युक्त कारणों से वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार का समर्थक होने के कारण अरस्तू ने इसकी अवहेलना करने वाले अपने गुरु प्लेटो के आदर्श राज्य की

---

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ॰ 49.
2. रॉस—अरिस्टाटल, पृ॰ 245-46.

आलोचना की है। यह आलोचना मुख्य रूप से तीन सिद्धान्तों की है—(क) राज्य की एकता, (ख) साम्यवादी परिवार की प्रथा का अन्त करना, (ग) वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना।

(क) **राज्य की एकता** के बारे में प्लेटो का यह मत था कि वह जितनी अधिक होगी, राज्य उतना सुदृढ़ होगा। किन्तु अरस्तू का यह कहना है कि राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति है। ये आवश्यकताएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं, अतः इनकी पूर्ति के लिए राज्य में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का रहना आवश्यक होता है। अतः राज्य का स्वरूप एकता (Unity) का नहीं, किन्तु बहुत्व (Plurality) का है। यदि राज्य में पूर्णरूप से एकता स्थापित की जाएगी तो राज्य की विभिन्नता का विनाश हो जाएगा, वह न तो आत्मनिर्भर होगा और न अपने सदस्यों की आवश्यकताएँ पूरी कर सकेगा। एकता को अत्यधिक बढ़ाने से इस बात की सम्भावना है कि बहुत्व के आधार पर प्रतिष्ठित, विविध आवश्यकताओं को पूरा करने वाले राज्य के अस्तित्व का ही अन्त हो जाए।

(ख) **वैयक्तिक परिवार को समाप्त करने की प्लेटो की योजना की आलोचना**—पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो वैयक्तिक परिवार को स्वार्थपरता का मूल मानते हुए इसका उच्छेद करके दार्शनिक शासकों का स्त्रियों पर ऐसा सामूहिक स्वत्व स्थापित करना चाहता है, जिसमें बच्चे राज्य द्वारा पाले जाएँ और अवस्थानुसार एक आयु के सभी पुरुष और स्त्रियाँ उनके माता-पिता, भाई-बहन समझे जाएँ। अरस्तू निम्न कारणों के आधार पर इसकी आलोचना करता है[1]—(1) परिवार मानव-समाज की प्राकृतिक, स्वाभाविक और आवश्यक व्यवस्था है। राज्य का मूल बीज रूप में परिवार में ही निहित है। पहले बताया जा चुका है कि आरम्भ में परिवार था, परिवारों के समूह से ग्राम बना और ग्रामों के समूह से राज्य। राज्य प्लेटो की दृष्टि में व्यक्तियों का समूह है, किन्तु अरस्तू इसे परिवारों का समूह मानता है। जिस परिवार-संस्था से राज्य का निर्माण होता है उसका राज्य से कैसे लोप हो सकता है। (2) मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए जिस प्रकार सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, वैसे ही परिवार भी आवश्यक है। (3) परिवार नैतिक गुणों के विकास की दृष्टि से आवश्यक है। इसमें व्यक्ति उदारता, स्वार्थ-त्याग, परोपकार, संयम आदि के सद्गुणों का विकास करता है। बच्चे और दास इसी में रहते हुए अपना समुचित विकास करते हैं और समाज के उपयोगी अंग बनते हैं। (4) प्लेटो यह समझता है कि राज्य जब विशाल परिवार बनेगा तभी उसमें 'मेरे-तेरे' के सब झगड़े मिट जाएँगे, राज्य-वासियों में प्रेम बढ़ेगा। इस समय विशेष स्त्री-पुरुष विशिष्ट बच्चों के माता-पिता हैं, वैयक्तिक परिवार न रहने पर सब छोटे बच्चे राज्य की बड़ी आयु के व्यक्तियों के पुत्र समझे जाएँगे। अरस्तू ने इस व्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हुए कहा है कि इस प्रकार अनेक व्यक्तियों की सन्तान होने पर पुत्र को वह प्रेम और संरक्षण नहीं मिलेगा, जो आजकल वैयक्तिक परिवार में बच्चे को अपने माँ-बाप से मिलता है। प्रेम का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है, उसकी गहराई तथा प्रगाढ़ता की

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ॰ 40-45.

मात्रा उतनी ही कम हो जाती है । जो सब का बच्चा होता है, वह किसी से भी अधिक स्नेह प्राप्त नहीं कर सकता । प्लेटो की व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक के हजार बच्चे होंगे, और प्रत्येक बच्चे के हजार पिता होंगे । इनमें कभी वैसा प्रेम नहीं हो सकता जैसा वैयक्तिक परिवार के माता-पिता में होता है । अरस्तू ने इस स्थिति पर क्रूर व्यंग्य करते हुए लिखा है—"प्लेटो की पद्धति के अनुसार किसी का पुत्र होने की अपेक्षा किसी व्यक्ति का वास्तविक चचेरा भाई होना अधिक अच्छा है ।"[1] क्योंकि इसे औरस सन्तान न होने पर भी परिवार में जितना स्नेह, दुलार, संरक्षण और सुरक्षा प्राप्त होती है, उतनी प्लेटो के बेटे को कभी नहीं मिल सकती । अरस्तू के मतानुसार राज्य की शिशुशालाएँ और धाएँ, मां-बाप और परिवार का स्थान नहीं ले सकती ।

(ग) **आर्थिक साम्यवाद की आलोचना**—प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना में अरस्तू ने निम्नलिखित तर्क दिए हैं[2]—(1) सम्पत्ति के सामूहिक होने की व्यवस्था में जो व्यक्ति कठोर परिश्रम करने वाले होंगे, उन्हें यह शिकायत होगी कि उन्हें अपने परिश्रम के अनुपात में कम प्रतिफल मिलता है और कम परिश्रम करने वालों को अधिक प्रतिफल मिलता है। (2) मनुष्य तभी अधिक क्षमता, परिश्रम, तन्मयता तथा अभिरुचि के साथ कार्य करते हैं, जब उन्हें वैयक्तिक लाभ की प्राप्ति की सम्भावना होती है । सामूहिक लाभ की दृष्टि से किए जाने वाले कार्यों में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं होती, वे इसके लिए कोई परिश्रम नहीं करना चाहते है। (3) सामूहिक सम्पत्ति और सामूहिक उपभोग सब प्रकार के झगड़ों की जड़ होते हैं। यह कहावत प्रसिद्ध है कि सांझे की हंडिया चौराहे पर ही फूट जाती है। (4) वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य को बड़ा आनन्द और गर्व प्रदान करती है । (5) वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण समाज में जो झगड़े उत्पन्न होते हैं, उनका कारण सम्पत्ति का वैयक्तिक होना नहीं, किन्तु मानवीय प्रकृति की दुष्टता है । शिक्षा द्वारा यदि मानवीय प्रकृति को सुधार दिया जाए तो ये झगड़े उत्पन्न नहीं होंगे। (6) प्लेटो यदि साम्यवाद को अच्छा समझता है तो वह इसे राज्य के शासक और सैनिक वर्ग तक ही क्यों सीमित करता है । इसे उत्पादक एवं कृषक वर्ग पर क्यों नहीं लागू करता ? (7) वैयक्तिक सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले आनन्द से शासक वर्ग को वंचित रखना अनुचित और अन्यायपूर्ण है । जब दूसरे वर्ग उससे आनन्द प्राप्त कर रहे हों, तो राज्य को सुखी बनाने के नाम पर उनसे अपने सुख का बलिदान कराना ठीक नहीं है। (8) इतिहास और मानव-जाति का पुराना अनुभव प्लेटो के साम्यवाद का पोषक नहीं है । यदि इस सिद्धान्त में कुछ अच्छाई होती तो यह व्यवस्था इतिहास में कहीं-कहीं अवश्य पाई जाती ।

अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद के विरुद्ध दिए तर्कों का सारांश यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का साधन है, उसके आनन्द का स्रोत है और उसे अनेक उत्तम एवं नैतिक कार्य करने का अवसर प्रदान करती है । प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता तथा योग्यताओं का विकास करने के लिए कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति अवश्य मिलनी चाहिए, यदि उसे यह न दी जाए तो उसका विकास अवरुद्ध होगा तथा अन्ततोगत्वा इससे राज्य को हानि उठानी पड़ेगी। यदि वैयक्तिक सम्पत्ति

1. पालिटिक्स 2/3, बार्कर की पालिटिक्स, पृ० 45.
2. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 48-55.

झगड़े पैदा करती है तो इसका कारण मानवीय प्रकृति में स्वार्थपरता का बद्धमूल होना है। राज्य को शिक्षा द्वारा इस स्वार्थ बुद्धि का सुधार करना चाहिए, न कि उपर्युक्त लाभ पहुँचाने वाली वैयक्तिक सम्पत्ति का ही अन्त करना चाहिए।

अरस्तू की इस आलोचना में कई दोष हैं : **पहला** दोष यह है कि अरस्तू यह मानकर चलता है कि प्लेटो का साम्यवाद सब लोगों के लिए है, वस्तुतः वह केवल सैनिक और शासक वर्ग तक ही सीमित है। **दूसरा** दोष यह है कि अरस्तू का यह कथन ठीक नहीं कि साम्यवाद की व्यवस्था इतिहास में पहले कभी नहीं प्रचलित नहीं रही। पहले इसके प्रचलन के कुछ उदाहरण दिए जा चुके हैं। **तीसरा** दोष अरस्तू द्वारा साम्यवाद को अत्यधिक महत्त्व देना है। वस्तुतः प्लेटो मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए शिक्षा की आदर्श व्यवस्था प्रस्तुत करता है, दार्शनिक शासकों को पचास वर्ष तक दी जाने वाली शिक्षा द्वारा ही उनके नैतिक अधःपतन को रोकना चाहता है। शिक्षा इसकी मुख्य महौषधि है और साम्यवाद पूरक अथवा आनुषंगिक औषधि। अरस्तू ने इसे गलती से मुख्य मान लिया है। ऐसी गलतियों को ध्यान में रखते हुए प्लेटो तथा अरस्तू के ग्रन्थों के प्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवादक जोवेट (Jowett) ने लिखा है कि "प्लेटो की रिपब्लिक तथा लाज़ पर अरस्तू की आलोचनाएँ भ्रान्तियों तथा असंगतियों से भरी हुई हैं।"

अरस्तू ने प्लेटो के आदर्श राज्य की इस दृष्टि से भी आलोचना की है कि उसमें संरक्षकों तथा सैनिकों के अतिरिक्त तीसरे उत्पादक वर्ग की घोर उपेक्षा की गई है, उनके लिए कोई शिक्षा-पद्धति निश्चित नहीं की गई है, राज्य में उनकी स्थिति पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। क्या प्लेटो के इस वर्गीकरण से राज्य दो विरोधी दलों में नहीं बंट जाएगा? किन्तु यह आलोचना अरस्तू पर भी लागू होती है, क्योंकि उसने अपना राज्य नागरिक तथा अनागरिक नामक दो वर्गों में बाँट दिया है।

(5) नागरिकता (Polities)

राज्य (Polis) नागरिकों (Politai) का समुदाय (Koinonia) है। किन्तु नागरिक किसे कहते हैं? अरस्तू ने अपनी विश्लेषण पद्धति द्वारा इसका उत्तर पालिटिक्स की तृतीय पुस्तक में दिया है : पहले उसने इस विषय में तीन मतों का खण्डन किया है : (क) नागरिकता (पोलीतीस) किसी विशेष राज्य या स्थान में निवास से नहीं मिल सकती, यदि ऐसा होता तो किसी राज्य में रहने वाले विदेशी व्यापारी और दास भी उसके नागरिक समझे जाते। (ख) किसी पर अभियोग चलाने का अधिकार रखने वाले व्यक्ति भी नागरिक नहीं कहला सकते क्योंकि सन्धि द्वारा यह अधिकार विदेशियों को भी दिया जा सकता है। (ग) नागरिक की सन्तान होने से भी कोई व्यक्ति नागरिक नहीं बन जाता है।[1] क्योंकि यह लक्षण पुराने राज्यों के विषय में तो ठीक हो सकता है, किन्तु नये राज्यों के आरम्भिक नागरिकों पर लागू नहीं हो सकता। अतः नागरिकता का निर्धारण निवास, कानूनी अधिकार या जन्म द्वारा नहीं होता है। अरस्तू के मतानुसार वह व्यक्ति नागरिक है जो **"स्थायी रूप से न्याय के प्रशासन में तथा राजकीय पदों के ग्रहण करने में भाग लेता है।"** लोकतन्त्र के लिए वह इस लक्षण को कुछ अधिक स्पष्ट बनाते हुए कहता है कि वह व्यक्ति नागरिक है, जो राज्य के न्याय

1. **बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 96.**

सम्बन्धी तथा (कानून पर) विचार सम्बन्धी कार्यों में कुछ समय के लिए भाग लेता है।

अरस्तू की यह परिभाषा यूनानी राज्यों की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार है। उदाहरणार्थ, एथेन्स में शासन सम्बन्धी मामलों पर विचार करने के लिए इक्लेसिया (Ecclesia) नामक सभा होती थी और 18 वर्ष का वयस्क नागरिक इसका सदस्य होता था, तथा न्याय कार्य के लिए 30 वर्ष की या इससे अधिक अवस्था वाले नागरिकों की हेलिया (Heliaea) नामक सभा होती थी। अरस्तू के मतानुसार इन दोनों सभाओं के कार्यों में भाग लेने वाला, न्याय और शासन में प्रत्यक्ष भाग लेने वाला व्यक्ति ही नागरिक कहला सकता है। अरस्तू के नागरिक का विचार वर्तमान विचार से बहुत भिन्न है। उसका नागरिक वर्त्तमान नागरिक की भाँति चुनाव के समय वोट डालने वाला नहीं है; किन्तु शासन के कार्यों में वास्तविक भाग लेने वाला, बारी-बारी से शासक तथा शासित बनने वाला, न्याय और कानून निर्माण के कार्यों में भाग लेने वाला व्यक्ति है। ऐसा भाग वही व्यक्ति ले सकते हैं, जिनके पास पर्याप्त अवकाश हो, जिन्हें धनोपार्जन के कार्यों में व्यस्त न रहना पड़ता हो। यूनानी नगर-राज्य में सब आर्थिक कार्य दासों या विदेशियों द्वारा होने के कारण नागरिक निश्चिन्त होकर शासन-कार्य में पूरा समय दे सकते थे।

नागरिकता के सम्बन्ध में शासन और न्याय के कार्यों में वास्तविक भाग लेने का ऊँचा आदर्श रखने के कारण अरस्तू ने इन कार्यों को न कर सकने वाले व्यक्तियों को नागरिकता से वंचित कर दिया है। इसलिए उसने कारीगरों और मजदूरों को नागरिक नहीं माना, क्योंकि इनमें न तो शासन करने की योग्यता होती है और न ही इनके पास इसके लिए समय होता है।[1] उसके शब्दों में, "कारीगर का जीवन साधुता (Virtue) के अभ्यास के लिए उपयुक्त नहीं होता है।" इसके दो कारण हैं: पहला कारण तो अवकाश का न होना है। दूसरा कारण अरस्तू का यह विश्वास है कि शारीरिक परिश्रम आत्मा को अनुदार तथा उत्तम गुणों के लिए अनुपयुक्त बनाता है। इस प्रकार उसने राज्य के बहुसंख्यक समूचे श्रमजीवीवर्ग को नागरिकता के अधिकार से वंचित कर दिया है।

अरस्तू की नागरिकता के उपर्युक्त लक्षण में कई गम्भीर दोष हैं: **पहला** दोष इसका वर्त्तमान युग की दृष्टि से अतीव अनुदार और अभिजाततन्त्रीय (Aristocratic) होना है। यह परिभाषा यूनानियों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र वाले छोटे राज्यों के लिए बनाई गई थी, वर्त्तमान समय के प्रतिनिधि-सत्तात्मक विशाल राज्यों पर यह लागू नहीं हो सकती। **दूसरा** दोष इस लक्षण की अव्याप्ति का है। यह केवल उन्हीं राज्यों में लागू हो सकता है, जहाँ शासन और न्याय के कार्य सभी नागरिक करते हों, वर्त्तमान राज्यों में ऐसा न होने से यह लक्षण इन पर लागू नहीं हो सकता है। **तीसरा** दोष रॉस के मतानुसार[2] यह है कि इससे अधिकांश जनता नागरिक अधिकारों से वंचित हो गई है।[3] किन्तु अरस्तू ने उन्हें केवल इन्हीं से वंचित नहीं किया, किन्तु राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग से उन पर पड़ने वाले शिक्षात्मक प्रभाव से भी वंचित कर दिया है। मताधिकारवंचित बहु-

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 107-110.
2. रॉस—अरिस्टाटल, पृ० 249.
3. वही, पृ० 247.

संख्यक कृषक, कारीगर और मजदूर असंतुष्ट होने पर राज्य के लिए प्रबल संकट उत्पन्न कर सकते हैं। **चौथा** दोष यह है कि अरस्तू के लक्षण से न केवल नगर-राज्य की अधिकांश जनता मताधिकार से वंचित हो जाती है, अपितु विदेशों में बसाए गए इसके उपनिवेशों की समूची जनता भी इस अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती, क्योंकि शासन-सत्ता तथा न्यायालयों की सदस्यता उपनिवेशों में रहने वाले व्यक्तियों तक विस्तीर्ण नहीं की जा सकती है। **पाँचवाँ** दोष यह है कि इनमें नागरिकता का अधिकार मुट्ठी-भर धनी व्यक्तियों को दे दिया गया है। वे सब कानूनों का निर्माण अपने वर्ग के हितों की दृष्टि से करेंगे, इसका दुष्परिणाम निर्धन वर्ग को भोगना पड़ेगा। राज्य का लक्ष्य अधिकांश व्यक्तियों का हित साधन है, यह तभी सम्भव है, जब इसमें अधिकतम व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो सके। अरस्तू की व्यवस्था में शासन-शक्ति अल्पसंख्यक नागरिकों तक सीमित होकर बहुसंख्यक जनता के शोषण का साधम बन सकती है।

इन दोषों के होते हुए भी अरस्तू का नागरिकता का विचार आधुनिक विचार की अपेक्षा अधिक उदात्त है। वह प्रत्येक नागरिक के लिए शासन में भाग लेना आवश्यक समझता है। यथार्थवादी होने के नाते वह यह मानता है कि नागरिकों के गुण शासन-प्रणाली द्वारा निश्चित होते हैं। लोकतन्त्र के उत्तम नागरिक के गुण अल्पतन्त्र (Oligarchy) के गुणों से भिन्न होते हैं।

6. कानून और न्याय का स्वरूप

प्लेटो ने आदर्श दार्शनिक शासक प्राप्त न होने की दशा में कानून (Nomos) को सर्वोच्च स्थान देते हुए **लाज** में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया था। अरस्तू ने भी इसे राज्य में महत्त्वपूर्ण मानते हुए इसके स्वरूप की मीमांसा की है। उसके मतानुसार कानून दो प्रकार का है—**विशेष** (Particular) और **सार्वभौम** (Universal)। विशेष कानून किसी विशेष राज्य के नागरिकों के लिए होता है, और लिखित तथा अलिखित रूप में दो भेदों वाला होता है। सार्वभौम कानून प्रकृति का नियम है। **प्राकृतिक कानून** का यह अभिप्राय है कि ये आचरण के ऐसे सामान्य सिद्धान्त हैं, जो बुद्धि द्वारा निश्चित किए गए हैं। न्याय्य एवं उचित नियमों के मौलिक सिद्धान्त सब कालों तथा सब देशों में समान रूप से सत्य होने के कारण शाश्वत और सार्वभौम (Eternal and Universal) होते हैं। बुद्धिसंगत होने के कारण ये सदैव पालनीय होते हैं। कानून वस्तुतः किसी जनता की सामूहिक (Collective) तथा परिपक्व बुद्धि और अनुभव का निचोड़ होते हैं, अतः नागरिकों को कानून का सदैव पालन करना चाहिए।

अरस्तू के मतानुसार कानून स्थायी तथा अपरिवर्तनशील होना चाहिए। आज-कल ब्रिटिश पार्लियामेंट को किसी भी व्यवस्था को वैध या अवैध बनाने का अधिकार है, वह कोई भी कानून बनाकर पुरानी व्यवस्थाओं को बदल सकती है। अरस्तू एथेन्स की तत्कालीन पार्लियामेंट इक्लेसिया (Ecclesia) को ऐसा कोई अधिकार नहीं देना चाहता था; उसका यह मत था कि यह अपनी राजाज्ञाओं (Decrees) द्वारा कानून में परिवर्तन करके एथेन्स को बहुत हानि पहुँचा रही है अतः वह कानून में मौलिक परिवर्तनों का विरोधी है।

कानून की सर्वोच्च सत्ता—कानून और सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध पर

प्रकाश डालते हुए अरस्तू ने यह कहा है कि राज्य में कानून को सर्वोच्च प्रभुता (Sovereignty of law) प्राप्त है। सरकार को इसे स्वीकार करना चाहिए और कानून के वश में रहना चाहिए। सरकार चाहे कुछ व्यक्तियों की हो या बहुसंख्या की, उसे स्वार्थ-हीन बनाए रखने के लिए कानून का शासन (Rule of law) अवश्य होना चाहिए। इससे शासन में व्यक्तियों का मनमानापन या स्वच्छन्दता नहीं आ सकती है। अरस्तू के सामने इस विषय में एथेन्स का उदाहरण था। एथेन्स के मैजिस्ट्रेट सदैव कानून के वश-वर्ती रहते थे क्योंकि वहाँ प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था कि वह कानून तोड़ने वाले मैजिस्ट्रेट पर अभियोग चला सके। यह अवैधता का अभियोग (Graphe paranomon) कहलाता था। इसकी नंगी तलवार सिर पर लटकने के कारण मैजिस्ट्रेटों को सदैव कानून का पालन करना पड़ता था और कानून की सर्वोच्च प्रभुता बनी रहती थी। अरस्तू ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है—"**ठीक प्रकार से बनाए गए कानून ही अन्तिम प्रभु** (Final sovereign) **होने चाहिएँ**। प्रत्येक व्यक्ति का या कुछ व्यक्तियों का शासन केवल उन्हीं विषयों में सर्वोच्च होना चाहिए, जिनमें कानून ने कोई स्पष्ट घोषणा न की हो।"[1] उसके मतानुसार, "व्यक्ति के शासन की तुलना से विधि (Law) का शासन श्रेयस्कर है, क्योंकि विधि ऐसा विवेक (Reasons) है, जिस पर व्यक्ति की इच्छा का प्रभाव नहीं पड़ता है।"[2]

इससे यह स्पष्ट है कि कानून के अस्पष्ट या अधूरा होने की दशा में ही अरस्तू शासकों को अपनी इच्छानुसार शासन का अधिकार देता है। सामान्यतः वह कानून के शासन को सर्वोच्च स्थान देता है। यह सम्भव है कि कानून के कठोर शासन से कुछ अन्याय हो, किन्तु यह व्यक्ति की निरंकुश और स्वच्छन्द इच्छा से होने वाले अन्याय से कम होगा[2] क्योंकि कानून की यह विशेषता है कि यह मानवीय राग-द्वेष की वासनाओं के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। उसके शब्दों में, "कानून का शासन केवल भगवान और बुद्धि का शासन है, किन्तु मनुष्य के शासन में कुछ अंशों में पशु (पाशविक भावनाओं) का भी शासन है।" कानून सब प्रकार की वासना (Passion) से रहित विवेक है। पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन को अरस्तू की सबसे बड़ी देन सम्भवतः कानून की प्रभु-सत्ता का विचार है।[3]

न्याय—प्लेटो के समान अरस्तू भी न्याय (Dikaiosyne) को राज्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है किन्तु दोनों के न्याय के स्वरूप में कुछ भिन्नता है। अरस्तू न्याय को समस्त सद्गुणों का समूह मानता है। प्रत्येक व्यक्ति के न्यायप्रिय होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे। वह न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इसके दो भेद करता है: **पहला भेद** सामान्य न्याय (General justice) है। इससे उसका आशय पड़ोसी के प्रति किए जाने वाले भलाई के सभी कार्यों से है। अच्छाई के सब कामों—सभी सद्गुणों (Virtues) तथा समग्र साधुता (Righteousness) को ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है। **दूसरा भेद** विशेष न्याय (Particular justice) है। इसका सम्बन्ध भलाई

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 127.
2. वही, पृ० 146.

के विशेष रूपों से है, जिसके आधार पर हम दूसरों के साथ न्यायोचित (Fair) व्यवहार करते हैं। दूसरे भेद को अरस्तू पुनः दो उपभेदों में बाँटता है। ये अग्रलिखित हैं—

(क) **वितरणात्मक न्याय** (Distributive Justice)—इसका अर्थ यह है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों और पुरस्कारों का बँटवारा या वितरण न्यायपूर्ण रीति से करे। एथेन्स जैसे यूनानी नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र होने के कारण न केवल राजकीय पद और सम्मान नागरिकों में वितरित किए जाते थे, किन्तु असेम्बली तथा न्यायालयों में भाग लेने के लिए निश्चित धनराशि (Misthos)—कई बार द्रव्य की तथा अन्न की राशि भी नागरिकों में वितरित की जाती थी। इसका विषम वितरण अर्थात् किसी वर्ग-विशेष को ही राजकीय पदों का दिया जाना राज्य में गम्भीर दोष उत्पन्न कर सकता था। अतः अरस्तू इन्हें आनुपातिक समानता (Proportionate equality) के आधार पर वितरित करना चाहता है और इसी को वितरणात्मक न्याय कहता है।

सब नागरिकों को राजकीय पद समान रूप से दिया जाना अरस्तू की दृष्टि में न्यायपूर्ण नहीं है। वह प्रत्येक व्यक्ति को ये पद और पुरस्कार उस मात्रा के अनुपात में देना चाहता है, जिस मात्रा में उसने अपनी योग्यता और धन से राज्य को लाभ पहुँचाया हो। बार्कर[1] ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ए तथा बी नामक दो व्यक्ति राज्य के कल्याण के लिए उसे अपनी वैयक्तिक योग्यता और वैयक्तिक धनराशि का दत्तांश (Contribution) देते हैं और उसके बदले में राज्य से पद और सम्मान प्राप्त करते हैं। यदि इन दोनों की वैयक्तिक योग्यता और धनराशि समान है तो उन्हें पद तथा सम्मान बराबर मात्रा में मिलने चाहिएँ, यदि उनके दत्तांश की मात्रा बराबर नहीं है तो उन्हें पद और सम्मान समान मात्रा में नहीं मिलेंगे। दोनों अवस्थाओं में आनुपातिक समानता के सिद्धान्त का पालन किया जाएगा, ए के राज्य के प्रति कार्य तथा उसे राज्य से मिलने वाले पदों के बीच में वही अनुपात होगा, जो बी के राज्य के प्रति कार्यों तथा उसे राज्य से मिलने वाले पदों के मध्य में है। वितरणात्मक न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसके राज्य के प्रति किए गए कार्यों के समानुपात में राजकीय पदों का प्रतिफल प्रदान करता है। यह न्यायपूर्ण व्यवस्था समाज में संघर्ष और कलह की मात्रा कम करने वाली है।

(क) **संशोधनात्मक न्याय** (Rectificatory Justice)—यह वितरणात्मक न्याय की भाँति राज्य और उसके नागरिकों के सम्बन्ध को नहीं, किन्तु एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध को नियन्त्रित करता है। राज्य के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार में उत्पन्न होने वाले दोषों को ठीक करके उनका संशोधन करता है। ये व्यवहार ऐच्छिक और अनैच्छिक रूप से दो प्रकार के होते हैं: ऐच्छिक व्यवहारों का उदाहरण विभिन्न प्रकार के समझौते तथा संविदाएँ (Contracts) हैं। जब कोई पक्ष संविदा की कोई शर्त्त तोड़ता है तो राज्य दूसरे पक्ष के साथ इस प्रकार होने वाले अन्याय का अपने न्यायालयों द्वारा संशोधन करता है। अनैच्छिक व्यवहारों में सहमति का कोई तत्त्व नहीं होता, इनमें जब एक नागरिक दूसरे को कोई हानि पहुँचाता है तो

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 120-121.

राज्य हानि उठाने वाले नागरिक की भरपाई करवाके उसके साथ न्याय कराता है। इस समय न्याय का प्रधान रूप से यही अर्थ समझा जाता है।

(ग) **प्लेटो से तुलना**—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्लेटो तथा अरस्तू के न्याय के विचार में कई भेद हैं : **पहला** भेद यह है कि प्लेटो के मतानुसार न्याय का अर्थ है व्यक्तियों द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार राज्य में अपने निश्चित कार्य करना। किन्तु अरस्तू के वितरणात्मक न्याय का अर्थ है राज्य को प्रदान की गई अपनी वैयक्तिक योग्यता और धनराशि के आधार पर उससे पद ग्रहण करना। **दूसरा** भेद यह है कि प्लेटो के न्याय का विचार कर्त्तव्यमूलक है, वह राज्य की विभिन्न श्रेणियों के विविध प्रकार के कर्त्तव्य मानता है। किन्तु अरस्तू का विचार अधिकारमूलक है। वह राज्य के प्रति कार्यों की आनुपातिक समानता के आधार पर नागरिकों को पद और सम्मान प्रदान करता है। **तीसरा** भेद यह है कि अरस्तू के न्याय की कल्पना प्लेटो की कल्पना की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और विशद है। प्लेटो केवल न्याय के सामान्य रूप का वर्णन करता है, किन्तु अरस्तू उसके भेदों द्वारा उसके स्वरूप पर अधिक प्रकाश डालता है।

7. संविधान

(i) **संविधानों का वर्गीकरण** (Classification of Constitutions)—अरस्तू ने वैज्ञानिक शुद्धता के साथ राज्य और सरकार में भेद करते हुए विभिन्न संविधानों का सुन्दर वर्गीकरण किया है। राज्य नागरिकों का समुदाय है और सरकार उन नागरिकों का समूह है, जिनके हाथ में राजनीतिक शक्ति और शासन-संचालन का कार्य है। उच्च राजनीतिक पदों वाले व्यक्तियों में परिवर्त्तन आने के साथ सरकार में परिवर्त्तन आ जाता है। किन्तु राज्य में तभी परिवर्त्तन आता है, जब इसके संबिधान (Politeia) में परिवर्त्तन हो। संविधान राज्य की सर्वोच्च शक्ति की व्यवस्था करता है और यह बताता है कि यह शक्ति किसमें रहती है। अरस्तू के शब्दों में, "संविधान या पोलितेइया नगर के शासन के पदों और विशेषतया सबसे उच्च प्रभुपद (Sovereign) का संगठन है।" अतः संविधान का स्वरूप इस बात से निश्चित होता है कि उसमें अन्तिम शासन-सत्ता कहाँ रहती है। राज्य का निर्माण व्यक्तियों के कुछ सामान्य हितों की पूर्ति के लिए होता है, अतः वास्तविक अथवा सच्ची सरकार उसे ही कहना चाहिए, जहाँ जनता के सामान्य हितों की सिद्धि होती हो। जहाँ केवल शासकों की स्वार्थसिद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है, वे विकृत शासन या संविधान हैं। अतः अरस्तू ने विभिन्न संविधानों या शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है—(क) अन्तिम शासन-सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है—एक व्यक्ति में, कुछ व्यक्तियों में या सामान्य जनता में। (ख) शासन का उद्देश्य जनता के सामान्य हितों की रक्षा करना है या विशेष वर्गों के स्वार्थों की। यह इसकी कसौटी है कि अमुक शासन प्रकृत और विशुद्ध प्रकार का है या विकृत अथवा दूषित प्रकार का है। इन दो सिद्धान्तों के आधार पर अरस्तू ने विभिन्न शासन-प्रणालियों को छः भागों में अग्रलिखित रूप से बाँटा है—

सत्ता का स्थान	प्रकृत संविधान	विकृत संविधान
एकजन	राजतन्त्र या एकराट्तन्त्र (बसीलेइया)[1]	तानाशाही (तिरान्नी)
अल्पजन	अभिजाततन्त्र या श्रेष्ठजनतन्त्र (अरिस्तौक्रातिया)	अल्प या धनिकतन्त्र (आलिगार्किया)[2]
बहुजन	सर्वजनतन्त्र (पोलीतेइया)	प्रजातन्त्र (देमौक्रातिया)

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जब शासन-शक्ति एक व्यक्ति में निहित हो तो उसका प्रकृत या स्वाभाविक रूप राजतन्त्र (Monarchy) तथा विकृत रूप तानाशाही या निरंकुशतन्त्र (Tyranny) होता है। राजतन्त्र में राजा का लक्ष्य प्रजा की सामान्य भलाई होता है, यह आदर्श व्यवस्था है, इसमें शासक को सब सद्‌गुणों से युक्त होना चाहिए। यह शासन-प्रणाली सर्वोत्तम आदर्श होने पर भी क्रियात्मक नहीं है, क्योंकि ऐसा सर्वसद्‌गुणसम्पन्न शासक मिलना दुर्लभ है और यदि वह मिल जाए तो भी यह आवश्यक नहीं कि उसका उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार का गुणसम्पन्न व्यक्ति होगा। अतः राजतन्त्र विकृत होकर तानाशाही में परिणत हो जाता है, इसका लक्ष्य सार्वजनिक भलाई नहीं, किन्तु स्वार्थसिद्धि बन जाता है; इसमें शक्ति, धोखाधड़ी तथा स्वार्थलिप्सा का साम्राज्य होता है।

अरस्तू के मतानुसार राजतन्त्र के पाँच भेद हैं—(क) **स्पार्टा का राजतन्त्र**—इसमें राजा वंशानुक्रम से सदैव स्थायी सेनापति होता है, उसे धर्मविषयक मामलों में कुछ अधिकार रहते हैं, तथा सैनिक आक्रमण के अवसर को छोड़ कर प्रजाजनों को मृत्यु-दण्ड देने का अधिकार उसे नहीं होता है। (ख) **असभ्य जातियों का राजतन्त्र**—अरस्तू अपने जात्यभिमान के कारण यह मानता है कि बर्बर जातियाँ तथा एशियावासी जातियाँ योरोपियन लोगों की अपेक्षा अधिक दब्बू और दासवृत्तिपरायण (Servile) होती हैं।[3] ये राजाओं का तानाशाही शासन बिना किसी असन्तोष के सह लेती हैं। नियमानुमोदित, वैधानिक और वंशानुगत होने के कारण यह शासन स्थायी होता है। (ग) **एसुमनेतिया** (Aisumnetia) **या अधिनायकतन्त्र** (Dictatorship)—यह तानाशाही का निर्वाचित प्रकार है। जनता राज्य पर कोई संकट आने पर निश्चित अवधि के लिए या जीवन-भर के लिए अधिनायकों को शासक चुनती थी, जैसे लेस्बोस टापू के मुख्य नगर मितीलीन के निवासियों ने निर्वासित जनों के आक्रमण का सामना करने के लिए पित्ताकस (Pittacus) को अधिनायक चुना था। ये अनियन्त्रित शक्तिसम्पन्न होने के कारण तानाशाह और निर्वाचित एवं प्रजा की सम्मति के अनुकूल होने के कारण राजा हैं। (घ) चौथा प्रकार **वीरता के युग** (Heroic Age) **का राजतन्त्र** है। यह वैधानिक, जनसम्मति पर आश्रित और वंशानुगत होता है। इसमें राजवंश को आरम्भ करने वाला आदि पुरुष अपनी योग्यता, शौर्य और जनहित के कार्य करने से प्रजा की सहमति से

1. कोष्ठों में इनके यूनानी भाषा के नाम हैं।

2. आलिगार्किया का शब्दार्थ है थोड़े से व्यक्तियों का शासन या अल्पतन्त्र। अरस्तू इसका प्रयोग थोड़े-से धनियों के शासन या धनिकतन्त्र के लिए करता है, अतः आगे इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।

3. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 138, पृ० 296.

राजा बनता है और राजपद उसके वंश में चलता रहता है। ऐसे राजा तीन प्रकार के कार्य– युद्धों में सेना की अध्यक्षता का, यज्ञों में प्रमुख पुरोहित का तथा अभियोगों के निर्णय का कार्य करते थे। (ङ) पाँचवें प्रकार के राजतन्त्र में **गृहपति पिता द्वारा** परिवार के प्रबन्ध की भांति राजा अपनी जाति पर सब विषयों में अधिकार रखने वाला पितृ-तुल्य शासक होता है।[1] राजतन्त्र के इन पाँचों प्रकारों में अरस्तू कानून के शासन (Rule of Law) को वैयक्तिक शासन से श्रेष्ठ समझता है। उसके मतानुसार आदर्श की दृष्टि से परिपूर्ण व्यक्ति द्वारा शासित राजतन्त्र में कानून का बन्धन भले ही आवश्यक न हो, किन्तु वास्तविक राज्यों (Actual States) के लिए यह बन्धन अवश्य होना चाहिए, क्योंकि शासन-कार्य में एक व्यक्ति योग्यता की दृष्टि से अनेक व्यक्तियों के समूह की तुलना नहीं कर सकता। इसके दो कारण हैं : पहला तो यह कि एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा भ्रष्टाचार जल्दी से प्रभावित होता है, दूसरा यह कि शासन-कार्य का भार एक व्यक्ति द्वारा उठाया जाना सम्भव नहीं है। अतः राजतन्त्र आदर्श की दृष्टि से असम्भव न होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से असम्भव है।

अभिजाततन्त्र कुछ कुलीन व्यक्तियों का सामान्य लोकहित के लिए शासन है, किन्तु यह भी देर तक नहीं रह पाता और दूषित होकर अल्पतन्त्र (Oligarchy) में परिणत हो जाता है। इसमें कुछ धनी व्यक्ति लोकहित के लिए नहीं, अपितु स्वार्थसिद्धि के लिए शासन करने लगते हैं। आलिगार्किया का शब्दार्थ तो कुछ थोड़े-से (आलिगिया =अल्प) व्यक्तियों का शासन है, किन्तु क्रियात्मक रूप से यह कुछ धनी व्यक्तियों का शासन होता है, अतः इसे धनिकतन्त्र भी कहा जाता है। **पोलितेइया** या सर्वजनतन्त्र का अर्थ सारी जनता का तथा सारी जनता के हित के लिए किया जाने वाला शासन है। किन्तु राज्य में निर्धनों की संख्या धनियों से अधिक होती है, अतः सर्वजनतन्त्र दूषित होकर प्रजातन्त्र (Democracy) में परिणत हो जाता है। अरस्तू के मतानुसार इसका अर्थ है केवल निर्धनों के हित के लिए जनता का शासन।

वर्गीकरण के अन्य आधार—अरस्तू का शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण यद्यपि मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर है कि शासन-सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है, किन्तु वह इस गाणितिक आधार (Arithmatical basis) के अतिरिक्त वर्गीकरण में अन्य अनेक आधार भी मानता है। इसमें **पहला** आधार आर्थिक (Economic basis) है। जनतन्त्र और धनिकतन्त्र (आलिगार्किया) क्रमशः निर्धनों और धनियों का शासन हैं। वर्गीकरण का **दूसरा** आधार विभिन्न प्रकार के मौलिक तत्त्व हैं, जनतन्त्र में समानता और स्वतन्त्रता के तत्त्व पर, अल्पतन्त्र में धन पर, अभिजात या कुलीनतन्त्र में गुणों पर तथा सर्वजनतन्त्र (Polity) में धन और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर बल दिया जाता है।

---

1. वार्कर—पालिटिक्स, पृ० 140। मिलाइए—कालिदास द्वारा दिलीप का वर्णन—स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।। रघुवंश 1।24। कौटिल्य ने (जनपद निवेश 2/1) में पितृवाद (Paternalism) के इस विचार का समर्थन करते हुए कहा है—राजा प्रजा पर पिता की भांति अनुग्रह करे (तान् पितेवानुगृह्णीयात्, मि० 4/3 सर्वत्र चोपहतान् पितेवानुग्रह्णीयात्)। अशोक ने अपने शिलालेखों में प्रजा को अपनी सन्तान बताते हुए कहा है कि उसके प्रजा के प्रति वैसे ही कर्त्तव्य हैं, जैसे अपनी सन्तान के प्रति (सबे मुनिसे प्रजा ममा,···अथा पजाये इच्छामि इकं···मुनिसेपि इच्छामि हकम्।)

वर्गीकरण का **तीसरा** आधार शासन-सम्बन्धी कार्य-प्रणाली है। अरस्तू शासन के तीन अंग मानता है—(1) विचारात्मक अंग (Deliberative organ), (2) शासक पदों की पद्धति (System of Magistracy), (3) न्याय-पालिका (Judicial organ)। शासन-सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के लिए असेम्बली के तथा प्रमुख शासन पदों पर न्यायाधीश के पदों पर नियत किए जाने वाले व्यक्तियों को चुनने के अनेक प्रकार हो सकते हैं। इन्हें सब नागरिकों द्वारा मतदान प्रणाली द्वारा चुना जा सकता है या परची अथवा गुटिका (Lot) डालकर। इन्हें चुनने वाले व्यक्तियों के मताधिकार की शर्तें विभिन्न शासन-प्रणालियों में एक-जैसी नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, धनिकतन्त्र के अतिवादी (Extreme) रूप में शासन पर विचार करने वाला अंग अत्यधिक धनी व्यक्तियों का समुदाय होता है, इसे अमर्यादित अधिकार होते हैं। शासकों के पदों के लिए **अधिक सम्पत्ति** की योग्यता रखने वाले व्यक्ति ही उम्मीदवार हो सकते हैं। इसी प्रकार न्यायाधीशों के पदों का उम्मीदवार होने के लिए भी धनी होने की शर्त अनिवार्य है। सर्वजनतन्त्र (Polity) में विचारात्मक अंग के लिए चुने जाने वाले नागरिकों के लिए **अनधिक** या हल्की (Moderate) सम्पत्ति की शर्त रखी जाती है। शासन और न्याय के पदों के लिए निर्वाचन तथा लाटरी की दोनों पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है। अतिगामी लोकतन्त्र (Extreme Democracy) में विचारात्मक अंग में सारी नागरिक जनता सम्मिलित होती है, शासन के सभी पदों के लिए कोई भी नागरिक खड़ा हो सकता है, इन पदों के लिए चुनाव लाटरी या परची प्रणाली द्वारा होता है। न्यायाधीश भी सभी नागरिकों में से लाटरी द्वारा चुने जाते हैं। अरस्तू द्वारा शासन-प्रणाली में वर्गीकरण के अनेक आधार होने के कारण उसकी प्रत्येक शासन-प्रणाली के अनेक भेद हो जाते हैं, यहाँ केवल लोकतन्त्र के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया जाएगा।

(ii) **लोकतन्त्र के गुण, दोष और प्रकार**—प्लेटो लोकतन्त्र का कटु निन्दक था। अरस्तू भी इसका आलोचक है, किन्तु वह इसके कुछ गुणों को भी स्वीकार करता है। अरस्तू के मतानुसार लोकतन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निरपेक्ष समानता (Absolute equality) के तत्त्व पर बहुत बल दिया जाता है और सब नागरिक विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का विचार न करते हुए समान माने जाते हैं; धनी, निर्धन, अनपढ़ और पढ़े-लिखे, विद्वान् और मूर्ख बराबर समझे जाते हैं। यह स्वतन्त्रता के आधार पर सब नागरिकों को समान अधिकार देता है। किन्तु अधिकारों की यह समानता और स्वतन्त्रता शीघ्र ही नियन्त्रण के अभाव में उच्छृंखलता और अराजकता में परिणत हो जाती है, नागरिक जीवन को असम्भव बना देती है। अतः अरस्तू लोकतन्त्र का आलोचक है।

किन्तु लोकतन्त्र में उपर्युक्त भीषण दोष के होते हुए भी वह उसके कुछ गुणों को स्वीकार करता है। उसके मतानुसार लोकतन्त्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें जब मनुष्य एकत्रित होकर शासन-सम्बन्धी विषयों का विवेचन करते हैं तो उनमें अच्छा निर्णय करने की योग्यता बढ़ जाती है। किसी एक व्यक्ति के निर्णय की अपेक्षा भले ही वह कितना अधिक ज्ञानी, बुद्धिमान् या विद्वान् क्यों न हो, अनेक व्यक्तियों का विचार-विमर्श और निर्णय अधिक अच्छा होता है। जिस प्रकार किसी सुन्दर, सद्गुणी व्यक्ति

में या सुन्दर कलाकृति में अनेक अच्छाइयाँ मिलकर सुन्दर एकता का निर्माण करती हैं, इसी प्रकार किसी जनसमूह के विविध मनुष्यों में बिखरी हुई भलाइयाँ एक अच्छे परिणाम को उत्पन्न करती हैं। एक व्यक्ति की भलाई की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों की सम्मिलित भलाई अधिक अच्छी होती है। अरस्तू के शब्दों में, "बहुसंख्यक जनता के पक्ष में निम्नलिखित बात कही जा सकती है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं व्यक्तिशः बहुत अच्छा मनुष्य नहीं होता, तथापि जब वे सब समन्वित (समवेत) हो जाते हैं, तब व्यक्तिशः नहीं, प्रत्युत समष्टितः वे अल्पसंख्यक उत्तम मनुष्यों से गुण में बढ़कर हो जाते हैं, जिस प्रकार बहुत से मनुष्यों के चन्दे से दिया हुआ भोज उस भोज से बढ़कर हो सकता है जोकि एक व्यक्ति की गाँठ से दिया जाता है।"[1]...."लोकतन्त्र में बहुत से व्यक्तियों का अपना-अपना सद्‌गुण और बुद्धि का अंश थोड़ा होने पर भी मिलकर बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति की बुद्धि से अधिक हो जाता है।" "जनसाधारण का निर्णय सामान्य विषयों में विशेषज्ञों के निर्णय से अधिक अच्छा होता है।" "यदि जनसाधारण अत्यन्त ही पतित न हो तो चाहे उनमें प्रत्येक व्यक्ति पृथक्‌रूपेण विशेषज्ञों की अपेक्षा भले ही हीन निर्णायक हो, परन्तु सबके सब एकत्रित होकर या तो उन (विशेषज्ञों से) बढ़कर होते हैं या घटकर नहीं होते।"[2] "जब वे एकसाथ एकत्रित होते हैं तो काफी अच्छी सूझबूझ प्रदर्शित करते हैं, एवं अपने से अधिक अच्छे वर्ग के लोगों के साथ मिलकर वे राष्ट्र के लिए सहायक (उपयोगी) सिद्ध होते हैं।"[3]

अरस्तू का यह मत है कि जनता में सामूहिक निर्णय (Collective judgement) की क्षमता बहुत उत्कृष्ट होती है, वे अपने अनुभव से यह जानते हैं कि शासन कैसा है। जिस प्रकार जूता पहनने वाला यह जानता है कि यह कहाँ काटता है; उसी प्रकार शासित होने वालों को यह अनुभव होता है कि शासन में कहाँ खराबी है। अतः जनता को शासन में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। अरस्तू सुयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासन का पक्षपाती होने पर भी साधारण जनता को शासन में निम्नलिखित कार्य सौंपना चाहता है—(1) शासकों (Magistrates) का निर्वाचन, (2) शासकों की पदावधि समाप्त होने पर उनके कार्य की जाँच करने का अधिकार। ये दोनों कार्य निर्णय की उत्तम क्षमता होने के कारण जनता बड़ी अच्छी तरह कर सकती है।

अरस्तू सामान्य रूप से लोकतन्त्रों को धनिकतन्त्रों की अपेक्षा अधिक स्थायी और सुस्थिर समझता है, क्योंकि इनमें प्रजा को शासन में अधिक भाग ग्रहण करने का अवसर मिलता है तथा इसमें मध्यमवर्ग का बाहुल्य होता है।[4] "जनता को शासनाधिकार में कुछ भी भाग न देना भयावह है, क्योंकि वह राष्ट्र जिसमें बहुसंख्यक और निर्धन लोग शासनाधिकार शून्य होने लगते हैं, अनिवार्यतया शत्रुओं से परिपूर्ण हो जाता है।"[5] अरस्तू की दृष्टि में सर्वोत्तम संविधान वही है, जिसमें लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के गुणों का समन्वय होता है।

---

1. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ॰ 255.
2. वही, पृ॰ 257.
3. वही, पृ॰ 256.
4. बार्कर—पालिटिक्स, पृ॰ 182.
5. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ॰ 256.

अरस्तू ने लोकतन्त्र के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कई प्रकार से किया है। एक स्थान पर उसने समानता के तत्त्व पर बल देते हुए लोकतन्त्र के निम्नलिखित पाँच प्रकार बताए हैं। समानता के आधार पर अत्यधिक आश्रित **पहला** प्रकार—इसमें धनी-निर्धन सभी के अधिकार बिल्कुल बराबर होते हैं। **दूसरा** प्रकार वह है जिसमें सम्पत्ति के आधार पर शासन के पदाधिकारियों का चुनाव किया जाता है, किन्तु यह सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता निम्न मात्रा की होती है। **तीसरे** प्रकार में सभी निर्दोष व्यक्तियों को शासन-कार्य में भाग मिलता है, किन्तु सर्वोपरि शासन नियम या कानून का ही होता है। **चौथे** प्रकार में शासन में अधिकार सबको प्राप्त होता है, पर सर्वोपरि शासक कानून ही होता है। **पाँचवें** प्रकार में सर्वोपरि शासन कानून का नहीं, किन्तु जनता का होता है। ऐसी स्थिति लोकनायकों (Demogogues देमागोग) द्वारा पैदा की जाती है। ये प्रभावशाली वक्ता शासक पदों पर आरूढ़ न होने पर भी भाषण कला द्वारा जनता पर प्रभाव डालते हैं, मनचाहे कानून बनवाते हैं। इनका अभ्युदय एथेन्स में में पेरीक्लीज़ की मृत्यु (429 ई० पू०) के बाद व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के साथ हुआ था। क्लिओन पहला लोकनायक था। अरस्तू के मतानुसार इसमें जनता को खुश करने वाले चापलूसों की बन आती है और लोकतन्त्र तानाशाही बन जाता है, इसमें नियम और कानून की समाप्ति हो जाती है। चाटुकार लोकनायक जनता को खुश करके अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं।[1] इसे अरस्तू सच्चा लोकतन्त्र नहीं मानता है।

अन्यत्र अरस्तू ने जनतन्त्रों का वर्गीकरण उसका निर्माण करने वाली जनता तथा उन्हें शासन के लिए मिलने वाले अवकाश के आधार पर किया है। **पहला** प्रकार **कृषक जनतन्त्र** (Agricultural Democracy) का है, इसमें शासन-सत्ता किसानों के पास होती है, उनके पास शासन कार्य में भाग लेने का अवसर नहीं होता, अतः वे कानूनों को सर्वोपरि बना देते हैं, राज्य के कार्यों की देखरेख योग्य व्यक्तियों को सौंप देते हैं। इसी कारण अरस्तू इस प्रकार की बहुत प्रशंसा करता है। **दूसरे और तीसरे** प्रकार में अन्तर इतना ही है कि एक में नागरिकता उत्तम, अनिन्द्य कुल में जन्म लेने के कारण तथा दूसरे में स्वतन्त्र (अदास) होने के कारण मिलती है। दोनों में कानून की सर्वोपरि सत्ता होती है, किन्तु अपने कार्यों में संलग्न होने के कारण बहुत थोड़ी जनता शासन-कार्य में भाग लेती है, असेम्बली आदि की बैठकों में सम्मिलित होने के लिए कोई वेतन या पारिश्रमिक नहीं मिलता। **चौथे** प्रकार में राज्य की जनसंख्या बहुत अधिक होती है, नागरिकता श्रमजीवियों तथा कारीगरों को भी देने के कारण इनकी प्रधानता हो जाती है, कानून निश्चित न होकर नागरिकों की इच्छानुसार बदलते रहते हैं। राज्य का काम करने के लिए पारिश्रमिक या वेतन दिया जाने लगता है। पेरीक्लीज़ ने एथेन्स में ऐसी व्यवस्था की थी। अरस्तू प्लेटो की भाँति इस व्यवस्था का तीव्र आलोचक है और प्रजातन्त्र के इस रूप को अच्छा नहीं मानता।

(iii) **सर्वोत्तम संविधान** (Best Polity)—उपर्युक्त शासन-प्रणालियों में से कौनसी श्रेष्ठ है? अरस्तू इसका उत्तर यथार्थवादी दृष्टिकोण से देता है। उसका यह कहना है कि इस प्रसंग में हमें किसी ऐसी आदर्श शासन-प्रणाली पर विचार नहीं

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 168.

करना चाहिए, जो कभी क्रियात्मक और व्यावहारिक रूप धारण ही न कर सकती हो। किन्तु ऐसी श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था और जीवन-पद्धति सोचनी चाहिए जो अधिकांश राज्यों और मनुष्यों के लिए व्यावहारिक रूप में सम्भव हो। जिस शासन-प्रणाली के लिए विशेष प्रकार की योग्यता या सौभाग्यसम्पदा अपेक्षित हो, उसमें कभी अधिकांश मनुष्य भाग नहीं ले सकते। श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था वही है, जो अनेक राष्ट्रों में समान रूप से प्रचलित हो सके। आदर्श व्यवस्था में शासन सर्वोत्तम व्यक्तियों के हाथ में रहना चाहिए। यदि किसी राज्य को प्लेटो का आदर्श दार्शनिक शासन मिल सके तो राजतन्त्र से अधिक अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अभिजाततन्त्र में भी शासन योग्य व्यक्तियों के हाथ में रहता है। किन्तु ये दोनों प्रणालियाँ व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप में नहीं मिलतीं। अतः हमें ऐसी शासन-प्रणाली की खोज करनी चाहिए, जो कोरे आदर्श की दृष्टि से सर्वोत्तम न हो, किन्तु व्यावहारिक रूप में सामान्य व्यक्तियों द्वारा क्रियात्मक रूप धारण कर सके और किसी समाज की विद्यमान परिस्थितियों में सर्वोत्तम हो।

अरस्तू के मतानुसार समाज में अत्यधिक सम्पन्नता और निर्धनता—दोनों बुरी हैं और अनेक दोषों को उत्पन्न करती हैं।[1] धनियों में अभिमान का तथा आज्ञा की अवहेलना करने का दोष होता है और निर्धन व्यक्ति दास मनोवृत्ति के होते हैं, शासन नहीं कर सकते। जहाँ जनता केवल इन दोनों वर्गों में बँटी होती है, वहाँ इनमें कोई सौहार्द नहीं हो सकता और सौहार्द के बिना किसी संगठन या समुदाय का बनना सम्भव नहीं है।

आदर्श शासन-प्रणाली की प्रधान विशेषता **मध्यमार्गी होना** है। बुद्ध की मज्झिम प्रतिपदा की तरह[2] अरस्तू मध्यममार्ग का परम भक्त है। उसके शब्दों में, "मध्यममार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही अनिवार्यतया श्रेष्ठ जीवन है और यह मध्यममार्ग भी ऐसा है, जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है।[3]···सब नगर-राज्यों में तीन खंड अथवा वर्ग पाए जाते हैं—(1) अत्यन्त सम्पन्न, (2) अत्यन्त निर्धन, (3) इन दोनों के बीच का मध्यवित्त वर्ग। यह बात सर्वसम्मत है कि मध्यम स्थिति सर्वोत्तम है। जो मनुष्य ऐसी स्थिति में होते हैं, वे विवेक की आज्ञा का सरलतापूर्वक पालन करने वाले होते हैं।" अतः **वह उस शासन-प्रणाली को श्रेष्ठ मानता है, जिसमें मध्य वर्ग की प्रधानता हो**। अपने इस कथन के समर्थन में वह निम्नलिखित तर्क देता है—(1) अत्यन्त धनी, रूपवान् और बलवान् व्यक्तियों का झुकाव बलात्कारों तथा महान् अपराधों की ओर होता है। दूसरी ओर अत्यन्त निर्धन और निर्बल व्यक्तियों की प्रवृत्ति धूर्त्तता और तुच्छ अपराधों की ओर होती है। ये दोनों प्रकार के व्यक्ति विवेक का अनुसरण नहीं कर सकते हैं। अतः इनकी प्रधानता वाले शासन दोषपूर्ण होते हैं। धनियों और बलवानों में आज्ञा पालन की प्रवृत्ति नहीं होती, वे राज्य के आदेशों की अवहेलना करते हैं। दूसरी ओर अत्यन्त दीन-हीन व्यक्ति केवल दासों की तरह शासित होना जानते हैं। यदि किसी राज्य में केवल यही दोनों वर्ग हों तो राज्य केवल दासों और

1. डनिग—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० 1, पृ० 78-79.
2. धर्मचक्र पवर्तनसुत्त।
3. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ० 319-20.

स्वामियों का नगर हो जाता है, न कि स्वाधीन मनुष्यों का। ऐसा नगर एक ओर (निर्धन पक्ष की ओर) से ईर्ष्या का तथा दूसरी ओर (सम्पन्न पक्ष की ओर) से घृणा का नगर हो जाता है। इसमें मित्रता और सामाजिकता की भावना नहीं रहती। सामाजिकता मित्रता पर निर्भर है। जब मनुष्य एक-दूसरे से घृणा करते हैं तो परस्पर एकसाथ एक राह पर नहीं चलना चाहते। राज्य का लक्ष्य तो यथासम्भव एक बराबर और एक-से मनुष्यों का समाज होता है और मध्यवित्त लोगों में ही ऐसा होना सबसे अधिक सम्भव है। (3) मध्यम वर्ग वाला नगर अधिक सुरक्षित होता है, क्योंकि मध्यवित्त वाले न तो निर्धन लोगों के समान अन्य लोगों की सम्पत्ति की इच्छा करते हैं और न धनी लोगों की सम्पत्ति पाने के लिए षड्यन्त्र रचते हैं, न ये किसी के विरुद्ध कुचक्र रचते हैं और न कोई इनके विरुद्ध षड्यन्त्र करता है। ये सब प्रकार की दलबन्दियों से मुक्त होते हैं; धनी या निर्धन वर्ग को अतिवादी (Extremist) होने से रोकते हैं। (4) मध्यम-वर्ग की महत्ता का एक प्रमाण यह भी है कि सोलन (Solon), लाइकरगस (Lycurgus) आदि श्रेष्ठ नियमनिर्माता या स्मृतिकार मध्यमवर्ग में ही उत्पन्न हुए हैं। (5) धनी और निर्धन मध्यमवर्ग पर समान रूप से विश्वास करते हैं, किन्तु वे एक-दूसरे पर विश्वास नहीं करते। इन सब कारणों से मध्यमवर्ग की प्रधानता रखने वाली शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है। ऐसा वर्ग न होने पर ही अल्पतन्त्र (Oligarchy) या लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव होता है और ये जल्दी ही तानाशाही में बदल जाते हैं। अरस्तू के मतानुसार अधिकांश राज्य लोकतन्त्र या अल्पतन्त्र इसलिए हैं कि इनमें मध्यमवर्ग की संख्या कम होती है। राज्य में मध्यमवर्ग की संख्या अधिक होने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें आपसी संघर्ष कम होते हैं और सुदृढ़ता अधिक होती है। अरस्तू ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है --"केवल वही सरकार सुदृढ़ हो सकती है, जिसमें मध्यमवर्ग अन्य दोनों (धनी तथा निर्धन) वर्गों से अधिक संख्या में हो। इस अवस्था में इस बात की सम्भावना नहीं होती कि शासकों का विरोध करने में धनी वर्ग निर्धन के साथ मिल जाएगा। इनमें से कोई भी एक-दूसरे की सेवा करने की इच्छा नहीं रखता। यदि वे अपने दोनों वर्गों के लिए कोई अधिक उपयुक्त शासन-प्रणाली ढूँढ़ना चाहें तो इससे अधिक अच्छी कोई दूसरी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि धनी और निर्धन एक-दूसरे पर विश्वास नहीं करते और वे बारी-बारी से शासक और शासित बनना पसन्द करेंगे।"[1] मैक्सी ने यह ठीक ही कहा है कि यद्यपि मध्यमवर्ग के लोगों में बुद्धि की प्रखरता नहीं होती, वे राज्य की स्थापना के लिए आदर्श नहीं हो सकते, फिर भी इतिहास में राज्यों में होने वाले परिवर्तनों को देखते हुए सुदृढ़ता की दृष्टि से अरस्तू की शासन-व्यवस्था उचित प्रतीत होती है।[2]

अरस्तू ने अपने आदर्श संविधान का कोई वास्तविक उदाहरण नहीं दिया; इतना ही स्पष्ट निर्देश किया है कि केवल एक ही ऐसा व्यक्ति हुआ है, जिसने इस प्रकार की शासन-पद्धति की स्थापना के लिए अपने को सहमत होने दिया।[3] किन्तु रॉस का

1. वार्कर—पोलिटिक्स, पृ० 182.
2. मैक्सी—पोलिटिक्स फिलासफीज़, पृ० 72-73.
3. वार्कर—पालिटिक्स, पृ० 183.

विचार है[4] कि वह सम्भवतः 411 ई० पू० में एथेन्स में स्थापित होने वाले संविधान को श्रेष्ठ मानता था। इसमें शासन-सत्ता 5000 व्यक्तियों की असेम्बली में निहित थी, ये शस्त्रास्त्र और भारी कवच अपने व्यय से रखते थे और इन्हें असेम्बली की बैठकों में सम्मिलित होने के लिए दिया जाने वाला भत्ता बन्द कर दिया गया था। इस विधान के निर्माण का श्रेय थेरामेनेस (Theramenes) नामक यूनानी राजनीतिज्ञ को है। बार्कर का यह विचार है कि अरस्तू का अभिप्राय यहाँ शायद सिकन्दर के यूनानी प्रतिनिधि तथा उसके मित्र अन्तिपातेर के उस संविधान से है, जिसमें शासन-सत्ता नौ हजार नागरिकों की संख्या को सौंपी गई थी।[2]

(iv) **विभिन्न शासन-प्रणालियों में श्रेष्ठता का तारतम्य**—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अरस्तू की दृष्टि में वही शासन-व्यवस्था सर्वोत्तम है, जिसमें मध्यम वर्ग की प्रभुता हो। इस शासन को उसने सर्वजनतन्त्र (Polity)[3] का नाम दिया है। यह उत्कृष्टता व्यावहारिक दृष्टि से है, आदर्श की दृष्टि से वह राजतन्त्र आदि को श्रेष्ठ मानता है। डनिंग ने जर्मन लेखक सुसेमिहल (Susemihl) के आधार पर यह लिखा है[4] कि श्रेष्ठता की दृष्टि से अरस्तू विभिन्न शासन-प्रणालियों या संविधानों का यह क्रम निश्चित करता है—(1) आदर्श राजतन्त्र (Ideal Royalty), (2) विशुद्ध कुलीनतन्त्र (Pure Aristocracy), (3) मिश्रित (Mixed) कुलीनतन्त्र, (4) सर्वजनतन्त्र (Polity), (5) अधिकतम अनतिगामी जनतन्त्र (Most moderate Democracy), (6) अधिकतम अनतिगामी धनिकतन्त्र (Most moderate Oligarchy), (7) जनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र के दो मध्यवर्त्ती प्रकार, (8) अतिगामी जनतन्त्र (Extreme Democracy), (9) अतिगामी धनिकतन्त्र (Extreme Oligarchy), (10) तानाशाही (Tyranny)।

8. क्रान्तियाँ

यूनान के नगर-राज्यों में क्रान्तियों द्वारा शासन-प्रणाली में बहुधा परिवर्तन होता रहता था। अरस्तू ने पाँचवीं पुस्तक में इनका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इनके कारणों पर प्रकाश डाला है तथा इनका प्रतिकार करने के महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाए हैं। इसमें उसने अपनी परिपक्व राजनीतिक बुद्धिमत्ता तथा यूनानी इतिहास के गम्भीर तथा विशद ज्ञान का सुन्दर परिचय दिया है, इतिहास के बीसियों शिक्षाप्रद तथा मनोरंजक उदाहरणों का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम उसने **क्रान्ति का स्वरूप** स्पष्ट करते हुए कहा है कि शासन-व्यवस्था में परिवर्तन का नाम ही क्रान्ति या विप्लव है। इसके मुख्य प्रकार हैं[5]—(क) किसी स्थापित शासन-पद्धति के स्थान पर दूसरे प्रकार की

1. रॉस—अरिस्टाटल, पृ० 259-60.
2. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 184.
3. पोलिटी या इसके यूनानी रूप पोलितेइया का अरस्तू ने दो अर्थों में प्रयोग किया है—(क) संविधान या शासन-व्यवस्था—आजकल अंग्रेजी में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। (ख) मध्यम वर्ग की प्रधानता वाली एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली।
4. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, पृ० 80.
5. बार्कर—वही, पृ० 204.

शासन-प्रणाली स्थापित करना, जैसे जनतन्त्र के स्थान पर धनिकतन्त्र (Oligarchy) को अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर जनतन्त्र को स्थापित करना। (ख) इसमें क्रान्ति-कारी दल शासन-पद्धति को यथापूर्व रखते हुए शासन कार्य अपने सदस्यों के हाथ में ले लेता है। (ग) कई बार क्रान्ति किसी शासन-पद्धति को बदलने के लिए नहीं, किन्तु उसकी मात्रा को परिवर्तित करने के लिए होती है, जैसे जनतन्त्र को अपेक्षाकृत अधिक या कम जनतन्त्रात्मक बनाना। (घ) कई बार क्रान्तिकारी दल शासन-पद्धति के किसी एक ही अंश को बदलने का प्रयत्न करता है, जैसे स्पार्टा में लीसान्दर (Lysander) ने राजपद को तथा पौसानियास (Pausanias) ने पंचों के पद को निर्मूल करने की चेष्टा की है।

(i) **क्रान्ति के कारणों** को अरस्तू ने तीन भागों में बाँटा है—(1) मूल कारण, (2) सामान्य कारण, और (3) विशिष्ट शासन-पद्धतियों में क्रान्ति के विशेष कारण। वह क्रान्ति का मूल कारण विषमता (Inequality) को मानता है। "**क्रान्ति का मूल कारण समानता की भावना है।**" समानता दो प्रकार की होती है—संख्यात्मक समानता और योग्यता सम्बन्धी समानता। अरस्तू योग्यता सम्बन्धी समानता का तात्पर्य आनुपातिक समानता (Proportionate equality) समझता है। संख्या की दृष्टि से तीन दो से उतना ही बड़ा है, जितना दो एक से, किन्तु आनुपातिक दृष्टि से चार दो से उतना बड़ा है, जितना दो एक से, क्योंकि दो चार का वही अंश है जो एक दो का। सब मनुष्य इस बात पर तो सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष न्याय (Absolute Justice) योग्यता के अनुपात में होना चाहिए; किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में योग्यता के प्रश्न पर मतभेद रखते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मनुष्य किसी एक बात में समान हों तो सभी बातों में समान होने चाहिएँ। जब ये मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं तो उनके अधिकारों, धनसम्पत्ति आदि में भी समानता होनी चाहिए, किसी प्रकार विषमता नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति एक बात में कुल या धन की दृष्टि से दूसरों से बढ़-चढ़कर है तो अन्य सभी बातों में बढ़कर होना चाहिए। दोनों विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष के कारण विद्रोह होते हैं। उदाहरणार्थ, जनतन्त्र में सब व्यक्तियों के अधिकार समान माने जाते हैं, किन्तु कुलीनतन्त्र और धनिकतन्त्र में उच्च कुलों में उत्पन्न तथा धनवान् व्यक्तियों के विशेषाधिकार समझे जाते हैं। अधिकारों की यह विषमता, समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाली जनता को सह्य नहीं होती है। अतः, धनिकतन्त्रों और जनतन्त्रों में अधिक क्रान्तियाँ होती हैं। धनिकतन्त्र में विद्रोह दोहरे ढंग से होते हैं—(1) धनिक वर्ग में ही दो दल हो जाते हैं। एक दल दूसरे के विरुद्ध क्रान्ति करता है। (2)धनिक वर्ग के विरुद्ध निर्धन विद्रोह करता है। किन्तु जनतन्त्र में जनता का दल केवल उस राज्य के धनी वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करता है। अतः यह स्पष्ट है कि समानता का अर्थ लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र में एक जैसा नहीं होता और विषमता को दूर कर समानता करने की भावना से इन दोनों पद्धतियों में अनेक क्रान्तियाँ होती हैं। क्रान्तियों का बड़ा कारण न्याय का एकांगी दूषित दृष्टिकोण है। जनतन्त्रवादी यह समझते हैं कि सब मनुष्य समान

1. बार्कर—वही, पृ॰ 205-6.

रूप से स्वतन्त्र हैं, अतः उनमें समानता होनी चाहिए। इसके विपरीत धनिकतन्त्रवादियों का यह विश्वास है कि मनुष्यों में धन की विषमता है, अतः अन्य बातों में भी विषमता होनी चाहिए।

अरस्तू इस स्थिति से उत्पन्न होने वाली मनोदशा को क्रान्ति का मुख्य कारण मानते हुए कहता है—"कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके हृदय समानता की भावना से ओतप्रोत होते हैं, वे यह जानते हुए विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगों के समान हैं, जो उनसे कहीं अधिक (धनसम्पत्ति) पाए हुए हैं, तथापि उनको स्वयं अन्य लोगों से कम (सुविधाएँ) प्राप्त हैं। दूसरे कुछ विद्रोह करने वाले वे लोग होते हैं, जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है क्योंकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यों से बढ़कर हैं तथापि उनको अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं मिलता प्रत्युत या तो दूसरों के बराबर या उनसे कम मिलता है।···इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिए विद्रोही बना करते हैं और बराबर स्थिति वाले बड़े बनने के लिए। यही वह मनोदशा है, जिससे क्रान्तियों की उत्पत्ति होती है।"[1]

इस मौलिक मनोदशा के अतिरिक्त अरस्तू ने साधारणतः **क्रान्तियों के निम्नलिखित सामान्य कारण, उद्देश्य और प्रसंग** बताए हैं। (1) **शासकों की धृष्टता** (Insolence) **तथा लाभ की लालसा**—जब शासक धृष्टतावश जनता के हितों की परवाह न करते हुए या सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाकर अपना घर भरने लगते हैं तो शासकों के विरुद्ध या उस शासन-प्रणाली के विरुद्ध जनता विद्रोह कर देती है। (2) **सम्मान की लालसा**—यह सबमें स्वाभाविक है, किन्तु जब शासक किसी को अनुचित रूप से बिना योग्यता या कारण के सम्मानित या अपमानित करते हैं तो जनता रुष्ट होकर विद्रोह कर देती है। (3) **किसी प्रकार की उत्कृष्टता का होना** भी क्रान्ति का कारण होता है। जब किसी राज्य में एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों का गुट अन्य व्यक्तियों से अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली हो जाता है तो वह शासन-सत्ता अपने हाथ में ले लेता है। ऐसी परिस्थितियों में राजतन्त्र और आनुवंशिक धनिकतन्त्र उत्पन्न होते हैं। इसीलिए एथेन्स और आर्गोस के राज्यों में शक्तिशाली बनने वाले व्यक्तियों को निर्वासित करने की परिपाटी प्रचलित है। (4) **भय** दो प्रकार के व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाधित करता है—(क) अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्ड का भय होता है, इससे बचने के लिए वे विद्रोह कर देते हैं। (ख) कुछ व्यक्तियों को यह डर होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है। इसके प्रतिकार के लिए वे विद्रोह कर बैठते हैं। इसका उदाहरण रोड्स टापू के गण्यमान्य (Notables) व्यक्ति थे, साधारण जनता इन पर अभियोग चलाने की धमकियाँ दे रही थी, अतः इन्होंने जनता के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। (5) **घृणा** भी क्रान्ति को जन्म देती है। धनिकतन्त्र में तब क्रान्ति होती है, जब शासक धनिक वर्ग बहुसंख्यक अधिकारवंचित दरिद्र जनता को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है और जनतन्त्रों में तब विद्रोह होता है जब सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को राष्ट्र में फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के प्रति

1. भोलानाथ शर्मा—अरस्तू की राजनीति, पृ॰ 353-54.

घृणा हो जाती है, जैसे थीब्स नगर में 456 ई० पू० के ओइनोफीता के युद्ध के बाद कुशासन होने के कारण प्रजातन्त्र पद्धति विनष्ट हो गई। सिराक्यूज़ में 485 ई० पू० में जनतन्त्र के विरुद्ध घृणा के कारण इसका अन्त होकर गैलोन की तानाशाही का आविर्भाव हुआ। (6) **राज्य के किसी अंग की अनुपात से अधिक असाधारण वृद्धि के** कारण भी क्रान्ति होती है। 480 ई० पू० के ईरानी युद्धों के बाद तरेन्तम का सर्व-जनतन्त्र (Polity) लोकतन्त्र में परिणत हो गया क्योंकि इयापिगियन जाति के आक्रमणों के कारण इस नगर के अनेक गण्यमान्य (Notables) पुरुषों के मारे जाने से साधारण जनता की संख्या में वृद्धि हो गई थी। एथेन्स में लोकतन्त्र के प्रबल होने का कारण पेलोपोनेशियन युद्ध (431-404 ई० पू०) में प्रतिष्ठित नागरिकों का बड़ी संख्या में मारा जाना था। राज्य में किसी अंग—प्रदेश, वर्ग आदि की वृद्धि से दूसरे प्रदेशों तथा वर्गों का चिन्तित होना स्वाभाविक है। (7) **निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र** भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। हेराइया (Heraea) में चुनावों में बड़े षड्यन्त्र होते थे और इनके कारण इनका परिणाम पहले से ही निश्चित हो जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए यहाँ परची या गुटिका (Lot) पद्धति को अपनाकर के निर्वाचन पद्धति में क्रान्ति की गई। (8) **प्रमाद** भी परिवर्तन का कारण होता है। जनता अपने आलस्य और उपेक्षा के कारण ऐसे व्यक्तियों को सत्तारूढ़ होने देती है, जो वर्तमान शासन-पद्धति के प्रति निष्ठावान् नहीं होते और ये शासन को बदल देते हैं। यूबोइया के ओरेयस (Oreas) नगर में जब हेराक्लियोडोरस इस प्रकार शासनारूढ़ हुआ तो उसने धनिक-तन्त्र का अन्त करके जनतन्त्र या सर्वजनतन्त्र (Polity) की स्थापना की। (9) **अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा** भी कई बार क्रान्ति की जननी होती है। ये छोटे-छोटे परिवर्तन शनैः-शनैः महान् परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, जैसे अम्ब्राकिया (Ambracia) में मताधिकार की शर्तों में सामान्य परिवर्तन से शासन में क्रान्ति हो गई। (10) **राष्ट्र में समानता न रखने वाले विजातीय तत्त्व** भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। राज्य में निवास करने वाली विभिन्न जातियों में एकता की अनुभूति आवश्यक है। ऐसा अनुभव न करने वाले विजातीय तत्त्व विदेशी शत्रुओं के साथ आसानी से मिलकर राज्य के लिए संकट उत्पन्न कर देते हैं। अरस्तू ने लिखा है जो राज्य अपनी स्थापना के समय या उसके बाद विदेशियों को अपने राज्य में बसने की अनुमति देते हैं, वे क्रान्ति की मुसीबत मोल लेते हैं। (11) क्रान्ति **क्षुद्र घटनाओं के गम्भीर परिणामों एवं पारिवारिक विवादों** से भी होती है। अरस्तू ने इसके अनेक मनोरंजक उदाहरण दिए हैं। सिराक्यूज में दो शासन-सत्तारूढ़ नवयुवकों के प्रणय-सम्बन्धी कलह ने नगर को दो दलों में विभक्त कर दिया (पालिटिक्स 5/4)। (12) **राष्ट्र के किसी विभाग की ख्याति या शक्ति में वृद्धि** भी शासन-व्यवस्था को जनतन्त्र या धनिकतन्त्र की ओर झुका सकती है। 480 ई० पू० में सालामिस (Salamis) के प्रसिद्ध युद्ध में एथेन्स की नौ-सेना ने ईरानी सम्राट् ज़रक्सीज के प्रबल बेड़े को सामुद्रिक युद्ध में परास्त कर बड़ी कीर्ति उपार्जित की, नौ-शक्ति के आधार पर एथेन्स ने साम्राज्य बनाया, नौ-सेना में साधारण जनता भर्ती होती थी, अतः एथेन्स की शासन-व्यवस्था का झुकाव जनतन्त्र की ओर हो गया। अरस्तू ने कहा है कि जो कोई तत्त्व (व्यक्ति, अधिकारी या जाति) राज्य की **शक्ति में वृद्धि करता है, उसकी प्रवृत्ति विद्रोह खड़ा करने की ओर हो सकती है।**

क्योंकि या तो इन्हें प्राप्त होने वाले गौरव और सम्मान के कारण ईर्ष्या से जलने वाले अन्य व्यक्ति इनके विरुद्ध विद्रोह करने लगते हैं या यही स्वयं बड़प्पन के गर्व से अन्य लोगों के साथ समानता के नाते से नहीं रहना चाहते। (13) क्रान्तियों का एक कारण **राज्य में परस्पर विरोधी वर्गों** (दरिद्र एवं धनी आदि) **का शक्ति में सन्तुलित होना** भी है। जहाँ एक पक्ष दूसरे पक्ष से अधिक प्रबल होता है, तो निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई मोल नहीं लेता। किन्तु जब दोनों पक्षों में शक्तिसन्तुलन हो तो दोनों को सफलता की सम्भावना होती है और वे विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ मध्यम वर्ग प्रबल होता है, वहाँ ऐसी क्रान्तियाँ नहीं होतीं। क्रान्तियों में शक्ति और छल का भी बहुत प्रयोग किया जाता है।

(ii) **विभिन्न शासन-प्रणालियों में क्रान्तियों के विशेष कारण**—क्रान्तियों के सामान्य कारणों की मीमांसा करने के बाद अरस्तू ने विभिन्न शासन-पद्धतियों में होने वाली क्रान्तियों के कारणों का उल्लेख किया है। **प्रजातन्त्र में क्रान्ति** तीन कारणों से होती है : **पहला** कारण धनियों के साथ किया जाने वाला अत्याचार है। कई जनतन्त्रों में भाषण कला से लोकप्रियता पाने वाले जनान्दोलक (Demogogues) साधारण जनता को धनियों के विरुद्ध भड़काते हैं, उनके साथ अन्यायपूर्ण बर्ताव करते हैं, उन पर कर लगाते हैं और अन्त में उन्हें क्रान्ति के लिए विवश करते हैं। कॉस (Cos), रोड्स (Rhodes) व मेगारा (Megara) में जनतन्त्र के विनष्ट होने का यही कारण था। **दूसरा** कारण लोकनायक (Demogogue) जनान्दोलकों का सेनापति बनकर सारी सत्ता अपने हाथ में लेना तथा तानाशाह बन जाना है। **तीसरा** कारण जनान्दोलक नेताओं का जनता की लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए शासन की शक्ति को हथियाना है। उदाहरणार्थ, एथेन्स में पाइसिस्ट्राटस ने मैदान में रहने वाले धनिकों के विरुद्ध निर्धन लोगों के विद्रोह का नेतृत्व करके एथेन्स की तानाशाही प्राप्त की। **धनिकतन्त्रों** में क्रान्ति के दो बड़े कारण जनता के साथ अन्यायपूर्ण बर्ताव तथा शासकवर्ग के आपसी झगड़े व दलबन्दियाँ होते हैं (पालिटिक्स 5/6)। **कुलीनतन्त्रों** की क्रान्तियों का कारण यह है कि इसमें शासन में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत सीमित होती है।

(iii) **क्रान्तियों के प्रतिकार के उपाय**—क्रान्तियों के कारणों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद अरस्तू ने इनके निवारण के निम्न उपायों पर प्रकाश डाला है : (1) जनता में कानून के पालन की तथा उसके प्रति सम्मान बढ़ाने की भावना उत्पन्न करनी चाहिए, क्योंकि कानून की अवहेलना अज्ञात भाव से राष्ट्र में प्रविष्ट होकर उसको उसी प्रकार नष्ट कर देती है जिस प्रकार थोड़े से ही (अप) व्यय के बार-बार होने से (विशाल) सम्पत्ति का विनाश हो जाता है। कानून की अवज्ञा के छोटे कार्यों का शुरू में ही विरोध किया जाना चाहिए। (2) शासकों का जनता के साथ व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए, मताधिकारवंचित और निर्धन जनता के प्रति कोई अनुचित व्यवहार, उनके सम्मान को ठेस लगाने वाला कार्य अथवा किसी प्रकार का कोई अन्याय नहीं किया जाना चाहिए। (3) विषमता क्रान्ति की जननी है, अतः शासन का लक्ष्य सदैव समानता का व्यवहार होना चाहिए। अरस्तू का यह मत है कि शासन के पदों की अवधि छः मास की होनी चाहिए ताकि अधिक-से-अधिक व्यक्ति शासक

बन सकें, थोड़े समय के लिए शासनारूढ़ व्यक्ति अन्याय नहीं कर सकते। (4) एक व्यक्ति या वर्ग में अधिक शक्ति केन्द्रित नहीं होने देनी चाहिए, यह सभी वर्गों में बँटी रहनी चाहिए। किसी व्यक्ति को अनन्य रूप से अधिक सम्मान या बढ़ावा नहीं देना चाहिए ताकि इससे अन्य व्यक्तियों में ईर्ष्या उत्पन्न न हो। नियम निर्माण द्वारा किसी व्यक्ति को अत्यधिक शक्तिशाली होने से रोकना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो ऐसे व्यक्ति को राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए। (5) राज्य के पदों को धनोपार्जन या वैयक्तिक लाभ का साधन नहीं बनने देना चाहिए। इससे अनेक लाभ होंगे। साधारण जनता के रोष का एक बड़ा कारण यह होता है कि शासक सम्मान प्राप्त करने के साथ-साथ सार्वजनिक द्रव्य की चोरी करते हैं। अरस्तू के शब्दों में जनता को इससे दुगुनी पीड़ा होती है, क्योंकि न तो उन्हें शासक पद का सम्मान मिलता है और न सार्वजनिक सम्पत्ति में हिस्सा मिल पाता है। जब पदों से कोई आर्थिक लाभ नहीं होगा तो जनता इनके लिए लालायित नहीं होगी। (6) सार्वजनिक सम्पत्ति व्यक्तियों द्वारा न हड़पी जा सके, इसकी विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। इसका हस्तान्तरीकरण (Transfer) सब नागरिकों के सम्मेलन के समक्ष होना चाहिए। (7) जनतन्त्र में धनवानों के साथ उदार बर्ताव होना चाहिए, ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है कि उनकी सम्पत्ति का विभाजन न हो तथा उनकी जागीरों की आय सुरक्षित रहे। इसके साथ ही धनिकतन्त्र में निर्धन लोगों की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए; जिन शासन-पदों से धन की प्राप्ति हो सकती है, वे उन्हें दिए जाएँ। धनवान यदि निर्धन के प्रति हिंसापूर्ण अपराध करें तो उन्हें कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए। इससे विभिन्न वर्गों में विद्वेष, असन्तोष और रोष की भावना उत्पन्न नहीं होगी। (8) प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य व्यक्तियों में विवाद नहीं उत्पन्न होने देने चाहिएँ, क्योंकि ये राज्य में पारिवारिक और वंशानुगत दलबन्दियों की भावनाएँ उत्पन्न करके क्रान्ति के बीज बोते हैं। (9) धनिकतन्त्र (Oligarchy) तथा सर्वजनतन्त्र (Polity) में शासक-पद पाने के लिए आर्थिक योग्यता की शर्त रहती थीं। किन्तु कालचक्र से धनी निर्धन तथा निर्धन धनी हो जाते हैं, अतः यदि धनिकतन्त्र में अधिकांश लोगों की आर्थिक योग्यता बढ़ जाए तो वह स्वयमेव जनतन्त्र में बदल जाएगा। ऐसी क्रान्तियों को रोकने के लिए अरस्तू का यह सुझाव है कि कुछ निश्चित समय बाद सामाजिक योग्यता की जाँच हो तथा इसके अनुसार पदाधिकार के लिए निश्चित आर्थिक योग्यता भी बदलती रहनी चाहिए ताकि राज्य के विभिन्न दलों की स्थिति यथापूर्व बनी रहे। (10) मनुष्य अपने वैयक्तिक जीवन की परिस्थितियों के कारण भी क्रान्तिकारी होते हैं। अतः एक ऐसा राजकीय अधिकारी नियत किया जाना चाहिए जो यह देखे कि लोग अपना जीवन शासन-व्यवस्था के अनुकूल रखें—जनतन्त्र में जनतन्त्रात्मक रीति से तथा धनिकतन्त्र में इस तन्त्र की नीति के अनुसार जीवन-यापन करें। (11) किसी शासन-प्रणाली की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-पद्धति उस शासन-पद्धति के अनुरूप हो। बच्चों को शुरू से उस प्रणाली के ढाँचे में ऐसा प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे उस व्यवस्था को आदर्श मानते हुए अपना जीवन उसी के अनुसार ढालने का प्रयत्न करें।

अरस्तू का क्रान्तियों का यह विवेचन इतना सुन्दर, प्रामाणिक और विशद है

कि मैक्सी ने लिखा है[1] कि वर्तमान राजनीतिशास्त्र क्रान्ति के विष के प्रतिकार के लिए इससे अधिक विश्वसनीय उपायों का निर्देश नहीं कर सकता।

(9) आदर्श राज्य
(Ideal State)

पालिटिक्स की सातवीं पुस्तक में अरस्तू प्लेटो के **लाज़** से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ अपने आदर्श राज्य (Ideal State) का एक सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। उसकी दृष्टि में व्यवहार में आ सकने वाला सर्वोत्तम संविधान तो मध्यम वर्ग को प्रधानता देने वाला पालिटी या सर्वजनतन्त्र है। किन्तु इसका विकास सभी राज्यों में सम्भव नहीं है। इसके विकास के लिए कुछ विशेष परिस्थितियाँ आवश्यक हैं। ये जिन राज्यों में सम्भव हों वहीं अरस्तू का सर्वोत्तम आदर्श राज्य (Best Ideal State) है। शासन का उद्देश्य व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने के साधन प्रस्तुत करना है। अतः वही राज्य सर्वोत्तम होता है जिसमें व्यक्ति को ये सुविधाएँ प्राप्त हों। ये सुविधाएँ सभी राज्यों में नहीं होती हैं, इनके लिए विशेष प्रकार के वातावरण और परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य में निम्न विशेषताएँ मानी हैं :—

(क) **जनसंख्या**—यह न तो बहुत अधिक और न बहुत कम होनी चाहिए। अधिक जनसंख्या बड़प्पन का चिह्न नहीं है, इसमें कानून की व्यवस्था बनाए रखना बहुत कठिन होता है। बहुत कम जनसंख्या में यह दोष है कि यह अपनी आवश्यकताएँ पूरा करने में समर्थ नहीं होगी। राज्य तो जहाज की भाँति न तो बहुत बड़ा और न बहुत छोटा होना चाहिए। नागरिक कार्यों को उचित रीति से करने के लिए आवश्यक है कि सब नागरिक एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप में जानते हों[2] और इनकी अधिकतम संख्या उतनी ही होनी चाहिए, जितनी राज्य के जीवन को आत्मनिर्भर बनाने तथा उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त हो। अरस्तू नागरिकों के लिए प्लेटो की भान्ति 5040 जैसी कोई संख्या निश्चित नहीं करता है।

(ख) **प्रदेश**—राज्य की भूमि न बहुत विशाल और न बहुत छोटी होनी चाहिए। वह इतनी अवश्य हो कि उससे जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें, उस पर निवास करने वाली जनता संयम और उदारता से समन्वित अवकाशपूर्ण जीवन बिता सके। राज्य की भूमि शत्रुओं के लिए दुष्प्रवेश्य तथा सुसन्निरीक्ष्य अर्थात् किसी ऊँचे स्थान या चोटी से भली प्रकार देखी-भाली जा सकने वाली (Surveyable) होनी चाहिए क्योंकि ऐसी भूमि की रक्षा सरलता से हो सकती है। यह ऐसे स्थान पर होनी चाहिए कि जहाँ जल एवं थल दोनों मार्गों से आसानी से पहुँचा जा सके और यह सुविधाजनक व्यापारिक केन्द्र हो।[3] प्लेटो अपने आदर्श राज्य को समुद्र से दूर रखना चाहता है,

1. मैक्सी—पोलिटिकल, फिलाफीज़, पृ० 76
2. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 292.
3. कौटिल्य (6/1) ने भी अपने आदर्श राज्य के लिए जल और स्थल मार्गों की सुविधा (वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः), बड़ी व्यापारिक मंडी होना (सारचित्रबहुपण्यः) तथा अच्छी तरह रक्षा करने में समर्थ होना (स्वारक्षः) आवश्यक माना है।

क्योंकि इससे अवांछनीय विदेशी एवं व्यापारी तत्त्वों का आगमन होता है। किन्तु अरस्तू इसे सैनिक सुरक्षा तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से समुद्र के निकट रखना चाहता है।

(ग) **नागरिकों का स्वभाव**—अरस्तू अपने आदर्श नगरवासियों के स्वभाव के लिए तीन प्रकार के व्यक्तियों के स्वभाव की तुलना करता है। यूरोप के शीत-प्रधान स्थानों के निवासियों में ओज (Spirit) होता है, किन्तु बुद्धिमत्ता और कौशल की कमी होती है।[2] अत: वे स्वयं स्वतन्त्र बने रहते हैं, किन्तु उनमें राजनीतिक विकास नहीं होता है। एशियावासी बुद्धिमत्ता, कौशल आदि आध्यात्मिक गुणों से युक्त होते हैं, किन्तु उनमें ओज का अभाव होता है, अत: वे निरन्तर शासित और दास बने रहते हैं। हेलेनीस (यूनानी) जनता इन दोनों के बीच में बसी होने से दोनों जातियों के गुणों से समन्वित है, इसमें बुद्धिमत्ता और ओज दोनों का संयोग है। आदर्श राज्य की जनता के स्वभाव में इन दोनों गुणों का समन्वय होना चाहिए।

(घ) **राज्य के आवश्यक वर्ग**—आदर्श राज्य में छ: प्रकार की आवश्यकताएँ मुख्य हैं—भोजन, कला-कौशल, हथियार, सम्पत्ति, सार्वजनिक देवपूजा तथा सार्वजनिक हित का निर्धारण। इनके लिए प्रत्येक राज्य में छ: प्रकार के वर्ग—कृषक, शिल्पी, योद्धा, सम्पत्तिशाली वर्ग, पुरोहित तथा सार्वजनिक हित निर्धारण करने वाले निर्णायक होने चाहिएँ। इन छ: वर्गों में से अरस्तू कृषक एवं शिल्पी वर्ग को नागरिक का दर्जा नहीं देता। शेष कार्यों के सम्बन्ध में वह यह व्यवस्था करता है कि नागरिक युवावस्था में देश की रक्षा और सेना के कार्य करें, अधेड़ अवस्था में राज्य के शासन-सम्बन्धी विषयों का चिंतन करें और बुढ़ापे में सार्वजनिक देवपूजा और पुरोहिताई के काम करें। प्लेटो एक व्यक्ति को एक काम देना चाहता था, अरस्तू अवस्थानुसार तीन कार्य देता है। अरस्तू चाहता है कि भू-सम्पत्ति सब नागरिकों में बाँट दी जाए। ऐसी व्यवस्था मिस्र और क्रीट में थी, यह वहाँ की सहभोजन (Common meals) की पद्धति से सूचित होता है। भूमि दो प्रकार की होनी चाहिए—राजकीय (Public demenses) तथा वैयक्तिक भूमि। राजकीय भूमि की आय से सार्वजनिक देवपूजा का तथा सहभोजन (Common meals) का व्यय चलना चाहिए, ताकि राज्य में एकता बढ़ सके। दोनों प्रकार की भूमि पर दासों तथा बर्बर व्यक्तियों द्वारा खेती कराई जानी चाहिए।

(ङ) **राज्य की स्थिति**—नगर-राज्य में बस्ती का स्थान निम्न बातों को ध्यान में रखते हुए चुनना चाहिए: (क) सार्वजनिक स्वास्थ्य, (ख) राजनीतिक सुविधा, (ग) सैनिक आवश्यकताएँ। नगर को बसाते हुए सौन्दर्य और सैनिक आवश्यकताओं का ध्यान चाहिए। राज्य का प्रदेश दो भागों में बँटा होना चाहिए—(1) विशेष बस्ती या शहर, (2) इसके चारों ओर का प्रदेश। बस्ती का स्थान राज्य में मस्तिष्क की भाँति होना चाहिए। इसमें पूजा-गृह, पार्क, व्यायाम-शाला, बाजार, बन्दरगाह आदि सार्वजनिक स्थान होने चाहिएँ। आदर्श राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए

---

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 295-96.

प्लेटो की भाँति अरस्तू शिक्षा-पद्धति पर बहुत बल देता है, आगे इसका परिचय दिया जाएगा।

आदर्श राज्य की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में अरस्तू का झुकाव लोकतन्त्र की ओर प्रतीत होता है, क्योंकि वह सब नागरिकों को शासन-कार्य में भाग लेने को कहता है, किन्तु ये नागरिक ऐसे हैं, जो अनुभव और अवस्था के आधार पर समाज के उच्च जन हैं, अतः उसकी सरकार सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सरकार है। इनमें लोकतन्त्र और कुलीनतन्त्र का सम्मिश्रण होता है।

उसने आदर्श राज्य में सरकार के तीन तरह के कार्य करने वाली तीन संस्थाओं का वर्णन किया है—(1) शासन सम्बन्धी विषयों पर विचार एवं निर्णय करने के लिए असेम्बली, सब नागरिक इसके सदस्य होते थे। (2) प्रशासन करने वाले अधिकारी। (3) न्यायालय। लोकतन्त्र के अतिवादी (Extreme) रूप में सरकार की तीनों संस्थाओं के पद सब नागरिकों को समान रूप से उपलब्ध हो सकते हैं, किन्तु अरस्तू के मतानुसार इससे लोकतन्त्र में बड़ी अस्थिरता आ जाती है, अतः वह इस दोष को दूर करने के लिए यह व्यवस्था करता है कि नागरिक कुछ सम्पत्ति होने पर ही शासन के कार्यों में भाग ले सकें। इससे अरस्तू मध्यमवर्ग का शासन स्थापित करना चाहता है। उसका आदर्श संविधान मध्यमवर्ग को प्रधानता देने वाला सर्वजनतन्त्र (Polity) है। राज्य के नागरिकों में कोई अधिक अमीर या गरीब नहीं होना चाहिए, इससे निर्धन और धनी वर्ग के संघर्ष उत्पन्न होते हैं और राज्य की सुरक्षा संकटग्रस्त हो जाती है। आदर्श राज्य का लक्ष्य नागरिकों को उत्तम सदगुणी जीवन बिनाने की सुविधाएँ प्रदान करना होना चाहिए, न कि युद्धों द्वारा विजय प्राप्त करना।

अरस्तू ने मध्यममार्ग और व्यावहारिकता का अनुसरण करते हुए प्लेटो के आदर्श राज्य के दोषों से बचने का प्रयत्न किया। उसके मुख्य दोष ये थे—राज्य का अति काल्पनिक होना, दार्शनिक राजाओं का शासन, कानून का अभाव, ऐतिहासिक आधार का अभाव, अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार एक व्यक्ति द्वारा सैनिक, उत्पादक या संरक्षक में से एक का ही कार्य करना। अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य में इन सब दोषों को दूर कर दिया है। अरस्तू के आदर्श राज्य की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—(1) वह प्लेटो की भाँति राज्य की एकता (Unity) पर अत्यधिक बल नहीं देता और इसे स्थापित करने के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार की व्यवस्था का उन्मूलन नहीं करता। (2) उसका नागरिक प्लेटो के नागरिक की भाँति राज्य में पूर्ण रूप से विलीन नहीं होता, किन्तु राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त करता है। अरस्तू के आदर्श राज्य के श्रेष्ठ जीवन तथा व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन में कोई भेद नहीं है। (3) अरस्तू अपने राज्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह नहीं बताता कि वह प्लेटो के राज्य की भाँति कोरा काल्पनिक आदर्श राज्य है या क्रियात्मक रूप में लाया जा सकने वाला आदर्श राज्य। किन्तु उसके वर्णन से यही प्रतीत होता है कि वह इसे व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप देना चाहता है।

(10) शिक्षा-पद्धति

आदर्श राज्य के निर्माण और स्थायित्व के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति परम आवश्यक है। राज्य का लक्ष्य नागरिकों का जीवन सुखी बनाना है। सुख प्रधान रूप से भलाई और सद्‌गुण (Virtue) पर आश्रित है। मनुष्य यह सद्‌गुण तथा भलाई तीन प्रकार के साधनों से प्राप्त करता है—प्रकृति से, आदत से और विवेक-शक्ति से। प्रकृति के सम्बन्ध में पहले बताया जा चुका है कि यह ओज और बुद्धिमत्ता का सम्मिश्रण होना चाहिए। आदत और विवेक-शक्ति का निर्माण शिक्षा द्वारा होता है। शिक्षा-पद्धति के बारे में प्लेटो का यह सिद्धान्त था कि राज्य के सैनिकों को एक प्रकार की तथा संरक्षकों को दूसरे प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए। किन्तु अरस्तू इससे सहमत नहीं, वह सब नागरिकों के लिए एक जैसी शिक्षा की व्यवस्था करता है। इसका उद्देश्य उन्हें उत्तम नागरिक बनाना है, इसी प्रकार वे उत्तम मनुष्य बन सकेंगे। नागरिकों को आज्ञा पालन करने की तथा शासन करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य सर्वाङ्गीण विकास होना चाहिए। आत्मा के तीन अंगो के तथा जीवन के विविध अंगों के विकास का ध्यान रखना चाहिए। आत्मा के तीन अंग हैं—विचार और विवेक करने वाली विमर्शात्मक बुद्धि, क्रियात्मक या व्यावहारिक बुद्धि तथा विवेक की आज्ञाओं का पालन करने वाला अंग। ये तीनों अंग प्लेटो के आत्मा के तीन तत्त्वों से सर्वथा भिन्न हैं। अरस्तू जीवन के दो अंग मानता है—(1) क्रियात्मक युद्धरत जीवन, (2) शान्तिपरायण तथा अवकाशमय जीवन। शिक्षा इन दोनों के सम्बन्ध में होनी चाहिए। स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति का एक बड़ा दोष यह है कि वह केवल युद्ध और साम्राज्य के निर्माण की शिक्षा देती है किन्तु शान्ति के गुण—बौद्धिक ज्ञान, संयम तथा न्याय भी राज्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। अत: शिक्षा का उद्देश्य आत्मा के तीन तत्त्वों और युद्ध तथा शान्ति के गुणों का विकास होना चाहिए।

शिक्षा मानवीय विकास के स्वाभाविक क्रम को देखते हुए इसके अनुसार होनी चाहिए। इसमें सर्वप्रथम शरीर सम्बन्धी शिक्षा होनी चाहिए, इसके बाद शरीर के साथ उत्पन्न होने वाले क्रोध, इच्छा, कामना आदि के तत्त्वों (Appetites) का प्रशिक्षण होना चाहिए और इसके बाद विकसित होने वाली विवेक-बुद्धि का प्रशिक्षण सबसे अन्त में होना चाहिए। शारीरिक शिक्षण के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है। स्वस्थ नागरिक उत्पन्न करने के लिए अरस्तू प्लेटो की भाँति राज्य की ओर से विवाह सम्बन्धी कुछ नियम बनवाना और इनका पालन करना आवश्यक समझता है।

स्वस्थ नागरिक प्राप्त करने के लिए अरस्तू के विवाह और सन्तानोत्पत्ति के नियम बड़े मनोरंजक हैं। उत्तम सन्तान तभी प्राप्त हो सकती है, जब पति-पत्नी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से परिपक्वावस्था के हों। उसके मतानुसार पुरुष का प्रजननकाल 70 वर्ष की अवधि तक स्त्री का 50 वर्षतक है, अतएव वह विवाह के समय पति-पत्नी की आयु में 20 वर्ष का अन्तर अभीष्ट मानता है। स्त्रियाँ 17-18 वर्ष की आयु में शारीरिक दृष्टि से सन्तानोत्पादन में समर्थ होती हैं, उनकी और पुरुषों की आयु में 20 वर्ष के उपर्युक्त अन्तर को ध्यान में रखते हुए विवाह के समय कन्या की

वर्ष तथा पुरुष की आयु 37 वर्ष होनी चाहिए।[1] यूनानियों के मतानुसार मानसिक शक्ति की पराकाष्ठा पचास वर्ष की आयु तक प्राप्त होती है। अतः अरस्तू पुरुषों को इसके चार-पाँच वर्ष बाद अर्थात् 55 वर्ष की आयु तक ही सन्तानोत्पादन की अनुमति देता है;[2] क्योंकि इसके बाद वृद्धावस्था के कारण उनकी सन्तान सबल नहीं होती है। तत्कालीन यूनानी प्रथा के अनुसार वह विकृताकृति बच्चों को शुरू में ही नष्ट कर देने की व्यवस्था का समर्थन करता है। जनसंख्या को नियन्त्रित करने के लिए वह परिवार के लिए बच्चों की संख्या नियत करने के पक्ष में है तथा इस संख्या का अतिक्रमण रोकने के लिए वह गर्भपात को भी उचित समझता है, बशर्ते कि गर्भ में चेतना और प्राण का संचार होने से पहले ऐसा कार्य किया जाए।[3]

अरस्तू बच्चे का जन्म होने के बाद उसकी शारीरिक और नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था करता है: शैशव की **पहली** दशा में वह इसके भोजन, अंग-संचालन और ठंड का अभ्यासी बनाने पर बल देता है, ताकि वह कष्ट-सहिष्णु हो सके। **दूसरी** अवस्था पाँच वर्ष तक की है। इसमें बच्चों के शारीरिक गठन की ओर बहुत ध्यान देना चाहिए, उन पर पढ़ाई का बोझ नहीं डालना चाहिए, उनके अंगों के संचालन के लिए मनोरंजक खेलों का प्रबन्ध होना चाहिए। उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनानी और खेल कराने चाहिएँ, जो उन्हें भावी जीवन के लिए तैयार करने में सहायक हों। प्लेटो ने बच्चों के रोने-चीखने को बन्द कराने को कहा है, अरस्तू इन्हें उनके शरीर का व्यायाम समझता हुआ उनके विकास के लिए हितकर मानता है, फेफड़ों में वायु रोकने तथा प्राणायाम कराने की व्यवस्था करता है। बच्चों को कुसंगति से बचाना चाहिए, उन्हें न तो गालियाँ सुनने देनी चाहिएँ और न अश्लील चित्र देखने देने चाहिएँ। बचपन में पड़े हुए संस्कार गहरे होते हैं, अतः वह बच्चों को निम्न कोटि की किसी वस्तु के सम्पर्क में नहीं आने देना चाहता है। शिक्षा की **तीसरी** अवस्था 5 से 7 वर्ष तक की है। इस आयु के बच्चों को भी अभद्र और अश्लील तथा बुरी वस्तुओं के प्रभाव से बचाना चाहिए। अरस्तू इसके लिए राज्य में अश्लील चित्रों और नाटकों पर प्रतिबन्ध लगाने का समर्थन करता है। शासकों को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि कहीं भी अश्लील और अशोभन कार्यों की अनुकृति करने वाली मूर्तियाँ या चित्र न हों।[4] इसका अपवाद केवल परिपक्व अवस्था के स्त्री-पुरुषों की पूजा के लिए बने देव-मन्दिर हैं। उसके मतानुसार निश्चित परिपक्व आयु से पहले युवकों को निन्दा-नाटक (Mimes) और प्रहसन भी नहीं देखने चाहिएँ। 7 वर्ष तक बच्चे की शिक्षा घर में माँ-बाप के पास होनी चाहिए और उसकी कुछ बौद्धिक शिक्षा आरम्भ करनी चाहिए।

7 वर्ष के बाद शिक्षा दो खण्डों में विभक्त हो जाती है—(1) सात वर्ष से मस भीगने (चौदह वर्ष) तक का काल; (2) 14 से 21 वर्ष तक का काल। शिक्षा का उद्देश्य प्रकृति की कमियों को दूर करना तथा मनुष्य को पूर्ण बनाना है। शिक्षा राज्य

---

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 325-26.
2. वही, पृ० 326.
3. वही, पृ० 327.
4. वही, पृ० 330.

के नियन्त्रण में होनी चाहिए और सब नागरिकों के लिए एक जैसी होनी चाहिए। इसमें ऐसे विषयों का समावेश होना चाहिए, जो उपयोगी तथा नैतिक भावना उत्पन्न करने वाले हों। पढ़ाई, लिखाई और चित्रकला उपयोगी विषय होने के कारण पढ़ाए जाने चाहिएँ। व्यायाम का प्रशिक्षण साहस पैदा करने के लिए आवश्यक है। किन्तु स्पार्टा की भाँति मानसिक गुणों की उपेक्षा करते हुए एकमात्र कठोर शारीरिक शिक्षा पर बल देना ठीक नहीं है। 16-17 वर्ष तक हल्का व्यायाम किया जाना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में कठोर तथा उग्र व्यायाम शारीरिक विकास को अवरुद्ध कर देता है। ओलम्पिक क्रीड़ाओं में ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जिन्होंने बाल्यावस्था और युवावस्था में पुरस्कार प्राप्त किए हों (8/4)।[1]

संगीत की शिक्षा कई दृष्टियों से महत्त्व रखती है। इसमें मनुष्यों के हृदयों को आह्लादित करने की क्षमता है, अतः बच्चों को इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। निर्दोष आनन्द न केवल जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त होते हैं, किन्तु शारीरिक थकान दूर करने वाले तथा विश्राम में सहायक होते हैं। बच्चों को संगीत से प्राप्त होने वाला आनन्द, विश्रान्ति और मनोरंजन मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त संगीत हमारे चरित्र और आत्मा पर भी प्रभाव डालता है। ओलिम्पस जैसे कुछ राग आत्मा को उत्साह से भर देते हैं, उत्साह आत्मा के चारित्रिक अंश से सम्बन्ध रखने वाला मनोवेग है। उत्तम संगीत हमारे मन में उचित प्रकार के कामों के प्रति आनन्द की भावना उत्पन्न करने के कारण भलाई को प्रादुर्भूत करता है। संगीत की राग-रागिनियों और लयों का मनुष्य की आत्मा के साथ सहज सम्बन्ध है। पिथागोरस के अनुयायी स्वर-संवादिता (Harmony) को आत्मा मानते हैं, प्लेटो कहता है कि आत्मा में स्वर-संवादिता का निवास है। अरस्तू इसे आत्मा का गुण मानता है। अतः जब तक संगीत की शिक्षा नहीं होगी, आत्मा का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा। संगीत मनुष्य के नैतिक जीवन के विकास में भी बहुत सहायक है।

अरस्तू की उपर्युक्त शिक्षा पद्धति में कई गुण-दोष हैं। इसका सबसे बड़ा गुण मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होना है। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है। **दूसरा** गुण नागरिक को राज्य के उपयोगी अंग के रूप में ढालना है, ताकि वह राज्य के विकास में पूरा सहयोग दे सके। **तीसरा** गुण यह है कि शिक्षा मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। अरस्तू शरीर और मन की सभी शक्तियों का सन्तुलित विकास करना चाहता है। स्पार्टा की भाँति केवल शारीरिक शिक्षा को अपना लक्ष्य नहीं बनाता है।

अरस्तू की शिक्षा-पद्धति के कुछ बड़े दोष ये हैं: (क) वह बौद्धिक शिक्षा को बहुत देर में 14 वर्ष के बाद शुरू करता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्री इतनी देर से इसे आरम्भ करना ठीक नहीं समझते है। (ख) अरस्तू की शिक्षा में संगीत को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा की गई है। प्लेटो तथा अरस्तू की शिक्षा-पद्धतियों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अरस्तू 21 वर्ष तक शिक्षा को समाप्त कर देता है, प्लेटो इसे संरक्षकों के लिए 35 वर्ष तक चाहता है और

---

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 339.

शिक्षा को जीवन के अन्तिम समय तक चलाने वाली प्रक्रिया समझता है। वह 'अजराम-रवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' का समर्थक है।

मिश्रित संविधान (Mixed Constitutions)—अरस्तू ने प्लेटो की भाँति यूनान में प्रचलित वास्तविक शासन-प्रणालियों की समीक्षा करने के बाद मिश्रित संविधान का समर्थन किया है। वस्तुतः उसका आदर्श संविधान सर्वजनतन्त्र या मध्यवर्गतन्त्र (Polity), लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र का सम्मिश्रण है। कोई भी शासन-प्रणाली अपने-आपमें परिपूर्ण नहीं हो सकती, उसमें गुण-दोषों का होना अनिवार्य है। यूनानी विचारक विभिन्न प्रणालियों के गुणों का समन्वय कर एक आदर्श संविधान बनाने के पक्ष में थे। अरस्तू ने लिखा[1] है कि उस समय कुछ विचारक आदर्श संविधान को सब संविधानों का सम्मिश्रण मानते थे और स्पार्टा के संविधान के बारे में यह माना जाता था कि यह स्वतन्त्र, धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र का सम्मिश्रण है। अरस्तू ने स्वयमेव कार्थेज (2/11) तथा स्पार्टा (2/9) के राज्यों को मिश्रित संविधान वाला बताया है।

अरस्तू का मिश्रित संविधान लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के दोषों को दूर करते हुए उनके गुणों को समन्वित करने का यत्न था। उसके मतानुसार विभिन्न शासन-प्रणालियों का एक भेदक तत्त्व इनके शासन में विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों को प्रधानता दिया जाना है। जहाँ स्वतन्त्रता और समानता को महत्त्व दिया जाता है, वहाँ लोकतन्त्र होता है। अल्प या धनिकतन्त्र (Oligarchy) में धन को शासन में प्रमुखता मिलती है। गुण (Virtue) कुलीनतन्त्र का मुख्य तत्त्व है और सर्वजनतन्त्र (Polity) में स्वतन्त्रता तथा धन के दोनों तत्त्वों को प्रधानता दी जाती है। इस प्रकार इसमें लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के गुणों का समन्वय होता है। उसका मिश्रित संविधान मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है और पहले यह बताया जा चुका है कि इसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता होने के कारण यह लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के दोषों से मुक्त होता है। लोकतन्त्र में निर्धन जनता के छोटे प्रलोभनों से दूषित होने की सम्भावना होती है, उनमें शासन की योग्यता का अभाव होता है। दूसरी ओर धनियों में कानून की अवज्ञा करने का दोष होता है। मिश्रित संविधान दोनों प्रकार के दोषों से मुक्त होता है।

मिश्रित संविधान में जनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र का सम्मिश्रण तीन सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है: **पहला सिद्धान्त** लोकतन्त्रीय तथा धनिकतन्त्रीय नियमों को पूरी तरह एकसाथ मिला देना है। उदाहरणार्थ, न्यायालय में न्यायाधीश का कोई कार्य करने के बारे में धनिकतन्त्रों में यह व्यवस्था है कि यदि धनी न्यायाधीश चुने जाने पर न्याय का कार्य न करें, तो उन्हें अर्थदण्ड दिया जाता है, किन्तु निर्धनों को इस कार्य के लिए कोई वेतन नहीं दिया जाता है। दूसरी ओर लोकतन्त्रों में निर्धनों को न्याय कार्य के लिए वेतन दिया जाता है और धनियों को यह कार्य न करने पर दण्डित नहीं किया जाता। इन दोनों नियमों का समुचित मिश्रण पहला सिद्धान्त है। **दूसरे सिद्धान्त** में दोनों तन्त्रों के नियमों के आधार पर औसत निकालकर नियम बनाया जाता है।

1. बार्कर—पालिटिक्स, पृ० 60.

उदाहरणार्थ, जनतन्त्र की पद्धति असेम्बली की सदस्यता के लिए या तो साम्पत्तिक योग्यता की कोई शर्त नहीं रखती या स्वल्प सम्पत्ति की शर्त रखती है, धनिकतन्त्र में इसके लिए अधिक योग्यता की शर्त रखी जाती है। दोनों के समन्वय के लिए बीच की औसत निकाल लेनी चाहिए। यदि लोकतन्त्र में असेम्बली के सदस्य की उम्मीदवारी के लिए 10 रु० की आयवाली सम्पत्ति की शर्त हो और धनिकतन्त्र में 100 की शर्त हो) तो मिश्रित संविधान में इनकी औसत 55 रु० की शर्त होनी चाहिए। **तीसरा सिद्धान्त** कुछ नियम जनतन्त्र में से तथा कुछ नियम धनिकतन्त्र में से लेने का है। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र में शासकों का चुनाव गुटिका या परची पद्धति से तथा धनिकतन्त्र में मतदान द्वारा होता है। शासन के पदों के लिए कोई सम्पत्ति योग्यता न होना जनतन्त्रात्मक तथा साम्पत्तिक योग्यता का होना धनिकतन्त्रात्मक है। प्रत्येक पद्धति में से एक-एक तत्त्व लेने से दोनों का सम्मिश्रण हो सकता है, जैसे धनिकतन्त्र में से शासकों के निर्वाचन का नियम और प्रजातन्त्र में से साम्पत्तिक योग्यता के न होने का नियम। अरस्तू के मतानुसार मिश्रित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण स्पार्टा की शासन-प्रणाली थी।

मिश्रित संविधान का विचार अरस्तू के बाद भी लोकप्रिय रहा। रोमन युग के यूनानी विचारक पोलिबियस (Polybius) का यह मत था कि अमिश्रित संविधान परिवर्तन की प्रबल धारा में बह जाते हैं, केवल वही संविधान स्थायी हो सकता है, जिसमें लोकतन्त्र, धनिकतन्त्र और राजतन्त्र का सम्मिश्रण हो। सिसरो ने रोम के संविधान को इसी प्रकार का माना था। स्टोइक भी इसी के समर्थक थे।

अरस्तू का प्रभाव—अरस्तू का तत्कालीन यूनानी और परवर्ती रोमन विचारधारा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अपने शिष्य सिकन्दर को यह उपदेश दिया था कि वह यूनानियों पर नेता (Hegemon) के रूप में तथा बर्बर जातियों पर स्वामी (Despotes) के रूप में शासन करे। वह नगर-राज्य (Polis) का भी प्रबल समर्थक था। किन्तु 330 ई० पू० में जब वह अपने विद्यापीठ (Lyceum) में इसका प्रतिपादन कर रहा था तो सिकन्दर ने विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना करने की तथा यूनानियों और बर्बर जातियों का स्वामी बनने की योजना बनाई, शीघ्र ही इसे मूर्त्तरूप दिया और यूनानियों तथा ईरानियों के अन्तर्विवाहों द्वारा दोनों के भेदों को दूर करते हुए एक नये प्रकार के राज्य की कल्पना को जन्म दिया। वह विश्वव्यापी था और प्रत्येक जाति का व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता था। इसे **विश्वनगरी** (Cosmopolis) का विचार कहा जाता है। यह अरस्तू के नगर-राज्य (Polis) का विलोम था। अरस्तू के बाद के स्टोइक दार्शनिक ज़ीनो ने पोलिस के विरोध में विश्वनगरी के विचार का प्रबल समर्थन करते हुए कहा कि मनुष्यों को पृथक्-पृथक् राज्यों में न रहकर विश्वनगरी का नागरिक बनना चाहिए और एक जैसा जीवन और व्यवस्था (Cosmos) स्थापित करनी चाहिए। विश्वनगरी के दो मौलिक विचार—विश्वव्यापी संगठन तथा सब मनुष्यों की समानता और बन्धुभाव के थे। इससे राजनीति के इतिहास में नवयुग का श्रीगणेश हुआ। 1800 वर्षों तक (300 ई० पू० से 1500 ई०) योरोप में यही विचारधारा प्रबल रही और अरस्तू की विचारधारा दबी रही।

13वीं शताब्दी में डेढ़ हजार वर्ष की उपेक्षा के बाद योरोपिन विद्वान् पुनः अरस्तू की ओर आकृष्ट हुए। सन्त थामस एक्विनास ने अपनी शिक्षाओं में अरस्तू की

राजनीति के और सन्त आगस्टाइन की **देवनगरी** (City of God) के विचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया। इससे मध्यकालीन योरोप की विचारधारा में पहली बार अरस्तू की राजनीति के इन मौलिक सिद्धान्तों का समावेश हुआ कि कानून ही सर्वोच्च शासक है, सरकारों को कानून का वशवर्ती होना चाहिए, जनता को कुछ अधिकार प्राप्त हैं, वे अपने शासकों का चुनाव कर सकते हैं और उनके शासन की जाँच करने का अधिकार रखते हैं। सन्त थामस एक्विनास के माध्यम से अरस्तू के वैधानिक शासन के विचारों का प्रभाव न केवल कैथोलिक योरोप पर पड़ा, किन्तु इंगलैण्ड तथा अन्य देशों की वर्तमान राजनीति पर भी पड़ा। सन्त थामस एक्विनास से प्रेरणा ग्रहण करके रिचर्ड हूकर (Hooker) ने Ecclesiastical Polity में इन विचारों का समर्थन किया और हूकर से जॉन लॉक ने इन्हें ग्रहण करते हुए इनका प्रतिपादन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Treatises on Civil Government में किया। इससे बर्क ने प्रेरणा ग्रहण की और इंगलैण्ड तथा योरोप के अन्य देशों के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित किया।

डॉ० जानसन ने बासवेल को कहा था कि वैध शासन-सत्ता का समर्थन करने वाला पहला ह्विग (Whig) शैतान था। लार्ड एक्टन ने इसका संशोधन करते हुए कहा था कि पहला ह्विग शैतान नहीं, किन्तु सन्त थामस एक्विनास था। बार्कर ने उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि पहला ह्विग अरस्तू था, क्योंकि उसने सन्त थामस एक्विनास को वैध शासन की शिक्षा दी थी।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरस्तू योरोप में वैधानिक शासन की विचारधारा का प्रथम प्रवर्त्तक है। उसने मारसिलियो के Defensor Pacis, दाँते के De Monarchia तथा मेकियावेली के Prince पर बहुत प्रभाव डाला है। फ्रेंच विचारक माँतेस्क्यू अपने शक्ति-पार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त के लिए अरस्तू का ऋणी है। कार्ल मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic Interpretation of History) के तथा आर्थिक घटनाओं के राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव के सिद्धान्त पर अरस्तू के विचारों की स्पष्ट छाप है।

अरस्तू का मूल्यांकन—अरस्तू के उपर्युक्त प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि पश्चिम में वास्तविक रूप में राजनीतिक चिन्तन का श्रीगणेश करने वाला तथा इसे विज्ञान का रूप देने वाला अरस्तू था। उससे पहले प्लेटो ने यद्यपि इस प्रकार का चिन्तन किया था, किन्तु वह आदर्श-प्रधान था। अरस्तू का लक्ष्य और दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं यथार्थवादी था, उसने वास्तविक रूप में स्थापित किए जा सकने वाले आदर्श राज्य का प्रतिपादन किया। उसे इस बात का भी श्रेय है कि उसने इसे स्वतन्त्र विज्ञान बनाया और इसके अनुसन्धान में निरीक्षण और तथ्यों का संकलन तथा वर्गीकरण करके, इनके आधार पर राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों को निश्चित करने का प्रयत्न किया। अतः मैक्सी ने अरस्तू को **राजनीतिशास्त्र का पहला वैज्ञानिक** (First Political Scientist) कहा है।[2]

1. बार्कर—पालिटिक्स, भूमिका, पृ० 61.
2. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 59.

तीसरा अध्याय

एपीक्योरियन तथा स्टोइक विचारक

नगर-राज्यों का पतन तथा इसके परिणाम—प्लेटो और अरस्तू के समय यूनान का राजनीतिक चिन्तन अपने चरम उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गया था। इनके चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु नगर-राज्य था। किन्तु अरस्तू के जीवनकाल (384-322 ई० पू०) में ही नगर-राज्यों का ह्रास होने लगा। मैसीडोनिया के राजा फिलिप (382-336 ई० पू०) ने 359 ई० पू० में गद्दी पर बैठते ही अपनी सैनिक प्रतिभा और कुशल संगठन से नगर-राज्यों का विनाश आरम्भ किया, 338 ई० पू० में कैरोनिया (Chaeronea) के प्रसिद्ध युद्ध में एथेन्स और थीब्स की संयुक्त सेना को परास्त करके उसने सम्पूर्ण यूनान पर अपना आधिपत्य स्थापित किया और समस्त नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया। उसके बेटे महान् सिकन्दर (356-323 ई० पू०) ने एक विश्व-साम्राज्य का निर्माण किया। यद्यपि उसकी मृत्यु के बाद यह साम्राज्य कई हिस्सों में विभक्त हो गया, किन्तु राजनीतिक संगठन के आदर्श में मौलिक परिवर्तन आ गया। पहले अरस्तू ने नगर-राज्य को राजनीतिक संगठन का सर्वोत्तम रूप माना था, अब उसका स्थान सैनिक शक्ति पर आधारित विशाल साम्राज्य ने ले लिया। इसका राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसने प्लेटो और अरस्तू के चिन्तन के मुख्य आधार नगर-राज्य को समाप्त करके उनके चिन्तन को निरर्थक बना दिया। नवीन राजनीतिक परिस्थितियों के नये प्रकार ने राजनीतिक चिन्तन को अनिवार्य बना दिया। यूनानियों के मौलिक विचार की उड़ान उनके पराधीन होने के साथ समाप्त हो गई। जैलर (Zeller) ने लिखा है कि यूनानी कला की भाँति यूनानी दर्शन इसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपज था।[1] पहले मैसीडोनिया के तथा बाद में रोम के साम्राज्य द्वारा पराधीन बना लिए जाने पर यूनानी चिन्तन में ह्रास आना स्वाभाविक था। प्लेटो और अरस्तू ने यह माना था कि राज्य उत्तम जीवन बिताने के लिए परम आवश्यक है और नागरिकों को राज्य के कार्यों में पूरा भाग लेना चाहिए। किन्तु यूनानियों के पराधीन हो जाने पर उनके लिए यह सम्भव ही न रहा कि वे शासन-कार्य में भाग ले सकें, अतः अब उनमें ऐसे दार्शनिक विचारक उत्पन्न हुए, जो उत्तम जीवन का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य को

1. जैलर—दी स्टोइक्स, एपीक्योरियन्स, स्कैपिटिक्स, पृ० 10.

सच्चा आनन्द संयत जीवन बिताने और मन पर नियन्त्रण रखने से प्राप्त हो सकता था। यह राजनीतिक परिस्थितियों पर नहीं, किन्तु मनुष्य की अपनी मानसिक परिस्थिति पर निर्भर था, वह किसी भी शासन-प्रणाली में सुखी रह सकता था। इस प्रकार की विचारधारा को जन्म देने वाले प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय एपीक्योरियन और स्टोइक थे। जिस प्रकार मध्यकाल में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा पादाक्रान्त भारतीयों को भक्तिवाद से सन्तोष मिला था, उसी प्रकार यूनानियों को मैसीडोनिया तथा रोम द्वारा पराधीन बनाए जाने के बाद एपीक्योर (लगभग 342-270 ई० पू०) और ज़ीनो (4थी-3री श० ई० पू०) के सिद्धान्तों से शान्ति मिली।

नवीन विचारधारा की विशेषताएँ—नगर-राज्यों के पतन के बाद उत्पन्न होने वाली नई राजनीतिक विचारधारा की तीन बड़ी विशेताएँ थीं : **पहली** विशेषता इसका व्यष्टिवादी (Individualistic) होना है। प्लेटो तथा अरस्तू राज्य को व्यक्ति की तुलना में बहुत अधिक महत्त्व देते थे, राज्य से उसका पृथक् एवं भिन्न विकास सम्भव ही नहीं समझते थे। किन्तु नगर-राज्यों के पतन के बाद राज्य के सार्वजनिक कार्यों में यूनानियों की कोई दिलचस्पी नहीं रही, वे व्यक्ति को राज्य से भिन्न समझने लगे और उसके सुख के लिए राज्य की अपेक्षा दर्शन को अधिक महत्त्व देने लगे। पुराने दार्शनिक यह मानते थे कि व्यक्ति के और राज्य के हित में घनिष्ठ सम्बन्ध है, नवीन विचारक राज्य की उपेक्षा करते हुए व्यक्ति को सुखी बनाने के उपायों पर विशेष विचार करने लगे। यदि पहले राजनीतिक विचार का केन्द्र राज्य था तो अब वह व्यक्ति हो गया। "अब राज्य और समाज समानार्थक नहीं रहे, व्यक्ति राज्य से पृथक् रूप में चिन्तन का एक प्रधान विषय बन गया।"[1]

दूसरी विशेषता सार्वभौमता (Universalism) की थी। प्लेटो तथा अरस्तू का राजनीतिक आदर्श नगर-राज्य था। किन्तु अब यह अतीत की वस्तु हो गया। इसका स्थान पहले मैसीडोनिया के तथा बाद में रोम के विश्वव्यापी साम्राज्य ने लिया। अतः अब नगर-राज्य के स्थान पर विश्व की नागरिकता (Cosmopolitanism) के विचार को आदर्श समझा जाने लगा।

तीसरी विशेषता मानवीय समानता (Human equality) और विश्वबन्धुत्व का विचार है। अरस्तू यूनानी जाति को अन्य बर्बर जातियों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझता था। अब सिकन्दर की सेनाओं ने यूनानी और बर्बर जातियों को पराधीनता के पाश में बाँधकर उनमें समानता स्थापित की। अब मनुष्य नगर-राज्य के नहीं, किन्तु विश्व-राज्य के सदस्य बने, उन्हें समान माना जाने लगा।

ये तीनों विशेषताएँ राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में नवयुग का श्रीगणेश करने वाली हैं और 1900 वर्ष तक योरोप में इन्हीं सिद्धान्तों का प्राधान्य बना रहा। इनका आरम्भ एपीक्योरियन तथा स्टोइक विचारकों से तथा विकास रोमन विचारकों से होता है। ये अरस्तू तक के यूनानी विचारों से सर्वथा भिन्न और विरोधी विचार हैं। अतः डॉ० कार्लाइल ने यह ठीक ही लिखा है कि "राजनीतिक सिद्धान्त में कोई अन्य परिवर्तन इतना चौंकाने वाला (Startling) नहीं, जितना परिवर्तन अरस्तू के सिद्धान्त

1. मैकिलवेन—दि ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० 98.

में तथा सिसरो और सेनेका द्वारा प्रतिपादित परवर्ती दार्शनिक दृष्टिकोण में है।"[1] सेबाइन के मतानुसार 322 ई० पू० में अरस्तू की मृत्यु के साथ राजनीतिक दर्शन के इतिहास में एक युग की समाप्ति उसी तरह होती है, जैसे उससे एक वर्ष पूर्व मरने वाले उसके शिष्य के जीवन से राजनीति में नवयुग का आरम्भ हुआ था।[2]

इस नवयुग को लाने वाली दो प्रमुख विचारधाराओं एपिक्योरियनवाद (Epicureanism) तथा स्टोइकवाद (Stoicism) में कई सादृश्य थे : **पहला** तो यह था कि ये दोनों जीवन का उद्देश्य व्यक्ति को सुखी बनाना समझते थे। किन्तु इन दोनों में आनन्द के स्वरूप तथा इसे प्राप्त करने के साधनों के विषय में मतभेद था। एपिक्योरियन ऐन्द्रियिक एवं बौद्धिक—सभी इच्छाओं को संयत रूप में सन्तुष्ट करते हुए आनन्द प्राप्त करने के पक्षपाती थे, किन्तु स्टोइक मनोभावनाओं के दमन और विवेक बुद्धि द्वारा अनैतिक इच्छाओं का निरोध करना चाहते थे। भारतीय परिभाषा के अनुसार पहला मार्ग राजयोग का तथा दूसरा हठयोग का था। **दूसरा** सादृश्य राजनीति को नैतिकता से पृथक् करना तथा नैतिकता के नियमों में अधिक आस्था न रखना था। **तीसरा** सादृश्य यह था कि दोनों व्यक्ति का वास्तविक जीवन उसकी बाह्य परिस्थितियों पर नहीं, किन्तु आंतरिक अवस्था पर अवलम्बित समझते थे। यहाँ इन दोनों के राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव डालने वाले सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाएगा।

एपीक्योरियन सम्प्रदाय (Epicureanism)—इस दार्शनिक विचारधारा का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार का समकालीन एपिक्योरस (लग० 342-270 ई० पू०) था। उसका जन्म ऐसी राजनीतिक उथल-पुथल और आशान्ति के समय में हुआ, जब मैसीडोन यूनानी नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रहा था। यूनानी कई बार नई सत्ता - प्रति विद्रोह करते थे। इन विद्रोहों को दबाने के लिए विद्रोहियों को बड़े पैमाने पर दूसरे स्थानों में निर्वासित करके इनके स्थान पर मैसीडोनिया के लोग बसाए जा रहे थे। एपीक्योरस के माता-पिता को भी इस प्रकार निर्वासित होकर लघु एशिया भागना पड़ा था। ऐसे अशान्त राजनीतिक वातावरण में एपीक्योरस ने दर्शन द्वारा मनुष्य को सुखी बनाने का प्रयत्न किया। उसका यह मत था कि मनुष्य को दु:खी बनाने वाले दो प्रकार के भय हैं—देवताओं का भय और मृत्यु का भय।[3] इन दोनों का यथार्थ स्वरूप जानकर इनके आतंक से मुक्ति पानी चाहिए। देवताओं का इस सृष्टि के निर्माण में कोई हाथ नहीं है। डिमोक्रिटस की भाँति वह इस सृष्टि को अणुओं द्वारा निर्मित मानता था, क्योंकि कोई भी वस्तु अभाव से उत्पन्न नहीं हो सकती है। आजकल धर्म को शान्ति एवं सुख देने वाला समझा जाता है, किन्तु वह इसे मनुष्यों के मन में नरक आदि के अनेक भय उत्पन्न करने के कारण दुःख का स्रोत समझता है। उसके अनुयायी प्रसिद्ध रोमन कवि ल्यूक्रेशियस (Lucretius 99-55 BC) के शब्दों में "मानवीय जीवन धर्म के अत्याचार से पीड़ित हो रहा है।"[4] वह मनुष्य को

1. कार्लाइल—हिस्ट्री ऑफ मिडीवल पोलिटिकल थियोरी, खं 1, पृ० 2.
2. सेबाइन—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 129.
3. रसेल, बर्ट्रेण्ड—हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 259.
4. वही, पृ० 271.

धर्म और पारलौकिक जीवन की दुश्चिन्ताओं से मुक्त करके सुखी बनाना चाहता था।

राजनीति के क्षेत्र में एपीक्योरियन विचारधारा ने निम्नलिखित विचारों को रखा—

(1) **राजनीतिक जीवन की उपेक्षा**—प्लेटो तथा अरस्तू व्यक्ति के विकास के लिए राज्य को आवश्यक समझते थे। किन्तु एपीक्योरियन इससे पृथक् रहने पर बल देते थे; क्योंकि ल्यूक्रेशियस के मतानुसार सभ्य समाज का सदस्य बनने से मनुष्य में अनेक प्रकार की इच्छाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं, इनके न पूरा होने पर उसका दु:खी होना स्वाभाविक है। अत: सुखी रहने का यह उपाय है कि सार्वजनिक जीवन से पृथक् रहा जाए। जब मनुष्य इस जीवन में पड़ता है और शक्ति प्राप्त करता है तो अन्य व्यक्ति उससे ईर्ष्या करने लगते हैं, उसे हानि पहुँचाना चाहते हैं, यदि सौभाग्य-वश इनसे कोई क्षति न पहुँचे तो भी उसकी मानसिक शान्ति और सुख नष्ट हो जाता है। अत:, बुद्धिमान व्यक्ति को राज्य के प्रति वीतराग वृत्ति रखनी चाहिए, जब तक परिस्थितियाँ बाधित न करें, अच्छे आदमी को राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए और प्रत्येक प्रकार की शासन-प्रणाली में प्रसन्न रहना चाहिए। गैटिल के कथनानुसार, "एपीक्योरियन लोगों की यह शिक्षा थी कि शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने वाली किसी भी सरकार की आज्ञा का पालन करना चाहिए। सफल निरंकुश राजतन्त्र उतना ही अच्छा है जितना लोकतन्त्र। सिकन्दर और रोम द्वारा यूनान की विजय के बाद की परिस्थिति में इस सिद्धान्त की उपयोगिता स्वत: स्पष्ट है।"[1]

(2) **उपयोगितावाद**—व्यक्ति के सुख को चरम लक्ष्य मानने के कारण इन्होंने व्यक्तिवाद को प्रधानता दी। इसके साथ ही इन्होंने नैतिकता पर भी बड़ा प्रभाव डाला। प्लेटो तथा अरस्तू राजनीति में नैतिकता—न्याय और साधुता (Virtue) के उदात्त सिद्धान्तों को बड़ा महत्त्व देते थे। किन्तु अब इनकी कसौटी वैयक्तिक आनन्द की भावना हो जाने से उपयोगितावाद को अधिक महत्ता मिली। यह 19वीं शताब्दी में बेन्थम की उपयोगितावादी धारणा का मुख्य आधार बना। यूनान में अब नैतिकता के उच्च सिद्धान्तों का स्थान सुखवाद ने ग्रहण किया।

(3) एपीक्योरस ने न्याय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सामाजिक संविदा (Social Contract) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्लेटो के मतानुसार न्याय स्वधर्म का पालन था, किन्तु एपीक्योरस इसे केवल दूसरों को हानि न पहुँचाना और उन द्वारा पहुँचाई जाने वाली हानि से बचे रहने को दूरदर्शितापूर्ण व्यवस्था का चिह्न समझता था। उसका यह कहना था कि पूर्ण न्याय (Absolute Justice) जैसी कोई व्यवस्था नहीं है, न्याय और अन्याय मनुष्यों द्वारा अनुभव की जाने वाली आवश्य-कताओं से उस समय उत्पन्न हुए, जब मनुष्य एकत्र होकर रहने लगे तथा उन्होंने एक-दूसरे को हानि न पहुँचाने की विशेष संविदा या अनुबन्ध (Special Contract) किया।[2]

स्टोइक सम्प्रदाय—इसका प्रवर्त्तक ज़ीनो (4थी-3री श० ई० पू०) और

---

1. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ 57.
2. गफ—दी सोशल कान्ट्रेक्ट, पृ० 15-16.

प्रधान समर्थक सम्राट् नीरो का मन्त्री सेनेका (3-65 ई०), एक दास एपिक्टेटस (पहली श० ई०) तथा एक रोमन सम्राट् मार्कस औरेलियस (131-180 ई०) थे। यूनानी भाषा में स्टोआ (Stoa) ड्योढ़ी (Portico) को कहते हैं। ज़ीनो की आदत एक ड्योढ़ी के पास बैठकर शिक्षा देने की थी, अतः उसके अनुयायी स्टोइक कहलाए। पहले यह बताया जा चुका है कि सुख प्राप्ति के लिए ये अपनी इच्छाओं और तृष्णाओं का निरोध आवश्यक समझते थे। इनका कहना था कि साधुता (Virtue) इच्छा-शक्ति में रहती है। मनुष्य किसी भी परिस्थिति में हो, वह इच्छा-शक्ति और मन द्वारा अपने को सुखी बना सकता है।[1] भले ही उसे मृत्युदण्ड दिया जाए, वह सुकरात की भांति इससे भी प्रसन्न रहते हुए शान्तिपूर्वक मृत्यु का वरण कर सकता है। मनुष्य यदि सांसारिक इच्छाओं और तृष्णाओं से अपने को मुक्त कर ले तो वह स्वतन्त्र और सुखी रह सकता है। राजनीतिक विचारों की दृष्टि से स्टोइक लोगों के निम्नलिखित चार सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण थे—

(1) **विश्व की नागरिकता** (Cosmopolitanism)—सबसे पहले सिनिक दार्शनिकों ने यह दावा किया था कि वे किसी विशेष नगर के नहीं, किन्तु विश्व के नागरिक हैं। किन्तु उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों में यह विचार अधिक नहीं पनप सका। अब पहले मैसीडोन का तथा बाद में रोम का साम्राज्य स्थापित होने पर राजनीतिक परिस्थितियाँ इसके अनुकूल हो गईं। अतः ज़ीनो द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त बड़ा लोकप्रिय हुआ। डनिंग के शब्दों में, "जब यूनानी और बर्बर जातियों को पृथक् करने वाली दीवार बिल्कुल टूट गई; एथेन्स, थ्रेस, एशिया और मिस्र में रहने वाले व्यक्ति वस्तुतः एक राजनीतिक पद्धति के सदस्य बन गए तो विश्व की नागरिकता का विचार चिन्तनशील मनुष्यों के लिए स्वीकरणीय हो गया।[2] मार्कस औरेलियस ने लिखा था—"कवि एथेन्स को 'केक्रोप्स (Cecrops—पौराणिक कथाओं के अनुसार एथेन्स का पहला राजा) का नगर' कहकर सम्बोधित करता है, क्या तू विश्व को यह नहीं कह सकता कि 'तू ईश्वर का प्रिय नगर है।' (2) **विश्वबन्धुत्व और मानवीय समानता** (Human equality)—विश्व की नागरिकता से विश्व-बन्धुता का विचार उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है। जब सभी व्यक्ति विश्व के नागरिक हैं तो उनमें कोई भेदभाव कैसे हो सकता है? (3) **मानव-स्वभाव की दुष्टता**—स्टोइक यह समझते थे कि मानव प्रकृति स्वभावतः दुष्ट है, क्योंकि वह अपनी वासनाओं की पूर्ति में लगी रहती है। ईसाइयों ने इसी से प्रभावित होकर आरम्भिक पाप (Original Sin) का सिद्धान्त बनाया था और मानव स्वभाव की दुष्टता के निरोध के लिए वे राज्य को आवश्यक मानते थे। सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स आदि विचारकों ने इसी के आधार पर राज्य का औचित्य सिद्ध किया। (4) **प्राकृतिक कानून** (Natural Law)—राजनीति के क्षेत्र में स्टोइक सम्प्रदाय की यह सम्भवतः सबसे

---

1. मिलाइए, भर्तृहरि वैराग्य शतक श्लोक 53—मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः। तथा मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।—मैत्र्युपनिषद् 6/34.
2. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, खं० 1, पृ० 104-5.

बड़ी देन थी। ईसाइयत के एक आरम्भिक आचार्य टर्टुलियन(लग० 160-250 ई०) के मतानुसार ज़ीनो यह मानता था कि जैसा छत्ता शहद से ओत-प्रोत होता है, वैसे ही भगवान् इस भौतिक जगत् में व्याप्त है, उसी को मन (Mind), भाग्य (Destiny), सामान्य नियम, उचित बुद्धि (Right reason) आदि विभिन्न नामों से कहा जाता है।[1] यही समूचे जगत् को संचालित करने वाली शक्ति है। इसे नियति (Providence) या प्रकृति (Nature) भी कहा जाता है। प्रकृति के नियम सुनिश्चित, सामान्य, सार्वभौम, दैवीय बुद्धि पर आधारित, अटल तथा अपरिवर्तनशील हैं, इन्हें मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा जान सकता है। उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपना जीवन प्रकृति के नियमों के अनुकूल बिताए। इस प्रकार "प्रकृति सर्वोच्च, सार्वभौम कानून का मूर्त्त रूप है तथा आदर्श जीवन इस सार्वभौम कानून का अनुसरण करता है।" यद्यपि इस कानून को जानने का साधन व्यक्ति की बुद्धि है, किन्तु यह किसी विशेष व्यक्ति की बुद्धि न होकर मानव-जाति द्वारा किए जाने वाले सामान्य निर्णय हैं। मानव समाज के नियम और कानून सार्वभौम नियम (Universal law) के अनुसार बनने चाहिएँ। कोई भी सरकार या नियम-निर्माता इस प्राकृतिक या सार्वभौम कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता है।

स्टोइक विचारधारा का प्रभाव—स्टोइक लोगों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने विश्व को समता, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव, विश्वबन्धुत्व और प्राकृतिक नियम के सुस्पष्ट विचार दिए। यद्यपि स्टोइक दर्शन में प्लेटो का आदर्शवाद और अरस्तू की उच्च नैतिकता नहीं है, फिर भी अरस्तू के बाद ईसाइयत के आविर्भाव तक पश्चिम में दर्शन की प्रधान विचारधारा यही थी और इसने रोमन विचारधारा को और इसके द्वारा मध्यकालीन और अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन पर अमिट प्रभाव डाला है। रोमन विचारधारा पर इसके प्रभाव का मुख्य कारण यह था कि रोमन साम्राज्य के समय में स्टोइक आदर्शों के साथ अनुकूलता रखने वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। रोमन साम्राज्य में सब जगह एक-जैसा रोमन कानून लागू किया जाने लगा, विभिन्न महाद्वीपों और जातियों के व्यक्ति रोमन नागरिक समझे जाने लगे। इस प्रकार सार्वभौम कानून और विश्वनागरिकता के स्टोइक आदर्श मूर्त्त रूप में परिणत हुए। यद्यपि ये परिस्थितियाँ रोमन लोगों की सैनिक शक्ति तथा प्रशासन की प्रतिभा का परिणाम थीं, फिर भी रोमन साम्राज्य के आरम्भिक एवं सुदृढ़ शासनकाल में स्टोइक आदर्शों का बड़ा प्रभाव पड़ा। नीरो(37-68 ई०)के मन्त्री सेनेका तथा रोमन सम्राट् मार्कस औरेलियस ने इनका प्रचार किया। साम्राज्य के प्रधान विधिशास्त्रियों में पेपिनियन(Papinian d. 212 A.D.), पाल और उल्पियन (लग० 170-128 ई०) ने प्राकृतिक कानून के तथा सब मनुष्यों के साथ समान रूप से न्याय करने के सिद्धान्तों को मूर्त्त रूप दिया। "ईसाइयत ने रोमन साम्राज्य में सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से स्वीकार किए जाने वाले इन विचारों को ग्रहण किया और गम्भीरतम परिणामों के साथ इन्हें वर्तमान युग को प्रदान किया।"[2]

---

1. रसेल, बर्ट्रेण्ड—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 279.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, खं० 1, पृ० 106.

चौथा अध्याय

रोम के राजनीतिक विचार

रोम का महत्त्व—पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा में रोम का विशेष स्थान है। रोम ने प्लेटो और अरस्तू की भाँति उच्चकोटि के मौलिक विचारक उत्पन्न नहीं किए, राजनीतिक साहित्य को नवीन विचारों से समृद्ध नहीं किया। मैक्सी के कथनानुसार, "रोमन सभ्यता राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपने विचारों की मौलिकता के कारण प्रसिद्ध नहीं है। रोम के विचारक राजनीतिक विचारों को उत्पन्न करने वाले नहीं थे; किन्तु इनके व्याख्याता और इनका (यूनान से मध्यकालीन तथा अर्वाचीन योरोप तक) वहन करने वाले थे।"[1] रोम के प्रसिद्ध विचारक पोलिबियस (204-122 ई० पू०), सिसरो (106-43 ई० पू०) तथा सेनेका (लग० 3 ई० पू० से 65 ई० पू०) के आगे दिए जाने वाले विवरण से स्पष्ट हो जाएगा कि राजनीति के क्षेत्र में इन्होंने कोई नई देन नहीं दी; केवल पुराने यूनानी विचारों का पिष्टपेषण किया।

किन्तु मौलिकता का अत्यन्त अभाव होते हुए भी कई कारणों से राजनीतिक विचारधारा में रोम का असाधारण महत्त्व है। **पहला** कारण यह है कि अनेक शताब्दियों तक रोमन लेखक और विचारक विश्व में यूनानी विचारधारा के प्रसार के शक्तिशाली साधन और माध्यम बने रहे। स्टोइक लोगों के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त की जो व्याख्या और टीका सिसरो ने की, वह समूचे मध्ययुग में समादृत होती रही। **दूसरा** कारण रोम की राजनीतिक संस्थाओं और कानून का गहरा प्रभाव था। रोम के सुदीर्घ राजनीतिक जीवन में—753 ई० पू० में इस नगर की स्थापना से लेकर 476 ई० पू० में पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पतन तक यहाँ अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित रहीं। आरम्भ में लगभग ढाई सौ वर्ष तक (753-510 ई० पू०) यहाँ राजतन्त्र था। इसके बाद लगभग पाँच सौ वर्ष (510-30 ई० पू०) तक गणतन्त्र प्रणाली प्रचलित रही। इस समय रोम के साम्राज्य का इटली में तथा उससे बाहर अभूतपूर्व विकास हुआ। 30 ई० से 476 ई० तक रोम में सम्राटों का शासन रहा। इस समय में विकसित होने वाली राजनीतिक संस्थाओं ने और रोमन कानून ने राजनीतिक चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। आजकल इटली, स्विट्ज़रलैण्ड,

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० 80.

फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड तथा दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न राज्यों में कानून का मुख्य आधार रोमन कानून है। रोम की सबसे बड़ी देन उसका कानून है और इसने सभ्य जगत् की अधिकांश कानूनपद्धतियों को प्रभावित किया है। रोमन लोगों ने भले ही राजनीतिक प्रश्नों पर मौलिक दार्शनिक चिन्तन न किया हो, किन्तु अपनी राजनीतिक संस्थाओं से तथा कानून द्वारा परवर्ती चिन्तन पर अमिट प्रभाव छोड़ा है। रोमन यूनानियों की भाँति कोरे दार्शनिक नहीं, किन्तु अत्यधिक व्यावहारिक थे। यूनानियों ने विचार दिए थे, रोमन लोगों ने इन्हें क्रियात्मक रूप देने का यत्न किया। रोम का व्यावहारिक अनुभव और राजनीतिक संस्थाओं के उदाहरण व आदर्श, राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व रखते हैं। इन्हें समझने के लिए इसके राजनीतिक विकास का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

रोम के राजनीतिक विचारक—(1) पोलिबियस (204-122 ई० पू०)— रोम में राजनीतिक प्रश्नों पर सबसे पहले विचार करने वाला एक रोमन नहीं, किन्तु यूनानी राजनीतिज्ञ पोलिबियस था। इसने रोम के साम्राज्य के विकास का प्रतिपादन करते हुए राज्य के प्रादुर्भाव का, विभिन्न शासन-प्रणालियों के उत्थान और पतन के क्रम का तथा रोम के संविधान के विभिन्न अंगों का सुन्दर विश्लेषण करते हुए उसके स्थायित्व और सुदृढ़ता के कारणों की विवेचना की है।

राज्य का प्रादुर्भाव और शासन-प्रणालियों का परिवर्तन चक्र—पोलिबियस का शासन-प्रणालियों का वर्णन प्लेटो तथा अरस्तू के आधार पर है और इसमें परिवर्तन आने का क्रम भी लगभग वैसा ही है। उसका यह मत है कि बाढ़, अकाल, महामारी आदि विपत्तियों के कारण बहुधा मानव-जाति की संख्या बहुत थोड़ी रह जाती है। ये थोड़े से आदमी सहज प्रवृत्ति के कारण एकत्र होते हैं तथा पशुओं की भाँति अपने ऊपर सबसे शक्तिशाली व्यक्ति का शासन स्थापित होने देते हैं, इस प्रकार शक्ति पर आधारित शासन के सबसे पहले रूप राजतन्त्र की स्थापना होती है। बुद्धि और अनुभव के विकास के साथ न्याय और कर्त्तव्य के विचारों को प्रधानता मिलती है और राजतन्त्र को नैतिकता पर आधारित माना जाने लगता है। इस प्रकार प्राकृतिक स्वेच्छाचार (Natural despotism) राजतन्त्र में परिणत होता है। किन्तु जब राजा न्याय और नैतिकता का परित्याग कर स्वेच्छाचारी निरंकुश तानाशाह (Tyrant) बनता है और राजतन्त्र तानाशाही (Tyranny) के दूषित रूप में परिणत होता है, तो इस शोचनीय स्थिति का अन्त करने के लिए जनता में कुछ सद्गुणी (Virtuous) नेता उत्पन्न होते हैं। वे तानाशाही के स्थान पर अभिजाततन्त्र (Aristocracy) की स्थापना करते हैं, किन्तु यह शासन भी शनैः-शनैः कुछ मुट्ठी-भर व्यक्तियों के अन्याय-पूर्ण और अनैतिक धनिकतन्त्र (Oligarchy) में बदल जाता है। जब जनता ऐसे उत्पीड़क शासकों के विरुद्ध विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करती है और शासन का संचालन सब लोगों की भलाई की दृष्टि से किया जाता है तो लोकतन्त्र स्थापित होता है। किन्तु शीघ्र ही इसमें झगड़े उत्पन्न होते हैं। धनी निर्धन का शोषण करने लगते हैं। अन्याय और असन्तोष बढ़ जाता है और लोकतन्त्र का दूषित रूप 'भीड़ का शासन' स्थापित हो जाता है। इसे पोलिबियस ने **भीड़तन्त्र** (Ochlocracy) का नाम दिया है। किन्तु शीघ्र ही भीड़तन्त्र के अन्यायों और अत्याचारों का विरोध करने के लिए

एक साहसी नेता का आविर्भाव होता है; वह जनता के समर्थन द्वारा सारी शासन-सत्ता हस्तगत कर राजतन्त्र की स्थापना करता है। इस प्रकार विभिन्न शासन-प्रणालियों के परिवर्तन का एक क्रम या चक्र पूरा होने पर दूसरा चक्र चलने लगता है, क्योंकि प्रत्येक शासन-प्रणाली में उसके विनाश के बीज निहित रहते हैं।

मिश्रित संविधान—पोलिबियस के मतानुसार शासन में स्थिरता लाने तथा इस परिवर्तन चक्र को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न शासन-प्रणालियों के उत्कृष्ट तत्त्वों का सम्मिश्रण किया जाए। इससे शासन में ऐसे निरोध और सन्तुलन (Checks and balances) स्थापित किए जाएँ कि एक शासन-प्रणाली को नष्ट करने वाले तत्त्वों का विरोध करने वाले दूसरे तत्त्व बने रहें और उसे विनाश से बचाते रहें। उनके मतानुसार इस प्रकार की सफल व्यवस्था स्पार्टा की शासन-प्रणाली में लाइकरगस ने अपनी प्रतिभा, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से की थी। किन्तु इससे भी उत्कृष्ट व्यवस्था रोमन लोगों ने अपने संविधान में बार-बार आने वाले संकटों से प्राप्त होने वाली शिक्षाओं के आधार पर की है। इनके संविधान में तीनों प्रकार की शासन-प्रणालियों का सम्मिश्रण है। इसमें कांसुल राजतन्त्र के सिद्धान्त का, सीनेट कुलीनतन्त्र के तथा असेम्बलियाँ जनतन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करती हैं। रोमन संविधान के इन तीनों तत्त्वों में से प्रत्येक अन्य तत्त्वों को नियन्त्रण में रखता है और कोई भी तत्त्व अन्य तत्त्वों की सहमति के बिना काम नहीं कर सकता है। इसमें सब अंग एक-दूसरे पर नियन्त्रण रखते हैं, कोई भी अंग अत्यधिक प्रबल और शक्तिशाली नहीं होने पाता, सब में सन्तुलन बना रहता है।

यद्यपि प्लेटो तथा अरस्तू ने मिश्रित संविधान की चर्चा की थी, किन्तु पोलिबियस को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम रोमन साम्राज्य के क्रियात्मक अनुभव के आधार पर इसके गुणों का विशद वर्णन किया तथा 'निरोध और सन्तुलन' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पोलिबियस के राज्य के तीनों अंगों में शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त का मध्यकालीन तथा अर्वाचीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। सेण्ट थामस एक्विनास, लॉक तथा माँतेस्क्यू ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। संयुक्त राज्य अमरीका के राजनीतिज्ञ जेफरसन और एडम्ज़ पोलिबियस के सिद्धान्तों से परिचित थे। अमरीका के संविधान में निरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया गया। वर्तमान राजनीतिशास्त्र इसमें गहरी आस्था रखता है।

(2) सिसरो (106 ई० पू०—43 ई० पू०)—मध्य युग की चिन्तनधारा पर प्रभाव डालने वाला यह वाग्मी वकील, सुप्रसिद्ध वक्ता, सफल गद्य लेखक और विफल राजनीतिज्ञ ऐसे समय में हुआ, जब पोलिबियस द्वारा प्रशंसित रोमन गणराज्य का संविधान विनाशोन्मुख था। इसके मुख्य कारण साम्राज्य द्वारा उत्पन्न नवीन आर्थिक परिस्थितियाँ, सीनेट और असेम्बलियों की तीव्र प्रतिद्वन्द्विता, विरोध एवं प्रमुख सेनापतियों के षड्यन्त्र और गुटबन्दियाँ तथा गृह-युद्ध थे। सिसरो ने अपनी प्रसिद्ध वक्तृताओं द्वारा गणराज्य को तथा पुरानी संस्थाओं को सुरक्षित बनाए रखने के लिए जूलियस सीज़र का और मार्क एण्टनी का विरोध किया और इसी में उसे अपने प्राण गँवाने पड़े। जूलियस सीज़र के उत्कर्ष के समय (54-44 ई० पू०) उसने राजनीति-

शास्त्र के विषय में रिपब्लिक (De Republica) और लाज़ (De Legibus) नामक ग्रन्थ लिखे। इनका नामकरण इन्हीं नामों वाले प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। इनमें प्लेटो की प्रश्नोत्तर व संवाद की शैली का अनुकरण है। इनका उद्देश्य भी प्लेटो की भाँति आदर्श राज्य का तथा उसके नियमों का वर्णन करना है। उसके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) **प्राकृतिक कानून का विचार**(Concept of Natural law)—सिसरो के मतानुसार समूची प्रकृति और विश्व का शासन भगवान् द्वारा हो रहा है। इस सृष्टि में मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है क्योंकि उसमें बुद्धि का गुण है। इसी कारण वह अन्य प्राणियों से भिन्न तथा विश्व के स्रष्टा भगवान् के साथ सादृश्य रखता है। मानवीय प्रकृति के इस दैवी गुण के कारण वह सत् (Right) और न्याय के चरम सिद्धान्तों को समझता है, इनमें भाग लेता है। ये वही सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार भगवान् विश्व का शासन करता है। सब मनुष्यों की प्रकृति समान है, सबको प्रकृति ने सत् बुद्धि (Right reason) की शक्ति प्रदान की है, इसके साथ ही वह कानून भी दिया है, जो हमें अच्छे कार्य करने तथा बुरे कामों से पृथक् रहने का आदेश देता है। यह कानून सार्वभौम शाश्वत, सत्य तथा विभिन्न राज्यों के कानूनों से प्रबल एवं सर्वोपरि होता है।

सिसरो का प्राकृतिक नियम वस्तुतः प्रकृति का नहीं, किन्तु ईश्वर का नियम है, क्योंकि वह 'ईश्वर का आदिम और अन्तिम (Primal and ultimate) मन है।''[1] सब देशों के कानून इस प्राकृतिक नियम के अनुसार होने चाहिएँ, यदि ऐसा नहीं है तो किसी व्यक्ति को इन नियमों का पालन करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता है। प्लेटो ने राज्य में केवल दार्शनिक राजा को ही कानून से ऊपर माना था, किन्तु सिसरो प्राकृतिक नियम से प्रतिकूलता रखने वाले कानूनों के भंग का अधिकार सभी नागरिकों को देता है क्योंकि ऐसे नियमों को उसी प्रकार कानून नहीं कहा जा सकता है, जैसे चोरों के एक समूह द्वारा अपनी असेम्बली में पास किए गए नियम कानून नहीं बन सकते हैं।

सिसरो के अन्य उल्लेखनीय राजनीतिक सिद्धान्त सब मनुष्यों की प्राकृतिक समानता, विश्वव्यापी राज्य, राज्य और समाज की धारणा, मिश्रित संविधान और शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण और परिवर्तन चक्र तथा जनता का महत्त्व है। समानता पर बल देते हुए उसने कहा था कि "कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु के साथ संसार में इतना गहरा सादृश्य नहीं रखती, जितना एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य का होता है। मनुष्यों को पशुओं से ऊँचा उठाने वाली बुद्धि, सबमें समान रूप से पाई जाती है। यह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं होता है।" जब सब व्यक्ति समान हैं, एक ही प्राकृतिक नियम से शासित होते हैं तो इनका एक विश्वव्यापी राज्य का नागरिक होना स्वाभाविक है। सिसरो यह समझता था कि जैसे रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले व्यक्ति रोमन कानून द्वारा शासित होने के कारण उसका अंग होते हैं, वैसे ही एक सार्वभौम कानून के आधीन होने से सब मनुष्य एक विश्वव्यापी साम्राज्य का अंग हैं। सिसरो ने प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति राज्य और समाज

1. फोस्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 183.

में अभेद नहीं माना। उसके मतानुसार राज्य सामान्य कल्याण के लिए एक सामान्य कानून द्वारा शासित होने वाला समुदाय है। समाज राज्य से पुराना, विशाल और विश्वव्यापी है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वह एक सामाजिक संविदा का भी अस्पष्ट उल्लेख करता है।[1] वह जनता को बहुत महत्त्व देते हुए राज्य का आधार समूची जनता (Populus) की सहमति मानता है। प्लेटो तथा अरस्तू ने केवल नगर-राज्य या पोलिस और इसके सामाजिक वर्गों का वर्णन किया था। जनता को पश्चिमी जगत् में सिसरो तथा रोमन कानून ने महत्त्वपूर्ण बनाया। मिश्रित संविधान और शासन-प्रणालियों के परिवर्तन चक्र के सम्बन्ध में सिसरो ने पोलिबियस का अनुसरण किया है।

सिसरो के विचारों में मौलिकता न होते हुए भी उसका राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व है। उसका मुख्य कार्य यूनानी विचारों को रोम के विचार-जगत् का अंग बनाना था। 1500 वर्ष बाद उसका यह सिद्धान्त माना जाने लगा कि सार्वभौम नियम के प्रतिकूल की जाने वाली कोई व्यवस्था कानून नहीं मानी जानी चाहिए।[2] विलोबी के मतानुसार उसने रोम के कानूनी विचारों के साथ यूनानियों के न्याय तथा समत्व (Equity) के विचारों को मिलाकर रोमन विधिशास्त्र को विकसित करने तथा पूर्ण बनाने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।[3]

(3) **सेनेका (लगभग 3 ई० पू० — 65 ई० पू०)**—यह स्टोइक मतानुयायी एवं रोम के सम्राट् नीरो (54-68 ई०) का गुरु था। सिसरो का आविर्भाव रोमन गण राज्य के पतन की घड़ियों में हुआ था। सेनेका रोमन साम्राज्य के आरम्भिक युग में हुआ। इस समय निरंकुश सम्राटों का बोलबाला था, उनके अत्याचार बढ़ते जा रहे थे, राज्य नैतिक उन्नति का नहीं, किन्तु स्वार्थलिप्सा, लोभ और भ्रष्टाचार का साधन बना हुआ था। शासक एवं जनता दोनों का पतन हो चुका था। जो शासक जितना पतित और भ्रष्टाचारी होता था, वह उतना ही अधिक लोकप्रिय होता था। राजनीतिक और वैयक्तिक जीवन में सद्गुण, भलाई और साधुता लुप्त हो चुकी थी। जब नीरो के अत्याचार बढ़ने लगे और सेनेका ने अपने शिष्य के कार्यों से असन्तोष प्रकट किया तो शिष्य ने गुरु पर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करने एवं उसे पदच्युत करने का आरोप लगाया और उसकी पहली सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए उसे स्वयं आत्महत्या करने का दण्ड दिया। गुरु ने स्टोइक सिद्धान्तों का पालन कर अपूर्व धैर्य के साथ अपनी नाड़ियाँ काटते हुए कहा कि "मेरी परवाह मत कीजिए। मैं सांसारिक सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् सद्गुणी जीवन का उदाहरण आपके लिए छोड़कर जा रहा हूँ।"[4]

सेनेका अपने समय के नैतिक और राजनीतिक पतन से व्यथित और निराश था। उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने राज्य और समय से बहुत दूर मानव

---

1. मैकिलवेन—ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० 117.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 125.
3. विलोबी—दी पोलिटिकल थियोरीज ऑफ दी एंशेण्ट वर्ल्ड, पृ० 215.
4. रसेल, बर्टेण्ड—हिस्ट्री ऑफ फिलासफी, पृ० 283.

समाज के उन्नत, नैतिक और सुखी होने की कल्पना करे। अतः उसने दो बातों पर बल दिया—समाज (Society) और राज्य (State) का भेद तथा स्वर्णयुग की कल्पना। घोर नैतिक पतन वाले युग में रहने पर भी वह यह मानता था कि एक भले आदमी के समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं। यह समाज रोम आदि के राज्यों से पृथक् है, अपने में समूची मानव-जाति का समावेश करता है तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। सेनेका के मतानुसार यह समाज सुदूर अतीत में चिरकाल तक विशुद्ध बना रहा।

सेनेका के इन दोनों विचारों का परवर्ती राजनीतिक विचारधारा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके राज्य और समाज के पृथक् होने के विचार ने सेण्ट आगस्टाइन तथा रोमन कैथोलिक चर्च के विचारकों को ईश्वरीय और लौकिक दो प्रकार के स्ततन्त्र संगठन और राज्य मानने की प्रेरणा दी। उसके स्वर्णयुग की कल्पना ने ईसाइयत की शिक्षाओं पर गहरा प्रभाव डाला। उसके अनुसार मनुष्य पहले निष्पाप दशा में रहते थे, बाद में उनका पतन हुआ। यह विचार बाइबल के आरम्भ में दी गई आदम-हव्वा की सुप्रसिद्ध कहानी, उनकी प्राक्तन पवित्रता और परवर्ती पतन के साथ मिला दिया गया। ईसाइयों को उसका यह सिद्धान्त इतना पसन्द था कि कई आरम्भिक ईसाई आचार्य (Fathers) सेनेका को ईसा का मतानुयायी समझते थे।[1] उसके स्वर्ण-युग की प्रशंसा के गीतों ने मध्ययुग में स्वप्नलोकों (Utopias) की कल्पना को तथा रूसो आदि के विशुद्ध प्राकृतिक दशा की ओर लौटने (Back to Nature) के सिद्धान्तों को प्रभावित और पुष्ट किया। इसके अतिरिक्त उसने कानून के महत्त्व पर भी बल दिया, इसे वह मनुष्य की सही विवेकबुद्धि (Right Reason) मानता था। उसके शब्दों में, "वास्तविक कानून अर्थात् सही विवेक प्रकृति के अनुकूल होता है, सभी व्यक्तियों पर समान रूप से प्रभावशाली है तथा अपरिवर्तनीय और चिरस्थायी है।"

रोमन कानून की विशेषताएँ—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में रोम की सबसे बड़ी देन कानून की है। "राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए रोम का अर्थ कानून और विधिशास्त्र है। रोमन लोगों ने प्राचीन जगत् में सबसे अधिकपूर्ण कानूनी पद्धति का विकास किया।[2] कानून के क्षेत्र में उनकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(1) भावात्मक (Positive) कानून का विचार, (2) वैयक्तिक अधिकारों का सिद्धान्त, (3) प्रभुसत्ता का सिद्धान्त, (4) राज्य को कानूनी सत्ता मानना, (5) तीन प्रकार के कानूनों का विकास।

(1) भावात्मक कानून का विचार (Idea of Positive Law)—यूनानियों में कानून का मूल स्रोत और उसे लागू कराने वाली शक्ति धार्मिक या नैतिक समझी जाती थी। डिमास्थनीज़ ने अपनी एक सुप्रसिद्ध वक्तृता में कहा है—"कानून का मूल धर्म है, यह देवताओं का उपहार है···यह बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है और अन्ततोगत्वा नगर-राज्य के सदस्यों द्वारा किया हुआ समझौता है।[3] यूनानियों में भावात्मक कानून का यह विचार नहीं विकसित हुआ कि यह किसी

1. रसेल – हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ॰ 283
2. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज पृ॰ 80.
3. विनोग्रेडोफ—हिस्टोरिकल ज्यूरिस्प्रूडन्स, खण्ड 2. पृ॰ 74

निश्चित, उत्कृष्ट मानव का आदेश है, वे इसे ईश्वरीय आज्ञा मानते रहे। रोमन लोगों को इस बात का श्रेय है कि वे कानून को आसमान से धरती पर लाए, उन्होंने इसे राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण धार्मिक के स्थान पर लौकिक (Secular) बनाया। उनके विशाल साम्राज्य में नाना धर्मों को मानने वाले व्यक्ति निवास करते थे, उनके लिए यह असम्भव था कि वे इनमें से किसी एक धर्म तथा नीतिशास्त्र के साथ कानून का समन्वय करते। अतः उन्होंने कानून को धर्म और राजनीति से पृथक् कर दिया। रोमन साम्राज्य के नागरिक कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य थे, किन्तु इसका आधार यह नहीं था कि ये कानून धर्मानुकूल, न्याय्य, उचित एवं नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार बने हुए थे, किन्तु उनके लिए इनका पालन इसलिए आवश्यक था कि ये जनता की इच्छा प्रकट करने वाली सर्वोच्च राजनीतिक शासन-सत्ता के आदेश थे।

जनता की इच्छा असेम्बली द्वारा, सीनेट द्वारा और बाद में सम्राटों द्वारा अभिव्यक्त होने वाली मानी गई। विकास की इस प्रक्रिया में यह सर्वमान्य हो गया कि कानून राज्य की इच्छा है, वह राज्य द्वारा बनाया जाता है और राज्य ही उसका पालन कराता है।

(2) रोमन कानून की **दूसरी विशेषता वैयक्तिक अधिकारों का विकास** तथा **राज्य को कानूनी रूप प्रदान करना है।** इन कानूनी अधिकारों का निर्धारण शनैः-शनैः कांसुलों, न्यायाधीशों (Praetors), ट्रिब्यूनों, सीनेट के सदस्यों तथा अन्य उच्च अधिकारियों ने किया; न कि देवताओं, उच्च आदर्शों या नैतिकता के सामान्य सिद्धान्तों ने। यूनानी विचारधारा में अधिकार (Right), कानून (Nomos) से स्वतन्त्र और पूर्ववर्ती समझा जाता था। अधिकार में दो विचार जुड़े हुए थे—पहला विचार भलाई या साधुता (Righteousness) का था और दूसरा विचार किसी व्यक्ति या समूह से सम्बन्ध रखने वाले विशेषाधिकार थे। रोमन लोगों ने दूसरे विचार को महत्त्व देते हुए अधिकार (Jus) को कानून (Lex) का वशवर्ती बना दिया। अब प्रत्येक व्यक्ति के कुछ विशेष अधिकार माने जाने लगे। गैटिल के शब्दों में रोमन लोगों ने राज्य और व्यक्ति को पृथक् करते हुए प्रत्येक को कुछ निश्चित अधिकार और कर्त्तव्य प्रदान किए। राज्य समाज की सत्ता के लिए आवश्यक और स्वाभाविक संगठन था, किन्तु रोमन लोगों ने राज्य के स्थान पर व्यक्ति को अपने कानूनी विचार का केन्द्र बनाया। राज्य की सत्ता का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा थी। इस प्रकार राज्य सुनिश्चित सीमाओं के भीतर ही अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता था, और नागरिक भी ऐसे अधिकार रखने वाला व्यक्ति माना जाता था जिनकी रक्षा अन्य व्यक्तियों से तथा सरकार के अवैध अपहरण (Encroachment) से की जानी चाहिए।"[1] इस प्रकार उन्होंने राज्य को निश्चित अधिकारों वाला कानूनी व्यक्ति माना तथा व्यक्ति को अनेक कानूनी अधिकार प्रदान किए।

(3) **प्रभुसत्ता का विचार** (Sovereignty)—राज्य को कानूनी व्यक्ति (Legal person) मानने का उपर्युक्त विचार विकसित होने के साथ अन्य व्यक्तियों की भाँति उसकी कुछ विशेषताएँ और गुण माना जाना स्वाभाविक था। रोम में

1. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 68.

प्राचीन काल से यह सिद्धान्त सर्वमान्य था कि राजनीतिक शासन-सत्ता का मूल स्रोत जनता है, अतः राज्य में जनता सर्वोच्च सत्ता रखती है। इसका प्रतीक राज्य का अध्यक्ष कांसुल या सम्राट् होता था। अतः उसमें यह सर्वोच्च प्रभुसत्ता निहित होनी चाहिए। साम्राज्य बनने के बाद सम्राट् अथवा प्रथम नागरिक (Princeps) में यह प्रभुसत्ता रहती थी। इसका कारण यह माना जाता था कि उसमें प्रताप (Grandeur) की उत्कृष्टता (Majestus) का निवास है। 16वीं शताब्दी में इसके लिए लैटिन के Sovereignty शब्द का प्रयोग होने लगा और प्रभुसत्ता के आधुनिक विचार का विकास हुआ। जनता को सत्ता का अन्तिम स्रोत मानने के कारण हमें रोमन कानून में जनतावासी प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के विचार का सर्वप्रथम परिचय मिलता है।

(4) **तीन प्रकार के कानूनों के विकास**—रोम में शनैः-शनैः तीन प्रकार के कानूनों के विचार का विकास हुआ—जस सिविली (Jus Civili), जस जैन्शियम (Jus Gentium) तथा जस नेचुरली (Jus Naturalae)। जस सिविली रोम का राष्ट्रीय या दीवानी (Civil or Municipal) कानून था। यह द्वादश पट्टिकाओं पर आधारित था और रोमन नागरिकों के आपसी कानूनी सम्बन्धों को नियन्त्रित करता था। द्वादश पट्टिकाओं वाला कानून जब अपूर्ण प्रतीत हुआ तो न्यायाधीशों (Praetors) के निर्णयों तथा कानून का विशेष ज्ञान रखने वाले विधि-परामर्शदाताओं (Juriconsults) की सम्मतियों से इसका विस्तार होने लगा। इस समय रोमन साम्राज्य और उसका व्यापार बहुत तेजी से बढ़ रहा था, अतः तीसरी श० ई० पू० में रोम में आने वाले विदेशियों की संख्या इतनी बढ गई कि इनके मामलों पर विचार एवं निर्णय करने के लिए विशेष न्यायाधीश (Praetor) नियत किए जाने लगे। ये रोम में स्थित विदेशियों पर रोम का दीवानी कानून लागू करने के लिए बाध्य थे, किन्तु दो विदेशियों में विवाद हो तो अनेक अवस्थाओं में इन पर विशुद्ध रोमन कानून लागू करना न्यायपूर्ण नहीं होता था। ऐसी अवस्थाओं के लिए न्यायाधीश कानून के ऐसे सिद्धान्तों का विकास करने लगे, जो रोमन लोगों एवं विदेशियों पर सामान्य रूप से लागू किए जा सकें। इसे विकसित करने का प्रधान श्रेय न्यायाधीश पेरिग्रिनस को दिया जाता है। इसे **जस जैन्शियम** अर्थात् सब राष्ट्रों के लिए सामान्य कानून का नाम दिया गया। इसमें मुख्य रूप से निम्न नियमों का समावेश होता था—युद्ध के तथा राष्ट्रों की सीमाओं के नियम, खेतों, घरों, यातायात, क्रय-विक्रय तथा किराये पर वस्तुओं के लेने-देने के नियम।

कानून का तीसरा प्रकार **प्राकृतिक कानून** (Jus Naturalae) है। साम्राज्य का अधिक विस्तार होने पर सम्राट् के पास सभी देशों से जटिल कानूनी प्रश्नों के निर्णय के लिए अपीलें आने लगीं। सम्राट् विधिशास्त्रियों से इनके सम्बन्ध में सलाह लिया करता था। इस समय उनसे यह आशा रखी जाती थी कि वे समूचे साम्राज्य पर लागू किए जाने वाले सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें। अतः उनके लिए कानून की, अधिकारों की तथा न्याय की सूक्ष्म मीमांसा करना आवश्यक हो गया। इससे न केवल रोमन विधिशास्त्र (Jurisprudence) में परिपक्वता आई, अपितु इसके साथ सब देशों और जातियों में तथा समूची प्रकृति में पाए जाने वाले सामान्य तत्त्वों के आधार पर प्राकृतिक कानून (Natural Law) की कल्पना का जन्म हुआ।

जस्टीनियन द्वारा रोमन कानून का संकलन—रोमन सम्राट् जस्टीनियन (527-565 ई० पू०) ने छठी शताब्दी ई० में रोमन कानूनों के संकलन, वर्गीकरण और स्पष्टीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए सुयोग्य विधि-वेत्ताओं के आयोग तथा समितियाँ बनाईं। इन्होंने कानूनों का जो विशाल संग्रह किया, वह विधि निकाय (Corpus Juris) या जस्टीनियन की संहिता (Code of Justinian) कहलाता है। इसके प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं: (क) **डाइजैस्ट** (Digest) या निबन्ध—इसमें विभिन्न विषयों पर सुप्रसिद्ध रोमन विधिशास्त्रियों के विस्तृत उद्धरण दिए गए हैं। सबसे अधिक अवतरण तीसरी श० के विधिशास्त्री उल्पियन के हैं। राजनीतिक विचारों के इतिहास की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इसमें तीसरी से छठी शताब्दी तक के रोमन विचारों का सुन्दर परिचय मिलता है। इसे 16 विधिशास्त्रियों ने तीन वर्ष में तैयार किया था। (ख) **इन्स्टीट्यूट्स** (Institutes)—इसमें विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से रोमन कानून के सिद्धान्तों का संक्षेप से विवेचन है। यह 533 ई० में तैयार हुआ था। (3) साम्राज्य के प्रारम्भिक काल के सार्वजनिक और वैयक्तिक कानून सम्बन्धी सभी शाही नियमों और आदेशों का संग्रह। (4) सम्राट् जस्टीनियन के कानूनों का संग्रह (Novelli)। बाइबल के बाद पश्चिमी सभ्यता पर सबसे अधिक प्रभाव जस्टीनियन के कोड विधिसंहिता का ही है।

रोमन कानून का यह प्रामाणिक संकलन परवर्ती राजनीतिक विचारधारा के लिए कामधेनु सिद्ध हुआ है। इसके आधार पर विभिन्न विद्वान् राजा के निरंकुश अधिकारों का तथा जनता के मौलिक अधिकारों का समर्थन करते रहे हैं। इन्स्टीट्यूट्स (1/2/6) में कहा गया है कि राजा कानून का स्रोत है, इसके आधार पर मध्ययुग में राष्ट्रीय राजाओं की प्रभुसत्ता को पुष्ट किया गया। दूसरी ओर लोकतन्त्र और क्रान्ति के समर्थकों ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए इसके प्राकृतिक कानून का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार सब व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होते हैं (इंस्टी. 1/2/2) तथा सबके प्राकृतिक अधिकार समान होते हैं (उल्पियन, डाइजैस्ट 50/17/32)। रोमन कैथोलिक चर्च का संगठन तथा इसके धार्मिक कानून (Canon Law) का निर्माण रोम के कानूनी विचारों के आधार पर हुआ। प्राकृतिक कानून के विषय में ईसाई यह मानते थे कि यह सृष्टि में ईश्वरीय नियम (Divine Law) है और इसे भगवान् ने मनुष्यों के हृदयों में प्रतिष्ठित किया है। जस जैन्शियम और प्राकृतिक कानूनों के विचार ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त के विकास में बड़ा सहयोग प्रदान किया है।

प्रभु-शक्ति की धारणा (The Concept of Imperium)—रोम के विधिशास्त्रियों का यह विचार था कि प्रत्येक समुदाय में प्रभु-शक्ति का निवास अनिवार्य रूप से होता है। यह ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा समुदाय अपने सदस्यों को आदेश देता है और उनसे अपनी आज्ञाओं का पालन कराता है। आदेश देने और इन्हें पालन कराने की शक्ति को रोमन इम्पीरियम कहते थे। इसी से अंग्रेज़ी में सम्राट् और साम्राज्य के वाचक Imperator, Emperor और Empire के शब्द बने हैं क्योंकि बाद में शासन की सर्वोच्च शक्ति और कानून को पालन कराने का अधिकार इनमें निहित माना जाता था। किन्तु आरम्भ में ऐसा नहीं था। रोम में राजतन्त्र के आरम्भ से ही यह माना जाता था कि प्रभु-शक्ति जनता में निहित है। किसी व्यक्ति को वंश-परम्परा से या

दैवीय विशेषताओं के कारण शासन का अधिकार नहीं, किन्तु जनता द्वारा निर्वाचन से ही यह अधिकार मिलता है। एक बार उसे यह अधिकार मिलने पर वह मृत्युपर्यन्त इसका उपभोग करता है। ऐसा राजा धर्माध्यक्ष और महापुरोहित (Pontifex Maximus) होने तथा युद्ध छेड़ने व सन्धि करने का अधिकार रखता है। यह शक्ति यद्यपि उसे जनता से मिली है, किन्तु यह पूर्ण है और इसे छीना नहीं जा सकता। उसकी मृत्यु पर यह अधिकार जनता को पुनः लौट जाता है और वह नये राजा का चुनाव करती है, क्योंकि इम्पीरियम या प्रभु-शक्ति का मूल जनता ही है। रोमन गणराज्य के समय में प्रभु-शक्ति जनता में ही स्वीकार की जाती थी। साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी यह सिद्धान्त माना जाता रहा।

शनैः-शनैः सम्राट् को देवता समझने का विश्वास प्रचलित हुआ और उसकी निरंकुश सत्ता बढ़ने लगी। पहले कानून और राजसत्ता का आधार जनता की सहमति थी। सम्राट् की इच्छा इसलिए कानून के तुल्य थी कि जनता ने उसे इम्पीरियम एवं शासन का अधिकार सौंपा था। अब रोमन विधिशास्त्रियों ने जनता द्वारा सम्राट् को अधिकार दिए जाने के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार जनता ने स्थायी रूप से इम्पीरियम को एक कानून द्वारा सम्राट् को सौंप दिया था और उससे यह अधिकार जनता द्वारा किसी प्रकार वापिस नहीं लिया जा सकता था। तीसरी श० ई० में उल्पियन ने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा था—**"सम्राट् की इच्छा को कानून की शक्ति प्राप्त है, क्योंकि जनता ने सम्राट् को अधिकार देने वाला कानून** (Lex Regia) **पास करके अपनी सारी शक्ति और सत्ता उसे हस्तान्तरित कर दी है (डाइजेस्ट 1/4/1)।**

रोम की देन—पश्चिमी जगत् के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में रोम की **पहली** और सबसे बड़ी देन रोमन विधिशास्त्र है जिसके विकास से कई नये विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। पहले यह बताया जा चुका है कि रोम ने किस प्रकार निम्नलिखित विचारों को विकसित किया—भावात्मक (Positive) कानून का विचार, व्यक्ति के निजी (Private) अधिकारों का सिद्धान्त, प्रभुसत्ता का सिद्धान्त, राज्य को कानूनी सत्ता (Legal entity) समझना, शासन की प्रभु-शक्ति (Imperium) का अन्तिम स्रोत जनता में निहित होना और जनता द्वारा इसे शासकों व सम्राटों को प्रदान करना। पहले यह उल्लेख हो चुका है कि रोमन विधिशास्त्र मध्य एवं अर्वाचीन युग के विचारकों के लिए कामधेनु के समान है। यह निरंकुश राजसत्ता तथा लोकतन्त्र के परस्पर विरोधी पक्षों का समर्थन करने के लिए विचारकों को समान रूप से प्रमाण देता रहा है। यह पश्चिम के कई देशों के कानून की आधार-शिला है। रोमन लोगों ने इसके विकास से नैतिकता और राजनीति में पार्थक्य स्थापित किया और इस सिद्धान्त को जन्म दिया कि जनता की इच्छा ही कानून का स्रोत है। **दूसरी देन** रोमन साम्राज्य के निर्माण द्वारा विश्वबन्धुत्व (Cosmopolitanism) और विश्वराज्य (World State) की कल्पना को जन्म देना था। इसमें विभिन्न जातियों, धर्मों, भाषाओं वाले व्यक्ति रोम की राजनीतिक तथा कानूनी पद्धति द्वारा एक सूत्र में संगठित हुए थे। इससे स्थानीय क्षुद्र वर्गभेदों का तथा स्थानीय ईर्ष्या-द्वेष का अन्त हुआ, मानवीय भ्रातृभाव और समानता के स्टोइक आदर्शों को बल मिला। यूनानी अपने को ऊँचा समझते हुए

अन्य जातियों को बर्बर तथा नीच समझते थे, दास-प्रथा को वैध मानते थे। रोम ने विश्वबन्धुत्व के आदर्श को अपने साम्राज्य द्वारा मूर्त्त रूप दिया। इसमें रहने वाली सभी जातियाँ रोमन कानून से समान रूप से शासित होती थीं। रोम का प्राकृतिक कानून दास-प्रथा को अस्वाभाविक मानता था। इस प्रकार रोम ने पुराने जातीय भेद-भाव तथा दास-प्रथा के विचारों का विध्वंस करते हुए आधुनिक विचारधारा के एक प्रधान तत्त्व लोकतन्त्र के लिए मार्ग प्रशस्त किया क्योंकि पुराने विचारों के विनाश के बिना राजतन्त्र की विचारधारा सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकती थी। गैटिल ने यह सत्य ही लिखा है, "रोम की सार्वभौम शक्ति तथा स्टोइक-ईसाई लोगों के सब मनुष्यों के भ्रातृ-भाव के विचार ने आधुनिक दृष्टिकोण की नींव रखी है। ये आदर्श रोम के पतन के बाद भी जीवित रहे। पुनर्जागरण (Renaissance) से इन्हें नवजीवन मिला और (फ्रेंच) राज्य क्रान्ति के दिनों में बनाई गई राजनीतिक संस्थाओं से इन्हें मूर्त्त रूप प्राप्त हुआ।"[1]

रोम की **तीसरी देन** यूनान के राजनीतिक विचारों की न्यूनताएँ और दोष दूर कर उन्हें पूर्ण बनाना था। गैटिल के मतानुसार यूनानी और रोमन जातियों के राजनीतिक आदर्श एक-दूसरे के पूरक थे। यूनान के प्रमुख विचार स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के थे; रोम कानून, व्यवस्था तथा एकता के विचारों को अधिक महत्त्व देता था। यूनान के नगर-राज्य स्वतन्त्रता को इतना महत्त्वपूर्ण समझते थे, कि वे कभी एक राज्य में संगठित नहीं हो सके और आपसी झगड़ों के कारण उन्हें अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ा। इसके विपरीत रोम ने अपनी सैनिक-शक्ति द्वारा इटली और पश्चिमी जगत् को जीतकर अपने साम्राज्य में शासन-व्यवस्था, राजनीतिक एकता स्थापित करते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कुचल दिया तथा रोम के गणराज्य को निरंकुश राजतन्त्र में परिणत किया। इस प्रकार रोम ने यद्यपि समूचे सभ्य जगत् के लिए एक प्रकार का कानून बनाया, शान्ति और सुशासन (Pax Romana) स्थापित किया, इसके लिए एक सुदृढ़ केन्द्रीय (Centralised) शासन बनाया, किन्तु इसके साथ ही उसने यूनानियों की स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के विचारों को गहरा आघात पहुँचाया। **चौथी देन** औपनिवेशिक और नागरिक शासन के बहुमूल्य सिद्धान्त थे। रोम के केन्द्रीय शासन ने विभिन्न प्रान्तों को स्थानीय स्वशासन का अधिकार दिया था। इससे रोम कोरा सैनिक साम्राज्य नहीं रहा, विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले रोमन सुशासन का गुणगान करने लगे और वे हृदय से उसके समर्थक बने।

मध्ययुग पर रोम का प्रभाव—476 ई० में बर्बर जातियों के आक्रमणों से रोम का तथा पश्चिमी रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। किन्तु रोम के विचार अमर थे। इनकी **आत्मा मध्ययुग में यूरोप पर मंडराती रहीं और उस पर प्रभाव डालती रही।** "जिन बर्बर जातियों ने साम्राज्य को जीता था, वे (रोम की राजसत्ता के प्रतीक) रक्तवर्ण वस्त्रों (Purple) के चिथड़ों तक को धारण करना अपने लिए उच्चतम गौरव समझते थे।" रोमन कैथोलिक चर्च ने अपना संगठन और अपनी सत्ता रोमन साम्राज्य के आदर्श के अनुसार बनाई। सीज़र और इम्पीरियम के शब्द चिरकाल

1. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 22.

तक राजनीतिक चिन्तन में शक्तिशाली बने रहे।[1] रोम के आदर्श व्यक्तियों के मन में इतने घर कर गए कि पश्चिमी जगत् में सार्वभौमिक कानून को स्थापित करने वाली तथा विश्व में एकता लाने वाली सर्वशक्तिशाली राजसत्ता का विचार समूचे मध्ययुग की प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों में भी बना रहा। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के रूप में इसे पुनरुज्जीवित करने और मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न किया गया।

12वीं शताब्दी में जब इटली में रोमन कानून के अध्ययन का पुनरुज्जीवन हुआ तो कानून के अध्ययन के लिए विशेष विद्यालय स्थापित हुए। इनमें उन व्यक्तियों ने शिक्षा ग्रहण की, जो बाद में योरोप में इस समय विकसित होने वाले नवीन 'राष्ट्रीय राज्यों' (National States) के कर्णधार एवं शासनसूत्र संचालित करने वाले प्रमुख राजनीतिज्ञ बने। इनका आदर्श जस्टीनियन का रोमन कोड था और उन्होंने इसके आधार पर अपने नये राज्यों की शासन-व्यवस्था और कानून का निर्माण किया। रोमन विधिशास्त्र का विकास न केवल रोम का राजनीतिक विकास था, अपितु वह आधुनिक राज्यों का तथा मध्यकालीन और अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख आधार है। रोम के साम्राज्य का अन्त हो जाने पर भी उसके कानूनी विचार सदियों तक राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत बने रहे।

मध्यकाल में रोम के प्रभाव का एक सुन्दर उदाहरण 11वीं शती में आरम्भ होनेवाला चर्च तथा पवित्र रोमन सम्राट् का संघर्ष था। दोनों अपनी शक्ति सर्वोच्च मानते थे। इसका आगे यथास्थान वर्णन होगा, किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि दोनों अपना पक्ष पुष्ट करने के लिए रोमन साम्राज्य का उदाहरण प्रस्तुत करते थे। पोप के अनुयायी पोप की सर्वोच्च सत्ता सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते थे कि सम्राट् कांस्टैण्टाइन ने अपना साम्राज्य चर्च को दान कर दिया था, अतः उस पर पोप का प्रभुत्व हो गया, पवित्र रोमन साम्राज्य उसी पुराने साम्राज्य का उत्तराधिकारी है, अतः इस पर भी पोप का आधिपत्य होना चाहिए। दूसरी ओर सम्राट् के समर्थकों का यह कहना था कि रोमन कानून के अनुसार सम्राट् को इस प्रकार के दान का कोई अधिकार नहीं था, अतः उसका यह दान अवैध था और इस आधार पर पोप का दावा ठीक नहीं है।

मध्यकाल के विचारकों को रोमन साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता का आदर्श प्रबल प्रेरणा देता रहा है। दाँते ने इसके आधार पर यह सिद्धान्त रखा था कि समस्त मानव-जाति को एक राजनीतिक संगठन में संगठित हो जाना चाहिए; जैसे संसार में एक ईश्वर है, वैसे ही सारे संसार में शान्ति स्थापित करने के लिए एक विश्व-सम्राट् होना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन का एक प्रधान स्रोत रोम की राजनीतिक विचारधारा थी।

1. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 79.

पाँचवाँ अध्याय

ईसाइयत की राजनीतिक विचारधारा

ईसाइयत का प्रादुर्भाव और विकास—जब रोम में सम्राट् आगस्टस (29 ई० पू० से 14 ई०) का शासन था और रोमन साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर था, उस समय उसके एक प्रान्त पैलेस्टाइन के यहूदियों में 4 ई० पू० में महात्मा ईसा का जन्म हुआ। 30 वर्ष की अवस्था में उन्होंने तत्कालीन यहूदी धर्म की बुराइयों का संशोधन करने के लिए गैलिली, जूडिया आदि के प्रदेशों में घूमते हुए प्रचार आरम्भ किया। तीन वर्ष बाद उनके प्रचार से क्षुब्ध यहूदियों ने उन्हें पकड़वाकर वहाँ के रोमन राज्यपाल पाइलेट के सामने उपस्थित किया। उन पर यह आरोप लगाया गया कि वे रोमन शासन का अन्त करके स्वयं यहूदियों का राजा बनना चाहते हैं। यहूदियों के आग्रह से उन्हें प्राणदण्ड की आज्ञा दी गई और 29 ई० में ज़ेरुसलेम की एक पहाड़ी पर दो चोरों के साथ सूली पर चढ़ा दिया गया। उस समय किसी को यह कल्पना नहीं थी कि उनका यह सुधार आन्दोलन शीघ्र ही एक विश्वव्यापी महत्त्वपूर्ण धर्म बन जाएगा और पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन की दिशा में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करेगा। अभी तक यूनानी और रोमन, धर्म और राज्य को अभिन्न मानते थे। प्लेटो और अरस्तू के यूनान में धार्मिक कार्य राज्य द्वारा सम्पन्न कराए जाते थे। रोम में सम्राट् न केवल शासन का अध्यक्ष था किन्तु वह धर्म का महापुरोहित (Pontifex Maximus) भी था। ईसाइयों ने सर्वप्रथम धार्मिक और सांसारिक सत्ताओं में स्पष्ट भेद का और संघर्ष का तथा धार्मिक सत्ता के सर्वोपरि होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और राजनीतिक क्षेत्र को अनेक नवीन विचारों से समृद्ध किया।

रोमन साम्राज्य ने साधारण जनता को आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टि से बिल्कुल दिवालिया बना दिया था। ऐसे समय में ईसाइयत का आविर्भाव हुआ। उसके सिद्धान्त बड़े सरल और सुगम थे, उसमें कोई बड़े भव्य मन्दिर या व्यय-साध्य कर्मकाण्ड नहीं थे। यह धर्म पददलित, दरिद्र और निम्न वर्ग के लिए नई आशा का सन्देश देने वाला था। इसके अनुसार सब मनुष्य एक ईश्वर की सन्तान थे, भ्रातृभाव रखते थे, ईसा ने मानवता के उद्धार के लिए स्वयं बलिदान होना स्वीकार किया और उस पर विश्वास रखकर सब व्यक्ति मुक्त हो सकते थे। उस समय रोम में कोई दूसरा धर्म साधारण जनता के लिए इतना अधिक आकर्षण नहीं रखता था। अतः समाज का निम्न वर्ग बड़ी तेजी से इस धर्म को स्वीकार करने लगा।

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक गिब्बन ने रोमन साम्राज्य में ईसाइयत की सफलता के पाँच कारण बताए हैं[1] : (1) ईसाई प्रचारकों का अदम्य उत्साह, (2) भावी जीवन का सिद्धान्त, (3) चर्च के आरम्भिक व्यक्तियों की चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ, (4) ईसाइयों का विशुद्ध आचरण, (5) ईसाइयों की एकता, अनुशासन तथा चर्च का सुदृढ़ संगठन। इन सब कारणों से सम्राट् डेशियस (राज्यकाल 249-51) तथा डायोक्लीशियन (राज्यकाल 284-305 ई०) के समय ईसाइयों पर भीषण अत्याचार होने पर भी ईसा की पहली तीन शतियों में रोमन साम्राज्य में ईसाइयत का विलक्षण एवं आश्चर्यजनक प्रसार हुआ। अधिकांश सैनिक ईसाई हो गए। अतः सम्राट् कांस्टैण्टाइन (306-337) ने इस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए ईसाइयत को स्वीकार किया,[2] अपनी ध्वजा पर क्रास को अंकित किया, ईसाइयों के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों को समाप्त किया और इसे राजकीय मान्यता दी (313 ई०)। 380 ई० पू० में सम्राट् थियोडोसियस (379-394) ने इसे राज्य का एकमात्र धर्म स्वीकार किया।

रोम के पोप की सत्ता (Papacy) **का विकास**—ईसाइयत के राजधर्म बनने के साथ उसके स्वरूप में बड़ा अन्तर आने लगा। पहले चर्च का संगठन लोकतन्त्रात्मक था। अब रोमन साम्राज्य के आदर्श पर उसका केन्द्रीकरण होने लगा। पहले रोमन साम्राज्य के सभी बड़े शहरों—एण्टियोक, रोम, एलेक्ज़ेण्ड्रिया, ज़ेरुसलम में चर्च के कार्यों की देखभाल करने वाले बिशप रहते थे और इन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अब ईसाइयत के राजधर्म बन जाने से रोम का पोप धार्मिक विषयों में सम्राट् का परामर्शदाता हो गया तथा अन्य बिशप इसके आधीन माने जाने लगे। रोम के चर्च के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध थी कि ईसा ने अपने शिष्य पीटर को चर्च का अधिकार और इसकी कुञ्जियाँ सौंपी थीं, उसने यह चर्च रोम में स्थापित किया। अतः रोम के चर्च का बिशप ईसामसीह का साक्षात् उत्तराधिकारी समझा जाता था। सन्त पाल ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष यहाँ बिताकर रोम के चर्च को पवित्रता प्रदान की थी। जब ईसाइयत में सैद्धान्तिक वाद-विवाद बहुत बढ़ने लगे तो सार्डिका (वर्तमान सोफिया) में चर्च की सामान्य परिषद् ने 347 ई० में रोम के बिशप को अन्य बिशपों के निर्णयों पर विचार के लिए उच्चतम न्यायालय बनाया। रोम के पोप की प्रभुता में पाँचवीं शताब्दी में तब उल्लेखनीय वृद्धि हुई जब इसे सर्वोच्च राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए। पश्चिम में सम्राट् वेलेन्शियन तृतीय (425-455 ई०) ने रोम के बिशप को अपने साम्राज्य के सभी भागों से आने वाले धार्मिक विवादों की अपीलें सुनने वाला कानूनी न्यायालय बना दिया और यह घोषणा की कि रोम का बिशप अन्य बिशपों के ऊपर है।[3]

ईसाइयत को राजधर्म बनाने वाले कांस्टैण्टाइन के शासन से 476 ई० में पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पतन तक के डेढ़ शताब्दी के काल में अनेक कारणों से पोप की प्रभुता में वृद्धि हुई। **पहला** कारण इस समय बर्बर जातियों के आक्रमणों का

---

1. गिब्बन—डिक्लाइन एण्ड फाल ऑफ रोमन एम्पायर, अध्याय 15, इसकी आलोचनात्मक व्याख्या के लिए देखिए रसेल—पूर्वोक्त, पुस्तक पृ० 349-351.
2. वेल्ज – आउटलाइन ऑफ वर्ल्ड हिस्टरी, पृ० 549.
3. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, खं० 1, पृ० 127.

प्रतिरोध करने वाले सम्राटों की दुर्बलता और योग्यता तथा इनकी तुलना में इनोन्सैण्ट प्रथम (402-417 ई०) तथा लिओ प्रथम (440-461 ई०) जैसे पोपों की विलक्षण योग्यता थी। इन्होंने बड़ी सफलता के साथ पोप के अधिकार का समर्थन किया। इसी समय रोमन चर्च ने सन्त एम्ब्रोज़(लग० 340 397 ई०), जेरोम(340-420 ई०) और आगस्टाइन (354-430 ई०) जैसे महापुरुष उत्पन्न किए। एम्ब्रोज़ ने कई अवसरों पर सम्राट् के आदेशों का सफल प्रतिरोध किया। जेरोम ने अपने उच्च जीवन और आदर्शों द्वारा ईसाई भिक्षुओं (Monastic) के नियमों को स्थापित किया। बाइबल का वलगेट (Vulgate)के नाम के लैटिन में नया अनुवाद करके उसे लोकप्रिय बनाया और आगस्टाइन ने अपनी प्रभावशाली लेखनी द्वारा 'ईश्वर के नगर' (City of God) में चर्च की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन किया। इस समय तक रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करने वाली बर्बर जातियों में ईसाइयत का प्रचार हो चुका था। इन पर पोप का कुछ प्रभाव होने से उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया। 425 ई० में हूणों के नेता एटिला (Attila) ने जब इटली पर आक्रमण किया, उसकी सेनाओं ने चारों ओर विध्वंस और विनाश का ताण्डव किया तो पोप लिओ प्रथम के कहने से उसने रोम की शाश्वत नगरी (Eternal City) को इस उत्पात से मुक्त रखा और वापिस हंगरी लौट गया। उस समय समूचे सभ्य जगत् ने इस दैवीय भीषण प्रकोप को टालने के लिए पोप का बड़ा आभार माना। 476 ई० में रोम के पश्चिमी साम्राज्य का बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण अन्त हो जाने के कारण पोप की प्रभुता में बहुत वृद्धि होने लगी। इस समय पश्चिम के बर्बर राज्यों में वही एकमात्र सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक रह गया। रोमन साम्राज्य की राजधानी बाइज़ैण्टियम (कुस्तुन्तुनिया) से बहुत दूर होने के कारण उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता विस्तृत करने का स्वर्ण अवसर मिला। जब छठी शती में इटली पर लम्बार्ड जाति के आक्रमण हुए तो सम्राट् उनसे इटली की रक्षा करने में समर्थ नहीं था। इस समय पोपों ने इटली की रक्षा की। ग्रेगोरी प्रथम (590-604 ई०) ने सम्राट् की ओर से लम्बार्डों के साथ समझौता किया। इसी समय से पहले रोम का तथा बाद में इटली का राजनीतिक प्रभुत्व वस्तुतः पोपों के हाथ में आ गया। फिर भी वे रावेन्ना (Ravenna)में स्थित सम्राट् के सीमावर्ती प्रदेशों के शासक (Exarch) की नाममात्र की प्रभुता स्वीकार करते रहे। सातवीं शताब्दी में पूर्वी रोमन साम्राज्य पर इस्लाम के आक्रमण होने से रोमन सम्राटों को अपनी सारी शक्ति उधर लगानी पड़ी और रोम में उनका कोई प्रभाव नहीं रहा। इस समय इटली पर पुनः लम्बार्ड जाति के आक्रमण शुरू हो गए, वे रावेन्ना (Ravenna) को जीतना चाहते थे। पोप को रोमन सम्राट् से कोई सहायता नहीं मिल सकती थी। अतः उसने अपनी रक्षा के के लिए सेण्ट पीटर के नाम पर शक्तिशाली फ्रैंक जाति के नेता चार्ल्स मार्टल से प्रार्थना की। उसने तथा उसके बेटे पेपिन (Pepin 751-761) ने लम्बार्डों को इटली से भगाया, इटली को उनसे जीतकर उसका तथा रोम का शासन पोप को दे दिया (756 ई०)। अब वस्तुतः पोप राजनीतिक दृष्टि से इटली का अधिपति हो गया। पोप ने इस उपहार के बदले में 754 ई० में पेपिन को फ्रैंकों का वैध राजा स्वीकार किया। पेपिन के पुत्र शार्लमेगन (Charlmagne) या चार्ल्स महान् (768-814) ने जब अधिकांश पश्चिमी योरोप जीत लिया तो लिओ तृतीय (795-816 ई०) ने यह

निश्चय किया कि उसे पुराने रोमन सम्राटों का उत्तराधिकारी समझा जाय। जब चार्ल्स रोम आया और वह सेण्ट पीटर के गिर्जे में गया तो वहाँ प्रार्थना करते हुए घुटने टेकने पर लिओ ने 800 ई० में क्रिसमस के दिन उसके सिर पर सम्राट् का मुकुट रखा।

इस प्रकार उस पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का आरम्भ हुआ जिसके विषय में वाल्तेयर ने 18वीं शताब्दी में यह लिखा था कि वह न तो पवित्र है, न रोमन है और न साम्राज्य है। जब पोप ने चार्ल्स को अभिषिक्त किया, तब न तो पोप के हृदय में और न चार्ल्स के हृदय में कोई ऐसी भावना थी कि वह पोप से कोई नया अधिकार प्राप्त कर रहा है। वह अपने बाहुबल से अपनी राजनीतिक सत्ता सुदृढ़ कर चुका था और न ही पोप यह समझता था कि वह उसे ऐसा कोई अधिकार दे रहा है। किन्तु बाद में इसे बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया और यह सिद्धान्त माना गया कि पोप ने इस विधि द्वारा शासनसत्ता सम्राट् को प्रदान की है और सम्राट् को पोप के आदेशों का पालन करना चाहिए। कुछ सम्राट् इस सिद्धान्त को अस्वीकार करते रहे। इस कारण पोप और सम्राट् में तीव्र संघर्ष चलते रहे। आगे यथास्थान इसका उल्लेख होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इससे पोप को इटली में शासन का सुदृढ़ अधिकार मिल गया तथा संकट के समय शत्रुओं के आक्रमणों से रक्षा के लिए उसे शक्तिशाली मित्र की सहायता उपलब्ध हो गई। इटली में उसका निष्कंटक राज्य हो गया और पश्चिमी जगत् में उसे सर्वोच्च धर्मगुरु माना जाने लगा। उसने मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला।

ईसाइयत का आरम्भिक राजनीतिक चिन्तन—इसकी सुन्दर झलक हमें न्यू टैस्टामैण्ट में मिलती है। बाद में सर्वोच्च शक्ति का दावा करने वाला तथा विस्तृत राजनीतिक अधिकार रखने वाला चर्च आरम्भ में इस प्रकार के सिद्धान्तों का विरोधी था। ईसा अपने को राजनीति से पृथक् रखना चाहता था। उसने अपनी शिक्षाओं में अनुयायियों को जिस राज्य में प्रवेश कराने का आश्वासन दिया है, वह स्वर्ग का पार-लौकिक राज्य है, उसका इस लोक से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसने न्यायाधीश पाइलेट के आगे अपनी निर्दोषता प्रमाणित करते हुए कहा था, "मेरा राज्य इस दुनिया का नहीं है" (जॉन 18/36)। अपने शिष्यों को उसने स्पष्ट रूप से कहा था—"राजा (सीज़र) को उसकी वस्तुएँ प्रदान करो, भगवान् को उसकी वस्तुएँ"[1] (Render unto Caesar the things that are Caesar's and unto God the things that are God's)। बाद में पोप की शक्तिशाली राजनीतिक सत्ता का विकास होने पर इन्हीं वाक्यों की व्याख्या सर्वथा भिन्न प्रकार से की जाने लगी। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ईसा आध्यात्मिक शक्ति को सांसारिक शक्ति से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र समझता था।

ईसा के बाद पाल ने भी अपने पत्रों (Epistles) में राजनीति की बहुत कम चर्चा की है। किन्तु शनैः-शनैः ईसाइयत को विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों पर अपने कुछ मन्तव्य परिस्थितियों से बाधित होकर निश्चित करने पड़े। इस समय ईसाइयत ने स्टोइक आदर्शों से सादृश्य रखने वाले मानवीय समानता, विश्वबन्धुत्व, सार्वभौम

---

1. मैथ्यू की गास्पल 22/17, मि० 16/24-27.

प्राकृतिक नियम (Universal Law of Nature), राज्य के प्रादुर्भाव आदि के विषय में अपने सिद्धान्त रखे। रोमन साम्राज्य के उच्च वर्ग में ये सिद्धान्त पहले ही मान्य हो चुके थे। ईसाइयों ने जब निम्न वर्ग में इनका प्रचार किया तो ये सर्वमान्य हो गए। वस्तुत: ईसाइयत के द्वारा मानवीय समानता, भ्रातृभाव और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त पश्चिमी जगत् में प्रबल हुए। इन्होंने मध्यकाल की भूदासता (Serfdom) को दासता (Slavery) में परिणत नहीं होने दिया; पुनर्जागरण और धार्मिक सुधारणा (Reformation) के आन्दोलनों द्वारा व्यष्टिवाद का पोषण तथा फ्रेंच राज्य-क्रान्ति द्वारा समानतावाद का समर्थन किया।

ईसाई आचार्यों (Church Fathers)**की विचारधारा**—न्यू टैस्टामैण्ट के बाद हमें ईसाइयत के सिद्धान्तों का परिचय ईसाई आचार्यों की रचनाओं से होता है। अंग्रेज़ी में 'चर्च फादर' शब्द का प्रयोग न्यू टैस्टामैण्ट की समाप्ति के बाद ईसा की पहली सात-आठ शताब्दियों में होने वाले ईसाइयत एवं चर्च के सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाले उन दिग्गज विद्वानों या आचार्यों के लिए होता है, जो इन विशेषताओं के कारण महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे—सिद्धान्तों की कट्टरता, जीवन की पवित्रता, चर्च द्वारा इनकी उच्चता का स्वीकार किया जाना। रोमन कैथोलिक चर्च में पाँच व्यक्ति प्रधान रूप से ऐसे आचार्य माने जाते हैं – सन्त एथनेशियस (लग० 293-373 ई०), सन्त एम्ब्रोज, (लग० 340-397 ई०), सन्त जेरोम (लग० 340-420), सन्त आगस्टाइन (354-430 ई०) तथा ग्रेग्रोरी (लग० 540-604)। इन आचार्यों ने ईसा की पहली सात शताब्दियों में विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के राजनीतिक विचार प्रकट किए। यहाँ इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आचार्य आगस्टाइन के ही विचारों का वर्णन किया जाएगा।

सन्त आगस्टाइन (354-430 ई०)—सन्त पाल के बाद ईसाइयत में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले[2] आगस्टाइन का जन्म उत्तरी अफ्रीका के रोमन प्रान्त न्यूमिडिया (अल्जीरिया) के थगस्ते नामक स्थान पर एक मूर्तिपूजक (Pagan) जमींदार के घर में हुआ। उसकी माता मोनिका ईसाई थी। पिता ने उसे होनहार समझते हुए उत्तम शिक्षा देने का प्रबन्ध किया और शीघ्र ही वह प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के विचारों से परिचित हो गया। 370 ई० में उसने कार्थेज के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। यहाँ उसका सम्पर्क मानीमत (Manichaeism) के अनुयायियों से हुआ। कुछ समय तक वह यौवन के विषयोपभोग की रंगरलियों में मस्त रहा। यहाँ उसकी एक प्रेमिका और अवैध सन्तान भी थी। शिक्षा समाप्त करने के बाद पहले वह अपनी जन्मभूमि में तथा बाद में कार्थेज में अलंकारशास्त्र का अध्यापक बना। विषयोपभोग में लीन होने पर भी स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्ति के कारण उसे मानसिक शान्ति नहीं मिली। वह इसके लिए 383 ई० में रोम आया और 384 ई० में मीलान में अलंकारशास्त्र का अध्यापक बना। इस समय तक वह मानीमत से असन्तुष्ट होकर सन्देहवादी और नवप्लेटोवादी (Neoplatonist) बन गया था। मीलान में उसका सम्पर्क रोमन सम्राटों को चुनौती देने वाले सन्त एम्ब्रोज़ से हुआ, इससे उसका हृदय

1. इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड 3, पृ० 55.
2. फोकस जैक्सन—दी हिस्ट्री ऑफ क्रिश्चियन चर्च टू 461 ए. डी. पृ. 490.

परिवर्तन हुआ, उसने अपनी प्रेयसी, अवैध सन्तान और पापमय जीवन का परित्याग करते हुए आध्यात्मिक शान्ति के लिए तैंतीस वर्ष की अवस्था में ईसाइयत को स्वीकार किया (387 ई०)। इसके बाद वह अत्यधिक कट्टर, क्रियाशील और परम उत्साही ईसाई बना और उसने शेष जीवन इस धर्म की सेवा में लगाया, अपनी प्रबल लेखनी द्वारा इसके सिद्धान्तों का समर्थन और प्रचार किया। 388 ई० में वह अफ्रीका लौट गया, सात वर्ष बाद वह हिप्पो (अल्जीरिया में आधुनिक बन्दरगाह बोन्ना) का बिशप बना। 400 ई० में उसने अपनी सुप्रसिद्ध आत्मकथा (Confessions) का प्रणयन किया, 412-427 तक देवनगरी या 'ईश्वर का नगर' (De Civitate Dei or City of God) नामक अमर ग्रन्थ लिखा। 430 ई० में जब वण्डाल नामक बर्बर जाति की सेनाएँ उसके हिप्पो नगर पर आक्रमण कर रही थीं तो उसकी मृत्यु हो गई। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ईश्वर का नगर' के आधार पर उसके महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय दिया जाएगा।

'ईश्वर का नगर' लिखने का प्रयोजन—410 ई० में गाथ नामक बर्बर जाति ने एलारिक (Alaric) के नेतृत्व में रोम पर आक्रमण किया और इसे लूट लिया। इस पर रोम के पुराने मूर्तिपूजक धर्म (Paganism) के उपासकों ने यह कहा कि रोम की हार का प्रधान कारण अपने प्राचीन धर्म को छोड़कर ईसाइयत को स्वीकार करना है। जब तक वहाँ बृहस्पति (Jupiter) देवता की पूजा होती रही, रोमन सम्राट् विजय प्राप्त करते रहे। अब रोमन सम्राट् प्राचीन देवताओं से पराङ्मुख हो गए हैं, अतः, वे उनकी रक्षा नहीं करते हैं। आगस्टाइन ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए, विधर्मियों और विरोधियों से ईसाई धर्म की रक्षा के लिए तथा ईसा के अनुयायियों की निष्ठा सुदृढ़ करने के लिए अपनी लेखनी उठाई और 'ईश्वर की नगरी' नामक पुस्तक लिखी। उसके शब्दों में, "गाथ नामक बर्बर जाति के लोगों ने रोम पर आक्रमण करके उसका विध्वंस कर डाला। कुछ नास्तिकों (Pagans) ने उसका उत्तरदायित्व ईसाई धर्म पर मढ़ा।...इस कारण मेरे हृदय में ईश्वर के नाम पर उत्साह का उदय हुआ और मुझे आक्रमणकारियों से 'ईश्वर के नगर', की रक्षा की अन्तःप्रेरणा मिली।" पन्द्रह वर्ष के सुदीर्घ काल में लिखी गई 22 खण्डों वाली इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में विरोधियों के आरोपों का उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया गया है कि रोम का पतन ईसाइयत के कारण नहीं, किन्तु भगवान् की इच्छा से हुआ। जगत् की सभी घटनाओं का संचालन ईश्वर की इच्छा और पूर्वनिश्चित दैवीय विधान (Predetermination) के अनुसार होता है। प्रत्येक बुराई में भलाई छिपी रहती है। रोम के विध्वंस में भगवान् की यह इच्छा है कि इससे 'भगवान् का नगर' स्थापित होने के लिए मार्ग प्रशस्त हो सके। हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं, जिसमें दो प्रकार के राज्य हैं—सांसारिक राज्य (Civitas terrana) तथा स्वर्गीय राज्य (Civitas superna)। इनमें पहले प्रकार के राज्य नश्वर, अस्थायी और भंगुर हैं और दूसरा सनातन, स्थायी और शाश्वत है। दूसरे राज्य की कल्पना में आगस्टाइन ने अनेक तत्त्व प्लेटो तथा सिसरो से ग्रहण किए और ईसाइयत के विचारों के साथ उनका सम्मिश्रण किया। इस प्रकार उसके ईश्वरीय राज्य की कल्पना में तीन विचारधाराओं की त्रिवेणी का संगम हुआ।

ईश्वर के नगर' का स्वरूप—आगस्टाइन इसे स्वर्ग में नहीं, किन्तु भूतल पर अवस्थित राज्य मानता है।[1] इसका सदस्य वही हो सकता है, जिस पर ईश्वर की कृपा (Grace) हो। इसे पाने के लिए ईसाई होना आवश्यक है, अतः इसमें व्यक्ति का प्रवेश चर्च के माध्यम से हो सकता है। इसके सदस्य ईश्वर की कृपा पाने वाले फरिश्ते और मृत व्यक्ति भी होते हैं। यह सिसरो के विश्वव्यापी राज्य से भिन्न है क्योंकि उसके सदस्य मनुष्य-जाति के सभी व्यक्ति थे। किन्तु इसमें ऐसा नहीं है। भगवान् की इच्छा थी कि सब मनुष्य इसके सदस्य होते, किन्तु आदम के आदिम पाप (Original-ism)के कारण सभी मनुष्य पापी हो गए, उनमें आसुरी प्रवृत्तियों का प्राधान्य हो गया। इनसे व्यक्ति की मुक्ति भगवत्कृपा से ही सम्भव है। ईश्वरीय नगर का सदस्य होने के लिए किसी विशेष देश, जाति या वर्ग का बन्धन आवश्यक नहीं है। इसकी एक ही शर्त भगवत्कृपा है। ऐसी कृपा पाने वाले सभी देशों के व्यक्ति ईश्वरीय नगर के नागरिक होते हैं। आगस्टाइन का ईश्वरीय नगर रोमन कैथोलिक चर्च से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने पर भी इससे भिन्न हैं। दोनों के सदस्य एक जैसे नहीं हैं। ईसाई चर्च में ईसा में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्ति होते हैं, किन्तु ईश्वरीय नगर के सदस्य केवल भगवत्कृपा पाने वाले होते हैं। इस नगर के वासी ईश्वर के प्रति प्रेम के कारण एकता के दृढ़ सूत्र में आबद्ध होते हैं, ऐसी एकता सांसारिक राज्यों के नागरिकों में नहीं होती है।

इस नगर की दो प्रमुख विशेषताएँ न्याय(Justice) और शान्ति है। आगस्टाइन का न्याय का विचार प्लेटो के विचार से सादृश्य रखता है। उसके मतानुसार व्यवस्था (Order) के प्रति अनुकूलता और इससे उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों का पालन न्याय है। यदि मनुष्य इन कर्त्तव्यों का पालन करता है तो वह न्यायी है। प्रत्येक समाज में तथा समाज की विभिन्न इकाइयों—परिवार, राज्य आदि में एक विशेष प्रकार की व्यवस्था होती है। इनसे ऊपर सार्वभौम समाज में सार्वभौम व्यवस्था और न्याय होता है। यदि परिवार और राज्य की व्यवस्था में संघर्ष हो तो मनुष्य को राज्य की व्यवस्था का पालन करना चाहिए, राज्य और सार्वभौम समाज की व्यवस्था के विरोध में पिछली व्यवस्था को श्रेष्ठ मानना चाहिए। अतः राज्य की व्यवस्था और न्याय सार्वभौम समाज की व्यवस्था और न्याय की तुलना में घटिया दर्जे का तथा सापेक्ष है। निरपेक्ष एवं पूर्ण न्याय (Absolute Justice) सार्वभौम समाज में ही मिलता है। प्लेटो का न्याय व्यक्ति में और राज्य के विभिन्न वर्गों में पाया जाता है, किन्तु आगस्टाइन के मतानुसार न्याय की धारणा देश और काल से अपरिच्छिन्न अमूर्त्त विचार में है। ईश्वरीय नगर की दूसरी विशेषता शान्ति है। यह अभावात्मक अर्थात् युद्धों का न होना नहीं, किन्तु भावात्मक विचार है, भगवान् के प्रति प्रेम के कारण इस

1. आगस्टाइन भगवत्कृपा (Grace) या प्रसाद को इसलिए असाधारण महत्त्व देता है कि मनुष्य अपने जीवन में चल रहे दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष में तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक उसे भगवत्कृपा न मिले। इसके उपलब्ध न होने तक आसुरी प्रवृत्तियाँ दैवी प्रवृत्तियाँ को दबाए रहती हैं। भारतीय वाङ्मय में भगवान् की कृपा, प्रसाद या अनुकम्पा को मनुष्य की मुक्ति के लिए आवश्यक माना गया है। गीता (18/62) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।

नगर में शाश्वत शान्ति का साम्राज्य बना रहता है।

राज्य विषयक विचार—राज्य का प्रादुर्भाव मनुष्य की समूह में रहने की भावना (Gregarious Instinct) से तथा आदम के आदिम पाप के कारण हुआ है। मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों के निरोध के लिए इसका निर्माण भगवान् की ओर से हुआ है। किन्तु दैवीय उद्गम होने पर भी यह शैतान का राज्य है, जबकि ईश्वरीय नगर में ईसा मसीह का राज्य है। पहले का सम्वन्ध मनुष्य के शरीर से है, उसमें वासनाओं की प्रधानता होती है, दूसरे का सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है। आगस्टाइन राज्य को डोनेटिस्ट (Donatists) आदि कुछ पूर्ववर्ती ईसाई विचारकों की भाँति अनिवार्य बुराई न मानते हुए चर्च की, उसकी सम्पत्ति की, अधिकारों की और मन्तव्यों की रक्षा के लिए आवश्यक मानता था। दैवीय उत्पत्ति के कारण राज्य की आज्ञाओं को शिरोधार्य करना चाहिए, किन्तु यदि वे धर्म-विरुद्ध हों तो उनका पालन नहीं होना चाहिए।

सांसारिक राज्य पर शैतान का स्वामित्व होने से उसमें न्याय नहीं रह सकता। उसके मतानुसार राज्य अन्याय पर प्रतिष्ठित है। वह अन्य राज्यों के अधिकारों का अपहरण करता है और ईश्वरीय अधिकारों का उल्लंघन करता है। जब राज्य अपने नागरिकों से यह माँग करता है कि वे भगवान् के प्रति की जाने वाली उपासना की भावना के साथ सम्राट् की पूजा करें तो राज्य मनुष्य को ईश्वरीय कर्त्तव्यों से विमुख करता है। रोमन साम्राज्य में ईसाइयों पर अत्याचारों के समय ऐसा हुआ। "सच्चे भगवान् से विरत कराने वाले तथा उसे शैतान को समर्पित करने वाले राज्य में न्याय कैसे रह सकता है।" फोस्टर के मतानुसार आगस्टाइन इन शब्दों में प्राचीन यूनानी और रोमन जगत् में अज्ञात, किन्तु मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन जगत् के एक मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है। यह सिद्धान्त जीवन को धर्मनिरपेक्ष (Secular) और धार्मिक क्षेत्रों में बाँटना तथा धार्मिक क्षेत्र पर राज्य का प्रभुत्व न स्वीकार करना है।[1]

सांसारिक राज्यों में इसलिए भी न्याय नहीं हो सकता है क्योंकि वे बड़ी चोरियों या डकैतियों के समान हैं। यदि चोरों का संगठन इतना विकसित हो जाए कि वह किलों को नियन्त्रण में रख सके, बस्तियों को बसाए, नगरों पर अधिकार करे, पड़ोसी राष्ट्रों को जीत ले तो उनके संगठन को चोरों का संगठन नहीं कहा जाएगा "किन्तु उसे राज्य का सम्मानित नाम दिया जाएगा"। इस विषय में उसने सिकन्दर का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जब उसने एक समुद्री डाकू को पकड़ा तो डाकू ने इस सम्बन्ध में उसे बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। सिकन्दर ने डाकू से पूछा कि तुम समुद्र में दूसरे व्यक्तियों का उत्पीड़न क्यों करते हो? डाकू का उत्तर था, "तुम सारे संसार का उत्पीड़न क्यों करते हो? मैं यह कार्य एक जहाज से करता हूँ, अतः डाकू कहलाता हूँ। तुम इसे विशाल बेड़े के साथ करते हो, इसीलिए सम्राट् कहलाते हो।"[2] आगस्टाइन के मत में यदि राज्य में न्याय की व्यवस्था ठीक नहीं है तो वह डाकुओं के बड़े गिरोह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का डाकुओं का अन्यायपूर्ण लौकिक राज्य 'ईश्वरीय

---

1. सिटी ऑफ गॉड 4/6, फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ॰ 208.
2. फोस्टर—वही, पृ॰ 208.

नगर' से सब दृष्टियों से हीन और निकृष्ट है। इसकी आज्ञाओं का पालन केवल इसलिए करना चाहिए कि राजकीय सत्ता द्वारा स्थापित शान्ति-व्यवस्था में धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन निर्विघ्न रीति से होता रहे। जब तक राजसत्ता धार्मिक नियमों का पालन कराने के लिए प्रयत्नशील हो, तब तक उसके आदेशों को शिरोधार्य करना चाहिए। किन्तु यदि ये आदेश धर्म-विरुद्ध हों तो आत्मा के सर्वोत्कृष्ट कल्याण के लिए इनकी अवज्ञा की जानी चाहिए। यद्यपि आगस्टाइन ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं लिखा कि राजसत्ता धर्मसत्ता के आधीन होनी चाहिए, किन्तु उसने राजसत्ता को इतना अन्यायपूर्ण एवं आसुरिक वृत्तियों वाला बताया है कि धर्मसत्ता के पथ-प्रदर्शन के बिना उसका कल्याण सम्भव नहीं है।[1] ईसाई शासन को आत्मिक कल्याण के लिए चर्च का तथा चर्च को सांसारिक विषयों के लिए राज्य का सहयोग आवश्यक है। किन्तु सहयोग न होने पर धार्मिक सत्ता अधिक उत्कृष्ट होने के कारण वन्दनीय है। मध्ययुग में पोप की प्रभुता के समर्थन में एक बड़ी युक्ति यह थी कि जिस प्रकार आत्मा शरीर से उत्कृष्ट है और उस पर शासन करती है, वैसे ही पोप की धार्मिक सत्ता राजनीतिक शक्ति से श्रेष्ठ होने के कारण उसे अनुशासित करती है।

आगस्टाइन के सम्पत्ति और दासता सम्बन्धी विचारों में कोई नवीनता नहीं है। सम्पत्ति राज्य द्वारा बनाई गई संस्था है, इसका उपयोग न्यास (Trust) के रूप में होना चाहिए। दासता पाप का परिणाम है। हज़रत नूह (Noah) ने अपने पुत्र को पापमय जीवन के कारण दासता का दण्ड दिया था, उस समय से मानव-समाज में दासता की प्रथा प्रचलित हुई।[2] यह युद्ध में पराजय पाने के कारण होती है, अतः पराजित व्यक्ति पापी होते हैं, उन्हें दास बनाना उचित है। दास-प्रथा का उद्देश्य पापियों को दण्डित करना तथा उनके पापमय जीवन को सुधारना है।

आगस्टाइन का प्रभाव—आगस्टाइन की पुस्तक 'ईश्वर का नगर' (City of God) तथा उसकी विचारधारा अनेक शताब्दियों तक योरोप के विचारकों को प्रभावित करती रही। उसके समय में रोमन साम्राज्य की सत्ता क्षीण हो रही थी, इसके स्थान पर उसने एक स्वर्गीय राज्य के आदर्श को तथा भूतल पर इसके प्रतिनिधि, चर्च को गौरवपूर्ण स्थान दिया, इस विषय के सिद्धान्तों को बड़ी स्पष्टता के साथ रखते हुए चर्च की सर्वोच्च सत्ता के विचार का बीजारोपण तथा पुष्टि की, उसकी भावी प्रभुसत्ता का मार्ग प्रशस्त किया। उसकी विशेषता यह है कि उसने प्राचीन यूनानी और रोमन विचारधारा के उत्कृष्ट अंशों को ग्रहण करके तथा उनका ईसाइयत के साथ समन्वय कर उसे योरोप को प्रदान किया। वह विचार के क्षेत्र में नवयुग का श्रीगणेश करने वाला था। मध्ययुग की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं, किन्तु उसकी सर्वोत्तम परिभाषा यह है कि "यह आगस्टाइन के विचारों के साथ प्रारम्भ होता है और इनकी समाप्ति के साथ इसका अन्त हो जाता है।"[3] आगस्टाइन के बाद एक सहस्राब्दी तक योरोप पर उसके धार्मिक मन्तव्यों, बाइबल के प्रमाणवाद, चर्च की प्रभुता, आदिम पाप, विधर्मियों के दमन आदि के विचारों का प्राधान्य बना रहा।

1. बोले, जॉन—वैस्टर्न पोलिटिकल थाट, पृ० 138.
2. फोस्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 220.
3. मरें – दि हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टु दि प्रेज़ेण्ट, पृ० 43.

उसकी रचनाएँ विद्वानों के लिए चिन्तन और प्रेरणा का मूल स्रोत बनी रहीं। सुप्रसिद्ध पोप ग्रेगोरी सप्तम (1073-1085 ई०), इन्नोसैण्ट तृतीय (1161-1216 ई०) और बोनीफेस अष्टम (1294-1303) ने उसके विचारों का अनुसरण किया। थामस एक्विनास (1225-1274), दांते (1265-1321), विक्लिफ (1327-1384), ग्रोशियस आदि सभी विचारक आगस्टाइन के ऋणी हैं। सैबाइन के शब्दों में उसकी रचनाएँ विचारों की खान हैं, परवर्ती रोमन कैथोलिक और प्रोटैस्टेण्ट इसे खोदकर नये विचार निकालते रहे। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ उसके ग्रन्थ 'ईश्वर का नगर' को बड़े चाव से पढ़ते थे। पवित्र रोमन सम्राट् शार्लमेगन (800-814 ई०) तथा ओटो महान् (932-973) पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था। मर्रे के अनुसार सम्भवतः वे यह समझते थे कि पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना द्वारा वे इस भूतल पर स्वर्गीय राज्य (Civitas Dei) को स्थापित कर रहे हैं।[2] अतः लार्ड ब्राइस ने यह सत्य ही लिखा है कि इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण दिव्य नगर (De civtate Die) की नींव पर हुआ था।[3] मैक्सी के मत में मध्ययुगीन योरोप की राजनीतिक विधारधारा पर किसी अन्य व्यक्ति ने इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला, जितना चौथी शताब्दी के अफ्रीका के इस विद्वान् ने डाला है।[4] धर्म और राज्य की दो सत्ताओं का विचार यद्यपि आगस्टाइन के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी रखा था, किन्तु उसने इसे देवनगरी (City of God) में इतनी प्रबलता के साथ रखा कि यह सर्वमान्य हो गया और मध्ययुग का एक प्रधान विचार बन गया। फिग्गिस के शब्दों में "इसे समझे बिना कोई व्यक्ति मध्ययुग को नहीं समझ सकता है।"[5]

दो तलवारों का सिद्धान्त—पाँचवीं शताब्दी के अन्त में सन्त आगस्टाइन के दो पृथक्, स्वतन्त्र राजनीतिक और धार्मिक सत्ताओं के सिद्धान्त को पोप जिलेसियस प्रथम (Gelasius I 492-496) ने अधिक प्रभावशाली और काव्यमयी भाषा में प्रतिपादित किया। बाइबल (मैथ्यू 26/36-47, मिलाइए ल्यूक 22/38) में यह वर्णन आता है कि ईसा मसीह ने पीटर को जेरुसलम के बाहर गैस्थेमाने (Gesthe-mane) के उद्यान में दो तलवारें दिखाई थीं। पाँचवीं सदी में इस घटना के आधार पर यह कल्पना की गई कि ये तलवारें सत्ता और शक्ति का प्रतीक थीं। इससे ईसा मसीह ने यह प्रदर्शित किया था कि संसार में दो प्रकार की सत्ताएँ या शक्तियां हैं। ईसाई सत्-असत् प्रवृत्तियों में विश्वास रखने के कारण द्वैतवादी (Dualistic) थे, वे मनुष्य का दो प्रकार का आध्यात्मिक (Spiritual) और सांसारिक (Temporal) जीवन मानते थे। अब उन्होंने यह माना कि भगवान् ने इनका नियन्त्रण करने के लिए चर्च और सम्राट् की दो पृथक् शक्तियाँ बनाई हैं। मनुष्य की आध्यात्मिक आव-श्यकताओं की पूर्ति करना तथा उसे मुक्ति दिलाना चर्च का कार्य है। यह बिशपों

1. सैबाइन—ए हिस्ट्री आफ पोलिटिकल थिओरी, पृ० 169.
2. मर्रे—दी हिस्ट्री आफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टू दि प्रेजेंट, पृ० 43.
3. ब्राइस—होली रोमन एम्पायर, पृ० 94 की पादटिप्पणी।
4. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० 103.
5. फिग्गिस—दी पोलिटिकल एस्पैक्ट्स, आफ सेण्ट आगस्टाइन्स सिटी आफ गाड (1920), पृ० 1.

और पादरियों की शिक्षा से सम्पन्न होता है। मानव-समाज में शान्ति, सुशासन तथा न्याय स्थापित करना राज्य का और शासकों का कार्य है। मानव-समाज में पादरी और राजकर्मचारी दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं और दोनों को पारस्परिक सहयोग से कार्य करना चाहिए। मध्यकाल में इन दोनों के अधिकार-क्षेत्र और प्रभुता के प्रश्न पर अनेक तीव्र विवाद हुए, किन्तु दो स्वतन्त्र सत्ताओं के आदर्श में तथा दोनों की अधीनता में मनुष्यों के रहने के सिद्धान्त में कभी सन्देह नहीं प्रकट किया गया।

ग्रेग्रोरी महान् या प्रथम (लग० 540-604)—उपर्युक्त दो तलवारों के सिद्धान्त को कुछ अंशों में क्रियात्मक रूप देने का तथा रोम के पोप को शक्तिशाली बनाने का बड़ा श्रेय पश्चिमी रोमन चर्च के इस महान् दिग्गज धर्माचार्य ग्रेग्रोरी महान् को है। रोम के सम्भ्रान्त और सम्पन्न कुल में जन्म लेने तथा कानून में सुशिक्षित होने से यह आरम्भ में रोम का प्रधान शासक (Prefect) बना। किन्तु पिता की मृत्यु के बाद ईसाई साधु हो जाने पर इसने अपनी सारी सम्पत्ति और जमीन मठों (Monasteries) को स्थापित करने के लिए दे दी। इन दिनों इटली पर लम्बार्ड लोगों के आक्रमण हो रहे थे। कुस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट् का रावेन्ना (Revenna) में रहने वाला शासक (Exarch) इटली की रक्षा करने में असमर्थ था। पोप पेलेगियस (Pelagius) द्वितीय (579-590) ने ग्रेगोरी की राजनीतिक योग्यता से प्रभावित होकर इसे सम्राट् के दरबार में अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा कि यह उससे लम्बार्ड आक्रमणों के विरुद्ध सहायता प्राप्त कर सके। वहाँ छः वर्ष (579-585 ई०) रहने पर भी ग्रेग्रोरी को कोई सहायता नहीं मिल सकी, उस समय सम्राट् में ऐसी सहायता करने का सामर्थ्य न था। स्वदेश लौटने पर ग्रेग्रोरी को 590 ई० में पोप चुना गया। इस समय इटली और पश्चिमी रोमन साम्राज्य की दशा बड़ी शोचनीय थी। लम्बार्ड इटली में उत्पात मचा रहे थे। सम्राटों की निर्बलता, विसीगाथों की क्षीणता तथा मूरों के हमलों से अफ्रीका में अराजकता मची हुई थी। बिशपों का भी नैतिक पतन हो चुका था और चर्च के ऊँचे पदों को योग्यता के आधार पर नहीं दिया जाता था, किन्तु इन्हें धन द्वारा खरीदने की कुप्रथा (Simony) प्रचलित हो चुकी थी।

ग्रेग्रोरी ऐसे विकट समय में 13½ वर्ष तक रोम का कर्णधार बना। उसने अपनी योग्यता, राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता और पुरुषार्थ से शोचनीय स्थिति को सुधारने तथा पोप का प्रभाव बढ़ाने का यत्न किया। उससे पहले पोप की शासन-सत्ता रोम तक ही सीमित थी। ग्रेग्रोरी ने रोम के पोप की प्रभुता के क्षेत्र को विशाल और सर्वमान्य बनाने का प्रयत्न किया। रसेल के शब्दों में ग्रेग्रोरी से पहले कभी रोम का बिशप अपनी सत्ता इतने अधिक विस्तृत क्षेत्र में इतनी सफलता के साथ लागू नहीं कर सका था। उसने यह कार्य मुख्य रूप से विभिन्न स्थानों के ऐसे पादरियों और शासकों को पत्र लिखकर किया, जिनके विषय में उसका यह विचार था कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर रहे हैं या असली न्याय्य सत्ता से अधिक अधिकारों का प्रयोग कर रहे हैं। उसने पादरियों के नियमों के सम्बन्ध में एक पुस्तक 'Book of Pastoral Rules' लिखकर चर्च के मामलों में सामान्य रूप से रोम की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल प्रतिपादन किया। कार्लाइल ने लिखा है कि "ग्रेग्रोरी महान् के सिद्धान्तों के आधार पर ही मध्ययुग में और उसके बाद शासक की निरंकुश और अनुत्तरदायी

सत्ता के समर्थन में प्रबल युक्तियाँ दी जाती रहीं।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि परवर्ती पोपों द्वारा सार्वभौम अधिकार के दावे करने का मार्ग महान् ग्रेग्रोरी ने ही प्रशस्त किया था। उसने कुस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट् के इस आदेश का घोर विरोध किया कि सैनिकों को ईसाई मठों में साधु बनने की अनुमति नहीं दी जाए। उसने यह घोषणा की कि "सम्राट् के शासन का उद्देश्य यह है कि स्वर्ग की प्राप्ति सुलभ हो सके और सांसारिक राज्य को स्वर्गीय राज्य की सेवा करनी चाहिए। ईसाई भिक्षु भगवान् के सैनिक हैं, पुरोहित भगवान् के सेवक हैं, अतएव वे देवदूतों के समान हैं और उन्हें ईश्वरीय समझकर उनकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।"[2]

---

1. कार्लाइल—हिस्टरी आफ मिडीवल पोलिटिकल थियोरी, खं० 1, पृ० 153.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 156.

छठा अध्याय

मध्ययुग की राजनीतिक विचारधारा

मध्ययुग का स्वरूप—योरोपियन इतिहास में 476 ई० में पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के साथ प्राचीन युग की समाप्ति होती है तथा 1500 ई० के लगभग उत्तरी और दक्षिणी अमरीका की खोज, भारत एवं पूर्वी देशों को जाने वाले समुद्री मार्ग के अन्वेषण तथा धार्मिक क्रान्ति (Reformation) के साथ अर्वाचीन युग का श्रीगणेश समझा जाता है। प्राचीन तथा अर्वाचीन युगों के बीच का 1000 वर्ष का समय दोनों युगों का मध्यवर्ती होने से मध्ययुग कहलाता है।[1] इस सहस्राब्दी को पुनः दो भागों में बाँटा जाता है : इसका पूर्वार्द्ध अथवा पहला मध्ययुग 500 ई० से 1000 अथवा 1100 ई० तक का समय अन्धयुग (Dark Ages) कहलाता है,[2] क्योंकि इस समय बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण रोमन सभ्यता की ज्योति बुझ जाने से अन्धकार छा गया, सब प्रकार की उन्नति अवरुद्ध हो गई; साहित्य, कला, विज्ञान, व्यापार, वाणिज्य आदि सभी क्षेत्रों में अधःपतन आरम्भ हो गया। योरोप बर्बरता के पंक में डूब गया। 11वीं शताब्दी से इस स्थिति में अन्तर आने लगा। पिछले मध्ययुग (Later Middle Ages) में योरोप शनैः-शनैः बर्बरता के पंक से उबरने लगा।

मध्ययुग धर्मप्रधान था। अतः इसे श्रद्धा का युग (Age of Faith) भी कहते हैं। इसमें आस्था और धार्मिक विश्वासों का बोलबाला था। इसके चिन्तन और आकांक्षाओं का केन्द्र-बिन्दु धार्मिक आदर्श थे। इस समय प्रार्थनाओं के विचार ने तथा श्रद्धा ने ज्ञान को अभिभूत कर लिया था। अतः इस समय के राजनीतिक चिन्तन पर इसका प्रबल प्रभाव है। इस समय स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन बहुत कम हुआ। राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित करना था। डनिंग के शब्दों में मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन का उस समय अवसान हो जाता है, जब वह सांसारिक और धार्मिक सत्ताओं के सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुकता है। अतः नवीन मौलिक चिन्तन के अभाव में, धार्मिक चिन्तन की प्रधानता के कारण उसने मध्ययुग को राजनीतिक चिन्तन से शून्य (Unpolitical)

1. थार्नडाइक—हिस्टरी आफ मिडीवल योरोप, पृ० 1। अनेक विद्वान् मध्ययुग की अवधि 1550 अथवा 1600 ई० तक मानते हैं।

2. बकल—हिस्टरी आफ सिविलाइजेशन, खं० 2, पृ० 106.

भी कहा है ।[1]

किन्तु इस युग में धर्म की प्रधानता होते हुए भी कुछ राजनीतिक सिद्धान्तों का विकास हुआ । मध्ययुग के पूर्वार्द्ध—अन्धयुग में ट्यूटानिक (Teutonic) या जर्मन जातियों के प्रभाव के कारण सार्वजनिक जीवन की इकाई व्यक्ति को माना जाता रहा । परन्तु पिछले मध्ययुग में धार्मिक और आर्थिक संगठनों—ईसाई परिव्राजक सम्प्रदायों, कारपोरेशनों तथा श्रेणियों (Guilds) के विकास के परिणामस्वरूप सामूहिक जीवन को असाधारण गौरव मिला, व्यक्ति का महत्त्व घट गया । इन दोनों का **दूसरा** अन्तर यह था कि अन्धयुग में योरोपियन समाज तथा चर्च बर्बर जातियों के आक्रमणों की बाढ़ में डूबा रहा, किन्तु पिछले मध्ययुग में पश्चिमी योरोप में कैथोलिक चर्च का प्राधान्य बना रहा । **तीसरा** अन्तर यह था कि अन्धयुग के राजनीतिक दर्शन का मूल आधार ट्यूटानिक जातियों की प्रथाएँ तथा ईसाइयों के पवित्र धर्मग्रन्थ थे । किन्तु पिछले मध्ययुग में इसका प्रमुख आधार रोमन कानून, ईसाई धर्मशास्त्र (Christian Theology) तथा अरस्तू के विचार थे । **चौथा** अन्तर पिछले मध्ययुग में ईसाई सार्वभौमता (Universalism) की भावना की प्रबलता है, यह विचार अन्धयुग में नहीं था । इस विचार के अनुसार पश्चिम में एक सार्वभौम समाज की सत्ता स्वीकार की जाती थी । चर्च और राज्य दो स्वतन्त्र संस्थाएँ नहीं थीं, किन्तु एक ही समाज को शासित करने वाले तथा धार्मिक और सांसारिक प्रयोजन पूरा करने वाले दो अंग थे । पश्चिमी योरोप के सब निवासी एक ईसाई गणराज्य (Respublica Christiana) के सदस्य थे ।

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन की सामान्य विशेषताएँ तथा प्रमुख देनें—उपर्युक्त विवरण के आधार पर इस काल के राजनीतिक विचार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **चर्च की सर्वोच्च सत्ता** (Supremacy of the Church)—मध्ययुग में चर्च का यह दावा था कि रोम का पोप ईसा और पीटर का उत्तराधिकारी होने से न केवल धार्मिक मामलों में सर्वोच्च शक्ति रखता है, किन्तु राजनीतिक और लौकिक क्षेत्र में भी राजाओं को दण्डित तथा पदच्युत करने का अधिकार रखता है । 3 या 4 मार्च 1075 को पोप ग्रेगोरी सप्तम ने अपने सुप्रसिद्ध लेख Dictatus Papae के 27 वाक्यों में निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—(क) रोमन चर्च की स्थापना भगवान् द्वारा हुई थी । (ख) पोप की आज्ञा के बिना चर्च की कोई परिषद् नहीं बुलाई जा सकती है । (ग) रोमन चर्च ने कभी कोई गलती नहीं की और वह कभी कोई गलती नहीं करेगा । (घ) पोप के कार्यों पर कोई अन्य व्यक्ति विचार नहीं कर सकता है । (ङ) केवल पोप को ही बिशपों को पदच्युत करने का अधिकार है । (च) पोप सम्राटों को सिंहासनच्युत कर सकता है ।[2] ग्रेगोरी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि पोप राजाओं को नियन्त्रित करने वाली सर्वोच्च शक्ति का दावा करता था ।

पोप और उनके समर्थक अपने इस दावे की पुष्टि दो तलवारों के सिद्धान्त से

3. डनिग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज़—एंशेण्ट एण्ड मिडीवल, खं० 1, पृ० 130-131.

2. डेविस—ए हिस्टरी आफ मिडीवल योरोप, पृ० 144.

तथा कांस्टैण्टाइन के दानपत्र(Donation of Constantine)के आधार पर करते थे। उनका कथन था कि सम्राट् कांस्टैण्टाइन ने राजधानी परिवर्त्तित करते हुए अपने पश्चिमी साम्राज्य का दान रोम के तत्कालीन पोप सिल्वैस्टर को कर दिया था। अतः पोप को यहाँ राजनीतिक शासन के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। मध्ययुग में राजनीतिक चिन्तन का प्रधान प्रश्न पोप के दावों का समर्थन या खण्डन था। उस समय यह प्रश्न इतना विवादग्रस्त था कि 1052 से 1152 ई० के बीच की शताब्दी में पोप की सर्वोच्च सत्ता के दावे के मण्डन तथा खण्डन में 115 पुस्तिकाएँ लिखी गईं। किन्तु इन विवादों के होते हुए भी 11वीं से 14वीं शताब्दी तक योरोप में पोप की सर्वोच्च शक्ति बनी रही।

(2) **सार्वभौमता** (Universalism) **या सम्पूर्ण मानव-समाज को एक इकाई समझना**—मध्ययुग के राजनीतिक विचार की एक प्रमुख विशेषता ईसाइयत के सिद्धान्तों का पालन करने वाले सार्वभौम समाज (Universal society) की कल्पना थी। गीर्के ने मध्यकालीन सार्वभौम समाज का चित्रण करते हुए लिखा है: "मध्ययुग की सभी शताब्दियों में ईसाई जनता (Christendom) को मानव-जाति से अभिन्न एक सार्वभौम समाज के रूप में माना जाता रहा। इसकी स्थापना और शासन भगवान् द्वारा होता है। मानव जाति एक रहस्यात्मक शरीर (Mystical body) रखती है। यह एक है। सब मनुष्यों को अपने में सम्मिलित करने वाला यह निगम या निकाय (Corporation) धार्मिक तथा लौकिक सार्वभौम साम्राज्य का निर्माण करता है। इसे सार्वभौम चर्च (Ecclesia Universalis) तथा मानव जाति का राज्य (Respublica generis humani) कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें एक ही कानून (Lex) तथा एक ही सरकार (Unicus principatus) हो।" इस एक मानव-समुदाय के जीवन की दो संगठित व्यवस्थाएँ हैं—धार्मिक जीवन और राजनीतिक जीवन। इनका प्रतिनिधित्व करने वाले चर्च और राज्य दो पृथक् सत्ताएँ नहीं, किन्तु एक ही सिक्के के दो पार्श्व हैं, एक वस्तु के दो तत्त्व हैं।

उस समय समूचा ईसाई जगत् एक ईसाई राज्य (Respublica Christiana) समझा जाता था, क्योंकि तत्कालीन विचारक समस्त विश्व को एक इकाई मानते थे, एक ईश्वर को इसका मूल स्रोत समझते थे। आजकल राज्य की नागरिकता और चर्च की सदस्यता सर्वथा पृथक् और भिन्न समझी जाती है, उस समय इनमें कोई भेद नहीं था। मध्ययुग में चर्च का सामान्य जीवन पर इतना अधिक प्रभाव था कि चर्च से पृथक् होते ही व्यक्ति अपने कानूनी और राजनीतिक अधिकार खो बैठता था। आजकल जिस प्रकार राज्यहीन व्यक्ति निराश्रित और निरवलम्ब होता है, उस समय यह स्थिति चर्च से बहिष्कृत व्यक्ति की थी। इस समय जो महत्त्व राज्य की नागरिकता को प्राप्त है, उस समय वह चर्च का सदस्य होने का था। सब अधिकार और सुविधाएं इसी से प्राप्त होती थीं। चर्च जनता के जीवन पर इतना हावी था कि फिग्गिस के शब्दों में "उस समय चर्च ही राज्य था और लौकिक सत्ता (Secular authority) चर्च का

1. गीर्के – पोलिटिकल थियोरीज आफ दी मिडल एज (मेटलैण्ड का अनुवाद, कैम्ब्रिज 1900), पृ० 10.

पुलिस-विभाग मात्र था।"[1] चर्च आजकल राज्य द्वारा किए जाने वाले सभी कार्य करता था—विवाह, व्यापार, विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण उसके हाथ में था। उसने जीवन के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक आदि सभी क्षेत्रों में ईसाइयत के सिद्धान्त लागू कर इन्हें एक सूत्र में पिरोने का यत्न किया। विभिन्न देशों, जातियों के व्यक्तियों पर ईसाइयत ने एक जैसी धार्मिक और कानूनी व्यवस्था लागू करके उन्हें एक सार्वभौम समाज का अंग बनाया और एकत्व के सिद्धान्त पर बल दिया।

(3) **राजतन्त्र का महत्त्व**—मध्यकाल में एकत्व के सिद्धान्त पर बड़ा बल दिया जाता था, अतः चर्च और राज्य में राजतन्त्र की प्रणाली को सर्वोत्तम माना जाता था। गीर्के (Gierke) ने लिखा है कि "मध्ययुगीन विचारक यह मानते थे कि सामाजिक संगठन का मूलतत्त्व एकता है और यह शासन करने वाले अंग में होनी चाहिए और यह उद्देश्य तभी अच्छी तरह पूरा हो सकता है, जब शासक अंग स्वयमेव एक इकाई तथा परिणामतः एक व्यक्ति हो।"[2] दाँते ने भी यह मत प्रकट किया था कि राजनीतिक जीवन को एक सूत्र में पिरोने वाला तत्त्व इच्छा (Will) है और इच्छाओं में एकता स्थापित करने के लिए एक व्यक्ति का शासन सर्वोत्तम है। अतः राजनीतिक क्षेत्र में राजा का तथा धार्मिक क्षेत्र में पोप का शासन होना चाहिए। राजा इस पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि होकर शासन करता है, अतः उसे भगवान् का अंश समझना चाहिए।

(4) **राजसत्ता पर प्रतिबन्ध**—राजा को देवता का अंश मानते हुए भी उसे शासन के निरंकुश अधिकार नहीं थे, उस पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। इनके कारण उसके अधिकार सीमित (Limited) थे। **पहला** प्रतिबन्ध राज्याभिषेक के समय की जाने वाली प्रतिज्ञा होती थी। **दूसरा** प्रतिबन्ध यह सिद्धान्त था कि राजा का अधिकार और कर्त्तव्य कानून बनाना नहीं है, किन्तु इसकी उद्घोषणा करना है।[3] राजा प्राचीन परम्परागत रिवाजों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। जनसाधारण में प्रचलित रिवाज कामन लॉ (Common Law) कहलाते थे, वह इनका पता लगाने के लिए योग्य व्यक्तियों को नियत करता था। विलियम ने इंगलैण्ड जीतने पर चौथे वर्ष पुराने रिवाजों का पता लगाने के लिए 12 व्यक्तियों को नियुक्त किया था। राजा जनता द्वारा चुने गए (Quas vulgus elegerit) इन रिवाजों या कानूनों के अनुसार शासन करने को बाध्य था। उस समय राजा को स्वतन्त्र रूप से कानून बनाने का कोई अधिकार न था। इंगलैण्ड में वह लार्ड सभा तथा कामन्स सभा के सदस्यों के परामर्श से ही कानून बना सकता था। फ्रांस में राजा का कोई आदेश तब तक वैध नहीं समझा जाता था, जब तक न्यायालय (Parlement) उसे अपने रजिस्टर में न दर्ज कर ले। यदि न्यायालयों को राजा के किन्हीं आदेशों पर आपत्ति होती थी तो वे उसका पंजीकरण नहीं करते थे और राजा को इनमें संशोधन करना पड़ता था। यद्यपि राजा

---

1. जे. एन. फिग्गिस—फ्राम गर्सोन टू ग्रोशियस, पृ० 5.
2. गीर्के—पोलिटिकल थियोरीज आफ दी मिडल एजेस (मेटलैण्ड का अनुवाद), पृ० 31-3.
3. मैकिलवेन—दी ग्रोथ आफ पोलिटिकल थाट इन दी वैस्ट, पृ० 189.

अपने पत्रों अथवा मौखिक आदेशों द्वारा कई बार न्यायालयों को अपने कानून स्वीकार करने की प्रेरणा करता था तथापि न्यायालयों के आरम्भिक इतिहास-लेखक बर्नार्ड (Bernard de la Roche-Flavin) ने ऐसे अनेक दृष्टान्त दिए हैं, जिनमें राजा के आदेश की उपेक्षा की गई थी।[1] **तीसरा** प्रतिबन्ध यह था कि तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था के कारण संविदा (Contract) का सिद्धान्त सर्वमान्य था, इसके अनुसार प्रजा के कुछ मौलिक साम्पत्तिक अधिकार माने जाते थे। इनकी अवहेलना करने वाले किसी भी राजकीय आदेश का उल्लंघन प्रजा कर सकती थी, ऐसा आदेश जारी करने वाले राजा के प्रति अपनी निष्ठा को हटा सकती थी और उसके विरुद्ध कानूनी तौर से विद्रोह कर सकती थी। 14वीं शताब्दी के आरम्भ में पेरिसवासी जॉन (John of Paris) ने यह घोषणा की थी कि न तो पोप को और न ही राजा को यह अधिकार है कि वह अपनी प्रजा के सामान को उसकी सहमति के बिना उससे ले सके।[2] इन सब प्रतिबन्धों के आधार पर मैकिलेवेन ने यह सत्य ही लिखा है कि मध्यकालीन राजा यद्यपि पूर्ण (Absolute) सत्ता रखता था, किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं (Irresponsible) था, फिर भी उसके अधिकार सीमित (Limited) थे। वह एक निश्चित क्षेत्र में पूर्ण अधिकार रखता था, किन्तु उसका अतिक्रमण करते ही अत्याचारी शासक (Tyrant) बन जाता था और प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह का पूरा अधिकार था।

(5) **प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का सिद्धान्त**—मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन में यद्यपि राजतन्त्र की प्रधानता थी तथापि उसमें प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के बीज विद्यमान थे। चर्च में पोप को सर्वोच्च माना जाता था, फिर भी उसकी प्रभुसत्ता पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध थे : पहला पोप के चुनाव का था, इसमें रोम के विभिन्न चर्चों के प्रतिनिधियों का समूह (College of Cardinals) पोप का निर्वाचन करता था, इसमें प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था। दूसरा प्रतिबन्ध यह था कि सैद्धान्तिक विषयों में समूचे चर्च के प्रतिनिधियों की परिषद् को निर्भ्रान्त माना जाता था, यह पोप को पदच्युत कर सकती थी और विभिन्न विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय कर सकती थी। मारसिलियो (Marsiglio) ने चर्च की परिषद् का संगठन प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के आधार पर माना था। उसका यह मत था कि इस परिषद् में प्रत्येक प्रान्त से वहाँ के निवासियों की संख्या तथा गुणों के आधार पर प्रतिनिधियों को आना चाहिए। वह पोप को चर्च की परिषद् का वशवर्ती मानता था। ओकमवासी विलियम (William of Occam) ने यह मत रखा था कि चर्च अपने संविधान का निश्चय कर सकता है तथा पोप द्वारा शासन की प्रणाली में परिवर्तन करने में समर्थ है। कूसावासी निकोलस (Nicholas of Cusa) का यह मत था कि चर्च की सामान्य परिषद् (General Council) समूचे चर्च की प्रतिनिधि है, पोप से ऊँचा स्थान रखती है, पोप इसका सेवक है और इसके नियमों से बँधा हुआ है। राजनीतिक संगठन के सम्बन्ध में मारसिलियो इस यूनानी विचार से प्रभावित था कि जनता को या तो शासन में स्वयमेव प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना चाहिए अथवा अपने अधिकार प्रतिनिधियों को

1. वही, पृ० 366-7.
2. वही, पृ० 367.

सौंपने चाहिएँ । ट्यूटानिक जातियों के प्रभाव के कारण मध्ययुग में प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त को महत्त्व मिलने लगा। उस समय प्रतिनिधि शासन का मौलिक सिद्धान्त इस रूप में मान्य हो चुका था कि कानून का पालन अवश्य होना चाहिए, यह जनता में प्रचलित रिवाज है और इसका निर्धारण पार्लियामेंट द्वारा होता है । 1264 के लेवेस (Lewes) के युद्ध के बाद जब इंगलैण्ड में 'आदर्श पार्लियामेंट' बुलाई गई तो साइमन डि माण्टफोर्ट के एक अनुयायी ने एक गीत में लिखा था—"राज्य के समुदाय को इस विषय में परामर्श देना चाहिए और यह बताना चाहिए कि साधारण जनता किन बातों को कानून समझती है ।"[1] उस समय यह विश्वास प्रचलित था कि कानून जनता से सम्बन्ध रखता है, इसका लागू या इसमें संशोधन करना जनता की सहमति से हो सकता है । यद्यपि उस समय तक यह निश्चित नहीं हुआ था कि जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा इसका निर्धारण किस प्रकार करे, तथापि यह सिद्धान्त माना जा चुका था कि किसी विशेष स्थान, नगर या राज्य के प्रतिनिधियों के द्वारा समूची जनता को अपनी शिकायतें सुनाने और दूर कराने का अधिकार है, वे ऐसे मामलों में निर्णय का अधिकार रखते हैं जिनमें उन्हें सैनिक भेजने हों या व्यय का भार वहन करना हो। मध्य-युग में प्रतिनिधि शासन का यह विचार स्वीकृत हो चुका था कि जनता एक सामूहिक संस्था (Corporate body) है, वह अपने सामूहिक विचारों को अपने नेताओं द्वारा अभिव्यक्त करती है, किन्तु उस समय इन नेताओं या प्रतिनिधियों के चुने जाने की प्रणाली निश्चित नहीं हुई थी । इस विचार की सत्ता का एक सुन्दर प्रमाण ब्रिटिश विधिशास्त्री ब्लैकस्टोन (1723-1780) का कानून विषयक यह सिद्धान्त है कि ब्रिटिश कानूनों की उद्घोषणा (Promulgation) की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह कल्पना की जाती है कि प्रत्येक अंग्रेज पार्लियामेंट में उपस्थित रहता है ।[2]

(6) **सामुदायिक जीवन** (Group Life)—मध्यकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति सामुदायिक अथवा सामूहिक जीवन बिताने की थी। यह विभिन्न प्रकार के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समूहों में व्यतीत किया जाता था। इसके प्रधान रूप ईसाई मठ (Monasteries), परिव्राजक सम्प्रदाय (Monastic Orders), आर्थिक श्रेणियाँ (Guilds), कम्यून और नगर थे । सम्भवत: उस समय इनकी आवश्यकता इसलिए थी कि तत्कालीन अराजक स्थिति में एकाकी व्यक्ति अपने को निर्बल अनुभव करता था और किसी समुदाय का सदस्य बनकर ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता था । किन्तु सामुदायिक जीवन की प्रधानता के कारण मध्ययुग में व्यक्ति के अधिकार उपेक्षित ही रहे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विचार का उस युग में पनपना इसलिए भी सम्भव न था क्योंकि वह प्रमाणवाद (Authoritarianism) का तथा पोप की प्रभुता का युग था।

(7) **निगम विषयक सिद्धान्त** (Theory of Corporations)—मध्मयुग में सामूहिक जीवन की प्रधानता होने के कारण निगमों के सिद्धान्त का विकास हुआ। उस समय निगम के मुख्य रूप ईसाई संघ या चर्च, चर्च की परिषद्, विश्वविद्यालय,

1. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 184.
2. वही।

स्वतन्त्र नगर और कम्यून थे। इसका आशय यह था कि अनेक व्यक्तियों से मिलकर बनने वाली इन सत्ताओं को वर्तमान कम्पनियों की भाँति एक कानूनी व्यक्तित्व (Juristic Personality) और एक इच्छा रखने वाला समझा जाता था। इनका एक उद्देश्य, एक लक्ष्य और एक शक्ति मानी जाती थी। उदाहरणार्थ, चर्च ईसाइयत में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्तियों का सामूहिक संगठन या निगम माना जाता था। इसी प्रकार चर्च की सामान्य परिषद् चर्च की सामूहिक प्रतिनिधि समझी जाती थी। पोप केवल इसका अध्यक्ष होता था। मध्ययुग के विचारकों का यह मत था कि निगमों के रूप में संगठित संस्थाओं का उद्देश्य आध्यात्मिक एवं लौकिक जीवन के विविध अंगों का विकास करना है, अतः उन्हें अपना उद्देश्य सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए इस प्रकार की सत्ता दी जानी चाहिए कि वे अपने नियम स्वयं बनाएँ, अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हों, कोई बाह्य-शक्ति उनके कार्यों में हस्तक्षेप न करे और वे राजनीतिक विवादों से दूर रहते हुए अपना स्वतन्त्र विकास कर सकें। उदाहरणार्थ, चर्च या आर्थिक श्रेणी (Guild) को अपने सदस्यों के लिए नियम बनाने और उन पर अनुशासन करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति और समुचित विकास के लिए स्वशासन के पूर्ण अधिकार देकर स्वतन्त्र संस्था बनाना उचित है।

मध्ययुग के निगम सिद्धान्त द्वारा एक ही राज्य में स्वशासन करने वाले तथा अपने विशेष क्षेत्र में पूरा अधिकार रखने वाले अनेक संगठन उत्पन्न हो गए। इनका राजनीतिक चिन्तन पर प्रबल प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्र व्यक्तित्व और सामूहिक इच्छा (Group Will) रखने वाले इन संगठनों के सिद्धान्त ने निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarch) के स्थान पर जनता के समूह में रहने वाली प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के विचार के विकास में बड़ा सहयोग दिया। मध्ययुग में निगम सिद्धान्त के विकास का श्रेय 15वीं शताब्दी के विधिशास्त्रियों को है। इस समय रोमन कानून के अध्ययन को बहुत महत्त्व दिया जा रहा था। इस कानून में निगम या Corpus अथवा Universita की धारणा पहले से विद्यमान थी। इसका उपयोग इस समय उन विचारकों ने विशेष रूप से किया जो चर्च या राज्य में किसी एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता का केन्द्रीकरण करने के उग्र विरोधी थे। यह सिद्धान्त इस दृष्टि से अधिक उपयोगी था कि यह सत्ता को एक व्यक्ति में केन्द्रित न करके एक बड़े समूह या निगम में केन्द्रित करता था। यह विचार वस्तुतः एक व्यक्ति के हाथ में तथा समूची जनता के हाथ में शक्ति केन्द्रित करने की दो अतियों (Extremes) के बीच मध्यम मार्ग की अवस्था को सूचित करता था। इसका अधिक समर्थन उस समय इसलिए किया गया कि तत्कालीन सुधारक सत्ता को पोप या सम्राट् के रूप में किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित करने के विरोधी थे, किन्तु इसके साथ ही वे यह भी जानते थे कि इस सत्ता को सभी नागरिकों या समूची जनता को दिया जा सकता है। यह बड़ा क्रान्तिकारी विचार था, इसे स्वीकार करने के लिए वे तैयार नहीं थे। अतः स्वाभाविक रूप से उन्हें निगम या कारपोरेशन का मध्यममार्गी सिद्धान्त रुचिकर और उपयोगी प्रतीत हुआ। इसीलिए यह सिद्धान्त इस समय बड़ा लोकप्रिय हुआ।

इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए उस समय यह माना जाने लगा कि शासकों को सारी सत्ता जनता द्वारा सौंपी जाती है। चर्च में चरम अधिकार ईसाइयत

में विश्वास रखने वाले समूचे ईसाई जगत् को है। चर्च की परिषद् सारे ईसाई संघ का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती है। इसके विषय में रोमन विधिशास्त्र के निगम विषयक सिद्धान्तों के आधार पर परिषद् के साथ पोप के सम्बन्ध, इसे बुलाने, कार्यवाही चलाने, कोरम पूरा करने और वोट देने के विस्तृत नियम बनाए गए। रोम के निगम कानून (Corporation Law) के अनुसार सम्राट् और पोप को चुनने की विधि निश्चित की गई। पहले तो यह सिद्धान्त चर्च की परिषद्, विश्वविद्यालय, स्वतन्त्र नगर (Free cities) इटली, जर्मनी, फ्रांस के कम्यून आदि छोटे समूहों पर लागू किया गया, किन्तु बाद में बड़े पैमाने पर इससे चर्च और राज्य के कानूनी व्यक्तित्व की विशाल धारणा उत्पन्न हुई। इस सिद्धान्त के आधार पर ही इस विचार का जन्म हुआ कि व्यक्तियों के सम्पूर्ण समुदाय की एक कानूनी एकता (Legal unity) होती है। जनता की ऐसी एकता और व्यक्तित्व मान लेने के बाद ही वह विचार उत्पन्न हुआ कि प्रभुसत्ता राज्य की जनता में निवास करती है, न कि उसके राजा में रहती है। मध्ययुग में राज्य को सावयवी (Organism) मानने का विचार पहले ही से प्रचलित था। अब निगम सिद्धान्त ने इसमें निगमित व्यक्तित्व (Corporate personality) के नवीन विचार की वृद्धि की। इससे प्रतिनिधित्व के परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory of Representation) का विकास हुआ। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि राज्य (State) में और सरकार (Government) में स्पष्ट अन्तर किया जाने लगा। राज्य सत्ता का अन्तिम स्रोत और सरकार शासन के वे अंग समसे जाने लगे जिन्हें यह सत्ता विशेष कार्य करने के लिए सौंपी जाती है।[1]

एक राज्य में विभिन्न संगठनों के निगमित व्यक्तित्व (Corporate personality) को स्वीकार करने वाला सिद्धान्त यद्यपि सर्वप्रथम मध्ययुग में प्रतिपादित किया गया, किन्तु उसने आधुनिक युग के राजनीतिक चिन्तन को भी बहुत प्रभावित किया है। वर्तमान समय में प्रभुसत्ता के बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralistic Theory of Sovereignty) पर और श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) पर इसका स्पष्ट प्रभाव है।

(8) **लोकप्रिय प्रभुसत्ता** (Popular sovereignty) **का विचार**—मध्ययुग में जहाँ एक ओर राजा की दिव्यता में विश्वास किया जाता था, वहाँ दूसरी ओर जनता के भी कुछ दैवी अधिकार माने जाते थे। बाद में इन्हीं से जनता में निवास करने वाली प्रभुसत्ता के विचार का विकास हुआ। मध्ययुग में इस रोमन विचार को माना जाता रहा कि जनता की इच्छा ही राजनीतिक सत्ता का मूलस्रोत एवं आधार है, प्रभुशक्ति (Imperium) जनता में ही निहित है। गीर्के के शब्दों में, "यदि प्रभुशक्ति जनता से प्रादुर्भूत होती है तो इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि जब कोई वैध सम्राट् नहीं रहेगा तो यह शक्ति पुनः जनता में लौट जाएगी।" इससे यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक था कि जनता को शासक चुनने का अधिकार है। मध्ययुग में यह धारणा भी प्रचलित थी कि प्रभुशक्ति का वास्तविक अधिष्ठान जनता ही है, जनता कानून से ऊपर है तथा प्रभुसत्तासम्पन्न है। इस युग के दो

1. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थाट, पृ० 136-37.

विचारकों मारसिलियो तथा निकोलस ने इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। पहले का यह मत था कि कानून बनाने वाला प्रभुशक्तिसम्पन्न होता है और कानून बनाने का अधिकार जनता को है। निकोलस का यह कहना था कि जब समूची जनता स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकार शासक को सौंपती है, तभी सरकार का निर्माण होता है। कानून निर्माण की शक्ति सदैव जनता में रहती है और शासक इन कानूनों से बँधा हुआ होता है। वर्तमान युग में प्रभुसत्ता के विचार के विकास में मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव है।

सातवाँ अध्याय

चर्च और राज्य का संघर्ष

संघर्ष का महत्त्व और स्वरूप—मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन का प्रधान विषय योरोप में धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले पोप और राजसत्ता के प्रतिनिधि—पवित्र रोमन सम्राट् तथा फ्रांस, इंगलैण्ड आदि देशों के राजाओं का द्वन्द्व है। यह संघर्ष इस विषय पर था कि दोनों के अधिकार-क्षेत्र क्या हैं, पोप का राजकीय मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार कहाँ तक है। इस समय पोप और उसके समर्थकों का यह कहना था कि सेण्ट पीटर का उत्तराधिकारी होने के नाते इस भूतल पर पोप की शक्ति सर्वोच्च है, उसे राजाओं के धर्म पालन न करने पर उन्हें दण्डित और सिंहासनच्युत करने का अधिकार है, चर्च के बिशप आदि सभी अधिकारी पोप या उसके प्रतिनिधियों द्वारा नियत होने चाहिएँ। दूसरी ओर सम्राट् एवं राजसत्ता के समर्थकों का यह दावा था कि पोप का चुनाव पवित्र रोमन सम्राट् की सहमति से होना, चाहिए, चर्च के अधिकारियों के पास जो विशाल भूसम्पत्तियाँ हैं, राजा इनका स्वामी है, अतः इन अधिकारियों की नियुक्ति और नियन्त्रण राजशक्ति द्वारा होना चाहिए, न कि पोप द्वारा। 11वीं से 14वीं शताब्दी तक पश्चिमी योरोप में पोपों और सम्राटों के बीच में यह संघर्ष चलता रहा। सैबाइन के शब्दों में, "इस समय की राजनीतिक रचनाएँ मुख्य रूप से ऐहिक और धार्मिक सत्ताओं के सीमा सम्बन्धी विवाद का प्रतिपादन करती हैं।"[1] इस विवाद के कारण इस समय बहुत अधिक राजनीतिक साहित्य लिखा गया। अरस्तू की मृत्यु से 11वीं शती तक राजनीतिक दर्शन पर लिखा गया साहित्य कुछ पन्नों में ही समाप्त हो जाता है, किन्तु बिशपों की राज्याधिकारियों द्वारा नियुक्ति के प्रश्न पर होने वाले विवाद के कारण उत्पन्न होने वाला साहित्य बहुत विशाल है। 1052 से 1152 तक सम्राट् और पोप के संघर्ष पर 115 ग्रन्थ प्रकाशित हुए, इनमें पचास सम्राट् के पक्ष में और पैंसठ पोप के पक्ष में थे। इसने यूरोप में अभूतपूर्व बौद्धिक जागृति और क्रियाशीलता उत्पन्न की।

11वीं शताब्दी तक चर्च एवं राजसत्ता के अधिकार-क्षेत्रों का सुस्पष्ट अंकन और पार्थक्य नहीं हुआ था। रोमन सम्राटों द्वारा ईसाइयत ग्रहण करने के बाद वे रोम की पुरानी परम्परा के अनुसार धर्म एवं शासन दोनों के अध्यक्ष समझे जाते थे। किन्तु

1. सैबाइन—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 198.

पश्चिम में रोमन साम्राज्य क्षीण होने पर पोप की प्रभुता बढ़ने लगी। ग्रेगोरी महान् (590-604) ने पोपों की सांसारिक सत्ता की नींव डाली, राजाओं के अधार्मिक कार्यों की भर्त्सना आरम्भ की, सेण्ट एम्ब्रोज का अनुसरण करते हुए वह अनैतिक कार्यों के लिए राज्याधिकारियों को दण्ड देने लगा। 8वीं शताब्दी में पोपों ने इटली में लम्बार्ड जाति के आक्रमणों के विरुद्ध पेपिन (Pepin) की सहायता चाही और उसने इसके बदले में फ्रांस के पुराने मेरोविंजियन (Merovingian) राजवंश के स्थान पर अपने वंश का शासन स्थापित करने में पोप की सहमति प्राप्त की। 800 ई० में पोप लिओ ने चार्ल्स महान् का पवित्र रोमन सम्राट् के रूप में अभिषेक किया। पोप के अनुयायी इस घटना को बहुत महत्त्व देते थे, उनका कहना था कि चर्च की धर्म-शक्ति ने उसे सम्राट् बनाया है, राज्याभिषेक के समय उससे कुछ प्रतिज्ञाएँ कराई हैं, अतः उसे नैतिक मामलों में पोप का वशवर्ती रहना चाहिए। किन्तु दसवीं शताब्दी में जब रोम में गणिका शासन स्थापित हुआ, पोपों का भीषण नैतिक अधःपतन हुआ तो सम्राटों ने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझा। ओटो प्रथम (962-973 ई०), हेनरी तृतीय (1046-1056 ई०) आदि पवित्र रोमन सम्राट् न केवल सुधार की दृष्टि से हस्तक्षेप करते रहे, किन्तु उन्होंने चर्च की परिषदों द्वारा ग्रेगोरी षष्ठ (1045-46 ई०) तथा बेनेडिक्ट नवम (1032-44) को पदच्युत कराया। नैतिक सुधारों की दृष्टि से उनके कार्य सर्वथा न्यायोचित थे, किन्तु चर्च के व्यक्ति इसे अपने धार्मिक मामलों में राजसत्ता का अनुचित हस्तक्षेप मानते थे और चर्च की स्वतन्त्रता के लिए बड़ा घातक समझते थे। अतः निकोलस द्वितीय (1059-1061 ई०) के समय पोप के चुनाव की प्रणाली में परिवर्तन की घोषणा की गई और सम्राट् हेनरी चतुर्थ की नाबालगी का लाभ उठाते हुए पोप जर्मन सम्राटों के प्रभुत्व से स्वतन्त्र हो गए। जब हेनरी चतुर्थ ने पुराने सम्राटों के अधिकारों का प्रयोग करना चाहा तो तत्कालीन पोप ग्रेगोरी सप्तम (1073-1085 ई०) के साथ उसका संघर्ष छिड़ गया।

11वीं शताब्दी से शुरू होने वाला चर्च और राजसत्ता का संघर्ष चार शताब्दियों तक चलता रहा। पहले यह चर्च और पवित्र रोमन सम्राट् में था, बाद में चर्च और फ्रांस तथा इंगलैण्ड आदि के राष्ट्रीय राजाओं में। शुरू में इसमें पोप की विजय हुई, किन्तु बाद में राजसत्ता का पलड़ा भारी हो गया। इसमें राजनीतिक विचारों के विकास की दृष्टि से निम्नलिखित संघर्ष उल्लेखनीय हैं—ग्रेगोरी सप्तम (1073-1086 ई०) तथा सम्राट् हेनरी चतुर्थ का संघर्ष, पोप इन्नोसैण्ट तृतीय (1198-1216 ई०) के संघर्ष, पोप बोनीफेस अष्टम (1294-1303 ई०) तथा फ्रांस के राजा फिलिप (राज्य-काल 1285-1314 ई०) का संघर्ष, पोप जॉन बाइसवें (1316-1334 ई०) तथा बवेरिया के लुई का संघर्ष।

उपर्युक्त संघर्षों के समय दोनों पक्षों के समर्थन में बहुत साहित्य लिखा गया। पोप की सत्ता का समर्थन करने वाले पोपवादी (Papalists) अथवा धर्मसत्तावादी (Sacerdotalist) कहलाते हैं और पोप की सर्वोच्च सत्ता का विरोध करने वाले लौकिक सत्तावादी (Secularist) कहलाते हैं। पोप की सर्वोच्चसत्ता के प्रमुख समर्थक हिल्डेब्राण्ड (1073-1085), सेण्ट बर्नार्ड (1091-1153 ई०), साल्ज़बरी का जॉन

(John of Salisbury 1115-1180 A.D.), सेण्ट थामस एक्विनास (1225-1274 ई०), आगस्टस ट्रिअम्फस (Augustus Triumphus) तथा इसके विरोधी, पेरिसवासी जॉन, पडुआवासी मारसिलियो (1278-1343), ओकमवासी विलियम (1280-1349) तथा दाँते (1265-1321) हैं। इनके प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय अगले अध्याय में दिया जाएगा, यहाँ केवल दोनों पक्षों द्वारा अपनी स्थिति का समर्थन करने वाले प्रधान तर्कों का संक्षिप्त उल्लेख होगा।

धर्मसत्ता को सर्वोच्च मानने की युक्तियाँ—पोप के समर्थकों की ओर से पोप की सत्ता को सर्वोच्च सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए जाते थे—

(1) आध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता—पोप के समर्थकों का एक प्रधान तर्क यह था कि भौतिक जीवन के नियन्त्रण की अपेक्षा आत्माओं के नरक से उद्धार का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः इसे सम्पन्न करने वाले पुरोहितों को भौतिक शासन करने वाले शासकों से अधिक गौरव, सत्ता और प्रतिष्ठा दी जानी चाहिए। एम्ब्रोज़ ने कहा था—"सीसे की और सोने की चमक में जो अन्तर है, वही अन्तर राजाओं के तथा बिशपों के गौरव में है।[1] ग्रेगोरी सप्तम ने मेत्ज़ के हर्मान्न को लिखे गए अपने सुप्रसिद्ध पत्र में धर्मसत्ता की और राजसत्ता की तुलना करते हुए कहा था कि राजा और सम्राट् शैतानों को नहीं भगा सकते, म्रियमाण पापी का नरक की भीषण यातना से उद्धार नहीं कर सकते, अतः उन्हें बप्तिस्मे और मुक्ति के लिए पादरियों की शरण में आना पड़ता है। आज तक किसी राजा ने मृतकों को जीवन की तथा अन्धों को देखने की शक्ति नहीं प्रदान की, कोढ़ियों को ठीक नहीं किया। "इससे यह स्पष्ट है कि धार्मिक व्यक्तियों की प्रतिष्ठा राजाओं से अधिक है।" इसे पुष्ट करने के लिए अनेक उपमाएँ दी जाती थीं। पहली उपमा शरीर और आत्मा की थी। जैसे आत्मा शरीर से श्रेष्ठ है, उसका शासक है, वैसे ही पुरोहित राजा से उत्कृष्ट तथा उस पर शासन करने वाला है। दूसरी उपमा सूर्य और चन्द्रमा की थी। सूर्य ब्रह्मशक्ति (Sacerdotium) का तथा चन्द्रमा क्षात्र शक्ति (Regnum) का प्रतीक था। जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता है और उससे हीन है, वैसे ही राजसत्ता धर्मसत्ता से अधिकार ग्रहण करने वाली तथा उससे निकृष्ट है। ग्रेगोरी सप्तम तथा इन्नोसैण्ट तृतीय ने इस उपमा का प्रयोग किया था।[2]

(2) धर्मशास्त्रों के वचन—बाइबल के पुराने और नये धर्म-नियमों (Old and New Testaments) के वचन धर्मसत्ता की प्रधानता को पुष्ट करने के लिए दिए जाते थे। रीम्ज़ के आर्कबिशप हिंकमार ने नवीं शताब्दी में लोरेन के राजा लोथेयर के तलाक के मामले में पोप के हस्तक्षेप को न्याय्य सिद्ध करने के लिए प्रायः ऐसे सभी धर्म-वचनों का संग्रह किया था, जिनसे पोप की प्रभुता पुष्ट हो सके। इनमें से कुछ वचन ये हैं—(क) मैथ्यू के सुसमाचार या गास्पल (18/15-18) तथा ल्यूक की गास्पल (10/16) में ईसा ने वादविवादों के निर्णय का अधिकार अपने शिष्यों को देते हुए

1. डनिंग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० 1, पृ० 170.
2. विल ड्यूरैण्ट—दी एज आफ फेथ, पृ० 547.

कहा, "तुम पृथ्वी पर जिसे बन्धन में डालोगे वह स्वर्ग में भी बँधा हुआ पाया जाएगा और जिसे तुम भूतल पर मुक्त करोगे, वह स्वर्ग में भी मुक्त हुआ पाया जाएगा।" ईसा ने पीटर के लिए यह कहा था कि "मैं इस चट्टान पर चर्च का निर्माण करूँगा।" पोप चर्च के अध्यक्ष होने से पीटर के प्रतिनिधि थे और वे ईसा द्वारा दी गई शक्ति के अनुसार सब को शासित करने का अधिकार रखते थे। (ख) जॉन के सुसमाचार या गास्पल (21/15-17) में ईसा ने पीटर को यह उपदेश दिया है, "मेरी भेड़ों का तुम पोषण करो (Feed my sheep)।" इसका यह अर्थ निकाला जाता था कि उसने पीटर की तथा उसके प्रतिनिधि पोप को सब मनुष्यों की देखभाल का ऐसा सार्वभौम अधिकार दिया है कि वह राजाओं का भी नियन्त्रण कर सकता है। पोप इन्नोसैण्ट तृतीय ने इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा था कि ईसा की भेड़ों में रंक और राजा समान रूप से सम्मिलित हैं, अतः उसे राजाओं के आचरण को नियन्त्रित करने तथा युद्ध की क्रूरताओं को बन्द करने का अधिकार है। (ग) डिट्रानमी (17/8-12) के आधार पर इन्नोसैण्ट ने यह परिणाम निकाला कि धार्मिक तथा लौकिक — सभी प्रकार के विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय पोप द्वारा किया जाना चाहिए। (घ) पुराने धर्म-नियम में पैगम्बरों और पुरोहितों को भगवान् द्वारा राजाओं पर अधिकार दिए जाने के अनेक वचन हैं। भगवान् ने पैगम्बर जेरेमिया (Jeremiah) को आज्ञा दी थी (जेरेमिया 1/11), "इस बात पर ध्यान दो, आज मैंने तुम्हें राष्ट्रों पर तथा राज्यों के ऊपर नियत किया है, तुम उनका उन्मूलन कर सकते हो, उन्हें नीचे खींचने, नष्ट करने और नीचे फेंकने का कार्य करने का अधिकार रखते हो, तुम उनका निर्माण और बीज वपन भी कर सकते हो।" (See, I have this day set thee over the nations and over the kingdoms, to root out, to pull down, and to destroy and to throw down, to build, and to plant)। इसी तरह ओल्ड टैस्टामैण्ट में भगवान् प्रायः पैगम्बरों और पुरोहितों के माध्यम से यहूदियों में अपने कोप और कृपा को प्रकट करता है। सैमुअल ने सॉल (Saul) को, नाहन (Nahan) ने डेविड को तथा आहीजाह ने जेरोबोम (Jeroboam) को भगवान् का आदेश और निर्णय दिया था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट था कि धार्मिक पुरोहित राजा पर नियन्त्रण का अधिकार रखते हैं।

(3) **नैतिक नियन्त्रण का अधिकार**—उस समय यह सिद्धान्त माना जाता था कि भगवान् ने पोप को यह अधिकार दिया है कि वह राजाओं के आचार पर नियन्त्रण रखे। सन्त आगस्टाइन का अनुसरण करने वाले विचारक राज्य को पाप का परिणाम मानते थे। इसे पवित्र बनाने के लिए चर्च की सत्ता आवश्यक है। पोपवादियों के मतानुसार राजा तथा अन्य सभी लौकिक मनुष्यों की प्रवृत्ति पाप की ओर होती है। उन्हें सत्य के पथ पर बनाए रखने के लिए उन पर धार्मिक व्यक्तियों और पोपों का नियन्त्रण होना चाहिए।

(4) **ऐतिहासिक प्रमाण**—राजसत्ता पर धर्मसत्ता की प्रभुता पुष्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाण भी दिए जाते थे। **पहला** प्रमाण सन्त एम्ब्रोज द्वारा सम्राट् थियोडोसियस की प्रबल भर्त्सना थी। यह कहा जाता था कि एम्ब्रोज ने सम्राट् को उस समय तक सम्राट् के अधिकारों से वंचित कर दिया था, जब तक कि

वह अपने पाप का प्रायश्चित न कर ले। **दूसरा** प्रमाण प्राचीन फ्रांस में 503 से 752 ई० तक शासन करने वाले मेरोविंजयन वंश के अन्तिम राजा चिल्पेरिक (Chilperic) के स्थान पर पोप ज़कारियास (Zacharias) द्वारा केरोलिंजियन वंश के पेपिन को राजा बनाना था। पेपिन पहले चिल्पेरिक का सामन्त तथा उसके महल का प्रबन्धक (Mayor of the Palace) था। इस स्थिति में उसने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली, फिर भी वह राजा न बन सका, क्योंकि मेरोविंजयन लोगों का यह अन्धविश्वास था कि उनमें राजा वही बन सकता है जिसकी धमनियों में उनके पूर्वज मेरोवियस (Meroveus) का रक्त प्रवाहित हो और जिसके बाल लम्बे हों।[1] अतः, पेपिन ने राजा बनने के लिए पोप के पास दूतमण्डल भेजकर उससे यह पूछा कि क्या यह न्यायोचित नहीं है कि जिसके पास राज्य करने की शक्ति हो, उसे राजा का नाम दिया जाए। पोप ने इससे सहमति प्रकट करते हुए इसे लिखित रूप में दिया और यह सहमति-पत्र 751 ई० में सोईस्सों (Soissons) में बुलाई गई फ्रैंकों की सभा में पढ़ा गया, पोप की आज्ञा से पेपिन को राजा कहा गया तथा सन्त बोनीफेस ने उसका अभिषेक किया।[2] इस प्रमाण के आधार पर पोप सम्राटों पर अपना आधिपत्य समझते थे। **तीसरा** प्रमाण कांस्टैण्टाइन का दान (Donation of Constantine) है। सम्राट् कांस्टैण्टाइन ने राजधानी बदलते समय रोम के पोप सिल्वेस्टर को राज्य का दान किया था। यह जाली दानपत्र पोप हेड्रियन ने 764 ई० में शार्लमेगन के सम्मुख पेश किया था। 1439 में लोरेन्ज़ो वाल्ला द्वारा इसकी जालसाज़ी का भण्डाफोड़ होने तक इसे प्रामाणिक समझा जाता रहा और मध्ययुग के पोपवादियों ने इसकी प्रगतिशील व्याख्या द्वारा पोप की सत्ता का प्रदेश शनैः-शनैः बढ़ाना शुरू किया। शुरू में सम्राट् का दान केवल रोम तथा इटली में बाइज़ैण्टाइन साम्राज्य के प्रदेश तक सीमित समझा जाता था। किन्तु ग्रेगोरी सप्तम के समय बिशपों की नियुक्ति के विवाद में इसका क्षेत्र पश्चिम में समूचा रोमन साम्राज्य समझा जाने लगा और यह कहा जाने लगा कि यह कांस्टैण्टाइन का दान नहीं था, किन्तु चर्च को पहले से प्राप्त अधिकार की स्वीकृति थी। अल्वेरस पेलेगियस (Alvarus Pelagius) के मतानुसार इस दान से सम्राट् ने यह स्वीकार किया कि उसे इस प्रदेश पर कोई वैध अधिकार नहीं था, क्योंकि चर्च ने उसे यह प्रदेश प्रदान नहीं किया था। आगस्टिनस (Augastinus) का यह मत है कि यह दान नहीं, किन्तु अन्यायपूर्ण तथा अत्याचारपूर्ण रीति से पादरियों से छीने हुए अधिकारों को उन्हें पुनः लौटा देना था।[3] राजसत्ता के समर्थक पेरिसवासी जॉन आदि विचारकों ने पोपवादियों के तर्क का खण्डन करते हुए कहा कि यह दान सर्वथा अवैध था क्योंकि किसी सम्राट् को अपने साम्राज्य को विघटित करने का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही वे इसका क्षेत्र भी संकुचित करते थे, फ्रांस और जर्मनी का प्रदेश इस दान में सम्मिलित नहीं करते थे।

चौथा प्रमाण शार्लमेगन को पोप लिओ द्वारा 800 ई० में राज्याभिषेक द्वारा पवित्र रोमन सम्राट् बनाना था। इससे यह परिणाम निकाला जाता था कि जब पोप

1. डेविस—ए हिस्टरी ऑफ मिडीवल योरोप, पृ० 132.
2. वही।
3. मेकिलवेन—दी ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी वैस्ट, पृ० 270-71.

ने फ्रैंक राजा को सम्राट् का पद और अधिकार दिया है तो वह इसे छीनने का भी अधिकार रखता है, वह सम्राट् का नियन्त्रण करने में और उसे सिंहासनच्युत करने में पूर्ण रूप से समर्थ है।

राजसत्ता की स्वतन्त्रता की युक्तियाँ—धर्मसत्ता के उपर्युक्त दावों के उत्तर में राज्यों की स्वाधीनता को पुष्ट करने के लिए दी जाने वाली प्रधान युक्तियाँ और प्रमाण निम्नलिखित थे :

(1) **राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त** (Doctrine of Divine Right of Kings)—राजसत्तावादियों का यह कहना था कि ईसा ने धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के पार्थक्य पर बल दिया है। यदि पुरोहित का कार्य दैवीय है अर्थात् उसे भगवान् से यह कार्य करने का अधिकार मिला है तो राजा को भी शासन का कार्य भगवान् से मिला है। वह अपने कार्यों के लिए भगवान् के प्रति उत्तरदायी है। राजाओं का कर्त्तव्य है कि वे न्यायपूर्वक शासन करते हुए चर्च के तथा पुरोहितों के हितों का संरक्षण करें, प्रजा का कल्याण करें। किन्तु यदि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका दैवी अधिकार नष्ट हो जाता है अथवा चर्च को उन्हें प्रायश्चित आदि विशुद्ध आध्यात्मिक दण्ड देने के सिवाय गद्दी से उतारने आदि के लौकिक दण्ड देने का अधिकार है। भगवान् के प्रति उत्तरदायी होने से इहलोक में कोई उनके कार्यों को नियन्त्रित नहीं कर सकता, उन्हें अपने बुरे कार्यों के लिए भगवान् ही मृत्यु के बाद परलोक में दण्ड देने का अधिकार रखते हैं। राजाओं का अच्छा या बुरा होना भगवान् पर निर्भर है। भगवान् अपना प्रयोजन पूरा करने के लिए आवश्यकतानुसार दोनों प्रकार के राजा भूतल पर भेजते रहते हैं। राजा यदि दयालु हो तो समझना चाहिए कि उस देश की प्रजा पर भगवान् का अनुग्रह है, यदि राजा क्रूर हो तो यह मानना चाहिए कि भगवान् उस देश की प्रजा से प्रकुपित हैं। प्रजा का परम धर्म राजा की इच्छा का पालन करना है। यदि राजा अत्याचारी है तो इसे प्रजा को अपने पापों का परिणाम समझना चाहिए और उसके अत्याचारों से परित्राण पाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए।[1] इस सिद्धान्त का सुस्पष्ट प्रतिपादन नवीं शताब्दी में इसे खण्डित करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में रीम्ज़ के आर्कबिशप हिंकमार ने किया था, यद्यपि उसने इसे शैतान की भावना से भरा हुआ बताया था, किन्तु बाद में यह राजाओं के पक्ष-समर्थन का एक प्रधान आधार हो गया।

हेनरी चतुर्थ ने ग्रेगोरी सप्तम के साथ विवाद में इस युक्ति पर बल देते हुए कहा था कि यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि सारी शक्ति का मूल स्रोत भगवान् है, सम्राट् ने तथा पोप ने अपनी शक्ति भगवान् से ग्रहण की है। चूंकि राजा ने यह शक्ति सीधे रूप में भगवान् से ली है, चर्च के माध्यम से नहीं ली, अतः वह अपने कार्यों के लिए केवल भगवान् के प्रति उत्तरदायी है, उसके कार्यों के निर्णय का अधिकार भगवान् को है, अतः पोप उसे गद्दी से हटाने का अधिकार नहीं रखता है। राजसत्तावादियों की यह युक्ति बड़ी प्रबल थी, जिलेसियस के दो तलवारों के सिद्धान्त के अनुरूप थी। उसमें धर्मशक्ति और राजशक्ति को दो पृथक् तलवारें बताई गई थीं और ये एक व्यक्ति

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 177.

के हाथ में संयुक्त नहीं हो सकती थीं। ग्रेगोरी ने सांसारिक मामलों में हस्तक्षेप करके अपने हाथ में दोनों सत्ताओं को संयुक्त करने का प्रयत्न किया। उसका यह कार्य पुराने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। राजाओं के भगवान् के प्रति उत्तरदायी होने से चर्च उनके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यदि चर्च को ईसा का प्रतिनिधि (Vicar of Christ) होने से दैवी अधिकार प्राप्त हैं तो राजा को भी ईश्वर का प्रतिनिधि (Viceregent of God) होने से दिव्यता प्राप्त है और वह राजनीतिक मामलों में सर्वथा स्वतन्त्र है, चर्च को इसमें हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है।

(2) **धार्मिक प्रमाण**—जिस प्रकार पोपवादी (Papalists) अपने दावों का समर्थन करने के लिए बाइबल के प्रमाणों को उद्धृत करते थे, उसी प्रकार राजसत्तावादी अपने पक्ष की पुष्टि के लिए बाइबल के निम्नलिखित वचनों को उपस्थित करते थे—(क) सन्त पाल ने रोमनों के नाम लिखे पत्र (13/1-7) में यह घोषणा की थी—"(संसार में जो) राजनीतिक शक्तियाँ हैं, उनकी व्यवस्था भगवान् द्वारा की गई है। अतः जो इस शक्ति का विरोध करता है, वह भगवान् की व्यवस्था का विरोध करता है। वह (राजा) भगवान् की आज्ञाओं का पालन करने वाला सेवक (Minister) है। वह पाप करने वाले पर भगवान् का प्रकोप डालने वाला तथा बदला लेने वाला है। अतः तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि तुम न केवल प्रकोप सहन करने के लिए, किन्तु अपने अन्तःकरण की दृष्टि से भी (राजा) के वशवर्ती बनो।"[1] इसी प्रकार ईसा के प्रधान शिष्य पीटर ने यह भी आदेश दिया था कि "भगवान् के लिए मनुष्य (राजा) के प्रत्येक आदेश का पालन करना चाहिए (1, पीटर 2/15-17)।

राजसत्ता का प्रबल पोषण करने वाले पाल और पीटर के वचनों का खण्डन करने के लिए धर्मसत्तावादियों ने यह कहा था कि शासक दो प्रकार के होते हैं—राजा (King) तथा तानाशाह (Tyrant)। उपर्युक्त वचन राजाओं के सम्बन्ध में कहे गए हैं, अतः उन्हीं की आज्ञा का पालन करना चाहिए, न कि तानाशाहों के आदेशों का। हिंकमार के समय से धर्मसत्तावादी इन दो प्रकार के शासकों में अन्तर करते रहे। उनका दूसरा तर्क यह था कि ये वचन साधारण जनता के लिए कहे गए हैं, पादरियों के लिए नहीं हैं। पोप इन्नोसैण्ट तृतीय (1161-1216 ई०) ने कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् एलेक्सियस को लिखे गए एक पत्र में इस युक्ति का समर्थन किया था। किन्तु ये दोनों तर्क बड़े लचर थे। अतः धर्मसत्तावादी ओल्ड टैस्टामेण्ट की एक पुस्तक होसिया (Hosea 8/4) के एक वचन के आधार पर राजाओं के दैवीय होने के दावों का खण्डन किया करते थे। इसमें कहा गया है—"उन्होंने राजाओं को स्थापित किया है, किन्तु वे मेरे द्वारा नहीं स्थापित किए गए। उन्होंने राजकुमारों को बनाया है, मैं इसे नहीं

1. Rom. XIII, 1-7.
The powers that be are ordained of God. Whosoever therefore resisteth the power resisteth the ordinance of God. He is the minister of God, a revenger to execute wrath upon him that doeth evil. Wherefore ye must needs be subject, not only for wrath, but also for conscience sake.

जानता हूँ।"[1] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि राजसंस्था भगवान् की ओर से नहीं बनाई गई। किन्तु सत्तावादी इसके खण्डन में ओल्ड टैस्टामेण्ट से ही अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते थे। इनके अनुसार यहूदियों में साल पर तथा अन्य राजाओं पर भगवान् की कृपा थी, भगवान् ने उन्हें अपना प्रयोजन पूरा करने के लिए भेजा था। अतः राजसंस्था को ईश्वरीय माना जाना चाहिए। किन्तु ओल्ड टैस्टामेण्ट में राजाओं पर पुरोहितों की प्रभुता का समर्थन करने वाले प्रमाणों से उनके पक्ष की पुष्टि की गई थी। पर इन ग्रन्थों के पक्षपात से दूषित होने के कारण इनके आधार पर दिए गए उदाहरणों का प्रामाण्य राजसत्तावादियों के मतानुसार संदिग्ध था।

(3) दो सत्ताओं का विचार—ईसा के समय धार्मिक एवं लौकिक सत्ता के पार्थक्य पर बल दिया जाता था। जिलेसियस के दो तलवारों के सिद्धान्त में इसे स्वीकार किया गया था। राजसत्तावादियों का यह मत था कि ब्रह्म और क्षत्र शक्ति एक ही ईसाई राज्य (Christian Commonwealth) के दो पार्श्व हैं, इन दोनों में सामंजस्य और सौहार्द बना रहना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब राज्य धार्मिक मामलों में चर्च का वशवर्ती रहे और चर्च सांसारिक मामलों में राज्य के आधीन हो। धर्मवादियों का यह तर्क ठीक नहीं है कि नैतिक जीवन का नियामक होने से वह राज्य से ऊँची स्थिति रखता है। राज्य भी नैतिक जीवन को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, यदि वह न रहे तो समाज में अपराधों का और अनीति का साम्राज्य हो जाए। अतः नैतिक जीवन की पवित्रता को बनाए रखने के लिए राज्य की सत्ता आवश्यक है और वह इस विषय में चर्च के समान महत्त्व रखता है। चर्च नैतिक आधार पर राज्य के नियन्त्रण करने या उसे वशवर्ती बनाने का दावा नहीं कर सकता। दोनों सहवर्ती (Co-ordinate) किन्तु पृथक् एवं स्वतन्त्र अधिकारों (Postestates distinctae) को रखने वाली सत्ताएँ हैं।

(4) रोमन कानून के प्रमाण—12वीं शताब्दी में पवित्र रोमन सम्राट् फ्रेडरिक बारबरोसा (1153-1190 ई०) के प्रोत्साहन से इटली में बोलोन्या तथा अन्य स्थानों में जस्टीनियन के कोड तथा रोमन कानून के अध्ययन का पुनरुज्जीवन हुआ और विधिशास्त्री कानून के आधार पर राजसत्ता का समर्थन करने लगे। पहले रोमन विधिशास्त्र के इस सिद्धान्त का उल्लेख हो चुका है कि राजा की इच्छा ही कानून का निर्माण करती है। अब विधिशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त के आधार पर राजा के निरंकुश अधिकार का समर्थन करते हुए पोप के अधिकार-क्षेत्र को नियन्त्रित करना शुरू किया। 12वीं शताब्दी के आरम्भ में चर्च के नियमों और कानून का संग्रह करने वाले ग्रेशियन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Decretum Gratiani' में लिखा था, "राजाओं की आज्ञाएँ चर्च की आज्ञाओं का अनुसरण करती हैं, अतिक्रमण नहीं करतीं" (The decrees of Princes do not take precedence over, but follow the decrees of the church)।[2] फ्रेडरिक द्वारा रोमन कानून के प्रोत्साहन से जर्मन सम्राटों के पक्ष का समर्थन होने लगा। ग्रेशियन के सिद्धान्त के

1. Hosea viii, 4, They have set up king, but not by me; they have made princes, and I knew it not.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 180.

विरोध में रोमन कानून का यह सिद्धान्त बलपूर्वक रखा जाने लगा कि राजा अपनी इच्छा से कोई भी कानून बना सकता है। चर्च का यह कहना था कि पोप लिओ ने शार्लमेगन को राजसत्ता प्रदान की थी। यह पहले कुस्तुन्तुनिया के बाइज़ैण्टियन सम्राटों में थी, लिओ द्वारा इसे शार्लमेगन को दिया गया। इसे कानूनी भाषा में साम्राज्य की शक्ति का संक्रमण या स्थानान्तरीकरण (Translatio imperi) कहा जाता था। इसके सर्वथा प्रतिकूल विधिशास्त्रियों ने 'अविच्छिन्न साम्राज्य शक्ति' (Imperium Continuum) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार पुराने रोमन सम्राटों के समय से साम्राज्य की शक्ति सतत एवं अव्याहत रूप में चली आ रही थी, अतः जर्मन सम्राटों को यह शक्ति पोप ने प्रदान नहीं की। 1084 ई० में रावेन्ना में रोमन कानून के अध्यापक पीटर क्रासस (Peter Crassus) ने हेनरी और ग्रेगोरी के विवाद में हेनरी चतुर्थ का समर्थन करते हुए अपने ग्रन्थ (Defensio Henrici IV regis) में यह तर्क दिया[1] कि हेनरी का राज्य उसे बाप-दादा से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति है, पोप को इसमें हस्तक्षेप का वैसा ही कोई अधिकार नहीं है जैसे उसे किसी व्यक्ति की पैतृक सम्पत्ति में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। इसे उसने रोमन कानून से पुष्ट किया। मध्ययुग के एक महान् विधिशास्त्री बार्टोलस (131-.-1373) ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सम्राट् पृथ्वी पर भगवान् का अवतार (Deus in terres) है, उसकी प्रभुशक्ति कभी दूसरे व्यक्ति को न दी जा सकने वाली या अनन्य-क्राम्य (Inalienable) है, इस विषय पर विवाद करना धर्म-विरुद्ध है। पोप इन्नोसैण्ट तृतीय ने धार्मिक सत्ता की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए सार्वभौमता की युक्ति देते हुए कहा था कि राजा की सत्ता का अधिकार-क्षेत्र सीमित प्रदेश होता है, किन्तु चर्च की सत्ता समूचे मानव समाज पर लागू होने से विश्वव्यापी है। इसके उत्तर में विधि-शास्त्रियों ने यह सिद्धान्त रखा कि पवित्र रोमन सम्राट् की सत्ता कानूनी तौर से समूचे प्राचीन रोमन साम्राज्य पर तथा बाद में जीते हुए जर्मनी के प्रदेश पर लागू होने के कारण सार्वभौम और विश्वव्यापी है। पुराने रोमन राजा सम्पूर्ण सभ्य जगत् पर शासन करते थे, उनके उत्तराधिकारी पवित्र रोमन सम्राट् भी समूची दुनिया के शासक हैं और चर्च के प्रभुत्व से स्वतन्त्र हैं। अगले अध्याय में दोनों पक्षों के प्रमुख विचारकों का परिचय दिया जाएगा।

---

1. सैबाइन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 210.

आठवाँ अध्याय

मध्ययुग के प्रमुख विचारक

मध्ययुग के योरोप में चर्च और राज्य के, ब्रह्म तथा क्षत्र-शक्ति के उग्र संघर्ष के कारण धार्मिक सत्ता और राजसत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न राजनीतिक चिन्तन का प्रधान विषय था। इस संघर्ष ने दोनों पक्षों का समर्थन करने वाले अनेक विचारक उत्पन्न किए। यहाँ पहले धर्मसत्ता और पोप का पक्ष पुष्ट करने वाले तथा बाद में राजसत्ता अथवा क्षत्र-शक्ति की प्रधानता प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

पोप की प्रभुता के समर्थक विचारक

सन्त बर्नार्ड (1091-1153 ई०)—बारहवीं शताब्दी के इस सुप्रसिद्ध फ्रेंच सुधारक और बुद्धिवाद के कट्टर विरोधी बर्नार्ड को इस बात का श्रेय है कि उसने दो तलवारों के सिद्धान्त की नवीन व्याख्या द्वारा राज्य पर चर्च की प्रभुता का प्रबल समर्थन किया। उसका यह मत था कि "धार्मिक शक्ति की आध्यात्मिक तलवार तथा राजनीतिक शक्ति की सांसारिक तलवार—दोनों ही चर्च की हैं। किन्तु सांसारिक तलवार चर्च के लिएं तथा आध्यात्मिक तलवार चर्च द्वारा खींची जानी चाहिए। आध्यात्मिक तलवार का प्रयोग पादरी के हाथ से होना चाहिए और सांसारिक तलवार का प्रयोग क्षत्रिय (Knight) के हाथ से, किन्तु पादरी की इच्छा पर (ad nutun) तथा सम्राट् की आज्ञा से होगा।"[1]

इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि राजदण्ड का प्रयोग राजा चर्च की इच्छा से ही कर सकता है, और सम्राट् को पोप का वशवर्ती रहना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही उसका यह भी मत था कि चर्च को सांसारिक मामलों में नहीं पड़ना चाहिए, ये आध्यात्मिक विषयों की तुलना में अतीव क्षुद्र हैं। अतः पोप को चर्च का प्रादेशिक विस्तार करने के लिए द्वितीय क्रूसेड के संचालन के और राजनीति के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए।

साल्जबरी का जॉन (John of Salisbury 1115-1180)—सन्त बर्नार्ड के सिद्धान्त का अधिक स्पष्ट और युक्तियुक्त प्रतिपादन साल्ज़बरी निवासी ब्रिटिश

---

1. मेकिलवेन—दी ग्रीथ आफ पोलिटिकल थाट इन दी वेस्ट, पृ० 230.

विचारक जॉन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पोलिक्रैटिकस (Polycraticus) में किया। सैबाइन के मतानुसार इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व इस बात में है कि मध्ययुग में राजनीतिक दर्शन के विस्तृत और क्रमबद्ध विवेचन का यह प्रथम प्रयास है।[1] इसके लेखक ने फ्रांस में अबीलार्ड (Abelard) जैसे सुप्रसिद्ध गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी, वह यूनान की और रोम की तथा अपने समय की विचारधारा से परिचित था, इंगलैण्ड में कैण्टरबरी के दो आर्कबिशपों का सचिव रहा था। उसने थामस बैकेट व ब्रिटिश राजा के संघर्ष को और बैकेट के बलिदान को देखा था, उसे चर्च का और राज-दरबारों का प्रत्यक्ष अनुभव था। उसने जब पोप हेड्रियन चतुर्थ (1154-59 ई०) से चर्च के पतन की शिकायत की तो उसे उत्तर मिला, "मनुष्य तो मनुष्य ही रहेंगे, भले ही उन्हें (पादरी का) चोला पहना दिया जाए"। राज्यों को वह चर्च से भी गया-बीता समझता था। इनके सुधार के लिए तथा आदर्श राज्य का चित्रण करने के लिए उसने उपर्युक्त ग्रन्थ लिखा था। इसमें उसके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) **चर्च की सर्वोच्च सत्ता**—उसने बर्नार्ड के सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए कहा कि प्रारम्भ में चर्च के पास आध्यात्मिक सत्ता की और धार्मिक सत्ता की दो तलवारें थीं। ईसा ने ये दोनों तलवारें पीटर को दी थीं। यदि ईसा पीटर को आध्यात्मिक शक्ति की केवल एक तलवार देता तो वह पीटर को यह न कहता कि 'मैंने तुझे स्वर्ग की कुंजियाँ (Keys) दी हैं' (मैथ्यू की गास्पल 18, 15-18), यहाँ बहुवचन का प्रयोग न होता। इससे स्पष्ट है कि पीटर ने ईसा से दोनों शक्तियों की तलवारें प्राप्त कीं और इन्हें चर्च को प्रदान किया। चर्च ने इनमें से आध्यात्मिक शक्ति की तलवार अपने पास रखी और लौकिक शक्ति की तलवार राजा को इस शर्त पर सौंपी कि वह उसका प्रयोग चर्च की ओर से तथा चर्च की इच्छानुसार करेगा। जॉन के शब्दों में, "इस तलवार (सांसारिक मामलों में दण्ड शक्ति के अधिकार) को राजा चर्च के हाथ से ग्रहण करता है। यद्यपि इस रक्तमय तलवार को चर्च अपने हाथ में नहीं थामता तथापि इस पर उसका स्वामित्व है। चर्च इसका प्रयोग राजा के हाथ से कराता है और (लौकिक विषयों में) उसे दण्ड का अधिकार देता है, किन्तु आध्यात्मिक विषय पादरियों के लिए ही सुरक्षित रख लेता है। अतः राजा वस्तुतः चर्च का सेवक है और वह पवित्र कर्त्तव्यों के उस भाग को पूरा करता है, जिसका किया जाना चर्च द्वारा उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यद्यपि ईश्वरीय नियमों का प्रत्येक कर्त्तव्य, धार्मिक और पवित्र है, तथापि अपराधों के लिए दण्ड देने का कार्य घटिया दर्जे का है, और जल्लाद का काम प्रतीत होता है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि राज्य चर्च के आधीन है, चर्च के लिए राज्य का काम जल्लाद का-सा होने के कारण, उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है, अतः यह कार्य उसने राज्य को सौंप दिया है।

(ख) **जॉन का दूसरा सिद्धान्त राज्य की जीवशास्त्रीय** (Organic) **धारणा**

1. सैबाइन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 217.
2. मेकिलवेन—दी ग्रोथ आफ पोलिटिकस थाट इन दी वैस्ट, पृ० 229, डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 185.

है और इससे भी वह राज्य पर चर्च की प्रभुता को पुष्ट करता है। उसका यह मत है कि राज्य में राजा का वही स्थान है जो शरीर में सिर का है, वह उस पर शासन करता है। विधानसभा राज्य का हृदय है, न्यायाधीश और प्रान्तों के शासक आँख, कान, जीभ के समान हैं, सैनिक उसकी भुजाएँ हैं और किसान उसके पैर। शरीर में चर्च की प्रतीक आत्मा होती है। जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है, उसी प्रकार राज्य पर चर्च का शासन है। इसका एक प्रमाण यह है कि जब तक पादरियों द्वारा राज्याभिषेक नहीं होता, तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं बनता है।

(ग) राजत्व के सम्बन्ध में उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि विभिन्न शासन-प्रणालियों में राजतन्त्र ही श्रेष्ठ है। उसने अरस्तू, सिसरो आदि पुराने विचारकों का समर्थन करते हुए कानून की प्रभुसत्ता पर बल दिया, इसे मनुष्यों का शासन करने वाला बताया। कानून को वह दैवी इच्छा का शाश्वत और अपरिवर्तनशील सिद्धान्त समझता था। राजा इस कानून के आधीन है और उसका सेवक है।

(घ) जॉन का चौथा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त राजा (King) और अत्याचारी शासक (Tyrant) में भेद करना तथा अत्याचारी शासक के वध (Tyrannicide) का समर्थन करना था। दैवी कानून का पालन न करने वाला, न्याय (Righteousness) के अनुसार शासन न करने वाला तथा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वाला राजा अत्याचारी शासक हो जाता है। इसके वध का समर्थन करते हुए उसने लिखा था, "यदि शासक की शक्ति दैवीय आज्ञाओं का विरोध करती है, भगवान् के विरुद्ध किए जाने वाले युद्ध में मुझे सम्मिलित करना चाहती है तो मुझे मुक्तकण्ठ से यह उत्तर देना चाहिए कि इस पृथ्वी पर किसी भी मनुष्य की तुलना में भगवान् को महत्त्व देना चाहिए। अत्याचारी शासक का वध करना केवल वैध ही नहीं, अपितु उचित और न्याय्य है (To kill a tyrant is not merely lawful, but right and just)। उसने प्राचीन इतिहास तथा ओल्ड टैस्टामेण्ट में से अनेक अत्याचारी राजाओं Eglon, Holofernes आदि के उदाहरण दिए हैं।[1]

किन्तु ऐसे राजा के वध के लिए कई कठोर शर्तें लगाकर वह इस अधिकार को सीमित करता है। पहली शर्त यह है कि किसी धर्म-विरुद्ध कार्य द्वारा ऐसे शासक का अन्त न किया जाए। उदाहरणार्थ, इसे विष नहीं देना चाहिए, क्योंकि बाइबल में इसका कोई उदाहरण नहीं है। दूसरी शर्त यह है कि हत्यारा राजा के प्रति भक्ति की शपथ से बँधा हुआ नहीं होना चाहिए। वह ऐसे शासक के अन्त करने का सबसे सुरक्षित और उपयोगी ढंग प्रार्थना को मानता है। अत्याचारी शासक भगवान् द्वारा पापों का दण्ड देने के लिए भेजे जाते हैं, अतः भगवान् से की गई प्रार्थना ही मनुष्यों को अत्याचारी शासकों के शिकंजे से मुक्त कर सकती है।

मेनगोल्ड (Manegold of Lutterbach)—ग्रेगोरी सप्तम और हेनरी चतुर्थ के विवाद में पोप की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल समर्थन करने वाले, आल्सेस में लटरबैक

---

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 187, भारत में अत्याचारी राजाओं के प्रजा द्वारा वध के अधिकार और उदाहरणों के लिए देखिए पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन पृ० 36.

के स्थान पर रहने वाले मेनगोल्ड का विशेष महत्त्व राजा-प्रथा के समझौते या संविदा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में है। वह राजाओं की लौकिक सत्ता (Secular authority) को ईश्वरीय समझते हुए भी यह मानता था कि यह सत्ता उसे जन-समुदाय से एक समझौते (Pactum) के रूप में प्राप्त होती है। उसके मतानुसार राजा की शक्ति अन्य सब सांसारिक शक्तियों से अधिक होती है, अतः उसका उपयोग दुष्ट और दुश्चरित्र व्यक्तियों द्वारा नहीं होना चाहिए। शासन करने वाले राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह गौरव और सद्‌गुणों में सभी व्यक्तियों से बढ़ा-चढ़ा हो, शक्ति का प्रयोग निष्पक्ष भाव से करे। उसे इसलिए ऊँचा नहीं उठाया गया कि वह दूसरों पर अत्याचार करे। मेनगोल्ड ऐसे अत्याचारी राजा के प्रति निष्ठा न रखना विश्वास-घात या धर्म-विरुद्ध आचरण नहीं समझता था। उसने राजाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त रखा, "कोई मनुष्य अपने को स्वयमेव सम्राट् या राजा नहीं बना सकता; जनता ही किसी मनुष्य को अपने ऊपर इस उद्देश्य से स्थापित करती है कि वह उन पर न्यायपूर्वक शासन करे।"[1]

मर्रे के मतानुसार मेनगोल्ड पहला मध्ययुगीन विचारक है, जिसने राजा और प्रजा के सम्बन्ध का आधार संविदा को माना है और उसने यह विचार तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था से ग्रहण किया।[2] संविदा के सिद्धान्त के कारण उसे लॉक और रूसो का पूर्वज माना जा सकता है। उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ग्रेगोरी सप्तम द्वारा हेनरी चतुर्थ की प्रजा को सम्राट् की राजभक्ति से मुक्त करने का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया। उसका कहना था कि हेनरी ने प्रजा के साथ किए हुए समझौते को भंग किया है, अतः वह प्रजा से राजभक्त बने रहने की माँग नहीं कर सकता है।

सन्त थामस एक्विनास (1225-1274 ई०)

(क) **जीवनी**—मध्ययुग के दार्शनिक शिरोमणि, पोपों द्वारा सन्त और चर्च के डॉक्टर घोषित किए जाने वाले थामस का जन्म एक उच्च कुल में नेपल्ज़ और रोम के मध्यवर्ती एक्विनो के कौण्ट के यहाँ हुआ। माण्टी कास्सिनी के मठ में आरम्भिक शिक्षा पाने के बाद उसने पाँच वर्ष तक नेपल्ज़ विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई। बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होने के कारण एक्विनास सम्पन्न परिवार में जन्म लेने पर भी फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय में दरिद्रता का व्रत लेने वाला भिक्षु बनना चाहता था। माता-पिता ने जब उसे इस मार्ग से विरत करना चाहा तो वह घर से भाग निकला। किन्तु रास्ते में ही पकड़वाकर उसे एक किले में बन्दी बनाया गया और घर न छोड़ने के लिए नाना प्रलोभन दिए गए। कहा जाता है कि एक बार जब उसे सांसारिक भोग में फँसाने के लिए उसके पास एक सुन्दरी भेजी गई तो एक्विनास ने पास के चूल्हे से एक जलती लकड़ी उस पर ऐसी फेंकी कि वह डरकर भाग गई और उसने दीवार पर अपने संकल्प का प्रतीक क्रास का चिह्न बना दिया। अन्त में उसकी बहन का दिल पसीजा और उसने उसे किले की कैद से भागने में सहायता दी।

अपने गुरु एल्बर्टस मैगेनस की खोज में नंगे पांव 1500 मील पैदल चलकर

1. सैवाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 212.
2. मर्रे—हिस्टरी आफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टू दी प्रेज़ेण्ट, पृ० 50.

एक्विनास पेरिस पहुँचा (1245)। किन्तु उस समय तक गुरु कोलोन जा चुका था, अतः एक्विनास ने वहाँ जाकर उसके चरणों में बैठकर उस समय का समूचा ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद वह पेरिस में अध्यापन करता रहा। उसने शेष जीवन अध्ययन, ईसाइयत तथा धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिपादन, ग्रन्थ प्रणयन और अरस्तू की रचनाओं पर टीकाएँ लिखने, धार्मिक मनन और चिन्तन में बिताया। वह अपने धार्मिक और बौद्धिक चिन्तन में इतना तल्लीन हो जाता था कि उसे आस-पास की परिस्थिति का कोई ध्यान नहीं रहता था। एक बार फ्रांस के राजा लुई नवम के निमन्त्रण पर अन्य पादरियों के साथ वह राजकीय भोज में सम्मिलित हुआ, भोजन करते समय वह अपने विचारों में तल्लीन हो गया। अकस्मात् उसने भोजन की मेज पर जोर से मुक्का मारते हुए कहा, "मानी-मतवादियों के विरुद्ध यह सबसे प्रबल युक्ति है।" उसके साथी पादरी ने उसे डाँटते हुए कहा कि तुम्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि तुम फ्रांस के राजा की मेज पर बैठे हुए हो। किन्तु राजा ने अपनी सहज उदारता से नौकर को फौरन कागज, कलम, दवात लाने को कहा ताकि एक्विनास अपनी युक्ति लेखबद्ध कर सके।

(ख) **दार्शनिक पृष्ठभूमि**—तत्कालीन परिस्थिति ने एक्विनास के सिद्धान्तों और विचारों पर गहरा प्रभाव डाला। 12वीं शताब्दी में जब योरोप में पोप की सर्वोच्च सत्ता सर्वमान्य हो चुकी थी, तब ईसाइयत को यूनानी दर्शन के अध्ययन के पुनरुज्जीवन से तथा बुद्धिवाद से एक नया संकट उत्पन्न हो गया। 12वीं शताब्दी तक पश्चिमी योरोप को अरस्तू के तर्कशास्त्र के अतिरिक्त यूनानी दार्शनिकों के ग्रन्थों का बहुत कम ज्ञान था। इस शताब्दी के उत्तरार्ध में स्पेन के मुस्लिम विश्वविद्यालयों के माध्यम से यूनानी ग्रन्थों के लैटिन अनुवाद पश्चिमी योरोप में हुए। इसी समय क्रूसेडों पर जाने वाले ईसाई पूर्वी देशों से लौटते हुए अपने साथ मूल यूनानी ग्रन्थ लाए।[1] उस समय कृषि, उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति से लोगों को अध्ययन का अवकाश (Schole) मिला और इसके लिए स्कूल स्थापित हुए। इनके अध्यापक या संचालक स्कालेस्टिकस (Scholasticus) कहलाते थे और स्कालेस्टिक दर्शन का तात्पर्य इन स्कूलों में पढ़ाया जाने वाला दर्शन था। इनमें एक विशेष विधि से अध्यापन कराया जाने लगा, यह स्कालेस्टिक विधि (Scholastic Method) कहलाती है।[2] इसमें भारतीय दर्शनों के वात्स्यायन, शंकर आदि के भाष्यों की भाँति पहले पूर्वपक्ष की युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं और फिर विभिन्न तर्कों से इनका निराकरण करते हुए उत्तरपक्ष की स्थापना की जाती है। मध्ययुग के प्रसिद्ध दार्शनिक एबेलार्ड (Abelard), एल्बर्टस मैगनस और सन्त थामस एक्विनास के ग्रन्थ इसी नीरस और शुष्क शैली में लिखे हुए हैं।

प्राचीन यूनान के तथा अरब जगत् के बुद्धिवादी दार्शनिकों के ग्रन्थों से ईसाई धर्म के लिए नया संकट उत्पन्न हो गया। इन ग्रन्थों के स्वाध्याय से स्वतन्त्र चिन्तन, सन्देहवाद और नास्तिकता की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि ईसाइयत के मौलिक

---

1. डनिंग—वही पुस्तक, पृ० 190.
2. विल ड्यूरैण्ट—दी एज आफ फेथ, पृ० 948.

सिद्धान्तों—मृतोत्थान, परलोकवाद आदि में लोगों की श्रद्धा शिथिल होने लगी। यह कहा जाने लगा कि ईसाई-धर्म ज्ञान का विरोधी है, धर्मशास्त्र से हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती, धर्मशास्त्रियों के वचन किस्से-कहानियों पर आधारित हैं। नास्तिकता की इस लहर को रोकने के लिए पहले तो चर्च ने इन ग्रन्थों के अध्ययन पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया, किन्तु ज्ञान-समुद्र के बढ़ते हुए ज्वार को रोकना संभव न था। अतः दूसरा प्रयत्न इस ज्ञान के ईसाइयत के साथ समन्वय करने का किया गया। जैसे उन्नीसवीं शताब्दी में नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों से विज्ञान और धर्म का विरोध होने पर इनमें सामंजस्य का प्रयत्न हुआ, वैसे ही मध्ययुग में दर्शन और धर्म, बुद्धि और विश्वास, मेधा और श्रद्धा का समन्वय किया गया। अब तक ईसाइयत के सिद्धान्त प्रमाणवाद के आधार पर प्रतिष्ठित थे, अब इन्हें बुद्धिवाद से पुष्ट किया गया।

(ग) **समन्वयवाद की विचारधारा**—एक्विनास का विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने अरस्तू और आगस्टाइन के दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों में एकता स्थापित की। उसका यह कहना था कि समस्त मानव-ज्ञान पिरामिडाकार है, इसका आधार विभिन्न ज्ञानों से मिलकर बना है और इसके शीर्ष पर दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र है। अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिक दर्शन एवं ज्ञान का साधन विवेक तथा बुद्धि को मानते थे। एक्विनास इसे स्वीकार करते हुए भी इससे आगे बढ़ता है और कहता है कि बुद्धि द्वारा प्राकृतिक विषयों के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाला ज्ञान सम्पूर्ण सत्य नहीं है। इससे भी ऊपर एक ज्ञान है। यह अन्तर्दृष्टि और श्रद्धा से ही प्राप्त हो सकता है, यह हमें धर्मशास्त्र में मिलता है। दर्शन और धर्म में, बुद्धि और विश्वास में, मेधा और श्रद्धा में कोई विरोध नहीं है। सैबाइन के शब्दों में, "विज्ञान और दर्शन जिस पद्धति को आरम्भ करते हैं, धर्मशास्त्र उसे पूर्ण करता है।...श्रद्धा विवेक (Reason) की पूर्णता है। वे दोनों साथ मिलकर ज्ञान के मन्दिर का निर्माण करते हैं, परन्तु कहीं भी वे एक-दूसरे से नहीं टकराते, एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य नहीं करते।[1]"

एक्विनास अरस्तू की बातों को सही मानते हुए भी उसे अन्तिम सत्य नहीं मानता था, वह यह समझता था कि ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित सत्य उस ज्ञान को पूरा बनाने वाला है। इस प्रकार उसने प्राचीन यूनान की बुद्धिवादी विचारधारा का इलहाम पर बल देने वाली ईसाई विचारधारा के साथ समन्वय किया। एक्विनास को इस बात का श्रेय है कि उसने अपने से पहले चली आने वाली विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक पद्धति का रूप प्रदान किया। वह मध्ययुग की समन्वयवादी विचारधारा का सर्वोत्तम व्याख्याता है। उससे पहले भौतिक क्षेत्र में यूनानी, रोमन और ईसाई सभ्यताओं का मिश्रण हो चुका था, उसने बौद्धिक क्षेत्र में

1. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 248। इस विषय में मनुस्मृति का दृष्टिकोण भी यही है कि तर्क धर्मानुकूल होना चाहिए। मि० 12/106 आर्षं धर्मोपदेशं वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। वैदिक साहित्य में इसी दृष्टि से श्रद्धा और मेधा दोनों के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई (ऋ० 10/151, अथर्व० 6/108/5, 19/64/1)।

यूनानी बुद्धिवादी और ईसाई श्रद्धा का समन्वय किया।[1]

उसके समन्वयवादी प्रयास से राजनीतिशास्त्र का नये रूप में जन्म हुआ। उसने अरस्तू की राजनीति को सिसरो, आगस्टाइन और बाइबल के विचारों से मिलाकर उसका कायाकल्प कर दिया। उसके विचारों को मध्यकालीन योरोप के दर्शन का अंग बनाया। उसने ऐतिहासिक भावना से अपनी समकालीन राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया और इनकी सामग्री के आधार पर अनेक उत्कृष्ट और प्रगतिशील विचारों का प्रतिपादन किया। उसके राजनीतिक विचारों का परिचय देने वाले मुख्य ग्रन्थ **राजाओं के नियम** (De Regimine Principum), **अरस्तू की राजनीति पर दो व्याख्याएँ** (Commentaries on the Politics of Aristotle) और **धर्मशास्त्र का संक्षेप** (Summa Theologica) है। 47 वर्ष की अल्प आयु में मृत्यु हो जाने के कारण उसका पहला और तीसरा ग्रन्थ अधूरा रह गए थे, इन्हें बाद में उसके शिष्यों ने पूरा किया है। इनमें प्रतिपादित प्रधान राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

(1) **राज्य विषयक विचार**—आगस्टाइन आदि ईसाई विचारकों का यह मत था कि मनुष्य के आरम्भिक पाप (Original sin) के कारण राज्य, सम्पत्ति और दास-प्रथा की उत्पत्ति हुई। एक्विनास ने इसके सर्वथा विपरीत अरस्तू का अनुसरण करते हुए कहा कि इनमें से पहली दो संस्थाएँ मनुष्य से लिए सर्वथा स्वाभाविक हैं, यदि मनुष्य का पतन न हुआ होता तो भी ये मानव-समाज में पाई जातीं। **राजाओं के नियम** (De Regimine Principum) में अरस्तू के मौलिक सिद्धान्तों को अपनाते हुए उसने यह सिद्ध किया कि मनुष्य अपने स्वभाव के कारण सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी (Animal sociale et Politicum) है।[2] उसकी सामाजिक सत्ता सब के कल्याण के लिए राज्य को आवश्यक बना देती है और नगर-राज्य (Civitas) आत्मनिर्भर (Selfsufficing) और पूर्ण संगठन होना चाहिए। राज्य के ये तीनों विचार अरस्तू से लेते हुए भी वह उसके नगर-राज्य विषयक विचार में संशोधन करके उसे पूर्ण बनाता है। अरस्तू छोटे नगर-राज्य को आदर्श चरम राजनीतिक संगठन समझता था। एक्विनास इसे अपूर्ण समझते हुए यह कहता है कि कई नगर-राज्यों से मिलकर बनने वाले 'प्रान्त' में आत्मनिर्भरता की मात्रा अधिक हो सकती है, क्योंकि इसमें शत्रुओं से प्रतिरक्षा के अधिक साधन उपलब्ध हो सकते हैं। इसे उसने राज्य (Regnum) का नाम दिया है।[3]

एक्विनास मध्ययुगीन विचारकों में राष्ट्रीय राज्य के आधुनिक विचार का समर्थन करने वाला था। उसका यह मत था कि रीति-रिवाजों की एकता तथा समानता राज्य का उत्तम आधार होता है और ऐसी एकता विशाल साम्राज्य की अपेक्षा छोटे राज्यों में अधिक पाई जाती है। राज्य में पाई जाने वाली राजनीतिक सत्ता का अन्तिम मूलस्रोत वह ईश्वर को मानता है, इसके समर्थन में बाइबल के प्रमाण देता है

1. फोस्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० 238, 243।
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 197.
3. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 197-98.

और सन्त पाल का यह वचन प्रस्तुत करता है कि संसार में 'भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति नहीं है'। किन्तु बाइबल के वाक्यों के अतिरिक्त वह अपनी स्थापना को अरस्तू के जगत् के अन्तिम कारण तथा इसे प्रथम गति प्रदान करने वाले (Primum mobile) मत के आधार पर आध्यात्मिक सिद्धान्तों से पुष्ट करता है तथा इसके समर्थन में आगस्टाइन का यह तर्क भी उपस्थित करता है कि भगवान् योग्य जातियों को राजनीतिक सत्ता प्रदान करता है, जैसे उसने रोमन लोगों को साम्राज्य दिया। अतः भगवान् समूची सत्ता का आदि स्रोत है, उससे शासन करने की शक्ति सम्पूर्ण जनसमुदाय को प्राप्त होती है। ईश्वर के आधीन जनता को सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है।

एक्विनास ने अरस्तू और आगस्टाइन की भाँति दास-प्रथा का समर्थन किया है। अरस्तू ने इसकी पुष्टि मनुष्यों की बौद्धिक योग्यताओं के भेद के आधार पर की थी। आगस्टाइन इसे पापियों को दण्ड देने की व्यवस्था मानता है। किन्तु एक्विनास इसके समर्थन में एक नवीन तर्क यह उपस्थित करता है कि यह प्रथा सैनिकों में वीरता की भावना को अनुप्राणित करने के लिए बनाई गई है। युद्ध में पराजित होने पर सैनिक दास बना लिए जाते हैं, अतः इसका उद्देश्य उन्हें युद्ध में अधिक-से-अधिक शौर्य के लिए प्रोत्साहित करना है ताकि वे विजयी हों तथा दास न बनें। इस मत के समर्थन में उसने रोम के इतिहास से तथा ओल्ड टैस्टामेण्ट की डिट्रानमी नामक पुस्तक से कुछ प्रमाण दिए हैं।[1]

(2) **शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण**—एक्विनास शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण अरस्तू के आधार पर करता है। अरस्तू की भाँति वह सबकी भलाई और हित चाहने वाली शासन-प्रणालियों को अच्छा और न्यायपूर्ण तथा केवल शासक का हित करने वाली शासन-प्रणालियों को निकृष्ट बताता है। अरस्तू के मतानुसार राज्य का लक्ष्य सद्गुणी जीवन (Virtuous life) की प्राप्ति है। किन्तु एक्विनास के मतानुसार राज्य का उद्देश्य ऐसे सद्गुणी जीवन की उपलब्धि है जिससे मनुष्य को मोक्ष मिल सके। प्रत्येक राज्य को इस उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाला राज्य अच्छा होता है। राजतन्त्र और लोकतन्त्र प्रणालियों में अरस्तू का झुकाव लोकतन्त्र की तरफ था। किन्तु एक्विनास निम्नलिखित कारणों से राजतन्त्र को श्रेष्ठ समझता है : (क) जिस प्रकार विश्व में एक ईश्वर का शासन है, शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय का साम्राज्य है, मधुमक्खियों पर रानी मक्खी का शासन होता है; वैसे ही राज्य में एक व्यक्ति का शासन होना उचित है। (ख) समाज की सबसे बड़ी भलाई इस बात में है कि उसमें एकता (Unity) हो और शान्ति सुरक्षित बनी रहे, यह राजतन्त्र में ही सम्भव है। मध्यकाल की अराजक और अशान्त राजनीतिक परिस्थिति में शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य रखने वाले राजतन्त्र को एक्विनास द्वारा श्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक था। (ग) विभिन्न राज्यों के क्रियात्मक अनुभव से भी यह सिद्ध होता है कि राजतन्त्र की प्रणाली श्रेष्ठ है। जहां प्रजातन्त्र प्रणाली है वहाँ अनेक प्रकार के झगड़े, फूट और दलबन्दियां दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु राजतन्त्रों में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि दिखाई देती है। निर्वाचित राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ होता

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 199.

है। राजा पर शपथ द्वारा यह बन्धन लगाना चाहिए कि वह शासन संविधान के अनुसार करेगा।

किन्तु राजतन्त्र का बड़ा दोष इसका तानाशाही (Tyranny) में और अत्याचारी शासन में परिणत हो जाना है। एक्विनास इससे सहमत नहीं है। उसका यह विश्वास है कि यह बुराई राजतन्त्रों की अपेक्षा प्रजातन्त्रों में अधिक पाई जाती है। अत्याचारी शासकों के नियन्त्रण और निवारण के सम्बन्ध में उसके विचार बड़े सौम्य और सुरुचिपूर्ण हैं। साल्ज़बरी के जॉन की भाँति अत्याचारी शासन की निन्दा करते हुए भी, वह लोगों को ऐसे शासक के हनन (Tyrannicide) की अनुमति नहीं देता। उसने यह सर्वथा सत्य ही लिखा है कि प्रायः ऐसा कार्य सज्जन नहीं, किन्तु दुर्जन किया करते हैं, दुर्जनों को अत्याचारी शासकों के शासन की अपेक्षा उत्तम राजाओं का शासन बुरा प्रतीत होता है। अतः यदि अत्याचारी शासकों के वध का अधिकार स्वीकार कर लिया जाए तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि अत्याचारी शासकों के स्थान पर उत्तम शासकों का वध अधिक होने लगेगा।

(3) **राज्य के कार्य**—यूनानी, रोमन तथा ईसाई धर्म के विचारों का समन्वय करते हुए एक्विनास ने राज्य के कार्यों का निर्धारण किया है। अरस्तू का अनुसरण करते हुए उसने राज्य का **प्रधान कार्य** प्रजाजनों के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियों को उत्पन्न करना, राज्य में एकता और शान्ति बनाए रखना बताया है। इसके लिए बाह्य शत्रुओं तथा आक्रान्ताओं से राज्य की रक्षा होनी चाहिए। कानूनों के पालन के लिए पुरस्कारों की और दण्ड की व्यवस्था द्वारा जनता को नियन्त्रण में रखना चाहिए। राज्य का **दूसरा कार्य** सड़कों को सुरक्षित और चोर-डाकुओं के उपद्रवों से मुक्त रखना है। एक्विनास ने यह विचार रोमन साम्राज्य से ग्रहण किया है और इसका समर्थन रोम के उदाहरणों से किया है। किन्तु इसके साथ ही उसने इसे दैवी व्यवस्था सिद्ध करने के लिए ओल्ड टैस्टामेण्ट से भी कुछ प्रमाण दिए हैं। **तीसरा कार्य** राजा द्वारा अपने राज्य के लिए विशेष मुद्रा-पद्धति का चलाना तथा भार और तौल की समुचित प्रणाली निश्चित करना है। एक्विनास ने इन कार्यों का समर्थन इस आधार पर किया है कि यदि सरकार द्वारा सिक्कों तथा भार एवं तौल की व्यवस्था निश्चित हो जाए तो इससे झगड़े और मुकद्दमेबाजी बहुत कम हो जाएगी।[1] एक्विनास ने यद्यपि ये विचार मध्ययुग की तत्कालीन परिस्थिति से ग्रहण किए थे, किन्तु वह इनका समर्थन बाइबल के प्रमाणों के आधार पर करता है। राज्य का **चौथा कार्य** दरिद्रों के भरण-पोषण का दायित्व लेना है। यह विशुद्ध रूप से ईसाई धर्म का विचार है, प्राचीन यूनान और रोम में यह नहीं पाया जाता। किन्तु एक्विनास ने यूनानी दर्शन के दो वाक्यों को लेकर अपने विलक्षण युक्तिक्रम द्वारा इसे यूनानी दार्शनिकों द्वारा समर्थित विचार सिद्ध किया है। इनमें पहला वाक्य है 'प्रकृति में मनुष्य के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी नहीं होतीहै' और दूसरा वाक्य है 'प्रत्येक कला (Art) प्रकृति (Nature) का अनुसरण करती है'। एक्विनास ने इन दोनों वाक्यों को मिलाते हुए यह कहा कि राज्य करने की कला सर्वोत्तम है, उसे प्रकृति का अनुकरण

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 203.

करते हुए यह देखना चाहिए कि राज्य में कोई व्यक्ति जीवन की आवश्यक वस्तुओं से वंचित न रहे। राज्य के इस कार्य के समर्थन में उसने दूसरा तर्क ईसाई धर्म से दिया है। राजा अपने शासन में अनेक प्रकार के पाप कर्म करते हैं, दरिद्रों के भरण-पोषण द्वारा वे इसका समुचित प्रतिकार करके पापमुक्त हो जाते हैं।

(4) कानून और न्याय का विचार—इनकी मीमांसा करते हुए एक्विनास ने अरस्तू, स्टोइक, सिसरो, आगस्टाइन तथा रोमन विधिशास्त्रियों के विचारों का समन्वय किया है तथा वर्तमान युग को इस विषय में बड़ी महत्त्वपूर्ण देन दी है। यूनानी विचारधारा कानून को विवेक-बुद्धि का परिणाम (Conclusion of Reason) समझती थी, यह किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति (Expression of Will) नहीं थी। रोमन विधिशास्त्र-कानून को या तो बुद्धि का परिणाम मानता था अथवा सम्राट् आदि किसी विशेष व्यक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति। एक्विनास ने कानून का लक्षण करते हुए इसे विवेक-बुद्धि का परिणाम तथा इच्छा की अभिव्यक्ति माना। उसके मतानुसार **'कानून सामान्य हित के लिए विवेक-बुद्धि की वह व्यवस्था है, जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा उद्घोषित की जाती है, जिसके हाथ में किसी समाज की देखभाल का अधिकार होता है'** (An Ordinance of reason for the common good, promulgated by him who has care of a community)। कानून के इस लक्षण में अरस्तू की भाँति विवेक-बुद्धि को स्वीकार किया गया है, किन्तु अरस्तू विवेक-बुद्धि को और कानून को पर्याय मानता था, उसके क़ानून की कल्पना में व्यक्ति की इच्छा का कोई स्थान नहीं था। एक्विनास ने इच्छा के तत्त्व (Volitional element) को भी अपने लक्षण में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। किन्तु व्यक्ति की इच्छा कई बार स्वेच्छाचारी और अत्याचारपूर्ण हो सकती है, अतः इस पर नियन्त्रण रखने के लिए वह यह आवश्यक समझता है कि इस इच्छा का उद्देश्य सब लोगों के हित या कल्याण की सिद्धि होनी चाहिए और इस इच्छा की उद्घोषणा समाज के हित की देखभाल करने वाले सार्वजनिक व्यक्ति द्वारा होनी चाहिए।

एक्विनास ने कानून (Lex) को चार वर्गों में बाँटा है—(1) शाश्वत कानून (Lex oeterna), (2) प्राकृतिक कानून (Lex naturalis), (3) मानवीय कानून, (4) दैवी कानून। **शाश्वत** कानून विश्व के नियन्त्रण की वह योजना या व्यवस्था है, जो विधाता के मन में है। यह सारा जगत् सृष्टि का निर्माण करने वाले भगवान् की बुद्धि द्वारा परिकल्पित योजना के अनुसार संचालित हो रहा है। मानवीय बुद्धि उसका पूरा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। **प्राकृतिक** कानून सामान्य रूप से सत्-असत् को पहचानने के नियम हैं। मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा इनका ज्ञान प्राप्त करता है। सब मनुष्यों के विवेकशील और बुद्धिमान् होने के कारण ये नियम सार्वभौम तथा एक-रूप होने चाहिएँ। किन्तु एक्विनास का यह कहना है कि मानवीय कल्याण की दृष्टि से इनमें संशोधन और परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक सम्पत्ति और दास-प्रथा इस प्रकार के नियम हैं। यद्यपि मानव-समाज में पहला प्राकृतिक नियम तो सम्पत्ति के संयुक्त स्वामित्व (Community of goods) का तथा सामान्य स्वतन्त्रता का था, किन्तु मानवीय जीवन के लिए उपयोगी होने के तर्क के आधार पर वैयक्तिक सम्पत्ति और दास-प्रथा भी प्राकृतिक नियम माने जाने लगे। मनुष्य में कुछ स्वाभाविक

इच्छाएँ हैं, जैसे समाज में रहना, आत्मरक्षा करना, सन्तानोत्पादन, बच्चों को शिक्षित बनाना, सत्य का अन्वेषण और बुद्धि को विकसित करना। प्राकृतिक कानून मनुष्य की इन इच्छाओं की अधिकतम पूर्ति की व्यवस्था करता है। **मानवीय** कानून (Human Law) मनुष्य द्वारा समाज में शान्तिपूर्ण जीवन बनाए रखने के लिए बनाई गई दण्ड-व्यवस्थाएँ हैं, इनके भय से समाज में शान्ति बनी रहती है। मानवीय कानून का निर्माण प्राकृतिक कानून के आधार पर होता है। इन दोनों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि यदि कोई मानवीय कानून प्राकृतिक कानून के प्रतिकूल है तो इसे कानून नहीं, किन्तु कानून का विकार मानना चाहिए। **दैवी** कानून (Divine Law) बाइबल के पुराने और नये धर्म-नियमों (Old and New Testaments) में प्रतिपादित की गई देववाणियाँ और ईश्वरीय व्यवस्थाएँ हैं। इनसे मनुष्य अपनी अपूर्ण बुद्धि को पूरा बनाता है और अपने चरम लक्ष्य—परम आनन्द की ओर अग्रसर होता है। दैवी वाणी के बिना मनुष्य अपने प्रधान उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता। एक्विनास के चार प्रकार के कानूनों में शाश्वत और दैवी कानून का सम्बन्ध धर्म से तथा प्राकृतिक और मानवीय कानून का सम्बन्ध राजनीति से है।

न्याय के विषय में एक्विनास ने प्रधान रूप से रोमन विधिशास्त्रियों के मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि यह "प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और सनातन इच्छा है।"[1] किन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसने अरस्तू का यह मत मान लिया है कि न्याय का मौलिक तत्त्व समानता है। यह समानता दो प्रकार से निश्चित होती है—

(क) **प्रकृति के आधार पर**—जैसे, जब कोई व्यक्ति अमुक राशि देता है तो उसे ठीक उतनी ही राशि वापिस दी जानी चाहिए।

(ख) **मानवीय आधार पर**—जब किसी समाज में प्रचलित रीति-रिवाज द्वारा अथवा राजा के आदेश द्वारा दो वस्तुओं में समानता निश्चित की जाए। लिखित मानवीय कानूनों को एक्विनास न्याय और अधिकारों का मूल मानता है, बशर्ते कि ये प्राकृतिक कानूनों के प्रतिकूल न हों। यदि ये इनके प्रतिकूल होंगे तो व्यक्ति इनके पालन के लिए बाध्य नहीं है।

एक्विनास के कानून और न्याय के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उससे पहले कानून व्यक्तित्वशून्य (Impersonal) थ', बुद्धि और प्रकृति पर आधारित था, यूनानी इसे विशुद्ध विवेक समझते थे। उसने प्रकृति के कानून को ईश्वरीय इच्छा से अभिन्न माना है, उसमें इच्छा के तत्त्व का समावेश किया, मानवीय बुद्धि और ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम में भेद किया। आजकल कानून शासक का आदेश मात्र समझा जाता है, उसके लिए नैतिक होना आवश्यक नहीं है। किन्तु एक्विनास कानून को राजसत्ता का आदेश मानते हुए भी उसके लिए दो शर्तें आवश्यक मानता है, वह बुद्धिसम्मत होना चाहिए और समाज के संरक्षक द्वारा सामाजिक हित की दृष्टि से बनाया जाना चाहिए। उसके कानून विषयक विचारों ने लॉक और हॉब्स की विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला।

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ• 196.

(5) **राज्य और चर्च के सम्बन्ध**—इस विषय में एक्विनास का मत यह है कि मानव-जीवन के दो लक्ष्य हैं : पहला लक्ष्य भौतिक सुख की प्राप्ति और उत्तम जीवन का यापन है, इसकी प्राप्ति राज्य द्वारा होती है। यहाँ तक उसका मत अरस्तू से मिलता है। दूसरा लक्ष्य पारलौकिक सुख—आत्मा की मुक्ति और परलोक में अनन्त आनन्द की प्राप्ति है, इसकी प्राप्ति का साधन चर्च है। इन दोनों में संसार का भौतिक सुख गौण और परलोक का सुख प्रधान है। अतः भौतिक सुख की प्राप्ति का साधन होने से राज्य गौण तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति का साधन होने से चर्च मुख्य है। चर्च की यह प्रधानता एक अन्य कारण से भी है। उच्चतम सत्य तर्क एवं बुद्धि से नहीं, किन्तु श्रद्धा तथा विश्वास से जाने जाते हैं। इन विषयों में चर्च ही अन्तिम प्रमाण है। अतः वह राज्य से श्रेष्ठ है। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना शासन इस ढंग से करे कि भगवान् की इच्छा पूरी हो तथा धर्म की वृद्धि हो। राज्य के अधिकारियों को चर्च के दैवी कानून के तथा पुरोहितों के शासन में रहना चाहिए। एक्विनास ने दोनों का सम्बन्ध जलपोत के रूपक से स्पष्ट किया है। राज्य-रूपी जहाज पर राजा बढ़ई की भाँति है, उसका प्रधान कार्य आवश्यक मरम्मत द्वारा यात्रा के समय जहाज को ठीक बनाए रखना है; किन्तु चर्च का कार्य जहाज के चालक का है, जो इसे इसके लक्ष्य की ओर ले जाता है। जिस प्रकार जहाज पर बढ़ई चालक के अनुशासन में रहता है, उसी प्रकार राज्य को चर्च नियन्त्रण में रहना चाहिए।[1] यदि कोई शासक चर्च के आदेशों की अवहेलना करता है तो उसे चर्च से बहिष्कृत कर देना चाहिए तथा उसकी प्रजा को उसके प्रति भक्ति की शपथ से भी मुक्त करना चाहिए। पुरोहित के पास सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शक्ति है। सब शासकों का कर्त्तव्य है कि वे सांसारिक लड़ाई-झगड़ों में तथा पारलौकिक मुक्ति के विषय में पोप के आदेशों का पालन करें। एक्विनास पोप की सर्वोच्च प्रभुता का प्रबल समर्थक है।

अरस्तू तथा एक्विनास के विचारों की तुलना—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट कि एक्विनास का प्रधान कार्य ईसाइयत के धार्मिक सिद्धान्तों का अरस्तू के दार्शनिक विचारों के साथ समन्वय करना था। इसके लिए उसने अरस्तू के विचारों का खण्डन नहीं किया, उसने इन्हें सत्य माना, पर पूरा सत्य नहीं माना। ये उसी हद तक सत्य थे, जहाँ तक श्रद्धा-रहित मानवीय बुद्धि पहुँच सकती है। बाद में उत्पन्न होने वाले ईसाई धर्म ने बुद्धि द्वारा खोजे गए इन सत्यों को खण्डित नहीं किया, किन्तु पूर्ण बनाया। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा।[2]

अरस्तू ने मनुष्य का उद्देश्य ऐहिक सुख की प्राप्ति माना था। एक्विनास इसे स्वीकार करते हुए कहता है कि मनुष्य का इससे भी बड़ा लक्ष्य पारलौकिक आनन्द और मुक्ति प्रदान करना है, जिसकी तुलना में ऐहिक सुख गौण है। अरस्तू ने कहा था कि समाज और राज्य को व्यक्ति के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ। एक्विनास इससे सहमत है कि भौतिक जीवन का उद्देश्य उत्तम

1. फोस्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 259.
2. फोस्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 241.

जीवन है। किन्तु वह इससे भी बड़ा उद्देश्य पारलौकिक जीवन तथा मोक्ष को समझता है और उसकी प्राप्ति के लिए चर्च को आवश्यक मानता है। अरस्तू बुद्धिवादी है और ज्ञान का साधन मेधा या विवेक को मानता है। एक्विनास इसे स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि बुद्धि की पहुँच से भी परे कुछ ऐसे सत्य हैं, जिसका साक्षात्कार श्रद्धा और भगवत्कृपा से ही सम्भव है। वह श्रद्धा से प्राप्त होने वाले ज्ञान को मेधा द्वारा प्राप्त ज्ञान का पूरक मानता है, विरोधी नहीं। कानून को अरस्तू बुद्धि का परिणाम मानता है, किन्तु एक्विनास इसके साथ सहमति रखते हुए कानून में भगवान् द्वारा दिए गए शाश्वत और दैवी कानून को भी सम्मिलित करता है। उसने अरस्तू के प्राकृतिक जगत् को माना, किन्तु उससे ऊँचा भगवान् की कृपा का साम्राज्य स्वीकार किया। इस प्रकार उसने अरस्तू के अधिकांश विचार स्वीकार करते हुए ईसाइयत के विचारों को उनसे ऊँचा स्थान दिया। उसने अपने सिद्धान्तों के ऐसे प्रासाद का निर्माण किया, जिसकी दीवारें अरस्तू की विचारधारा की थीं, किन्तु शिखर ईसाई धर्म का था।

कुछ अंशों में उसने ईसाइयत के प्रचलित विचारों को छोड़कर अरस्तू के विचार माने। तत्कालीन ईसाई सांसारिक जीवन को हेय दृष्टि से देखते थे, इससे मुक्ति पाना चरम लक्ष्य समझते थे। एक्विनास इस लक्ष्य से सहमत होते हुए भी अरस्तू के उत्तम जीवन के लक्ष्य को उपादेय समझता था। ईसाई विचारक राज्य को अस्वाभाविक संस्था समझते थे, उनके मतानुसार जब आदम ज्ञान के वर्जित वृक्ष का फल खाकर पापी बना तो मानव-समाज में पापों तथा अपराधों की वृद्धि हुई और मनुष्यों को नियन्त्रण में रखने तथा दण्ड देने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई, अतः राज्य मनुष्य की प्रकृति के प्रतिकूल है। एक्विनास इसके सर्वथा विपरीत अरस्तू का अनुसरण करते हुए राज्य को मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक मानता था; किन्तु अरस्तू के विचारों का अनुसरण करते हुए भी एक्विनास उसका अनुसरण नहीं करता। पहले यह बताया जा चुका है कि अरस्तू थोड़ी आबादी वाले नगर-राज्य को ही आदर्श राजनीतिक संगठन समझता है, किन्तु एक्विनास इससे सहमत नहीं है।

एक्विनास का मूल्यांकन—जब एक्विनास कोलोन में एल्बर्ट के पास विद्याध्ययन कर रहा था तो उसके सहपाठी चुपचाप रहने तथा भारी डीलडौल के कारण 'गूंगा बैल' कहकर उसकी खिल्ली उड़ाया करते थे। उस समय गुरु ने भविष्यवाणी की थी कि जब यह बैल रंभाएगा तो सारी दुनिया ध्यान से सुनेगी, ऐसा ही हुआ। रोमन कैथोलिक चर्च में सेण्ट आगस्टाइन के बाद उसकी रचनाएँ सबसे अधिक आदर से पढ़ी जाती हैं। राजनीति के क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन अरस्तू की कृतियों और विचारों का पुनरुज्जीवन है। शताब्दियों से विस्मृत यूनानी दार्शनिक का परिचय मध्ययुगीन योरोप को उस युग के 'अरस्तू' कहलाने वाले एक्विनास के माध्यम से हुआ। एक्विनास से इन सिद्धान्तों को हूकर ने, हूकर से लॉक ने तथा लॉक से बर्क ने ग्रहण किया। इनसे वैधानिक शासन के आधुनिक विचारों का विकास हुआ।[1] मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन राजनीतिक विचारधारा पर एक्विनास का गहरा प्रभाव पड़ा।

1, बार्कर—पोलिटिक्स ऑफ अरिस्टाटल, भूमिका, पृ० 62.

आगस्टिनस ट्रिअम्फस (Augustinus Triumphus)—फ्रांस के राजा और बवेरिया के लुईस के साथ संघर्षों में पोप की वास्तविक शक्ति जब 14वीं शती के आरम्भ से क्षीण होने लगी तो पोप के समर्थकों ने उसके दावों को पराकाष्ठा तक पहुँचाकर इन्हें युक्तियुक्त सिद्ध करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। इस दृष्टि से आगस्टिनस की कृति '**चर्च की शक्ति का संक्षिप्त प्रतिपादन**' (Summa de Potestate Ecclesiastica) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले पोप को ईसा का प्रतिनिधि (Vicar of Christ) माना जाता था, इसमें उसने उसे ईश्वर का प्रतिनिधि तथा अनेक ईश्वरीय गुणों से युक्त बताया है। "उसका अधिकार-क्षेत्र किसी भी देवदूत के अधिकार-क्षेत्र से अधिक विशाल है"।[1] सब व्यक्तियों को राजा तथा सम्राट् के स्थान पर उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। 'उसे सम्राटों पर पूर्ण अधिकार' (Penitudo potestatis) है, वह किसी भी राजा को पदच्युत और नियन्त्रित कर सकता है, उसके स्थान पर नया राजा बना सकता है बशर्ते कि इसका तर्कसंगत कारण हो।" भगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते वह सब कानूनों को बनाने वाला तथा उनकी व्याख्या करने वाला है। वह अपने विवेक से किसी कारण के आधार पर न केवल नागरिकों की, किन्तु राजा-महाराजाओं की भी सम्पत्ति छीन सकता है। पोप सम्राट् को पदच्युत कर सकता है, उसके राज्य का संविधान बदल सकता है; किन्तु सम्राट् को पोप के चुनाव में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। पोप सब राजाओं-महाराजाओं के ऊपर चरम तथा सर्वोच्च शक्ति रखने वाला है और उच्चतम न्यायालय है, इसके आदेशों के विरुद्ध कहीं अपील नहीं हो सकती है। इन सिद्धान्तों द्वारा आगस्टिनस ने पोप के दावों को चरम सीमा तक पहुँचा दिया।

पोप विरोधी विचारधारा का विकास—पोप के उपर्युक्त दावों का विरोध 14वीं शताब्दी से अनेक कारणों से प्रबल होने लगा। पहला कारण फ्रांस के राष्ट्रीय एवं सुदृढ़ राजा द्वारा पोप के दावों का फिलिप के समय उग्र क्रियात्मक प्रतिरोध था। उसने राष्ट्रीयता की भावना के कारण समूची जनता से समर्थन प्राप्त किया और चर्च से राज्य की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित बनाया। फ्रेंच राजा और पोप के संघर्ष में राजा के दावों को पुष्ट करने तथा पोप के दावों का निराकरण करने के लिए प्रचुर मात्रा में साहित्य प्रकाशित हुआ। इसमें राजा के पक्ष के समर्थन में सभी प्रकार की युक्तियाँ दी गई। यह कहा गया कि यूरोप में ईसाई पादरियों और पोपों के आविर्भाव से पहले फ्रांस के राजाओं का शासन था। इसके लिए कल्पित इतिहास का सृजन किया गया।[2] यह कहा गया कि राजा को भगवान् से शासन करने का अधिकार मिला हुआ है, पोप का उस पर कोई प्रभुत्व नहीं है। पियरे दुबोइस (Pierre Du Bois) ने यहाँ तक दावा किया कि पोप की राजनीतिक शक्ति फ्रांस के राजा को दे देनी चाहिए। अरस्तू के विचारों और रोमन कानून के सिद्धान्तों द्वारा राजसत्ता की स्वाधीनता को पुष्ट किया गया। विधिशास्त्रियों ने सांसारिक सम्पत्ति पर चर्च के चरम स्वामित्व के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए कहा कि पोप चर्च की

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 218.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 226.

सम्पत्ति का स्वामी नहीं, किन्तु प्रबन्धकर्त्ता (Steward) है। यदि वह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो अत्याचारी शासक (Tyrant) के समान उसे पदच्युत कर देना चाहिए। किन्तु उस समय विधिशास्त्रियों के पास पोप की सत्ता फ्रेंच राजा के हाथ में देने का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं था। अतः उन्होंने धार्मिक सत्ता का अन्तिम अधिष्ठान चर्च की सामान्य परिषद् (General Council) को माना और यह कहा कि इसे अत्याचारी तथा नास्तिक पोप को पदच्युत करने का अधिकार है।

पोप का विरोध बढ़ने का **दूसरा** कारण उसका पवित्र रोमन सम्राट् लुईस के साथ विवाद में पड़ना था। पोप ने जर्मनी के सम्राट् पद के लिए दो उम्मीदवारों के गृहयुद्ध का लाभ उठाते हुए अपने अधिकारों को बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस समय पोप आवीन्योन में फ्रेंच राजाओं के प्रभुत्व में था। इस विवाद के बहाने से फ्रांस जर्मनी में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। अतः जर्मनी के सम्राट् ने राष्ट्रीयता की भावना के कारण पोप का उग्र विरोध किया और सम्राट् के चुनाव में पोप के अधिकार का प्रबल प्रत्याख्यान किया। **तीसरा** कारण फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के दरिद्रता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में दी गई पोप की व्यवस्था थी। इससे चर्च के अनेक योग्यतम लेखक पोप के कटु आलोचक हो गए। इन्होंने सम्राट् के दरबार में शरण ली और अपनी सारी योग्यता पोप के दावों का खण्डन करने में लगा दी। इनमें इंगलैंड में फ्रांसिस्कन भिक्षु ओकम-निवासी विलियम के तथा पडुआवासी मारसिलियो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विलियम ने सम्राट् को कहा था, "यदि तुम तलवार से मेरी रक्षा करोगे तो मैं लेखनी द्वारा तुम्हारी रक्षा करूँगा।"[1] इन्होंने धार्मिक मामलों में पोप को अन्तिम अधिकार देने का विरोध करते हुए चर्च की परिषद् को सारी प्रभुता देने का समर्थन किया। **चौथा** कारण पोप द्वारा आवीन्योन में निवास और इटली के आन्तरिक झगड़ों में पड़ना था। आवीन्योन में रहने के कारण वह फ्रांस की कठपुतली बना हुआ था। इस समय इंगलैण्ड फ्रांस का कट्टर विरोधी था, अतः वहाँ फ्रांस के पक्षपाती पोप की प्रभुता का विरोध होना स्वाभाविक था। इसीलिए उसने जॉन के समय से पोप को दिया जाने वाला कर देना बन्द कर दिया। पार्लियामेंट में यह प्रस्ताव रखा गया कि राजकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चर्च की सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिए। इस समय इटालियन राज्यों में पोप के हस्तक्षेप के कारण वहाँ उसके प्रतिकूल प्रबल भावना उत्पन्न हो गई। यहाँ उस समय ग्वैल्फ और गिबलिन नामक दो दलों में द्वन्द्व चल रहा था। पोप पहले दल का समर्थक था क्योंकि वह अब इटली में सम्राट् की शक्ति का विरोधी था। पोप द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इटली में भड़काई जाने वाली युद्धाग्नि से इटली बरबाद हो रहा था, अतः दांते (Dante) जैसे देशभक्त इटालियन पोप के कट्टर विरोधी हो गए। 14वीं शताब्दी में पोप की प्रभुता का विरोध करने वाले प्रमुख विचारक अग्रलिखित थे।

1. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 491.
2. विल ड्यूरैण्ट—दी एज आफ फेथ, पृ० 1063.

पोप विरोधी विचारक

दांते (1265-1321)—फ्लोरेन्स के अभिजात किन्तु दरिद्र कुल में जन्म लेने वाले, **डिवाइन कामेडी** के अमरगायक दांते को अपने शहर की राजनीति के झगड़ों में पड़ने के कारण 1302 ई० में निर्वासित होकर जीवन के शेष 19 वर्ष प्रेम और राजनीति में निराश होकर भटकते हुए बिताने पड़े थे। इस समय उसे विभिन्न इटालियन नगरों के पारस्परिक कलह, हिंसा, फूट, विद्वेष और घृणा को देखकर यह निश्चय हो गया कि इनकी अराजकता का अन्त करने के लिए उसके विभिन्न वर्गों, श्रेणियों और नगरों को एक सुदृढ़ तथा व्यवस्थित शासन में लाना आवश्यक है। उस समय इटली को एक शासनसूत्र में संगठित करने का कार्य दो ही शक्तियाँ कर सकती थीं—पोप अथवा पवित्र रोमन सम्राट्। किन्तु उसे फ्लोरेन्स से निर्वासित करने वाली पार्टी पोप का साथ देने वाली थी; पोप विभिन्न इटालियन राज्यों में दलबन्दियों द्वारा फूट उत्पन्न कर रहा था और इटली के एकीकरण का उग्र विरोधी था। अत: दांते को पवित्र रोमन सम्राट् पर ही यह आशा थी कि वह इटली में अपने साम्राज्य द्वारा प्राचीन रोमन साम्राज्य जैसी शान्ति, सुशासन तथा सुव्यवस्था स्थापित कर सकता था। बोकाचियो (Boccacio) के मतानुसार 1310 ई० में उत्तरी इटली पर हेनरी सप्तम (1308-1313 ई०) का आक्रमण होने पर उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के लिए राजतन्त्र या **दी मोनार्किया** (De Monarchia) का प्रणयन किया।[1]

इस ग्रन्थ में दांते 'राजतन्त्र' शब्द का प्रयोग सब सांसारिक पदार्थों पर सार्वभौम स्वामित्व रखने वाले विश्वव्यापी साम्राज्य के अर्थ में करता है। यह ग्रन्थ तीन पुस्तकों या खण्डों में विभक्त है: पहली पुस्तक में संसार के कल्याण के लिए ऐसे साम्राज्य की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। दूसरी पुस्तक में रोमन लोगों द्वारा साम्राज्य निर्माण के प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है। तीसरी पुस्तक में इस प्रश्न का विवेचन है कि सम्राट् को अपनी सत्ता सीधे भगवान् से प्राप्त होती है या पोप से।

पहली पुस्तक में सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना को आवश्यक सिद्ध करने के लिए दांते ने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं—(क) अरस्तू के मतानुसार प्रत्येक समाज का एक निश्चित उद्देश्य होता है। भगवान् और प्रकृति कोई निरुद्देश्य या निरर्थक वस्तु कभी नहीं बनाते। मानव-समाज का उद्देश्य है कि उसका प्रत्येक सदस्य अपना अधिकतम विकास करे। शान्ति स्थापित हुए बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता है। इसे स्थापित करने के लिए सार्वभौम साम्राज्य आवश्यक है। (ख) जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में भगवान् का शासन है, उसी प्रकार समूचे विश्व की सांसारिक वस्तुओं पर एक सम्राट् का शासन स्थापित होना चाहिए। समग्र जगत् के लिए एक राजा की आवश्यकता इसलिए भी है कि उसके बिना विभिन्न राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निबटारा नहीं हो सकता है। (ग) सुप्रसिद्ध रोमन कवि वर्जिल के उद्धरण देते हुए उसने यह सिद्ध किया है कि ऐसे सार्वभौम शासन में ही अधिकतम न्याय उपलब्ध

1. विल ड्यूरैण्ट—दी एज ऑफ फेथ, पृ० 1063.

हो सकता है। न्याय शक्ति और इच्छा पर निर्भर होता है। विश्व के सम्राट् में ये दोनों बातें पाई जाती हैं। उसके पास पूर्ण अधिकार और शक्ति है, उसमें संसार का सम्राट् होने के कारण दूसरे राज्यों को जीतने की लालसा, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष नहीं होते, वह सब प्रकार की वासनाओं और पक्षपातों से ऊँचा उठा हुआ होता है, अतः निष्पक्ष भाव से न्याय कर सकता है। (घ) इसी प्रकार दांते यह भी सिद्ध करता है कि वास्तविक स्वतन्त्रता विश्वव्यापी साम्राज्य में ही सम्भव है। (ङ) अतः, अन्त में दांते यह परिणाम निकालता है कि संसार के कल्याण के लिए विश्वव्यापी साम्राज्य आवश्यक है। इसका सबसे सुन्दर प्रमाण यह है कि ईसा ने उसी समय जन्म ग्रहण करना उचित समझा, जब आगस्टस के शासनकाल में पूर्णतम रोमन साम्राज्य था।

मोनार्किया की दूसरी पुस्तक में दांते ने प्राचीन रोमन साम्राज्य के गुणगान करते हुए कहा है कि रोमन लोगों ने अपना अधिकार, साम्राज्य और शक्ति ईश्वर की इच्छा से प्राप्त की थी। उनकी अभूतपूर्व सफलता ही उनके शासन के दैवीय होने का प्रमाण है। रोमन सब जातियों में उत्कृष्ट थे और उन्होंने सार्वजनिक हित के लिए सारी दुनिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

मोनार्किया की तीसरी पुस्तक में यह बताया गया है कि वर्तमान पवित्र रोमन साम्राज्य पुराने रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी है। इसे उसके सभी अधिकार प्राप्त हैं। इस प्रसंग में उसने उन सब व्यक्तियों पर बड़े प्रबल तथा कटु आक्षेप किए हैं, जो सम्राट् के पद और शक्ति को सर्वोच्च मानने के विरोधी हैं।

उसने सम्राट् पर पोप की प्रभुता के समर्थन में दी जाने वाली सब प्रधान युक्तियों की धज्जियाँ उड़ाई हैं: (क) पुराने पोपों के आज्ञा-पत्रों (Decretals) की युक्ति के बारे में उसका मत है कि इनका सम्मान होना चाहिए, किन्तु ये बाइबल के वचनों से अधिक प्रामाणिक नहीं हो सकते। धर्मशास्त्र से प्रतिकूल होने के कारण इनका प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। (ख) काँस्टैण्टाइन के दान की युक्ति के सम्बन्ध में उसका यह कहना है कि सम्राट् को ऐसा दान देने का कोई अधिकार ही नहीं था। साम्राज्य का मूल तत्त्व एकता है और सम्राट् इसका विघटन या विभाजन नहीं कर सकता है। (ग) शार्लमेगन को रोम द्वारा साम्राज्य का अधिकार देने की युक्ति के बारे में उसका कहना था कि जब पोप के पास साम्राज्य का कोई अधिकार ही न था तो वह उसे कैसे दे सकता था। "साम्राज्य का अधिकार तो सम्राट् के पास था। किसी का अधिकार हथिया लेने से कोई अधिकार नहीं बन जाता है।" (घ) सूर्य और चन्द्र की सुप्रसिद्ध युक्ति के बारे में उसका कहना था कि भले ही चन्द्र सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता हो, किन्तु इन दोनों के पृथक् अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। इसके साथ ही ग्रहण के समय यह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रमा का अपना प्रकाश भी होता है। (ङ) इसी प्रकार उसने दो तलवारों की, मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष के अधिकार की तथा अन्य सभी युक्तियों का प्रबल निराकरण करते हुए यह परिणाम निकाला है कि उसे तो सम्राट् की शक्ति का कोई अधिकार न भगवान् से मिला है, न किसी सम्राट् से मिला है, और न समूचे या अधिकांश मानव-समाज से। अतः वह इसे सम्राट् को नहीं दे सकता है। इसके विपरीत भगवान् ने दो प्रकार की स्वतन्त्र और पृथक् शक्तियों का निर्माण मनुष्य के कल्याण के लिए किया है और

सम्राट् को अपना अधिकार ईश्वर से प्राप्त हुआ है। सम्राट् का समर्थक तथा पोप का प्रबल विरोधी होने के कारण दांते के इस ग्रन्थ का सम्राट् लुईस ने पोप के साथ झगड़े में इसे उसके विरुद्ध प्रचार का प्रबल साधन बनाया। दूसरी ओर 1329 ई० में पोप के प्रतिनिधि की आज्ञा से इस ग्रन्थ की सार्वजनिक होली की गई और 16वीं शताब्दी में यह पोप द्वारा ईसाइयों के लिए वर्जित पुस्तकों की सूची में रखा गया।[1]

पडुआवासी मारसिलियो (1270-1342)—इटली के उत्तर-पूर्व में स्थित पडुआ नगर में रहने वाला मारसिलियो 14वीं शताब्दी का सबसे अधिक मौलिक विचारक है, "जिसने न केवल अपने समय के, किन्तु अपने से आगे वाले योरोप को भी देखा"।[2] उसने आरम्भ में चिकित्साशास्त्र और धर्मशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। 1312 ई० में वह पेरिस विश्वविद्यालय का रैक्टर (Rector) बना। जिस प्रकार लूथर को रोम की तीर्थयात्रा ने वहाँ का धार्मिक पाखण्ड देखकर पोप का कट्टर विरोधी बना दिया था, वैसा ही प्रभाव मारसिलियो पर पोप की तत्कालीन राजधानी आवीन्योन की यात्रा का हुआ। इसके अतिरिक्त, दांते की भाँति तथा उसके दो शताब्दी बाद होने वाले मेकियावेली की तरह वह इटली के विघटन, फूट और पारस्परिक झगड़ों का कारण पोप को मानता था। उसे अपने उग्र और पोप-विरोधी विचारों के कारण अपने मित्र ओकमवासी विलियम के साथ पेरिस विश्वविद्यालय से निकलना पड़ा, ये दोनों पोप द्वारा धर्म-बहिष्कृत हुए तथा इन्होंने बवेरिया के राजा लुई के दरबार में शरण ली। 1324 ई० में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **शान्ति का रक्षक** (Defensor Pacis) पूर्ण की। इसका प्रधान उद्देश्य चर्च के दावों का खण्डन करना तथा चर्च द्वारा राज्य का नियन्त्रण रखने के अधिकारों को अधिक-से-अधिक मर्यादित करना है। वह चर्च को राज्य के आधीन रखने की कठोर व्यवस्था करने में सब मध्ययुगीन विचारकों से आगे बढ़ा हुआ है तथा इस विषय में दो शताब्दी बाद होने वाले जर्मन धर्मशास्त्री थामस एरेस्टस (1524-1583 ई०) से सादृश्य रखने वाले विचारों का प्रतिपादन करता है, अतः सैबाइन ने उसे एरेस्टस का पहला अनुयायी (First Ersatian) कहा है।[3] उसकी विचारधारा पर अरस्तू का तथा एवरोवाद (Averrosim) के प्रकृतिवादी और बुद्धिवादी सिद्धान्तों का प्रबल प्रभाव है।

मारसिलियो अपने समय की अशान्ति और अराजक अवस्था से दांते की भाँति बहुत खिन्न और क्षुब्ध था। इस अशान्ति को दूर करने के लिए उसने अपनी पुस्तक का प्रणयन किया। इसके अन्त में उसने लिखा था कि इस ग्रन्थ का नाम **शान्ति का रक्षक** होगा क्योंकि इसमें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के प्रश्नों पर तथा शान्ति स्थापना में आने वाली बाधाओं का विचार किया जाएगा। जिस प्रकार अरस्तू ने अपने राजनीतिशास्त्र में क्रान्तियों तथा राज्यों में उत्पन्न होने वाले लड़ाई-झगड़ों के कारणों की मीमांसा की है, उसी प्रकार मारसिलियो भी इस पर विचार करना चाहता है। उसका यह कहना है कि अरस्तू को राज्य के विवादों के एक प्रधान कारण का ज्ञान न था और वह है पोप द्वारा राजाओं पर सर्वोच्च शक्ति रखने का दावा। इस

1. विल ड्यूरैण्ट—दी राज ऑफ फेथ, पृ० 1063.
2. मरें—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 81.
3. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 253.

दावे ने सारे योरोप में और विशेषतः इटली में युद्ध का दावानल प्रज्वलित कर रखा है। इसे शान्त करने के लिए तथा 'चिकित्सक' की भाँति इस बीमारी की औषधि बताने के लिए मारसिलियो ने अपनी लेखनी उठाई।

उसका ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग (Dictio) के उन्नीस अध्यायों में राज्य के उद्देश्य और स्वरूप का तथा दूसरे भाग के तैंतीस अध्यायों में पोपों के दावों का निराकरण है, तीसरे भाग के तीन अध्यायों में बयालीस शीर्षकों में पहले दो भागों में निकाले गए निष्कर्षों का प्रतिपादन है। उसके राजनीति विषयक प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(अ) **राज्य विषयक विचार**—इनमें मारसिलियो प्रायः अरस्तू के विचारों का अनुसरण करता है : (क) अरस्तू की भाँति वह राज्य का स्वरूप सजीव शरीर (Living Organism) का-सा मानता है, यह कई अंगों से मिलकर बनता है, ये सभी अंग इसके जीवन के लिए आवश्यक कार्य करते हैं। इसका स्वास्थ्य सब अंगों द्वारा समुचित और व्यवस्थित रूप से कार्य करने पर निर्भर है। यदि कोई अंग अपना कार्य ठीक तरह से नहीं करता या दूसरे के कार्य में बाधा डालता है तो संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। (ख) नगर-राज्य की उत्पत्ति वह यूनानी दार्शनिक की भाँति परिवार से मानता है। (ग) अरस्तू ने नगर-राज्य को अपनी सब आवश्यकताएँ स्वयं पूरा करने वाला आत्मनिर्भर (Selfsufficient) माना था। मारसिलियो ने इसे पूर्ण समुदाय (Perfect community) अर्थात् उत्तम जीवन के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में समर्थ माना है। (घ) राज्य का प्रयोजन जीवन ही नहीं, किन्तु उत्तम जीवन है। मनुष्य पशुओं और दासों की भाँति केवल जीना ही नहीं चाहता, किन्तु उत्तम रीति से जीना चाहता है। यहाँ तक वह अरस्तू का अनुसरण करता है, किन्तु उत्तम जीवन की व्याख्या में उससे मतभेद रखता है। अरस्तू का उत्तम जीवन इहलोक तक सीमित था, किन्तु मारसिलियो इसके दो भेद, ऐहिक और पारलौकिक मानता है। ऐहिक या सांसारिक उत्तम जीवन का परिचय दर्शनशास्त्र से तथा पारलौकिक उत्तम जीवन का ज्ञान धर्मशास्त्र से होता है। पहले का आधार बुद्धि एवं विवेक है और दूसरे का श्रद्धा और विश्वास। ऐहिक जीवन में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है, किन्तु इसके साथ ही पारलौकिक जीवन तथा मोक्ष लाभ के लिए धर्म और श्रद्धा भी आवश्यक है। (ङ) अरस्तू की भाँति मारसिलियो समाज के निर्माण में सहयोग देने वाले विभिन्न वर्गों का परिगणन करता है। कृषक और शिल्पी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं, शासन संचालन के लिए आवश्यक धन देते हैं, इनके अतिरिक्त समाज के अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग—सैनिक, सरकारी अधिकारी तथा पुरोहित हैं। पुरोहितों का कार्य धर्मशास्त्रों का अध्ययन, शिक्षा देना और मुक्ति पाने के लिए आवश्यक बातों को बताना है। उनका क्षेत्र केवल धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। समाज के अन्य वर्गों के समान राज्य को उन्हें नियन्त्रित करने का पूरा अधिकार है।

(आ) राज्य के विषय में उसका सबसे क्रान्तिकारी, मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का है। उसके कथनानुसार विवेकपूर्ण शासन का संचालन करने वाली शक्ति कानून है। अतः राज्य का सारतत्त्व कानून का निर्माता होना (Legislator) है और यह जनता होती है। उसके शब्दों में,

"सत्य के तथा अरस्तू की सम्मति के अनुसार कानून का निर्माता (Causa legis) जनता या उसका बहुमत होता है। यह इसका आदेश देता है तथा निश्चय करता है कि समाज में मनुष्यों को कौन से कार्य करने चाहिएँ तथा भौतिक दण्डों के भय से किन कार्यों को नहीं करना चाहिए।"[1] कानून-निर्माता की इच्छा की अभिव्यक्ति कई प्रकार से हो सकती है। सब नागरिकों की असेम्बली प्रत्यक्ष रूप से इसे प्रकट कर सकती है या वह किसी व्यक्ति को या समूह को अपना अधिकार दे सकती है। किन्तु अधिकार देने पर भी प्रतिनिधि केवल उसका अभिकर्त्ता (Agent) मात्र होता है, कानून निर्माण की अन्तिम शक्ति जनता में ही निहित रहती है। मारसिलियो राज्य के कानून का निर्माण करने वाले तथा शासन करने वाले (Executive) अंगों में स्पष्ट भेद करता है। राज्य में प्रभुसत्ता का अन्तिम स्रोत जनता है। कानून निर्माण का अधिकार उसी को है। यह शासन संचालन के लिए शासक वर्ग (Principans) को चुनती है। यदि यह अपने अधिकारों का या कानून का अतिक्रमण करता है तो जनता को इसे दण्डित करने का अधिकार है। जनता के कानूनों को क्रियात्मक रूप देने के लिए वह निर्वाचित राजतन्त्र (Elective Monarchy) को श्रेष्ठ समझता था। राजा का कार्य कानूनों की व्याख्या करना तथा इसे लागू करना था, न कि इन कानूनों का निर्माण करना। उसने जनता को प्रभु मानते हुए वैध राजतन्त्र का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि मध्यकाल में रोमन कानून का जनता की प्रभुसत्ता का विचार प्रचलित था, तथापि इसमें सम्राट् को जनता का प्रतिनिधि समझा जाता था। अतः इस विषय में मारसिलियो यूनानी गणराज्यों की लोकतन्त्र की भावना से अधिक प्रभावित हुआ है। उसने सम्भवतः पोप के दावों का विरोध करने के लिए जनता की प्रभुसत्ता का प्रबल समर्थन किया है। किन्तु मारसिलियो का सिद्धान्त विशुद्ध रूप से लोकतन्त्रात्मक नहीं है क्योंकि उसने कानून के निर्माण में समूची जनता की अपेक्षा उसमें गौरव रखने वाले व्यक्तियों के अंश को अधिक महत्त्व दिया है। यह अंश (Pars Velentior) व्यक्तियों के गुणों के कारण विशेष गौरव रखता है।[2] फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र के इतिहास में जनता की प्रभुसत्ता का प्रथम प्रतिपादन है और यह कथन सर्वथा सत्य है कि "उसके विचारों में सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता का विचार हमें बोदँ और आस्टिन की अपेक्षा रूसो का अधिक स्मरण कराता है।"[3]

(इ) **चर्च विषयक सिद्धान्त**—अपने ग्रन्थ के पहले भाग में राज्य विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के बाद वह दूसरे भाग में चर्च के विभिन्न अधिकारों और दावों की समीक्षा करता है तथा पोपशाही (Papacy) पर प्रबलतम आक्षेप करता है। उसने चर्च के क्षेत्र में भी जनता की प्रभुसत्ता, प्रतिनिधित्व आदि के उपर्युक्त सिद्धान्तों को लागू करते हुए पोप के सभी अधिकारों को निर्मूल, निराधार और समाज के लिए घातक सिद्ध किया है। इस क्षेत्र में उसका प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है : **चर्च की परिषद् का विचार**—उसके मत में चर्च के मामलों में चरम अधिकार पोप को नहीं,

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 239.
2. मर्रे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 84.
3. बोले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 238.

किन्तु चर्च की सामान्य परिषद् को है। चर्च (Ecclesia) कोई व्यक्ति-विशेष नहीं, किन्तु ईसाइयत में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्तियों का समुदाय है; इसमें पुरोहित तथा ईसाई गृहस्थ (Laity) भी सम्मिलित हैं। जिस प्रकार राज्य की जनता में प्रभुसत्ता का निवास है, उसी प्रकार चर्च में अन्तिम सत्ता समस्त ईसाई जगत् में और इससे चुनी गई सामान्य परिषद् में रहती है। यह सारे ईसाइयों की या उनके प्रतिनिधियों की इस प्रकार चुनी हुई परिषद् है कि इसमें प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति का उसकी संख्या और स्वरूप के अनुपात में पूरा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।[1] इस परिषद् में पादरियों को तथा गृहस्थ ईसाइयों को समान रूप से भाग लेना चाहिए। इस सामान्य परिषद् को बहुमत द्वारा धर्मवचनों की व्याख्या करने का, चर्च से बहिष्कार (Excommunication) का, दण्ड देने का, चर्च में धार्मिक पूजा के स्वरूप को निश्चित करने का तथा चर्च के विभिन्न पदों पर व्यक्तियों को नियुक्त करने का अधिकार है। पोप को इस विषय में कोई अधिकार नहीं है। चर्च में सब पादरियों के समान अधिकार हैं; बिशप, आर्कबिशप तथा पोप के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं है।

(ई) **चर्च के अधिकारों की मर्यादा**—चर्च का अधिकार केवल धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों तक सीमित है। उसका कार्य मनुष्य को धर्म का पालन कराना तथा मोक्ष दिलाना है। वे 'आत्मा के डाक्टर' हैं। जैसे डाक्टर रोग का निदान करता है और दवाई बताता है, वैसे ही वे जनता के आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा करने वाले हैं। धार्मिक या सांसारिक क्षेत्र में इससे अधिक उन्हें कोई अधिकार नहीं है। वे किसी प्रकार की भौतिक शक्ति नहीं रखते है। ईसा मसीह दुनिया में शासन करने नहीं आया था। जब उसने अपने शिष्यों को कोई भौतिक अधिकार नहीं दिए तो चर्च के पास ये अधिकार कहाँ से आ सकते हैं। चर्च के कानून (Canon Law) की कोई सत्ता नहीं है क्योंकि यहाँ केवल दो ही प्रकार के कानून हैं—परलोक में लागू होने वाला ईसा का कानून (Law of Christ) या इहलोक में तथा समाज में लागू होने वाला मानवीय कानून। पादरियों को धार्मिक विषयों में भी धर्मोपदेश के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं है। यह कहना मिथ्या है कि पोप को पापों के लिए मनुष्यों को दण्डित करने का अधिकार है तथा पोप के पास स्वर्ग और नरक की कुँजियाँ हैं। पाप-पुण्य का दण्ड देने वाले और निर्णय करने वाले भगवान् हैं, पोप और पादरियों की स्थिति तो उस नौकर के समान है, जो अपने जेलर या उच्चाधिकारियों की आज्ञा पर कैदियों के दरवाजों के ताले कुँजियों से खोलता या बन्द करता है। चर्च को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है। उसके पास किसी प्रकार की धन-दौलत नहीं होनी चाहिए। ईसा मसीह और उसके शिष्य अपने पास कुछ नहीं रखते थे। यदि चर्च को कुछ सम्पत्ति दान की जाए तो वह उसका स्वामी नहीं, किन्तु पवित्र धरोहर के रूप में उसकी रक्षा करने वाला होता है। तत्कालीन पोप और चर्च के पतन का प्रधान कारण धन-ऐश्वर्य में लिप्त होना था।

(उ) **पोप के अधिकारों का खण्डन**—मारसिलियो ने पोप की प्रभुता और अधिकारों के समर्थन में दी जाने वाली सभी मुख्य युक्तियों की धज्जियाँ उड़ाई हैं। सबसे बड़ी युक्ति ईसा द्वारा पीटर को अधिकार देने तथा पीटर द्वारा रोम के चर्च की

1. **डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 241-42.**

स्थापना करने की थी । उसने न्यू टैस्टामेण्ट के इस विषय में दिए जाने वाले सभी प्रमाणों की योग्यतापूर्वक समीक्षा करते हुए बताया कि बाइबल में कहीं भी पीटर को दूसरे शिष्यों पर कोई अधिकार नहीं दिया गया, पीटर का रोम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। पोपों को अपने अधिकार धर्मशास्त्र के किसी आदेश से नहीं मिले । दूसरे चर्च रोम के बिशप से परामर्श लिया करते थे और इस कारण गलती से इन चर्चों पर पोप का अधिकार मान लिया गया। आजकल पेरिस विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय कुछ प्रश्नों पर सम्मति पूछते हैं, किन्तु इस कारण अन्य विश्वविद्यालय पेरिस के वशवर्ती नहीं समझे जाते । इसी प्रकार अन्य चर्चों के रोमन चर्च से सलाह लेने पर वे उसके आधीन नहीं हो जाते । पोप को कोई पूर्ण अधिकार (Plenitudo Potestatis) नहीं है, क्योंकि यही सब झगड़ों की जड़ हैं। पोपों के शासन करने की इच्छा ने ही इटली को तबाह कर दिया है, इसकी शान्ति नष्ट कर दी है, इसने सम्राट् के बिरुद्ध सब शक्तियों को उभाड़ने का पूरा प्रयत्न किया है। यह स्थिति असह्य है । पोप को राजा या सम्राट् के चुनाव में किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। पादरियों को सम्राटों पर कोई अधिकार नहीं है। उसका कार्य और पद विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है, अतः सांसारिक मामलों में उनके हस्तक्षेप करने का कोई कारण नहीं है । इन विषयों में पोप सांसारिक सत्ता के आधीन है । वह राजाओं को पदच्युत नहीं कर सकता, प्रजा को राजा की भक्ति एवं निष्ठा से भी मुक्त करने में असमर्थ है : उसे धार्मिक मामलों में भी दण्ड देने, चर्च से बहिष्कृत करने आदि के कोई अधिकार नहीं हैं । ये अधिकार केवल चर्च की परिषद् को ही हैं। किन्तु राज्य के अधिकारी पोप को तथा अन्य धर्माधिकारियों को उसके पद से च्युत कर सकते हैं।

(ऊ) **चर्च और राज्य के सम्बन्ध**—मारसिलियो राज्य को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च संस्था समझता है । चर्च को इसके आधीन रहना चाहिए और कोई सांसारिक कार्य नहीं करना चाहिए। "चर्च के पास यदि राजनीतिक शक्ति होगी तो राज्य में दो सर्वोच्च सरकारें हो जाएँगी।···इस परिस्थिति में मानव-समाव में शान्ति नहीं रह सकती। इटली के राज्य की महामारी का मूल स्रोत यही है।"[1] अतः मारसिलियो चर्च को राज्य का वशवर्ती बनाने का प्रबल समर्थक था। उसके मतानुसार राज्य को सांसारिक और धार्मिक दोनों प्रकार के कार्य करने चाहिएँ। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रदेश में पादरियों की संख्या नियत करे, चर्च के संगठन सम्बन्धी नियम बनाए । पादरियों को राज्य के कानूनों से किसी प्रकार की छूट नहीं मिलनी चाहिए, अपराधी होने पर इन पर राज्य द्वारा अन्य नागरिकों की भाँति अभियोग चलाया जाना चाहिए। यदि पादरियों को कोई विशेष अधिकार या छूट दी जाएगी, तो राज्य के विभिन्न वर्गों में फूट और वैमनस्य उत्पन्न हो जाएगा, इनके कारण होने वाले विवादों और झगड़ों से अनेक प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न होगी, जो राज्य के प्रधान उद्देश्य शान्ति स्थापित करने के सर्वथा प्रतिकूल है । इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मारसिलियो राज्य पर चर्च की प्रभुता का सबसे अधिक उग्र विरोधी है । वह पोप को किसी प्रकार का कोई सांसारिक अधिकार नहीं देना चाहता और चर्च में उसकी स्थिति अन्य बिशपों के तुल्य समझता है।

1. मर्रे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 86.

पोप-विरोधी विचारों के कारण मारसिलियो के ग्रन्थ को बड़ी प्रसिद्धि मिली। पोप के समर्थकों द्वारा इसमें दोष निकालना स्वाभाविक था, किन्तु इससे इसकी लोकप्रियता बढ़ी। 1363 ई० में इसका लैटिन से फ्रेंच में अनुवाद हुआ। इसके 15 वर्ष बाद ही आवीन्योन और रोम में दो विरोधी पोप हो जाने से रोमन चर्च बड़ी फूट (Great Schism) एवं संघभेद से क्षीण होने लगा। इस समय स्वत: विचारकों का ध्यान मारसिलियो द्वारा प्रतिपादित चर्च की सामान्य परिषद् की ओर गया और परिषदीय आन्दोलन (Conciliar Movement) प्रबल हुआ। इसने क्यूसा के निकोलस को तथा मार्टिन लूथर को प्रभावित किया। ऐसी चर्च-विरोधी पुस्तक का नाम पोप द्वारा निषिद्ध पुस्तकों की सूची (Index) में रखा जाना स्वाभाविक था।

मारसिलियो का मूल्यांकन—मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों में मारसिलियो कई कारणों से विशेष महत्त्व रखता है। वह बड़ा मौलिक विचारक था और पोप की प्रभुता को मर्यादित करने वाले क्रान्तिकारी विचारकों में सबसे बड़ा अग्रणी था। इस दृष्टि से कोई अन्य मध्ययुगीन विचारक उसकी तुलना नहीं कर सकता है। वह अपने समय से बहुत आगे के विचार रखने वाला था। उसने चर्च के संगठन और राजनीतिक क्षेत्र में जो विचार रखे, वे 16वीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन तक तथा 17वीं-18वीं शताब्दियों की राजनीतिक क्रान्तियों तक सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किए गए।[1] उसका एक महत्त्व इस कारण से भी है कि उसकी कृतियों द्वारा अरस्तू का तथा यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान हुआ।[2] उससे पहले थामस एक्विनास ने अरस्तू का पुनरुद्धार किया था, किन्तु उसने राज्य को निम्न तथा चर्च को उच्च स्थान दिया था। मारसिलियो ने उसके ग्रन्थ—राजनीति—को सही रूप में पुनरुज्जीवित करते हुए चर्च को गौण तथा राज्य को प्रधान स्थान दिया और जनता की प्रभुसत्ता तथा प्रतिनिधित्व के आधुनिक विचारों का सर्वप्रथम सुस्पष्ट प्रतिपादन किया।[3]

1. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 122.
2. सैवाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 263.
3. शुक्ल—यजुर्वेद मि० यजु० 32/15-16.

नवाँ अध्याय

कांसिलियर आन्दोलन

इसका स्वरूप—1324 ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में मारसिलियो ने पोप के दावों का निराकरण करते हुए यह सिद्धान्त रखा था कि ईसाइयत के धार्मिक प्रश्नों के सब विषयों में अन्तिम निर्णय करने का और नियम बनाने का अधिकार चर्च की सामान्य परिषद् (General Council) को है। परिषद् की सर्वोच्च सत्ता पर बल देने के कारण यह परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory) कहलाता है। 14वीं शताब्दी में कई कारणों से इस सिद्धान्त को बहुत बल मिला तथा इसे क्रियात्मक रूप देने के लिए आन्दोलन हुआ। यह **परिषदीय** अथवा **कांसिलियर** आन्दोलन कहलाता है। 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसके परिणामस्वरूप कांस्टैंस (1415-17 ई०) और बाज़ेल (1431-43 ई०) की परिषदें बुलाई गईं। यद्यपि यह चर्च का धार्मिक आन्दोलन था, किन्तु इसने यूरोप की राजनीतिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला।

प्रादुर्भाव के कारण—यह आन्दोलन कई कारणों से उत्पन्न हुआ। **पहला** कारण ईसाई चर्च का महान् संघभेद या फूट (Great Schism) थी। यह 1378 से 1417 ई० तक चर्च को क्षीण बनाती रही। इसका प्रादुर्भाव पोपों के आवीन्योन (Avignon) से पुनः रोम लौट आने पर हुआ। 1378 ई० में पोप ग्रेगोरी एकादश की मृत्यु पर रोमन जनता के प्रबल दबाव से निर्वाचन करने वाले अधिकांश कार्डिनलों ने इटलीवासी अर्बन षष्ठ (1378-1379 ई०) को पोप चुना और उसके बाद फ्रेंच राजा की प्रेरणा से इस चुनाव को अवैध घोषित करते हुए एक फ्रेंच व्यक्ति क्लेमेण्ट सप्तम को पोप चुना गया और इसने पुनः आवीन्योन को पोपों की राजधानी बनाया। दोनों अपने को वास्तविक तथा न्याय्य पोप मानते थे। दोनों ने एक-दूसरे को चर्च से बहिष्कृत किया, अपने पृथक् कार्डिनल, बिशप तथा चर्च के अन्य अधिकारी नियत किए। इससे चर्च में भारी फूट पड़ गई और पश्चिमी यूरोप का सारा ईसाई जगत् दो भागों में बँट गया। फ्रांस और उसके मित्र देश—स्काटलैण्ड, सेवाय, स्पेन और पुर्तगाल आवीन्योन के पोप क्लेमेण्ट सप्तम के समर्थक थे। इटली तथा फ्रांस के शत्रुदेश—जर्मनी, इंगलैण्ड, हंगरी पोलैण्ड तथा स्कैण्डेवियन्न देश रोम के पोप अर्बन षष्ठ के समर्थक थे। यह फूट चर्च के लिए बहुत घातक थी। इसे दूर करने तथा एकता स्थापित करने के लिए दोनों पक्षों के कुछ कार्डिनलों द्वारा इटली के पीज़ा (Pisa) नामक स्थान में चर्च की एक परिषद् बुलाई गई। इसने दोनों पोपों को पदच्युत करके एलेक्ज़ैण्डर पंचम के नाम से एक नया पोप

चुन दिया। किन्तु इसे पहले दो पोपों ने स्वीकार नहीं किया और चर्च में दो स्थान पर तीन पोप हो गए। इससे चर्च में विवाद पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गए और इसका हल करने के लिए चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त पर बल दिया जाने लगा।

दूसरा कारण तत्कालीन पोपों के तथा चर्च के भीषण नैतिक पतन से रक्षा के लिए इनके सुधार की माँग थी। आवीन्योन को अपना निवास-स्थान बना लेने पर पोप राजकीय ऐश्वर्य और शाही ठाठ-बाठ के साथ रहने लगे। अपार वैभव और विशाल सम्पत्ति के साथ पोप के दरबार में धनलोलुपता और अनाचार का साम्राज्य हो गया। अपना यौवन आवीन्योन के पोपों की सेवा में बिताने वाले तथा पुनर्जागरण आन्दोलन के अग्रणी नेता पेट्रार्क (1304-1374 ई०) ने आवीन्योन का वर्णन करते हुए लिखा था, "यह भूतल का नरक, बुराइयों का आगार और संसार का गन्दा नाला है। इसमें न तो श्रद्धा है, न दान का भाव, न धर्म और न ईश्वर का भय। संसार की सारी गन्दगी और दुष्टता यहाँ एकत्र है। अनूढागमन (Fornication), माता, बहन आदि निकटवर्ती निषिद्ध सम्बन्धियों के साथ संभोग (Incest), बलात्कार, परस्त्रीगमन पोप के दरबार की क्रीड़ाओं के कामुक आनन्द हैं।" सन्त कैथेराइन ने पोप एकादश को कहा था कि "उसके दरबार में उसके नथने नरक की दुर्गन्ध से भरे रहते हैं।"[1] ब्रिटिश सुधारक जॉन विक्लिफ (1320-1384 ई०) तथा बोहीमिया के जॉन हस्स (1373-1475 ई०) ने चर्च की बुराइयों के विरुद्ध प्रबल आवाज उठाई। उनका कहना था कि पोप की सांसारिकता इन बुराइयों को उत्पन्न कर रही है, इनका अन्त होना चाहिए। चर्च में परिषद् का स्थान पोप से ऊँचा है और उसी से चर्च का सुधार सम्भव है।

अतएव कांसिलियर आन्दोलन के तीन उद्देश्य थे—(1) ईसाई चर्च में उत्पन्न हुई फूट को दूर करना तथा एकता स्थापित करना। (2) चर्च की बुराइयों का संशोधन करना। (3) पोप की निरंकुश सत्ता और प्रभुता के स्थान पर चर्च की परिषद् को स्थान देना तथा चर्च के प्रशासन की नई व्यवस्था करना। इस आन्दोलन का समर्थन करने वाले प्रमुख विचारक जीन गर्सोन (1363-1429 ई०), कूसा (जर्मनी में ट्रियेर के निकट) रहने वाला निकोलस (1401-1464) तथा ईनियस सिल्वियस (1405-1464 ई०) थे।

जीन गर्सोन—पेरिस विश्वविद्यालय के चान्सलर और धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् गर्सोन (Gerson) ने मारसिलियो के विचारों से प्रभावित होकर चर्च मे पोप

---

1. विल ड्यूरैण्ट—दि रिनेसां, पृ० 55-56, उस समय के कुछ पोपों का चरित्र बड़ा जघन्य था। पोप जॉन तेईसवाँ पहले समुद्री डाकू था। उस समय के एक प्रामाणिक लेखक जर्मन वकील Dietrich Von Neheim के कथनानुसार उसने बोलोन्या में पोप का प्रतिनिधि होते हुए 200 स्त्रियों का सतीत्व भंग किया था। वह वहाँ के जुआरियों और वेश्याओं से दलाली लिया करता था। कांस्टैंस की परिषद् ने 25 मई 1415 को उस पर नास्तिक, अत्याचारी, झूठा, चर्च के पदों का विक्रय करने वाला, विश्वासघाती, चोर, लम्पट (Lecher) आदि होने के 54 आरोप लगाए, इनमें 16 आरोप इतने भीषण थे कि उन्हें दबा दिया गया। इनके कारण उसे परिषद् द्वारा पदच्युत किया गया। किन्तु उसे पदच्युत करने वाली इस परिषद् में आए प्रतिनिधियों के मनोरंजन के लिए कांस्टैंस के छोटे से नगर में उस समय 1000 वेश्याएँ थीं। (मैकेब—रैशनलिस्ट इंसाइक्लोपीडिया, पृ० 348).

की सर्वोच्च सत्ता का विरोध किया, इसका अन्तिम अधिकार चर्च की सामान्य परिषद् में माना। वह पोप को चर्च का प्रशासन करने वाला अभिकर्त्ता (Agent) मात्र समझता था और सामान्य परिषद् की सर्वोपरि सत्ता का समर्थन इसलिए करता था कि केवल वही उस समय चर्च में उत्पन्न हुई फूट को दूर कर सकती थी। वह आवश्यकता और उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर सार्वजनिक और सामान्य कल्याण के लिए पोप और राजा का प्रतिरोध करना न्यायोचित समझता था। उस समय पीज़ा की परिषद् द्वारा चुने गए पोप एलेक्ज़ैण्डर पंचम का उत्तराधिकारी जॉन तेईसवाँ था। पीज़ा की परिषद् ने यह निर्णय किया था कि दूसरी सामान्य परिषद् जल्दी बुलाई जाए। किन्तु 200 कुमारियों, विवाहिता स्त्रियों, विधवाओं और भिक्षुणियों का सतीत्व हरण करने वाले जॉन ने इसे बुलाने में बड़ी टालमटोल की थी।[1] इन परिस्थितियों में गर्सोन ने यह सिद्धान्त रखा कि यदि पोप अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं करता तथा प्रकृति के और ईश्वर के नियमों का पालन नहीं करता तो राजा को पोप की पदच्युति के लिए चर्च की परिषद् बुलाने का अधिकार है। गर्सोन वैध राजतन्त्र का, चर्च और राज्य के प्रशासन में राजतन्त्र, प्रजातन्त्र और कुलीनतन्त्रों के विचारों के सामंजस्य का पक्षपाती था। कांस्टैंस की परिषद् ने अपने नियमों में उसके विचारों को क्रियात्मक रूप दिया तथा समूचे यूरोप में वैधानिक शासन के विचार का प्रसार किया।[2] वह पोप तथा राजा के अधिकारों को निश्चित मर्यादा में रखता हुआ जनता की स्वतन्त्रता का संरक्षण करना चाहता था।

गर्सोन मारसिलियो की भाँति क्रान्तिकारी विचारक नहीं था। उसने उसके लोकतन्त्र का समर्थन नहीं किया, किन्तु चर्च में पादरियों के विभिन्न वर्गों द्वारा शासन (Hierarchy) का समर्थन किया; चर्च के सब व्यक्तियों के समूह को नहीं, किन्तु केवल इन्हें शासन का अधिकार दिया। फिर भी उसे इस बात का श्रेय है कि उसने चिरकाल से चले आने वाले, पीटर के उत्तराधिकारी होने के नाते पोप की सर्वोच्च प्रभुता के सिद्धान्त का पूर्णरूप से निराकरण किया। वह कांस्टैंस की परिषद् का प्राण था।

कूसावासी निकोलस (1401-1464 ई०)—इस जर्मन विद्वान् ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ De Concordantia Catholica में बाज़ेल की परिषद् के लिए गर्सोन से भी अधिक क्रान्तिकारी और मौलिक विचार प्रस्तुत किए। उसके दो सिद्धान्त प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं—पहला, सामंजस्य या एकता (Concordantia) का तथा दूसरा जनता की सहमति को कानून तथा शासन का आधार मानने का सिद्धान्त। पहले सिद्धान्त के अनुसार संसार की भौतिक और आध्यात्मिक सभी वस्तुओं में बड़ी एकता और सामंजस्य है। यह विश्व भगवान् का विराट् पुरुष या देह (Organism) है, इसमें प्रत्येक वस्तु और तत्त्व दूसरे तत्त्वों के साथ मिलकर पूर्ण सामंजस्य के साथ अपना कार्य कर रहा है। समस्त मानवीय कार्य और व्यापार चर्च और साम्राज्य की दो संस्थाओं में व्यवस्थित है और इन दोनों के सभी अंग और तत्त्व एक-जैसे हैं। अतः जब चर्च के शासन का केन्द्रीय अंग परिषद् है तो राजनीतिक संगठन में भी परिषद् का केन्द्रीय स्थान होना चाहिए।

1. विल ड्यूरैण्ट—दि रिनैसां, पृ० 364.
2. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 134.

इसी प्रकार निकोलस ने अपना दूसरा सिद्धान्त भी दोनों संगठनों के सादृश्य के आधार पर निश्चित किया है। चर्च की प्रारम्भिक परिषदों की ऐतिहासिक समीक्षा के आधार पर वह यह परिणाम निकालता है कि उनकी घोषणाएँ इसलिए बलवती थीं कि उन्हें उन परिषदों में विद्यमान सभी व्यक्तियों की सहमति प्राप्त हुई थी। अतः प्रत्येक कानून की वैधता इस बात पर निर्भर है कि वह जिन पर लागू होता है, उन सबकी सहमति या स्वीकृति उसे प्राप्त हो। यह सहमति रिवाज द्वारा भी मिल सकती है। निकोलस सामान्य सहमति (General Consent) को सब प्रकार के मानवीय और प्राकृतिक अधिकारों का आदि स्रोत मानता है। उसका यह कहना है कि सब मनुष्य अपनी प्रकृति के कारण स्वतन्त्र होते हैं, अतः प्रत्येक प्रकार का शासन प्रजाजनों की सहमति से प्रादुर्भूत होता है, भले ही यह शासन लिखित कानून के रूप में हो या शासक की इच्छा के रूप में हो। प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान मात्रा में शक्ति दी है, अतः किसी व्यक्ति को उच्च स्थिति शेष व्यक्तियों के चुनाव और सहमति से ही प्राप्त हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि संसार में वैयक्तिक प्रभुता का और कानून के शासन का मूल स्रोत जनता है। सर्वोच्च सत्ता तथा प्रभुता जनता में निहित है।[1]

जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त के आधार पर उसने इस सिद्धान्त का निर्माण किया है कि वैयक्तिक शासन कानून का पालन कराने के लिए जनता द्वारा चुना हुआ प्रतिनिधि मात्र होता है। वस्तुतः वह उसे चुनने वाली जनता का प्रतीक है। जनता की इच्छा का पालन करना उसके लिए आवश्यक है।

उससे पहले समूची सत्ता का स्रोत भगवान् माना जाता था, वह उसका उद्गम जनता को मानता है। इन दोनों सिद्धान्तों में विरोध है। एक सत्ता का उद्गम ईश्वर को तथा दूसरा मनुष्य को मानता है। किन्तु निकोलस के मत में यह विरोध वास्तविक नहीं है। शक्ति का आदि स्रोत भगवान् ही है, किन्तु उसकी शक्ति जनता में और जनता के माध्यम से कार्य करती है। वह शक्ति का अन्तिम और परोक्ष (Indirect) स्रोत तथा जनता साक्षात् स्रोत है। सब प्रकार की भौतिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक शक्ति जनता में प्रसुप्तावस्था में निहित होती है, किन्तु ऊपर से भगवान् की प्रेरणा इसे प्रबुद्ध करती है।[2]

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर निकोलस ने यह परिणाम निकाला कि पोप की सत्ता का मूल समूचे ईसाई समुदाय की सहमति है। सामूहिक रूप से चर्च पोप अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति से बड़ा है। इसकी परिषद् में ईसा की आत्मा का आविर्भाव होता है, अतः परिषद् पोप से ऊँची स्थिति रखती है। पोप को ईसा के सब अधिकार नहीं मिले हैं, वह तो उसका कार्य करने वाला एजेण्ट मात्र है। पोप को अपनी सत्ता ईसा या सेण्ट पीटर से नहीं, किन्तु चर्च की जनता से मिली हुई है। वह ईश्वरीय और दैवी नियमों से बँधा हुआ है, मनुष्य होने के नाते वह पापी और भ्रान्त हो सकता है। कोई व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, उसके निर्णय में उतनी सचाई नहीं आ सकती जितनी समूचे चर्च का प्रतिनिधित्व करने वाली सामान्य परिषद् में होती है। पोप पादरी वर्ग द्वारा चलाए जाने वाले शासन (Hierarchy) का मुखिया मात्र है। सामान्य परिषद्

1. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, खं० 1, पृ० 273-274.
2. वही, पृ० 275.

को उसे नास्तिकता आदि दोषों के होने पर पदच्युत करने का अधिकार है। धर्म सम्बन्धी विषयों पर निर्णय करने का अधिकार भी पोपों को नहीं, किन्तु सामान्य परिषद् को है।

निकोलस यह समझता था कि चर्च का नैतिक सुधार पोप की अपेक्षा स्थानीय परिषदों द्वारा अधिक क्षमता और सफलता के साथ सम्पन्न हो सकता है। अतः वह राष्ट्रीय सीमाओं के आधार पर पोप की सत्ता विभिन्न प्रान्तों की परिषदों को देने का पक्षपाती था और सत्ता का विकेन्द्रीकरण राष्ट्रीयता के आधार पर करना चाहता था। उसकी सम्मति में राजाओं को चर्च के सुधार के लिए राष्ट्रीय परिषदें बुलानी चाहिएँ, किन्तु उन्हें धार्मिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसने चर्च और साम्राज्य दोनों में प्रतिनिधि-शासन और विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त लागू किया, साम्राज्य को 12 भागों में बाँटने का तथा जर्मन सम्राट् द्वारा एक स्थायी परिषद् से परामर्श लेने की व्यवस्था का समर्थन किया।

सब लोगों की समानता, स्वतन्त्रता, सामान्य सहमति (General consent), जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty), प्रतिनिधियों की परिषदों द्वारा शासन, राष्ट्रीय आधार पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण के निकोलस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा नवीन थे। यद्यपि रोमन विधिशास्त्रियों के समय से जनता की प्रभु-सत्ता की चर्चा की जा रही थी, किन्तु इसे नैतिकता के और वैयक्तिक कानून के क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाता था। निकोलस की यह विशेषता थी कि उसने इन्हें सार्व-जनिक कानून और राजनीति के क्षेत्र में लागू किया और यह कहा कि प्रभुसत्ता का स्रोत जनता है, शासक का निर्वाचन और कानूनों का निर्माण जनता की सम्मति से होता है, कानूनों का पालन करना शासक का कर्त्तव्य है। डनिंग के शब्दों में निकोलस ने इन विचारों में साहसी नव-प्रवर्त्तक (Innovator) की अन्तर्दृष्टि और हिम्मत प्रदर्शित की है।[1] किन्तु ये विचार उसके समय से दो-तीन शताब्दी आगे के थे। उस समय इनको क्रियात्मक रूप दिया जाना सम्भव न था। अतः जब बाज़ेल की परिषद् में उग्र विवादों और झगड़ों के कारण इन्हें व्यावहारिक रूप देना असम्भव प्रतीत हुआ तो निकोलस निराश होकर पोप की पार्टी में आ गया तथा कार्डिनल बनाया जाने पर जर्मनी में पोप की प्रभुता का समर्थन करने लगा।[2]

ईनियस सिल्वियस (1405-1464 ई०)—इसने अपने ग्रन्थ 'रोमन साम्राज्य का उद्गम और अधिकार' (De ortu et Auteritate Imperii Romani) में राज-सत्ता के अविर्भाव के इतिहास के आधार पर पोप की प्रभुसत्ता का खण्डन किया। इसके मतानुसार मनुष्य पहले स्वर्ग से निकाला जाने पर आदिम प्राकृतिक दशा में पशुओं की तरह रहता था। उस समय उसने समुदाय बनाकर रहने का महत्त्व अनुभव किया। इसमें सब स्वतन्त्र थे और समानाधिकार रखते थे। किन्तु जब समाज में अत्याचार करने वाले व्यक्ति अन्य मनुष्यों के अधिकारों को कुचलने लगे तो मनुष्यों ने एक प्रबल शक्तिशाली व्यक्ति को अपनी सत्ता सौंपने का निश्चय किया। इस प्रकार राजसत्ता का उदय हुआ। किन्तु जब राजा अत्याचारी हो जाता है तो उसे राजा बनाने वालों को

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 274.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 276.

उसे पदच्युत करने का अधिकार है। पोप को भी ऐसी परिस्थितियों में गद्दी से उतारा जा सकता है। 17वीं-18वीं शताब्दियों के प्राकृतिक अधिकारों के और सामाजिक समझौते के सिद्धान्त निकोलस और सिल्वियस की रचनाओं में पाए जाते हैं। येस सिल्वियस के विचार हॉब्स की अपेक्षा लॉक के सिद्धान्तों से अधिक मिलते हैं।

कांसिलियर आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त—गर्सोन, निकोलस और सिल्वियस के विचारों के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(1) चर्च की प्रभुसत्ता पोप में नहीं, किन्तु चर्च की सामान्य परिषद् में निहित है। अतः चर्च का संगठन और शासन इस तरह से होना चाहिए कि वास्तविक शक्ति सामान्य परिषद् के पास रहे। गर्सोन मिश्रित शासन-व्यवस्था को आदर्श समझता था, अतः उसने इस दृष्टि से पोप, उसे चुनने वाले कार्डिनलों, प्रिलेट और बिशप आदि अधिकारियों द्वारा चर्च का शासन चलाने की व्यवस्था का समर्थन किया। (2) पोप चर्च का प्रशासक या प्रबन्धक मात्र है। वह इसके लिए कोई कानून नहीं बना सकता, यह अधिकार केवल चर्च की परिषद् को है; पोप इसके नियमों से बँधा होता है। (3) चर्च की परिषद् पर पोप का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु सर्वोच्च सत्तासम्पन्न होने के कारण परिषद् को पोप पर पूर्ण अधिकार है। (4) पोप इस पृथ्वी पर ईसा का या पीटर का नहीं, किन्तु चर्च का प्रतिनिधि (Vicar) है। संसार का उद्धार पोप के बिना सम्भव है, किन्तु चर्च के बिना सम्भव नहीं है। (5) चर्च अपने-आपमें पूर्ण समाज है, उसे अपनी बुराइयाँ स्वयमेव दूर करनी चाहिएँ। राज्य को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। (6) पूर्ण प्रभुतासम्पन्न होने के कारण चर्च की परिषद् को दुश्चरित्र तथा नास्तिक पोपों को पदच्युत करने का अधिकार है। (7) कानून का आधार जनसहमति है। पोप की आज्ञाएँ उसी दशा में कानून की भाँति पालनीय हो सकती हैं, जबकि उन्हें चर्च की सामान्य परिषद् की सहमति प्राप्त हो तथा वे मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकारों के प्रतिकूल न हों। (8) पोप मनुष्य होने के कारण गलती कर सकता है तथा पापी हो सकता है। (9) सब धार्मिक विषयों में निर्णय करने का अन्तिम अधिकार पोप को नहीं, किन्तु चर्च की सामान्य परिषद् को है। इस आन्दोलन का मूल तत्त्व पोप की निरंकुश सत्ता के स्थान पर चर्च की प्रभुसत्ता स्थापित करना था। यह वस्तुतः निरंकुश शासन और मर्यादित एवं वैध शासन का सिद्धान्त मानने वालों के मध्य में उग्र संघर्ष था।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए दो परिषदें बुलाई गईं। इनके तीन प्रधान उद्देश्य थे: (1) ईसाई संघ की फूट को दूर करना, (2) पोप के निरंकुश शासन के स्थान पर चर्च की परिषद् की सत्ता स्थापित करना, (3) चर्च की बुराइयों का संशोधन करना।

कांस्टैन्स की परिषद् (1414-1418)—पहले यह बताया जा चुका है कि पीजा की परिषद् के बाद ईसाई जगत् में दो के स्थान पर तीन पोप—जॉन तेईसवां (पीज़ा परिषद् द्वारा निर्वाचित एलेक्ज़ैण्डर पंचम का उत्तराधिकारी), रोम का ग्रेगोरी द्वादश तथा आविन्योन का बेनीडिक्ट त्रयोदश—हो गए थे। इस फूट को दूर करने तथा चर्च के सुधार के लिए परिषद् बुलाने में पहले तो जॉन तेईसवाँ बड़ी टालमटोल करता रहा, किन्तु अन्त में सम्राट् सिगिसमुण्ड (Sigismund) द्वारा विवश किए जाने

पर उसने इसे इटली प्रभाव से मुक्त रखने के लिए जर्मनी के वाडेन प्रान्त में कांस्टेन्स नामक झील के किनारे बसे नगर में इस परिषद् को बुलाया। 325 ई० में होने वाली नाइसिया की परिषद् (Council of Nicaea) के बाद यह चर्च का सबसे बड़ा सम्मेलन था। छः हजार की आबादी के इस कस्बे में पाँच हजार प्रतिनिधि एकत्र हुए[1] जिनमें तीनों पोपों के प्रतिनिधि, 29 कार्डिनल, 22 आर्कबिशप, 150 बिशप, 100 मठाधीश, 300 धर्मशास्त्री, 26 राजा, 140 कुलीन ज़मींदार और 26 विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि तथा चार हज़ार पुरोहित थे। पोप जॉन इसमें सदल बल सम्मिलित हुआ था, किन्तु जब उसे यह पता लगा कि उसके विरोधी उसके अपराधों और दुराचारों की पोल परिषद् के आगे खोलने वाले हैं, तो वह साईस का वेश बदलकर कांस्टेन्स से भाग खड़ा हुआ (20 मार्च, 1415) और उसने 29 मार्च को यह घोषणा की कि उसे मारने की धमकी देकर कांस्टेन्स की परिषद् बुलाई गई है, वह इसे स्वीकार नहीं करता है। इस पर इस परिषद् ने निम्नलिखित ऐतिहासिक घोषणा तथा आदेश (Decree Sacrosancta) जारी किया—

"कॉंस्टेन्स का यह पवित्र धर्म सम्मेलन सामान्य परिषद् है, कानूनी तौर से पवित्र भावना के साथ एकत्र हुआ है ताकि भगवान् की स्तुति, वर्तमान फूट की समाप्ति भगवान् के चर्च की एकता तथा चर्च के अध्यक्ष और सदस्यों का सुधार कर सके।··· यह परिषद् निम्न नियम बनाती है, घोषणा करती है तथा आदेश देती है—**पहला**, यह घोषणा करती है कि यह परिषद् अपनी सत्ता सीधे ईसा मसीह से ग्रहण करती है और कोई भी व्यक्ति भले ही वह कोई भी पद या प्रतिष्ठा रखता हो या पोप हो, ऐसे सब विषयों में इस परिषद् की आज्ञाएँ मानने को बाधित है जो विषय धर्म से, इस फूट को समाप्त करने से, या चर्च के अध्यक्ष और सदस्यों के सुधार करने से सम्बन्ध रखते हों। यदि कोई व्यक्ति इस परिषद् के आदेशों की अवहेलना करेगा तो भले ही वह पोप भी क्यों न हों, इस परिषद् के दण्ड का अधिकारी होगा।" फिग्गिस के मतानुसार 'विश्व के इतिहास में यह सबसे अधिक क्रान्तिकारी सरकारी दस्तावेज (Official Document) है'।[2] इस घोषणा के बाद फूट को समाप्त करने के लिए परिषद् ने पहले तो पोप जॉन तेईसवें से पद त्याग करने को कहा और उससे उत्तर न मिलने पर उस पर 54 दोष लगाकर उसे पदच्युत किया (29 मई, 1415 ई०)। अब शेष दो पोप रह गए। ग्रेगोरी ने इस शर्त पर त्यागपत्र देना स्वीकार किया कि उसे पोप के रूप में इस परिषद् को पुनः बुलाने का अधिकार दिया जाए। 4 जुलाई, 1415 को इस प्रकार बुलाई जाने वाली परिषद् ने उसका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। तीसरा पोप बेनेडिक्ट पद छोड़ने को तैयार नहीं था। किन्तु उसके कार्डिनलों ने उसका साथ छोड़ दिया और परिषद् ने उसे पदच्युत कर दिया (26 जुलाई, 1417)। इसके बाद परिषद् द्वारा निर्वाचित समिति ने मार्टिन पंचम को नया पोप चुना। इस प्रकार 39 वर्ष की अराकता के बाद ईसाई चर्च के महान् भेद (Great Schism) को समाप्त करके परिषद् ने सबसे बड़ी सफलता पाई। इस परिषद् ने अपनी एक आज्ञा (Decree

1. विल ड्यूरेण्ट—दी रिनैसां, पृ० 365.
2. फिग्गिस—फ्राम गर्सोन टु ग्रोशियस, पृ० 41.

Frequens) द्वारा यह निश्चय किया कि पाँच वर्ष के भीतर दूसरी परिषद् बुलाई जाए।

यद्यपि यह परिषद् अपने एक बड़े उद्देश्य—ईसाई संघ की फूट को दूर करने में सफल हुई तथापि अपने दूसरे उद्देश्य चर्च के सुधार में सफल नहीं हो सकी। इसका बड़ा कारण नवनिर्वाचित पोप मार्टिन पंचम का तीव्र विरोध था। इस परिषद् में सब विषयों पर वोट व्यक्तिशः नहीं दिए जाते थे, किन्तु चार राष्ट्रीय वर्गों—फ्रेंच, इटालियन, इंगलिश और जर्मन—के आधार पर दिए जाने की व्यवस्था थी। मार्टिन ने इन राष्ट्रों के मतभेदों का लाभ उठाते हुए इन्हें आपस में खूब लड़वाया, कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं होने दिया, सबके साथ अलग-अलग सन्धि करते हुए इसके सुधारों को प्रभावशून्य बना दिया। 2 अप्रैल, 1418 ई० को विस्तृत सुधारों का जटिल प्रश्न अगली परिषद् के लिए छोड़ते हुए कांस्टेन्स की परिषद् भंग हो गई।

राजनीतिक विचारधारा पर इस परिषद् के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए फिग्गिस ने लिखा है कि "इस परिषद् ने पहली बार विशुद्ध राजनीति के संघर्षों को बड़े पैमाने पर प्रदर्शित किया। परिषद् द्वारा वैधानिक शासन के विचार यूरोप द्वारा स्वीकृत हुए। इसने राजनीतिशास्त्र में ऐसी पद्धति का प्रतिपादन किया, जिसने राजाओं के अधिकारों की रक्षा करते हुए जनता को उसकी स्वतन्त्रताएँ प्राप्त कराईं।···इसने भावी पीढ़ियों के वैधानिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया।[1]

बाज़ेल (Basel) **की परिषद् (1431-1443** ई०)—तीन पोपों को अपदस्थ करके चर्च में एकता स्थापित करने वाली उपर्युक्त परिषद् के बाद अगली परिषद् स्विट्ज़रलैण्ड में राइन नदी के तट पर बसे सुरम्य नगर में बुलाई गई, किन्तु यह बारह वर्ष के 45 अधिवेशनों में पोप के विरोध और आन्तरिक झगड़ों के कारण कुछ नहीं कर सकी। इस परिषद् ने आरम्भ में ज्यों ही पोपों पर परिषद् की प्रभुता की घोषणा की तो तत्कालीन पोप यूजेनियस चतुर्थ ने इसके विघटन की आज्ञा दी। इसने उसे अस्वीकार करते हुए पोप को परिषद् में उपस्थित होने की आज्ञा दी तथा उस पर आक्रमण के लिए मीलानी सेना भेजी। पोप को रोम से भागकर फ्लोरेन्स में शरण लेनी पड़ी और अगले 9 वर्ष तक वह रोम से निर्वासित रहा। बाज़ेल में फ्रांस के प्रतिनिधियों की संख्या अधिक थी और टूर्स के बिशप के शब्दों में उनका उद्देश्य पोप के पद को या तो रोम से छीनना था अथवा ऐसा नगण्य बना देना था कि उसका कोई महत्त्व ही न रहे।[2] अतः इस परिषद् ने अपनी विभिन्न आज्ञाओं द्वारा पोप के सभी अधिकार लेना शुरू कर दिया। इसने पापों की क्षमा के लिए मुक्ति-पत्रों (Indulgences) का निकालना, चर्च के पदों के साथ लगी जागीरों (Banefices) का देना शुरू किया तथा यह कहा कि इन जागीरों की पहले वर्ष की आमदनी (Annates) पोप के स्थान पर परिषद् को दी जानी चाहिए। इसी बीच में फ्रांस के चार्ल्स सप्तम द्वारा बुलाई गई बूर्ज (Bourges) की परिषद् ने पोपों पर परिषदों की प्रभुता की घोषणा करते हुए मौलिक कानून के समान महत्त्व रखने वाली आज्ञा एक (Pragmatic Sanction of Bourges, 1438 ई०) द्वारा फ्रांस में पोप से सर्वथा स्वतन्त्र, राजा के आधीन फ्रेंच चर्च का निर्माण किया। जर्मनी और बोहीमिया में भी स्वतन्त्र

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 270.
2. विल ड्यूरैण्ट—दी रिनैसां, पृ० 369.

राष्ट्रीय चर्च स्थापित हुए। ईसाई संघ में विघटनकारी प्रवृत्तियों के प्रबल होने से एक नया संकट पैदा हुआ।

इस समय तुर्क लोग पूर्व के बाइज़ैण्टियन साम्राज्य की राजधानी पर प्रबल आक्रमण कर रहे थे। वहाँ के सम्राट् जॉन अष्टम ने विधर्मी तुर्कों के विरुद्ध पश्चिमी यूरोप के ईसाइयों से सैनिक सहायता पाने के लिए यह प्रस्ताव रखा कि यूनान और रोम के चर्च मिला दिए जाएँ। उसने यह प्रस्ताव अपने दूत से पोप यूजेनियस को भेजा, उधर बाज़ेल की परिषद् ने जॉन को यह सन्देश भेजा कि परिषद् पोप से ऊँची है, उसे सम्राट् सिगिसमुण्ड का संरक्षण प्राप्त है, वह उसे अधिक मात्रा में सैनिक सहायता भेज सकती है, अतः जॉन को परिषद् से बात करनी चाहिए। किन्तु जॉन ने पोप से ही बात करना श्रेयस्कर समझा और पोप ने यह उत्तर दिया कि वह दोनों चर्चों के सम्मिलन का विचार फेरारा (वेनिस से 57 मील दक्षिण-पश्चिम) में बुलाई जाने वाली परिषद् के आगे रखेगा। उस समय बाज़ेल की परिषद् में सम्मिलित कुछ व्यक्तियों ने चर्च की एकता की दृष्टि से फेरारा के सम्मेलन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा और उसमें सम्मिलित होने के लिए चले गए। इनमें सेसारीनी (Cesarini) तथा कूसा के निकोलस के नाम उल्लेखनीय हैं। फेरारा की परिषद् में बाइज़ैण्टियन सम्राट् जॉन यूनानी बिशपों और विद्वानों के साथ बड़ी संख्या में सम्मिलित हुआ (8 फरवरी, 1438)। फेरारा की परिषद् वहाँ प्लेग फैलने के कारण मेदिची परिवार के निमन्त्रण पर फ्लोरेन्स में हुई और यूनानी विद्वानों के भारी संख्या में वहाँ पहुँचने से (1439 ई०) इटली में पुनर्जागरण (Renaissance) का आन्दोलन अर्थात् पुराने यूनानी तथा रोमन ज्ञान-विज्ञान के प्रति प्रबल अभिरुचि आरम्भ हुई। इस सम्मेलन के सफलतापूर्वक समाप्त होने (जुलाई 1439 ई०) तथा ग्रीक और यूनानी चर्चों के कुछ समय तक सम्मिलन से बाज़ेल के सम्मेलन को गहरा धक्का लगा और यह परिषद् चर्च में सुधार के जटिल प्रश्नों को हल किए बिना ही स्थगित हो गई। इससे परिषदीय (Conciliar) आन्दोलन विफलतापूर्शक समाप्त हो गया।

परिषदीय आन्दोलन की विफलता के कारण—इसकी विफलता का पहला और सबसे बड़ा कारण पोपों का कटु एवं उग्र विरोध था। इसका लक्ष्य पोपों के निरंकुश शासन के स्थान पर चर्च की परिषद् की प्रभुता स्थापित करना था। अपनी शक्ति और स्थिति पर कुठाराघात करने वाले आन्दोलन को क्षीण बनाने में पोपों ने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। पहले यह बताया जा चुका है कि कांस्टेन्स की परिषद् को उस द्वारा निर्वाचित पोप मार्टिन ने राष्ट्रीय विवादों को उत्पन्न करके विफल बनाया। दूसरी परिषद् को यूजेनियस ने विघटित और भंग करने का पूरा प्रत्यन किया और अन्त में उसकी फ्लोरेन्स की परिषद् के कारण बाज़ेल की परिषद् विफल हो गई। इसकी विफलता का दूसरा कारण इसमें योग्य नेताओं का अभाव था। इसने धर्म-सुधार (Reformation) और प्रतिसुधार आन्दोलन (Counter Reformation) के लूथर, कैल्विन या लायोला जैसा एक भी नेता उत्पन्न नहीं किया इसके नेता मारसिलियो से और ओकमवासी विलियम से प्रेरणा ग्रहण करने वाले विश्वविद्यालयों के कुछ प्रोफेसर थे, अतः यह आन्दोलन विश्वविद्यालयों तक ही सीमित रहा, जनता का आन्दोलन नहीं बन सका। **तीसरा** कारण यह था कि यह पोप की केन्द्रीय निरंकुश

सत्ता के स्थान पर परिषद् का संघीय शासन स्थापित करना चाहता था। यह तभी हो सकता था, जब पोप का पद और सत्ता बिल्कुल समाप्त कर दी जाती। किन्तु जब इस आन्दोलन ने पोप को एक बार स्वीकार कर लिया तो उसका सुदृढ़ केन्द्रीय संगठन तथा सुव्यवस्थित नौकरशाही परिषद् के शिथिल संघीय संगठन पर हावी हो गई। पोप की विजय के साथ चर्च में उसकी निरंकुश सत्ता को बल मिला और इससे राज्यों में भी निरंकुश शासन की प्रवृत्तिप्रबल हुई। **चौथा** कारण यह था कि इस आन्दोलन का प्रधान उद्देश्य संघ में फूट को दूर करना था। मार्टिन पंचम के चुनाव के साथ यह उद्देश्य पूरा होते ही इस आन्दोलन में लोगों की दिलचस्पी कम हो गया। **पाँचवाँ** कारण यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों—इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि का इसमें कोई दिलचस्पी न लेना था। वे अपने झगड़ों में इतने उलझे हुए थे कि उन्होंने इस आन्दोलन में कोई अभिरुचि नहीं ली। इसके अतिरिक्त यदि यह आन्दोलन चर्च के सुधार में सफल हो जाता तो इससे चर्च की सत्ता सुदृढ़ हो जाती। यह राज्यों के लिए अवांछनीय स्थिति थी। वे चर्च को निर्बल एवं अपना वशवर्ती बनाए रखना चाहते थे। **छठा** कारण परिषदीय आन्दोलन के द्वारा चर्च के नवीन संविधान बनाने और सुधारों को क्रियान्वित करने के कार्य का अत्यन्त जटिल और अशक्य होना था। यूरोप के विभिन्न देशों में फैले हुए सार्वभौम चर्च का संगठन बनाना सुगम कार्य न था। यदि यह बन भी जाता तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द और सहयोग के वातावरण में ही व्यावहारिक रूप दिया जा सकता था। किन्तु इस कार्य को करने वाली कांस्टेन्स की परिषद् का वातावरण कटु, तीव्र तथा उग्र राष्ट्रीय विवादों से परिपूर्ण था। राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीय चर्च के निर्माण में प्रबल बाधा थी, अतः यह आन्दोलन अपने प्रमुख उद्देश्यों में सफल नहीं हो पाया।

आदोलन का महत्त्व—यद्यपि यह अपने प्रधान उद्देश्य—पोप के स्थान पर चर्च की प्रभुसत्ता स्थापित करने तथा चर्च का सुधार करने—में सफल नहीं हुआ तो भी कई कारणों से इसका विलक्षण महत्त्व है: (क) इसने असंदिग्ध रूप से यह प्रमाणित कर दिया कि चर्च पोप से ऊँचा है, चर्च का शासन परिषद् द्वारा होना चाहिए। यद्यपि इसमें पोप की विजय हुई, किन्तु अब पोपों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे इस बात का पूरा ध्यान रखें कि उनकी शक्ति का प्रयोग चर्च के हित की दृष्टि से हो। पोपों का मुख्य कार्य अब शासन-प्रबन्ध करना रह गया, नियम-निर्माण का कार्य चर्च की परिषदों का माना जाने लगा। (ख) इसकी विफलता ने धर्मसुधार आन्दोलन को उत्पन्न करने में सहयोग दिया। इसका एक प्रधान उद्देश्य 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चर्च की बुराइयों का संशोधन करना था। जब यह इसके द्वारा पूरा नहीं हुआ तो इसके लिए 16वीं शताब्दी में लूथर और कैल्विन का आविर्भाव हुआ। (ग) इसने रोमन चर्च के संगठन में एक नये तत्त्व का समावेश किया। इस आन्दोलन के आघात से सम्भलने के लिए चर्च ने अपना संगठन राष्ट्रीयता के आधार पर किया, इससे राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति को बहुत बल मिला। (घ) यह प्रवृत्ति इस आन्दोलन के फलस्वरूप इंगलैण्ड, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, हालैण्ड में स्थापित होने वाले राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना से भी पुष्टि हुई। चर्च अपने उपासकों के हितों की ओर अधिक ध्यान देने लगे। (ङ) राजनीतिक क्षेत्र में इसकी सबसे बड़ी देन जनता की **प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty)** तथा सामान्य

सहमति (General consent) के विचारों को लोकप्रिय तथा सुप्रतिष्ठित बनाना था। इस आन्दोलन में पहली बार निरंकुशवाद (Absolutism) तथा वैधानिक शासन (Constitutional Government) के सिद्धान्तों में उग्र संघर्ष हुआ, इससे उत्पन्न विचारों का प्रयोग बाद में निरंकुश राजा और जनता के बीच होने वाले विवाद में किया गया। इस आन्दोलन ने जनता को सारी सत्ता का अन्तिम स्रोत माना और निरंकुश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह और निरंकुश शासक की पदच्युति को वैध ठहराया। 1688 ई० के ग्रेट ब्रिटेन की गौरवपूर्ण क्रान्ति के तथा 1789 ई० की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बीज इस आन्दोलन में निहित थे। सैबाइन के मतानुसार इस आन्दोलन के समय "चर्च में हुए विवाद ने सर्वप्रथम निरंकुश और वैधानिक शासन के मध्य होने वाले द्वन्द्व की सीमासूचक रेखाओं को सुस्पष्ट किया। इसने ऐसे दर्शन का प्रचार किया, जिसकी सहायता से प्रधान रूप से निरंकुशवाद के साथ संघर्ष किया जा सकता था।"[1]

1. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 326.

दसवाँ अध्याय

मेकियावेली (1469-1527 ई०)

आधुनिक युग का श्रीगणेश—राजनीतिशास्त्र में सत्ता प्राप्त करने के लिए धूर्त्तता, धोखाधड़ी, मक्कारी और कुटिलता के सभी साधनों के प्रयोग का खुल्लमखुल्ला प्रबल समर्थन करने वाले मेकियावेली के आविर्भाव के साथ इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ होता है। 15वीं तथा 16वीं शताब्दी के दो महान् आन्दोलनों ने तथा कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने मध्ययुग को वर्तमान युग में परिणत किया। पहला आन्दोलन प्राचीन यूनानी और रोमन ग्रन्थों, कलाओं और विद्याओं के पुनर्जागरण (Renaissance) और पुनरुद्धार का था। यद्यपि इन विषयों का अध्ययन मध्यकाल में होता रहा था, किन्तु 1400 ई० से बाइज़ैण्टियन साम्राज्य पर तुर्कों का दबाव बढ़ने से तथा 1453 ई० में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया के जीत लेने पर वहाँ के यूनानी विद्वान् बड़ी संख्या में इटली के फ्लोरेन्स आदि शहरों में आने लगे। इनके कारण उस समय प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन की ओर अधिक महत्त्व देने वाले आन्दोलन की लहर चल पड़ी। पुराने ग्रन्थों की खोज होने लगी। टैसिटस, सिसरो, क्विण्टिलियन तथा ल्यूक्रेशियस की रचनाओं को अनुराग से पढ़ा जाने लगा। कला में यूनानी और रोमन आदर्शों को सर्वोच्च स्थान दिया जाने लगा, शिक्षाक्रम में होमर, जूलियस सीज़र, वर्जिल के उपेक्षित ग्रन्थों को स्थान मिला। मध्ययुग में ईसाइयत एवं धर्मशास्त्र सम्बन्धी पारलौकिक विषयों का ही अध्ययन होता था; आत्मा, परमात्मा की चर्चा होती थी। अब मानव को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाने वाली यूनानी विचारकों की रचनाओं से मानववाद (Humanism) की भावना प्रबल हुई। मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों को प्रतिपादित करने वाली विद्याओं (Humanities) के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा। प्राचीन इतिहास के आधार पर युद्ध, कूटनीति, शासन-प्रणाली तथा मानवीय व्यवहार के सिद्धान्त निश्चित किए जाने लगे। इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा। ईसाइयत के धार्मिक प्रभाव की क्षीणता आरम्भ हुई। दूसरा आन्दोलन 16वीं शताब्दी का धर्म-सुधार आन्दोलन था।

इनके अतिरिक्त इस समय कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ वर्तमान युग को लाने में सहायक सिद्ध हो रही थीं। 1350 ई० में जॉन गुटनबर्ग ने माइंत्ज़ (Maintz) के जर्मन शहर में पहला छापाखाना स्थापित करके पुस्तकों का मुद्रण आरम्भ किया। शीघ्र ही लाखों की संख्या में छपने वाली पुस्तकों ने ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में अभूतपूर्व

क्रान्ति उत्पन्न की और नवीन विचारों को साधारण जनता तक पहुँचाने का सस्ता और शक्तिशाली साधन प्रदान किया। चीन से बारूद बनाने का ज्ञान अरबों के माध्यम से मध्ययुग में यूरोप पहुँचा, 14वीं शती में इसकी सहायता से बन्दूकें और तोपें बनाई जाने लगीं। तोपों ने सुदृढ़ किलों में सुरक्षित बैठकर राजाओं की शक्ति का प्रतिरोध करने वाले सामन्तों और जमींदारों की शक्ति का अन्त कर दिया, क्योंकि अब तोप के गोलों से उनके अजेय समझे जाने वाले दुर्गों का विध्वंस सुगमता से हो सकता था। इससे यूरोप में निरंकुश राजाओं की शक्ति बढ़ने लगी। इस समय का तीसरा आविष्कार नाविकों का दिग्द्योतक यन्त्र (Mariners' Compass) था। इसका ज्ञान भी चीन से अरब के नाविकों द्वारा यूरोप को बारहवीं-तेरहवीं शतियों में हुआ। इसने अज्ञात समुद्रों में यात्रा करने का मार्गदर्शक साधन प्रस्तुत करके नौचालन, नवीन प्रदेशों के अन्वेषण एवं अनुसन्धान, उपनिवेशन तथा व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी। कोलम्बस (लग० 1446-1506) की अमरीका-यात्रा (अगस्त, 1492) तथा वास्कोडीगामा (लग० 1469-1524 ई०) की भारत-यात्रा (1497-1499) से भौगोलिक अन्वेषण का वह नया युग शुरू हुआ, जिसने शनैः-शनैः सारे विश्व पर यूरोपियन जातियों की प्रभुता स्थापित की। ऐसे विलक्षण समय में जब यूरोपियन इतिहास में वर्तमान युग का आरम्भ हुआ तो राजनीतिशास्त्र के इतिहास में मेकियावेली ने नवयुग का श्रीगणेश किया।

मेकियावेली का जीवन (1469-1527 ई०)—दूसरे राजनीतिज्ञों को सफलता के रहस्य बताने वाले किन्तु स्वयमेव अपने जीवन में विफल रहने पर भी इतिहास पर गहरा प्रभाव डालने वाले इस कूटनीतिज्ञ, ऐतिहासिक, साहित्यिक, दार्शनिक और राजनीति-शास्त्री का जन्म इटली में पुनर्जागरण आन्दोलन में अग्रणी फ्लोरेन्स के एक सम्पन्न कुल में 1469 ई० में हुआ। समुचित शिक्षा ग्रहण करने के बाद 25 वर्ष की आयु में उसने अपने गणराज्य के गृह एवं विदेश कार्यालय (Chancery) में एक साधारण क्लर्क के रूप में नौकरी आरम्भ की (1494 ई०)। चार वर्ष में ही वह उन्नति करते हुए चान्सरी के द्वितीय सचिव के उच्च पद तक पहुँचा और 1512 ई० तक इस पद पर बना रहा। इस समय उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे फ्लोरेन्स का दूत बनाकर विशेष कार्य के लिए विदेशी राज्यों में भेजा गया, इससे उसे फ्रांस के लुई द्वादश (रा० 1498-1515 ई०), सम्राट् मेक्सिमिलियन प्रथम (रा० 1493-1519 ई०), पोप जूलियस द्वितीय (1503-1513 ई०) के दरबारों में जाने से कूट-नीति के दाँव-पेचों और राजनीतिक षड्यन्त्रों और कुचक्रों के अध्ययन का स्वर्ण अवसर मिला। अपने इसी कार्य में 1502 ई० में उसे पोप एलेक्जैण्डर षष्ठ (1492-1503) के अवैध किन्तु सैनिक दृष्टि से योग्य बेटे, नैतिकता के नियमों की परवाह न करते हुए नृशंस अत्याचारों के द्वारा मध्य इटली का शासन कुछ समय तक करने वाले वेलेन्शियो (Valentio) के ड्यूक सीज़र बोर्जिया (1474-1507 ई०) के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और वह इसके सांसारिक तथा इटली में शान्ति स्थापित करने के कार्य से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपने बड़े भाई और बहनोई के हत्यारे तथा इटली में अपनी क्रूरताओं से हाहाकार मचाकर आतंक स्थापित करने वाले

बोर्जिया को आदर्श महापुरुष माना और 'प्रिन्स' में 'आदर्श राजा' के रूप में चित्रित किया।

1512 ई० में फ्लोरेन्स के गणराज्य में प्रबल राजनीतिक परिवर्तन के साथ मेकियावेली के बुरे दिन आ गए। वस्तुत: उन दिनों इटली के विभिन्न राज्यों पर प्रभुता पाने के लिए फ्रांस और स्पेन में होड़ चल रही थी। 1494 ई० से पहले फ्लोरेन्स में मेदिची (Medici) नामक व्यापारी परिवार का शासन था। इस वर्ष फ्रेंच सेनाओं के इटली में आगमन पर यहाँ क्रान्ति के बाद इस परिवार को निर्वासित होना पड़ा और फ्रांस का पक्षपाती सरकार 1512 तक बनी रही। मेकियावेली इसी सरकार का कर्मचारी था और फ्रेंच का प्रबल समर्थक था। 1512 ई० मेंमेदिची परिवार ने स्पेन के राजा के सहयोग से पुन: फ्लोरेन्स की शासन-सत्ता हस्तगत की और मेकियावेली को इस परिवार के शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र के सन्देह में जेल की हवा खानी पड़ी। मित्रों के प्रयत्नों से उसकी जेल से तो रिहाई हुई, किन्तु इस शर्त पर कि वह सार्वजनिक जीवन में कोई भाग नहीं लेगा। अपने जीवन के शेष पन्द्रह वर्ष उसने सैन कैसियानो (San Casciano) के अपने फार्म में बड़े दु:ख से व्यतीत किए। यदि उस पर यह मुसीबत न आती तो शायद आज उसे कोई स्मरण नहीं करता क्योंकि इसी समय में उसने अपनी सुप्रसिद्ध कृति **'प्रिन्स'** तथा अन्य रचनाएँ लिखीं।

इन दिनों प्राचीन रोमन ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए उसने सुप्रसिद्ध रोमन ऐतिहासिक **लिवी** (59 ई० पू० से 17 ई० पू०) **के इतिहास की दस पुस्तकों पर व्याख्याएँ** (Discourses on the First Ten Books of Livy)) लिखना शुरू किया। इसमें उसका यह उद्देश्य था कि जैसे उस समय प्राचीन साहित्य, कानून और चिकित्सा-शास्त्र का पुनरुद्धार हो रहा था, वैसे ही प्राचीनकाल के शासन और राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन और वर्तमान राजनीति में उसका उपयोग होना चाहिए। अत: उसने अपने अनुभव और विचारों को पुष्ट करने वाले प्रमाणों को प्राचीन साहित्य से ढूँढ़कर अपना लेखन कार्य आरम्भ किया। जल्दी ही उसे यह पता लगा कि यह बड़ा लम्बा कार्य है। अत: तत्कालीन शासक परिवार के एक व्यक्ति गुइलियानो मेदिची को भेंट करने के लिए उसने अपने सम्पूर्ण अध्ययन और परिणामों का निचोड़ संक्षेप में देने के उद्देश्य से 1513 ई० में 'नरेश' (Ie principe) को लिखा। इसका उद्देश्य—**एक राजा के**—विशेष रूप से नया प्रदेश जीतने वाले नरेश के लिए अपनी सत्ता सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक उपायों और साधनों का वर्णन करना है।

परिस्थितियों का प्रभाव—मेकियावेली की रचनाओं पर उस समय की परिस्थितियों का प्रबल प्रभाव है। यों तो सभी व्यक्तियों की रचनाओं पर समय का थोड़ा-बहुत प्रभाव होता है, किन्तु मेकियावेली पर यह बहुत अधिक था। उसके विचार तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थे। अत: **डनिंग** ने उसे पूरे अर्थों में **अपने युग का शिशु** (Child of his times) कहा है।[1] उसको प्रभावित करने वाली राजनीतिक और बौद्धिक परिस्थितियाँ निम्नलिखित थीं—

(1) **शक्तिशाली राजतन्त्रों की स्थापना**—जब मेकियावेली का आविर्भाव हुआ तो चर्च में पोप की निरंकुश सत्ता को नियन्त्रित करने वाला 15वीं शताब्दी का

1. डनिग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज, खं० 1, पृ० 285.

परिषदीय आन्दोलन (Counciliar Movement) समाप्त हो चुका था। इंगलैण्ड में हेनरी सप्तम (1485-1509 ई०) ने, फ्रांस में लुई एकादश (1461-1483 ई०), चार्ल्स अष्टम (1483-1498 ई०) व लुई द्वादश (1498-1515 ई०) ने, स्पेन में फर्डिनैण्ड (1479-1516 ई०) ने सामन्तों और उनकी प्रतिनिधिसभाओं का दमन करते हुए शक्तिशाली और निरंकुश राजतन्त्र स्थापित किए थे। वह समय राज्य और चर्च में शक्तिशाली वीर पुरुषों की निरंकुश सत्ता का युग था। उसने मेकियावेली के 'प्रिन्स' को बहुत प्रभावित किया। (2) **राष्ट्रीयता की भावना**—उस समय इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन के राज्य राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर सुदृढ़, संगठित और शक्तिशाली बने थे। मेकियावेली को इस विषय में फ्रांस का प्रत्यक्ष अनुभव था। इन शक्तिशाली राज्यों की तुलना में इटली पाँच राज्यों में बँटा हुआ था—दक्षिण में नेपल्स का राज्य, मध्य इटली में रोमन चर्च के प्रदेश, मीलान की डची, वेनिस और फ्लोरेन्स के गणराज्य। मेकियावेली इन सभी राज्यों का एकीकरण फ्रांस की भाँति एक राष्ट्रीय राजा के नेतृत्व में करना चाहता था। 'प्रिन्स' के अन्तिम अध्याय में उसने इटली की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए मेदिची घराने के गुइलियानो से यह आशा प्रकट की है कि वह इटली का एकीकरण करे और मूसा की भाँति उसे विदेशी बर्बरों की दासता से मुक्त करे। किन्तु उसका यह मनोवांछित कार्य 350 वर्ष बाद 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में कावूर और गैरीबाल्डी ने पूरा किया। उस समय पोप इटली के एकीकरण का विरोधी था। वह अपनी सत्ता सुदृढ़ करने के लिए इटली में विदेशी राजाओं और सेनाओं को बुलाता रहता था। 1494 ई० में मेकियावेली के सरकारी नौकरी के प्रवेश के साथ फ्रांस के चार्ल्स अष्टम का इटली पर आक्रमण हुआ और वह फ्रांस, स्पेन और जर्मनी के आपसी झगड़ों का अखाड़ा बन गया। इस समय इटली के छोटे राज्य अपनी रक्षा मुख्य रूप से कूटनीति और कपट के साधनों से ही कर सकते थे। मेकियावेली के कार्यकाल (1498-1512) के चौदह वर्षों में यह नीति पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी और उसकी रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। (3) **पुनर्जागरण**—यह आन्दोलन यूरोप में इटली से और इटली में मेकियावेली की मातृभूमि फ्लोरेन्स से आरम्भ हुआ था। इसके कारण कला, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में मध्यकालीन आदर्शों का परित्याग करके यूनानी और रोमन आदर्शों को अपनाया जा रहा था। धर्म और नैतिकता के क्षेत्र में भी यही दशा थी। उस समय के इस बौद्धिक आन्दोलन की विशेषता थी मध्ययुग के विचारों के प्रभाव से मुक्ति। फ्लोरेन्सवासी होने से मेकियावेली पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उसने इस बौद्धिक स्वतन्त्रता के कारण मध्ययुग के धार्मिक और नैतिक विचारों की मर्यादा से ऊपर उठते हुए प्राचीन रोमन ऐतिहासिकों का अध्ययन करके उनके उदाहरणों से अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन किया और निराले विचार रखे। उसके विचारों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

मेकियावेली के विचारों की विशेषताएँ: (1) मध्ययुगीन विचारधारा से आधुनिक विचारों का प्रवर्तक—उसके विचारों की पहली और बड़ी विशेषता यह है कि उसके विचार प्राचीन व मध्यकालीन विचारों की परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं— उसके साथ मध्ययुग की **विचार-पद्धति का अवसान और आधुनिक विचारों का सूत्रपात**

होता है। पिछले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि मध्ययुग में राजनीतिशास्त्र के विचारकों ने प्रधान रूप से इन समस्याओं तथा प्रश्नों पर विचार किया था—धर्मसत्ता और राजसत्ता का पारस्परिक सम्बन्ध, दो शक्तियों और दो तलवारों का सिद्धान्त, पोप के राजकीय मामलों में तथा राजाओं और सम्राट् के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार तथा दोनों के अधिकार-क्षेत्र, राज्य पर पोपों की प्रभुता के दावों के पक्ष-विपक्ष में दी जाने वाली प्रधान युक्तियों का खण्डन-मण्डन, पीटर द्वारा पोप को चर्च अधिकार दिए जाने की तथा कॉंस्टैण्टाइन के दान के तर्कों की समीक्षा। उन दिनों राजनीतिशास्त्र के विषय में सन्त आगस्टाइन आदि आरम्भिक ईसाई आचार्यों (Church Fathers) तथा मध्ययुग के सन्त थामस एक्विनास को मूर्धन्य विचारक समझते हुए इनके ग्रन्थों को उद्धृत किया जाता था, इनकी युक्तियों से अपने पक्ष का समर्थन किया जाता था। उस समय स्कालेस्टिक पद्धति को आदर्श समझते हुए उसके अनुसार अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता था।

किन्तु मेकियावेली की रचनाओं में उपर्युक्त मध्यकालीन विचारों में से एक भी विचार नहीं पाया जाता। उसने कहीं भी दो शक्तियों के सिद्धान्त की तथा मध्ययुग के अन्य विषयों की चर्चा नहीं की। उसके ग्रन्थ पढ़ते हुए हमें यह प्रतीत नहीं होता कि हम मध्ययुग में हैं। ऐसा लगता है कि हम सर्वथा नये युग और नये लोक में आ गए हैं। कोलम्बस ने 1492 ई० में नई दुनिया का पता लगाया था, मेकियावेली ने 1523 ई० में 'प्रिन्स' द्वारा राजनीतिक विचारों की नई दुनिया की खोज की। कोलम्बस ने यदि पृथ्वी गोल होने के क्रान्तिकारी विचार के आधार पर पश्चिम दिशा में समुद्री यात्रा करते हुए अमरीका के महाद्वीप का अन्वेषण किया था तो मेकियावेली ने नवीन ऐतिहासिक पद्धति द्वारा अपने नूतन विचार-जगत् का अनुसन्धान किया था।

(2) **ऐतिहासिक पद्धति**— मध्ययुग में धार्मिक और राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याओं का चिन्तन स्कालेस्टिक पद्धति के आधार पर किया जाता था, इसमें पूर्व पक्ष के रूप में विरोधी पक्ष की सभी युक्तियों को देने के बाद उत्तर पक्ष के रूप में उनका खण्डन प्रबल तर्कों के आधार पर किया जाता था। मेकियावेली ने इस पद्धति का परित्याग करते हुए ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया। उसका यह मत था कि सभी देशों और कालों में मनुष्य का स्वभाव एक जैसा रहता है,[1] वह एक ही प्रकार के उद्देश्यों से संचालित होता है तथा उसे एक ही प्रकार की समस्याओं का समाधान करना होता है। अतः वर्तमान काल की समस्याओं का समाधान भूतकाल के इतिहास के गम्भीर अनुशीलन से हो सकता है, और इसके आधार पर आगे होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की जा सकती है। उसका यह दावा था कि सर्वप्रथम उसी ने इतिहास और राजनीति के सम्बन्ध को ढूँढ़ निकाला है। उसने इस दृष्टि से प्राचीन यूनान और रोम के इतिहास का अध्ययन किया, लिवी के सुप्रसिद्ध इतिहास पर व्याख्या लिखी और 'प्रिन्स' के पन्नों में उसने अपने प्रत्येक मन्तव्य को रोम और यूनान के प्राचीन इतिहास के उदाहरणों से पुष्ट किया है।

इस दृष्टि से उसकी तुलना अरस्तू से की जा सकती है। अरस्तू ने अपनी राजनीति

1. डनिग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 291-92.

यूनान के 158 नगर-राज्यों के संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर लिखी थी। वह सर्वत्र विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते हुए उन्हें यूनानी इतिहास के उदाहरणों से पुष्ट करता है। मेकियावेली के ग्रन्थों में भी ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं। किन्तु उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक नहीं है, वह प्राचीन इतिहास के तथ्यों के निष्पक्ष अध्ययन, वर्गीकरण और निरीक्षण पर आधारित नहीं है। अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए मेकियावेली ने पहले से ही कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लिए हैं और इनके समर्थन के लिए वह प्राचीन इतिहास से प्रमाणों को ढूँढ़ता है। डनिंग ने इस विषय में उसकी तुलना ईसप से की है, जैसे वह नैतिक शिक्षा का समर्थन करने के लिए पशु-पक्षियों की मनोरंजक कहानियाँ गढ़ा करता था, वैसे ही मेकियावेली अपनी अनुभूति के आधार पर निकाले परिणामों (Empirical Conclusions) को इतिहास से पुष्ट करता है।[1]

(3) **संकीर्ण दृष्टिकोण, केवल शासन कला का प्रतिपादन**—अरस्तू और मेकियावेली दोनों ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, किन्तु दोनों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अरस्तू शासन-प्रबन्ध के विषयों का प्रतिपादन करते हुए भी राजनीतिशास्त्र के मौलिक प्रश्नों का तत्त्वचिन्तन करता है। किन्तु मेकियावेली का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित है, उसका तत्त्वदर्शन केवल इसी बात तक सीमित है कि राज्य की प्राप्ति और उसका संचालन किन विधियों से होना चाहिए[2] और इसमें भी वह शासक के दृष्टिकोण से सोचता है, शासित की दृष्टि से नहीं। उसके 'प्रिन्स' में यह बताया गया है कि किसी व्यक्ति को किन उपायों से राज्य लेना चाहिए और किन विधियों से उसको दृढ़ एवं विस्तृत बनाया जाना चाहिए। 'डिस्कोर्सेज' में इसका विवेचन है कि एक स्वतन्त्र नगर और गणराज्य साम्राज्य का निर्माण किस प्रकार कर सकता है।

(4) **राजनीति का नैतिकता और धर्म से पृथक्करण**—मेकियावेली के विचारों की एक प्रधान विशेषता राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के प्रभाव से सर्वथा मुक्त, पृथक् और स्वतन्त्र करना है। इस दृष्टि से वह सर्वथा मौलिक विचारक था और प्राचीन एवं मध्यकालीन विचारकों से सर्वथा भिन्न था। सोफिस्टों के अतिरिक्त सभी यूनानी विचारक सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू नैतिक जीवन को बहुत महत्त्व देते थे। सिसरो आदि स्टोइक विचारक प्राकृतिक नियम (Law of Nature) के रूप में नैतिक नियमों को स्वीकार करते थे। चर्च के विचारक ईश्वरीय नियमों (Divine Laws) में तथा ईश्वरीय ज्ञान में अगाध श्रद्धा रखते थे, उनका समूचा राजनीतिक चिन्तन धर्म से अनुप्राणित था।

किन्तु मेकियावेली मध्ययुग का पहला ऐसा विचारक है, जिसने राजनीति में स्पष्ट रूप से नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि दी, धर्म को धता बताते हुए अर्धचन्द्र देकर उसे इस क्षेत्र में प्रभुता के पद से वंचित किया और इस प्रकार प्राचीन तथा मध्य काल से चली आने वाली विचारधारा से विच्छेद स्थापित किया। वह

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 293.
2. वही, पृ० 294.

'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि शक्ति और सत्ता प्राप्त करने व सुदृढ़ बनाने के लिए सब प्रकार की अनीति, कुकर्म, अधर्म, पाप, विश्वासघात, हत्या, हिंसा और क्रूरता जायज है। यद्यपि राजनीति में व्यावहारिक रूप से इस सिद्धान्त का पालन अनादिकाल से हो रहा है, तथापि इसे नग्न सत्य के रूप में सर्वप्रथम मेकियावेली ने ही घोषित किया। उसका यह कहना है कि राजा के लिए धर्मविहित शुचिता और पवित्रता का जीवन बिताना सराहनीय भले ही हो, किन्तु इतिहास में उसी राजा को अधिक सफलताएँ मिली हैं, जिसने धार्मिक जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। अतः उसे ऊपर से दयालु, विश्वासी, मानवीय, धार्मिक, सच्चा होने का ढोंग करते हुए आवश्यकता पड़ने पर निर्दयी, विश्वासघाती, अमानवीय, अधार्मिक और झूठा बनने के लिए तैयार रहना चाहिए और इसे उसने पोप अलेक्ज़ैण्डर षष्ठ के उदाहरण से पुष्ट करते हुए कहा है कि उसने लोगों को धोखा देने के सिवा और कुछ नहीं किया, उसके धोखे उसकी इच्छाओं के अनुसार सफल होते रहे।[1] वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता है और कहता है कि राजा में जहाँ एक ओर शेर का साहस होना चाहिए, वहाँ दूसरी ओर लोमड़ी की धूर्त्तता, मक्कारी और चालाकी भी आवश्यक है। "राजा को विजय पर तथा राज्य को सुस्थिर बनाए रखने पर ही ध्यान देना चाहिए और यदि वह अपने इस लक्ष्य में सफल रहा तो उसका हर साधन सम्मानपूर्ण और प्रशंसनीय समझा जाएगा।" 'डिस्कोर्सेज़' में उसने लिखा है कि "मैं यह विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन संकट में हो तो राजाओं और गणराज्यों को रक्षा के लिए विश्वासघात और कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।" वह यह समझता है कि सांसारिक सफलता सबसे बड़ा साध्य या लक्ष्य है, उसके लिए अनैतिक साधनों को अपनाना अनुचित नहीं, किन्तु आवश्यक है। साध्य की सफलता साधनों को पवित्र या न्यायोचित बना देती है। उसने क्रूरता, विश्वासघात आदि जघन्य कृत्य करने वालों के अनेक उदाहरण 'प्रिन्स' में दिए हैं। रोम के विरुद्ध युद्ध करने वाले कार्थेज के प्रसिद्ध सेनापति हन्नीबाल (247-183 ई० पू०) की सेना में कभी कोई विद्रोह नहीं हुआ, 'यह सफलता उसे तभी मिल सकी जब उसने अमानवीय क्रूरता का परिचय दिया'। राजसत्ता को हथियाने के लिए विश्वासघात के उदाहरण देते हुए उसने सिराक्यूज़ के एगेथोक्लीज़ का उल्लेख किया है जिसने एक दिन प्रातःकाल सिराक्यूज़ के निवासियों और राज्य परिषद् के सदस्यों को गणतन्त्र के शासन के बारे में आवश्यक परामर्श के बहाने बुलाया और अपने सैनिकों द्वारा समस्त धनी व्यक्तियों और राज्य परिषद् के सदस्यों को मरवा डाला। इसी प्रकार ओलिवेरोत्तो ने अपने मामा फोगलियानी को तथा फर्मो शहर के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों को दावत पर बुलाकर और गुप्त मन्त्रणा के लिए एक कमरे में बुलाकर मरवा डाला। उसने बागलियोनी की निन्दा इसलिए की है कि उसे जब पोप जूलियस द्वितीय की हत्या करने का स्वर्ण अवसर मिला तो उसने लाभ क्यों नहीं उठाया।

1. प्रिन्स, एवरीमैन लाइब्रेरी का मैरियट द्वारा अनुवादित संस्करण, पृ० 98-99, 210। इटली में यह कहावत प्रचलित है कि अलेक्जेण्डर ने जो बात कही, उसे कभी पूरा नहीं किया' (उसके बेटे) सीज़र बोर्जिया ने जो किया, उसे कभी नहीं कहा।

गनीमत यही है कि मेकियावेली ऐसे जघन्य कृत्य सफलता पाने के लिए एक ही बार करने को कहता है। "एक बार इष्टसिद्धि हो जाने के बाद फिर उनका प्रयोग न किया जाए और फिर **उनके स्थान पर** ऐसे कार्य किए जाएँ जिनसे प्रजा को लाभ ही लाभ हो।" यह व्यवस्था भी उसने राज्य को सुदृढ़ रखने की दृष्टि से ही की है क्योंकि बार-बार ऐसे कार्य करने से राजा की स्थिति संकट में पड़ सकती है। अतः एक बार में ही उसे अधिक-से-अधिक दुष्कृत्य और कुकर्म कर लेने चाहिएँ।

मेकियावेली ने घोर अनैतिक कार्यों का समर्थन तथा राजनीति और नीतिशास्त्र का पृथक्करण तीन कारणों के आधार पर किया है—(1) यूनानी दार्शनिकों की भाँति वह राज्य को सर्वोत्तम और सर्वोच्च संगठन समझता है। यह मनुष्यों की रक्षा और कल्याण के लिए अत्यावश्यक है। राज्य के हित सब व्यक्तियों के हितों से ऊपर हैं। अतः जब "राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो इस बात का कोई विचार नहीं करना चाहिए कि क्या न्यायोचित है या क्या अन्यायपूर्ण है, क्या दयालुतापूर्ण है या क्या निर्दयतापूर्ण, क्या गौरवपूर्ण है, या क्या निर्लज्जतापूर्ण।" (2) **दूसरा कारण** उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण — 'वस्तुओं के वास्तविक सत्य तक पहुँचने की आकांक्षा' थी। आगे बताया जाएगा कि वह मनुष्य को घोर स्वार्थी मानता था। राजनीति की प्रधान प्रेरणा स्वार्थसिद्धि है। अतः इसकी पूर्ति के लिए किया गया प्रत्येक कार्य न्यायोचित है। उस समय की राजनीति में स्वार्थ का बोलबाला था, ईसाइयत के जीवन को ऊँचा उठाने वाले तत्त्व बहुत क्षीण हो चुके थे। जब पोप अलेक्ज़ैण्डर षष्ठ के सम्बन्ध में मेकियावेली का यह मत था कि उसने जीवन-भर धोखा देने के सिवाय कोई दूसरा कार्य नहीं किया तो अन्य व्यक्तियों के नैतिक आचार की कल्पना स्वयमेव की जा सकती है। इस परिस्थिति में उनका उपर्युक्त सिद्धान्त बनाना सर्वथा स्वाभाविक था। (3) **तीसरा कारण** उसका शक्ति को और वीर पुरुषों को असाधारण महत्त्व देना था। उसके मत में शक्तिलाभ की इच्छा ही मानव-समाज की वास्तविक आधारशिला है। शक्ति प्राप्त करने वाले वीर पुरुषों को वह वन्दनीय समझता था। अतः शक्ति प्राप्त करने के लिए किसी भी उपाय का अवलम्बन करना उचित समझता था। उसके इस दृष्टिकोण के कारण धार्मिक प्रभाव के सर्वथा मुक्त, कोरी सांसारिक सफलता को महत्त्व देने वाले इहलोकवादी, भौतिक और धर्महीन राजनीतिशास्त्र का जन्म हुआ। वह राज्य को विशुद्ध रूप से मानवीय संस्था समझता था, उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं मानता था। फ्लोरेन्स के गणराज्य में सैवानेरोला नामक ईसाई साधु के शासन के समय में वह राजनीति में धर्म के हस्तक्षेप के दुष्परिणाम देख चुका था, अतः उसने राजनीति को ईसाइयत और धर्मशास्त्र के बन्धनों से सर्वथा मुक्त किया।

मेकियावेली के विचारों की अन्य विशेषताएँ बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद हैं। उससे पहले राजनीतिशास्त्र में प्रमाणवाद का प्राधान्य था। सब सिद्धान्त बाइबल के और ईसाई धर्माचार्यों के वचनों के आधार पर तय किए जाते थे। उसने सब प्रश्नों को प्रमाणवाद की उपेक्षा कर विवेक और बुद्धि की कसौटी से तय करना शुरू किया। वह व्यक्ति के साम्पत्तिक अधिकारों का भी प्रबल समर्थक था। उसने राजा को यह

सलाह दी कि वह नागरिकों या प्रजा की सम्पत्ति में कोई हस्तक्षेप न करे।

मेकियावेली के प्रमुख सिद्धान्त—(1) मानव की दानवता और स्वाभाविक दुष्टता—प्लेटो मनुष्य को स्वभावत: सद्गुणी समझता था, किन्तु मेकियावेली मानव को दानव समझता है, उसे प्रकृति से घोर स्वार्थी और दुष्ट मानता है। उसकी सब सामाजिक और राजनीतिक चेष्टाओं तथा क्रियाओं का मूल घोर स्वार्थवाद की भावना हैं। प्रिन्स के बहुधा उद्धृत 17वें अध्याय में उसने लिखा है, "सामान्य रूप से मनुष्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे कृतघ्न, चंचल, झूठे, कायर और लोभी होते हैं। जब तक आपको सफलता मिलती है, वे पूर्णरूप से आपके बने रहेंगे। वे आपके लिए उस समय तक अपने रक्त, सम्पत्ति, जीवन और बच्चों का बलिदान करने के लिए तैयार रहेंगे, जब तक इनकी आवश्यकता दूर रहती है, ज्यों ही यह आवश्यकता निकट आती है तो वे आपके विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं।"····"मनुष्य किसी से तभी तक प्रेम करते हैं, जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है, जब उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो वे विद्रोह कर देते हैं।" उसका कहना है कि मनुष्य इतने सीधे, सरल और अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लालायित रहते हैं कि जो धोखा देना चाहता है, वह धोखा खाने वाले व्यक्तियों को पा लेता है, मनुष्य प्राय: दुर्बल, अज्ञानी और दुष्ट होते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर ही भले बनते हैं। 'डिस्कोर्सेज़' में भी उसने मानव की दानवता का विस्तार से प्रतिपादन किया है। हॉब्स की तरह वह यह मानता है कि मनुष्य में असीम और अनन्त इच्छाएँ हैं, इनकी पूर्ति के लिए ही वह सब कार्य करता है, उसकी एक बड़ी इच्छा सम्पत्ति रखने की होती है। **मनुष्य पिता की मृत्यु भूल जाते हैं, पर पैतृक सम्पत्ति का छीना जाना नहीं भूलते** हैं। अत: वह राजा को यह उपदेश देता है कि मनुष्यों को प्राणदण्ड भले ही दे, किन्तु उनकी सम्पत्ति कभी न छीने। अपने भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए वे स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और स्वशासन की आकांक्षा रखते हैं।

(2) राज्य का प्रादुर्भाव और स्वरूप—मानव-स्वभाव की दानवता और दुष्टता में अगाध विश्वास रखने के कारण वह राज्य के आविर्भाव का कारण मनुष्य का स्वार्थ समझता है। व्यक्ति शक्ति का पुजारी है, अत: वह अपनी शक्ति को और राज्य को बढ़ाना चाहता है। राज्य की मुख्य विशेषता उसका निरन्तर विस्तार है। "सब मानवीय व्यापार गतिशील हैं, यह असम्भव है कि कोई निश्चल खड़ा रहे।" या तो उन्नति की ओर बढ़ना होगा या पतन की ओर। अत: कोई राज्य स्थिर नहीं रह सकता है, उसका विस्तार अवश्यम्भावी है। उसे यूनानियों का लघु नगर-राज्य पसन्द नहीं है, वह निरन्तर वृद्धिशील रोमन साम्राज्य का उपासक है। उसके मतानुसार **'राज्य का विस्तार होने रहना चाहिए, अन्यथा वह नष्ट हो जाएगा।'**

उसने राजतन्त्रीय राज्यों के प्रसार का **प्रिन्स** में तथा गणराज्यों के प्रसार का **डिस्कोर्सेज़** में वर्णन किया है। 'प्रिन्स' में पहले राज्य की प्राप्ति के उपायों का प्रतिपादन साइरस, रोमुलस, थेसियस के उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। इन्होंने अपनी योग्यता और साधनों से राज्य का निर्माण किया था। सीज़र बोर्जिया की सफलता का कारण उसका भाग्य और दूसरों की सहायता थी। राज्य प्राप्त कर लेने

के बाद राजा अपनी शक्ति बढ़ाने की कभी पूरी न होने वाली तृष्णा के कारण राज्य विस्तार के लिए बाधित होता है। इस विषय में राजाओं द्वारा अपनाए जाने वाले आचरण का उल्लेख आगे होगा। गणराज्यों के लिए भी शक्ति का विस्तार करना आवश्यक होता है। रोमन गणराज्य के उदाहरण के आधार पर मेकियावेली इसके लिए निम्न बातें आवश्यक मानता है—(1) नगर की जनसंख्या में वृद्धि करना, (2) मित्रों की प्राप्ति, (3) विजित प्रदेशों में उपनिवेश बसाना, (4) लूट के माल को कोश में डालना, (5) किलों के घेरे डालने के स्थान में खुले-मैदानों में जमकर लड़ाई करना, (6) सुशिक्षित सेना को रखना। उसके समय में वेतन-भोगी सैनिकों की प्रथा प्रचलित थी। वह इसके दुष्परिणामों को देखते हुए इस परिणाम पर पहुँचा था कि गणराज्य में नागरिकों को सुशिक्षित करके उनकी राष्ट्रीय सेना बनानी चाहिए। उसने कहा था कि धन युद्ध का साधन नहीं है। "धन से सदैव अच्छे सैनिक प्राप्त नहीं किए जा सकते, किन्तु अच्छे सैनिकों से सदैव धन प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

राज्य की महत्ता का आधार वह भौतिक शक्ति तथा छल-कपट (Craft)—दोनों को समझता था। उसका कहना था कि कोई मनुष्य शक्ति और कपट के बिना बड़ा नहीं बन सकता। इन दोनों में छल-कपट अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि शक्ति कपट के बिना अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होती, किन्तु कपट शक्ति के बिना भी सफल हो जाता है।

(3) **राजा का कर्त्तव्य और आचरण**—प्लेटो का आदर्श राजा कामिनी-कांचन के मोह से ऊपर उठा हुआ दार्शनिक व्यक्ति था। किन्तु मेकियावेली का आदर्श राजा वह है जो किन्हीं भी उपायों से राजनीतिक शक्ति उपलब्ध करके उसका निरन्तर विस्तार करता है। 'प्रिन्स' के 26 अध्यायों में मुख्य रूप से नया प्रदेश जीतकर अपना शासन स्थापित करने वाले नरेश को अपना राज्य बनाए रखने की शिक्षा यूनान और रोम के प्राचीन इतिहास के तथा वर्तमान इतिहास के उदाहरणों के आधार पर दी गई है। उसकी मुख्य शिक्षाएँ ये हैं: मनुष्य मानवीयता और पशुता के अंशों से मिलकर बनता है, अतः राजा को इन दोनों के एक साथ व्यवहार करने के उपायों का ज्ञान होना चाहिए। राजा में शेर की शूरता और लोमड़ी की चालाकी होनी चाहिए। "प्रत्येक मनुष्य यह स्वीकार करता है कि वह राजा प्रशंसनीय होता है, जो विश्वासघात और चालाकी से बचकर अपने सब काम ईमानदारी से करता है। किन्तु अनुभव से यह ज्ञात होता है कि उन राजाओं ने, जिनके वचन का कोई मूल्य न था और जो चालाकी तथा मक्कारी में सबसे आगे थे, उनकी अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य किए जो अपने सब कार्यों को ईमानदारी से करते थे।" मनुष्य स्वभावतः बुरा होता है और वह स्वयं धर्म के अनुसार आचरण नहीं करता, अतः राजा के लिए भी मनुष्यों के साथ धर्म का पालन आवश्यक नहीं है। राजा को ऊँचे दर्जे का बहुरूपिया और ढोंगी होना चाहिए, शत्रुओं को मारकर उनके लिए आँसू बहाने चाहिएँ। उसे ऊपर से यह दिखाना चाहिए कि वह दयालु, वचनों का पालन करने वाला, सच्चा और धार्मिक है; किन्तु उसकी मानसिक रचना ऐसी होनी चाहिए कि

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 324-25.

वह आवश्यकता पड़ने पर क्रूरता, विश्वासघात, अधर्म और अनीति के सभी कार्य कर सके, क्योंकि राजाओं के मामलों में उनको मिलने वाली सफलता उनके अनीतिपूर्ण साधनों को भी न्यायोचित बना देती है।

प्रत्येक राजा को दयालु होते हुए भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का अनुचित लाभ न उठाए। नये राज्यों में नरेश को क्रूर होने से नहीं डरना चाहिए। सीज़र बोर्जिया बड़ा क्रूर समझा जाता था, किन्तु उसकी क्रूरता से रोमान्या (Romogna) प्रान्त में शान्ति स्थापित हो गई। हन्नीबाल ने अमानवीय क्रूरता से अपनी सेना में शान्ति बनाए रखी। प्रजा में राजा का आतंक सदैव बना रहना चाहिए। उसे अपने वचनों का पालन उसी समय तक करना चाहिए, जब तक इससे उसे कोई हानि या घाटा न हो। उसे सदैव कीर्ति प्राप्त करने के लिए उद्योग करना चाहिए और इस बात का प्रयत्न करना चहिए कि वह प्रजा की घृणा का पात्र न बने। इससे बचने के लिए उसे अपने राज्य के नागरिकों की सम्पत्ति नहीं छीननी चाहिए, स्त्रियों का सतीत्व नहीं भंग करना चाहिए। इन दोनों कार्यों के न होने पर अधिकांश जनता सुखी और सन्तुष्ट रहती है। यदि राजा को प्रजा में चंचल, छिछोरा (Frivolous), स्त्रैण, नीच प्रकृति का और अनिश्चयी समझा जाए तो उसका मान घट जाता है। अतः, उसे सदैव ऐसे कार्य करने चाहिएँ, जिनसे उसकी महानता, उत्साह, गम्भीरता और सहिष्णुता प्रकट हो। उसे उपयुक्त समय पर प्रतिवर्ष प्रजा के मनोरंजन के लिए मेलों की व्यवस्था करनी चाहिए। लड़ाई में प्राप्त लूट का माल चुपचाप अपने कोश में न रखकर उदारतापूर्वक प्रजा और सैनिकों में बाँटना चाहिए। राजा को दण्ड आदि के अप्रिय कार्यों का पालन अपने अफसरों द्वारा कराना चाहिए, क्योंकि इनके कारण होने वाली बदनामी उन अफसरों के सिर पर पड़ेगी और यदि इनमें कुछ पीछे हटना पड़ा तो वह दोष अफसरों के सिर पर मढ़-कर आसानी से बच सकता है। इसके विपरीत प्रजा को प्रसन्न करने वाले कार्य—पुरस्कारों, उपाधियों का वितरण स्वयं करना चाहिए ताकि वह जनता में अधिक लोकप्रिय हो। राजा को साहित्य और संगीत का संरक्षक, कलाकारों का सम्मान करने वाला गुणग्राहक होना चाहिए। राजा को मन्त्रियों के चुनने में बड़ी सावधानी बरतनी चहिए। चापलूसों से बचा रहना चाहिए। उसे प्रजा का दिमाग बड़ी योजनाओं में लगाए रहना चाहिए। जब वह किसी नये राज्य पर अधिकार करे तो उसे वहाँ के पुराने संविधान में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

मेकियावेली यह मानता है कि आदर्श और व्यवहार में बड़ा अन्तर है, कोई व्यक्ति आदर्श राजा नहीं हो सकता है, उसे नीतिशास्त्र या धर्म द्वारा बताए गए आदर्शों के अनुसार जीवन-यापन नहीं करना चाहिए, वह ऐसा करेगा तो दुःखी रहेगा। धर्म के अनुसार उसे ईमानदार और दयालु होना चाहिए, किन्तु सफलता पाने के लिए उसे बेईमान और क्रूर होना चाहिए। उसके मतानुसार "हम जिस प्रकार रहते हैं और हमें जिस प्रकार रहना चाहिए, इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जो राजा वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा करके आदर्श का पालन करता है, वह अपने विनाश और विध्वंस को स्वयमेव बुलाता है। क्योंकि जो व्यक्ति नीतिशास्त्र के आदर्शों के

अनुसार ईमानदार बना रहना चाहता है, वह सदैव कष्ट पाएगा क्योंकि संसार में बेईमानों की बहुतायत है। अतः जो राजा अपनी शक्ति बनाए रखना चाहता है, उसके लिए यही उचित है कि वह बेईमान बनना सीखे और परिस्थितियों के अनुसार अपने इस ज्ञान का प्रयोग करे।"

इस बेईमानी के अतिरिक्त वह राजा के लिए क्रूरता के कार्यों का भी समर्थन करता हुआ इस विषय में विस्तृत निर्देश देता है कि ये कार्य किस प्रकार किए जाने चाहिएँ। "क्रूरतापूर्ण कार्यों के बारे में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे अच्छे ढंग से किए जाते हैं या बुरे ढंग से। अच्छे ढंग से किए जाने वाले क्रूर कार्य वें हैं, जो एकदम किए जाते हैं, जिनका उद्देश्य अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना होता है और जो कार्य एक बार करने के वाद दुबारा नहीं किए जाते। इस विषय में पहले से अच्छी तरह यह विचार कर लेना चाहिए कि क्रूरता के कौनसे कार्य आवश्यक हैं, इन्हें एक बार में ही कर डालना चाहिए और इसके बाद प्रजा को यह आश्वासन देना चाहिए कि ऐसे कार्यों की पुनरावृत्ति नहीं होगी, अन्यथा आपको सदैव अपने हाथ में तलवार रखनी पड़ेगी। अकस्मात् और सहसा किए जाने वाले प्रहारों के बारे में लोग अधिक देर तक बुरा अनुभव नहीं करते, इनसे सब प्रकार के अच्छे परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत, राजा को अपनी कृपाएँ प्रजा को शनैः-शनैः देनी चाहिएँ ताकि प्रजा चिरकाल तक इनका उपभोग करते हुए राजा का गुणगान कर सके।"

मेकियावेली ने राजा के लिए इस बात पर बल दिया कि वह प्रजा पर नाना प्रकार की कृपाएँ तथा उपकार करके अपना सौम्य रूप दिखाने के स्थान पर अपने क्रूर कार्यों द्वारा रौद्र रूप अधिक प्रकट करे, क्योंकि यह शासन की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली और लाभदायक होता है। उसके शब्दों में, "यदि सम्भव हो तो राजा को एक ही समय में अपना सौम्य तथा रौद्र रूप प्रदर्शित करना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो और दोनों में से चुनाव करना हो तो यह अधिक अच्छा है कि वह अपना ऐसा रौद्र रूप दिखाए, जिससे प्रजा भयभीत रहे। क्योंकि राजा के प्रति प्रेम उसके द्वारा किए गए उपकारों के कारण होता है, किन्तु मनुष्य का स्वभाव इतना दुष्ट है कि यदि राजा के किसी कार्य से मनुष्यों के स्वार्थों को थोड़ी-सी भी क्षति पहुँचती है तो वे उसके उपकारों को भूल जाते हैं। किन्तु राजा का आतंक उसके रौद रूप के कारण सदा बना रहता है। मनुष्य प्रेम को भूल जाते हैं, पर दण्ड के भय को कभी नहीं भूलते हैं। मनुष्य अपने स्वार्थ पूर्ण होने के कारण राजा से प्रेम करते हैं, किन्तु राजदण्ड के भय से उससे भयभीत और आतंकित रहते हैं। अतः राजा को अपने दण्ड का भय सदा बनाए रखना चाहिए। किन्तु राजा को अपने दण्ड की शक्ति का प्रयोग करते हुए ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे प्रजा राजा से घृणा या द्वेष करने लगे। ऐसे कार्य प्रजा की सम्पत्ति छीनना तथा स्त्रियों को सताना है।"

(4) शासन-पद्धति के विभिन्न प्रकार—प्रायः मेकियावेली को राजतन्त्र का पक्षपाती समझा जाता है। इस धारणा का आधार मुख्य रूप से उसका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिन्स' है, जिसमें उसने राजा को आवश्यकता पड़ने पर समस्त नैतिक बन्धनों से ऊपर उठकर शक्तिशाली राज्य स्थापित करने के लिए उपर्युक्त परामर्श दिए हैं। वह फ्रांस,

स्पेन, इंगलैण्ड के सुदृढ़ एवं शक्तिशाली राजतन्त्रों का प्रशंसक था और अनेक राज्यों में विभक्त होने के कारण शोचनीय दुरवस्थापन्न इटली के उद्धार के लिए भी प्रबल राजतन्त्र को आवश्यक समझता था। अतः उसे राजतन्त्र का समर्थक समझा जाना स्वाभाविक है।

किन्तु वह राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था नहीं समझता था। यह 'डिस्कोर्सेज़' में उसके विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों के वर्गीकरण और इनके गुण-दोषों के विश्लेषण से स्पष्ट है। इनके वर्गीकरण में वह अरस्तू का अनुसरण करता है। इनके तीन मुख्य भेद राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, वैध प्रजातन्त्र तथा इनके तीन विकृत रूप तानाशाही, अल्पजनतन्त्र या धनिकतन्त्र और प्रजातन्त्र मानता है और पोलिबियस तथा सिसरो की भाँति मिश्रित शासन-प्रणाली को सर्वोत्तम तथा सबसे अधिक स्थिर समझता है। उसने **'प्रिन्स'** में राजतन्त्र का विवेचन किया है और **'डिस्कोर्सेज़'** में गणराज्य का।

डनिंग के मतानुसार अरस्तू की भाँति उसका झुकाव गणराज्य की प्रणाली की ओर है और इस विषय में उसके विचार यूनानियों से मिलते हैं।[1] उसके मत में जहाँ सामान्य रूप से आर्थिक समानता पाई जाती हो, वहाँ गणराज्य (Commonwealth) की प्रणाली न केवल सर्वोत्तम है, किन्तु इस अवस्था में केवल यही पद्धति सम्भव हो सकती है। वह कई कारणों से गणराज्य की व्यवस्था को राजतन्त्र से उत्कृष्ट समझता है: (1) अरस्तू की भाँति उसकी भी यह धारणा है कि समग्र रूप से जनता एक राजा से अधिक समझदार होती है। "जनता राजा की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और दृढ़ होती है। उसके निर्णय अधिक अच्छे होते हैं। 'जनता का निर्णय ईश्वर का निर्णय होता है।'[1] इस कथन में बहुत-कुछ तथ्य है। जनता आने वाली भली और बुरी बातों का अनुमान इतने आश्चर्यजनक ढंग से लगा लेती है, मानो उसमें कोई अलौकिक शक्ति हो। यदि समान योग्यता के दो वक्ता दो विभिन्न मतों का प्रतिपादन करते हैं तो वह लाभकारी मत के पक्ष में ही अपना निर्णय देती है। सरकारी अधिकारियों के निर्वाचन में भी वह अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देती है। वह किसी ऐसे व्यक्ति का निर्वाचन नहीं करती जो बदनाम हो या जो भ्रष्टाचार का दोषी हो। जिन राज्यों का शासन जनता के हाथ में होता है, वे बड़े वेग से उन्नति करते हैं। गणतन्त्रात्मक सरकारें स्थायी भी होती हैं।"—(डिस्कोर्सेज़)। (2) अधिकारियों का चुनाव और व्यक्तियों का सम्मान करने में जनता का निर्णय सामान्य रूप से ठीक होता है। (3) राजा भले ही राजनीतिक और कानूनी संस्थाओं की स्थापना करने में अधिक सफल हो, किन्तु इन्हें बनाए रखने की क्षमता गणराज्य में अधिक होती है। (4) गणराज्य राजाओं की अपेक्षा सन्धियों के पालन का कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकते हैं क्योंकि राजा जब चाहे अपनी सन्धि को भंग कर सकता है, किन्तु गणराज्यों में सन्धियों को पुष्ट अथवा भंग करने के लिए सब नागरिकों की सहमति आवश्यक होती है। इसे पाने में काफी समय लगता है, अतः एक बार सन्धि हो जाने पर वह सुगमता से नहीं टूटती। दूसरे देश सन्धिपालन के लिए राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र पर अधिक भरोसा रख सकते

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 307.

हैं । (5) गणराज्य इसलिए भी श्रेष्ठ है कि इसमें सभी व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है, उन्हें शासन-कला की शिक्षा मिलती है। इससे प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित होता है । किन्तु राजतन्त्र में यह लाभ केवल राजा को ही मिलता है, प्रजा राजकार्य के संचालन का अनुभव पाने से सर्वथा अछूती रहती है ।

मेकियावेली गणतन्त्र के गुणों के साथ उसके दोषों को भी समझता है तथा उनके निवारण करने के उपायों का निर्देश करता है । गणराज्यों का **पहला** दोष यह है कि संकटकाल की परिस्थितियों का सामना करने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती है । ऐसे समय में गणराज्यों में शक्तिशाली व्यक्ति का शासन होना चाहिए । **दूसरा** दोष गणराज्य में ऊँचे सरकारी पदों पर किसी एक व्यक्ति का नियन्त्रण न होने से इनका अन्यायी हो जाना है । ऐसे अधिकारियों के कार्यों की जाँच की और दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए । **तीसरा** दोष दलबन्दी का है । गणराज्यों में ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है । उसके मतानुसार प्रत्येक दल को अपने विचारों की अभिव्यक्ति की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए । यदि इसे रोका जाएगा तो असन्तोष की आग भीतर ही भीतर सुलगती रहेगी और किसी भी समय विद्रोह के रूप में फूट सकती है । अत: उन्हें असन्तोष प्रकट करने का पूरा अवसर देना चाहिए ।[1] दलबन्दी के कारण राज्य में फूट न पड़े, इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य की जनसंख्या एक ही जाति की हो। उसमें जितने विजातीय तत्त्व होंगे, उतने ही सांस्कृतिक भेद होंगे तथा सामाजिक परम्पराएँ भिन्न होंगी । इनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था गणराज्य को विघटित कर देगी । अत: गणराज्य में सजातीय तत्त्वों की प्रधानता होनी चाहिए । इसके साथ ही गणराज्य में बनाए जाने वाले सब कानून उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुकूल होने चाहिएँ, अन्यथा राज्य के विभिन्न तत्त्वों के पारस्परिक संघर्ष में वृद्धि होने से राज्य की सत्ता के लिए संकट उत्पन्न हो जाएगा ।

राजतन्त्र के सम्बन्ध में उसका यह विचार है कि निर्वाचित राजतन्त्र स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए रखने का सबसे प्रभावशाली साधन है। इसमें कुलीनतन्त्र (Aristocracy) की अपेक्षा आन्तरिक झगडे कम होते हैं । वह भूमिपति सामन्तों द्वारा संचालित शासन-प्रणाली (Gentilnomini) का घोर विरोधी है। उच्च वर्ग में अधिकार की लालसा होती है, सामान्य जनता शान्ति और व्यवस्था चाहती है । जब सामन्तों के पास अपने दुर्ग और स्वतन्त्र शक्ति हो तो यह सामाजिक व्यवस्था के लिए घातक होती है और शासन को असम्भव बना देती है । इटली के कई हिस्सों में ऐसी दशा होने के कारण न केवल वहाँ गणराज्य की स्थापना असम्भव है, किन्तु राजतन्त्र भी स्थापित नहीं हो सकता ।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में मेकियावेली का यह विचार है कि विभिन्न समयों और विभिन्न परिस्थितियों में विविध प्रकार की शासन-प्रणालियाँ उपयुक्त होती हैं, कोई एक शासन-प्रणाली सब परिस्थितियों के लिए ठीक नहीं होती है। विभिन्न शासन-प्रणालियों में उसका झुकाव समानता रखने वाले नागरिकों के गणराज्य की ओर है ।

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 321.
2. वही, पृ० 209,

(5) कानून का विचार—मध्ययुग में ईश्वरीय (Divine) और प्राकृतिक कानून (Natural law) की सत्ता स्वीकार की जाती थी। वह इन दोनों को अस्वीकार करता है। पहले यह बताया जा चुका है कि एक्विनास मानव-जीवन के दो प्रकार के उद्देश्य मानता था—ऐहिक सुख की प्राप्ति तथा पारलौकिक सुख या मोक्ष की उपलब्धि। पहले के लिए वह मानवीय कानून को तथा दूसरे उद्देश्य के लिए ईश्वरीय व्यवस्था को आवश्यक समझता था। मेकियावेली मानव का एक ही उद्देश्य शक्ति और सत्ता को प्राप्त करना मानता है, अतः उसे मोक्ष की प्राप्ति में सहायक ईश्वरीय कानून को मानने की आवश्यकता नहीं है।

प्राकृतिक कानून का अभिप्राय यह है कि न्यायोचित मानवीय आचरण और व्यवहार के कुछ शाश्वत नियम हैं, प्रत्येक भले आदमी को इनका पालन करना चाहिए। मेकियावेली इनकी सत्ता से इसलिए भी इनकार करता है कि उसकी दृष्टि में मनुष्य का उद्देश्य शक्ति और ख्याति की प्राप्ति है और उसके चरित्र का मूल्यांकन और आचरण के नियमों का निर्धारण इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए। अतएव उसने राजा के आचरण के लिए ऊपर बताए नियमों को निश्चित किया है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के कानूनों का विचार अस्वीकार करते हुए भी मेकियावेली राज्य द्वारा नागरिकों के आचरण के नियन्त्रण के लिए बनाए नियमों तथा कानून की महत्ता को स्वीकार करता है। उसके मत में "राज्य की स्थापना और संरक्षण इसके कानून की उत्कृष्टता पर निर्भर है। नागरिकों के सब गुणों का मूल स्रोत कानून है। राजतन्त्र में भी स्थायी शासन की सबसे बड़ी शर्त यह है कि यह कानून द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए।"[1] मेकियावेली इस बात पर बड़ा बल देता है कि सरकारी अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले हिंसा के अवैध कार्यों को रोकने के लिए कानूनी व्यवस्था होनी चाहिए। वह राजा को शक्ति के प्रयोग में नर्मी और विवेक प्रदर्शित करने की सलाह देता हुआ कहता है कि उसे प्रजा की सम्पत्ति और स्त्रियों से छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए। शक्ति का परम उपासक होते हुए भी मेकियावेली यह समझता था कि उसके प्रयोग की सीमाएँ हैं, राज्य केवल बल तथा भय पर आधारित नहीं होता है, उसको सुप्रतिष्ठित करने के लिए कानून भी आवश्यक है। अतः राज्य के लिए बुद्धिमान् कानून-निर्माता होना चाहिए। वह कानून के नियमों द्वारा न केवल नागरिकों के कार्यों का नियन्त्रण करता है, किन्तु नैतिक गुणों के विकास और चरित्र-निर्माण का भी कार्य करता है।

(6) धर्म के प्रति दृष्टिकोण—राज्य की आवश्यकता के लिए धर्मविरुद्ध कार्यों का प्रबल समर्थक होने पर भी वह राजनीतिक दृष्टि से धर्म को बड़ा उपयोगी समझता है क्योंकि धर्म के भय से लोग राज्य के नियमों का पालन करते हैं। उसका यह मत है कि "धार्मिक नियमों का पालन गणराज्यों की महत्ता का कारण होता है, इनकी उपेक्षा राज्यों के विनाश को उत्पन्न करती है। जहाँ भगवान् का भय नहीं है, वहाँ यदि राजा का भी भय न हो तो राज्य जल्दी ही नष्ट हो जाएगा। राजा का भय कुछ समय के लिए धर्म के अभाव की पूर्ति कर सकता है, किन्तु राजाओं का जीवन

1. सेबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 298.

क्षणभंगुर होता है।...जो राजा और गणराज्य अपने को बनाए रखना चाहता है, उसे धार्मिक विधियों की पवित्रता को सुरक्षित रखना चाहिए, इनके प्रति उचित श्रद्धा का व्यवहार करना चाहिए।...सब मनुष्यों में सबसे अधिक प्रशंसा के योग्य वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने धर्मों की स्थापना की है। इसके बाद गणराज्यों और राज्यों के संस्थापकों की स्तुति की जाती है।"[1] राज्य में धर्म की महत्ता उसकी दृष्टि में इसलिए है कि यह सभ्य समाज का आधार है, लोग शासकों द्वारा बनाए हुए नियमों की कई बार उपेक्षा करते हैं, किन्तु धर्म के दैवीय नियमों को ईश्वरीय आदेश समझ कर उनका उल्लंघन नहीं करते हैं। अतः समाज के कानून-निर्माता प्रायः यह कहा करते हैं कि ये नियम उनको भगवान् से प्राप्त हुए हैं। इसे उसने रोम के ऐतिहासिक उदाहरणों से पुष्ट किया है। यद्यपि रोम का संस्थापक रोमुलस था, किन्तु उसकी असली शासन-व्यवस्था सीनेट द्वारा निर्वाचित होने वाले न्यूमा पोम्पिलियस ने की, उसने राज्य के लिए जो नियम आवश्यक समझे, उन्हें बनाकर यह कहा कि ये उसे दिव्य परी ने बताए हैं और लोग इन नियमों का पालन करने लगे।

सामान्य रूप से धर्म का समर्थक होते हुए भी वह ईसाइयत का कड़ा आलोचक है, क्योंकि यह परलोक पर तथा नम्रता आदि के गुणों पर बहुत बल देती है, जबकि प्राचीन धर्म इहलोक में ऐश्वर्य, शूरवीरता, साहस, पौरुष आदि गुणों पर अधिक बल देता था। ईसाइयत के नम्रता आदि के सिद्धान्तों ने इटालियनों को भीरु और दब्बू बना दिया है। वर्तमान ईसाइयत ने अपने संस्थापक की शिक्षाओं को छोड़ दिया है, इसके अध्यक्ष पोप से जो जितना निकट है—वह धर्म से उतना ही अधिक दूर है।[2] इसका घोर पतन हो चुका है। यदि सन्त फ्रांसिस और सन्त डोमिनिक जैसे व्यक्ति न हुए होते तो ईसाइयत कभी की समाप्त हो चुकी होती।

मेकियावेली के समय के पोप अव्वल दर्जे के धूर्त्त और दुराचारी थे।[3] वह उनका विरोधी केवल इसीलिए नहीं था कि वे अधार्मिक थे, किन्तु इसलिए भी था कि वे इटली की एकता में बाधक थे। "हम इटालियन रोम के चर्च और उसके पुरोहितों के कारण अधार्मिक ही नहीं हुए, किन्तु वह हमारे विनाश का भी कारण है, उसने हमारे देश को विभक्त कर रखा है।" अतः वह पोप का विरोधी था। चर्च और धर्म के सम्बन्ध में उसकी यह धारणा थी कि यह राज्य से स्वतन्त्र और उसके ऊपर नहीं होना चाहिए, किन्तु उसके उद्देश्यों को पूरा करने वाला हो तथा राज्य के अधीन रहे।

मेकियावेली की विचारधारा के दोष—इसका **पहला** दोष एकांकी दृष्टिकोण है। मनुष्य में देव और दानव दोनों के अंश हैं, किन्तु उसने दानवीय अंश को प्रधानता देते हुए उसके दैवी अंश की उपेक्षा की है। मनुष्य न तो केवल अच्छा होता है और न केवल बुरा। उसने केवल उसकी बुराइयों को देखा है, अच्छाइयों की ओर दृष्टिपात नहीं किया। **दूसरा** दोष धर्म और नीतिशास्त्र की घोर उपेक्षा थी। वह उनका उपयोग उसी हद तक वांछनीय समझता था, जहाँ तक ये राजा के लिए या राज्य के लिए

1. विल ड्यूरैण्ट—दी रिनैसां, पृ० 557.
2. वही, पृ० 558.
3. सैंबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 289,

उपयोगी हों। इटली की तत्कालीन परिस्थिति से उसकी दृष्टि इतनी सीमित और मर्यादित हो चुकी थी कि वह मानव-समाज में इनका सही महत्त्व आंकने से सर्वथा असमर्थ था। जब वह 'प्रिन्स' लिख रहा था, उसी समय जर्मनी में लूथर धर्मसुधार आन्दोलन का सूत्रपात कर रहा था और इस आन्दोलन ने अगले दो सौ वर्ष तक यूरोप की राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला। यह उसके 'प्रिन्स' की मौलिक मान्यताओं को चुनौती देने वाला प्रबल प्रत्याख्यान था। इस विषय में सैबाइन ने सत्य ही लिखा है, "यह निश्चित है कि 16वीं शताब्दी के आरम्भ में मेकियावेली ने यूरोपियन विचारधारा को बिल्कुल गलत रूप में चित्रित किया। उसकी दो पुस्तकें लिखे जाने के दस वर्ष के भीतर ही मार्टिन लूथर ने विट्टनबर्ग के चर्च के द्वार पर अपने मन्तव्यों को लगा दिया और प्रोटेस्टैण्ट धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण राजनीति और राजनीतिक चिन्तन···मध्ययुग की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बद्ध हो गया। अन्त में मेकियावेली की धर्म की उपेक्षा आधुनिक विचार की एक सामान्य विशेषता बन गई, किन्तु उसके दो शताब्दी बाद तक यह स्थिति सत्य नहीं रही।"[1] उसका यह विचार इटली की सामयिक परिस्थितियों के कारण था। यदि वह किसी दूसरे देश में होता या धर्मसुधार आन्दोलन के बाद लिखता तो धर्म की ऐसी उपेक्षा न करता। अतः उसकी विचारधारा देश और काल की दृष्टि से बड़ी सीमित और संकुचित (Narrowly local and narrowly dated) थी। **तीसरा** दोष ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग है। उसने अतीत इतिहास के निष्पक्ष और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने मन्तव्य और सिद्धान्त निश्चित नहीं किए, किन्तु अपने अनुभव से कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लेने पर इतिहास में से इन्हें पुष्ट करने के लिए उदाहरण ढूंढ़े। **चौथा** दोष राजनीतिशास्त्र के मौलिक प्रश्नों की उपेक्षा का है। उसने अपने दोनों ग्रन्थों में राज्य के स्वरूप, उद्देश्य व शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। वह राज्य विषयक आधारभूत प्रश्नों के सम्बन्ध में सर्वथा मौन है। उसका 'प्रिन्स' मुख्य रूप से इस बात की चर्चा करता है कि राजा राज्य को किस प्रकार हस्तगत करे, अपनी सत्ता सुदृढ़ करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करे, किस प्रकार का आचरण रखे और अपने प्रदेश की वृद्धि और संरक्षण कैसे करे। 'डिस्कोर्सेज' में गणराज्यों द्वारा प्रादेशिक विस्तार तथा संरक्षण के व इसे सुरक्षित रखने के उपायों का वर्णन है। अतः गैटिल ने यह सत्य ही लिखा है कि उसका सिद्धान्त राज्य के संरक्षण का सिद्धान्त है, न कि राज्य का प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त।[2]

मेकियावेली की देन—किन्तु उपर्युक्त गम्भीर दोषों के होते हुए भी उसने राजनीतिशास्त्र को कई महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय देनें (Contributions) दी हैं। उसकी **पहली देन** धर्म और नीतिशास्त्र से राजनीति का सम्बन्ध विच्छिन्न करना था। उससे पहले धर्म न केवल राजनीति से संयुक्त था, किन्तु कई बार उस पर हावी भी हो जाता था। उसने सर्वप्रथम धर्म-निरपेक्ष (Secular) राजनीतिशास्त्र को जन्म दिया। **दूसरी देन वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता में भेद स्थापित करना** और दोहरे

1. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 392.
2. गैटिल—हिस्टरीऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 140.

नैतिक मानदण्ड (Double Standard of Morality) **का निर्माण करना था।** वैयक्तिक रूप से अपने स्वार्थ के लिए झूठ बोलना, विश्वासघात, क्रूरता, चोरी और हत्या महापाप हैं, किन्तु राज्य के हित की दृष्टि से ये सब कार्य न्यायोचित हैं। भाई को मारना जघन्य कार्य है, किन्तु रोम के संस्थापक रोमुलस द्वारा अपने भाई की हत्या राज्य के हित की दृष्टि से की गई थी, अतः वह ठीक थी। उसके सुप्रसिद्ध शब्दों में, "जब कोई (जघन्य) कार्य किसी को दोषी ठहराता है तो (यदि उसका परिणाम अच्छा होता है तो) यह उसे दोष से मुक्त कर देता है···जैसे रोमुलस के उदाहरण में उसके भाई की हत्या।···क्योंकि निन्दा तो उस व्यक्ति की की जानी चाहिए, जिसने विध्वंस के उद्देश्य से हिंसा की हो, उपकार के प्रयोजन से की जानेवाली हिंसा निन्दनीय नहीं है।" उसके इस सिद्धान्त का यह परिणाम हुआ कि राजनीति और देशभक्ति के नाम पर सभी प्रकार के कुकर्म किए जाने में कोई दोष नहीं समझा जाने लगा। इटली का एकीकरण करने वाले राजनीतिज्ञ कावूर ने कहा था, "हमने इटली के लिए जो कुछ किया है वह यदि हम अपने लिए करते तो हम बहुत बड़े धूर्त्त (Rascal) होते।" उसके इस कुटिल सिद्धान्त के कारण अंग्रेज़ी में Machiavellianism का अर्थ ही 'शठतापूर्ण नीति' हो गया है। दुष्ट अपने बुरे कार्यों को छिपाने के लिए देश और राज्य के हित की आड़ लेते हैं। डॉ० जॉनसन ने कहा था कि बदमाशों का आखिरी सहारा देशभक्ति होता है। यह मेकियावेली के वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता को पृथक् करने का स्वाभाविक परिणाम था।

उसकी तीसरी देन यथार्थवाद (Realism) **की थी।** गैटिल ने उसे **पहला यथार्थवादी** (First Realist) कहा है।[1] वह यह विश्वास करता था कि राज्य की सत्ता केवल अपने लिए ही है, इसे केवल अपने संरक्षण और संवर्द्धन के लिए सभी प्रकार के साधनों के प्रयोग करने का अधिकार है। इसके साथ ही उसने अपने यथार्थ-वाद के कारण राजनीतिक अध्ययन को नई दिशा प्रदान की। उससे पहले इसका अध्ययन बाइबल के वचनों तथा ईसाई धर्मगुरुओं के ग्रन्थों के आधार पर होता था।[1] यह केवल हवाई चिन्तन था। उसने इसका सम्बन्ध वास्तविक परिस्थितियों के साथ जोड़ा और इनके अध्ययन के आधार पर राजनीतिक विषयों का चिन्तन आरम्भ किया। वह अरस्तू के बाद राजनीति के सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य करने वाला पहला विचारक था। उसने इस निरीक्षण और अनुभव के आधार पर स्थापित किया। उसकी **चौथी देन राज्य सम्बन्धी नवीन सिद्धान्त थे।** वस्तुतः राज्य की वर्तमान कल्पना का जन्मदाता उसी को मानना चाहिए। **सैबाइन** के मतानुसार सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के रूप में राज्य शब्द का प्रयोग आधुनिक भाषाओं में उसी की रचनाओं द्वारा शुरू हुआ।[2] वह राज्य को ऐसी संगठित शक्ति मानता था, जो अपने प्रदेश में सर्वोच्च अधिकार रखती है और पड़ोसी राज्यों में प्रादेशिक विस्तार की नीति ग्रहण करती है। राज्य के प्रदेश में रहने वाले सभी व्यक्ति और संस्थाएँ राज्य द्वारा नियन्त्रित होती हैं। वह शासक की शक्ति को अविभाज्य और अखण्ड मानता था।

---

1. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 140.
2. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 301.

इस प्रकार उसने राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) के विचार का बीजारोपण किया। बाद में बोदँ (Bodin) तथा हॉब्स ने इसका विकास करके इसे राज्य का आवश्यक अंग माना। **पाँचवीं देन मानव-स्वभाव की दुष्टता का सिद्धान्त था।** इसके आधार पर बाद में विचारकों ने कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले। हॉब्स ने मेकियावेली की भाँति मनुष्य को दुष्ट मानते हुए यह कहा कि इस कारण मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में बड़ा दुःखी था, इससे मुक्ति पाने के लिए उसने एक सामाजिक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। उसकी **छठी देन राष्ट्रीयता का सिद्धान्त था।** वह इटली के विभिन्न राज्यों का एकीकरण फ्रांस और स्पेन की भाँति एक शक्तिशाली राजा के नेतृत्व में करना चाहता था। उसका कहना था, "एक राष्ट्र तब तक कभी संयुक्त और सुखी नहीं हो सकता, जब तक कि यह एक शासन को न माने, भले ही यह शासन राजतन्त्र का हो या गणतन्त्र का।···इटली में इस स्थिति के न होने का कारण चर्च है।"[1]

अपने उपर्युक्त विचारों के कारण डनिंग ने मेकियावेली को **पहला आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक माना है।**[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह राष्ट्रीय, सर्वशक्तिमान और धर्मनिरपेक्ष राज्य की कल्पना करने वाला पहला विचारक था।

मेकियावेली का प्रभाव और महत्त्व—पोप सन्त पायस पंचम (1566-72) ने 1557 ई० में ईसाइयों के अध्ययन के लिए निषिद्ध पुस्तकों की सूची में सर्वोच्च स्थान मेकियावेली की कृतियों को दिया था। किन्तु इससे इनकी लोकप्रियता और प्रभाव में कोई कमी नहीं हुई। मध्यकालीन राजा और राजनीतिज्ञ इन्हें बड़े चाव से पढ़ते और इसके अनुसार आचरण करते रहे। प्रिन्स चार्ल्स पंचम, फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय (1574-89 ई०) तथा हेनरी चतुर्थ (1589-1610 ई०) की यह प्रिय पुस्तक थी। फ्रेंच राजनीतिज्ञ रिशेलू (1585-1642 ई०) इसका प्रशंसक था, आरेन्ज का विलियम इसे अपने सिरहाने रखा करता था। प्रशिया के फ्रेडरिक महान् ने पहले तो इसके खण्डन में Anti-Machiavel नामक ग्रन्थ लिखा और शासन-सत्ता हस्तगत करने पर उसके विस्तार के लिए उन सभी उपायों का अवलम्बन किया, जो 'प्रिन्स' में दिए गए थे। मुसोलिनी ने 'प्रिन्स' को अपनी शोध का विषय चुना था। हिटलर ने इस पर क्रियात्मक आचरण किया। 19वीं शताब्दी तक यूरोप में राज्य विस्तार के लिए 'प्रिन्स' में वर्णित साधनों का खूब प्रयोग होता रहा।

मेकियावेली की उसके अनैतिक सिद्धान्तों के कारण बड़ी कटु आलोचना होती रही है। उसे धूर्त्तता और शठता का प्रतीक माना जाता रहा है। मैकाले ने लिखा है कि इतिहास में मेकियावेली से अधिक बदनाम कोई व्यक्ति नहीं है, उसका वर्णन शैतान के रूप में किया जाता है, उसे महत्त्वाकांक्षा, प्रतिशोध, धूर्त्तता और धोखाधड़ी का आविष्कारक और प्रचारक समझा जाता था। एक लेखक ने बड़ी गम्भीरता से यह विश्वास दिलाया है कि जर्मनी में सैक्सनी के एक शासक मारिस ने धोखाधड़ी के अपने सभी उपाय मेकियावेली की 'प्रिन्स' नामक पुस्तक से सीखे थे। एक-दूसरे लेखक का यह

1. विल ड्यूरैण्ट—दी रिनैसां, पृ० 560.
2. डनिग--पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 320.

मत है कि इस ग्रन्थ के तुर्की भाषा में अनुवाद हो जाने के बाद ही तुर्की के खलीफा अपने भाइयों के खून के प्यासे होने लगे हैं।...कुछ लेखकों का विचार है कि "इंगलैण्ड के राजा जेम्ज़ प्रथम की हत्या के लिए बारूद के षड्यन्त्र की योजना (Gunpowder plot) प्रधान रूप से उसके सिद्धान्तों का परिणाम थी।...इंगलिश भाषा में उसका उपनाम मेकियावेली धूर्त्त का तथा उसका अपना नाम-निकोलो शैतान का पर्याय बन गया है।" मर्रे ने लिखा है, "उसने वस्तुओं को उस रूप में नहीं देखा, जिस रूप में उन्हें होना चाहिए, किन्तु उसने उन्हें यथार्थ रूप में देखा।" प्रो० जास्ज़ी (Jaszi) ने लिखा है कि उससे पहले कुछ राजा राजनीतिक अपराध करते थे, उसने इनका उत्साहपूर्ण समर्थन करते हुए इन्हें इतना गौरवपूर्ण बनाया और ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण किया कि "इससे विश्व के अधिकांश भागों में लोकमत दूषित होने लगा और इसने राजनीतिक वातावरण को विषैला बना दिया।"[1] क्या वस्तुतः मेकियावेली को राजनीतिक हत्याओं और भ्रष्टाचार का दोषी ठहराया जा सकता है?

मेकियावेली ने स्वयमेव इस आरोप का उत्तर देते हुए कहा था कि 'कोई व्यक्ति पुस्तक पढ़कर अनैतिक बन गया हो, यह मैंने कभी नहीं सुना'। उसने अपनी पुस्तक में वही बातें लिखी हैं, जो राजा अक्सर किया करते थे, किन्तु जिन पर पर्दा पड़ा रहता था। उसका बड़ा दोष यही है कि उसने उन कुकृत्यों को खोलकर रख दिया, जिन्हें राजा छिपकर किया करते थे। उसकी बड़ी विशेषता तत्कालीन राजनीतिक जीवन का यथार्थवादी दृष्टिकोण से सूक्ष्म विश्लेषण करना मात्र था। वह नैतिक पतन का कारण नहीं है, यह तो पहले से ही हो चुका था, वह केवल उसका नग्न चित्रण करने वाला है। मैक्सी ने इस विषय में सत्य ही लिखा है, "उसने राजनीति की नैतिकता को भ्रष्ट नहीं किया, वह तो सदियों पहले हो चुकी थी। किन्तु उसने प्रशंसनीय तथा निर्मम स्पष्टवादिता के साथ ऊँचे पदों में पाए जाने वाले पवित्र कपटों के दम्भपूर्ण ढोंग का पर्दाफाश किया। उसे इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वह सच्चा उत्साही देशभक्त था तथा आधुनिक राष्ट्रीयता का एक अग्रदूत था।"[2]

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 138.
2. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 139.

ग्यारहवाँ अध्याय

धर्मसुधार आन्दोलन के राजनीतिक सिद्धान्त

धर्मसुधार आन्दोलन का स्वरूप—भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना से नौ वर्ष पहले 31 अक्तूबर, 1517 को एक जर्मन भिक्षु मार्टिन लूथर (148?-1546 ई०) ने सैक्सनी राज्य के विट्टनबर्ग नगर के चर्च के आँगन के दरवाजे पर तत्कालीन ईसाइयत के और पोप के सिद्धान्तों से मतभेद रखने वाले अपने 95 मन्तव्य (Theses) कील से टाँगकर प्रोटैस्टेण्ट धर्मसुधार आन्दोलन (Protestant Reformation) का सूत्रपात किया। लूथर का उद्देश्य रोमन कैथोलिक चर्च की बुराइयों का संशोधन करना था। उससे पहले इस उद्देश्य से अनेक आन्दोलन और सुधारक हो चुके थे। क्लनी के भिक्षुओं, विक्लिफ (1320-1384 ई०) और जॉन हस्स (1369-1415 ई०) ने ऐसे प्रयत्न किए थे। 15वीं शताब्दी में कांसिलियर आन्दोलन ने इस प्रकार का प्रयास किया था। किन्तु इन सब आन्दोलनों की अपेक्षा लूथर के आन्दोलन को कई राजनीतिक और आर्थिक कारणों से अधिक सफलता मिली।

उसकी सफलता का सबसे बड़ा कारण उत्तरी जर्मनी के विभिन्न राजाओं द्वारा उसको दिया गया प्रबल सहयोग था। यदि उसे यह सहयोग न मिलता तो शायद उसे भी जॉन हस्स की भाँति रोमन चर्च द्वारा चिता पर जला दिया जाता। वह केवल सैक्सनी जैसे उत्तरी जर्मनी के राजाओं के प्रबल संरक्षण तथा जनता के समर्थन के कारण पोप का आजीवन सफल प्रतिरोध कर सका। जनता चर्च के तत्कालीन भ्रष्टाचार तथा विभिन्न प्रकार के टैक्सों की वसूली से खिन्न होने के कारण लूथर के साथ थी। किन्तु जर्मन राजा किसी धार्मिक भावना से नहीं, किन्तु स्वार्थपूर्ण भौतिक और आर्थिक उद्देश्यों से लूथर के साथ थे। राजाओं को इनमें कई बड़े लाभ थे: **पहला** लाभ जर्मनी में रोमन चर्च की विशाल सम्पत्ति थी।[1] उस समय तक इस पर पोप का अधिकार था। अब उसका सफल प्रतिरोध करके राजा कैथोलिक चर्च की अमित सम्पत्ति पर स्वामित्व पा सकते थे। **दूसरा** लाभ जर्मनी के पवित्र रोमन सम्राट् के विरुद्ध अपनी शक्ति बढ़ाना था। **तीसरा** लाभ अपने देश से चर्च के विभिन्न प्रकार के टैक्सों द्वारा रोम को जाने वाले विशाल धनप्रवाह को रोकना, इसे अपने ही देश में रखते हुए उससे अपना कोश समृद्ध करना था। इसने इस संघर्ष को राष्ट्रीय रूप भी प्रदान किया। यह

1. 1522 ई० की न्यूरेम्बर्ग की डायट ने यह कहा था कि जर्मनी की समूची सम्पत्ति के आधे भाग पर चर्च का स्वामित्व था (विल ड्यूरैण्ट—दी रिफार्मेशन, पृ० 17).

समझा जाता था कि श्रद्धालु धर्मप्राण जर्मनों से उनकी गाढ़े पसीने की कमाई का रुपया इकट्ठा करके उसे इटालियनों के भोग-विलास पर व्यय किया जाता है। इटली के लिए जर्मनी का शोषण किया जाता है। लूथर ने अपनी एक अपील में लिखा था—"इस भूतल पर अब तक हुए या भविष्य में होने वाले चोरों और लुटेरों में रोम सबसे बड़ा है। हम गरीब जर्मन ठगे जा रहे हैं, हम शासक बनने के लिए उत्पन्न हुए थे; किन्तु हमें बाधित किया जा रहा है कि हम अपने अत्याचारियों के जुए के नीचे अपना सिर झुकाएँ। अब समय आ गया है कि गौरवपूर्ण ट्यूटानिक (जर्मन) जाति रोम के पोप की कठपुतली बना रहना बन्द कर दे।"[1]

इससे यह स्पष्ट है कि धर्मसुधार आन्दोलन मूलतः धार्मिक होने पर भी शीघ्र ही ट्यूटानिक और लैटिन जातियों का राजनीतिक संघर्ष बन गया। यह कोरा धार्मिक आन्दोलन नहीं रहा, इसने अनेक जटिल राजनीतिक प्रश्न उत्पन्न करके इन समस्याओं पर राजनीतिक चिन्तन में सहयोग प्रदान किया। अतः मैक्सी के मत में यद्यपि "इस आन्दोलन ने प्रथम कोटि के राजनीतिक विचारक उत्पन्न नहीं किए, किन्तु इसने ऐसे घटनाचक्र को और ऐसे विचारों को जन्म दिया, जिन्होंने आने वाली पीढ़ियों के राजनीतिक विचारों का निर्माण किया। यह विद्रोह धार्मिक एवं राजनीतिक था।"[2] इससे उत्पन्न हुए राजनीतिक सिद्धान्तों ने इसके धार्मिक विचारों की अपेक्षा यूरोप के जीवन पर अधिक गहरा प्रभाव डाला। इसके प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त निम्नलिखित थे।

धर्मसुधार आन्दोलन के परिणाम, इसके प्रमुख राजनीतिक विचार—राजा की दैवी सत्ता—धर्मसुधार से उत्पन्न परिस्थितियों ने जिन राजनीतिक विचारों का पोषण किया, उनमें **पहला** और बड़ा विचार राजा की निरंकुश और दैवी सत्ता का समर्थन था। इसका **पहला कारण** यह था कि धर्मसुधारक इस समय पोप की सत्ता को चुनौती दे रहे थे। पोप का यह दावा था कि उसे अपने अधिकार भगवान् से मिले हुए हैं और यदि कोई राजा उसके किसी आदेश की अवहेलना करता है तो उसे राजा को दण्ड देने का, चर्च से बहिष्कृत करने और उसकी प्रजा को उसके प्रति भक्ति की शपथ से मुक्त करने का तथा राजा के विरुद्ध विद्रोह करवाने का अधिकार है। पोप के इन अधिकारों का निराकरण एवं प्रतिवाद करने के लिए धर्मसुधारकों ने राजाओं के अधिकारों का समर्थन करते हुए उनकी स्थिति को ऊँचा उठाना शुरू किया और यह कहा कि राजा अपने क्षेत्र में पूरी प्रभुसत्ता रखते हैं और उनको यह शक्ति भगवान् से प्राप्त होती है। अपने संरक्षक प्रोटेस्टैण्ट राजाओं का सैद्धान्तिक समर्थन करना सुधारकों के लिए सर्वथा स्वाभाविक था। इस सिद्धान्त के आधार पर उनका यह मत था कि यदि राजा भगवान् से प्राप्त होने वाले अधिकार के कारण प्रजा पर शासन करता है तो वह अपनी प्रजा से सर्वथा स्वतन्त्र है। भगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते राजा का यही कर्त्तव्य है कि वह आँख मूंदकर उसके आदेशों का पालन करे। उसे राजा की किसी बात पर ननु-नच करने तथा आज्ञा की अवज्ञा करने का कोई अधिकार नहीं है।

1. हेनरी बेटेन्सन—डाक्युमैण्ट्स ऑफ क्रिश्चियन चर्च (न्यूयार्क 1947), पृ० 278-79.
2. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 154.

राजा के विरुद्ध विद्रोह राजनीतिक अपराध ही नहीं, किन्तु भगवान् की इच्छा के प्रतिकूल कार्य होने से महान् पाप भी है। पहले पोप की सत्ता में सन्देह करना अधर्म था, अब राजा के आदेश का विरोध पाप माना जाने लगा।

इस विचार को पुष्ट करने वाला **दूसरा कारण** तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं। लूथर कृत बाइबल के जर्मन अनुवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हुए जर्मनी में कृषकों ने विद्रोह किया (1524-25 ई०), उनके नेता अपने विद्रोह का समर्थन बाइबल के प्रमाणों के आधार पर करने लगे। इस विद्रोह से राजाओं को बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया। इस समय लूथर ने राजाओं के पक्ष का समर्थन करते हुए यह घोषणा की कि राजा की आज्ञा का प्रतिरोध करना महापाप है। "राजा इस संसार के देवता हैं और साधारण जनता शैतान है।" भगवान् कई बार जनता से शैतान द्वारा किए जाने वाले कार्य कराता है। जनता के पापों का दण्ड देने के लिए वह उनसे विद्रोह कराता है।[1] इस समय ईसाइयत की मूल शिक्षाओं पर बल देने वाले एनाबैप्टिस्ट जैसे कुछ क्रान्तिकारी आन्दोलन भी चले। इनसे राजा और उसके प्रधान समर्थक—शहरों में रहने वाले व्यापारी मध्यमवर्ग को भीषण भय उत्पन्न हो गया। इस संघर्ष में लूथर, कैल्विन आदि धर्मसुधारकों ने शासन-सत्ता का समर्थन किया तथा इन्हें क्रूरतापूर्वक दमन करने वालों को अपना आशीर्वाद दिया।[2]

दूसरा विचार धर्मसत्ता को राजसत्ता का वशवर्ती बनाना था। इस आन्दोलन से पहले धार्मिक विवादों का अन्तिम निर्णायक पोप को समझा जाता था। अब इन प्रश्नों में सुधारकों द्वारा व्यक्ति के अपने निर्णय (Individual Judgment) को बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। इससे विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त रखने वाले सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, इनमें आपस में बड़ा विद्वेष और वैमनस्य था। इनमें शान्ति स्थापित रखने और धार्मिक विषयों में यथार्थ सिद्धान्तों को तय करने का अधिकार राजा का समझा जाने लगा।

तीसरा विचार राष्ट्रीयता का था। पहले बताया जा चुका है कि लूथर का विद्रोह इटालियन प्रभुता और शोषण के विरुद्ध समूची जर्मन जनता का प्रबल प्रतिवाद था। यही स्थिति इंगलैण्ड में तथा अन्य देशों में थी। सर्वत्र पोप का विरोध राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया। इन देशों में राजा के आधीन राष्ट्रीय चर्च स्थापित किए गए। इससे राष्ट्रीयता की भावना को बहुत बल मिला।

चौथा विचार वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के विकास का था। यद्यपि आरम्भ में धर्मसुधारकों ने राजा की निरंकुश दैवी सत्ता का समर्थन किया, किन्तु अन्ततोगत्वा इस आन्दोलन ने प्रजातन्त्र के विचारों को पुष्ट किया। गैटिल ने लिखा है कि धर्मसुधार का तात्कालिक प्रभाव तो राजा की सत्ता को दृढ़ करना था किन्तु चरम परिणाम वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के विचार को बढ़ाना था।"[3] उसके मतानुसार इसका मूल कारण इस समय ईसाइयत के तथा ट्यूटानिक भावना के व्यष्टिवाद का पुनरुज्जीवन था। लूथर तथा अन्य सभी सुधारक इस बात पर बहुत

1. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 309.
2. वही—पृ० 306.
3. गैटिल—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 147.

बल देते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को बाइबल पढ़ने का तथा अपने अन्तःकरण के विचारों के अनुसार धार्मिक मन्तव्य निश्चित करने का अधिकार है। इस विषय में सब व्यक्ति समान अधिकार रखते हैं। वे पोप के प्रमाणवाद के स्थान पर अन्तःकरण की स्वाधीनता (Freedom of conscience) पर बहुत बल देते थे। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष पाने का अधिकार था। वे पुनर्जागरण आन्दोलन के मानववादियों (Humanists) का कार्य आगे बढ़ाने वाले थे। मध्यकाल में प्रचलित प्रवृत्ति के अनुसार सामूहिक जीवन को महत्त्व देते हुए मनुष्य को समूह का अंग समझा जाता था। मानववादियों ने इसे व्यक्ति के रूप में देखना शुरू किया तथा यह माना कि प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक जीवन के विचारों और सिद्धान्तों से बँधा हुआ नहीं है। उसे अपने विचारों के चिन्तन का तथा विभिन्न विषयों में स्वतन्त्र निर्णय का पूरा अधिकार है। धर्मसुधारकों ने इस मत का अनुसरण करते हुए अपने स्वतन्त्र धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किए थे, वे यद्यपि अपने से मतभेद रखने वाले अन्य सम्प्रदायों के दमन के पक्ष में थे, किन्तु उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्त का कभी परित्याग नहीं किया और इस दृष्टि से उन्होंने पुनर्जागरण आन्दोलन के नेता और मानववाद के प्रबल पोषक इरैस्मस (Erasmus) का अनुसरण किया। प्रायः यह कहा जाता था कि "धर्मसुधार का जन्मदाता अर्थात् अण्डा देने वाला तो इरैस्मस था, पर उसे सेने वाला लूथर था।"

राजाओं की निरंकुश सत्ता का प्रतिरोध करने वाले लोकतन्त्र के विचारों के विकास का कुछ श्रेय धर्मसुधार आन्दोलन को है। आरम्भ में धर्मसुधारक उन्हें संरक्षण प्रदान करने वाली राजा की सत्ता के प्रबल पोषक रहे। इस कारण यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों में निरंकुश राजतन्त्रों का प्राधान्य हो गया। इन्होंने शक्ति के मद में धर्म और राज्यविस्तार के लिए युद्ध आरम्भ किए। इन युद्धों में निरंकुश राजाओं द्वारा भीषण अत्याचार हुए। इनके कारण राजाओं के स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन के विरुद्ध आवाज उठाई जाने लगी। कैल्विन ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सामान्य रूप से प्रजा को राजा के आदेश का पालन करना चाहिए। किन्तु ये आदेश ईश्वर की आज्ञाओं के अनुकूल होने चाहिएँ। "यदि वे भगवान् के विरुद्ध कोई आज्ञा देते हैं तो हमें इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए।"[1]

राजसत्ता-विरोधी सिद्धान्त—16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राजाओं की निरंकुश सत्ता का विरोध करने वाला प्रचुर साहित्य प्रकाशित होने लगता है। यद्यपि तत्कालीन राजनीति पर इसका कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु राजनीतिक विचारों की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। 1573 ई० में एक फ्रेंच विधिशास्त्री फ्रैन्सिस हार्टमैन ने Franco-Gallia नामक ग्रन्थ में ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि फ्रांस ने राजतन्त्र के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया। यहाँ जनता अत्यन्त प्राचीन काल से राजाओं को निर्वाचित और पदच्युत करती रही है। राज्य के मौलिक कानूनों का निर्माण तथा अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य भी जनता द्वारा सम्पन्न होते रहे हैं। 1579 ई० में 'निरंकुश शासकों के विरुद्ध स्वतन्त्रता को

1. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० 157.

न्यायसंगत सिद्ध करना' (Vindiciae contra tyrannos) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसके लेखक का प्रश्न अभी तक विवादग्रस्त है,[1] किन्तु यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि यह इस विषय के क्रान्तिकारी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। इंगलैण्ड में तथा अन्य देशों में जब कभी राजा और प्रजा में संघर्ष छिड़ता था तो इस ग्रन्थ का बार-बार मुद्रण होता था। इसमें यह सिद्ध किया गया था कि जब शासक का आदेश ईश्वर के नियम के प्रतिकूल हो तो प्रजा उसका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। इसके लेखक का यह विचार था कि राजा का शासन करने का अधिकार प्रजा के साथ एक समझौते पर आश्रित है। यह ओल्ड टैस्टामैण्ट में दिए गए राजाओं के विवरण से प्रमाणित होता है। सर्वोच्च प्रभुसत्ता भगवान् ने जनता को प्रदान की है। यह सत्ता जनता में निहित है और जनता को यह अधिकार है कि वह ईश्वरीय आदेशों के प्रतिकूल शासन करने वाले राजा के विरुद्ध विद्रोह करे।

स्काटलैण्ड में प्रोटेस्टैण्ट धर्मसुधार आन्दोलन के प्रबल पोषक जॉन नॉक्स (1505-1572 ई०) के शिष्य जार्ज बुकानन ने 1559 में प्रकाशित 'स्काट लोगों में सर्वोच्च सत्ता' (On Sovereign Power Among the Scots) नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि राजनीतिक समाज का प्रादुर्भाव मनुष्य को प्राकृतिक दशा (State of Nature) के दु:खों से बचाने के लिए होता है। भगवान् मनुष्य के जीवन को उत्तम और सुखी बनाने के लिए राजनीतिक संगठन बनाने की प्रेरणा प्रदान करता है। अतः राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार शासन करे कि प्रजा का भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण हो। उसने यह भी सिद्ध किया कि राजा को शासन करने का अधिकार जनता के साथ किए गए एक समझौते से प्राप्त होता है। जनता को अपने प्रतिनिधियों की परिषद् के माध्यम से राजा की सत्ता कानूनों द्वारा सीमित करनी चाहिए और न्यायाधीशों द्वारा कानूनों की समुचित व्याख्या की जानी चाहिए। जनता अत्याचारी शासकों के विरोध और वध करने का अधिकार रखती है।

एक स्पेनिश जेसुइट ह्वो डि मार्याना (Mariana) ने स्पेन के राजा फिलिप को समर्पित की गई तथा 1599 ई० में लिखी गई **'राजत्व और राजा की शिक्षा'** (On Kingship) नामक पुस्तक में यह बताया कि राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक दशा से होती है। सबसे पहले राजतन्त्र की शासन-प्रणाली विकसित होती है। आरम्भ में इस पर कानून का कोई नियन्त्रण नहीं होता, किन्तु राजनीतिक जीवन के विकास के साथ कुछ नियन्त्रण आवश्यक हो जाते हैं। राजतन्त्र प्रायः अपने दूषित रूप तानाशाही में बदल जाता है। ऐसा होने पर प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार है, क्योंकि उसे शासन-सत्ता देने वाली जनता ही है।

एम्डन नगर निवासी जर्मन विद्वान् जोहान्नेस एल्थुसियस (Althusius) ने 1610 ई० में 'व्यवस्थित राजनीतिक शास्त्र' (Systematic Politics) नामक पुस्तक

---

1. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 322। इस पर स्टीफेन जूनियस ब्रूटस नामक छद्मलेखक का नाम छापा गया था। इसके असली लेखक के सम्बन्ध में 16वीं शताब्दी से विवाद चल रहा है। पहले इसे ह्यूबर्ट लैंग्वेट (Languet) समझा जाता था, बाद में यह श्रेय फिलिप दु प्लेसिस मोर्नेस को दिया जाने लगा। बार्कर ने लैंग्वेट वाले पक्ष का समर्थन किया है।

में राज्य की उत्पत्ति समाज के सदस्यों के पारस्परिक समझौते द्वारा मानते हुए इसका उद्देश्य समाज में कानून की स्थापना करना निश्चित किया। उसने प्रभुसत्ता का लक्षण करते हुए कहा कि यह राज्य के सदस्यों के आध्यात्मिक तथा भौतिक कल्याण के लिए कोई भी कार्य कर सकने का अधिकार है। यह अधिकार समूची जनता में निहित है।

इससे यह स्पष्ट है कि 16वीं शताब्दी के धर्मसुधार आन्दोलन के समय लोकतन्त्र की प्रवृत्तियों को पुष्ट करने वाले अनेक विचारक उत्पन्न हुए। इन्होंने प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, क्रान्ति या विद्रोह का अधिकार, जनता की प्रभुशक्ति तथा प्रतिनिधि शासन के विचारों को प्रतिपादित किया। किन्तु उस समय निरंकुश राजतन्त्रों का युग था। इन विचारों का तात्कालिक प्रभाव बहुत कम पड़ा। किन्तु ये खमीर की तरह समूचे राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करते रहे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि धर्मसुधार आन्दोलन में दो प्रकार की विरोधी विचारधाराएँ पाई जाती हैं। इसमें इन दोनों के बीज निहित हैं: पहली विचारधारा निरंकुश राजसत्ता के समर्थन की है, इसके अनुसार प्रजा को राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं है; राजा देवता है, उसका विरोध महापाप है। दूसरी ओर प्रजातन्त्र की विचारधारा है। इसके अनुसार प्रजा को अत्याचारी शासकों के प्रतिरोध का पूर्ण अधिकार है।

यूरोप के धर्मसुधार आन्दोलन को राजनीतिक विचारों की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जाता है: (1) 1517-1530 ई० का काल—इस समय इसका नेता लूथर था और प्रमुख राजनीतिक विचार निरंकुश राजसत्ता और राष्ट्रीय राज्य के थे। चर्च और इसके अधिकारी पूर्ण रूप से राज्य के वशवर्ती माने गए। लूथर का मुख्य उद्देश्य धार्मिक सुधार था। उसके राजनीतिक विचार तत्कालीन परिस्थितियों से से उत्पन्न हुए थे। (2) दूसरा काल 1530-1564 ई० तक का था। इसका नेता कैल्विन था। इसके सिद्धान्त लूथर की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत हैं। उसने अधिक विस्तार और स्पष्टता के साथ राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। (3) तीसरा काल 1564 से 1618 ई० तक का है। इसमें विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों की तुलना पर अधिक ध्यान दिया गया और निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाले लोकतन्त्रीय विचारों का विकास हुआ। धर्मसुधार करने वाले विचारकों के विचार निम्नलिखित हैं—

मार्टिन लूथर (1483-1586 ई०)—जर्मनी में सुधार आन्दोलन के प्रवर्त्तक लूथर ने एक कृषक परिवार में जन्म लिया था। विश्वविद्यालय की उच्च एवं कानून की शिक्षा पाने के बाद वह विट्टनबर्ग के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का अध्यापक हो गया। बचपन से वह धार्मिक प्रवृत्ति का था। 1505 ई० में एक तूफान में फँस जाने पर उसने सन्त एन से रक्षा की प्रार्थना की और इसके बाद वह आगस्टाइन सम्प्रदाय का साधु बन गया। उसे सदैव यह चिन्ता व्यथित करती थी कि उसकी मुक्ति किस प्रकार होगी। इस विषय में प्रकाश पाने के लिए जब उसने रोम की तीर्थ-यात्रा की (1510-11 ई०) तो उसे वहाँ नैतिक पतन का घनान्धकार ही मिला और उसे यह विश्वास हो गया कि पोप ईसा-विरोधी सिद्धान्तों का अवतार (Anti Christ) है, रोम के चर्च की बुराइयों का संशोधन होना चाहिए। रोम में सेण्ट पीटर के नये

गिरजाघर के निर्माण के लिए अपेक्षित धनराशि बटोरने के लिए पोप के प्रतिनिधि टैटज़ेल ने जब उसके शहर में आकर पापमुक्ति-पत्र (Indulgences) बेचने शुरू किए तो लूथर ने इस पाखण्ड का विरोध करने के लिए तथा इन्हें बेचने में बरते जाने वाले साधनों की आलोचना करते हुए अपने 95 मंतव्य विट्टनबर्ग के चर्च के दरवाजे पर लगा दिए, सार्वजनिक रूप से इनका विरोध करते हुए पोप से चर्च की परिषद् बुलाने का अनुरोध किया तथा जुलाई 1519 ई० में पोप के प्रतिनिधि धर्म-शास्त्री जोहन्न ऐक (Johanne Eck) के साथ शास्त्रार्थ में न केवल पापमुक्ति-पत्रों का खण्डन किया, किन्तु पोप की सर्वोच्च सत्ता का भी निराकरण किया। इस विषय में अनेक ओजस्वी लेख लिखे। इस पर पोप लिओ दशम ने उसे चर्च से बहिष्कृत करने की आज्ञा (Bull) निकाली (15 जून, 1520 ई०); लूथर ने सार्वजनिक रूप से इस आज्ञा-पत्र की होली जलाई। इस पर पोप ने पवित्र रोमन सम्राट् चार्ल्स पंचम से उसे दण्ड देने को कहा। 1520 में सम्राट् द्वारा वार्म्ज शहर में बुलाई गई जर्मन परिषद् (Diet of Worms) ने उसके विरुद्ध एक आज्ञा(Edict), निकाली उसकी पुस्तकों को जलाने तथा उसे कोई संरक्षण न देने का आदेश दिया गया। किन्तु इस समय तक लूथर को जर्मन जनता और राजाओं का समर्थन मिल चुका था। सैक्सनी का राजा फ्रेडरिक उसका मित्र था। उसने उसे शरण दी, दो वर्ष वार्टबुर्ग के किले में छिपाकर उसकी रक्षा की। इस समय लूथर ने बाइबल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। कुछ समय बाद वह पुनः विट्टनबर्ग लौट आया और मृत्युपर्यन्त अपने सिद्धान्तों के प्रचार और चर्च के संगठन में लगा रहा।

उसके प्रमुख राजनीतिक विचार ये थे : (1) **पोप की सत्ता का विरोध**—उसने 'जर्मन राष्ट्र के ईसाई कुलीन वर्ग' के नाम लिखी अपील में इस बात पर बहुत बल दिया है कि पोप का रोम के चर्च से बाहर के प्रदेशों पर कोई अधिकार नहीं है, जर्मनी में अथवा अन्य देशों में चर्च की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार वहाँ के राजाओं का है। चर्च के कर्मचारियों को सब मामलों में अपने देश के राजा के अधीन रहना चाहिए विक्लिफ और दांते की भाँति उसने राजकीय शक्ति को धार्मिक शक्ति के ऊपर तथा उसका नियन्त्रण करने वाला माना। उसने चर्च के अधिकारियों द्वारा शासन का विरोध करते हुए उनके धार्मिक कानून (Canon Law) को सांसारिक सत्ता, शक्ति और सम्पत्ति हस्तगत करने का धर्मशास्त्र-विरोधी साधन बताया।

(2) **राजसत्ता का समर्थन**—लूथर ने पोप और सम्राट् दोनों की सत्ता का विरोध करते हुए राजाओं की सत्ता का प्रबल समर्थन किया। राज्य को अपने प्रदेश के सांसारिक और आध्यात्मिक सभी विषयों में पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। ये अधिकार उसे भगवान् से प्राप्त हुए हैं, वह अपने कार्यों के लिए भगवान् के प्रति उत्तरदायी है। उसे अपनी प्रजा पर अमर्यादित और निरंकुश अधिकार प्राप्त हैं। 1525 ई० में जर्मनी में कृषकों के विद्रोह के समय उसने राजाओं के अधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए घोषणा की, "इन परिस्थितियों में हमारे राजाओं को यह समझना चाहिए कि वे भगवान् के प्रकोप को क्रियान्वित करने वाले अधिकारी हैं। दैवी प्रकोप ऐसे दुष्टों को दण्ड देने की आज्ञा देता है। इन परिस्थितियों में जो राजा रक्तपात से बचना चाहेगा, वह उन सब हत्याओं और अपराधों के लिए उत्तरदायी होगा,

जो ये सूअर (विद्रोही किसान) कर रहे हैं। उन्हें बन्दूक के जोर से अपने कर्त्तव्य समझाए जाने चाहिएँ।"[1] वह पाल के सुप्रसिद्ध वाक्य के आधार पर राज्य को ईश्वर की व्यवस्था मानता है।

(3) **प्रजा कोराजा का विरोध करने का अधिकार नहीं है**—उसके मतानुसार प्रजा का सबसे बड़ा कर्त्तव्य राजा की आज्ञा का मूकभाव से पालन करना है। वह इसका विरोध नहीं कर सकती। यह अधर्म है। राजा पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि है। उसके आदेशों की अवहेलना ईश्वर की आज्ञा को भंग करना है। लूथर ने अपने एक निबन्ध 'On Secular Authority, How far is Obedience Due to it' में बाइबल के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भगवान् द्वारा बनाई गई राज्य की सत्ता गैर-ईसाई और ईसाई दोनों प्रकार की प्रजा के लिए आवश्यक है। ईसाइयों को राज्य के आदेशों का पालन करके गैर-ईसाइयों के आगे उत्तम आदर्श रखना चाहिए और गैर-ईसाइयों को राज्य की तलवार के दण्ड के भय से सत्पथ पर बनाए रखना इसलिए आवश्यक है कि वे ईसाई न होने के कारण ईसा के उपदेशों से अपना उचित मार्ग प्रदर्शन करने में समर्थ नहीं हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह शान्त, निष्क्रिय और मूकभाव से राजा की आज्ञाओं का पालन करे। उसके शब्दों में, "एक ईसाई के लिए यह किसी भी प्रकार उचित नहीं है कि वह अपनी सरकार के विरोध में अपने को खड़ा करे। सरकार चाहे न्यायपूर्ण रीति के कार्य करे या अन्यायपूर्ण रीति से (उसे सरकार के विरोध का अधिकार नहीं है)। जो व्यक्ति हमसे उत्कृष्ट स्थान पर रखे गए हैं, उनकी आज्ञा का पालन और सेवा से बढ़कर कोई सत्कर्म नहीं है। इस कारण आज्ञा-भंग करना हत्या, असतीत्व, चोरी और बेईमानी…से अधिक बड़ा पाप है।"[2] इससे स्पष्ट है कि राजा के आदेश के प्रतिरोध को लूथर घोर नैतिक अपराध समझता है।

किन्तु इसके साथ ही उसने अपने वैयक्तिक उदाहरण से उपर्युक्त मत में कुछ संशोधन भी किया। पवित्र रोमन सम्राट् चार्ल्स पंचम (1500-1559 ई०) उसके सुधारों और विचारों का विरोधी था। उस अवस्था में क्या लूथर का यह कर्त्तव्य नहीं था कि वह सम्राट् के आदेश का पालन करता हुआ अपने विचारों का परित्याग करे। लेकिन लूथर ने इस विषय में यह सिद्धान्त बनाया कि धर्म और विश्वास सम्बन्धी विषयों में राजसत्ता को धार्मिक सहिष्णुता की एक मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उसे इस विषय में अपनी दण्डशक्ति का तभी प्रयोग करना चाहिए, जब इस मर्यादा का अतिक्रमण हो तथा राज्य की शक्ति के लिए महान् संकट उत्पन्न हो जाए। सामान्य रूप से वह राजशक्ति के प्रतिरोध को पाप ही समझता था।

लूथर के सभी सिद्धान्त तात्कालिक परिस्थितियों के परिणाम थे। यदि पोप या सम्राट् उसके सुधारों को स्वीकार कर लेते तो शायद वह उनके दैवी अधिकारों का विरोध न करता। राजाओं ने वैयक्तिक स्वार्थ से, अपनी शक्ति और सम्पत्ति बढ़ाने के उद्देश्य से लूथर का समर्थन किया, उसे संरक्षण प्रदान किया और उसके सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए तैयार हो गए। अतः लूथर ने इन्हें पोप और सम्राट् से

1. बौले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 275.
2. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 310.

स्वतन्त्र बताते हुए उनके दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थन किया। लूथर के विचारों में अनेक विरोध, असंगतियाँ और अस्पष्टताएँ हैं। इस कमी को कैल्विन ने दूर किया।

कैल्विन (1509—1564 ई०)—धर्मसुधार आन्दोलन के सबसे प्रबल, स्पष्ट और सुसंगत राजनीतिक विचार इसकी रचनाओं में मिलते हैं। पेरिस, आर्लियन्ज़ (Orleans) आदि में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाला यह विचारक शनैः-शनैः धर्मसुधार के सिद्धान्तों का समर्थक हो गया। किन्तु 1528 ई० में जब उसने इन्हें स्वीकार करने की सार्वजनिक घोषणा की तो इसे कैथोलिक फ्रांस से भागकर स्विट्ज़रलैण्ड में शरण ग्रहण करनी पड़ी। यहाँ बाज़ेल (Basel) में 1536 ई० में इसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ईसाई धर्म के नियम' (Institution Chretienne) लिखी। जेनीवा में निमन्त्रित किए जाने पर इसने कैंटेल के साथ मिलकर जब इन नियमों के आधार पर एक धर्मतन्त्रीय शासन की स्थापना की और इसके लिए बड़े कठोर नियम बनाए, तो जनता के विद्रोह के कारण कैल्विन को यहाँ से भागना पड़ा (1538 ई०)। इसके बाद तीन वर्ष तक वह दक्षिण पश्चिमी जर्मनी में धर्मसुधार आन्दोलन के केन्द्र स्ट्रासबुर्ग में रहा। तीन वर्ष बाद इसे पुनः जेनीवा बुलाया गया। इसे यहाँ अपने विचारों के अनुसार धर्म-प्रधान शासन स्थापित करने में सफलता मिली। अपनी मृत्युपर्यन्त यह इस नगर का धार्मिक और राजनीतिक डिक्टेटर बना रहा। मार्टिन लूथर की अपेक्षा इसके विचारों द्वारा प्रोटेस्टैण्ट धर्म का अधिक प्रचार हुआ और इसके विचार यूरोप के विभिन्न देशों में कई कारणों से बहुत जल्दी फैल गए : पहला कारण इसके विचारों का अधिक लोकतन्त्रीय होना था तथा दूसरा कारण उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रोटेस्टैण्ट धर्म के सिद्धान्तों का अतीव सुबोध और स्पष्ट प्रतिपादन था। डनिंग के मतानुसार वह धर्मसुधार आन्दोलन का निर्माता (Law-giver) था।

कैल्विन द्वारा इंस्टीट्यूट्स का ग्रन्थ लिखे जाने का मुख्य उद्देश्य यह था कि वह बाइबल के उपदेशों के अनुसार उत्तम ईसाई जीवन को बिताने के सम्बन्ध में आवश्यक व्यवस्थाओं का सुव्यवस्थित रीति से प्रतिपादन करे। इसमें वह कुछ मौलिक सिद्धान्तों को मानकर चला है : **पहला** सिद्धान्त नियतिवाद (Predestination) का है। इसके अनुसार यह सृष्टि भगवान् द्वारा पहले से ही निर्धारित की गई एक प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार चल रही है। मनुष्य इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। **दूसरा** सिद्धान्त यह है कि यह प्राकृतिक व्यवस्था मनुष्यों के सब नैतिक और कानूनी सिद्धान्तों का आधार है, यह सभी प्राकृतिक अधिकारों को तथा प्राकृतिक कानून को उत्पन्न करती है। **तीसरा** सिद्धान्त यह है कि बाइबल में वर्णित, मूसा को भगवान् द्वारा दी गई दस आज्ञाएँ प्राकृतिक कानून का सारांश हैं। इनमें तीन बातों का समावेश होता है : (क) भगवान् द्वारा दिए गए स्वाधीनता और धार्मिक स्वतन्त्रता आदि के प्राकृतिक अधिकार (ख) इन अधिकारों को स्वीकार करने वाला समझौता। (ग) इन अधिकारों का हनन किए जाने पर इसे रोकने के लिए प्रतिरोध करने का अधिकार। इन सिद्धान्तों के आधार पर उसने जो आदर्श व्यवस्था की, उसके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

(1) चर्च और राज्य का पार्थक्य—कैल्विन से पहले ज़ूरिक के स्विस विचारक ज़्विंगली (Zwingli 1484—1531) ने चर्च और राज्य को अभिन्न मानते हुए

यह विचार रखा था कि समाज को अपने राजनीतिक और धार्मिक विषयों के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। किन्तु कैल्विन यह मानता है कि ईसाई चर्च और राज्य दोनों भगवान् द्वारा सर्वथा विभिन्न प्रयोजन पूरा करने के लिए बनाए गए हैं। उन्हें स्वतन्त्र और पृथक् ही बनाए रखना चाहिए। चर्च का उद्देश्य आध्यात्मिक है, उसे सांसारिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राजा का अधिकार-क्षेत्र लौकिक विषयों तक सीमित रहना चाहिए। शासक और पुरोहित दोनों समान रूप से पूज्य और वन्दनीय हैं। स्काटलैंड और फ्रांस में कैल्विन के अनुयायियों ने प्रोटेस्टैण्ट दृष्टिकोण से तथा जेसुइटों ने कैथोलिक दृष्टिकोण से इस विचार को बाद में बहुत विकसित किया।

कैल्विन का यह विचार बड़ा क्रान्तिकारी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। गैटिल ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि "लूथर और त्स्विगली ने चर्च को राज्य का वशवर्ती मानते हुए राजाओं और शासकों को यह अधिकार दिया था कि वे धार्मिक सिद्धान्तों का स्वरूप निश्चित करें और उनका धर्म सारे राज्य के निवासियों का धर्म समझा जाए।" इस प्रकार 'राजा का धर्म प्रजा का धर्म' मानने का सिद्धान्त (Cujus regio, ejus religio' यस्य राज्यं तस्य धर्मः) सर्वमान्य हुआ और राजा के धर्म से मतभेद रखने वाले व्यक्तियों पर अत्याचार किए जाने लगे। किन्तु कैल्विन की यह विशेषता थी कि उसने राज्य और चर्च दोनों को पृथक् करते हुए इनकी सीमारेखा खींच दी, जिसका दोनों अतिक्रमण नहीं कर सकते थे। न तो चर्च राज्य के कार्य कर सकता था और न राज्य चर्च के कार्य करने का अधिकार रखता था। इनका महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक परिणाम यह हुआ कि कैल्विनवाद जहाँ-जहाँ फैला, वहाँ इसके अनुयायियों ने उन सब शासकों का विरोध किया, जो धर्म के मामले में हस्तक्षेप करते थे। इससे धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं में सूक्ष्म भेद करने का विचार उत्पन्न हुआ।

(2) **चर्च का संगठन** – कैल्विन ने इसमें लोकतन्त्र की कुछ बातों का समावेश करते हुए निम्न तत्त्वों का होना आवश्यक माना—(क) उचित आचार के नियमों को निश्चित करने वाली स्थविरों (Elders) की एक असेम्बली, (ख) नास्तिकों को चर्च से बहिष्कृत करने का अधिकार, (ग) राज्य को धार्मिक कार्यों से सर्वथा पृथक् करना और चर्च द्वारा स्वयमेव कोई लौकिक कार्य न करना। कैल्विन के चर्च का संगठन गणतन्त्रीय था। इसके पुरोहित निर्वाचित होते थे। कुछ देशों में कैल्विन मतानुयायी अल्प संख्या में थे और यहाँ राज्य द्वारा इन पर बहुसंख्या का धर्म मानने के लिए अत्याचार होते थे। ऐसे देशों में इन्होंने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया। चर्च के संगठन में ये जिस स्वशासन और प्रजातन्त्र की व्यवस्था को चला रहे थे, राजनीतिक मामलों में भी इन्होंने वैसी व्यवस्था की माँग की। (अमरीका में) न्यू इंगलैण्ड के उपनिवेशों में यह विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।[1]

(3) **राज्य विषयक विचार**—उसके मत में राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की दुष्ट प्रकृति का निरोध करने के लिए हुई थी। आदम-हव्वा के आदिम पाप (Original

1. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 156.

sin) और स्वर्ग से पतन के कारण मनुष्य स्वभावतः बुरा है। "उसका हृदय पाप से इतना विषाक्त है कि वह अपने श्वास द्वारा भ्रष्टाचार और सड़ांद के अतिरिक्त कुछ नहीं निकाल सकता। यदि कभी कुछ लोग भलाई का दिखावा भी करते हैं तो उनका मन सदैव ढोंग और धोखे से आच्छन्न रहता है, उनकी आत्मा अन्दर से दुष्टता की बेड़ियों से बँधी रहती है।"[1] अतः इनकी दुष्ट प्रकृति का निरोध करने के लिए भगवान् ने नियम बनाए हैं और इनका पालन कराने के लिए राजसत्ता का होना आवश्यक है। इसके दो प्रधान कार्य हैं—(क) लोगों की सम्पत्ति, प्राणों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करना, व्यवस्था को बनाए रखना। (ख) सत्य की रक्षा करते हुए समाज से मूर्तिपूजा और ईश्वरनिन्दा की बुराइयों का उन्मूलन करना। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि वह इन कार्यों में राज्य की पूरी सहायता करे। कैल्विन विभिन्न समयों के लिए सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों को अच्छा समझता है। किन्तु उसका झुकाव कुलीनतन्त्र की ओर है। उसे भीड़ के शासन से बड़ी चिढ़ है। वह कठोर शासन के पक्ष में है और स्वतन्त्रता का विशेष समर्थक नहीं है। स्वयमेव वहजे नीवा का तानाशाह बनकर रहा था।

(4) **आज्ञा पालन विषयक विचार**—कैल्विन लूथर की भाँति राजा की आज्ञा का मूकभाव से पालन करना प्रजा का पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य समझता है। राज्य समाज में सुशासन और व्यवस्था रखता है, धर्म का पालन कराता है, अतः उसके आदेश का पालन होना चाहिए। किन्तु कुछ दशाओं में वह प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार देता है—(क) यदि राजा के आदेश ईश्वर की आज्ञाओं के प्रतिकूल हैं तो इनकी अवहेलना की जानी चाहिए। (ख) यदि कोई व्यक्ति अनुचित रूप से राज्य की सत्ता हथिया लेता है तो इसका प्रतिरोध करने के लिए ईसाइयों को शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार है। (ग) जनता की प्रतिनिधिसभाएँ अत्याचारी राजाओं का विरोध कर सकती हैं। कैल्विन के इन विचारों ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में बड़ा भाग लिया। उसके सिद्धान्त लूथर के सिद्धान्तों की अपेक्षा फ्रांस, हालैण्ड, स्काटलैण्ड और इंगलैण्ड में अधिक लोकप्रिय हुए।

इस विषय में लूथर और कैल्विन की तुलना बड़ी रोचक है।[2] लूथर अन्तःकरण की स्वतन्त्रता को बड़ा महत्त्व देता था। फिर भी उसने कृषकों के विद्रोह से भयभीत होकर राजाओं के निरंकुश अधिकार का समर्थन किया। दूसरी ओर कैल्विन स्वयमेव स्वतन्त्रता का विरोधी और निरंकुश शासन-सत्ता का प्रबल समर्थक था। किन्तु उसके अनुयायियों ने लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता के विचारों का विकास किया।

इसका मुख्य कारण यह था कि कैल्विन का सिद्धान्त उन्हीं देशों में लोकप्रिय हुआ, जहाँ इस मत के अनुयायी अल्पसंख्या में थे। यहाँ इस अल्पसंख्या पर इससे धार्मिक मतभेद रखने वाली बहुसंख्या अपने विचारों को बलपूर्वक लादना चाहती थी। इंगलैण्ड में ऐसी ही स्थिति थी। अतः यहाँ कैल्विन-मत वालों ने अपने सिद्धान्तों

1. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० 342, 44.
2. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 152.

की रक्षा के लिए दृढ़ संकल्प किया और अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए राजसत्ता का विरोध किया। यह उनके लिए जीवन-मरण का संघर्ष था। सैद्धान्तिक रूप से वे राजसत्ता द्वारा धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप के विरोधी थे, अतः वे अपने मत में हस्तक्षेप करने वाली राजसत्ता के कार्यों का विरोध करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। उन्होंने फ्रांस, हालैण्ड, स्काटलैण्ड और इंगलैंड में धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के ऐसे सिद्धान्तों का विकास किया, जिनके अनुसार प्रत्येक मत के अनुयायियों के धार्मिक अधिकार सुरक्षित रहें और इन मामलों में राज्य के अधिकारों को मर्यादित किया जाए तथा राजाओं की निरंकुश सत्ता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जा सकें। इन परिस्थितियों के कारण कैल्विन के राजसत्ता का प्रबल पोषक होने पर भी उसके अनुयायियों ने हालैण्ड, फ्रांस, इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड में लोकतन्त्र के विचारों को प्रोत्साहन दिया।

धर्मसुधार आन्दोलन की देन और महत्त्व—धर्मसुधार आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य चर्च की बुराइयों का संशोधन था। उसकी सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने पोप की प्रभुत्ता पर कुठाराघात करते हुए अनेक शताब्दियों से चली आने वाली धार्मिक एकता को समाप्त कर दिया। पहले यूरोप में एक ही रोमन कैथोलिक चर्च था, अब उसके स्थान पर उसका विरोध करने वाले अनेक राष्ट्रीय चर्च जर्मनी, इंगलैण्ड, हालैण्ड और स्काटलैण्ड में स्थापित हो गए। **दूसरी** देन यह थी कि इसने चर्च को राज्य का वशवर्ती बनाते हुए मध्ययुग के विश्वसाम्राज्य की धारणा में बड़ा क्रान्तिकारी और मौलिक परिवर्तन किया। अब इस साम्राज्य का स्थान अपने प्रदेश में पूर्ण प्रभुत्व रखने वाले राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया। **तीसरी** देन राष्ट्रीयता की भावना का पोषण था। जर्मनी के राजाओं ने तथा इंगलैण्ड ने इसी आधार पर पोप की प्रभुता का विरोध किया था। **चौथी** देन राजसत्ता के निरंकुश अधिकारों में वृद्धि और राजाओं को देवता बनाना था। **पाँचवीं** देन वैयक्तिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के तथा निरंकुश राजसत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध के विचारों का विकास था।

आरम्भ में यह आन्दोलन कुछ अंशों में प्रतिगामी था। फिग्गिस के शब्दों में इसने अरस्तू के तथा पुनर्जागरण के प्रभाव से लुप्त होने वाली कुछ मध्ययुगीन प्रवृत्तियों को, धर्मतन्त्रीय आदर्शों को, धर्मशास्त्र से अनुप्राणित राजनीति को तथा बाइबल के प्रमाणों से शासन-प्रणाली के प्रश्नों को निश्चित करने की पुरानी परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। किन्तु इसके साथ ही इसने कुछ आधुनिक प्रवृत्तियों, वैयक्तिक स्वतन्त्रता को तथा सुसंगठित, सर्वशक्तिशाली प्रादेशिक राज्य के विचार को भी उत्पन्न किया।[1] अतः यह आन्दोलन दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। आरम्भ में इसमें धर्मशास्त्रों पर बल देने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल रहीं, किन्तु अन्त में इससे लोकतन्त्र की ओर निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं; प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, जनता की प्रभुसत्ता और प्रतिनिधि शासन के विचार उत्पन्न हुए। इन्होंने 17वीं, 18वीं तथा 19वीं

1. फिग्गिस, जे० एन०—फ्राम गर्सोन टु ग्रोशियस, पृ० 91.

शताब्दी के महान् राजनीतिक विवादों को जन्म दिया। इस विचारों के समर्थन और विरोध में भीषण रक्तपात की नदियाँ बहाई गईं। अतः इन विचारों का सूत्रपात करने की दृष्टि से धर्मसुधार आन्दोलन धार्मिक होते हुए भी राजनीति के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है।[1]

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 161.

बारहवाँ अध्याय

बोदैं तथा ग्रोशियस

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—सोलहवीं शताब्दी में धर्मसुधार आन्दोलन से उत्पन्न तीव्र विवादों और गृहयुद्ध से संत्रस्त और विध्वस्त फ्रांस में राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) विषयक आधुनिक सिद्धान्त के जन्मदाता और प्रथम विशद व्याख्याता जीन बोदैं (Jean Bodin 1530-1596) का आविर्भाव हुआ। उस समय फ्रांस में राजतन्त्र अपने को पूरी तरह शक्तिशाली नहीं बना पाया था। इसके प्रत्येक भाग में पादरी तथा कुलीन वर्ग, प्रान्तों तथा विभिन्न समुदायों के विशेषाधिकार और रूढ़ियाँ केन्द्रीय सरकार के कार्य को मर्यादित कर रही थीं या इसमें बाधा डाल रही थीं। प्रत्येक प्रान्त और शहर का कानून विभिन्न प्रकार का था।[1] फ्रांस में प्रोटेस्टैण्ट धर्म के प्रसार से धार्मिक मतभेद उग्र हो गए। कैथोलिक फ्रेंच प्रोटेस्टैंण्ट या ह्यूगनाटों (Huguenots) का उन्मूलन करना चाहते थे और ह्यूगनाट धार्मिक अत्याचारों से बचने के लिए राजसत्ता हस्तगत करके कैथोलिकों के दमन के इच्छुक थे। फ्रांस का राजा कभी एक दल का साथ देता था और कभी दूसरे का। अगस्त 1572 में अपनी माता कट्टर कैथोलिक कैथेराइन की प्रेरणा से चार्ल्स नवम (1550-1574 ई०) ने ह्यूगनाटों के सामूहिक संहार की आज्ञा दी और सेण्ट बार्थोलोम्यू के पवित्र पर्व के दिन (24 अगस्त को) बीस हजार प्रोटेस्टैण्टों का जीवन एक निर्मम हत्याकाण्ड (The Massacre of St. Bartholomew) द्वारा समाप्त कर दिया गया। इन धार्मिक और गृहयुद्धों के भीषण रक्तपात से उत्पन्न अराजक स्थिति का अन्त करने के लिए उस समय कुछ विचारक धार्मिक मामलों में उदारता और सहिष्णुता की नीति अपनाना चाहते थे तथा शक्तिशाली राजतन्त्र द्वारा अराजक तत्त्वों का दमन करते हुए राष्ट्रीय एकता द्वारा सुदृढ़ शासन स्थापित करने के पक्षपाती थे। इन विचारकों में बोदैं का नाम उल्लेखनीय है। उसने राजा की सत्ता सुदृढ़ करने के लिए प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया और उसके ग्रन्थों में तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव स्पष्ट झलक रहा है।

धार्मिक सहिष्णुता तथा राजा के सर्वोच्च अधिकारों पर बल देने वाले विलक्षण प्रतिभाशाली, कानून के उद्भट विद्वान्, यूनान और रोम के लेखकों का, ओल्ड

1. एलेन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दी सिक्सटीन्थ सेंचुरी, पृ० 212.

टैस्टामेण्ट का तथा विभिन्न देशों के संविधानों और कानूनों का गम्भीर अनुशीलन करने वाले जीन बोदँ (1530-1596 ई०) ने अपना जीवन तूलूज़ (Toulouse) के विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने के बाद वहाँ विधिशास्त्र के अध्यापक के रूप में आरम्भ किया। 1560-61 में उसे वकालत के लिए पेरिस ने आकृष्ट किया। यहाँ यद्यपि एडवोकेट के रूप में उसे बड़ी सफलता नहीं मिली, तथापि चिन्तन और विशाल अध्ययन का तथा अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखने का अवकाश मिला। उसकी रचनाओं से प्रभावित होकर फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय (1572-1589) ने उसे 1576 ई० में लाओं (Laon) नगर का तथा बाद में राजा का न्यायवादी (Attorney) नियत कर दिया। यहाँ बस जाने के बाद वह उस समय ब्लवा (Blois) नामक स्थान में होने वाली तत्कालीन फ्रेंच पार्लियामेण्ट या एस्टेट्स जनरल (Estates General) का सदस्य चुना गया। इसमे उसने अपने आश्रयदाता राजा हेनरी तृतीय की नई नीतियों का बड़ी निर्भीकता से उग्र विरोध किया। वह ह्यूगनाटों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने तथा राजा द्वारा भू-सम्पत्ति छीनने के पक्ष में नहीं था। 1581 ई० में वह रानी एलिज़ाबेथ के साथ फ्रांस के राजा के विवाह की प्रार्थना लेकर भेजे जाने वाले फ्रेंच दूतमण्डल के साथ इंग्लैण्ड भेजा गया। इसके बाद राजनीति से पृथक् होकर उसने मृत्युपर्यन्त अपना शेष जीवन कानूनी और साहित्यिक कार्यों में ही बिताया। वह उस समय के एक राजनीतिक दल पोलीतीक (Politiques) का प्रमुख सदस्य था। इस दल की यह नीति थी कि फ्रांस के आन्तरिक विवादों तथा गृहयुद्धों के दमन के लिए एक शक्तिशाली और सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना होनी चाहिए तथा धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अवलम्बन उचित है। बोदँ ने अपने ग्रन्थों में इसी नीति का समर्थन करते हुए उस समय फ्रांस में प्रादुर्भूत होने वाले शक्तिशाली राजतन्त्र की राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) का सैद्धान्तिक प्रतिपादन और प्रबल समर्थन किया। 1596 ई० की प्लेग में बोदँ की मृत्यु हो गई और वह अपने आदर्शों को नावार्रे के हेनरी चतुर्थ (1589-1610 ई०) के राजत्व में फ्रांस को एकीकृत प्रभुसत्तासम्पन्न सुदृढ़ राज्य के रूप में मूर्त्त होते हुए नहीं देख सका।

रचनाएँ—बोदँ ने न केवल कानून की शिक्षा ग्रहण की थी और क्रियात्मक राजनीति का अनुभव पाया था, अपितु उसे तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं के अध्ययन में गहरी अभिरुचि थी। उसके सार्वजनिक राजस्व (Public Finance) और मुद्रा पर लिखे हुए कुछ निबन्ध इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि फ्रांस में उसकी गणना आधुनिक अर्थशास्त्रीय विचारधारा के जन्मदाताओं में की जाती है। शिक्षाशास्त्र और अर्थशास्त्र पर उसके विचार उस समय बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। लैटिन का वह इतना पण्डित था कि उसने ओप्पियन की 'Cynegeticon' का अनुवाद किया था। उसके अध्ययन के विशेष विषय इतिहास, विधिशास्त्र (Jurisprudence) और राजशास्त्र थे। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'इतिहास के सरल अध्ययन की पद्धति' (Methodus ad facilem Historiarum cognitionem 1566) में इतिहास की व्याख्या और महत्त्व पर बल देते हुए उसने यह बताया कि ऐतिहासिक का सबसे बड़ा गुण निष्पक्ष भाव से घटनाओं का वर्णन करना तथा उन पर अपना निर्णय देना है।

यदि इतिहास का निष्पक्ष तथा बुद्धिमत्तापूर्ण अध्ययन किया जाए तो यह हमारी अनेक समस्याओं का समाधान कर सकता है। उसका एक प्रिय सिद्धान्त यह था कि कानून के स्वरूप और उद्गम का स्पष्टीकरण इतिहास के अध्ययन से हो सकता है। प्रत्येक देश की जनता कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ आदर्श मानती है और इन आदर्शों को अपने कानून द्वारा मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न करती है। अतः उसका यह मत था कि सब देशों की कानूनी पद्धतियों के विकास के तुलनात्मक अध्ययन से हम कानून का वास्तविक रूप जान सकते हैं। इस दृष्टि से उसे कई बार **तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विधिशास्त्र का जन्मदाता** भी कहा जाता है। इतिहास में वह मनुष्य के कर्तृत्व को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी जलवायु, पर्वतों, नदियों, वर्षा, भूमि, हवा आदि के तथा ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव को भी स्वीकार करता है। उसने भौतिक परिस्थितियों के राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित करने के सिद्धान्त का विवेचन अरस्तू की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया तथा इस विषय में अपने परवर्ती मांतेस्क्यू आदि का पथ-प्रदर्शन किया। अत. उसे इतिहास के दर्शन का प्रतिपादन करने वाला पहला आधुनिक लेखक माना जाता है। उसका मानवीय प्रगति में दृढ़ विश्वास था और वह अतीतकाल में स्वर्ण युग की कल्पना का विरोधी था।

राजनीतिक विचारों की दृष्टि से उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 1576 ई० में प्रकाशित **'गणराज्य की छः पुस्तकें'** (De Republica Libri sex) हैं। **मैक्सी** ने इसे सच्चे अर्थों में राजनीतिशास्त्र पर **पहला आधुनिक ग्रन्थ** माना है।[1] इसमें किसी आदर्श गणराज्य का वर्णन नहीं है, राजनीतिक जीवन के दोषों को दूर करने के लिए रामबाण दवाइयों का वर्णन नहीं है, मेकियावेली की भाँति कुछ पहले से निश्चित सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए प्रमाण नहीं दिए गए। किन्तु राजनीतिक जीवन की घटनाओं का निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है, इससे कुछ परिणाम निकाले गए हैं और इनके आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया गया है। इसके ये सिद्धान्त ऐतिहासिक निरीक्षण पर तथा विभिन्न समयों की राजनीतिक संस्थाओं के तथा कानूनी पद्धतियों के विश्लेषण और तुलना पर आधारित हैं। गैटिल के कथनानुसार बोदँ हॉब्स की विश्लेषणात्मक पद्धति तथा मांतेस्क्यू की ऐतिहासिक पद्धति का श्रीगणेश करने वाला था, इसके बाद इन दोनों ने बोदँ से लाभ उठाते हुए इन पद्धतियों का विकास किया।[2] बोदँ ने अपने ग्रन्थ में अरस्तू की 'राजनीति' (Politics) की पद्धति का अनुसरण किया। जिस प्रकार अरस्तू ने 158 यूनानी गणराज्यों के संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया था, उसी प्रकार बोदँ ने प्राचीन, मध्यकालीन तथा तत्कालीन इतिहास के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया। इसमें उसने राजनीति के क्रियात्मक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार के पक्षों पर समान रूप से बल दिया है। मेकियावेली ने क्रियात्मक पक्ष को प्रधानता देते हुए राजनीतिशास्त्र की मौलिक समस्याओं के दार्शनिक चिन्तन की उपेक्षा की थी। बोदँ की रचना में यह दोष नहीं है। कोकर ने राजनीतिशास्त्रविषयक समस्याओं के गम्भीर चिन्तन और विस्तृत विवरण

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 164.
2. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 182.

के कारण इस ग्रन्थ को अरस्तू की **पालिटिक्स** तथा मांतेस्क्यू की **कानूनों की भावना** (Spirit of Laws) के समकक्ष और महत्त्वपूर्ण माना है।[1] इस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) **प्रभुसत्ता का सिद्धान्त** (Doctrine of Sovereignty)—(क) **उत्पादक परिस्थितियां**—कोकर ने इसे राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में बोदैं की सबसे बड़ी और विशिष्ट देन मानी है।[2] यद्यपि वह इस विचार का जन्मदाता नहीं था, इस सिद्धान्त के बीज यूनान और रोम के प्राचीन विचारकों में उपलब्ध होते हैं, फिर भी वह पहला व्यक्ति था, जिसने इसका सुस्पष्ट लक्षण किया और इसे राजनीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बनाया।[3] इसका कारण उसके समय की विशिष्ट परिस्थिति थी। प्राचीन एवं मध्यकाल में **कई कारण** इस सिद्धान्त के विकास में बाधक थे: (1) अरस्तू राज्य की प्रधान विशेषता आत्मनिर्भरता (Self-sufficiency) को समझता था। यह कानूनी नहीं, किन्तु नैतिक विचार मात्र था। प्रभुसत्ता के रोमन सिद्धान्त के लिए सार्वभौम साम्राज्य और विश्वव्यापी कानून की सत्ता अनिवार्य मानी जाती थी। रोम के पतन के बाद प्राकृतिक और दैवी (Natural and Divine) नियम के सिद्धान्त का ऐसा विकास हुआ कि उसमें राजा द्वारा बनाए तथा लागू किए जाने वाले भावात्मक कानून (Positive Law) के विचार का विकास सम्भव ही न था। (2)उस समय राज्य और चर्च को एक ही सार्वभौम समाज का अंग माना जाता था, चर्च राज्य पर प्रभुता का दावा कर रहा था, अतः ऐसी परिस्थितियों में राजा की प्रभुसत्ता का विचार पनप नहीं सका। (3) सामन्त पद्धति (Feudal System) से उत्पन्न परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि इनमें शासन सत्ता राजा से निम्न वर्ग तक के सामन्तों और सरदारों में बँटी हुई थी, ये सब अपने प्रदेश में पूर्ण प्रभु (Sovereign) थे, अतः इस दशा में सर्वोच्च प्रभुसत्ता का विचार ही कैसे उत्पन्न हो सकता था। सामन्तवाद राजनीतिक एकता और सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता का प्रबल विरोधी था। (4) मध्यकाल में अनेक प्रकार के निगमों (Corporations) का विचार था तथा नगरों द्वारा अपनी स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले दावे थे। इनकी स्वतन्त्रता एक राष्ट्रीय राज्य में बाधक थी। मध्ययुग के अन्त में इन परिस्थितियों में अन्तर आने लगा। सामन्तवाद के विध्वंस के साथ राजाओं की शक्ति बढ़ने लगी। इंगलैण्ड और फ्रांस में राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युत्थान के साथ यह समझा जाने लगा कि राजाओं को अपने प्रदेश में कानून बनाने के तथा जनता पर शासन करने के अपरिमित अधिकार हैं। जनता ने सामन्तों के उत्पीड़न तथा सदैव होने वाले लड़ाई-झगड़ों से मुक्ति पाने के लिए राजा के अधिकारों का समर्थन किया और विचारकों ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन किया। गैटिल के मतानुसार सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस के राजा ने देश को संगठित बनाते हुए उसका एकीकरण किया और अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाया और "फ्रांस के एक लेखक जीन बोदैं ने पहली बार सर्वोच्च प्रभुसत्ता को राज्य की अनिवार्य विशेषता मानते हुए राजा को इस

1. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० 369.
2. कोकर—वही पुस्तक, पृ० 370.
3. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 164.

सत्ता का अधिष्ठान माना ।"[1]

(ख) प्रभुसत्ता का स्वरूप और विशेषताएँ—बोदैं के मतानुसार अन्य सामाजिक संगठनों की अपेक्षा राज्य की यह विशेषता है कि केवल इसी में प्रभुसत्ता होती है। इसका लक्षण करते हुए उसने कहा है, **"प्रभुसत्ता (राज्य का) नागरिकों तथा प्रजाजनों पर सर्वोच्च अधिकार है और यह कानूनों द्वारा नियन्त्रित नहीं होता है।"** (Sovereignty is supreme power over citizens and subjects, unrestrained by law)। इसका यह आशय है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए किसी प्रकार का कोई भी कानून बनाने का अधिकार रखता है, वह अपने प्रदेश में जैसी चाहे, वैसी व्यवस्था कर सकता है, मनचाहा आदेश दे सकता है। उसे अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य करने का पूरा अधिकार है और इस विषय में वह किन्हीं कानूनों या नियमों से बँधा हुआ नहीं होता है। उसकी इच्छा ही सबसे बड़ा कानून है। उसकी शक्ति सर्वोच्च है, राज्य के सभी व्यक्ति उसके वशवर्ती होते हुए उसके आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य हैं।

इस सर्वोच्च शक्ति की कई विशेषताएँ हैं: **पहली** विशेषता इसका स्थायी (Perpetual) होना है। यदि किसी व्यक्ति को कुछ वर्षों के लिए ऐसा अधिकार दिया जाए तो इसे प्रभुसत्ता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह अधिकार निश्चित अवधि के बाद समाप्त हो जाएगा और वह इसे देने वाले के पास लौट जाएगा। अतः वस्तुतः प्रभुसत्ता उसी के पास होती है, जो इसे प्रदान करता है। अल्पकाल के लिए इसका उपभोग करने वालों को सर्वोच्च शासक नहीं कहा जा सकता। वे केवल उस समय तक इस सत्ता का संरक्षण करने वाले हैं, जब तक कि उन्हें यह शक्ति प्रदान करने वाला या जनता उनसे इसे वापिस नहीं ले लेती। जिस प्रकार दूसरे की अमानत या बन्धक सम्पत्ति को रखने वाला उसका स्वामी नहीं होता, इसी प्रकार दूसरे से कुछ समय के लिए ये अधिकार प्राप्त करने वाला भी सर्वोच्च शासक नहीं हो सकता है।

दूसरी विशेषता इसका जनता में निहित होना है। "मैं यह मानता हूँ कि प्रभुसत्ता···व्यक्तियों में नहीं रहती, किन्तु जनता में रहती है, जनता के प्रसादपर्यन्त वे अपना अधिकार रखते हैं, और निश्चित अवधि के बाद वह शक्ति जनता में लौट जाती है। उदाहरणार्थ, प्राचीन एथेन्स में जनता ऐसी सत्ता आर्खन (Archon) चुने जाने वाले व्यक्ति को दस वर्ष के लिए देती थी। इस अवधि में इसके सर्वोच्च होने पर भी यह केवल जनता का प्रतिनिधि था और अपने कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी था। दस वर्ष बाद यह शक्ति पुनः जनता में लौट जाती थी। यही अवस्था लघु एशिया के एक पुराने यूनानी राज्य निडस (Cnidus) की थी। यहाँ के निवासी (Cnidians) प्रतिवर्ष 60 एमीमोन (Amymone) चुनते थे, इसका अर्थ है मर्यादा या निन्दा से ऊपर उठे उत्कृष्ट व्यक्ति। किन्तु इनमें प्रभुसत्ता का निवास नहीं था क्योंकि एक वर्ष पूरा होने पर इन्हें अपना अधिकार जनता को सौंपना पड़ता था। अतः प्रभुसत्ता जनता में ही रहती है।"[2]

1. गैटिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 180.
2. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 375.

इसकी **तीसरी** विशेषता सब प्रकार के बन्धनों, कानूनों और मर्यादाओं से मुक्त होना (Legibus soluta) है। कोई भी सर्वोच्च शासक या राजा न तो अपने से पहले शासकों के और न अपने कानूनों या आदेशों से बँधा होता है। वह न तो किसी दूसरे व्यक्ति से आदेश ग्रहण करता है और न अपने-आपको कोई आदेश देता है। उसकी इच्छा ही आदेश या कानून होता है।

सर्वोच्च सत्ता के कार्यों में पहला और सबसे बड़ा कार्य नागरिकों के लिए कानूनों का बनाना है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस कार्य में उसे अपने से बड़े, समान या हीन दर्जे के व्यक्तियों की सहमति लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि वह अपने से ऊँचे दर्जे वाले व्यक्तियों की सहमति लेना आवश्यक समझता है तो वह राजा नहीं, किन्तु दूसरे की वश्यता स्वीकार करने वाला प्रजाजन है। यदि अपने से समान दर्जा रखने वालों की सहमति लेना जरूरी हो तो ये सब उसकी सत्ता में हिस्सा बँटाने वाले होंगे और यदि उसे अपने से हीन दर्जे वाले व्यक्तियों—जनता, सीनेट आदि की सहमति चाहिए तो इसका यह अर्थ होगा कि उसमें प्रभुसत्ता नहीं है।

अतः राजा की इच्छा, आदेश या निर्णय ही कानून होता है। यद्यपि जनता में प्राचीन काल से चले आने वाले रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ (Customs) भी कानून के समान समझी जाती हैं; किन्तु इनमें तथा कानून में बड़ा अन्तर है। रूढ़ि का विकास सब लोगों की सहमति से शनैः-शनैः होता है। कानून प्रभुसत्ता रखने वाले व्यक्ति द्वारा एक क्षण में दिया जाने वाला आदेश है और यह प्रायः शासित जनता की इच्छा के विरुद्ध होता है। अतः क्रिसोस्तोम ने कानून की तुलना तानाशाह (Tyrant) से तथा रूढ़ि की राजा से की है। किन्तु कानून रूढ़ि से प्रबल होता है क्योंकि रूढ़ियाँ कानूनों द्वारा निरस्त या प्रभावशून्य की जा सकती हैं, किन्तु ये कानूनों का स्थान नहीं ले सकतीं हैं। रूढ़ि के पालन या उल्लंघन के लिए कोई पुरस्कार या दण्ड नहीं होता, किन्तु कानूनों के साथ उनका उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था होती है। रूढ़ि उसी समय तक प्रभाव रखती है, जब तक राजा इसे कानून के रूप में स्वीकार करता है।[1]

कानून का निर्माण प्रभुसत्ता की इच्छा पर अवलम्बित है। बोदँ के मत में "यह प्रभुसत्ता का पहला और प्रमुख चिह्न (Mark) है" और इसे प्रजाजनों को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता, किन्तु कई बार प्रभु-शक्ति अपने किसी नागरिक को कानून निर्माण का अधिकार (Legum condendarum) प्रदान करती है, और तब इस व्यक्ति द्वारा बनाए कानून ऐसे ही समझे जाते हैं, जैसे वे प्रभुसत्ता द्वारा बनाए गए हों। स्पार्टा वालों ने लाइकरगस (नवीं शताब्दी ई० पू०) को तथा एथेन्सवासियों ने सोलन (638-559 ई० पू०) को ऐसा अधिकार दिया था। किन्तु इन दोनों के कानून प्रभुसत्ता रखने वाली जनता द्वारा सम्पुष्ट होने पर ही लागू किए गए।

प्रभुसत्ता के अन्य कार्य निम्नलिखित हैं : (1) सन्धि करना या युद्ध छेड़ना, (2) उच्चतम न्यायालय का कार्य करना तथा प्रजाजनों की अपीलें सुनना,

1. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 380.

(3) अधिकारियों को शासन करने का अधिकार देना, (4) करों को माफ करना तथा कानून से मुक्ति देना, (5) प्राणदण्ड देना, (6) मुद्रा-प्रणाली का मूल्य और स्वरूप निश्चित करना, (7) सब नागरिकों से उनकी शपथों का पालन कराना।

(ग) प्रभुसत्ता की मर्यादाएँ (Limitations on Sovereignty)—प्रभुसत्ता को सर्वोच्च मानते हुए भी बोदँ इसे मर्यादित करने वाले कई प्रतिबन्धों का उल्लेख करता है : **पहला** प्रतिबन्ध तो भगवान् के तथा प्रकृति के नियमों का है। राजा सर्व-शक्तिमान् प्रभु होता हुआ भी ईश्वरीय तथा प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके शब्दों में "कानून की बाध्यकारी शक्ति से प्रभुसत्ता के स्वतन्त्र होने के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उसका ईश्वरीय या प्राकृतिक कानून से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1] राजा इन कानूनों का पालन करने के लिए बाधित है।

यदि ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों के पालन का बन्धन प्रभुसत्ता वाले राजा पर लागू न किया जाए और इसे केवल सर्वोच्च तथा पूर्णतया निरपेक्ष (Absolute) और निरंकुश शक्ति माना जाए तो इससे बड़ा अनिष्ट परिणाम यह उत्पन्न होगा कि चोर-डाकुओं के विशाल संगठन के नेता को भी प्रभु मानना पड़ेगा क्योंकि उनमें उनके सरदार की इच्छा ही कानून होती है और वह किसी बाह्य शक्ति के आधिपत्य में नहीं होता।[2] ऐसा होने पर भी वह प्रभु नहीं है, क्योंकि वह प्राकृतिक नियमों का पालन नहीं करता। बोदँ के मतानुसार प्राकृतिक नियम बुद्धि द्वारा ज्ञात किए जाने वाले, मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले नैतिक नियम हैं, वे भगवान् के आदेश हैं। उनका पालन अवश्य किया जाना चाहिए। मनुष्य आदम के पतन के बाद पापी और दुष्ट प्रकृति का हो जाने के कारण इन नियमों का पालन नहीं करता है। अतः सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न राजा मनुष्यों को इन ईश्वरीय नियमों का पालन कराने के लिए बाधित करता है। मनुष्य अपनी वासनाओं के वशीभूत होकर इन नियमों का उल्लंघन करते हैं। किन्तु ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह बुद्धि एवं न्याय से शासन करता हुआ जनता को ईश्वरीय नियमों के पालन के लिए विवश करे और स्वयं इनका अनुसरण करे। उसके शब्दों में उत्तम राजा "प्रकृति के नियमों का पालन करता है।" इसका यह अर्थ है कि वह "सूर्य की चमक के समान स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाले प्राकृतिक न्याय के अनुसार अपने प्रजाजनों का शासन और मार्गदर्शन करता है।"[3] सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए ईश्वरीय और नैतिक नियमों का पालन करना अनिवार्य है। उसके मतानुसार, "वही व्यक्ति प्रभु है, जो अमर भगवान् के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति को अपने से ऊँचा नहीं समझता।"

दूसरा प्रतिबन्ध देश के मौलिक कानूनों का है। प्रत्येक देश में संविधान सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम होते हैं, जिन्हें कोई राजा नहीं तोड़ सकता है। उदाहरणार्थ, फ्रांस की एक पुरानी जाति—सेलियम फ्रेंकों के सुप्रसिद्ध सैलिक कानून (Salic Law) के अनुसार स्त्रियाँ भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित थीं, अतः उन्हें भाई न होने पर भी राजगद्दी पर बैठने का कोई अधिकार नहीं था। बोदँ का यह मत है कि फ्रांस का कोई

1. कोकर—रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० 376.
2. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 60.
3. बोले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 290.

भी राजा इस पुराने कानून का उल्लंघन करके अपनी पुत्री को अपना उत्तराधिकारी नहीं बना सकता था।

तीसरा प्रतिबन्ध सम्पत्तिविषयक है। उसका यह कहना है कि प्रभुसत्ता राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है। इस क्षेत्र में राजा को पूर्ण एवं सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु साम्पत्तिक क्षेत्र में उसे ऐसे कोई स्वत्व नहीं हैं। राजनीतिक और साम्पत्तिक क्षेत्रों को पृथक् एवं विभिन्न मानने में उसने रोमन कानून की "प्रभुशक्ति (Imperium) तथा स्वामित्व (Dominium) में सूक्ष्म अन्तर करने की पद्धति का अनुसरण किया है। वह सम्पत्ति को इतना पवित्र समझता है कि राजा स्वामी की सहमति के बिना सम्पत्ति का स्पर्श तक नहीं कर सकता। अतएव उसने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि राजा को स्वयमेव अपनी इच्छा से प्रजा पर कोई टैक्स लगाने का अधिकार नहीं है। जनता के तीनों वर्गों के प्रतिनिधियों की सभा (Estates General) के परामर्श और स्वीकृति से ही वह कोई कर लगा सकता है।

(घ) प्रभुसत्ता के विचार की असंगतियाँ(Contradictions in the Concept of Sovereignty)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बोदैं के प्रभुसत्ता के विचार में अनेक प्रकार के विरोध और असंगतियाँ हैं। एक ओर तो वह प्रभु को सर्वशक्तिमान् समझता है, उसकी सत्ता को किसी भी कानून से अमर्यादित (Legibus soluta) समझता है; दूसरी ओर वह इस पर कई प्रकार की मर्यादाएँ और प्रतिबन्ध लगाता है। ये दोनों परस्पर-विरोधी और असंगत विचार हैं। प्रभु पर यदि कोई प्रतिबन्ध होंगे, तो वह सर्वोच्च शासक कैसे हो सकता है? असीम शक्ति का उपभोग कैसे कर सकता है? किन्तु बोदैं प्रभु को सर्वोच्च शासक मानते हुए भी तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उस पर तीन प्रकार के प्रतिबन्ध मानता है। बोदैं का युग धार्मिक कट्टरता का था। यद्यपि मेकियावेली ने धर्म और नैतिकता के विचार को राजनीति के क्षेत्र में सर्वथा तिलांजलि दे दी थी, किन्तु बोदैं ऐसा नहीं कर सका। वह अपने युग की धार्मिक भावना से प्रभावित हुआ। उसने यह कहा कि यद्यपि प्रभुसत्ता रखने वाला शासक सर्वोच्च एवं निरंकुश होता है, उसकी इच्छा ही कानून होती है, फिर भी वह भगवान् के और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है। यदि वह ऐसा करे तो उसके राज्य में तथा चोर-डाकुओं के गिरोह में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अतः उसे प्रकृति और ईश्वर के नियमों का पालन करना चाहिए। उदाहरणार्थ, राजा यदि अपनी प्रजा या दूसरे राज्यों के साथ कोई समझौता करे तो उसे पूरा करना चाहिए। यदि राजा अपने अधिकारियों को ईश्वरीय नियमों के प्रतिकूल कोई आदेश दे तो उनका कर्त्तव्य है कि वे उन आदेशों का पालन न करें।

बोदैं के प्रभुसत्ता के विचार की दूसरी बड़ी असंगति यह थी कि निरंकुश प्रभु के असीम अधिकार को मानते हुए भी उसने उन पर यह प्रतिबन्ध लगाया कि उसे राज्य के मौलिक तथा संवैधानिक कानून (Fundamental and Constitutional Laws) को तोड़ने का अधिकार नहीं है। वह इन कानूनों (Leges imperii) में रंचमात्र परिवर्तन नहीं कर सकता था। राज्य की पुरानी परम्पराओं और व्यवस्थाओं के पालन के लिए वह बाधित था। उदाहरणार्थ, प्रभुसत्तासम्पन्न राजा अपने राज्य का

कोई प्रदेश अपनी इच्छा से किसी दूसरे राज्य को नहीं दे सकता; अपनी बेटी को अपना उत्तराधिकारी नहीं बना सकता। **तीसरी** असंगति साम्पत्तिक अधिकारों की है। वह नागरिकों की सम्पत्ति को इतना पवित्र समझता था कि निरंकुश सत्ता रखने वाला प्रभु इसे उनसे छीनने का कोई अधिकार नहीं रखता है। वह इस पर कर भी जनता के प्रतिनिधियों की सहमति से ही लगा सकता था। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता था कि प्रतिनिधिसभा राजा को परामर्श देने का ही अधिकार रखती है और यह अधिकार उसे प्रभुसत्तासम्पन्न राजा प्रदान करता है।

किन्तु इन असंगतियों तथा विरोधों के होते हुए भी बोदँ का प्रभुसत्ता का विचार राजनीतिक विचारों के इतिहास में बहुत महत्त्व रखता है। यही आगे चलकर राष्ट्रीय राज्य के विकास का आधार बना। इस समय तो यह विचार सर्वथा स्वाभाविक समझा जाता है, किन्तु 16वीं शताब्दी के लिए यह बिलकुल नवीन क्रान्तिकारी विचार था। उस समय भगवान् की व्यवस्था द्वारा बनाए हुए एक सार्वभौम ईसाई समाज का विचार प्रचलित था; बोदँ ने अपने विचार द्वारा व्यक्तियों से बनने वाले एक सर्व-शक्तिशाली राज्य की नवीन विचारधारा को जन्म दिया। गीर्के ने लिखा है, "अब यह विचार समाप्त होने लगा कि राजा भगवान् द्वारा व्यवस्थापित सार्वभौम समाज के सामंजस्य से उत्पन्न हुआ है।...अब (राज्य की) विचारधारा को आरम्भ करने का बिन्दु सामान्य मानव-समाज नहीं रहा।...राज्य को व्यक्तियों के सम्मिलन पर आधारित समझा जाने लगा।...प्रभुसत्ता का शब्द ऐसी जादू की छड़ी बन गया, जिससे राज्य के समूचे अर्थ और अन्तर्वस्तु को इन्द्रजाल की भाँति प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता था।"[1] इस प्रकार वर्तमान प्रभुशक्तिसम्पन्न राज्य के उस विचार का श्रीगणेश हुआ, जिसकी चरम परिणति यूरोप के अनेक नागरिकों के जीवन पर असाधारण अधिकार रखने वाले वर्तमान राज्यों में दिखाई देती है। बौले के मतानुसार बोदँ के इस विचार के बाद "प्राचीन रोम की विश्व-व्यवस्था के तथा सन्त थामस और दांते द्वारा परिकल्पित ईसाई समाज के विचारों का परित्याग कर दिया गया और यूरोप ने बीसवीं शताब्दी के महायुद्धक्षेत्र (Armageddon) की ओर प्रयाण आरम्भ किया।"[2]

(2) **राज्य विषयक विचार**—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बोदँ अरस्तू की भाँति यह मानता था कि इसका मूल परिवार है। मनुष्य समाज में रहने की अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण पहले परिवार का, फिर राज्य का निर्माण करता है। विभिन्न पारिवारिक समूहों में लड़ाइयाँ होती हैं तो विजेता अपनी शक्ति द्वारा दूसरों को दास बनाता है। ये राज्य की प्रजा तथा विजेता शासक बन जाता है। यद्यपि राज्य में परिवार, व्यापारिक कम्पनियाँ, कम्यून आदि अनेक प्रकार के संगठन होते हैं, किन्तु इनके अपने कोई अधिकार नहीं होते हैं। ये पूर्णरूप से राज्य के आधीन होते हैं। राज्य के नागरिक विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों के व्यक्ति हो सकते हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता राज्य की प्रभुशक्ति के आधीन होना है। उसके मतानुसार नागरिक ऐसा स्वतन्त्र व्यक्ति है, जो राज्य की प्रभुशक्ति का वशवर्ती है।

1. गीर्के—नेचुरल ला एण्ड दी थियोरी ऑफ दी स्टेट, खं० 1, पृ० 40-41.
2. बौले—वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 291.

वह राजा की दैवी सत्ता में आस्था रखता है, बाइबल के प्रमाणों से यह सिद्ध करता है कि उसे अपने अधिकार भगवान् से प्राप्त होते हैं। उसने राज्य और सरकार का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रभुसत्ता राज्य की विशेषता है और यह जिस पद्धति द्वारा क्रियात्मक रूप में आती है, वह सरकार है। प्रभुशक्ति एक व्यक्ति में निहित हो तो राज्य राजतन्त्र होता है, यदि यह नागरिकों की अल्पसंख्या में हो तो कुलीनतन्त्र तथा बहुसंख्या में हो तो लोकतन्त्र बनता है। वह अरस्तू, पोलिबियस, सिसरो आदि के मिश्रित राज्य (Mixed State) का विरोधी था, क्योंकि उसके मत में प्रभुसत्ता एक ही स्थान में रह सकती थी। वह अपने जमाने की पार्लियामेण्टों तथा एस्टेट्स जनरल द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले अधिकारविषयक दावों का उग्र विरोधी था। उसका यह कहना था कि इनमें से कोई भी प्रभुशक्ति नहीं है, ये केवल परामर्श देने का ही अधिकार रखती हैं। उसने यूरोप की तत्कालीन शासन-प्रणालियों का विशद तथा तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया। वह विभिन्न शासन-प्रणालियों में आनुवंशिक राजतन्त्र (Hereditary Monarchy)को श्रेष्ठ समझता था, क्योंकि इसमें राज्य को निर्बल बनाने वाली दलबन्दियाँ और झगड़े सबसे कम होते हैं।

(3) **क्रान्तियाँ**—अरस्तू की भाँति बोदँ ने क्रान्तियों (Revolutions) का बड़ा रोचक विवेचन किया है। मैक्सी के मतानुसार इस विषय में उसका विवेचन यूनानी दार्शनिक से आगे बढ़ा हुआ है। अरस्तू क्रान्तियों को असाधारण (Abnormal) मानता था, बोदँ इसे सर्वथा सामान्य समझता है। मनुष्यों के जीवनचक्र की भाँति राज्य भी जन्म लेते हैं, युवा होकर पूर्ण विकास को पाते हैं, इसके बाद उनकी क्षीणता आरम्भ होती है और अन्त में उनका अवसान हो जाता है। राज्य में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है और यह सदैव होता रहता है। यह शनैः-शनैः अज्ञात रीति से तथा सहसा बड़े उग्ररूप में भी होता है। किन्तु जब तक राज्य की सर्वोच्च प्रभुशक्ति के अधिष्ठान में कोई परिवर्तन नहीं होता तब तक क्रान्ति नहीं होती है। क्रान्ति का अर्थ ही प्रभुशक्ति के अधिष्ठान में परिवर्तन आना है।

क्रान्ति के उत्पादक कारणों के सम्बन्ध में बोदँ ने बड़ा मनोरंजक विवेचन किया है। उसका यह मत है कि ये क्रान्तियाँ तीन प्रकार से होती हैं—(i) दैवी कारणों से, (ii) मानवीय कारणों से, (iii) प्राकृतिक कारणों से। इनमें से पहले दो कारणों का जानना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं। विधाता की इच्छा और रहस्य को कौन जान सकता है? मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा के इतने विभिन्न रूप होते हैं कि यह हमारे लिए अज्ञेय है। हम केवल सम्यक् निरीक्षण से प्राकृतिक कारणों को ही समझ सकते हैं। इनमें वह ग्रह-नक्षत्रों, जलवायु और भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव का विस्तृत रूप से वर्णन करता है।

(4) **फलित ज्योतिष और ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव**—उसके मतानुसार ग्रह-नक्षत्र मानवीय जीवन तथा राज्यों को बहुत प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, वृश्चिक राशि में बड़े ग्रहों का योग बड़े उपद्रव और अनर्थ का सूचक होता है। रोमन गणराज्य के राजतन्त्र में परिणत होने से चार-पाँच वर्ष पहले ऐसे ग्रहों का योग हुआ था तो यूरोप में युद्ध का दावानल भड़क उठा। पुनः ऐसी ग्रहदशा 630 ई० में आई, उस समय

इस्लाम का उत्थान हुआ और उसने बाइज़ैण्टाइन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करके निकट-पूर्व के राजनीतिक संगठन, भाषा, रीति-रिवाज और धर्म को बदल डाला। 1466 ई० में पुनः वृश्चिक राशि में ग्रहों का ऐसा योग हुआ और यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका में गृहयुद्धों की अग्नि भड़क उठी।[1] बोदैं ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि ग्रह-नक्षत्रों और ग्रहणों के प्रभाव का गम्भीर वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। जैसे चिकित्सक रोगों के निवारण के लिए शरीरशास्त्र, द्रव्यगुणशास्त्र आदि का अनुशीलन करते हैं, वैसे ही राजनीतिज्ञों को ज्योतिष का स्वाध्याय करना चाहिए ताकि वे राज्य में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले मौलिक कारणों का ज्ञान प्राप्त कर सकें और आगामी संकटों का समुचित प्रतिकार करें। कुछ विद्वानों ने उसके इन दकियानूसी मध्यकालीन विचारों की कटु आलोचना की है। किन्तु मैक्सी का कहना है कि क्या पता वह इनके वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा उन आधुनिक विचारों की पूर्व सूचना दे रहा है, जो मानवीय घटनाओं का सम्बन्ध सूर्य के धब्बों और सौर शक्ति के विभिन्न चक्रों के साथ जोड़ते हैं।[2]

(5) **जलवायु का प्रभाव**—उसने अपनी '**इतिहास की पद्धति**' तथा गणराज्य के ग्रन्थ (5/1) में राज्य पर प्रभाव डालने वाली भौगोलिक परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन किया है। उसका यह कहना है कि मनुष्यों का स्वभाव, उसके कानून, शासन-व्यवस्था तथा सामाजिक संगठन जलवायु से निश्चित होते हैं। अतः सब राज्यों में एक जैसे कानून नहीं चल सकते। जैसे वास्तुकार विविध स्थानों में अपने भवनों का निर्माण वहाँ पाई जाने वाली मिट्टी के आधार पर विभिन्न रूप से करता है, उसी तरह राज्य का रूप भी प्राकृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आने से बदल जाता है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो उत्तरी, दक्षिणी तथा मध्यवर्ती प्रदेशों के निवासी क्रमशः युवकों, बूढ़ों और अधेड़ उम्र वालों के गुण रखने वाले प्रतीत होंगे। उत्तरी राज्यों का शासन शक्ति से, मध्यवर्ती राज्यों का न्याय से तथा दक्षिणी राज्यों का धर्म से होता है। उत्तर की जर्मन जातियों के बारे में टैसिटस ने लिखा है कि उनके शासकों के पास तलवार को छोड़कर कोई दूसरी शक्ति या आधार नहीं है। सीज़र ने लिखा था कि वे लड़ने के सिवाय किसी अन्य वस्तु में दिलचस्पी नहीं लेते हैं। मध्यवर्ती प्रदेशों के लोग न तो दक्षिण वालों की भाँति अधिक अन्ध-विश्वासी होते हैं और न उत्तर वालों की भाँति अधिक हिंस्र स्वभाव वाले लड़ाकू योद्धा होते हैं। वे अपने झगड़ों का निबटारा बुद्धि से, न्यायाधीशों द्वारा तथा कानूनी प्रक्रिया से करते हैं। लघु एशिया, यूनान, इटली और फ्रांस के मध्यवर्ती प्रदेशों में सब बड़े वक्ता, कानून-निर्माता, विधिशास्त्री, ऐतिहासक और कवि उत्पन्न हुए हैं। दक्षिण वाले लोमड़ी की तरह चालाक और धूर्त होते हैं, इनमें धर्म की अधिक उपासना होती है।

प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण मानव-स्वभाव भिन्न होने से सब जगह एक-जैसी शासन-व्यवस्था नहीं चल सकती है। पहाड़ों में रहने वाले तथा उत्तरी जातियाँ लड़ाकू और साहसी होती हैं, उनमें निर्वाचित राजतन्त्र (Elective Monarchy) या लोकप्रिय शासन ही चल सकता है। अपने पर अत्याचार करने वाले किसी तानाशाह

1. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खं० 2, पृ० 76-77.
2. मैक्सी——पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० 170.

का शासन वे सहन नहीं कर सकते हैं। अतः स्विस लोगों में लोकप्रिय शासन को हटाकर राजतन्त्र की स्थापना करना भारी भूल होगी।[1]

बोदैं ने जलवायु के प्रभाव के सम्बन्ध में जो बातें लिखी हैं, उनमें से अधिकांश आजकल निरर्थक समझी जाती हैं। किन्तु इस विषय में उसे इस बात का श्रेय है कि इस अध्ययन में उसने इस महत्त्वपूर्ण विचारधारा को पुष्ट किया कि मनुष्य केवल राजनीतिक प्राणी ही नहीं है, वह सामाजिक प्राणी भी है। राजनीतिशास्त्र में मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन को बहुत महत्त्व देना चाहिए। इसकी उपेक्षा करने वाला विशुद्ध बौद्धिक चिन्तन फलप्रद नहीं हो सकता है। बोदैं ने इस अध्ययन की प्रेरणा अरस्तू से ग्रहण की तथा अपने परवर्त्ती विचारक मांतेस्क्यू पर भी इस विषय में गहरा प्रभाव डाला।

प्राचीनता और नवीनता का मिश्रण—बोदैं के उपर्युक्त विचारों में हमें दो प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। एक ओर तो वह मध्ययुगीन धार्मिक भावना और अन्धविश्वासों का अनुयायी प्रतीत होता है, दूसरी ओर वह सर्वोच्च सत्ता के विचार तथा राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति में सर्वथा आधुनिक विचार रखता है। उसके प्रमुख मध्ययुगीन विचार ये हैं—फलित ज्योतिष और ग्रह-नक्षत्रों के शुभाशुभ प्रभाव में अगाध आस्था, जादू-टोने, भूत-प्रेत आदि में विश्वास रखना। उसने 1580 ई० में तत्कालीम अन्धविश्वासों पर तथा शैतानशास्त्र पर 'De la Demonomanie' के नाम से एक ग्रन्थ लिखा था। यह पाँच पुस्तकों में विभक्त है और इसकी दूसरी पुस्तक के छठे-सातवें खण्डों में तत्कालीन अन्धविश्वासों का बड़ा सुन्दर चित्रण है। उसे वृक-विद्या (Lycanthropy) के इस सिद्धान्त में विश्वास था कि आदमी बच्चों को खाने से भेड़िया बन जाता है। उसके मतानुसार प्रेत या शैतान हमारे सब कामों को प्रभावित करते रहते हैं। बोदैं का कहना था कि उसके जीवन में 37वें वर्ष से एक मित्र शैतान उसका पथ-प्रदर्शन करता रहा है। यदि वह कोई बुरा काम करने लगता था तो वह उसके बाएँ कान को छूकर उसे इसके दुष्परिणाम की सूचना दे देता था तथा अच्छा काम किया जाने से पहले उसके दाएं कान का स्पर्श करता था।'[1] उसने अपनी पुस्तक में यह भी बताया है कि सरकारी अफसरों को जादू-टोना करने वालों को किस प्रकार पकड़ना चाहिए। उसका यह मत था कि यह संसार भूत-प्रेतों, पिशाचों और शैतान आत्माओं से भरा हुआ है।

किन्तु इन प्राचीन अन्धविश्वासों को मानते हुए भी उसने अनेक सर्वथा नवीन विचार रखे हैं। विधिशास्त्र के अध्ययन में ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रणाली का श्रीगणेश करने का श्रेय उसे प्राप्त है। उसका यह मत था कि राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त का विवेचन केवल इतिहास के आधार पर ही नहीं, किन्तु भौगोलिक, भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के गम्भीर अनुशीलन पर होना चाहिए। धार्मिक कट्टरता के युग में भी उसने धार्मिक सहिष्णुता के आधुनिक विचार का प्रबल समर्थन किया। भूत-प्रेतों के बारे में वह प्रत्येक दन्तकथा और किंवदन्ती को सत्य मानता था, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों और स्रोतों के विश्लेषण और विवेचन में उसकी

1. जोन्स—वही पुस्तक, पृ० 79-80.
2. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 163.

दृष्टि सर्वथा आधुनिक थी। वह राष्ट्र के भौतिक और आर्थिक कल्याण की दृष्टि से संचालित की जाने वाली नीतियों का प्रबल समर्थक था, अर्थशास्त्र के नवीन विज्ञान का फ्रांस में जन्मदाता था। इस विषय पर उसने 1568 ई० में 'Response aux paradoxes de M. de Malestroict' नामक पुस्तक भी लिखी थी। इस प्रकार बोदैं में एक ओर जहाँ प्राचीन एवं मध्ययुग की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसमें अर्वाचीन युग के विचारों का परिचय मिलता है। अतः सैबाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि वह प्राचीन और नवीन का विचित्र मिश्रण है।··· **वह मध्ययुगीन नहीं रहा, किन्तु (पूरी तरह से) आधुनिक भी नहीं बना**।···बोदैं की विचारधारा अन्ध-विश्वास, बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद और पुरातनवाद (Antiquarianism) की पंचमेल खिचड़ी है।"[1]

बोदैं का प्रभाव—उसके ग्रन्थों में मध्ययुग का पुट होते हुए भी उसने तत्कालीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला। गणराज्य पर लिखे उसके ग्रन्थ का अंग्रेज़ी में अनुवाद हुआ और वह कैम्ब्रिज में पाठ्य-पुस्तक बना।[2] इसने ब्रिटिश विचारक हॉब्स और फिल्मर की रचनाओं को प्रभावित किया। इसके सर्वोच्च सत्ता के विचार ने राजा को भावात्मक कानून (Positive Law) की मर्यादाओं से मुक्त किया और उसे पार्लियामेण्ट के इस दावे का विरोध करने की प्रेरणा की कि वह राजा की शक्ति पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार रखती है। बोदैं ने अपने ग्रन्थ में कई स्थानों पर यह सम्मति प्रकट की थी कि इंगलैण्ड में प्रभुसत्ता राजा में निहित है, अतः उसकी रचना का इस देश में विशेष प्रभाव पड़ा और उसकी प्रभुसत्ता का विचार राजनीतिक विचारधारा को आज तक प्रभावित कर रहा है।

राजनीतिशास्त्र में बोदैं की देन—इस क्षेत्र में उसकी **पहली** और सबसे बड़ी देन प्रभुसत्ता का विचार है। पहले बताया जा चुका है कि सर्वप्रथम उसने इसका सुस्पष्ट लक्षण और प्रतिपादन किया, उसने उसे ईश्वर से नहीं, किन्तु मानवीय स्वभाव और आवश्यकताओं से प्रादुर्भूत हुआ माना है। पुराने सार्वभौम ईसाई समाज के स्थान पर उसने इस विचार द्वारा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के नवयुग का श्रीगणेश किया और शनैः-शनैः उसका नवीन विचार सर्वमान्य हो गया और इस समय वह राष्ट्रीय राज्यों का मूलाधार बना हुआ है। उसकी **दूसरी** मौलिक देन राज्य और सरकार में सूक्ष्म भेद का प्रतिपादन करना था। **तीसरी** देन राजनीतिक जीवन पर भौगोलिक और भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव का सुन्दर विवेचन करना था।

आधुनिकता का अग्रदूत (Pioneer of Modernity) : **बोदैं तथा मेकिया-वेली की तुलना**— राजनीतिशास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों को आरम्भ करने का वास्तविक श्रेय बोदैं को है। इस विषय में मेकियावेली से उसकी तुलना बड़ी मनोरंजक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेकियावेली ने कुछ आधुनिक प्रवृत्तियों का श्रीगणेश किया। मध्ययुग का राजशास्त्र धर्मप्रधान, रूढ़िवादी, राजसत्ता और धर्म-सत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण करने, धर्मग्रन्थों के वचनों तथा ईसाई आचार्यों के कथनों पर अपने परिणाम निकालने वाला, प्रमाणवादी तथा सार्वभौम ईसाई समाज

1. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 341-42.
2. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 185.

पर गहरी अवस्था रखने वाला था। किन्तु आधुनिक राजशास्त्र अतीत और वर्तमान काल के राज्यों के सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने परिणाम निकालता है, अतः इसकी पद्धति अनुभूतिमूलक (Empirical), आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक है। यह सार्वभौम समाज के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों में तथा इनकी प्रभुसत्ता में विश्वास रखता है। मेकियावेली ने कई अंशों में राजनीतिशास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों का बीजारोपण किया, किन्तु इसे विकसित करने और पूर्ण बनाने का श्रेय बोदैं को है, अतः उसे ही आधुनिकता का अग्रदूत माना जाना चाहिए। इन दोनों के उस विषय में प्रमुख भेद और विचार निम्नलिखित हैं--

(क) **अध्ययन पद्धति**—इसमें कोई संदेह नहीं कि मेकियावेली ने विशुद्ध धर्म-निरपेक्ष (Secular) दृष्टिकोण को अपनाते हुए प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन से अपने परिणामों को पुष्ट किया, मध्ययुग की निगमनात्मक (Deductive) पद्धति को छोड़ते हुए उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति को अपनाया। एलेन ने मेकियावेली की पद्धति को सबसे महत्त्वपूर्ण माना है। बर्ड के मतानुसार उसने अनुभूति द्वारा तथ्यों को संकलित करके इतिहास के अध्ययन पर आधारित सिद्धान्तों की कसौटी पर उन्हें कसा। किन्तु पहले यह बताया जा चुका है कि मेकियावेली की इस पद्धति में अनेक दोष थे। उसने इतिहास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया, किन्तु अपने पहले से निश्चित किए गए विचारों की पुष्टि की दृष्टि से ही उसका अनुशीलन किया और उसमें अपने पक्ष के पोषक प्रमाण ढूंढ़े। डनिंग ने इस विषय में उसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि मेकियावेली ने ऐतिहासिक अनुसन्धान की तथा समकालीन राज्यों के निरीक्षण की पद्धति का महत्त्व तो समझा, किन्तु इसे पूरी तरह लागू नहीं किया। उसने इसे अपने अनुभूतिवाद (Empiricism) तक ही सीमित समझा और राज्य के कुछ ऐसे नियम प्रतिपादित किए, जो शासन-संचालन के क्षेत्र तक ही मर्यादित थे, जिनका राज्य के मौलिक सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध न था।[1] मेकियावेली की इस अपूर्णता को बोदैं ने दूर किया। उसने अपने Methodus में इस पद्धति का बड़ी स्पष्टता और विस्तार के साथ प्रतिपादन किया तथा विधिशास्त्र में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक पद्धति का श्रीगणेश किया।

(ख) **प्रभुसत्ता**—मेकियावेली ने आधुनिक राज्य की इस प्रमुख विशेषता का स्पष्ट रूप से कोई विस्तृत उल्लेख या प्रतिपादन नहीं किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जिस राज्य का वर्णन करता है, वह पूर्ण प्रभुतासम्पन्न है, उसे अपने प्रदेश में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं, वह दूसरे राज्यों पर आक्रमण करके प्रादेशिक विस्तार करने में पूरी तरह स्वाधीन है। किन्तु उसने कहीं भी इसका सुस्पष्ट लक्षण या विवेचन नहीं किया।[2] बोदैं ने लिखा है कि वह प्रभुसत्ता का वर्णन करने वाला पहला लेखक है। इस उक्ति में बहुत सत्य है कि उसने इसके स्वरूप और कामों का पहली बार विस्तृत विवेचन किया। जार्ज कैटलिन ने लिखा है[3] कि वर्तमान युग में इस शब्द (Souverainete,

---

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, खं० 2 पृ० 102.
2. सैबाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 301.
3. कैटलिन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० 209.

sovereignty) का प्रयोग सर्वप्रथम उसके ग्रन्थ 'De la Republique' में मिलता है और इसके लैटिन अनुवाद में उसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि यह नागरिकों और प्रजाजनों पर ऐसी सर्वोच्च शक्ति है, जो कानून के बन्धन से ऊपर है। प्राचीन एवं मध्यकालीन विचारकों के लिए यह बड़ा क्रान्तिकारी और भयावह विचार था। वे किसी ऐसी शक्ति को मानने को तैयार नहीं थे, जो कानूनों द्वारा मर्यादित न हो। सन्त थामस एक्विनास ने ऐसी शक्ति की तुलना यूनान के अत्याचारी शासक निकेनोर के उच्छृंखल दावों के साथ की थी। इसीलिए बोदें ने अपनी सर्वोच्च शक्ति पर भगवान् और प्रकृति के नियमों के पालन के प्रतिबन्ध लगाए थे। किन्तु फिर भी वह यह मानता है कि राज्य में सर्वोच्च शक्ति रखने वाले व्यक्ति की इच्छा ही कानून है। अपने समय की अराजक परिस्थितियों का समाधान करने के लिए वह इसे अनिवार्य समझता था और उसने इसे राज्य का आवश्यक सारतत्त्व माना है। उसके मतानुसार यही एक ऐसा तत्त्व था, जो राज्य को एकता तथा शक्ति प्रदान कर सकता है। अतः उसने इसके स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया, जबकि मेकियावेली ने इसकी कोई परिभाषा न करते हुए अस्पष्ट संकेत मात्र किया। अतः इस दृष्टि से बोदें को ही आधुनिकता का अग्रदूत मानना चाहिए।

(ग) **राज्य की कल्पना**—पहले यह बताया जा चुका है कि मेकियावेली केवल राज्य संचालन के और राज्य विस्तार के उपायों का निर्देश करता है, राज्य के मौलिक तत्त्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा करता है। एलेन के मतानुसार इसमें बड़ा सन्देह है कि वह राज्य के स्वरूप को ठीक तरह से समझता था। उसने इटली के एकीकरण पर बल दिया था, राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का निर्देश किया। किन्तु वह राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप को नहीं समझ सका, इसकी कल्पना नहीं कर सका। प्राचीन एवं मध्यकाल से चली आने वाली विश्वव्यापी साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य को प्रतिष्ठित करने का श्रेय बोदें को था। मर्रे के शब्दों में "यह कार्य बोदें के लिए ही सुरक्षित था कि वह यह बताए कि विश्वव्यापी साम्राज्यों के दिन, चाहे वे रोमन हों या फ्रेंच, अब बिल्कुल लद चुके हैं। नवजात (Nascent) राष्ट्रीयता का दिन आ गया है। इसके साथ ही प्रभुसत्ता का सिद्धान्त बनाने का समय आ गया है। बोदें ने अपने 'Republique' में यही कार्य किया है और यही उसकी सबसे अधिक स्थायी अवाप्ति है।"[1]

(घ) **भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव**—पहले यह बताया जा चुका है कि बोदें ने वर्तमान युग में सर्वप्रथम राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव का विशद प्रतिपादन करते हुए इस बात पर बल दिया कि जातियों का स्वभाव उनकी अक्षांश (Latitude) तथा देशान्तर (Longitudes) रेखाओं से निश्चित होता है। उससे पहले प्लेटो तथा अरस्तू ने इस विषय का स्पर्श मात्र किया था, बोदें की मौलिकता इसका विस्तृत प्रतिपादन करने में है। उसका यह मत है कि उत्तरी अक्षांश रेखाओं के निवासी शारीरिक और भौतिक शक्ति में बढ़े-चढ़े होते हैं तथा दक्षिणी लोग मक्कारी और प्रतिभा में। क्षात्र शक्ति का निवास उत्तर में है, दर्शन का और सूक्ष्म विषयों का

1. मर्रे—दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइन्स फ्राम प्लेटो टू दी प्रेज़ेण्ट, पृ० 179,

चिन्तन दक्षिण में होता है, मध्यवर्ती प्रदेशों के निवासी राजनीति और विधिशास्त्र में पटु होते हैं।[1] उसने विभिन्न शासन-प्रणालियों के स्वरूप और स्थिरता पर पड़ने वाले भौतिक प्रभाव के विस्तृत विवेचन से आधुनिक राजनीतिशास्त्र में एक नई पद्धति का श्रीगणेश किया। मेकियावेली ने इस विषय का कोई वर्णन नहीं किया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बोदँ ने मेकियावेली के अधूरे कार्य को पूरा किया और राजनीतिशास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों को सुप्रतिष्ठित किया। अत: उसे ही आधुनिकता का अग्रदूत मानना चाहिए। जोन्स के सुन्दर शब्दों में, "बोदँ मेकियावेली की अपेक्षा अधिक अच्छे रूप में आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के प्रारम्भ का प्रतिनिधि है। वह नवयुग (के प्रासाद) की देहरी (Threshold) पर खड़ा है, जबकि मेकियावेली उसके बैठकखाने (Drawing Room) तक ही पहुँचा है।"[2] डनिंग ने इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए कहा है, "बोदँ ने एक इटालियन (मेकियावेली) द्वारा प्रारम्भ किए कार्य को पूरा किया।"[3]

बोदँ का राजनीतिक विचारों के इतिहास में स्थान—इस विषय में पहले राजनीतिशास्त्रियों में बड़ा मतभेद था। उसके अपने देश फ्रांस के विचारक झाने (Janet) और बोद्रिलार (Baudrillart) इसे बहुत ऊँचा स्थान नहीं देते, किन्तु जर्मन विद्वान् ब्लुंशली (Bluntschli) तथा गीर्के (Gierke) ने इससे असहमति प्रकट करते हुए उसे ऊँचा स्थान दिया। डनिंग ने इन विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय करते हुए यह सत्य ही लिखा है, कि ऐतिहासकों तथा आलोचकों में इस विषय में सहमति है कि "बोदँ अरस्तू के पश्चात् अपने स्वरूप और पद्धति से पदच्युत राजनीतिक सिद्धान्त को उसके वास्तविक रूप में वापिस लाया और उसने इसे पुन: विज्ञान का बाह्य रूप प्रदान किया।"[4] पश्चिम में अरस्तू वैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र का विवेचन करने वाला पहला व्यक्ति था, किन्तु उसके बाद यह शास्त्र ईसाइयत से अभिभूत हुआ और धर्मशास्त्र का अंग माना जाता रहा। बोदँ ने इसे पुन: अरस्तू की भाँति निरीक्षण की ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित स्वतन्त्र शास्त्र बनाया। "उस (बोदँ) का प्रशंसनीय रीति से पूर्ण होने वाला कार्य राज्य के सिद्धान्त तथा शासन-संचालन के विज्ञान को इतिहास और निरीक्षण के आधार पर नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के विज्ञानों से पृथक् किन्तु सहवर्ती बनाते हुए उस स्थान पर प्रतिष्ठित करना था, जहाँ अरस्तू ने इसे स्थापित किया था।"[5] उसने मध्यकाल के अनेक अन्धविश्वासों को स्वीकार करते हुए भी मध्ययुग के प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तों—विश्वव्यापी राज्य की कलपना आदि को तिलांजलि दी। मेकियावेली की भाँति उसने ऐतिहासिक अनुसन्धान तथा समकालीन राज्यों के निरीक्षण की पद्धति पर बल दिया। मेकियावेली की दृष्टि क्रियात्मक राजनीति (Staatslehre) तक मर्यादित थी, बोदँ ने इसे विशाल और पूर्ण बनाते

1. डनिंग—पोलिटिकल थियोरीज फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० 133.
2. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 83.
3. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 121.
4. डनिंग—वही, पृ० 120.
5. डनिंग—वही, पृ० 123.

हुए इसमें राज्य के मौलिक प्रश्नों का चिन्तन किया तथा इसे आधुनिक राजनीतिशास्त्र का रूप प्रदान किया।

ह्यूगो ग्रोशियस (1583—1645 ई०)

जीवनी—जब बोदँ का अवसान हुआ (1596) तो 7 वर्ष की अवस्था में सुललित लैटिन पद्य रचना करने वाला एक डच बालक लीडन के विश्वविद्यालय में 11 वर्ष की आयु में प्रविष्ट होने के बाद विद्वानों को अपनी विलक्षण प्रतिभा से आश्चर्यचकित कर रहा था। 1583 ई० में ईस्टर रविवार के पवित्र पर्व पर हालैण्ड के डेल्फट स्थान में एक सुसंस्कृत सम्पन्न कुल में जन्म लेने वाले इस बालक को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता होने का गौरव प्राप्त है। इसका वास्तविक नाम Huig Van Groot था, किन्तु यह अपने लैटिन उपनाम Hugo Grotius से अधिक प्रसिद्ध है। 14 वर्ष की आयु में उसने विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी करके गणित, दर्शन और कानून पर शोध निबन्ध लिखे, ग्रीक तथा लैटिन में अनेक कविताएँ रचीं। 15 वर्ष की आयु में उसे हालैण्ड के चमत्कार के रूप में एक डच दूतमण्डल ने फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ के समक्ष उपस्थित किया, आर्लियन्ज़ के विश्वविद्यालय ने उसे कानून के डाक्टर की उपाधि दी। 16 वर्ष की अवस्था में उसे वकालत की अनुमति मिली। 20 वर्ष की आयु में अन्य सुप्रसिद्ध विद्वानों के होते हुए भी उसे स्पेन के विरुद्ध हालैण्ड के वीरतापूर्ण स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास लिखने का कार्य सौंपा गया। 30 वर्ष की आयु में उसे राटरडम का प्रधान मजिस्ट्रेट (Pensionary) बना दिया गया और एक दूतमण्डल के साथ इंगलैण्ड भेजा गया। इंगलैण्ड से विफल होकर लौटने के बाद हालैण्ड के आन्तरिक धार्मिक विवादों के कारण उसका सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया। मई 1619 ई० में उसे आजीवन कारावास का दण्ड मिला। किन्तु दो वर्ष बाद अपनी बुद्धिमती पत्नी के सहयोग से वह मार्च 1621 में पुस्तकों के एक बड़े बक्से में बन्द होकर जेल से भाग निकला और फ्रांस पहुँच गया। उसने अपना शेष जीवन विदेश में ही बिताया। 29 अगस्त, 1645 को यह अपूर्व प्रतिभासम्पन्न विद्वान् दिवंगत हो गया।

ग्रोशियस के ग्रन्थ—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ओर ग्रोशियस का ध्यान सर्वप्रथम एक कानूनी मामले द्वारा आकृष्ट हुआ। इस समय हालैण्ड और स्पेन का युद्ध चल रहा था। इसमें डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के बेड़े ने मलक्का के समीप पुर्तगाल का एक जहाज पकड़ लिया। पुर्तगाल उस समय स्पेन के आधीन था और इस जहाज पर बहुमूल्य माल लदा हुआ था। इस जहाज को हालैण्ड ले जाकर इसका माल बेच दिया गया। किन्तु कम्पनी के हिस्सेदारों ने इस कार्य पर इस कारण आपत्ति की कि ईसाइयों को आपस में नहीं लड़ना चाहिए। कम्पनी ने इस विषय में ग्रोशियस से सम्मति माँगी। उसने इसके सभी पहलुओं का गम्भीर अध्ययन और मौलिक चिन्तन करके 'लूट के माल का कानून' (De Jure Praedea) नामक पुस्तक तैयार की। इसी के एक अध्याय में युद्ध के समय समुद्री व्यापार का विस्तृत वर्णन करते हुए उसने **'स्वतन्त्र समुद्र'** (Mare Liberum) नामक पुस्तक प्रकाशित की (1609 ई०)। इसके बाद भी वह

निरन्तर इस विषय का अध्ययन और मनन करता रहा और अन्त में कारावास से पलायन के बाद पेरिस में 1625 ई० में उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **'युद्ध और शान्ति पर'** (De Jure belli ac pacis) प्रकाशित की। इसमें उस समय तक के अन्तर्राष्ट्रीय विधिविषयक चिन्तन का बड़ा हृदयंगम और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन तथा अब तक के इस विषय के समूचे विचारों का संकलन और समन्वय था। हर्नशा के शब्दों में, "इसमें प्राचीन (विद्वानों) की सर्वमान्य बुद्धिमत्ता का सारांश था और इसे पुनर्जागरण व धर्मसुधार आन्दोलनों से उत्पन्न परिस्थितियों में लागू किया गया था। इसमें प्रकृति के कानून और राष्ट्रों के कानून के सम्बन्ध में स्टोइक दार्शनिकों, रोमन वकीलों, स्कालेस्टिक धर्मशास्त्रियों द्वारा लिखी गई सभी बातों का संक्षेप था और इन सबको मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और रिवाज के बहुमूल्य प्रासाद की ठोस नींव रखी गई थी।"[1] इसमें मुख्य रूप से तीन सिद्धान्तों का वर्णन है—(1) प्राकृतिक नियम, (2) राष्ट्रों का कानून, (3) प्रभुसत्ता और सरकार विषयक सिद्धान्त।

ग्रोशियस के सिद्धान्त—(क) प्राकृतिक नियम (Law of Nature)—अरस्तू की भाँति ग्रोशियस यह मानता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की सत्ता बनाए रखने के लिए कानून अनिवार्य है। उसका यह कहना है कि चोरों तथा डाकुओं को भी अपना समाज बनाने के लिए कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। जब उनकी यह दशा है तो मानव-जाति के उच्च समाजों के लिए कानून की सत्ता और भी अधिक आवश्यक हो जाती है। अतः कानून और समाज का चोली-दामन का साथ है; एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता है। इसके साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि मनुष्य तर्क करने वाला बुद्धिमान् प्राणी है और मानव-समाज तर्क और बुद्धि का परिणाम है। इससे यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि समाज की भाँति कानून भी बुद्धि से प्रादुर्भूत होता है। जहाँ कहीं सामाजिक जीवन है, वहाँ बुद्धि तथा बुद्धि पर आधारित कानून अवश्य होगा।

सब मनुष्यों की प्रकृति एक-जैसी होती है, अतः उनकी बुद्धि से बना हुआ कानून भी सब जगह एक-जैसा तथा विश्वव्यापी होगा। यही प्राकृतिक कानून है। इसका लक्षण करते हुए उसने कहा है, "प्राकृतिक कानून सद्बुद्धि द्वारा दिया गया आदेश (Dictate of Right Reason) है। यह इस बात को सूचित करता है कि कोई कार्य मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति के अनुकूल या प्रतिकूल होने के कारण या तो नैतिक दृष्टि से सत्, असत् या आवश्यक है।" यह प्राकृतिक कानून सर्वथा अपरिवर्तनशील है। इसमें भगवान् स्वयं कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि वह किसी सत् कार्य को उसी प्रकार असत् नहीं बना सकता, जैसे वह दो और दो का जोड़ पाँच नहीं कर सकता है। प्राकृतिक नियम भगवान् के नियम से किसी भी अंश में हीन नहीं है और यह ईश्वरीय नियम (Divine Law) से तथा इलहाम से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। यदि भगवान् और उसका नियम न होता तो भी मानवीय प्रकृति और बुद्धि पर आधारित प्राकृतिक नियम होता। ग्रोशियस प्राकृतिक कानून का एकमात्र मूलस्रोत बुद्धि को मानता है और हॉब्स आदि अन्य विचारकों की भाँति

1. हर्नशा—दी सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज ऑफ दी सिक्सटीन्थ एण्ड सेवण्टीन्थ सेंचुरीज, पृ० 137.

उपयोगिता (Utility) अथवा औचित्य (Expediency) को इसका मूल कारण नहीं स्वीकार करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रों का कानून (Jus Gentium)—ग्रोशियस ने इसे इच्छामूलक कानून (Volitional Law) माना है। इसमें उन सब नियमों का समावेश होता है, जिनका पालन करना सब राज्य या अधिकांश राज्य आवश्यक समझते हैं। इसमें सम्मिलित किए जाने वाले नियम दो प्रकार के होते हैं—(क) निरन्तर चली आने वाली प्रथाओं से प्रमाणित और पुष्ट होने वाले नियम, (ख) विद्वानों की साक्षी (Testimonic peritorum Private) से प्रमाणित होने वाले नियम। इस प्रकार के नियमों को बनाने का उद्देश्य सब अथवा अधिकांश राष्ट्रों की भलाई या कल्याण की कामना होती है, जैसे राज्य के कानूनों का लक्ष्य उसमें निवास करने वाले सभी व्यक्तियों की सामूहिक भलाई होती है। इन नियमों का मूल कारण किसी राष्ट्र द्वारा केवल अपने हितों की रक्षा या स्वार्थसिद्धि नहीं होती है। जिस प्रकार राज्य में व्यक्ति केवल कोरी स्वार्थ भावना से नहीं, किन्तु सामाजिक जीवन बिताने की भावना से कानूनों का निर्माण करता है, उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय नियम भी अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सामूहिक कल्याण की दृष्टि से बनाए जाते हैं। जैसे राज्य में संगठित होते समय व्यक्ति सामुदायिक हित की दृष्टि से अपनी कुछ स्वतन्त्रता छोड़ देते हैं, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सामूहिक कल्याण की दृष्टि से राज्य अपनी सर्वोच्च सत्ता का कुछ अंश छोड़ते हैं।

जस जैन्शियम को ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून से हीन कोटि का समझा है, यदि दोनों में विरोध हो तो प्राकृतिक कानून को ही ठीक माना है। डच विचारक जस जैन्शियम की कल्पना के सम्बन्ध में बोदँ और विकलर का ऋणी है। बोदँ से उसने यह विचार लिया है कि वह दैवी नियम नहीं, किन्तु मानवीय बुद्धि का आदेश है। विकलर के प्रभाव से वह यह मानता है कि जस जैन्शियम वैयक्तिक (Private) नहीं, किन्तु सार्वजनिक कानून (Public Law) है। रोमन साम्राज्य में जस जैन्शियम विदेशियों की सम्पत्ति, विवाह और ठेकों से सम्बन्ध रखने वाला वैयक्तिक कानून था, अब इसे विभिन्न राज्यों में पाए जाने वाले सामान्य कानून अथवा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्पर्क को नियन्त्रित करने वाला कानून माना जाने लगा।

अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की सर्वप्रथम सूक्ष्म, विशद, व्यवस्थित, क्रमबद्ध और प्रौढ़ व्याख्या करने के कारण ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक (Father of International Law) कहा जाता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए प्राध्यापक लौटरपाख्ट (Lauterpacht) ने लिखा है, "इस विषय पर यह पहला विस्तृत और व्यवस्थित ग्रन्थ था। ग्रोशियस इस विषय का पहला लेखक नहीं था। युद्ध के नियमों पर 1543 ई० में बेल्ली ने, 1581 में अयाला ने तथा 1598 में जैण्टली ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण रीति से लिखा था। 1532 ई० के लगभग विटोरिया ने तथा 1612 में सुआरेज़ ने अन्तर्राष्ट्रीय समाज की समस्या को समग्ररूप से, विधिशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की आधारशिलाएँ स्थापित की थीं। किन्तु ग्रोशियस से पहले किसी व्यक्ति ने इस विषय का सर्वांगीण प्रतिपादन करने का प्रयास नहीं किया था।"

राज्य तथा प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसने दो विरोधी सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। पहले सिद्धान्त के अनुसार इसका निर्माण

मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण हुआ है। मनुष्य की प्रकृति है कि वह समूह या समाज में रहे, इसलिए वह अपनी इस सहज सामूहिक प्रवृत्ति (Gregarious instinct) से समाज को बनाता है। इस विषय में वह अरस्तू का अनुसरण करता है। दूसरा सिद्धान्त संविदा या अनुबन्ध (Contract) का है। यह रोमन विधिशास्त्र के तथा तत्कालीन विचारधारा के प्रभाव से है। इसके मतानुसार "आरम्भ में मनुष्यों ने ईश्वर की आज्ञा से नहीं, किन्तु अपनी इच्छा से यह अनुभव पाने के बाद राजनीतिक (Civil) समाज का संगठन किया कि पृथक् परिवारों में रहते हुए वे (दूसरों की) हिंसा से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। इसी से सरकार की शक्ति प्रादुर्भूत हुई।"[1] यदि यह मान लिया जाए कि वह समाज का प्रादुर्भाव मनुष्य की स्वाभाविक सहज भावना के परिणामस्वरूप मानता है और राज्य की उत्पत्ति उपर्युक्त संविदा से हुई तो उसके विरोधी सिद्धान्तों में सुन्दर समन्वय हो जाता है। यहाँ समाज का तात्पर्य समूचे मानव-समाज से है तथा राज्य का आशय इस विशाल मानव-समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा अपने लिए बनाए गए राजनीतिक संगठन से है।

वह राज्य की स्थापना होने से पहले की स्थिति **प्राकृतिक दशा** (State of Nature) को ऐतिहासिक रूप से सत्य मानता है। मनुष्य की इस प्राकृतिक (Natural) अवस्था में विशुद्ध प्राकृतिक कानून (Merum jus naturalae) का साम्राज्य था। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा स्वयमेव करता था। उस समय सार्वजनिक न्यायालयों की सत्ता नहीं थी, क्योंकि ये बाद में मनुष्य द्वारा बनाए गए हैं। उस समय प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह अपने विरुद्ध होने वाले अपकृत्य (Wrong) या अन्याय का स्वयं प्रतिकार करे। किन्तु जब सार्वजनिक शान्ति के लिए राज्य का निर्माण हो जाता है तो प्रतिरोध (Resistance) का यह अधिकार सर्वोच्च शासक को प्राप्त हो जाता है। उसके राज्य में उसके विरुद्ध किसी को प्रतिरोध का अधिकार नहीं रहता, क्योंकि समाज का निर्माण करते समय सब अपने अधिकार स्वेच्छापूर्वक सर्वोच्च शासक या प्रभु को दे देते हैं। आगे यह बताया जाएगा कि ग्रोशियस जनता द्वारा राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के अधिकार का उग्र विरोधी तथा निरंकुश राजतन्त्र का प्रबल समर्थक है। यह बड़ी मनोरंजक स्थिति है कि एक ओर तो वह राज्य की उत्पत्ति के लिए संविदा के सिद्धान्त को मानता है, जिसके आधार पर अन्य विचारकों ने राजा की निरंकुश सत्ता का विरोध किया था; दूसरी ओर वह इसी के आधार पर निरंकुश सत्ता का समर्थन करता है।

ग्रोशियस के प्रभुसत्ता के विचार पर यद्यपि बोदँ तथा सुआरेज का प्रभाव है, तथापि वह कुछ अंशों में इनसे इस विषय में प्रबल मतभेद रखता है। उसके मतानुसार प्रभुसत्ता राज्य का शासन करने वाली 'सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति' (Potestas civilis) है। यह उस व्यक्ति में निहित होती है, जिसके कार्य किसी दूसरे व्यक्ति के कानूनी नियन्त्रण में न हों और जिन कार्यों को किसी दूसरे मनुष्य की इच्छा से अवैध नहीं बनाया जा सकता है।[2] वह प्रभुसत्ता का अधिकार किसी भूखण्ड के स्वामित्व या मार्गाधिकार

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 181.
2. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 181.

(Right of way) जैसा मानता है। इसे पाने वाला व्यक्ति इस पर कई तरह से अधिकार रखता है, कई बार उसे भूसम्पति के अधिकार की भाँति पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता है। न्याय्य युद्ध में विजेता को विजित प्रदेश पर पूर्ण अधिकार(Pleno Jure)होता है। दूसरा प्रकार भोगाधिकार (Usufruct) का है, इसका उदाहरण निर्वाचित राजा का है। तीसरा प्रकार कुछ निश्चित अवधि के लिए सर्वोच्च सत्ता रखना है, जैसी प्राचीन रोमन गणराज्य में डिक्टेटरों को प्राप्त होती थी। वह इस सत्ता को तभी वास्तविक (Real) मानता है, जब इसे भगवान् के अथवा प्रजा के प्रति शपथ ग्रहण करके लिया जाए। सर्वोच्च शक्ति एक होते हुए भी राजा और प्रजा में विभक्त हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रोशियस का प्रभुसत्ता का विचार बोदें से मौलिक भेद रखता है। बोदें इसे अखण्ड, अविभाज्य और काल की अवधि से अपरिच्छिन्न मानता है, किन्तु ग्रोशियस का ऐसा मत नहीं है।

ग्रोशियस जनता की प्रभुसत्ता(Popular Sovereignty) का घोर विरोधी है। उसका यह मत है कि जनता एक बार अपनी इच्छानुसार अपनी शासन-प्रणाली चुनने का अधिकार रखती है, किन्तु इसे चुन लेने के बाद शासक पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता है। इसका यह आशय है कि एक बार जब उसने राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र की व्यवस्था चुन ली तो उसका कार्य समाप्त हो जाता है। फिर वह इस शासन-सत्ता के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं कर सकती, इस सत्ता को वापिस नहीं ले सकती। एक बार सत्ता हस्तान्तर करने के बाद वह इसे नहीं लौटा सकती है। जैसे पुराने यहूदी या रोमन कानून में कोई व्यक्ति अपने को दूसरे का दास बनाकर अपनी स्वतन्त्रता सदा के लिए खो बैठता था, उसी तरह प्रजा अपनी प्रभुसत्ता राजा को हस्तान्तरित करने के बाद स्थायी रूप से उसकी वशीभूत दास हो जाती है। राजा का अपनी प्रजा पर वैसा ही शासन है, जैसा स्वामी का दास पर, पति का पत्नी पर। राजा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह प्रजा के हित की दृष्टि से शासन करे। राजा का प्रजा पर वैसा ही अधिकार है, जैसा किसी व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति (Dominium) पर होता है। जैसे वह इसे बेच सकता है, विरासत में किसी को दे सकता है, वैसे ही राजा को अपनी प्रभुसत्ता के विक्रय, दान या विरासत में दूसरे को देने का अधिकार है।

ग्रोशियस के इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजा राजा के विरुद्ध प्रतिरोध या विद्रोह के अधिकार नहीं रखती है। यदि राजा उन पर कोई अत्याचार करे तो उसके मत में प्रजा को इसका कोई प्रतिकार नहीं करना चाहिए। यदि वह ईश्वर के या प्रकृति के किसी नियम के प्रतिकूल कोई आदेश दे तो इसका पालन नहीं करना चाहिए, किन्तु इस आज्ञा-भंग के दुष्परिणामों को चुपचाप बिना किसी विरोध के सहन कर लेना उचित है, क्योंकि यदि प्रतिकार का अधिकार मान लिया जाए तो सामाजिक जीवन असम्भव हो जाएगा। इस प्रकार उसने राजाओं के निरंकुश अधिकार का प्रबल समर्थन किया। राजा पर वह केवल प्राकृतिक कानून ईश्वरीय कानून, वैधानिक कानून और राष्ट्रों के कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिबन्ध ही मानता है, उसे इन कानूनों की व्यवस्था का पालन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त राजा किसी अन्य मानवीय इच्छा या राजकीय कानून के आधीन नहीं है। वह इनसे मुक्त, सर्वथा स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द

शासक है। ग्रोशियस के प्रभाव से लगभग एक शताब्दी तक यूरोप में राजाओं की निरंकुश राजसत्ता का सिद्धान्त बहुत प्रबल बना रहा। किन्तु इसके साथ ही उसके उपर्युक्त संविदा के सिद्धान्त से निरंकुश राजसत्ता के विरोधियों को भी बहुत बल मिला। इस प्रकार उसने इसके पक्ष और विपक्ष दोनों को पुष्ट किया। डनिंग ने लिखा है, "अतः एक ओर जब ग्रोशियस के ग्रन्थ ने निरंकुश राजसत्ता के पक्ष को प्रोत्साहित किया, वहाँ दूसरी ओर इसने सीमित (वैध) शासन के पक्षपातियों को बड़ी सहायता और सान्त्वना प्रदान की।"[1]

ग्रोशियस का मूल्यांकन—उसकी सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का, राष्ट्रों के एक-दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्त्तव्यों और पारस्परिक सम्बन्धों का सुस्पष्ट एवं विशद प्रतिपादन था। इसकी उस समय अत्यधिक आवश्यकता थी। ईसाइयत उस समय राष्ट्रों द्वारा किए जाने वाले बर्बरतापूर्ण कृत्यों का निरोध करने में विफल हो चुकी थी। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में चारों ओर अराजकता, नृशंसता और क्रूरता का साम्राज्य था। उस समय इसके निरोध के लिए ईसाइयत से पृथक् एक नया धर्म व भिन्न आधार आवश्यक था। ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून और राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करके यह नया सुदृढ़ आधार प्रस्तुत किया। उन दिनों मेकियावेली के प्रभाव से राज्य के लिए नैतिक और अनैतिक सभी उपायों को वांछनीय समझे जाने से अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के क्षेत्र में अराजकता छा गई थी। ग्रोशियस का सबसे बड़ा कार्य इसका विरोध करना था। वह युद्ध बन्द करने में तो सफल नहीं हो सका, किन्तु उसे इनकी बर्बरता और नृशंसता को कम करने में और युद्धों में किए जाने वाले अमानवीय कार्यों के नियन्त्रण में अवश्य कुछ सफलता मिली।

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 190.

तेरहवाँ अध्याय

संविदावादी हॉब्स (1588-1679 ई०)

सामाजिक अनुबन्ध की नवीन परम्परा का श्रीगणेश—हॉब्स को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) की परम्परा को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में ऐसा नवीन गौरव तथा महत्त्व प्रदान किया कि अगली एक शताब्दी तक राजनीतिक विचारक इसपर तथा इससे सम्बद्ध समस्याओं—प्राकृतिक दशा (State of Nature) तथा प्राकृतिक अधिकारों पर प्रधान रूप से विचार करते रहे। वस्तुतः सामाजिक अनुबन्ध या समझौते का विचार नवीन नहीं था। इसका प्रतिपादन प्राचीनकाल में भारतीय, चीनी तथा यूनानी विचारकों ने किया था। इस विचार का मूल तत्त्व यह था कि राज्य की स्थापना एक अनुबन्ध, समझौते या संविदा द्वारा हुई है। प्लेटो तथा अरस्तू से पहले यूनान में सोफिस्टों ने इस विचार का प्रतिपादन किया था। बाइबल के पुराने अहदनामे (Old Testament) में इसका कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है। किन्तु इस सिद्धान्त को अधिक लोकप्रियता कई कारणों से मध्ययुग के अन्त में तथा वर्तमान युग के आरम्भ में ही मिली। इसका **पहला** कारण चर्च द्वारा बाइबल के आधार पर इस विचार को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में महत्त्व देना था। **दूसरा** कारण मध्ययुग की सामन्तवादी परिस्थितियाँ थीं। इनके अनुसार स्वामी (Lord) तथा सामन्त (Vassal) के बीच एक-दूसरे के प्रति विशिष्ट सम्बन्ध और दायित्व होते थे, इन्हें दोनों पक्ष स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार करते थे, ये एक समझौते द्वारा निश्चित किए जाते थे। इसी के आधार पर यह कल्पना किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था कि राजा और प्रजा के सम्बन्ध भी इसी प्रकार एक समझौते या अनुबन्ध द्वारा निश्चित होते हैं। **तीसरा** कारण मध्ययुग में होने वाला कानूनी विकास था। इस समय रोमन कानून में हिस्सेदारी (Partnerships) तथा निगमों (Corporations) की विधियों का विचार, इंगलिश कानून में अनुबन्ध, समझौते या संविदा (Contract) का कानूनी विचार विकसित एवं परिष्कृत हुआ। इन सब कार्यों से मध्ययुग के अन्त में सामाजिक संविदा के विचार का विकास तेजी से होने लगा।

14वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ओकमवासी विलियम (1280-1347) ने पोप तथा पवित्र रोमन सम्राट् (Holy Roman Emperor) की सत्ता पर अंकुश लगाने के लिए प्रकृति के नियम (Law of Nature) पर बल देते हुए यह कहा कि राजा के शासन तथा वैयक्तिक सम्पत्ति का आधार शासितों की सहमति है। 16वीं शताब्दी के

अन्त तक यह विचार बड़ा लोकप्रिय हो गया तथा इसका उपयोग प्रजा पर राजाओं के निरंकुश अधिकार रखने का विरोध करने के लिए किया जाने लगा। जेसुइट सम्प्रदाय के विचारकों ने इस विचार को इस दृष्टि से बड़ा उपयोगी पाया कि इसके आधार पर राजाओं की लौकिक सत्ता का तथा धार्मिक मामलों में उनके हस्तक्षेप का विरोध किया जा सकता था। 16वीं शताब्दी में स्काटलैण्ड के जार्ज बुकानन (1506-82) ने तथा जर्मन विधिशास्त्री एलथुसियस (Johannes Althusius) ने इसका प्रबल समर्थन किया। बुकानन ने रानी मेरी (Mary 1516-58) को राजगद्दी से हटाने का समर्थन राजा और प्रजा के बीच में हुए समझौते के आधार पर किया। उसका यह विश्वास था कि मनुष्य आरम्भ में पशुओं की तरह रहते थे, समूह में रहने की तथा आत्मरक्षा की भावना से विवश होकर उन्होंने राज्य, शासन और कानून का निर्माण एक समझौते द्वारा किया। इसमें राजा ने प्रजा पर न्यायपूर्वक शासन करने का वचन दिया, और प्रजा ने राजा को शासन का अधिकार दिया। यदि राजा अन्यायी और अत्याचारी है तो प्रजा को उसे पदच्युत करने का तथा प्राणदण्ड देने का अधिकार है क्योंकि शासन की अन्तिम सत्ता प्रजा में ही निहित है। डच गणराज्य की सीमा पर रहने वाले जर्मन विधिशास्त्री एलथुसियस ने इस सिद्धान्त का अधिकतम वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित प्रतिपादन करते हुए यह बताया कि राज्य का निर्माण छोटे-छोटे समूहों से मिलकर होता है, ये समूह आवश्यकताओं के कारण बनते हैं और समझौते या अनुबन्ध पर आधारित होते हैं। अन्तिम सत्ता जनता में रहती है। इन विचारकों ने अपनी रचनाओं द्वारा निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—आरम्भिक प्राकृतिक दशा (Original State of Nature), प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की सत्ता, जनता में प्रभुसत्ता का निहित होना। बाइबल तथा यहूदियों के इतिहास, रोमन कानून तथा मध्यकालीन चर्च के विचारकों से इन्हें ग्रहण करके इस समय इन्हें तत्कालीन समस्याओं पर लागू करके पुष्ट किया गया। इस समय इस सिद्धान्त का सामयिक महत्त्व इसलिए बढ़ गया कि राजा और प्रजा के बीच में समझौते या अनुबन्ध के विचार को मानने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इसके अनुसार राजा को शासन का अधिकार प्रजा की रक्षा और न्याय करने के लिए दिया जाता है, यदि यह अत्याचारी है और अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है तो प्रजा को उसे पदच्युत करने का पूरा अधिकार है। मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था में लोगों को अनुबन्ध का विचार सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता था, अतः इसे उस समय बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई।

17वीं, 18वीं शताब्दियों में अधिकांश राजनीतिक विचारकों ने इसे स्वीकार किया। इस समय इसे लोकप्रियता प्राप्त होने का पहला कारण यह था कि राजाओं के निरंकुश दैवी अधिकार के सिद्धान्त की तुलना में यह सिद्धान्त विचारकों को अधिक तर्कसंगत, युक्तियुक्त और उपयुक्त जान पड़ता था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्ष-पोषकों को यह इसलिए अच्छा जान पड़ता था कि इससे राजाओं की निरंकुश सत्ता को मर्यादित करने के लिए इस पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते थे। यह बुद्धिवाद का युग (Age of Reason) था। बुद्धिवादी विचारक बाइबल के प्रमाणों पर आधारित विचार करने की धर्मशास्त्रीय पद्धति (Theological method) को नापसन्द करने

लगे थे, उन्हें यह सिद्धान्त इसलिए पसन्द था कि यह बुद्धिवाद पर आधारित था, शासन-सत्ता के लिए यह एक ऐसा मानवीय आधार प्रस्तुत करता था, जिस पर विचार और आलोचना की जा सकती थी। इस सिद्धान्त की लोकप्रियता का दूसरा कारण यह था कि यह समाज के विकास में मनुष्य की इच्छा एवं बुद्धि द्वारा सोच-विचार करके किए जाने वाले कार्यों को महत्त्वपूर्ण समझता था, व्यक्ति के कुछ स्वाभाविक अधिकार मानता था और इनकी रक्षा करने पर बल देता था। इन कारणों से 17वीं-18वीं शताब्दियों के लगभग सभी प्रमुख राजनीतिक चिन्तकों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। इसका सबसे अधिक विशद प्रतिपादन हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने किया। इस अध्याय में हॉब्स के सिद्धान्तों का परिचय दिया जाएगा, अगले अध्यायों में लॉक तथा रूसो के विचारों की विवेचना की जाएगी।

हॉब्स की जीवनी—जिस वर्ष स्पेन के विशाल बेड़े (1588 ई०) ने ग्रेट ब्रिटेन पर आक्रमण किया, उसी वर्ष इसके भीषण भय से संत्रस्त इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर माम्ज़बरी (Malmesbury) में, अंग्रेजी में राजनीतिशास्त्र पर पहला क्रमबद्ध और व्यवस्थित ग्रन्थ लिखने वाले विचारक थामस हॉब्स का जन्म एक पादरी के घर में हुआ। वह बचपन से विलक्षण प्रतिभाशाली था और 91 वर्ष की परिपक्व आयु तक उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों में कोई क्षीणता नहीं आई। 14 वर्ष की आयु में उसने यूरीपाइडीज़ की **दी मिडीआ** (The Medea) का यूनानी से लैटिन पद्यों में भाषान्तर किया तथा 88 वर्ष की आयु में उसने होमर के काव्यों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया और 91 वर्ष की अवस्था में वह अपने एक ग्रन्थ की प्रेस कापी तैयार करने में संलग्न था। 15 वर्ष की आयु में वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और पाँच वर्ष बाद वह विश्वविद्यालयों में प्रचलित तत्कालीन स्कालेस्टिक शिक्षा-पद्धति के प्रति तीव्र घृणा लेकर स्नातक हुआ।

1608 ई० में वह बीस वर्ष की अल्पायु में इंगलैण्ड के कैवेण्डिश नामक एक सम्भ्रान्त उच्च कुल में विलियम कैवेण्डिश का शिक्षक नियत हुआ, जीवन-भर इस परिवार के साथ उसका सम्बन्ध बना रहा और इसने उसके बौद्धिक विकास पर गहरा प्रभाव डाला। 1610 ई० में अपने शिष्य के साथ यूरोप की पहली यात्रा करते हुए उसे वहाँ के दार्शनिक विद्वानों के तथा नवीन भौतिक विज्ञान के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और यह ज्ञात हुआ कि आक्सफोर्ड का दर्शन बहुत पुराना पड़ चुका है। इसके साथ ही इस परिवार में शिक्षा देने के कारण उसे तत्कालीन इंगलैण्ड के बेकन, बेन जानसन जैसे बुद्धिजीवियों से परिचित होने का अवसर मिला और उसकी बौद्धिक क्रियाशीलता में बड़ी वृद्धि हुई। 49 वर्ष की अवस्था में वह यूक्लिड की पुस्तक देखते ही रेखागणित का प्रेमी हो गया। इसी समय उसे यह विश्वास हो गया कि सब अनुभूतियाँ गति (Motion) का परिणाम हैं। अपने शिष्य के साथ यूरोप की दूसरी यात्रा में उसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलिओ से भेंट का अवसर मिला। वह फ्रेंच दार्शनिक देकार्त (Descartes) के मित्रों के सम्पर्क में आया। 1640 ई० में राजा और पार्लियामेण्ट में संघर्ष छिड़ने पर उसका ध्यान गणितशास्त्र से राजनीतिशास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उसने निरंकुश राजसत्ता के समर्थन में एक पुस्तक लिखी और इस कारण इंगलैण्ड में अपना रहना संकटपूर्ण समझते हुए वह भागकर फ्रांस चला गया।

अगले 11 वर्ष पेरिस और हालैण्ड में निवास करते हुए वह De cive तथा सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **लेवियाथन** के प्रणयन में लगा रहा। औब्रे (Aubrey) के शब्दों में "इस समय वह बहुत घूमता था और विचार करता रहता था। घूमते समय वह अपनी छड़ी की मूठ में एक लेखनी और दवात तथा जेब में नोटबुक रखता था ताकि नया विचार आते ही वह उसे लिपिबद्ध कर ले।"[1] इसी समय वह पेरिस में इंग्लैण्ड में भागकर आए हुए युवराज तथा भावी राजा चार्ल्स द्वितीय का गणितशास्त्र का शिक्षक भी रहा।

1651 ई० में लन्दन से उसका **लेवियाथन** प्रकाशित हुआ। इसके अन्तिम भाग में उसने रोमन कैथोलिक चर्च पर 'अन्धकार के राज्य' के नाम से एक विस्तृत प्रकरण लिखकर इसकी बड़ी कटु आलोचना और तीव्र भर्त्सना की थी। इस अवस्था में उसका कैथोलिक फ्रांस में रहना भी निरापद नहीं रहा। साथ ही पेरिस में ब्रिटिश राजसत्ता के पक्षपाती भी उससे प्रसन्न नहीं थे, क्योंकि इसमें उसने लिखा था कि जो भी सरकार शक्तिशाली हो, उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। अतः उसे फ्रांस से भागकर पुनः क्रामवेल के इंगलैण्ड में शरण लेना ही श्रेयस्कर जान पड़ा। 1655 ई० में उसने De corpore तथा 1659 में De Homine नामक ग्रन्थ लिखे। इनसे वह नास्तिक-शिरोमणि समझा जाने लगा और कट्टर प्यूरिटन शासन में उसके जीवन पर पुनः संकट के बादल मंडराने लगे। किन्तु उसके सौभाग्य से 1660 ई० में क्रामवेल द्वारा स्थापित कामनवैल्थ की समाप्ति हुई, इंगलैण्ड में राजतन्त्र की पुनः स्थापना (Restoration) हुई और पेरिस में उससे गणित पढ़ने वाला युवराज चार्ल्स द्वितीय के नाम से ग्रेट ब्रिटेन की राजगद्दी पर बैठा, इससे उसके जीवन का संकट टल गया।

कहा जाता है कि चार्ल्स ने लन्दन वापिस लौटने पर अपने पुराने शिक्षक को सड़कों पर पहचान लिया, उसके आदर के लिए अपना टोप उतार लिया[2] और बुद्धिमानों के सत्संग के प्रेमी राजा ने यह आज्ञा दी कि यह अनुभवी दार्शनिक जब कभी दरबार में आए, तो इसे अन्दर बुला लिया जाए और वह उसके आने पर कहा करता था कि चारे के प्रलोभन से वश में किया जाने वाला भालू आ रहा है (Here comes the bear to be baited)। उसने हॉब्स के लिए 100 पौण्ड की वार्षिक पेंशन बाँध दी

किन्तु लार्ड चान्सलर क्लेरैण्डन तथा अन्य बिशप हॉब्स के घोर विरोधी थे। 1666 ई० के बाद हॉब्स का विरोध बढ़ने लगा। लन्दन में प्लेग फैलने तथा महान् अग्नि (Great Fire) लगने पर धार्मिक व्यक्तियों ने इसे नास्तिकता का परिणाम समझा, इसके दमन के लिए पार्लियामेण्ट ने लेवियाथन जैसे नास्तिक ग्रन्थों की जाँच के लिए कमेटी बनाई। कुछ बिशपों ने हॉब्स को नास्तिक के रूप में चिता पर जलाने का सुझाव दिया।[3] इससे 78 वर्ष का वृद्ध दार्शनिक इतना आतंकित हुआ कि उसने अपने कुछ कागज जला डाले और एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया कि वैध रूप से उसे नास्तिकता के लिए फांसी नहीं दी जा सकती और अपने को धार्मिक सिद्ध करने

1. थामस हॉब्स—लेवियाथन (एवरीमैन्स लाइब्रेरी संस्करण, 1959), भूमिका, पृ० 9.
2. गूच—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड फ्राम बेकन टू हैलिफक्स, पृ० 39.
3. लेवियाथन का पूर्वोक्त संस्करण, भूमिका, पृ० 10.

के लिए उसने गिरजे में जाना शुरू कर दिया।[1] राजा ने हॉब्स को विवादास्पद लेख लिखने के लिए मना किया और उसके विरोधियों को भी कोई कड़ी कार्यवाही करने से रोक दिया। 80 वर्ष की आयु में लिखी गई अपनी रचना Behemoth or a Dialogue on the Civil Wars में 1640 से 1660 तक के गृहयुद्ध की विवेचना करते हुए उसने इसका उत्तरदायित्व पार्लियामेण्ट के समर्थकों पर डाला तथा उन वैध राजतन्त्रवादियों की आलोचना की, जो इंगलैण्ड में राजा का शासन और अधिकार पार्लियामेण्ट द्वारा सीमित करना चाहते थे। इसी समय (1668 ई०) लिखे गए Dialogue of the Common Laws में उसने यह सिद्ध किया कि राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश और एकमात्र विधिनिर्माता है, प्रजा में उसे नियन्त्रित करने की कोई क्षमता नहीं है। 1679 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

लेवियाथन– हॉब्स के राजनीतिक विचारों का सर्वोत्तम परिचय 165. ई० में प्रकाशित लेवियाथन से मिलता है। बाइबल के कथनानुसार यह एक समुद्री राक्षस है। किन्तु हॉब्स इसका प्रयोग प्राकृतिक दशा की अराजकता और मात्स्य न्याय का अन्त करने की दृष्टि से मनुष्यों द्वारा किए गए समझौते से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राजशक्ति के लिए करता है। उसने अपनी पुस्तक के मुखपृष्ठ पर इसे सब मनुष्यों से मिलकर बनने वाले एक विराट् पुरुष या महामानव के रूप में चित्रित किया है। महामानव या लेवियाथन की सारी देह छोटे-छोटे मनुष्यों से भरी हुई है जो यह सूचित करती है कि सबने अपने अधिकार इसे देकर सामाजिक समझौते से सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न लेवियाथन का निर्माण किया है। मुखपृष्ठ के उपरले आधे हिस्से में यह दिखाया गया है कि एक सुव्यवस्थित रीति से बसाए नगर और पहाड़ के पीछे लेवियाथन के रूप में मुकुटमण्डित, दाएँ हाथ में तलवार तथा बाएँ हाथ में धर्मदण्ड धारण किए हुए महामनाव खड़ा हुआ है। इसका यह अर्थ है कि शासन और धर्म के दोनों क्षेत्रों में उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। कटिपर्यन्त दृष्टिगोचर होने वाली उसकी सारी देह उसकी ओर कृपा के लिए निहार रहे छोटे-छोटे मनुष्यों के चित्रों से ढँकी हुई है। यह इस बात का प्रतीक है कि सब मनुष्यों ने समझौते द्वारा अपनी शक्ति उसे समर्पित कर दी है तथा वे भक्तिभाव से प्रणत होकर उसकी सब आज्ञाओं का पालन करने के लिए प्रस्तुत हैं। मुखपृष्ठ के निचले हिस्से के बीच में ग्रन्थ तथा लेखक का नाम तथा दोनों ओर फ्रेमों राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ता को अभिव्यक्त करने वाले चार-चार चित्र बने हुए हैं। लेवियाथन के मस्तक पर लैटिन के ये प्रभावशाली शब्द अंकित हैं—Non est potestas super terram quoe comparetur ei (भूतल पर इसके तुल्य शक्ति रखने वाला कोई दूसरा नहीं है)। हॉब्स ने अपने प्राक्कथन में लिखा है कि यह महान् लेवियाथन ही राज्य है, जो यद्यपि डीलडौल और शक्ति की दृष्टि से प्राकृतिक मनुष्य की अपेक्षा बड़ा है, पर स्वयं कृत्रिम मानव मात्र है और इसकी रचना प्राकृतिक मनुष्य की रक्षा के लिए हुई है। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है—Leviathan or the Matter, Form, and Power of a Commonwealth, Ecclesiastical and Civil, इसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अग्रलिखित हैं।

1. गूच—वही पुस्तक, पृ० 39

(1) **मानव-स्वभाव का स्वरूप**—हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव-समाज (Human Nature) के विश्लेषण से आरम्भ करता है। उसने विशुद्ध भौतिकवाद का अनुसरण करते हुए मनुष्य की आँख, कान, जिह्वा, नाक, त्वचा से होने वाली ऐन्द्रियिक प्रतीतियों का कारण बाह्य पदार्थों का हमारी इन्द्रियों पर दबाव डालना माना है। इसी तरह वह मनुष्य की ज्ञान प्राप्ति और कल्पना करने (Imagination) की प्रक्रिया को भी भौतिक और यान्त्रिक मानता है। उसके मतानुसार मनुष्य में दो प्रकार की गतियाँ हैं -- (क) अनैच्छिक (Involuntary) अथवा आवश्यक जैसे श्वास-प्रश्वास का चलना। (ख) ऐच्छिक (Voluntary), जैसे बोलना, चलना। कल्पनाशक्ति के कारण मनुष्य प्रयास करता है और यही सब ऐच्छिक क्रियाओं का मूल स्रोत है। यह प्रयास यदि इसे उत्पन्न करने वाले किसी पदार्थ की ओर होता है, तो इसे क्षुधा (Appetite), राग या अभिलाषा (Desire) कहते हैं। यदि यह इसे उत्पन्न करने वाले पदार्थ से दूर हटने का होता है तो इसे द्वेष (Aversion) या घृणा कहते हैं। इस प्रकार उसने भौतिक शास्त्र के आधार पर यह परिणाम निकाला कि अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उनकी ओर गति करना या प्रवृत्त होना राग और अनभीष्ट पदार्थों से हटने की ओर गति करना या निवृत्त होना द्वेष है। मनुष्य की सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय, साहस, क्रोध आदि की सब मनोभावनाएँ और वासनाएँ राग-द्वेष के कारण होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्ति का परिचय है।[1]

भलाई या बुराई का विचार भी हमारी गति की दिशा से निश्चित होता है। अपने-आप में कोई चीज अच्छी या बुरी नहीं है। यदि हम किसी पदार्थ की ओर अपने राग या अभिलाषा से प्रवृत्त होते हैं तो वह अच्छा है, और यदि हम किसी से परे हटना चाहते हैं तो वह बुरा है। मनुष्य आनन्द (Felicity) प्राप्त करना चाहता है। समय-समय पर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना तथा वांछित वस्तुओं के पाने में सफलता प्राप्त करना ही आनन्द है।[2] जिन साधनों से अपनी इच्छाएँ पूर्ण करते हुए आनन्द प्राप्त किया जाता है, उन साधनों को ही शक्ति (Power) कहते हैं। यह कई प्रकार की होती है, जैसे शारीरिक और मानसिक गुणों की उत्कृष्टता, धन-सम्पत्ति कीर्ति, मित्र और सौभाग्य।[3] मनुष्य इन साधनों के द्वारा आनन्द पाने का यत्न करते हैं।

प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान बनाया है। शारीरिक और मानसिक शक्तियों के संयोग से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। यह सम्भव है कि व्यक्ति शारीरिक बल की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल हो, किन्तु वह मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान्, धूर्त्तता और मक्कारी में उसकी अपेक्षा अधिक बलवान् हो सकता है। इस समानता के कारण मनुष्यों में संघर्ष छिड़ जाता है। वे एक-दूसरे को हराना और नष्ट करना चाहते हैं। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है। मनुष्यों में तीन कारणों से निरन्तर संघर्ष चलता रहा है। ये तीन कारण हैं—प्रतिद्वन्द्विता, भय (Diffidence) और कीर्त्ति कमाने और इसे बढ़ाने की लालसा। यद्यपि मनुष्य शान्ति चाहता है किन्तु उसे सदैव दूसरों से भय लगा रहता है, वह अपनी सम्पत्ति और

1. लेवियाथन, अध्याय 5.
2. वही, अध्याय 11.
3. वही, अध्याय 11.

अधिकार बढ़ाना चाहता है, अतः वह अपने साथियों के साथ शाश्वत संघर्ष में संलग्न रहता है।

(2) **प्राकृतिक दशा**—अपने उपर्युक्त स्वभाव के कारण मनुष्य इन्हें नियन्त्रित करने वाली शक्ति के अभाव में सदैव आपस में लड़ते रहते हैं। प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्ति प्राप्त करने की आकांक्षा सतत संघर्ष उत्पन्न करती है। जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु को पाने के लिए प्रयास करते हैं, तो उनमें प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जाती है। जब एक व्यक्ति इस आशंका से व्यथित रहता है कि दूसरे की शक्ति उससे अधिक न बढ़ जाए तो वह भयाक्रान्त होता है। मनुष्य में यह इच्छा भी स्वाभाविक है कि अन्य व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें, उसे अपने से बड़ा तथा ऊँचा समझें। अतः सब व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्पर्द्धा, अविश्वास और कीर्त्ति की कामना से निर्धारित होते हैं, और इसके फलस्वरूप सब एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं, जंगली जानवरों की तरह एक-दूसरे पर हमला करते हैं। प्राकृतिक अवस्था युद्ध की दशा होती है। हॉब्स के शब्दों में इसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अन्य व्यक्ति का शत्रु होता है, प्रत्येक मनुष्य का जीवन बड़ा असुरक्षित होता है। वह केवल अपनी शक्ति का ही भरोसा कर सकता है। हॉब्स ने इसे **'सब की सब के विरुद्ध लड़ाई'** (Bellum ominum contra omnes) की स्थिति कहा है।

हॉब्स के मतानुसार "इस प्राकृतिक दशा में किसी उद्योग या कला-कोशल का विकास नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य को यह भरोसा नहीं है कि वह उससे प्राप्त हो सकने वाले लाभ का उपभोग कर सकेगा। इस दशा में किसी प्रकार की संस्कृति, सभ्यता, भवन निर्माण, ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य का विकास नहीं हो सकता। मनुष्यों को सदैव भय और मृत्यु की आशंका बनी रहती है।" "मनुष्य का जीवन **एकाकी, निर्धन, कुत्सित, पशुतुल्य** (Brutish) **तथा छोटा होता है।**" यह एकाकी इसलिए होता है कि इस दशा में सब एक-दूसरे के शत्रु हैं और अपने से भिन्न व्यक्तियों को प्रबल आशंका, भय और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। इस दशा में उनमें किसी प्रकार का कोई सहयोग न होने से उन्हें एकाकी जीवन बिताना पड़ता है। वाणिज्य, व्यवसाय, कला और उद्योग-धन्धों का विकास न होने की दृष्टि से इस जीवन में निर्धनता का साम्राज्य था। यह कुत्सित (Nasty) इसलिए था कि इसमें युद्ध, मार-काट, हिंसा और हत्या का बोलबाला था। यह जीवन पशुतुल्य इसलिए था कि मनुष्य आपस में जंगली पशुओं जैसा व्यवहार करते थे। यह छोटा इसलिए था कि किसी भी क्षण कोई शक्ति-शाली दूसरे व्यक्ति के जीवन का अन्त कर सकता था। मनुष्य इस दशा में नरपशु और रक्त-पिपासु थे; शत्रुओं का दमन करने, शक्ति बढ़ाने और यश प्राप्त करने के लिए सब प्रकार की हिंसा और हत्या का अवलम्बन करते थे।

हॉब्स ने सतत संघर्ष और युद्ध की इस प्राकृतिक दशा की कई विशेषताएँ बताई हैं : **पहली** विशेषता इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव तथा सत् और असत् (Right and Wrong) का कोई विवेक न होना है। इसमें सभी मनुष्य अपनी मानसिक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। सभी अपने लिए हिंसा और हत्या को ठीक समझते हैं। उस समय तक समाज में विभिन्न कार्यों को नैतिकता की कसौटी पर कसने

का कोई मानदण्ड या नियम नहीं होता, अतः सभी कार्य नैतिक या अनैतिक माने जा सकते हैं। **दूसरी** विशेषता न्याय और अन्याय के विचार का अभाव है। हॉब्स का यह कहना है कि **जब तक सब मनुष्यों के ऊपर शासन करने वाली कोई शक्ति नहीं होती तब तक समाज में कोई कानून नहीं होता क्योंकि कानून शासक का आदेश होता है। जब कोई कानून नहीं होता तो न्याय और अन्याय का विचार नहीं हो सकता, क्योंकि** वही बात न्यायपूर्ण (Just) होती है, जो कानून के अनुकूल हो; इससे प्रतिकूलता रखने वाली बात अन्यायपूर्ण (Unjust) और अवैध होती है। **तीसरी** विशेषता इस दशा में वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव है। जहाँ सब व्यक्ति एक-दूसरे से लड़ने और गला काटने को तैयार बैठे हों, वहाँ किसी की स्थायी वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं हो सकती। जब तक किसी के पास शक्ति है, तब तक उसका अपनी वस्तुओं पर अधिकार है, शक्ति न रहने पर दूसरे व्यक्ति उससे यह सम्पत्ति छीन लेते हैं।[1] उसकी यह दशा भारतीय साहित्य के **मात्स्य न्याय** से मिलती है।

ऐसी प्राकृतिक अवस्था की सत्ता को हॉब्स किसी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं करता, किन्तु दैनिक जीवन से ऐसे तथ्य उपस्थित करता है, जिसके आधार पर इसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। इस समय राज्य के संरक्षण में रहते हुए भी हमारा सामाजिक जीवन सन्देह, अविश्वास और शंका की भावनाओं से ओत-प्रोत है। जब मनुष्य यात्रा पर निकलता है तो सम्भावित आक्रमण से रक्षा के लिए अपने को शस्त्रों से सुसज्जित करके चलता है। जब व्यक्ति घर में सोता है, तो दरवाजे बन्द कर लेता है। घर में व्यक्ति स्वयं रहने पर भी सन्दूक में ताला लगाता है। यह दशा तो उस समय की है, जब वह यह जानता है कि समाज और राज्य के नियम तथा कर्मचारी उसके रक्षक हैं। इसे देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि राज्य न रहने पर उपर्युक्त प्राकृतिक दशा अवश्य रही होगी।[2] इसका **दूसरा** प्रमाण अमरीका के रैड इण्डियनों में पाई जाने वाली स्थिति है। **तीसरा** प्रमाण गृहयुद्धों के समय सभ्य राज्यों के निवासियों द्वारा अपने देशवासियों के विरुद्ध प्रदर्शित की जाने वाली बर्बरता तथा क्रूरता है। हॉब्स को इंगलैण्ड के गृहयुद्ध का इस विषय में बड़ा कटु अनुभव था। **चौथा** प्रमाण वर्तमान राज्यों का एक-दूसरे के प्रति व्यवहार है। प्रत्येक देश अपने शत्रु के विरुद्ध सेनाएँ, दुर्ग और बन्दूकें तैयार रखता है, अपने जासूसों द्वारा शत्रु के देशों की गुप्त सूचनाएँ प्राप्त करता है। विभिन्न राज्य इन पर प्रभुता रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सर्वोच्च शासक के अभाव में जंगली जानवरों की तरह पड़ोसियों से लड़ने के लिए अपने नाखून और पंजे तेज करते रहते हैं। जब सभ्य राज्यों में यह स्थिति है तो राज-सत्ता के अभाव में मनुष्यों में उपर्युक्त शाश्वत संघर्ष की स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।

(3) प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम (Natural Rights and Natural Laws)—लेवियाथन के 14वें अध्याय में हॉब्स ने इसका प्रतिपादन किया है। प्राकृतिक अधिकार (Jus Naturalae) का तात्पर्य उसके मतानुसार, अपने जीवन के

1. लेवियाथन, अध्याय 13.
2. हॉब्स की उपर्युक्त प्राकृतिक दशा से सादृश्य रखने वाले वर्णन के लिए देखिए महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 68; वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, अध्याय 67; विष्णुधर्मोत्तर-पुराण, द्वितीय खण्ड, द्वितीय अध्याय।

संरक्षण के लिए मनुष्य को किसी कार्य को करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वह अपने जीवन-धारण के लिए किसी को लूटने, पीटने या जान से मार डालने की स्वतन्त्रता रखता है। टी० एच० हक्सली ने ऐसे अधिकार को **शेर का अधिकार** (Tiger Right) कहा है। जैसे शेर को अपना शिकार मारने की स्वतन्त्रता है, वैसे ही मनुष्य को भी हिंसा और हत्या की खुली छूट है, बशर्ते कि इससे उसकी इच्छाओं की पूर्ति हो सके।

किन्तु सब मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक-दूसरे की हत्या और लूट-पाट का अधिकार मिल जाता है। इससे जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। सर्वत्र भय का साम्राज्य होता है। वस्तुतः यह भय ही मनुष्यों को सब प्रकार के समझौतों, संविदाओं, नियमों और कानूनों का पालन करने के लिए बाधित करता है। **यदि यह भय न रहे तो मनुष्य कानूनों और समझौतों का पालन** करना बन्द कर देंगे क्योंकि उसके शब्दों में, **"संविदाएँ तलवार की शक्ति के बिना शब्द मात्र हैं, इनमें मनुष्य को बाँध रखने की तनिक भी क्षमता नहीं है।** पर सब मनुष्य इसे सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं। अतः वे प्राकृतिक दशा में भी अपनी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वार कुछ नियम बनाते हैं। ये प्राकृतिक नियम (Lex naturalis) कहलाते हैं। हॉब्स ने विभिन्न प्रकार के 19 नैसर्गिक नियम गिनाए हैं। इनमें तीन मुख्य हैं—(1) व्यक्ति को शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। (2) प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति स्थापना के लिए तथा व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से अपने सब अधिकारों का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत करना चाहिए, बशर्ते कि अन्य व्यक्ति भी ऐसा करने के लिए सहमत हों। (3) व्यक्ति को अपने समझौतों का पालन करना चाहिए। इन्हें यद्यपि नियम या कानून कहा जाता है, किन्तु वास्तव में ये ऐसे नहीं हैं। "वास्तव में ये ऐसे परिणाम या प्रमेय (Theorems) हैं, जो आत्मसंरक्षण में सहायक होते हैं। वस्तुतः कानून तो उस व्यक्ति का वचन होता है, जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है" (लेवियाo अध्याय 15)। इसका यह अर्थ है कि इन नियमों का पालन स्वार्थ बुद्धि से होता है। मनुष्य समाज में एक-दूसरे के साथ किए जाने वाले समझौतों का पालन इसलिए करते हैं कि यदि ऐसा न किया गया तो उनका अपना कार्य भी नहीं चल सकेगा।

(4) राज्य की उत्पत्ति : लेवियाथन का आविर्भाव—प्राकृतिक दशा के शाश्वत संघर्ष की स्थिति से संत्रस्त और चिन्तित होकर मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने यह सोचा कि आत्म-संरक्षण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस भयावह दशा का अन्त एक ऐसी शक्तिशाली सत्ता की स्थापना द्वारा किया जाए, जो प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करने में समर्थ हो। ऐसी सामान्य सत्ता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि अनेक इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का प्रभुत्व स्थापित हो तथा इसे स्थापित करने के लिए उपर्युक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार सब व्यक्ति अपने अधिकारों और शक्ति को एक व्यक्ति को या मनुष्यों की एक सभा को प्रदान करें, वे अपनी समूची इच्छाएँ एक व्यक्ति की इच्छा को समर्पित कर दें। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ एक समझौता (Covenant), संविदा या अनुबन्ध (Contract) करता है। प्रत्येक व्यक्ति इस आशय की शपथ लेता है -- **"मैं इस व्यक्ति को या व्यक्ति-समूह को इस**

शर्त पर अपना अधिकार देता हूँ तथा स्वयमेव अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूँ कि तू भी अपने अधिकार इसी प्रकार इस व्यक्ति को देगा और स्वशासन के अधिकार छोड़ देगा।" ऐसा करने पर सारा जनसमुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है, इसे राज्य (Commonwealth) या लैटिन में Civitas कहते हैं। यही उस महान् लेवियाथन या नश्वर देवता (Mortal God) का प्रजनन है, जिससे अविनश्वर ईश्वर (Immortal God) के बाद हमें अपनी शान्ति और प्रतिरक्षा प्राप्त होती है। यह लेवियाथन प्राकृतिक दशा की अराजकता और सभ्यता के मध्य एक दीवार की भाँति खड़ा है। इससे पहले समाज और राज्य की कोई सत्ता नहीं थी। इसके जन्म से ही इन दोनों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी समय से ज्ञान, संस्कृति, कला, व्यापार, व्यवसाय का श्रीगणेश हुआ; न्याय-अन्याय, सत-असत् के विचार उत्पन्न हुए। इसमें सब व्यक्तियों के अधिकार पुँजीभूत हैं। इसे ही सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक या सम्प्रभु (Sovereign) कहते हैं, इसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति इसका दास है। (लेवियाथन, अध्याय 10)

हॉब्स के राज्य को उत्पन्न करने वाले इस समझौते या अनुबन्ध की कई उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं : **पहली** विशेषता यह है कि इस विषय में उस समय तक के प्रचलित विचारों से यह मौलिक भेद रखता है। इससे पहले भी समझौते, अनुबन्ध या संविदा का प्रतिपादन किया गया था, किन्तु यह अनुबन्ध शासक और शासित, राजा और प्रजा के बीच शासन की दृष्टि से होता था, अतः इसे **शासनात्मक संविदा** (Governmental Contract) कहते थे। किन्तु हॉब्स का समझौता राजा और प्रजा के मध्य में नहीं है, किन्तु विभिन्न व्यक्तियों के बीच में हुआ है। इन लोगों ने लेवियाथन या नश्वर देव के सम्मुख अपने अधिकारों को छोड़ने की शपथ ली है। वह इन शपथों से ऊपर उठा हुआ है क्योंकि इसने कोई प्रण नहीं किया। मनुष्य देवता के आगे शपथ लेते हैं, देवता कोई शपथ नहीं लेता। अतः लेवियाथन इस समझौते से ऊपर उठा हुआ, इससे सर्वथा स्वतन्त्र और पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी स्वच्छन्द शासक है। इस समझौते को करने वाली पार्टी न होने के कारण वह इसके पालन के लिए बाध्य नहीं है। इस समझौते से प्राकृतिक अवस्था में एकाकी रहने वाले व्यक्तियों ने समाज का निर्माण किया है। अतः यह **सामाजिक समझौता** (Social Contract) है और पूर्ववर्ती विचारकों के शासनात्मक समझौते से भिन्न है।[1] **दूसरी** विशेषता यह है कि इस समझौते का लक्ष्य आन्तरिक शान्ति और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना है। यह समझौते का आवश्यक तत्त्व है। अतः समझौता बनाए रखने के लिए इस शर्त का पालन होते रहना आवश्यक है। इन विशेषताओं के आधार पर प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में हॉब्स ने कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निश्चित किए हैं।

(5) **प्रभुसत्ता** (Sovereignty)—हॉब्स का लेवियाथन अथवा सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सर्वोच्च शासक या सम्प्रभु पूर्ण रूप से निरंकुश है, उसका आदेश ही कानून है। उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। प्रभुसत्ता सर्वथा अविभाज्य और अखण्ड है। इसी

---

1. डनिंग—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरीज फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० 279.

लिए वह मिश्रित शासन-व्यवस्था (Mixed Government) का विरोधी है। उसका यह मत है कि इंगलैण्ड में गृहयुद्ध की ज्वालाएँ भड़कने का मुख्य कारण यह भ्रान्त धारणा थी कि प्रभुसत्ता राजा, लार्डसभा तथा लोकसभा (House of Commons) में विभक्त थी।

प्रभुसत्ता को प्रजाजनों पर अपरिमित, असीम अधिकार प्राप्त हैं। ये लोगों ने प्राकृतिक दशा की अराजकता से परित्राण पाने तथा जीवन की रक्षा करने के लिए उसे प्रदान किए हैं, एक बार इन्हें दे देने के बाद उनके पास कोई अधिकार नहीं रह जाते। उनका एकमात्र कार्य प्रभु के आदेशों का पालन करना है। भले ही ये आदेश ईश्वर के तथा प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल हों, किन्तु राजा का आदेश होने के कारण ये न्यायपूर्ण और वैध हैं, अतः इनका पालन होना चाहिए। उसे अपनी प्रजा की सम्पत्ति को भी छीनने का अधिकार है, क्योंकि वही इसका स्रष्टा और प्रदान करने वाला है। **यदि उसकी तलवार का भय न रहे तो किसी के पास कोई सम्पत्ति न रहे।** इसी प्रकार उसे अपने प्रजाजनों के प्राण लेने का भी अधिकार है, क्योंकि यदि उसका नियन्त्रण हट जाए तो समाज में किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता है।

हॉब्स उपर्युक्त सामाजिक समझौते के आधार पर प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकालता है: **पहला** परिणाम यह है कि प्रभु द्वारा इस समझौते का भंग होने पर भी प्रजा को इसका उल्लंघन करने का अधिकार नहीं मिल सकता, क्योंकि वह इस समझौते को करने वाली है। यह समझौता विशाल जन-समूह के प्रत्येक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के साथ किया है और अपने अधिकार तीसरे पक्ष सम्प्रभु को प्रदान किए हैं। सम्प्रभु (Sovereign) ने कोई समझौता नहीं किया, उसके पास अपने सब अधिकार तथा शक्तियाँ बनी हुई हैं। वह कोई भी कार्य करे, प्रजा के साथ कभी अन्याय नहीं कर सकता, क्योंकि हॉब्स के मत में अन्याय का अर्थ है समझौते की शर्तें तोड़ना। जब प्रभु ने कोई समझौता ही नहीं किया तो वह उसकी शर्तें कैसे तोड़ सकता है? वह अपने प्रजाजनों के साथ पक्षपातपूर्ण और विषम व्यवहार (inequality) तो कर सकता है, किन्तु अन्याय कभी नहीं कर सकता है।[1]

दूसरा उल्लेखनीय परिणाम यह है कि प्रजा द्वारा किसी भी कारण से किया जाने वाला आज्ञाभंग अन्यायपूर्ण है क्योंकि यह अपनी वैयक्तिक इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन कर देने वाले उपर्युक्त समझौते के प्रतिकूल है। **तीसरा** उल्लेखनीय परिणाम यह है कि राज्य की अल्पसंख्या प्रभुसत्ता का विरोध इस आधार पर नहीं कर सकती कि बहुसंख्या द्वारा चुने जाने वाले सर्वोच्च शासक को उसने स्वीकार नहीं किया था। इस विषय में अल्पसंख्यकों की दो ही स्थितियाँ सम्भव हैं: पहली तो यह कि उन्होंने उस समय बहुमत का निर्णय स्वीकार किया था और दूसरी यह कि इसे स्वीकार नहीं किया था। यदि स्वीकार किया था तो अब इसका उल्लंघन हॉब्स की परिभाषा के अनुसार अन्यायपूर्ण है और यदि नहीं स्वीकार किया तो वे अब भी प्राकृतिक दशा में हैं और उनके विरुद्ध युद्ध के सभी अधिकार प्रभु को प्राप्त हैं।

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 282.

प्रभुसता या सम्प्रभुत्ता (Sovereignty) का मुख्य उद्देश्य अराजकता का अन्त करके शान्ति स्थापित करना है। इसे वह निम्नलिखित विशेष कार्यों (Specific functions) से पूरा करती है—(1) यदि प्रजाजनों को भाषण, लेखन और विचारों की अभिव्यक्ति की मिल्टन द्वारा प्रतिपादित निर्बाध स्वतन्त्रता दी जाए तो इससे लोगों में मतभेद, वैमनस्य, कलह और अशान्ति की वृद्धि होगी। अतः सर्वोच्च सत्ता का यह कार्य है कि वह जनता के विचारों और सिद्धान्तों का नियन्त्रण करे। (2) प्रभुसत्ता को प्रजाजनों की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है, वह इसे अपनी इच्छानुसार छीनने का भी अधिकार रखती है। (3) उसे अपने प्रजाजनों के सब विवादों के निर्णय करने का अन्तिम अधिकार है, यदि वह ऐसा न करे तो राज्य में आन्तरिक शान्ति नहीं बनी रह सकती है। (4) उसे अन्य देशों से युद्ध छेड़ने और सन्धि करने का तथा अपनी नीति को क्रियान्वित करने के लिए प्रजाजनों के सम्पूर्ण साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का अधिकार है। (5) प्रभु शासन के सब अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत है। ये कार्य और अधिकार प्रभुसत्ता की मौलिक विशेषताएँ और भेदक चिह्न हैं। इन्हें किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता, अतः ये असम्प्रदेय (Incommunicable) हैं। ये उससे पृथक् नहीं किए जा सकते। ये अवियोजनीय (Inseparable) हैं। इनके अतिरिक्त उसे अपनी मुद्रा चलाने आदि के भी कुछ अधिकार हैं, किन्तु इन्हें प्रभुसत्ता अपनी इच्छा से दूसरे को दे सकती है। हॉब्स का प्रभुसत्ता का विचार बोदैं के विचार से महत्त्वपूर्ण भेद रखता है। बोदैं प्रभुसत्ता पर ईश्वर के नियम (Divine Law), प्रकृति के नियम (Natural Law) तथा राज्य के मौलिक नियमों (Fundamental Law) के तीन प्रकार के प्रतिबन्ध स्वीकार करता है, किन्तु हॉब्स अपनी प्रभुसत्ता पर ऐसी कोई मर्यादा या प्रतिबन्ध नहीं मानता। बोदैं के मत में राजा को प्रजा की वैयक्तिक सम्पत्ति छीनने का अधिकार नहीं है, हॉब्स उसे यह अधिकार प्रदान करता है। अतः हॉब्स की प्रभुसत्ता बोदैं की प्रभुसत्ता की अपेक्षा अधिक निरंकुश और पूर्ण अधिकार रखने वाली है। उसकी प्रभुसत्ता असीम, अखण्ड, अविभाज्य और अदेय है।

(6) **व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकार**—हॉब्स अपने राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्राकृतिक दशा के **व्यक्तियों के वैयक्तिक अधिकारों के साथ करता है और इसकी समाप्ति प्रभुसत्ता की निरंकुशता के साथ।** वह इस दृष्टि से व्यष्टिवादी है कि उसके राजनीतिक सिद्धान्त का श्रीगणेश व्यक्ति के हित से होता है, किन्तु जब एक बार राज्य बन जाता है तो व्यक्ति अपने अधिकार प्रभुसत्ता को सौंप देते हैं।[1] इसके बाद वह मिल्टन की भाँति व्यक्ति की स्वतन्त्रता, भाषण, लेखन और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के कोई अधिकार नहीं मानता, क्योंकि आरम्भिक सामाजिक समझौता करते समय मनुष्यों ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे राज्य के नियमों का पालन करेंगे। वह व्यक्ति के केवल दो ही अधिकार मानता है—(i) ऐसे सब काम करने की स्वतन्त्रता, जो राज्य के कानूनों द्वारा न रोके गए हों। कानूनों के भीतर रहते हुए भी व्यक्ति इच्छानुसार कोई भी कार्य करने का अधिकार रखता है, किन्तु इन्हें भंग करने पर राजदण्ड का भागी होता है। नागरिकों का हित इसी में है कि वे राजाज्ञाओं

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 295.

का पालन करें, अन्यथा अराजकता की भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। अतः राज्य की दासता व्यक्ति के हित की दृष्टि से आवश्यक है। वह केवल उन्हीं स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकता है, जो उसे राज्य द्वारा प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकरण में यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रजा को प्रभु या राजा के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं, किन्तु प्रभु को प्रजा के विरुद्ध यहाँ तक अधिकार प्राप्त हैं कि वह कोई वैध कारण न होने पर भी किसी नागरिक को निर्वासित कर सकता है, मार सकता है, उसकी सम्पत्ति छीन सकता है। उसका यह कार्य अन्यायपूर्ण नहीं है, क्योंकि उसने किसी समझौते को नहीं तोड़ा।

(ii) **आत्मसंरक्षण का अधिकार** – हॉब्स ने इस विषय में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा निरंकुश प्रभुसत्ता का पूर्ण विरोध करने का अधिकार दिया है। अपने जीवन की रक्षा के लिए ही प्राकृतिक दशा का अन्त करने के उद्देश्य से मनुष्यों ने सामाजिक समझौता किया था, राज्य की दासता स्वीकार की थी। राज्य के बन जाने से उनके शेष सब अधिकार समाप्त हो जाते हैं, किन्तु यह अधिकार नहीं समाप्त होता है। राज्य का प्रादुर्भाव, सत्ता और उपयोग इसी अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए हैं, उसका उद्देश्य ही जीवन की रक्षा है। अतः राज्य इस अधिकार का अपहरण नहीं कर सकता। यदि राज्य का कोई नियम नागरिक के जीवन पर आघात करता है तो वह इसका विरोध कर सकता है। हॉब्स ने लिखा है कि "प्रजा प्रभु की आज्ञा उसी समय तक मानने के लिए बाध्य है, जब तक उसमें प्रजा को संरक्षण प्रदान करने की शक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह राजा की ऐसी आज्ञाओं का पालन न करे, जिनमें उसे अपने-आपको मारने, घायल करने या अंगभंग(Maim) करने का आदेश हो अथवा उसपर हमला करने वालों के प्रतिरोध करने का निषेध हो अथवा जीवन चलाने के लिए आवश्यक अन्न, हवा, दवाई या अन्य किसी वस्तु को लेने का निषेध किया गया हो।" वह व्यक्ति अपने पर आक्रमण का प्रतिरोध कर सकता है, अपने प्राणों को संकट में डालने वाले अपराध को न्यायालय में अस्वीकार कर सकता है, सेना में भर्ती होने से इनकार कर सकता है, डरपोक होने के कारण प्राणरक्षा के लिए युद्धक्षेत्र से भाग सकता है। जीवन-रक्षा के आधार पर ही हॉब्स ने व्यक्ति को यह अधिकार भी दिया है कि जब किसी राज्य में गृहयुद्ध की स्थिति हो, इसमें पहले शासन करने वाली राजसत्ता निर्बल हो जाने के कारण नागरिकों की प्राणरक्षा करने में समर्थ न हो तो नागरिक अपनी राजभक्ति और निष्ठा पहली सत्ता से हटाकर नई सत्ता में रख सकते हैं। यह सिद्धान्त उसने लेवियाथन के अन्तिम उपसंहार में रखा है और उसके आलोचकों का यह कहना था कि यह सिद्धान्त उसने अपने वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से प्रतिपादित किया है। पहले वह राजपक्षपाती था, किन्तु इंगलैण्ड में राजा के विरोधी क्रामवेल की सत्ता सुदृढ़ होने पर हॉब्स उसके साथ मिल गया और इसे न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उसने इस मत का प्रतिपादन किया है।

(7) **व्यष्टिवाद** (Individualism)—आत्मसंरक्षण का अधिकार हॉब्स के राजनीतिक दर्शन में असाधारण महत्त्व रखता है। यह न केवल सर्वोच्च सत्ता के निरंकुश अधिकारों को मर्यादित करता है, किन्तु यह भी सूचित करता है कि हॉब्स ने

राजनीति में व्यष्टिवाद की विचारधारा का प्रवर्तन किया। उससे पहले राज्य और समाज को व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था, इनके हित को सर्वोपरि स्वीकार किया जाता था। हॉब्स पहला दार्शनिक था, जिसने व्यक्ति के हित को, उसके जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना, उसके मतानुसार राज्य और समाज की उत्पत्ति भी इसी हित को सुरक्षित बनाने के लिए हुई है। अतः राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीने के अधिकार की रक्षा करना है। राज्य की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि वह अराजकता का अन्त करके व्यक्तियों के जीवन संकट को दूर करता है। राज्य अत्यधिक निरंकुश अधिकार रखते हुए भी व्यक्ति के जीवन को नहीं कुचल सकता, उसके हितों का बलिदान नहीं कर सकता। उसको निरंकुश अधिकार इसी दृष्टि से दिए गए हैं कि वह समाज में शान्ति स्थापित रखे, व्यक्तियों का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित रखे। राजा की निरंकुश सत्ता का समर्थन व्यक्ति के हित की दृष्टि से किया गया है। हॉब्स के बारे में यह कथन यथार्थ है **कि हॉब्स निरंकुशतावादी होते हुए भी पूर्णरूप से व्यक्तिवादी है।**

अतः सैबाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि हॉब्स के "**प्रभु की सर्वोच्च शक्ति उसके व्यष्टिवाद का आवश्यक पूरक** (Necessary complement) है।"[1] उसकी रचनाओं में हमें सर्वप्रथम व्यष्टिवाद का आधुनिक तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। व्यक्ति के हित पर बल देने के कारण हॉब्स को **आधुनिक व्यष्टिवाद** (Individualism) **का अग्रदूत** कहा जा सकता है। उसका समूचा राजनीतिक दर्शन विशुद्ध व्यष्टिवादी है। डनिंग ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है, "उसके सिद्धान्त में राज्य की शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी इसका मूलाधार पूर्ण रूप से व्यष्टिवादी है। यह सब मनुष्यों की प्राकृतिक समानता पर उतना ही बल देता है, जितना मिल्टन या किसी अन्य क्रान्तिकारी विचारक ने बल दिया है। हॉब्स ने सर्वशक्तिशाली राज्य के विचार को स्वतन्त्र और समान व्यक्तियों के समुदाय से तर्कसंगत रीति से निकालने के लिए ही अपने इस नवीन विचार का विकास किया कि राज्य केवल व्यक्ति के साथ व्यक्ति के समझौते से जन्म ग्रहण करता है।"[1]

हॉब्स ने आत्मसंरक्षण के लिए व्यक्ति को प्रभुसत्ता की आज्ञा के प्रतिरोध का अधिकार देकर उसकी निरंकुश सत्ता को बहुत-कुछ नगण्य बना दिया है। इससे व्यक्ति को यह अधिकार मिल गया है कि वह स्वयं यह निर्णय करे कि कब उसके प्राण संकट में हैं और उसे राजा के आदेश का विरोध करना है। इस प्रकार व्यक्ति को राज्य की निरंकुशता का प्रतिरोध करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण ब्रह्मास्त्र मिल गया है। व्यक्ति इससे राजा की निरंकुश सत्ता का सफल प्रतिकार कर सकता है। अतः यद्यपि ऊपर से देखने में तो यह प्रतीत होता है कि हॉब्स निरंकुश सत्ता का समर्थक है, वास्तव में वह व्यक्ति के हितों का समर्थक होने से प्रबल व्यष्टिवादी है।

(8) **शासन के भेद**—शासन तीन प्रकार के हैं। यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में निहित हो तो राजतन्त्र (Monarchy) होता है, यदि कुछ व्यक्तियों में निहित हो

1. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 403.
2. डनिंग—पोलिटिकल थियोरीज फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० 302.

तो कुलीनतन्त्र तथा समाज के सब व्यक्तियों में निहित हो तो लोकतन्त्र।[1] इत नीन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कोई शासन नहीं होता है। प्रभुसत्ता को अविभाज्य मानने के कारण वह अरस्तू आदि की मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) की व्यवस्था का घोर विरोधी है। इन तीनों में से वह राजतन्त्र को निम्नलिखित कारणों से श्रेष्ठ समझता है -- (क) इसमें राजा का तथा राज्य का वैयक्तिक और सार्वजनिक हित एक होता है। राजा के धन और कीर्ति में वृद्धि राज्य की सम्पत्ति और यश को बढ़ाने वाली होती है। (ख) इसमें शासन की स्थिरता और स्थायित्व अधिक होता है। मनुष्य का स्वभाव बड़ा चंचल होता है, यदि कई व्यक्तियों का अथवा लोकतन्त्र का शासन होगा तो इसमें अधिक व्यक्तियों के कारण अत्यधिक चपलता और अस्थिरता होगी। एक व्यक्ति के हाथ में शासन रहने से अस्थिरता अधिक नहीं बढ़ पाती है। (ग) राजतन्त्र में यद्यपि अपने कृपापात्रों को धन और अधिकार देने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु कुलीनतन्त्र एवं लोकतन्त्र में यह बुराई बहुत अधिक बढ़ जाती है क्योंकि इनमें शासकों की संख्या अधिक होने से उनके कृपापात्र भी बढ़ जाते हैं। राजतन्त्र का सबसे बड़ा दोष उत्तराधिकार के कारण होने वाले झगड़े होते हैं। राज्य के सब विभाग, पार्लियामेण्ट, कारपोरेशन और मैजिस्ट्रेट अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, वे प्रभुसत्ता की इच्छा तथा आदेशों का पालन कराने के साधन मात्र हैं। प्रभुसत्ता के प्रधान कार्य शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना, व्यापार और उद्योग-धन्धों की देखभाल, शिक्षा का तथा धार्मिक उपासना का संचालन करना है। इन सब कार्यों को कानून बनाकर पूरा किया जाता है।

(9) **कानून**—डनिंग का यह मत है कि हॉब्स ने बोदैं के कानून के विचारों में सबसे बड़ा परिष्कार किया है।[2] उसके मतानुसार, "कानून उचित रूप से उसका वचन है, जिसे अन्य व्यक्तियों पर शासन का अधिकार है।"[3] यह लक्षण 19वीं शताब्दी के ब्रिटिश विधिशास्त्री आस्टिन के इस लक्षण से मिलता है कि कानून प्रभुसत्ता का आदेश होता है। हॉब्स सभी राजकीय कानूनों को प्रभु की इच्छा समझता है। उस समय राजाज्ञा के अतिरिक्त कई प्रकार के नियमों को कानून माना जाता था, जैसे प्रकृति के नियम, रीति-रिवाज, ईश्वरीय नियम। उसके मतानुसार प्रकृति के नियम (Natural Laws) कानून नहीं हैं, वे राज्य के संरक्षण और प्रतिरक्षा में सहायक समझे जाने वाले अनुमान या प्रमेय (Theorem) मात्र हैं। रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ (Customs) प्राचीनकाल से चले आने के कारण कानून नहीं हैं, किन्तु इसलिए कानून माने जाते हैं कि प्रभुसत्ता इसका पालन करना चाहती है। ये उसकी सहमति और स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकते। ईश्वर का नियम राजकीय कानून से ऊँचा होता है, किन्तु इसकी व्याख्या करने का अधिकार केवल राजा को है। प्रजा के लिए राजा की इच्छा ही कानून है।

(10) **राज्य और चर्च का सम्बन्ध**—लेवियाथन के लगभग आधे भाग में धर्म-शास्त्र और चर्च से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों की मीमांसा है, उसने इन्हें विशुद्ध तर्क

---

1. लेवियाथन, अध्याय 19.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 293.
3. लेवियाथन, अध्याय 15.

की कसौटी पर कसा है। इसीलिए उसे नास्तिक कहा गया और कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा। वह चर्च की राज्य से पृथक् और भिन्न सत्ता नहीं मानता है। चर्च के लिए आवश्यक है कि वह प्रभुसत्ता के आदेश से संगठित हो। इसके आदेश के बिना चर्च नहीं बन सकता और न ही व्यक्ति उपासना के लिए किसी स्थान पर एकत्र हो सकते हैं। लेवियाथन के हाथ में जहाँ एक ओर राजसत्ता की तलवार है, वहाँ दूसरी ओर धर्मदण्ड भी है। धार्मिक सत्ता पूर्णरूप से राजसत्ता की वशवर्ती है। यदि राजा की आज्ञा के बिना कोई धार्मिक सम्मेलन या संगठन बनता है तो यह अवैध है। आध्यात्मिक शासन (Spiritual Government) जैसी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि राज्य में केवल राजनीतिक प्रभुसत्ता रखने वाले का ही शासन होता है। सार्वभौम चर्च (Universal Church) जैसे नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि प्रत्येक राज्य का चर्च उसका एक अंग मात्र है। राज्य में सबसे ऊँची आध्यात्मिक शक्ति प्रभु (Sovereign) ही है और वह यह शक्ति सीधा भगवान् से ग्रहण करता है। बिशप भगवान् की कृपा से (Dei gratia) नहीं, किन्तु राजा की कृपा से आध्यात्मिक सत्ता को ग्रहण करते हैं।

हॉब्स का यह मत है कि राज्य में तब अव्यवस्था और अराजकता मच जाती है, जब कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क में यह भावना बैठ जाती है कि भगवान् ने उन्हें प्रेरणा तथा सत्य का प्रकाश दिया है और ऐसे भ्रान्त व्यक्ति शिक्षा और बुद्धि को गौण स्थान देते हुए यह आग्रह करते हैं कि सच्ची पवित्रता और सत्-असत् का सच्चा ज्ञान केवल अलौकिक (Supernatural) अनुभवों से प्राप्त हो सकता है। उसने अपनी पुस्तक में रोमन कैथोलिक चर्च का वर्णन करने वाले प्रकरण का नाम 'अन्धकार का राज्य' रखा है। उसका यह मत है कि सामान्य आदमी में अन्धकार का तथा भूत-पिशाच का भय अन्य भयों से अधिक होता है, वह शाश्वत नरक के भय से काँपता है। आध्यात्मिक सत्ता उसकी इस कमजोरी से लाभ उठाती है। अतः राज्य को इस खतरे से अपनी तथा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। पादरी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अन्धविश्वासों को प्रोत्साहित करते हैं। रोमन चर्च के दावों का खण्डन करते हुए उसने लिखा था—"यदि कोई व्यक्ति चर्च की विशाल सत्ता के आरम्भिक रूप पर विचार करे तो वह सरलता से देख लेगा कि पोपशाही मृत रोमन साम्राज्य का ही भूत है, जो उसकी कब्र पर मुकुट धारण किए हुए आसीन है।"

हॉब्स की आलोचना—चर्च की सत्ता और महत्ता को नगण्य बनाने वाले ऐसे नास्तिक, धर्म-विरोधी सिद्धान्तों के कारण हॉब्स को गालियों का तथा कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा। कौली (Cowley) ने उसे 'माम्ज़बरी का महाराक्षस' (Monster of Malmesbury) कहा था। व्हाइटहाल (Whitehall) के मतानुसार लेवियाथन वैसी ही निन्दनीय सम्मतियों से भरा हुआ है, जैसे भेक (Toad) विष से परिपूर्ण होता है। ब्रैमहिल का विचार था कि यह ग्रन्थ सबको आग लगाने वाला है, ...उसने जितनी गड़बड़ पैदा की है, उतनी वनस्पतियों के बगीचे में सूअर भी नहीं पैदा कर सकता।[1] अनेक वर्षों तक सन्देहवाद और स्वतन्त्र विचार को हॉब्सवाद (Hobbism) कहकर निन्दित किया जाता रहा। बैंटली (Bentley) ने हॉब्स को

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 46-47.

नैतिक पतन का जिम्मेवार ठहराया था। क्लेरेण्डन (Clerendon) ने लिखा था कि "हॉब्स की पुस्तक जला देनी चाहिए। मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी, जिसमें राजद्रोह, गद्दारी और अधार्मिकता इतनी अधिक मात्रा में हो।"[1]

हॉब्स की विचारधारा के दोष—हॉब्स के विचारों में कई गम्भीर दोष हैं। **पहला दोष** मानव-स्वभाव का एकांगी, दूषित और निराशावादी दृष्टिकोण है।[2] वह मनुष्य को घोर स्वार्थी, कपटी, क्रूर और दूसरों का गला काटने वाला बताता है। किन्तु मनुष्य यदि पशु है तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह कोरा पशु नहीं, किन्तु मानवीय (Human) पशु है। उसमें एक ओर जहाँ उपर्युक्त पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ दूसरी ओर सहानुभूति, उदारता, दयालुता, परोपकार और प्रेम के मानवीय गुण भी हैं। हॉब्स इन्हें सर्वथा भुला देता है। वह केवल उसकी पाशविक प्रवृत्तियों पर ही बल देता है, जैसे रूसो ने उसकी मानवीय प्रवृत्तियों पर बल दिया था। दोनों दृष्टिकोण एकांगी होने से दूषित हैं और इनके आधारपर राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो सकता है। हॉब्स के सिद्धान्तों का मौलिक आधार ही दोषपूर्ण है।

दूसरा दोष उसके सिद्धान्तों की अनेक असंगतियाँ और पारस्परिक विरोध हैं। पहले इनका निर्देश किया जा चुका है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य एकाकी और ऐसी दशा में रहता था जिसमें हत्या, हिंसा, छल, कपट का साम्राज्य था। किन्तु समझौता होने के बाद वह सामाजिक बनकर शान्तिपूर्ण समाज में रहने लगा; उसकी प्रकृति में इस प्रकार सहसा परिवर्तन कैसे आ गया कि उसने अराजकता और अव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिणत कर लिया। बाल्मीकि जैसे एक-दो व्यक्ति भले ही सहसा डाकू से मुनि बन जाएँ, किन्तु हॉब्स के पशुतुल्य, रक्त-पिपासु, नरपशु एकदम समझौतों का पालन करने वाले नैतिक प्राणी बन जाएँ—यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। एक ही क्षण में प्राकृतिक दशा में रहने वाले मनुष्यों ने संघर्षपूर्ण जीवन को छोड़कर सहयोगी जीवन की पद्धति को कैसे अपना लिया? यह नहीं समझ आता कि जिस समाज में कुछ समय पहले जंगली जानवरों की-सी स्थिति थी, कोई कायदा-कानून नहीं था, इसे लागू करने वाली कोई सर्वोच्च शक्ति नहीं थी, उसमें सहसा समझौता कैसे हो गया। हॉब्स स्वयं यह मानता है कि तलवार की शक्ति के बिना कोई नियम या समझौता नहीं टिक सकता। किन्तु वह यह भी मानता है कि सामाजिक समझौता पहले हुआ तथा लेवियाथन की उत्पत्ति बाद में हुई। उसके अपने सिद्धान्तों में ही परस्पर विरोध है। अराजकता के एकदम बाद समझौते की उत्पत्ति तथा शान्ति की स्थिति वास्तव में कभी नहीं हो सकती, यह केवल हॉब्स की कल्पना की जादू की छड़ी से या अलाउद्दीन के चिराग से ही सम्भव है।

तीसरा दोष उसकी यह भ्रान्त धारणा है कि आदिम समाज में मनुष्य एकाकी रहता है। उसे यह ज्ञात नहीं था कि मनुष्य में सामाजिक जीवन के तत्त्वों का कभी अभाव नहीं रहा। उसकी कल्पना के विपरीत आदिम समाज की इकाई व्यक्ति नहीं वरन् कुटुम्ब या दूसरे समुदाय थे। इन समाजों में केवल संघर्ष की ही नहीं, किन्तु उसके

1. गूच—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड फ्राम बेकन टू हैलिफैक्स पृ० 33-34.
2. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 147.

साथ सहयोग की भावना भी पाई जाती है। वस्तुतः उसकी अपेक्षा अरस्तू का यह मत अधिक सत्य था कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और राज्य की उत्पत्ति परिवार से होती है।

चौथा दोष उसकी यह धारणा है कि समाज को अराजकता से बचाने के लिए इसका एक मात्र विकल्प सर्वोच्च एवं निरंकुश शासन-सत्ता को मानना है। उसके सामने यूरोप के मध्ययुग का इतिहास था, इसमें शासन-सत्ता चर्च और राज्य में बँटी हुई थी। इस दशा में यद्यपि अनेक संघर्ष होते थे, किन्तु यह हॉब्स की प्राकृतिक दशा से बहुत अच्छी थी। वह यह समझता था कि प्रभुसत्ता सदैव अविभाज्य रहनी चाहिए, अन्यथा समाज में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। किन्तु आधुनिक राज्यों का उदाहरण इसे झुठलाने के लिए पर्याप्त है। सं० रा० अमरीका में यह शासन के तीन प्रधान अंगों में बँटी हुई है, किन्तु वहाँ कोई अराजकता नहीं है। **पाँचवाँ दोष** उसकी यह कल्पना है कि अराजकता दूर करने और कानून का पालन कराने के लिए राज्य की दण्डशक्ति को दी जाने वाली प्रधानता अनुचित है। वह यह भूल जाता है कि लोकमत, बुद्धि और धार्मिक विश्वास भी मानव-समाज में व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होते हैं। **छठा दोष** राज्य को कोई रचनात्मक कार्य नहीं सौंपना है। इसका एकमात्र कार्य शान्ति बनाए रखना है। लेवियाथन पुलिस का सिपाही मात्र है। हॉब्स यूनानी विचारकों की तरह राज्य के भावात्मक कार्यों पर बल नहीं देता है। वह अरस्तू की यह बात मानता है कि राज्य मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए है, किन्तु यह भूल जाता है कि इसका लक्ष्य उसे सुखमय जीवन की सुविधाएँ प्रस्तुत करना है। उसके लिए राज्य एक आवश्यक बुराई है; यह एक प्रगतिशील सभ्यता का नहीं, किन्तु मनुष्य की बर्बर प्रवृत्तियों से उनकी रक्षा करने का साधन है। **सातवाँ दोष** हॉब्स का अपने राज्य में मनुष्यों को सर्वथा अधिकार-शून्य करके लेवियाथन की दासता के पाश में जकड़ना था। इसमें मनुष्यों की स्थिति लेवियाथनरूपी चरवाहे द्वारा हाँके जाने वाले पशुओं के रेवड़ जैसी थी। यदि अराजकता की दशा शोचनीय स्थिति थी तो यह उससे भी बुरी अवस्था थी।

हॉब्स का यह दुर्भाग्य था कि उसके लेवियाथन ने इंगलैण्ड के सभी महत्त्वपूर्ण दलों को रुष्ट किया था। उसके चर्च और धर्म-सम्बन्धी विचारों के कारण पादरी उससे असन्तुष्ट थे, वे चर्च को राज्य का एक विभाग मात्र नहीं बनाना चाहते थे। राजा की दैवी सत्ता में विश्वास रखने वाले राजतन्त्रवादी (Monarchists) उसके सामाजिक समझौते के विचार को पसन्द नहीं करते थे। राजसत्तावादियों (Royalists) को उससे यह असन्तोष था कि वह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ किसी भी शासन को, भले ही वह किसी डिक्टेटर का या पार्लियामेण्ट का क्यों न हो, मानने को तैयार था। पार्लियामेण्ट वाले उससे इसलिए नाराज थे कि वह प्रभुसत्ता की अविभाज्यता का सिद्धान्त मानने के कारण राजा को नियन्त्रित करने के दावों का विरोधी था। इन परिस्थितियों में हॉब्स का तत्कालीन ब्रिटिश विचारकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

हॉब्स का प्रभाव—उसके सिद्धान्तों का प्रभाव इंगलैण्ड की अपेक्षा यूरोप में अधिक पड़ा। स्पिनोज़ा (1632-77 ई०) ने उसके सिद्धान्तों को अपनाकर उसका

विकास किया । 18वीं शताब्दी के मध्य से उसका प्रभाव बढ़ने लगा । यह पहले बेन्थम और आस्टिन की रचनाओं में दिखाई देता है । आस्टिन ने हॉब्स के इस विचार का समर्थन किया कि कानून प्रभुसत्ता का आदेश होता है, उसके प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर हॉब्स की स्पष्ट छाप है । बाद में उसके द्वारा राज्य की जीवित प्राणी के शरीर से तुलना को स्पेन्सर ने तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने ग्रहण किया ।[1] हॉब्स ने राजाओं के दैवी सत्ता के अधिकार का पूरी तरह निराकरण किया । 20वीं शताब्दी के अधिनायकवादी देश फासिस्ट इटली तथा नाज़ी जर्मनी हॉब्स की भाँति राज्य की निरंकुश सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे ।

हॉब्स की देन—हॉब्स राजनीतिशास्त्र पर इंगलिश भाषा में आधुनिक ढंग से सूक्ष्म विवेचन करने वाला न केवल पहला, अपितु अत्यधिक मौलिक विचारक था। उसकी सबसे बड़ी देन प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का पहली बार सुस्पष्ट रीति से प्रतिपादन करना था । उससे पहले मेकियावेली, बोदैं तथा ग्रोशियस ने इसकी कुछ बातों का प्रतिपादन किया था, किन्तु इसकी पूर्ण एवं विशद व्याख्या करने का, इसके स्वरूप, मर्यादाओं तथा कार्यों की सूक्ष्म विवेचना करने का श्रेय हॉब्स को ही है। उसने सर्वप्रथम इस बात को स्पष्ट रूप से अनुभव कर लिया था कि राज्यविषयक किसी भी सिद्धान्त का निर्माण करने के लिए प्रभुसत्ता का विचार आवश्यक है, यह राज्य का अनिवार्य अंग है । उसकी दूसरी देन राजनीतिशास्त्र को आधुनिक रूप प्रदान करना है। इस विषय में उसकी तुलना मेकियावेली तथा बोदैं से करना बड़ा रोचक है। पहले इन दोनों के विचारों की विवेचना तथा इनके आधुनिकता का अग्रदूत होने का प्रतिपादन किया जा चुका है। किन्तु हॉब्स का कार्य कई दृष्टियों से इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था । मेकियावेली ने धर्मनिरपेक्ष राजनीतिशास्त्र के प्रतिपादन का श्रीगणेश, राजनीति का नैतिकता और धर्म से पृथक्करण करते हुए किया था । किन्तु हॉब्स की यह विशेषता थी कि उसने राज्य को चर्च से ऊँचा स्थान दिया, चर्च की सत्ता को नगण्य बनाया, धार्मिक सत्ता को पूर्णरूप से राजसत्ता का वशवर्ती बनाया और धर्मनिरपेक्षता (Secularism) की आधुनिक प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। इसी प्रकार प्रभुसत्ता का विचार उससे पहले बोदैं ने भी किया था, किन्तु उसे पूर्णता देने वाला हॉब्स ही था। हॉब्स की महत्ता इस बात में नहीं है कि उसने निरंकुशवाद (Absolutism) का समर्थन किया, यह उससे पहले बोदैं ने भी किया था। उसकी महत्ता इस बात में है कि उसने निरंकुशवाद तथा धर्मनिरपेक्षतावाद का समर्थन भौतिकवाद के दर्शन के आधार पर किया और इस प्रकार राजनीतिशास्त्र में आधुनिक युग का सूत्रपात किया । यह उसकी एक महत्त्वपूर्ण देन है ।

1. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 221.

चौदहवाँ अध्याय

जॉन लॉक (1632-1704 ई०)

जीवन-चरित्र—हॉब्स के बाद, ब्रिटिश राजनीतिक चिन्तन में सबसे ऊंचा स्थान रखने वाले और उसके प्रतिकूल मत प्रकट करने वाले जॉन लॉक का जन्म एक मध्यम-वर्गीय परिवार में सॉमरसैट काउण्टी के रिंगटन नामक स्थान में 1632 ई० में उस समय हुआ, जब पार्लियामेण्ट राजा चार्ल्स प्रथम (1625-49 ई०) के साथ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही थी। उसके होश सम्भालते ही इंगलैण्ड का गृहयुद्ध (1642-59 ई०) आरम्भ हो गया। उसका पिता 1642 ई० में पार्लियामेण्ट की ओर से लड़ने वाली सेना में स्वयंसेवकों की एक कम्पनी का कप्तान बना। लॉक ने लिखा है कि जब मुझे कुछ ज्ञान हुआ तो मैंने अपने को तूफान में पाया। 1658 ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० करने के बाद वह वहीं यूनानी भाषा, काव्यशास्त्र और दर्शन का शिक्षक बना। यह काम पसन्द न आने पर उसने चर्च में पुरोहित बनना चाहा, पर उसका कठोर नियन्त्रण उसके लिए सह्य न था। अत: उसने 1660 ई० के बाद आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध चिकित्सक डेविड थामस से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया और शीघ्र ही अच्छा डाक्टर बना। डाक्टर बनने पर भी वह स्वयं आजीवन बीमार रहा और उसका कहना था कि स्वास्थ्य मेरी ऐसी प्रेयसी है कि चिरकाल तक उसे रिझाने पर भी मैं उसकी कृपा नहीं पा सका।[1]

1666 ई० में लॉक के समूचे जीवन पर प्रभाव डालने वाली घटना घटित हुई। उस समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, ह्विग (उदार) दल के संस्थापक लार्ड एशली (बाद में अर्ल ऑफ शेफ्टस्बरी) अपने इलाज के लिए डेविड थामस के पास आक्सफोर्ड आए, थामस द्वारा लॉक का परिचय एशली से हुआ और वे इससे इतने प्रसन्न और प्रभावित हुए कि 1667 में इन्होंने लॉक को लन्दन आकर उनका चिकित्सक बनने को कहा। इससे लॉक को ब्रिटिश राजनीति के तथा राजनीतिज्ञों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिला। एशली पार्लियामेण्ट की ओर से राजा के विरुद्ध लड़ने वाली सेनाओं के फील्ड मार्शल, संसद् के अधिकारों के प्रबल समर्थक और उदारवाद के परम भक्त राजनीतिज्ञ थे। लॉक 15 वर्ष तक उनका सचिव रहा। 1672 में लार्ड चांसलर बनने पर शेफ्टस्बरी ने उसे कुछ सरकारी पदों पर भी रखा, किन्तु 1673 में शेफ्टस्बरी से राजा उसकी प्रेयसियों को दिए जाने वाले रुपये की अदायगी में बाधा डालने के कारण रुष्ट

1. काटलिन, जार्ज—ए हिस्टरी ऑफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० 282.

हो गया। शेफ्टस्बरी के साथ लॉक को भी सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी और वह अपने क्षय या दमे के इलाज के लिए फ्रांस चला गया। 1679 ई० में शेफ्टस्बरी के दुबारा पदारूढ़ होने पर लॉक फ्रांस से लौटकर उसके साथ काम करता रहा। किन्तु 1681 ई० में राजा पुनः शेफ्टस्बरी से रुष्ट हो गया क्योंकि वह प्रोटेस्टैण्ट धर्मावलम्बी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाने के षड्यन्त्र में संलग्न था। उसे इंगलैण्ड छोड़ना पड़ा और जब लॉक को स्वदेश में अपने प्राण संकट में प्रतीत हुए तो वह हालैण्ड भाग गया। हालैण्ड में जब उसे यह आशंका हुई कि वहाँ की सरकार उसे पकड़कर ब्रिटिश सरकार को सौंप देगी तो वह वेश बदलकर और छिपकर रहने लगा। यहीं 1683 ई० से उसने ग्रन्थ लेखन का कार्य आरम्भ किया। तत्कालीन स्टुअर्ट वंशी राजा को गद्दी से उतारने तथा विलियम ऑफ आरेञ्ज को गद्दी पर बिठाए जाने की षड्यन्त्र-योजनाओं में लॉक ने बड़ी दिलचस्पी ली। 1688 ई० में इंगलैण्ड में क्रान्ति होने पर तथा विलियम को इंगलैण्ड बुलाए जाने पर, वह उसकी पत्नी मेरी वाले जहाज पर बैठकर स्वदेश पहुँचा। क्रान्ति सफल होने पर उसे अनेक सरकारी पद दिए गए, किन्तु उसने स्वास्थ्य खराब होने के कारण कोई पद स्वीकार नहीं किया।

लॉक के ग्रन्थ—उसने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षा, धर्मशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, उद्यानशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर तीस से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। उसकी गणना पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिकों में होती है। राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध में उसके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—**सहिष्णुता पर एक पत्र** (1689) (A Letter on Toleration), **शासन पर दो निबन्ध** (1690) (Two Treatises on Government), **सहिष्णुता पर दूसरा** (1690 ई०), **तीसरा** (1692 ई०) तथा **चौथा पत्र**, **कैरोलिना का मौलिक संविधान** (The Fundamentals of Constitutions of Carolina)। इनमें उसका दूसरा ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह राजा के दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थन करने वाले सर राबर्ट फिल्मर के 1680 ई० में प्रकाशित ग्रन्थ Patriarcha का खण्डन करने के लिए लिखा गया है। इसके पहले निबन्ध में तो फिल्मर की युक्तियों का बड़े विस्तार से निराकरण किया गया है और दूसरे निबन्ध में राज्य विषयक उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

मानव-स्वभाव की धारणा (Conception of Human Nature)—हॉब्स और लॉक के मानव-स्वभाव विषयक विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। हॉब्स मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों का दर्शन करता है, किन्तु लॉक उसके मानवीय गुणों पर बल देता है। मनुष्य की एक बड़ी विशेषता बुद्धिमान् (Rational) तथा विचारवान् प्राणी होना है। वह अपनी विवेक बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता स्वीकार करता है और इसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है। उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति, प्रेम और दयालुता के गुण होते हैं। **दोनों विचारकों की मानव-प्रकृति की धारणा में पहला** भेद यह है कि हॉब्स का मनुष्य कोरा पशु है, किन्तु लॉक का मनुष्य नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करने वाला तथा उसके अनुसार आचरण करने वाला प्राणी है।[1] लॉक यह मानता है कि मनुष्य सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं

1. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 162.

करते। उदाहरणार्थ, वे सत्य नहीं बोलते, पड़ोसी की हत्या करते हैं, किन्तु उन्हें यह ज्ञात है कि सत्य बोलना चाहिए, हत्या नहीं करनी चाहिए। यह विवेक और ज्ञान ही उन्हें पशुओं से भिन्न बनाता है। **दूसरा** भेद यह है कि हॉब्स का मनुष्य विशुद्ध भौतिकवादी तथा चार्वाक है, उसकी सब क्रियाओं का मूल प्रेरणा-स्रोत शरीर को सुख पहुँचाना है। किन्तु लॉक का मनुष्य कर्त्तव्य की पुकार को सुनता है, उसके अनुसार आचरण करता है। हॉब्स का मनुष्य घोर स्वार्थी है, किन्तु लॉक का मनुष्य कई बार वास्तव में परोपकारी होता है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)—हॉब्स ने मनुष्य के घोर स्वार्थी होने के कारण इसे सतत संघर्ष की और युद्ध की दशा माना था। किन्तु लॉक मानव प्रकृति के सम्बन्ध में लेवियाथन के लेखक से सर्वथा प्रतिकूल मत रखने के कारण इसे युद्ध की नहीं, किन्तु शान्ति की दशा मानता है। "प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान हैं, क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और सब एक ही सर्वशक्तिमान् व अनन्त बुद्धिसम्पन्न स्रष्टा की कृतियाँ हैं। समानता के अतिरिक्त प्राकृतिक अवस्था की **दूसरी** विशेषता मानव की स्वतन्त्रता है। किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता नहीं है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक नियम (Natural Law) के द्वारा होता है। बुद्धि पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल है क्योंकि इसका ज्ञान हमें इस प्रकार के तर्क से होता है, जैसे व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता, वैसे ही वह दूसरों के जीवन को भी नष्ट नहीं कर सकता है। वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता है, उसे ऐसा व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' इसके साथ ही उसका अपना जीवन जहाँ संकट में न हो, वहाँ उसे यह चाहिए कि वह यथाशक्ति दूसरों के जीवन की रक्षा का प्रयत्न करे। स्वतन्त्रता का आधार बुद्धि है, वह मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह प्राकृतिक विधान के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होने के कारण लॉक की प्राकृतिक दशा हॉब्स की नैसर्गिक दशा की भाँति अतीव भयावह और संघर्षमय नहीं है। मनुष्य में स्वभावतः सामाजिकता की प्रवृत्ति है। अतः यह अवस्था शान्ति, सौहार्द, पारस्परिक सहयोग और आत्मरक्षा की अवस्था है।

प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)—प्राकृतिक दशा में लॉक के मतानुसार सब व्यक्तियों को तीन प्रकार के—जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति के अधिकार प्राकृतिक नियम के द्वारा प्राप्त थे[1]—

(1) जीवन का अधिकार—आत्मसंरक्षण मनुष्य की सबसे प्रबल आकांक्षा है और उसकी सब क्रियाओं का प्रधान प्रेरक तत्त्व है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए जाने वाले बुद्धिसंगत कार्य मनुष्य के विशेषाधिकार हैं और उसे प्राकृतिक नियम से उपलब्ध होते हैं। इस विषय में उसका मत हॉब्स से मिलता है।

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार—हॉब्स इसे सब प्रकार के बन्धनों और नियमों से मुक्त होकर प्राकृतिक दशा में अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य करना समझता है।

1. लॉक—दूसरा निबन्ध, खण्ड 87.

किन्तु लॉक इससे सहमति प्रकट करता हुआ इसे प्राकृतिक नियम के अतिरिक्त अन्य नियमों से मुक्त होकर कार्य करना समझता है। प्राकृतिक नियम की नैतिक व्यवस्था का पालन मनुष्य के लिए आवश्यक है।

(3) **सम्पत्ति का अधिकार**—इसका तात्पर्य प्राकृतिक दशा में जीवन को धारण करने में समर्थ बाह्य वस्तुओं पर वैयक्तिक नियन्त्रण स्थापित करना है। लॉक ने दूसरे निबन्ध के पाँचवें अध्याय में वैयक्तिक स्वामित्व के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है। उसके मतानुसार आरम्भ में वस्तुओं पर सबका समान अधिकार था, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने शरीर का श्रम किसी वस्तु के साथ जोड़ लेता है तो उस पर उसका वैयक्तिक अधिकार हो जाता है। ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियों को सामूहिक रूप से प्रदान की हैं। मनुष्य का शरीर ही उसके पास ऐसी सम्पत्ति है, जिस पर उसका एकमात्र अधिकार होता है। वह जब अपने शरीर के श्रम को ईश्वर प्रदत्त सामूहिक वस्तुओं के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लेता है। अतः श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है, इसी से वस्तुओं का मूल्य निश्चित होता है। उदाहरणार्थ, भूमि सब मनुष्यों को भगवान् ने समान रूप से प्रदान की है, किन्तु जब कोई व्यक्ति भूमि से मिट्टी खोदकर अपना घर बनाता है, तो यह उसकी निजी सम्पत्ति हो जाती है। लॉक के इस श्रम-सिद्धान्त को बाद में समाजवादी विचारकों ने विशेष रूप से विकसित किया। उसका यह भी कहना है कि व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिए, जिसका वह उपयोग कर सके। किन्तु इसके साथ तत्कालीन ह्विग भूमिपतियों के भूसम्पत्ति के अधिकारों को उचित ठहराते हुए उसने कहा है कि व्यक्ति अपनी शक्ति और श्रम के अनुसार यथेच्छ भूमि पर अधिकार कर सकता है, बशर्ते कि वह उसकी उपज का उपभोग कर सके, द्रव्य के रूप में उसे भविष्य में उपयोग के लिए एकत्र कर सके। उसके सामाजिक विचारों में पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के कुछ मूलतत्त्व बीज रूप में निहित हैं। व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकारों को वह इतना महत्त्व देता है कि वह इसी में अन्य दोनों अधिकारों को सम्मिलित करता है। उसने लिखा है कि मनुष्य को स्वाभाविक रूप से यह अधिकार है कि वह अपनी सम्पत्ति को अर्थात् जीवन, स्वतन्त्रता और जायदाद को सुरक्षित रखे।

लॉक के मतानुसार प्राकृतिक दशा में मनुष्य बुद्धिपूर्वक प्राकृतिक विधान का पालन करते हुए एक-दूसरे के उपर्युक्त तीनों अधिकारों का सम्मान करते हैं।[1] अतः यह दशा हॉब्स की प्राकृतिक दशा से मौलिक रूप से भिन्न हो जाती है। हॉब्स के मत में इस अवस्था में मनुष्य स्वार्थान्ध होकर अपनी बुद्धि और विवेक का प्रयोग न करते हुए एक-दूसरे के उन्मूलन, हिंसा और हत्या का प्रयत्न करते हुए युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। उस समय कोई सामाजिक जीवन नहीं होता है। किन्तु लॉक की प्राकृतिक दशा में मनुष्य अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए शान्तिपूर्वक सभ्य समाज में रहते हैं। किन्तु कुछ असुविधाओं के कारण इन्हें राज्य के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

प्राकृतिक दशा की सुविधाएँ—प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक नियम के अनुसार

1. लॉक—शासन पर दो निबन्ध, दूसरा निबन्ध, खण्ड 87.

शान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य को तीन प्रकार की असुविधाएँ थीं : **पहली** असुविधा प्राकृतिक कानून (Natural Law) के स्वरूप की अस्पष्टता है। यद्यपि भगवान् ने इसका ज्ञान सब मनुष्यों को प्रदान किया है, किन्तु उनकी बुद्धियों में तथा स्वार्थों में भेद होने के कारण वे इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से और विविध रूपों में करते हैं, अतः इसके यथार्थ स्वरूप में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। साथ ही प्राकृतिक नियम के अमूर्त होने के कारण उसे पहचानने में बड़ी कठिनाई होती है। **दूसरी** असुविधा यह है कि प्राकृतिक नियम या विधान को तथा इसके अनुरूप निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए प्राकृतिक दशा में कोई साधन या संस्था नहीं होती। **तीसरी** असुविधा यह है कि इसमें सब व्यक्तियों को न्याय करने और दण्ड देने का अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति अन्यायपूर्ण रीति से हत्या करने वाले को या चोर को दण्ड देने का अधिकार रखता है। किन्तु सब व्यक्तियों के दण्ड देने के साधनों में तथा पद्धति में एकरूपता और निष्पक्षता सम्भव नहीं है। इससे जीवन बड़ा असुरक्षित और अनिश्चित हो जाता है। इस अनिश्चितता और गड़बड़ी को रोकने के लिए सुस्पष्ट नियम बनाने वाली और उन्हें पालन कराने वाली, नियमों का उल्लंघन करने वालों को निश्चित दण्ड देने वाली तथा निष्पक्ष न्याय करने वाली शासन-सत्ता होनी चाहिए।

डनिंग ने लॉक की प्राकृतिक दशा की तुलना एक सामान्य सर्वोच्च राजनीतिक शासक के अभाव में ऐसी अवस्था से की है, जिसमें अमरीका के जंगलों में एक स्विट्ज़रलैण्डवासी और फ्रेंच मिलते हैं।[1] यहाँ न तो इन दोनों पर लागू होने वाला कानून स्पष्ट और सुनिश्चित है और न इन्हें लागू करा सकने वाला और इसका भंग करने वाले को दण्ड देने वाला और इस पर निष्पक्ष विचार करने वाला कोई उच्च शासक है। प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त तीनों असुविधाओं को दूर करने की दृष्टि से मनुष्यों ने एक सामाजिक समझौते या संविदा (Social Contract) द्वारा राज्य का निर्माण किया।

सामाजिक संविदा या अनुबन्ध (Social Contract) **का स्वरूप तथा हॉब्स के विचार से भेद**—प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त असुविधाओं को दूर करने के लिए लॉक के मतानुसार मनुष्यों ने एक समझौता किया। सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह **समाज** के सब व्यक्तियों के साथ किया जाने वाला अनुबन्ध था, अतएव इसे सामाजिक अनुबन्ध कहते हैं। इससे यद्यपि राजनीतिक समाज और राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु यह समझौता किसी सरकार (Government) या शासक के साथ नहीं किया गया था। इस समझौते का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाह्य संकटों से रक्षा करना था। इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति अपने इस प्राकृतिक अधिकार को छोड़ने के लिए सहमत हुआ कि वह स्वयमेव प्राकृतिक नियम को लागू करने का तथा इसके अनुसार दूसरों को दण्ड देने का कार्य नहीं करेगा।

इस समझौते से मनुष्य ने केवल इसी एक अधिकार का परित्याग किया, न कि हॉब्स की कल्पना के अनुसार अपने सभी अधिकारों को छोड़ा। इन विषय में उसका हॉब्स से **दूसरा** मतभेद यह है कि उसने अपना यह अधिकार लेवियाथन जैसे व्यक्ति-

1. डनिंग—पोलिटिकल थियोरीज फ्राम लूथर टू मांतेस्क्यू, पृ० 348.

विशेष, किसी व्यक्ति-समूह या सामान्य विधानसभा को समर्पित नहीं किया, किन्तु इस समूचे समुदाय (Community) को समष्टिरूपेण प्रदान किया है। हॉब्स से **तीसरा** भेद यह है कि उसके सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप लेवियाथन बनता है, वह असीम अधिकारों वाला, सर्वशक्तिशाली, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न प्रभु होता है। लॉक के समझौते से बनने वाले समाज को इस प्रकार के असीम और अमर्यादित अधिकार नहीं होते हैं। वह केवल प्राकृतिक नियम के विरुद्ध अपराधों के निर्धारण और अपराधियों को दण्ड देने का कार्य करता है। इससे अधिक उसे किसी प्रकार के कोई अधिकार नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का पालन कराने तथा उन्हें सुरक्षित करने के लिए ही यह समझौता हुआ है। इस समझौते द्वारा उत्पन्न समुदाय या राज्य मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का अतिक्रमण या हनन नहीं कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है और जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार होता है। हॉब्स से उसका **चौथा** भेद यह है कि हॉब्स के अनुबन्ध द्वारा प्राकृतिक दशा (State of Nature) तथा प्राकृतिक नियम (Natural Law) का अन्त हो जाता है। किन्तु लॉक के मतानुसार इस समझौते के बाद भी मनुष्य प्राकृतिक कानून का पालन करने के लिए उसी प्रकार बाध्य है जैसा वह इससे पहले था। लॉक के शब्दों में, "**प्राकृतिक विधि के बन्धनों का राजनीतिक समाज में अन्त नहीं होता।**"

लॉक ने इस समझौते के आधार पर राजनीतिक समाज (Civil Society) का प्रादुर्भाव होने से **दो महत्त्वपूर्ण परिणाम** निकाले हैं: **पहला** समुदाय के **बहुमत द्वारा शासन** का अधिकार है। अल्पसंख्या को बहुमत की इच्छा का पालन करना ही चाहिए। यह समाज की व्यवस्था के संचालन के लिए नितान्त आवश्यक है। उसके सामाजिक अनुबन्ध की एक महत्त्वपूर्ण शर्त बहुमत की इच्छा का वशवर्ती होना है। **दूसरा** परिणाम यह है कि इस समझौते से व्यक्तियों ने अपना यह कर्त्तव्य स्वीकार कर लिया है कि वे राज्य के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए पूरी शक्ति के साथ अपना सहयोग प्रदान करेंगे।[1]

लॉक इस समझौते को बुद्धिसंगत तथ्य होने के साथ-साथ **ऐतिहासिक सत्य** भी मानता है। उसका यह मत है कि इससे राजनीतिक संगठन की उत्पत्ति इतिहास के उषाकाल में उस समय हुई, जब इस तथ्य को लिपिबद्ध करने के साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था, इसका कोई ऐतिहासिक उल्लेख या विवरण उपलब्ध न होने पर इसे अनैतिहासिक समझना वैसा ही है, जैसे कोई यह कहे कि यूनान पर आक्रमण करने वाले जरक्सीज़ के सैनिक कभी बालक नहीं थे, क्योंकि हमें उनके बाल्यकाल का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता है। उसने रोम, वेनिस और स्पार्टा के उदाहरणों से इसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि की है। उसका यह कहना है कि जैसे व्यक्ति अपने जन्म तथा बचपन की बातें भूल जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्रों को भी अपनी उत्पत्ति और शैशव की स्मृति नहीं रहती।

लॉक के समझौते की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं: **पहली विशेषता** इसके एक बार हो जाने के बाद इसका कभी रद्द न हो सकना (Irrevocable) है। इस बात

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 350.

में वह हॉब्स से सहमत है। उसके मतानुसार जिसने इस समझौते को स्वीकार कर लिया है, उसे प्राकृतिक दशा में लौटकर जाने की कभी स्वतन्त्रता नहीं है। **दूसरी** विशेषता इसका सहमति (Consent) पर आधारित होना है। कोई व्यक्ति इस नवीन समाज में सहमति के बिना प्रविष्ट नहीं हो सकता। "सहमति ही दुनिया में प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है।" वह यह मानता है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक के बच्चे सर्वथा स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न होते हैं, इन्हें इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि वे उस राज्य में सम्मिलित होने की या न होने की सहमति प्रदान करें और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उस राज्य से बाहर जाने पर वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित हो जाएँगे।

तीसरी विशेषता इस समझौते का राज्य के निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करना है। वॉन (Vaughan) का यह मत है कि यद्यपि लॉक ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी वह दो प्रकार के समझौते मानता है: पहला समझौता प्राकृतिक दशा को समाप्त करके उसके स्थान पर सभ्य **नागरिक समाज** (Civil Society) की स्थापना करता है। इसके बाद दूसरे समझौते द्वारा व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं। किन्तु यह व्यक्तियों में ही होता है, सरकार के साथ नहीं किया जाता। यदि लॉक ऐसा मानता तो राज्य को एक विशेष गरिमा और सत्ता प्राप्त हो जाती। अत: वह यह मानता है कि लोग मिलकर एक ट्रस्ट या न्यास बनाते हैं और सरकार का निर्माण कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विश्वासाश्रित (Fiduciary) शक्ति के रूप में करते हैं। इस प्रकार जनता इस ट्रस्ट को बनाने वाली तथा इससे लाभ उठाने वाली है। सरकार ट्रस्टी होने के नाते अपने अधिकारों की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती है।[1]

लॉक का सामाजिक समझौते का विचार हॉब्स की अपेक्षा रूसो के विचार से अधिक मिलता है। लॉक तथा रूसो दोनों यह मानते हैं कि सरकार की संस्था संविदा या समझौता नहीं है और सामाजिक समझौते से जनता के सर्वोच्च अधिकारों में कोई कमी नहीं आती। लॉक के शब्दों में सरकार की संस्था बन जाने पर भी, 'सर्वोच्च सत्ता जनता में ही निहित रहती है।' हॉब्स के समझौते से सारी प्रभुसत्ता लेवियाथन को मिल जाती है, जनता सब अधिकारों से वंचित हो जाती है। लॉक और रूसो के मतानुसार समझौते के बाद भी जनता की प्रभुसत्ता (Sovereignty) अक्षुण्ण बनी रहती है।

डनिंग के मतानुसार लॉक के सामाजिक समझौते के विचारों में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसका प्रतिपादन उससे पहले के दार्शनिकों ने न किया हो।[2] किन्तु उसकी बड़ी विशेषता यह है कि उसने इसे अत्यधिक सुनिश्चितरूपता प्रदान की और इसे व्यष्टिवादी (Individualist) बनाया। हॉब्स और प्यूफेनडोर्फ (Pufendorf) ने इसके आधार पर सरकार की सत्ता को निरंकुश बनाया था, किन्तु लॉक ने इसी सिद्धान्त से उस पर अनेक मर्यादाएँ और प्रतिबन्ध लगाए तथा इसका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित करना स्वीकार किया।

---

1. बार्कर — सोशल कांट्रैक्ट, वर्ल्ड क्लासिक्स आक्सफोर्ड, भूमिका, पृ० 29.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 352.

राज्य का स्वरूप और विशेषताएँ--प्राकृतिक दशा की तीन बड़ी कमियाँ—सुनिश्चित और ज्ञात कानून का, न्यायाधीश का तथा कानून एवं निर्णयों को क्रियान्वित करने वाली शासन सत्ता का अभाव है। इन अभावों की पूर्ति करके व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाना ही राज्य का प्रधान लक्ष्य है। इसे पूरा करने के लिए राज्य तीन कार्य करता है—(1) सर्वप्रथम वह प्राकृतिक कानून की व्याख्या द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित करता है। आजकल यह कार्य कानून बनाने वाली विधानसभाओं का समझा जाता है। लॉक इसे "राज्य में सर्वोच्च सत्ता" मानता है। किन्तु सर्वोच्च होते हुए भी यह मनमाना कानून नहीं बना सकती। इसके सब नियम प्राकृतिक कानून (Natural Law) से अनुकूलता रखने वाले होने चाहिएँ। यदि समुदाय बहुमत से कानून निर्माण का अधिकार एक व्यक्ति को देता है तो वह राजतन्त्र होता है, कुछ व्यक्तियों को देने पर कुलीनतन्त्र तथा समूची जनता को यह अधिकार देने पर लोकतन्त्र होता है। विधिपूर्वक व्यवस्थापिका सभा में एकत्र होने वाले व्यक्तियों को सार्वजनिक कल्याण के लिए ही नियम बनाने चाहिएँ। जहाँ विधानसभा या पार्लियामेण्ट में जनता के प्रतिनिधि हों, वहाँ उन्हें वास्तव में निष्पक्ष और न्यायपूर्ण रीति से चुना हुआ होना चाहिए। इस प्रसंग में उसने पार्लियामेण्ट के लिए पुरानी राजाज्ञाओं के अनुसार उन स्थानों से प्रतिनिधि चुने जाने की कटु आलोचना की है, जो काल के प्रभाव से उजड़ चुके हैं। उजड़े नगरों (Rotten Boroughs) से प्रतिनिधि भेजने की बुराई का अन्त **इंगलैण्ड में 1831 ई० के सुधार कानून** (Refrom Act) द्वारा हुआ। (2) राज्य का दूसरा अंग कानून को लागू करते हुए शासन का कार्य चलाने वाला है। इसे लॉक ने Federative अंग कहा है। उसका यह मत है कि कानून बनाना तथा उन्हें क्रियान्वित करना—दोनों विभिन्न प्रकार के कार्य हैं। पहला कार्य जल्दी समाप्त हो जाता है, शासन का कार्य सदैव चलता रहता है। अतः ये दोनों कार्य पृथक् व्यक्तियों को दिए जाने चाहिएँ। उसका यह भी मत है कि कानून बनाने वालों को इन्हें क्रियान्वित करने का कार्य देना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में "ये अपने बनाए कानूनों के पालन से अपने को मुक्त समझने लगेंगे और कानून का निर्माण और क्रियान्विति अपनी वैयक्तिक इच्छा से करने लगेंगे। यह शेष समुदाय की इच्छा से भिन्न तथा समाज और राज्य के उद्देश्य के प्रतिकूल हो सकता है।"[1] इस प्रकार लॉक ने शक्तिपार्थक्य (Separaion of Powers) के सिद्धान्त को यहाँ बीज रूप में प्रतिपादित किया है। इसका विस्तृत प्रतिपादन, फ्रेंच विचारक मांतेस्क्यू ने किया। (3) राज्य का तीसरा कार्य विधानसभा द्वारा बनाए कानूनों का उल्लंघन करने वाले अपराधियों को दण्ड देने का कार्य है। यह न्याय विभाग और न्यायाधीशों द्वारा होता है।

लॉक के राज्य की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं : **पहली विशेषता यह है कि** राज्य की सत्ता जनता के लिए है, न कि जनता राज्य के लिए है। वह बारम्बार इस बात पर बल देता है कि सरकार का लक्ष्य **समुदाय की भलाई** (Good of the Community) करना है। वस्तुतः राज्य-रूपी यन्त्र का निर्माण उसके नागरिकों की

1. लॉक का दूसरा निबन्ध, अध्याय 12.

भलाई के लिए हुआ है। **दूसरी** विशेषता राज्य का **नागरिकों की सहमति** (Consent) पर आधारित होना है। उसका यह कहना है कि नागरिक अपने हितों की सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के आदेशों का पालन करना स्वीकार करते हैं। यदि शासक इन हितों के प्रतिकूल आचरण करते हैं तो वे उनकी सहमति के बिना शासन करते हैं और इस दशा में प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार है। **तीसरी** विशेषता राज्य का कानून के नियम (Rule of Law) से अनुशासित, अनुप्राणित और संचालित होना है। उसके शब्दों में यदि किसी राज्य में मनुष्य "किसी दूसरे व्यक्ति की चंचल, अनिश्चित और स्वेच्छाचारी इच्छा के आधीन रहेंगे तो वहाँ कोई राजनीतिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है"। अतः "सरकार का शासन जनता में उद्घोषित तथा उसे ज्ञात स्थायी कानूनों द्वारा होना चाहिए, न कि फौरन जल्दी में दी गई सद्यःस्फूर्त आज्ञाओं (Extemporary decrees) से।" वैधानिकता (Constitutionalism) का विचार लॉक की बहुत बड़ी देन है। **चौथी** विशेषता राज्य के कार्यों का सीमित होना है। वह केवल सुरक्षा, सुव्यवस्था और न्याय के तीन कार्य कर सकता है, इनके अतिरिक्त लोगों को शिक्षा देने, उनका स्वास्थ्य सुधारने, उन्हें सुसंस्कृत और नैतिक बनाने का कोई कार्य राज्य नहीं कर सकता। वह नागरिकों की सम्पत्ति पर भी मनमाना कर नहीं लगा सकता, क्योंकि **सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है।** प्रजा के प्रतिनिधियों की सहमति से ही उसे इस पर कर लगाने का अधिकार है। 17वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में राजा और पार्लियामेण्ट के बीच उग्र विवाद और गृहयुद्ध का यह कारण था कि राजा कर लगाने के विषय में पार्लियामेण्ट के कोई अधिकार नहीं मानना चाहता था। इस विवाद में लॉक ने पार्लियामेण्ट के पक्ष का प्रबल पोषण करते हुए राज्य के कार्यक्षेत्र को बड़ा संकुचित और मर्यादित कर दिया। **पाँचवीं** विशेषता राज्य के अधिकारों का दो कारणों से सीमित और मर्यादित होना है। पहला तो यह कि राज्य अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करता है और दूसरा यह कि राज्य को यह सत्ता या अधिकार न्यास (Trust) के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है। उसके मतानुसार, "**मनुष्यों द्वारा राज्य के बनाए जाने का उद्देश्य सम्पत्ति का संरक्षण है**"। राज्य कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता, जो इस मूल उद्देश्य के प्रतिकूल हो। राज्य तो इस उद्देश्यरूपी न्यास का संरक्षक (Trustee) है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को मन्दिर बनवाने या स्कूल चलाने के लिए रुपया दिया जाता है तो वह इसका व्यय मनमाने ढंग से किसी तीसरे कार्य में नहीं कर सकता। इसी प्रकार राज्य अपनी समूची शक्ति और अधिकारों का प्रयोग केवल नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और हित के लिए कर सकता है। जिस प्रकार धन का दुरुपयोग करने पर ट्रस्टी को अपने पद से हटा दिया जाता है, उसी तरह राजसत्ता भी यदि अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पालन न करे तो उसे पदच्युत किया जा सकता है।

विद्रोह का अधिकार—पहले यह बताया जा चुका है कि राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त होता है। उसे शासन का अधिकार न्याय या ट्रस्ट के रूप में मिला हुआ है। वह जनता की सहमति पर आधारित तथा वैधानिक होता है। किन्तु यदि उसे जनता की सहमति प्राप्त न हो, वह अपने न्यास या ट्रस्ट के विरुद्ध आचरण करे और वैधानिक शासन के स्थान पर स्वेच्छाचार बरतने

लगे, अपनी मर्यादाओं का पालन न करे तो जनता को शासन-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने तथा उसे बदलने का अधिकार है। उसके शब्दों में, "जब जनता यह अनुभव करे कि विधानपालिका उसमें रखे जाने वाले विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है तो जनता को यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है कि वह विधानपालिका को हटा दे या बदल डाले।"[1] जनता इस अधिकार का प्रयोग भगवान् से अपील करने के तथा शक्ति और हिंसा के विरुद्ध भगवान् द्वारा दिए गए अन्तिम उपाय अर्थात् विद्रोह के द्वारा कर सकती है। उसके मतानुसार विद्रोह द्वारा सरकार के भंग हो जाने पर भी समाज बना रहता है। विद्रोह का अधिकार वह केवल बहुसंख्या को ही देता है। इस प्रकार उसने 1688 ई० की क्रान्ति को न्यायोचित सिद्ध किया है।

लॉक ने जनता द्वारा विद्रोह एवं क्रान्ति के अधिकार पर इतना अधिक बल दिया है कि उसके संबंध में यह कहा जाता है कि उसने **शासन विषयक सिद्धान्त का नहीं, अपितु क्रान्ति विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है**। इसका यह कारण है कि लॉक व्यक्ति को जितना अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभुसत्ता सम्पन्न समझता है, उतना राज्य को नहीं समझता है। राज्य का प्रधान उद्देश्य तथा प्रयोजन जनता एवं समुदाय का कल्याण करना है, राजा या सरकार को शासन करने की शक्ति इसलिए दी गई है कि वह व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखे। राजा को प्रजा ने शासन करने का अधिकार दिया है। अत: राजा प्रजा का वशवर्ती सेवक है, वह अपने पद पर तभी तक रह सकता है, जब तक वह इस कार्य को समुचित रीति से पूरा करता रहे। यह बात राजा के साथ-साथ, शासन करने वाली पार्लियामेण्ट पर भी लागू होती थी। लॉक ने अपने जीवन में देखा था कि **किस** प्रकार इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम (1625-49) ने तथा जेम्स द्वितीय (16 5-88) ने तथा **लम्बी पार्लियामेण्ट** (Long Parliament) ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया था, जनहित की उपेक्षा की थी, जनकल्याण के अपने पवित्र दायित्व को पूरा नहीं किया था। लॉक इस प्रकार के दुरुपयोग और दुर्व्यवहार को रोकना चाहता था अत: उसने जनता को ऐसे शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान किया। यदि कोई शासन अपने पवित्र दायित्व और कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता तो जनता क्रान्ति द्वारा इस शासन को बदल सकती है। यदि कोई सरकार शक्ति का दुरुपयोग करती है तो वह अत्याचारी शासक (Tyrant) का रूप धारण कर लेती है। यह अत्याचार शक्ति द्वारा किया जाता है, अत: इसके प्रतिकार के लिए क्रान्ति की शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। लॉक न केवल अत्याचारी शासन को हटाने के लिए क्रान्ति का समर्थन करता है, अपितु वह इसका इसलिए भी प्रबल पोषण करता है कि क्रान्ति के भय से आतंकित रहने वाले कमजोर तथा मर्यादित अधिकारों वाले शासन अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करते रहेंगे। इन कारणों से लॉक 'विद्रोह के पवित्र अधिकार' (Sacred right of insurrection) में विश्वास रखता है।

अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह करना नागरिकों का स्वाभाविक अधिकार है; किन्तु यदि जनता को ऐसा अधिकार दिया जाएगा तो इसका दुरुपयोग होने की

1. लॉक—दूसरा निबन्ध, खाड 149.

अत्यधिक सम्भावना है। वह अपने शासक से किसी छोटी-सी बात पर रुष्ट होने पर भी बगावत का झण्डा खड़ा कर सकती है। अत: लॉक कहता है कि विद्रोह के अधिकार का प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जब अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच जाएँ और यह स्पष्ट हो जाए कि सरकार जनता के हितों की उपेक्षा करते हुए उसे हानि पहुँचाने पर तथा व्यक्तियों के अधिकारों को कुचलने पर तुली हुई है। 1688 में इंगलैण्ड में ऐसी ही स्थिति थी, अत: उस समय लॉक ने क्रान्ति का प्रबल समर्थन किया, उसे पुष्ट करने के लिए अपने ग्रन्थ की रचना की। अत: लॉक को **क्रान्तियों का प्रतिपादन करने वाला दार्शनिक** (Philosopher of Revolutions) भी कहा जाता है। उसे यह नाम देने का एक कारण यह भी है कि वह शासन में सुधार का एकमात्र उपाय क्रान्ति को ही बताता है।

लॉक के सम्बन्ध में यह विचार भी प्रकट किया जाता है कि वह दार्शनिक नहीं था, अपितु विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने वाला लेखक था, उसका उद्देश्य 1688 की क्रान्ति का समर्थन करना, उसको न्यायोचित सिद्ध करना था, उसने अपनी पुस्तक 'नागरिक शासन' (Of Civil Government) इसी उद्देश्य से इस क्रान्ति के 2 वर्ष बाद 1690 में प्रकाशित की। इसकी भूमिका में उसने लिखा है कि इसमें उसका उद्देश्य "हमारे वर्तमान राजा विलियम के सिंहासन पर बैठने की घटना को सुप्रतिष्ठित बनाना है"। इसमें उसने 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के सभी मौलिक सिद्धान्तों का प्रबल समर्थन किया। ये सिद्धान्त राजाओं के दैवी अधिकार का खण्डन, वैध शासन, पार्लियामेण्ट की सर्वोच्च सत्ता और कानून के शासन का विचार था। इन्हें स्थापित करने के लिए उसने 1688 की क्रान्ति का प्रबल पोषण किया है।

व्यष्टिवाद (Individualism)—लॉक इसका परम उपासक और भक्त है। यह उसके राजनीतिक विचारों की आधारशिला है। वह प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के तीन अधिकार प्रदान करता है। इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार (Natural Right) समझता है। राज्य का प्रादुर्भाव इन्हीं की रक्षा के लिए होता है, उसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। इसी दृष्टि से वह राज्य की सत्ता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध और मर्यादाएँ लगाता है। मैक्सी के मतानुसार लॉक का कार्य राजसत्ता को ऊँचा उठाना नहीं, किन्तु उसके प्रतिबन्धों का प्रतिपादन करना है।[1] शासक समाज के प्रतिनिधि मात्र हैं। वे हॉब्स के लेवियाथन की भाँति निरंकुश प्रभु नहीं हैं, किन्तु केवल उतने ही अधिकार रखते हैं, जो उन्हें व्यक्तियों द्वारा दिए जाते हैं। अत: लॉक के राज्य की तुलना एक बड़ी **लिमिटेड कम्पनी** से की जाती है, जिसमें कम्पनी के संचालकों तथा हिस्सेदारों के दायित्व मर्यादित होते हैं। डनिंग के कथनानुसार व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न समाज के अधिकारों को ठीक वैसे ही सीमित करते हैं, जैसे प्राकृतिक अवस्था में एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को मर्यादित करते हैं।

उसके धर्मविषयक विचारों में भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह प्रत्येक

---

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 255.

व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार धार्मिक पूजा और उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। उसके मतानुसार राज्य के सभी नागरिकों को इस बात की खुली छूट होनी चाहिए कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का सदस्य बन सकें। उसकी दृष्टि में व्यक्ति मुख्य और राज्य गौण है। मनुष्य सामाजिक समझौता करके प्राकृतिक दशा का अन्त ही इसलिए करता है कि वह अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा कर सके। ये उसके ऐसे अधिकार हैं, जिन्हें कोई राजसत्ता नहीं छीन सकती है। यदि कोई इन्हें छीनने का यत्न करे तो ऐसी राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार उसने व्यक्ति के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से स्वीकार किया है।

लॉक की उपर्युक्त व्यष्टिवादी विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए वॉन (Vaughan) ने लिखा है कि "**लॉक की पद्धति में प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के चारों ओर चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रहे**"। बार्कर के शब्दों में "लॉक में व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली (Puritan) महान् भावना थी, उसमें यह प्यूरिटन अनुभूति थी कि आत्मा को परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध निश्चित करने का अधिकार है।···उसमें यह प्यूरिटन सहज बुद्धि थी कि वह राज्य की सीमा निश्चित करते हुए उसे यह कह सके कि उसका कार्यक्षेत्र कहाँ तक है, वह इससे आगे नहीं बढ़ सकता।"[1] डनिंग ने व्यक्तिवाद की आधारशिला—मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण देन स्वीकार की है।[2] मैक्सी इसे महत्त्वपूर्ण ही नहीं, किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली और गतिशील (Dynamic) भी मानता है। पिछले दो सौ वर्षों में इसी आधार पर व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए सर्वोच्च सत्ता पर वैधानिक नियन्त्रण स्थापित किए गए हैं, वैयक्तिक स्वतन्त्रता को संविधान द्वारा सुरक्षित किया गया है, स्वेच्छाचारी तथा अमर्यादित सत्ता पर प्रत्येक प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया गया है और लिखित संविधानों में व्यक्ति के अधिकारों की घोषणा की गई है। "लॉक ने व्यक्तिवाद को अजेय राजनीतिक तथ्य बनाया है।"[3]

लॉक और हॉब्स की तुलना—(क) सादृश्य—ये दोनों अपने राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्राकृतिक दशा (State of Nature) से करते हैं और इसका अवसान सामाजिक समझौते (Social Contract) द्वारा। दोनों राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के हितों की सुरक्षा मानते हैं। अतः वे राज्य का प्रादुर्भाव इस विशेष प्रयोजन की पूर्ति मानते हुए उसका उद्देश्यमूलक (Teleological) वर्णन करते हैं। वे इसमें भी सहमत हैं कि इस प्रयोजन को व्यक्ति अपने सामूहिक और सहयोगी प्रयत्न से पूर्ण करते हैं। किन्तु इसके साथ ही उनकी समानताएँ समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। अतः जोन्स ने यह सत्य ही लिखा है कि लॉक तथा हॉब्स राज्य की सत्ता के प्रयोजन के सम्बन्ध में सहमत हैं कि

1. बार्कर—सोशल कांट्रैक्ट, भूमिका, पृ॰ 22.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 364.
3. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 261.

यह इसके प्रजाजनों के लिए शान्ति स्थापित करना, इन्हें सुरक्षा प्रदान करना तथा इनका कल्याण करना है; किन्तु वे इस विषय में मौलिक मतभेद रखते हैं कि उस उद्देश्य की पूर्ति सर्वोत्तम रीति से किस प्रकार हो सकती है।[1] क्योंकि मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों के मत सर्वथा भिन्न हैं। दोनों के महत्त्वपूर्ण मतभेद निम्नलिखित हैं।

(ख) **मतभेद—पहला भेद** मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में है। हॉब्स मनुष्य में केवल आसुरी और पाशविक प्रवृत्तियों—हिंसा, क्रूरता, निर्दयता, स्वार्थ और लोलुपता का ही दर्शन करता है; किन्तु लॉक उसे दैवी और मानवीय प्रवृत्तियों वाला, दयालुता, प्रेम, सहिष्णुता उदारता, सहयोग प्रभृति उदात्त भावनाओं से युक्त मानता है। दोनों के दृष्टिकोण के इस मौलिक अन्तर का समुचित कारण बता सकना सम्भव नहीं है। हॉब्स का पिता अशिक्षित एवं दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति था, उसे चर्च के दरवाजे पर पड़ोसी पादरी के साथ लड़ाई करने पर चर्च की सेवा से मुक्त होना पड़ा था और इसके बाद हॉब्स का लालन-पालन उसके चाचा ने किया।[2] पारिवारिक प्रेम और सुख से वंचित रहने के कारण हॉब्स को सम्भवतः अपने पिता के कारण, बचपन से ही मानव-स्वभाव की दुष्टता में अगाध विश्वास हो गया; किन्तु लॉक को अपने पिता से असीम वात्सल्य तथा कठोर अनुशासन द्वारा समुचित शिक्षा मिली।[3] अतः उसका दृष्टिकोण बाल्यकाल से मानव-स्वभाव की श्रेष्ठता और उत्कृष्टता में विश्वास रखने वाला हुआ था। यद्यपि लॉक को बचपन में गृहयुद्ध के तूफान के कारण बहुत कष्ट झेलने पड़े, अपने स्वामी शेफ्टसबरी के पतन के बाद विदेश में शरणार्थी के रूप में उसे भारी दुःख उठाना पड़ा, किन्तु इसमे उसके विचारों में अन्तर नहीं आया। वह आजीवन दमे, क्षय आदि की बीमारियों से पीड़ित होने के कारण अस्वस्थ रहा, किन्तु मनुष्य के प्रति उसका दृष्टिकोण सदैव स्वस्थ और आशावादी बना रहा। हॉब्स द्वारा मानव-जीवन के कृष्णपक्ष पर और लॉक द्वारा उसके शुक्लपक्ष पर बल दिए जाने से ही उनकी विचारधाराएँ प्रतिकूल दिशाओं में प्रवाहित हुई हैं। विभिन्न विषयों में उनके भेदों का पहले उल्लेख किया जा चुका है, यहाँ केवल इनका संक्षिप्त निर्देश होगा।

दूसरा भेद प्रकृति की दशा (State of Nature) के सम्बन्ध में है। हॉब्स के मतानुसार यह सतत संघर्ष और अनवरत युद्ध की दशा है। इसके सर्वथा विपरीत लॉक इसे शान्ति, सौहार्द और पारस्परिक सहयोग की अवस्था मानता है। **तीसरा भेद** सामाजिक समझौते या अनुबन्ध (Social Contract) का है। पहले यह बताया जा चुका है कि हॉब्स के समझौते में सब व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार लेवियाथन (Leviathan) या राज्य को सौंप देते हैं, अतः उसकी राजसत्ता पूर्णरूप से निरंकुश और सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होती है, किन्तु लॉक के समझौते में व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को अर्पित नहीं करता, प्रत्युत केवल उन्हीं अधिकारों का अर्पण करता है, जिनसे प्राकृतिक नियम (Natural Law) का निर्बाध रूप से पालन होता रहे तथा उन लोगों को दण्ड दिया जा सके, जो उन विधियों के विपरीत चलते हों। ये

1. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 155.
2. रसेल—हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 568.
3. जोन्स—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 153.

अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नहीं दिए जा सकते, प्रत्युत सारे समाज को दिए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति समाज के साथ समझौता करते हुए यह शर्त लगा देता है कि उसके मौलिक अधिकारों का अपहरण किसी भी दशा में नहीं हो सकता है। अतः लॉक का समझौता हॉब्स जैसी निरंकुश (Absolute) राजसत्ता के स्थान पर मर्यादित (Limited) अधिकारों वाली शासन सत्ता की स्थापना करता है। **चौथा भेद** यह है कि हॉब्स की सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) अनन्यक्राम्य (Inalienable) है, वह किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती है। जब एक बार लेवियाथन को सत्ता मिल गई तो कोई उससे यह सत्ता छीन नहीं सकता है। किन्तु लॉक के मतानुसार वास्तविक शक्ति सदैव जनता में निहित रहती है, वह कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसे शासक को प्रदान करती है। **पाँचवाँ भेद** यह है कि हॉब्स के मतानुसार प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु लॉक बहुसंख्यक प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करता है।

छठा भेद यह है कि लॉक सरकार को एक पवित्र धरोहर या न्यास (Trust) के रूप में समझता है। इस शासन का अन्तिम स्वामी या सर्वोच्च प्रभु समूचा मानवीय समुदाय है, यह सरकार को शासन करने का कार्य इस विश्वास के साथ सौंपता है कि वह इसे कल्याण की दृष्टि से तथा व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से करेगा। यदि सरकार ऐसा नहीं करती तो प्रभुसत्तासम्पन्न सरकार को इसे बदलने का तथा इसके स्थान पर नई सरकार स्थापित करने का पूरा अधिकार है। लॉक के विचारों में शासक विशेष महत्त्व नहीं रखता, इसे विशिष्टता प्रदान करने वाली तथा राजनीतिक एकता और सुदृढ़ता का निर्माण करने वाली शक्ति जन-समुदाय (Community) है, अतः उसके मतानुसार राजनीतिक एकता समूचे जन-समुदाय की इच्छा में सामान्य (General) रूप से निहित है। किन्तु हॉब्स के मतानुसार यह एकता एक विशिष्ट प्रभुसत्तासम्पन्न शासक (determinate sovereign) में रहती है, यह इसकी वास्तविक इच्छा (Actual Will) होती है, यह जनसमुदाय की सामान्य इच्छा (General Will) में नहीं रहती है। अतः बोसांके ने यह सत्य ही लिखा है कि "हॉब्स के लिए राजनीतिक एकता एक वास्तविक इच्छा में निहित है, यह इच्छा सामान्य नहीं है; लॉक के मतानुसार यह ऐसी इच्छा में निहित है जो सामान्य है, किन्तु वास्तविक नहीं है। इसका यह अभिप्राय है कि हॉब्स इस बात पर बल देता है कि प्रभुसत्ता एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में रहती है, यह ऐसे शासक या राजा की वास्तविक इच्छा होती है, किसी मानव-समुदाय की काल्पनिक सामान्य इच्छा नहीं होती है। हॉब्स का जनसमुदाय किसी शासक की सामान्य इच्छा से राजनीतिक एकता को धारण करता है, जनता की सामान्य इच्छा से नहीं; किन्तु लॉक इसके लिए जनता की सामान्य इच्छा और सहमति पर बल देता है तथा उसके आधार पर शासन की समूची व्यवस्था करता है। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि इनके बाद होने वाले रूसो ने अपनी सामान्य इच्छा के विचारों में हॉब्स की वास्तविक इच्छा का तथा लॉक की सामान्य इच्छा का समन्वय किया। हॉब्स और लॉक के विचारों की तुलना करने से यह प्रतीत होता है कि हॉब्स के राज्य-विषयक विचार अधिक मौलिक, तर्कसंगत, युक्तियुक्त और सम्बद्धता रखने वाले हैं। फिर भी

उसके विचार भविष्य में लोकप्रिय एवं प्रबल होने वाली लोकतन्त्र की विचारधारा के अनुकूल नहीं थे। अतः यह कहा जाता है कि **जहाँ हॉब्स और लॉक के विचारों में मतभेद है, वहाँ भावी पीढ़ियों ने लॉक के विचारों का समर्थन किया है।** इस कथन में बड़ी सचाई है। लॉक में हॉब्स जैसी पैनी दृष्टि, सूक्ष्म विवेचना की शक्ति तथा कल्पना की ऊँची उड़ान लेने का सामर्थ्य नहीं था। फिर भी लॉक ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया, वे हॉब्स के विचारों की तुलना में अधिक लोकप्रिय हुए। आजकल लॉक के प्रमुख विचार—व्यक्ति के मौलिक अधिकार, जनसहमति से शासन, वैध एवं मर्यादित शासन, कानून और पार्लियामेण्ट की सर्वोपरि सत्ता, शक्तिपार्थक्य का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) न केवल सर्वमान्य सिद्धान्त बन गए हैं, अपितु लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति का अनिवार्य अंग समझे जाते हैं। अधिकांश आधुनिक राज्यों का संविधान हॉब्स के नहीं, अपितु लॉक के सिद्धान्तों पर आधारित है।

लॉक की विचारधारा के दोष—लॉक के विचार हॉब्स की भाँति सुस्पष्ट और तर्कसंगत नहीं हैं। उसके लेखों में बड़ी अस्पष्टता, परस्पर-विरोध और असंगतियाँ हैं। एक ओर वह नैतिक व्यवस्थाओं को शाश्वत, पूर्ण तथा अन्तिम समझता है, दूसरी ओर वह उन्हें अस्थायी तथा समाज की विभिन्न परिस्थितियों का परिणाम मानता है। उसने एक शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों में एक ही अर्थ में नहीं किया। कई बार वह सम्पत्ति को आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त करता है और कई बार इससे उसका आशय तीन वस्तुओं से अर्थात् व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और धन-दौलत से होता है।[1] उसने सर्वोच्च प्रभुसत्ता का मूल स्रोत तीन विभिन्न तत्त्वों को माना है—जनता या समुदाय (Community), विधानसभा, कार्यपालिका (Executive) का अधिकार रखने वाले व्यक्ति। एक ओर वह मनुष्य को अपना सुख चाहने वाला मानता है, दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि सब मनुष्य सामान्य, सार्वजनिक सुख की आकांक्षा रखते हैं। परस्पर विरोध और असंगतियों के अतिरिक्त उसकी विचारधारा के प्रधान दोष निम्नलिखित हैं—

पहला दोष उसका मानव-स्वभाव के शुक्लपक्ष को ही देखना था। यदि हॉब्स का मत उसका कृष्णपक्ष देखने के कारण एकांगी होने से दूषित है तो लॉक का मत भी दूषित है क्योंकि वह उसमें केवल अच्छाइयों को देखता है। वस्तुतः मनुष्य में न केवल अच्छाइयाँ हैं और न केवल बुराइयाँ हैं, वह इन दोनों का सम्मिश्रण है।

दूसरा दोष मानव-स्वभाव के भ्रान्त दृष्टिकोण के आधार पर ऐसी प्राकृतिक दशा (State of Nature) का चित्रण है, जो इस भूतल में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। उसके मतानुसार इस अवस्था में केवल अखण्ड शान्ति का साम्राज्य था, किन्तु सब मनुष्य न्याय की स्थापना करने वाले प्राकृतिक नियम का पालन करते थे। यह स्थिति 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मनुष्य द्वारा अभूतपूर्व वैज्ञानिक उन्नति कर लेने के बाद भी मानव-समाज में नहीं पाई जाती है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घोर अशान्ति, आशंका, अराजकता और भय का साम्राज्य है। यदि लॉक की कल्पना सत्य

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 78.

हो तो यह मानना पड़ेगा कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से मनुष्य का निरन्तर अधःपतन हो रहा है। किन्तु इसके सत्य न होने के कारण लॉक की प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त कल्पना असत्य जान पड़ती है।

तीसरा दोष वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा और सम्पत्तिशाली वर्ग का अनुचित रूप से प्रबल समर्थन है। उसके मतानुसार व्यक्ति सामूहिक सम्पत्ति में अपने श्रम को जोड़कर इसे वैयक्तिक सम्पत्ति में परिणत करता है। लॉक के शब्दों में, मेरे घोड़े ने जो घास खाई, या मेरे सेवक ने जो घास छीली या मैंने किसी सार्वजनिक स्थान पर खोदने से जो कच्ची धातु प्राप्त की, वह किसी की अनुमति के बिना ही मेरी सम्पत्ति बन जाती है। मेरे ही श्रम ने उसे उस प्राकृतिक अवस्था से हटाया है, जहाँ वह सार्वजनिक सम्पदा थी, अतः वह मेरी सम्पत्ति हो गई।"[1] रिची ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि इसके अनुसार अपने घोड़े तथा अपने नौकर के माध्यम से तथा श्रम से प्राप्त की गई सम्पत्ति मेरी हो जाती है, इसी प्रकार पूंजीपति मजदूरों को लगाकर उनके श्रम से जो सम्पत्ति प्राप्त करता है, वह उसकी निजी सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि उसने पूंजीवाद का प्रबल पोषण किया है।[2] आजकल इस सिद्धान्त को कोई भी सत्य नहीं मानेगा।

चौथा दोष सहमति (Consent) के सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना है। वह इसे प्राकृतिक कानून के साथ सम्बद्ध मानता है। उसके मतानुसार इसका आशय यह है कि न्याय-अन्याय का निर्णय अधिकांश व्यक्तियों की सहमति से होता है। यदि बहुत से व्यक्ति किसी कार्य को उचित या अनुचित कहते हैं तो उसे ऐसा ही समझना चाहिए। यह प्राकृतिक नियम के मौलिक सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है, क्योंकि उसके अनुसार जो सार्वभौम शाश्वत सत्य है, वह मनुष्यों द्वारा अस्वीकार करने पर भी वैसा ही बना रहता है यदि लॉक की बात मान ली जाए तो प्राकृतिक नियम मनुष्यों के बहुमत पर आधारित हो जाएँगे और उनकी स्वतन्त्र वास्तविक सत्ता समाप्त हो जाएगी।

पाँचवाँ दोष राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यन्त संकुचित और सीमित करना है। उसकी दृष्टि में राज्य को केवल पुलिस का कार्य करना चाहिए, इससे अधिक नागरिकों की शिक्षा सम्बन्धी, सांस्कृतिक या नैतिक उन्नति का कार्य उसकी सीमा से परे है, क्योंकि व्यक्ति प्रकृति से ही विवेकशील और नैतिक है, वह स्वयं अपनी उन्नति करेगा। लॉक का पुलिस राज्य (Police State) का विचार बड़ा संकीर्ण और दूषित है।

छठा दोष व्यक्ति को असाधारण महत्त्व देकर राज्य की स्थिति को क्षीण बनाना है। उसका राज्य कोई स्वतन्त्र सामूहिक संस्था नहीं, किन्तु ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र है, जो निश्चित तथा सीमित प्रयोजनों के लिए इसका निर्माण करते हैं। इन प्रयोजनों के अतिरिक्त वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। सर्वोच्च सत्ता उनमें निहित है। उसने

1. लॉक—शासन पर दो निबन्ध। पूर्वोक्त हिन्दी अनुवाद, पृ० 144.
2. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 79.

व्यक्तिवाद के प्रबल समर्थन के कारण व्यक्ति को राज्य से बड़ा बना दिया है। उसके मत में राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए।

इसीलिए उसके राज्य की तुलना एक सीमित दायित्व वाली कम्पनी (Limited Liability Company) से की जाती है और यह कहा जाता है कि लॉक राज्य को अपनी कोई विशिष्ट सत्ता या जीवन रखने वाला नहीं समझता, अपितु ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है जो एक निश्चित सीमित प्रयोजन को पूरा करने के लिए इसका निर्माण करने के लिए सहमत होते हैं किन्तु अन्य सभी कार्यों के लिए अपनी पूरी स्वतन्त्रता बनाए रखते हैं। अतः उसके विचारानुसार राज्य **एक सीमित दायित्व रखने वाली कम्पनी मात्र है**, वास्तविक प्रभुसत्ता और सर्वोच्च शक्ति व्यक्तियों में निहित है। लॉक की विचारधारा का बहुत बड़ा दोष व्यक्ति को राज्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बनाना है, उसकी दृष्टि में प्रभुसत्ता राज्य में नहीं, किन्तु व्यक्ति में निहित है। इससे राज्य व्यक्ति की तुलना में नगण्य रह जाता है।

राजनीतिशास्त्र में लॉक की देन—किन्तु इन त्रुटियों और दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कई महत्त्वपूर्ण देनों के कारण लॉक का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी **पहली देन** प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) का सिद्धान्त है। उसने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को मनुष्य के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार मानते हुए यह कहा कि राज्य का कर्त्तव्य इनकी रक्षा करना है, वह किसी मनुष्य को कभी इससे वंचित नहीं कर सकता है। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। आजकल सभी देशों के संविधानों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा को प्रथम स्थान दिया जाता है। यह वर्तमान प्रजातन्त्र (Democracy) और उदारवाद (Liberalism) की आधारशिला है। उसकी **दूसरी देन** व्यक्तिवाद (Individualism) की है। **तीसरी देन** जनता की सहमति पर आधारित वैधानिक शासन (Consttitutional government) का विचार है। मैक्सी के शब्दों में "उससे पहले किसी राजनीतिक विचारक ने इतने स्पष्ट और शक्तिशाली रूप में इस सिद्धान्त की स्थापना नहीं की थी कि यदि कोई शासन प्रजाजनों की सहमति पर आधारित न हो तो वह अवैध तथा निराधार होता है। इससे पहले प्रतिनिधि संस्थाओं के माध्यम से बहुमत द्वारा शासन-संचालन की आवश्यकता और सम्भावना को इतने विश्वासदायक व प्रबल शब्दों में किसी अन्य व्यक्ति ने अभिव्यक्त नहीं किया था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि कार्यपालिका तथा विधानसभा तभी तक अपना कार्य कर सकती हैं, जब तक वे लोकहित का अनुसरण करती हैं और उसकी सहमति के अनुसार कार्य करती हैं।" लॉक ने इस सिद्धान्त से राजाओं के दैवी अधिकार (Divine Right) द्वारा शासन करने के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया। 18वीं-19वीं शताब्दी के राजनीतिक सुधारकों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत लॉक का वैधानिक शासन का दर्शन था। ये सुधार चाहे किसी वालपोल, जेफरसन, गैम्बेट्टा या कावूर ने किए हों, इनकी प्रेरणा लॉक की रचनाओं से मिलती थी। **चौथी देन** जनता में प्रभुसत्ता (Popular sovereignty) के निहित होने का विचार है। वह यह मानता था कि व्यक्ति राज्य को अपने अधिकार कुछ विशेष प्रयोजनों की पूर्ति के लिए ही सौंपते हैं, शेष अधिकार तथा प्रभुसत्ता जनता में ही बनी

रहती है। **पाँचवीं देन** राज्य की विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की तीनों शक्तियों के पार्थक्य (Separation of powers) के सिद्धान्त का बीजारोपण है। इसका अमरीका के राजनीतिज्ञों और विचारकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। मांतेस्क्यू ने इसी के आधार पर अपने शक्ति-पार्थक्य के तथा शासन सम्बन्धी कार्यों के त्रिवर्गीय विभाजन के सिद्धान्त का विकास किया और अमरीका के संविधान-निर्माताओं ने लॉक तथा मांतेस्क्यू के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अपने विधान का निर्माण किया। छठी देन उपयोगितावाद (Utilitarianism) का सिद्धान्त है। उसने यह कहा था कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य सुखों की प्राप्ति और दु:खों के निवारण के लिए होते हैं। मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों का अनुसरण इसलिए करता है कि वह इनसे आनन्द पा सके। बेन्थम पर इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा।

लॉक का मूल्यांकन और प्रभाव—लॉक की रचनाओं में मौलिकता, सम्बद्धता और स्पष्टता का अभाव है। हॉब्स की रचना लॉक के ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक तर्क-संगत, सुसंगत और स्पष्ट है। फिर भी भावी पीढ़ियों ने हॉब्स का नहीं, किन्तु लॉक का समर्थन किया। इसका कारण यह था कि हॉब्स का निरंकुश राजसत्ता का सिद्धान्त समय के प्रतिकूल था और लॉक का वैधानिक शासन का विचार तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप था। अत: उसके व्यक्तिवाद, जनता की प्रभुसत्ता, व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों तथा वैध शासन के विचार बड़े लोकप्रिय हुए। सामाजिक संविदा, प्राकृतिक नियम, विद्रोह के अधिकार आदि के सिद्धान्त लॉक से पहले भी अनेक विचारक प्रतिपादित कर चुके थे, किन्तु उसने इन्हें इस ढंग से रखा कि इनका भावी इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसका विवेचन हुए बार्कर ने लिखा है, "लॉक के राजनीतिक सिद्धान्त ने केवल इंगलैण्ड को ही प्रभावित नहीं किया। वह फ्रांस में प्रविष्ट हुआ, रूसो के माध्यम से फ्रेंच राज्यक्रान्ति में आया। यह उत्तरी अमरीका की बस्तियों में प्रविष्ट हुआ और सेमुअल एडम्ज़ तथा थामस जेफरसन के माध्यम से अमरीका की स्वतन्त्रता की घोषणा में भी इसका समावेश हुआ।"[1] अमरीका और फ्रांस की क्रान्तियों ने 19वीं शताब्दी में योरोप में तथा 20वीं शताब्दी में एशिया में होने वाली सभी राज्यक्रान्तियों को प्रभावित किया। इन सब पर लॉक के प्रभाव की स्पष्ट छाप है। वह उदारवाद, जनतन्त्र, नागरिकों के मौलिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रवक्ता है। अत: मैक्सी ने यह सत्य ही लिखा है कि "17वीं शताब्दी के इंगलैण्ड के इस दुबले-पतले, किताबी कीड़े डाक्टर की गणना राजनीतिशास्त्र के अमर विचारकों में की जानी चाहिए।"[2]

1. बार्कर—सोशल कांट्रैक्ट, भूमिका, पृ० 18.
2. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 362.

पन्द्रहवाँ अध्याय

रूसो (1712-1778 ई०)

जीवनी—फ्रेंच राज्यक्रान्ति को जन्म देने वाले विचारों के प्रबल प्रसारक, राजनीतिशास्त्र, शिक्षा, धर्म और साहित्य के क्षेत्रों में आधुनिक युग पर गहरा प्रभाव डालने वाले, सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रबल पोषक, जीन जेकस रूसो (Jean Jacques Rousseu) का जन्म धार्मिक अत्याचारों के कारण फ्रांस से भागकर स्विट्ज़रलैण्ड के जेनेवा शहर में शरण लेने वाले, निर्धन आइज़क नामक घड़ीसाज़ के घर में हुआ। दार्शनिकों का जीवन प्रायः घटनापूर्ण नहीं होता, उनकी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। किन्तु रूसो इसका अपवाद है। उसने अपना अधिकांश जीवन आवारागर्दी में बिताया, किसी पेशे या धन्धे को सीखने में सफलता नहीं पाई और न किसी स्थान पर टिका। उसने स्वयमेव अपने जीवन के सन्ध्याकाल में अतिरंजित शैली में लिखी अपनी आत्मकथा (Confessions) में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला कि वह किस प्रकार किन बुराइयों में फँसा, किन स्त्रियों से उसने प्रेम किया और कौनसी उच्च कुलों की सम्भ्रान्त महिलाएँ उसके प्रेम में विह्वल रहीं, किस प्रकार उसने एक अनपढ़, बदसूरत भटियारिन Therese le Vasseur को अपनी प्रेयसी बनाया, उससे पाँच बच्चे पैदा करने पर 'प्लेटो की शिक्षाओं का अनुसरण करते हुए' उसने एक को भी स्वयं नहीं पाला और पाँचों को अनाथ बच्चे पालने वाले हस्पताल में दे दिया।

उसके राजनीतिक विचारों पर प्रभाव डालने वाली उसके जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि 16 वर्ष की अवस्था में वह अपने घर से भाग निकला, इसके बाद बीस वर्ष तक मुख्य रूप से फ्रांस के विभिन्न स्थानों में निरुद्देश्य भ्रमण और आवारागर्दी करता रहा। किन्तु उसके जीवन में यह काल बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इस समय वह फ्रांस की निर्धन जनता के सम्पर्क में आया, उसे उनके विचारों और भावनाओं को जानने का बहुमूल्य अवसर मिला। 1741 ई० में वह पेरिस में बस गया, यहाँ वह दिदरो (Diderot) के तथा अन्य विद्वानों के सम्पर्क में आया। 1746 ई० में उसने एक गीतिनाट्य (Opera) लिखा। 1749 ई० में डिजान की अकादमी द्वारा घोषित एक निबन्ध प्रतियोगिता में स्वर्णपदक तथा 300 फ्रांक का पुरस्कार पाने के कारण उसे असाधारण ख्याति प्राप्त हुई। निबन्ध का विषय था "विज्ञान की उन्नति ने नैतिक जीवन को उन्नत किया है या उसे भ्रष्ट किया है?" अपने निबन्ध (Discours sur les Arts et Sciences) में उसने यह सिद्ध किया कि मानव-समाज

की प्रारम्भिक अवस्था में सब मनुष्य सरल और निष्पाप जीवन बिताते हुए आनन्दपूर्वक रहते थे। वर्तमान समाज की सब बुराइयों का मूल सभ्यता की उन्नति, ज्ञान का प्रेम और सभ्य समाज का कृत्रिम जीवन है। 1754 ई० में उसने एक दूसरी निबन्ध प्रतियोगिता के लिए इस विषय पर लेख लिखा कि—"**मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने का क्या कारण है ? क्या प्राकृतिक कानून इसका समर्थन करता है ?**" इसमें उसने समानता और सामंजस्य की स्थिति में रहने वाले आदिम मानव-समाज का प्रतिपादन अधिक विस्तार से करते हुए उसमें वैयक्तिक सम्पत्ति तथा आर्थिक विषमता उत्पन्न होने की प्रक्रिया पर तथा इसके कारणों पर प्रकाश डाला।

इस समय तक उसकी आजीविका का कोई स्थायी साधन नहीं था, वह केवल मित्रों द्वारा दी गई आर्थिक सहायता से अपना जीवन निर्वाह कर रहा था। 1756 ई० के प्लासी की लड़ाई वाले वर्ष में सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखिका मदाम एपीने (Epinay) ने पेरिस के निकट माण्टमेरेन्सी (Montmerancy) के जंगल में रूसो को रहने के लिए तपोवन (Hermitage) नामक एक कुटिया बनवा दी, उसके लिए भोजनादि की पूरी व्यवस्था कर दी और अगले छः वर्ष पेरिस के कृत्रिम जीवन से दूर प्राकृतिक जीवन को बिताते हुए उसने 1761 ई० में Julie या New Heloise तथा 1762 ई० में **सामाजिक समझौता** (Le Contract Social) तथा शिक्षा विषयक ग्रन्थ Emile लिखा। अन्तिम ग्रन्थ में एमिली नामक बच्चे को प्राकृतिक ढंग से शिक्षा देने का समर्थन करते हुए बाइबल के ईश्वरीय ज्ञान होने का तथा ईसाइयत के नरक विषयक तथा अन्य कई सिद्धान्तों का खण्डन था। 'सामाजिक समझौते' में राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाई गई थीं।

इन ग्रन्थों से रूसो को अपूर्व ख्याति मिली, पर साथ ही असाधारण कष्ट भी भोगना पड़ा। इनके धर्म-विरोधी और राजतन्त्र-विरोधी विचारों के कारण उसकी मातृभूमि जेनेवा की परिषद् ने इन दोनों ग्रन्थों को जला डालने की तथा जेनेवा आने पर रूसो को बन्दी बनाने की आज्ञा निकाली। फ्रेंच सरकार ने भी इसी कारण उसे गिरफ्तार करने का आदेश दिया। रूसो को अपनी प्राणरक्षा के लिए फ्रांस से पलायन करना पड़ा। वह स्विट्ज़रलैण्ड के बर्न नगर में जाना चाहता था, किन्तु उसने उसे शरण देना अस्वीकार किया। इस पर जर्मनी के राजा फ्रेडरिक ने अपने प्रदेश के मोटियर्स (Motiers) नामक गाँव में उसे शरण दी। किन्तु तीन वर्ष बाद (1765 ई०) वहाँ के पादरी द्वारा भड़काए जाने पर मोटियर्स के लोगों ने उसे मारने का यत्न किया। इस पर वह प्राणरक्षा के लिए इंगलैण्ड भाग गया, यहाँ सुप्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने उसे अपने पास शरण दी (1766 ई०)। किन्तु इस समय तक रूसो विभिन्न राज्यों तथा व्यक्तियों द्वारा इतना प्रताड़ित, तिरस्कृत और पीड़ित हो चुका था कि उसे यह वहम (Persecution mania) हो गया कि दुनिया के सब व्यक्ति उस पर अत्याचार करने का और उसे मारने का प्रयत्न कर रहे हैं। अपने उपकारी मित्र ह्यूम से भी उसे यह आशंका हुई कि वह उसके प्राण लेने का षड्यन्त्र कर रहा है। इसी वहम में वह कुछ पागल-सा हो गया और इंगलैण्ड से भागकर फ्रांस लौट आया (1767 ई०)। ह्यूम ने अपने मित्र टूर्जो को फ्रेंच सरकार की उसे बन्दी बनाने की आज्ञा को क्रियान्वित न कराने को लिखा। जीवन के शेष 11 वर्ष उसने अर्धविक्षिप्तावस्था में पेरिस में बिताए,

किन्तु इस समय भी उसने अपनी आत्मकथा (Confessions) और पोलैण्ड तथा कोर्सिका के लिए संविधानों का प्रणयन किया। फ्रेंच राज्यक्रान्ति से 11 वर्ष पहले 2 जुलाई, 1778 ई० को 66 वर्ष की आयु में इस विलक्षण प्रतिभाशाली, अत्यन्त सम्वेदनशील किन्तु अर्धविक्षिप्त व्यक्ति का देहावसान हो गया। रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

मानव-स्वभाव—इस विषय में रूसो का विचार हॉब्स तथा लॉक दोनों से भिन्न है। उसने पुरस्कार प्राप्त करने वाले उपर्युक्त निबन्ध में प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अच्छा, सुखी, सीधा, चिन्तारहित, स्वस्थ, शान्तिप्रेमी और एकान्तप्रिय बताया। कई कारणों से उसने आदिम मनुष्य को ऐसा समझा: पहला कारण अपनी मातृभूमि जेनेवा में बचपन से कैल्विन की शिक्षाओं में दीक्षित होने के कारण आदिम मानव को सर्वथा निर्दोष और निष्पाप मानना था क्योंकि बाइबल के मतानुसार आदम शैतान के बहकावे में आने के बाद पापी बना था। **दूसरा** कारण इस समय प्रशान्त महासागर के टापुओं में रहने वाले आदिवासियों के ऐसे विवरणों का प्रकाशित होना था, जिनमें उन्हें शान्तिप्रेमी, अबुद्धिवादी तथा अन्धविश्वासों और रीति-रिवाजों का अनुसरण करने वाला बताया गया था। हॉब्स के समय में उत्तरी अमरीका की युद्ध-प्रिय आदिम जातियों के वर्णन प्रकाशित होने से उसने मानव-प्रकृति को एक-दूसरे का गला काटने को तत्पर रक्तपिपासु माना था।[1] रूसो ने इसके सर्वथा विपरीत उसे शान्तिप्रेमी माना।

अतः रूसो ने हॉब्स और लॉक दोनों के मानव-प्रकृति विषयक विचारों का खण्डन किया। हॉब्स का कहना था कि प्राकृतिक मनुष्य न केवल हिंस्र और क्रूर था, प्रत्युत कपटी भी था। पहले रूसो द्वारा इस धारणा की आलोचना का वर्णन हो चुका है। रूसो का यह कहना था कि इसमें हॉब्स ने प्राकृतिक मनुष्य को इतना बुद्धिमान् और नैतिक मान लिया, जो सर्वथा असम्भव है। दूसरी ओर लॉक ने मनुष्य को प्राकृतिक नियम और ईश्वरीय नियम से अनुशासित होने वाला माना था। रूसो आदिम युग में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असम्भव मानता है। इन दोनों विचारों को भ्रान्त मानते हुए उसने आदिम मानव को लगभग पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष और स्वाभाविक रूप से अच्छा माना। वह सहज भावना से काम करने वाला, बुद्धिहीन, नैतिकता के विचारों से रहित और सम्पत्तिशून्य था।[2] उसमें आत्मसंरक्षण और सहानुभूति की दो प्रधान भावनाएँ थीं।

प्राकृतिक दशा (State of Nature)—रूसो की मानव-स्वभाव की कल्पना हॉब्स और लॉक के विचारों से भिन्न थी, अतः उसकी प्राकृतिक दशा की धारणा भी स्वाभाविक रूप से इन दोनों की धारणा से मौलिक भेद रखती है। रूसो के मतानुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक तथा अनैतिक भावनाओं से मुक्त, निःस्वार्थ, सम्पत्ति और परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था। उस समय उसमें ममत्व की, तेरे-मेरे की कोई भावना नहीं थी, उसका जीवन उदात्त वनेचर

1. फिलिस डायल—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 207-8.
2. सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 442.

(Noble Savage) जैसा था। वह सुखी और सन्तुष्ट था।

किन्तु यह स्वर्गीय स्थिति देर तक नहीं रही। सम्पत्तिरूपी साँप ने इसमें प्रवेश किया। मनुष्य में परिवार और वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। एक मनुष्य ने भूमि के एक टुकड़े को घेर लिया, उसे अपना कहने लगा। उसने दूसरे मनुष्यों से भी उस टुकड़े पर अपना अधिकार स्वीकृत कराया। अन्य मनुष्यों ने भी इसी तरह भूमि के अन्य टुकड़ों पर स्वामित्व स्थापित किया। इससे उदात्त वनेचर (Noble Savage) की स्वाभाविक समानता, स्वतन्त्रता समाप्त हो गई, दास-प्रथा का तथा सभ्यता की अन्य बुराइयों का प्रादुर्भाव हुआ। परिवार, वैयक्तिक सम्पति, समाज, कानून और सरकार की संस्थाएँ सुदृढ़ हुईं।

ये सब समाज में विषमता को स्थायी बनाने में, गरीबों पर अमीरों के अत्याचार बढ़ाने में सहायक हुईं। सभ्य समाज के जन्म से निर्धनता और दु:ख का प्रादुर्भाव हुआ। सभ्यता की वृद्धि के साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और बीमारी बढ़ती गई। इस प्रसंग में रूसो ने तत्कालीन फ्रांस की निर्धन जनता के सम्पन्न वर्गों द्वारा शोषण, अत्याचारों, दु:खों और कष्टों का बड़ा सजीव हृदयद्रावक मर्मवेधी तथा प्रभावशाली चित्रण किया। उसके ग्रन्थ की लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण यह था कि फ्रांस की जनता जिन कष्टों को मूक भाव से सह रही थी और अनुभव कर रही थी, उसने अपने ओजस्वी शब्दों में उन्हें अभिव्यक्त कर दिया। उसके सामाजिक समझौते की पुस्तक के प्रथम वाक्य में यह घोषणा की गई है—"मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा हुआ है, किन्तु सर्वत्र बेड़ियों से जकड़ा हुआ है।" (Man is born free; but everywhere he is in chains)। इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य को स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होना चाहिए, यही उसके लिए सर्वोत्तम दशा है। किन्तु समाज के नियम, रूढ़ियाँ तथा प्रतिबन्ध उसे दास बना रहे हैं, उसकी विशुद्ध प्राकृतिक दशा के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार से उसे वंचित कर रहे हैं। वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए इन बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो, यह रूसो के राजनीतिक चिन्तन की मौलिक समस्या है। रूसो इसका समाधान ऐसा संगठन बनाकर करना चाहता है जिसमें सब एक-दूसरे के साथ संयुक्त होने पर भी प्राकृतिक दशा की स्वतन्त्रता के अधिकार को अक्षुण्ण बनाए रखें। यह सामाजिक समझोते से राजनीतिक समाज के निर्माण द्वारा हो सकता है।

सामाजिक समझौते का स्वरूप—रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज की सुव्यवस्था में समन्वय स्थापित करने के लिए एक सामाजिक संविदा (Social Contract) की कल्पना करता है। हॉब्स की भाँति रूसो इसमें व्यक्तियों द्वारा सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण आवश्यक मानता है, न कि लॉक की भाँति केवल कुछ अधिकारों का सौंपना। उसने लॉक की भाँति ये अधिकार एक ऐसे संघ को दिए हैं, जो सब व्यक्तियों का समूह है। यह समझौता सब सदस्यों की स्वीकृति पर आधारित है और निम्न प्रकार से सम्पन्न होता है। समाज का संगठन बनाने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति एकत्र होकर यह कहते हैं, "हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर को और समूची शक्ति को अन्य सबके साथ संयुक्त सामान्य इच्छा (General Will) के सर्वोच्च संचालन में रखता है और हम अपने सामूहिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि के अविभाज्य

अंश के रूप में ग्रहण करते हैं।"[1] इसमें व्यक्ति अपने विभिन्न व्यक्तित्वों को पूर्णरूप से समाज में निमज्जित करके एक ऐसी नैतिक और सामूहिक संस्था का निर्माण करते हैं जो इसके सब सदस्यों से मिलकर बनती है। इस संस्था की, इसके सदस्यों से पृथक् अपनी विशिष्ट एकता, जीवन और इच्छा होती है। इसे इसके सदस्य निष्क्रिय होने पर राज्य (State) कहते हैं, क्रियाशील होने पर सर्वोच्च प्रभु (Sovereign) तथा अन्य संस्थाओं के साथ तुलना में शक्ति (Power) कहते हैं। इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों का सामूहिक नाम जनता होता है, वैयक्तिक रूप से इन्हें नागरिक कहा जाता है। इसमें सब व्यक्तियों के अधिकारों में समानता बनी रहती है, क्योंकि सब व्यक्ति अपने अधिकार समर्पित करने के बाद अधिकारहीन होने के कारण बराबर हो जाते हैं। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रहती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने किसी व्यक्ति-विशेष को नहीं, किन्तु समूचे समुदाय को समर्पण किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर वही अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, जो अन्य व्यक्ति को उस पर प्राप्त हैं। यह समझौता इसलिए किया जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों की परस्पर-विरोधी शक्तियों के स्थान पर एक सामान्य शक्ति स्थापित हो जाए।

रूसो का समझौता या अनुबन्ध यद्यपि समुदाय या राज्य का निर्माण करता है, किन्तु यह इस समझौते को करने वाला पक्ष नहीं बनता है। प्रत्येक व्यक्ति समझौता करते हुए दो प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न करता है—(क) सर्वोच्च प्रभुसत्ता का अंग होने से वह दूसरे व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्यों से बँधा है। (ख) राज्य का सदस्य होने के नाते वह प्रभुशक्ति के साथ कर्त्तव्यों से बँधा हुआ है। सामाजिक अनुबन्ध को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति सामान्य इच्छा का पालन करने से इनकार करता है, उसे जबर्दस्ती नागरिकों के समूचे समाज द्वारा इसका पालन कराने के लिए बाध्य किया जाए। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उसे स्वतन्त्र रहने के लिए बाधित किया जाए। सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज के बहुमत की इच्छा का पालन करना चाहिए, यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसे इसके लिए बाधित किया जाना चाहिए, क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता और सब व्यक्ति स्वच्छन्द आचरण करने लगते हैं तो समझौता भंग होकर उससे पहले की अवांछनीय स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, जिसमें विषमता का साम्राज्य होगा तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। अतः व्यक्ति को स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए उसे सामान्य इच्छा के पालन के लिए बाधित किया जाना आवश्यक है, जैसे गेलीलियो को अपने समय के समाज के पृथ्वी के चारों ओर सूर्य के घूमने के सिद्धान्त को स्वीकार करने की सामान्य इच्छा मानने के लिए बाधित होकर अपना यह मत छोड़ना पड़ा कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है।

यह अनुबन्ध जीवन और इच्छा-शक्ति रखने वाली एक नैतिक और सामूहिक संस्था की रचना करके प्राकृतिक दशा का अन्त करता है; एक नये सभ्य समाज और राज्य का निर्माण करता है। इससे व्यक्ति नागरिक का रूप धारण करता है, उसके कार्य नैतिक बनते हैं, उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty) नागरिक

---

1. रूसो—सोशल कांट्रैक्ट, पुस्तक 1, अध्याय 6.

स्वतन्त्रता में परिणत होती है। रूसो का समझौता किसी विशेष समय में होने वाली एकाकी घटना मात्र नहीं किन्तु निरन्तर जारी रहने वाली, मनुष्य की प्रकृति को उन्नत, उच्च, उदात्त और नैतिक बनाने वाली प्रक्रिया है, क्योंकि इस समझौते से मनुष्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है। रूसो के शब्दों में, "प्राकृतिक दशा से सभ्य समाज में परिवर्तित होने से मनुष्य अपने आचरण में सहज भावना (Instinct) का स्थान न्याय को देता है, अपने कार्यों को नैतिक स्वरूप प्रदान करता है जो उसमें पहले नहीं था। शारीरिक प्रेरणाओं का स्थान कर्त्तव्य की भावना ले लेती है।…अब तक केवल अपने स्वार्थ का चिन्तन करने वाला मनुष्य पहली बार अपने-आपको अन्य सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने के लिए बाध्य अनुभव करता है, वह अपनी इच्छाओं की पुकार सुनने से पहले अपनी बुद्धि से परामर्श करता है। यह सत्य है कि इस नागरिक राज्य में वह अपने को प्राकृतिक दशा के अनेक लाभों से वंचित कर लेता है, किन्तु इसके साथ ही वह अनेक नये लाभ भी प्राप्त करता है, उसकी शक्तियों का प्रशिक्षण और विचारों का विस्तृत विकास होता है, उसकी आत्मा बहुत ऊँची उठती है।"[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि **लॉक तथा रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के स्वरूप में दो बड़े भेद हैं**—(क) लॉक का अनुबन्ध एक निश्चित समय में होने वाला एक विशेष कार्य है। रूसो का समझौता निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। (ख) लॉक का मनुष्य समझौता करने से पहले प्राकृतिक नियम का पालन करने वाला नैतिक प्राणी था, किन्तु रूसो का मनुष्य समझौता करने के बाद नैतिक प्राणी बनता है, इससे पहले वह केवल वैयक्तिक हित और स्वार्थ की सिद्धि में रत था, इसके बाद वह सामाजिक हित को वैयक्तिक हित से ऊपर और महत्त्वपूर्ण समझता है, वह सामान्य इच्छा के निर्माण में भाग लेता हुआ दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला, विवेकशील नैतिक मानव का रूप धारण करता है।

सामान्य इच्छा (General Will) **का सिद्धान्त**—यह रूसो का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त है। जोन्स के शब्दों में, "सामान्य इच्छा का विचार रूसो के सिद्धान्त का न केवल सबसे अधिक केन्द्रीय विचार है, अपितु यह उसका सबसे अधिक मौलिक तथा रोचक विचार है, ऐतिहासिक दृष्टि से यह राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।" सब व्यक्ति समझौते द्वारा समुदाय के लिए अपने अधिकारों का परित्याग करते हैं। इसके साथ ही उनकी वैयक्तिक इच्छा का स्थान एक 'सामान्य इच्छा' (Volonte generale) ले लेती है। इसे भली-भाँति समझने के लिए **दो प्रकार की इच्छाओं का भेद** समझ लेना आवश्यक है।

(क) **स्वार्थपूर्ण इच्छा** (Actual Will)--मनुष्य के मन में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उठने वाली विभिन्न प्रकार की अविवेकपूर्ण, अस्थायी और क्षणिक इच्छाएँ होती हैं। ये स्वार्थ तथा वैयक्तिक हित को दृष्टि में रखती हैं, सामाजिक हित का विचार नहीं करतीं हैं। उदाहरणार्थ, खाद्य-वस्तुओं में मिलावट करने वाले व्यापारी का लक्ष्य केवल अपना मुनाफा कमाने का विचार होता है, इससे समाज को पहुँचने वाली हानि को वह कभी नहीं सोचता है।

---

1. रूसो—सोशल कांट्रैक्ट, पुस्तक 1, अध्याय 6.

(ख) **वास्तविक इच्छा** (Real Will)—दूसरे प्रकार की सामाजिक इच्छा (Real Will) में मनुष्य अपने विवेक से व्यक्ति के तथा समाज के हित में समन्वय करता है। यह सामाजिक हित से सम्बद्ध होने के कारण अस्थायी, क्षणिक और भंगुर नहीं होती है, यह मनुष्य की बुद्धि के चिन्तन का परिणाम और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण व्यक्ति की **वास्तविक इच्छा** (Real Will) होती है। यह व्यक्ति के क्षणिक स्वार्थ को ही नहीं, किन्तु उसके समूचे जीवन को तथा समाज के हित को दृष्टि में रखती है। सामान्य व्यक्ति में आत्मालोचन तथा आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति होती है। इससे उसकी सामाजिक इच्छा का निर्माण होता है। प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। ऊपर के उदाहरण में घी या तेल में मिलावट का कार्य स्वार्थ की दृष्टि से लाभदायक है, किन्तु जब व्यक्ति अपने विवेक से यह सोचता है कि यह ग्राहकों के साथ धोखा है, समाज को हानि पहुँचाने वाला है तो समष्टि के हित को दृष्टि में रखने के कारण उसकी यह इच्छा सामाजिक है। स्वार्थी (Actual) और सामाजिक (Real) इच्छाओं में प्रायः विरोध होता है।

समाज के विभिन्न व्यक्तियों की सामाजिक इच्छाओं का सर्वयोग ही सामान्य इच्छा है। सभी व्यक्तियों की यह सामाजिक इच्छा है कि खाद्य वस्तुओं में मिलावट न की जाए, अतः यह समाज की सामान्य इच्छा है। यह न तो बहुमत की इच्छा है और न सब नागरिकों की इच्छा। रूसो का इस विषय में यह दृष्टिकोण है कि प्रत्येक मनुष्य की राजनीतिक इच्छा स्वार्थ से प्रेरित होती है। किन्तु स्वार्थ के भी दो अंश हैं—(क) व्यक्ति को लाभ पहुँचाने वाला, (ख) समाज को लाभ पहुँचाने वाला। सब नागरिकों के वैयक्तिक स्वार्थ विभिन्न प्रकार के होते हैं, वे एक-दूसरे का निराकरण करते रहते हैं, इसके बाद उनके जो स्वार्थ बचते हैं, वे सामाजिक हित से सम्बन्ध रखने वाले होंगे। परिणामतः इनका सर्वयोग ही सामान्य इच्छा होगी। इसे गुरुत्वाकर्षण के उदाहरण से समझा जा सकता है। इस भूतल पर विश्व का प्रत्येक कण और पिण्ड दूसरे पिण्ड को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, वायुमण्डल हमें ऊपर खींच रहा है और भूमि नीचे की ओर। ये विभिन्न स्वार्थपूर्ण परस्पर-विरोधी आकर्षण एक-दूसरे की शक्ति को काट रहे हैं और इसके परिणामस्वरूप पृथ्वी के केन्द्र की ओर होने वाला आकर्षण बचा रह जाता है। यदि भूतल को समुदाय मानें तो यह आकर्षण इसकी सामान्य इच्छा होगा।[1]

रूसो यह मानता है कि सामान्य इच्छा तथा सबकी इच्छा में प्रायः बहुत अधिक अन्तर होता है; उसने **सामान्य इच्छा** (General Will) **और सबकी इच्छा** (Will of All) में भेद करते हुए कहा कि "सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, सबकी इच्छा (Will of All) वैयक्तिक हितों का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है। उदाहरणार्थ, सब विद्यार्थियों की इच्छा छुट्टी मनाने की तथा परीक्षा भवन में नकल करने की और बातचीत करने की होती है; किन्तु उनकी सामान्य इच्छा शान्तिपूर्वक अध्ययन करने तथा नकल न करने की है। सामान्य इच्छा सब इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के निराकरण मात्र से नहीं बनती, किन्तु समाज के

---

1. रसेल—हिस्टरी ऑफ वेस्टर्न फिलासफी, पृ० 725.

उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है। यह समाज के सामान्य हित को ध्यान में रखती है। किन्तु आवश्यक नहीं है कि यह समाज की बहुसंख्या द्वारा निर्धारित हो। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष और पाकिस्तान के नागरिकों की युद्ध की इच्छा सबकी इच्छा है, किन्तु उनके समझदार नेताओं की अल्पसंख्या द्वारा दोनों के सामान्य हित की दृष्टि से निर्धारित शान्ति स्थापित रखने की इच्छा सामान्य इच्छा है। यह किसी विषय पर विवेकपूर्वक विचार-विमर्श द्वारा व्यक्ति और समाज का समान रूप से कल्याण चाहने वाली इच्छा है।

रूसो की सामान्य इच्छा के **प्रधान तत्त्व** निम्नलिखित हैं—

(1) प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी इच्छा सामान्य इच्छा का अंग होती है, उसमें सम्मिलित होती है।

(2) किसी मानव-समूह या वर्ग की सामान्य इच्छा उसका निर्माण करने वाले सभी सदस्यों का सामान्य हित होती है।

(3) सामान्य इच्छा का ज्ञान इस प्रकार हो सकता है कि किसी मानव-समूह के सभी सदस्यों से वोट द्वारा यह पूछा जाए कि वे अपना सामान्य हित क्या समझते हैं।

(4) सामान्य इच्छा कभी गलत या भ्रान्तिपूर्ण नहीं हो सकती है, क्योंकि यह समुदाय के सर्वोत्तम हितों का प्रतिनिधित्व करती है।

(5) सामान्य इच्छा सदैव सामान्य हित का पोषण करती है।

(6) सामान्य इच्छा सब व्यक्तियों की इच्छा से भिन्न होती है।

(7) सामान्य इच्छा सब मानवीय कानूनों का अन्तिम स्रोत होती है।

(8) सामान्य इच्छा सदैव ठीक तथा सार्वजनिक हित का पोषण करने वाली होती है।

सामान्य इच्छा तीन दृष्टियों से सामान्य होती है—(क) **उद्गम की दृष्टि से**—इसे सब नागरिकों की सहमति प्राप्त होनी चाहिए। (ख) **क्षेत्र की दृष्टि से**—यह राज्य की समस्त जनता से सम्बन्धित होनी चाहिए। (ग) **ध्येय की दृष्टि से**—यह समाज के हित के अनुकूल होनी चाहिए। इन तीनों विशेषताओं से युक्त होने पर ही कोई इच्छा सामान्य इच्छा होती है।

रूसो सामान्य इच्छा के उपर्युक्त स्वरूप से कुछ **महत्त्वपूर्ण परिणाम** निकालता है—

(1) राजनीतिक संगठन या राज्य को अन्य मनुष्यों की भाँति एक संगठित और सजीव शरीर या विराट् पुरुष मानना चाहिए। इसमें अन्य शरीरों की भाँति सावयवी एकता (Organic Unity) होती है। राज्य-रूपी शरीर में सर्वोच्च सत्ता से सम्पन्न विधानसभा सिर की भाँति है, न्यायाधीश और सरकारी कर्मचारी मस्तिष्क के अंगों को भाँति, व्यापार-व्यवसाय तथा कृषि मुँह और पेट की भाँति तथा आय रक्त की भाँति है।

(2) यह राजनीतिक संगठन (Body Politic) या विराट् पुरुष नैतिक प्राणी होता है। इसकी अपनी इच्छा होती है।

(3) इसकी **सामान्य इच्छा** सदैव इस समाज के सामूहिक एवं प्रत्येक अंग

के वैयक्तिक कल्याण के लिए प्रयत्न करती है। यह सब कानूनों और विधियों का मूल स्रोत है।

(4) यह अपने राज्य के सब सदस्यों के लिए न्याय और अन्याय का निर्धारण करती है। सामान्य इच्छा के अनुकूल कार्य न्याय तथा प्रतिकूल कार्य अन्याय है।

(5) जो इच्छा जितनी अधिक सामान्य होगी, वह उतनी अधिक न्यायपूर्ण होगी।

(6) सामान्य इच्छा सदैव सामान्य और सार्वजनिक हित के लिए होती है। अतः इसका पालन करने के लिए व्यक्तियों को बाधित किया जाना चाहिए।

(7) सामान्य इच्छा क्रान्ति को ला सकती है क्योंकि यह व्यक्तियों को स्वतन्त्र रहने के लिए बाधित कर सकती है।

सामान्य इच्छा तभी सामाजिक हित के अनुकूल हो सकती है, जब व्यक्तियों तथा राज्य में सीधा सम्बन्ध हो, इनके बीच में कोई अन्य संस्था न हो। रूसो का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य सदैव सामाजिक हित की दृष्टि से चिन्तन करेगा, मत देगा और अपना जीवन बिताएगा। वह प्रवंचना का शिकार भले ही बने, किन्तु सामाजिक हित की उपेक्षा करने का अनाचार नहीं कर सकता। उसे गुमराह करने वाले तत्त्व राजनीतिज्ञ और राजनीतिक दल होते हैं। ये मनुष्यों को विभिन्न पार्टियों की कृत्रिम संस्थाओं में विभक्त करके अपने आकर्षक प्रोग्रामों द्वारा जनता को लुभाकर पथभ्रष्ट करते हैं। जब मनुष्य इन राजनीतिक दलों, उदाहरणार्थ, काँग्रेस पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी आदि के सदस्य बनते हैं, तो उनकी इच्छा इन दलों की नीति से प्रभावित होने लगती है। परिणामतः वे नागरिक राज्य की सामान्य इच्छा का नहीं, किन्तु पार्टियों की इच्छाओं का अनुसरण करते हैं। यह स्थिति व्यक्ति एवं राज्य—दोनों के हित के लिए घातक है। अतः सामान्य इच्छा को सुरक्षित बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य में कई राजनीतिक पार्टियाँ या दल न हों। रूसो इंगलैण्ड आदि की प्रतिनिधिमूलक (Representative) शासन-प्रणाली का उग्र आलोचक है, वह यूनानी नगर-राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) का प्रबल पोषक है।

विशेषताएँ—रूसो की 'सामान्य इच्छा' की कई उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं[1] : (1) **पहली** विशेषता यह है कि यह प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किए जाने योग्य नहीं (Unrepresentable) है। ऊपर बताया जा चुका है कि रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का उपासक है। इसमें सब व्यक्ति अपनी इच्छा को स्वयमेव अभिव्यक्त करते हैं। दूसरे व्यक्तियों अथवा प्रतिनिधियों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति करना व्यक्तियों के बहुमूल्य अधिकारों का हनन तथा लोकतन्त्र की हत्या है।

(2) **दूसरी** विशेषता इसकी अदेयता और अनन्यक्राम्यता (Inalienability) है। रूसो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता (Sovereignty) को सामान्य इच्छा में ही निहित मानता है, वह इसका प्राण है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता है, उसे किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, वैसे ही प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग करना सम्भव नहीं है।

---

1. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 725.

(3) **तीसरी** विशेषता इसकी अखण्डता (Indivisibility) तथा एकता (Unity) है। यह अखण्ड है, क्योंकि यदि यह कई अंशों में विभक्त होती तो यह सामान्य नहीं हो सकती थी। यह बुद्धिपूर्वक चिन्तन और विचार-विमर्श का परिणाम होती है, अतः इसमें कोई परस्पर विरोध या असंगति नहीं होती है, यह एकत्व वाली होती है तथा राज्य को एकत्व की भावना से अनुप्राणित करती है।

(4) **चौथी** विशेषता इसका स्थायी होना है, क्योंकि यह क्षणिक भावावेश का नहीं, किन्तु सुविचारित तर्क और बुद्धि का परिणाम होती है। यह राष्ट्र की संस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करती है।

(5) **पांचवीं** विशेषता इसका न्यायोचित (Right) होना है। यह समाज के कल्याण के लिए नैतिक विचार की दृष्टि से निश्चित होती है, अतः इसके सत्य एवं न्याय्य होने में सन्देह नहीं हो सकता।

(6) **छठी** विशेषता इसका सर्वोच्च एवं निरंकुश होना है, इसपर किसी प्रकार के दैवी नियमों या प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं है, यह किसी व्यक्ति के या व्यक्ति-समूह के अधिकारों से नियन्त्रित नहीं होती है। यह इस धर्म की और नियम की सन्देशवाहक है कि राज्य के हित में ही स्वहित निहित है। यह समूचे नैतिक और सामाजिक जीवन की संचालक है। जब तक राज्य है, जनहित की प्रतीक सामान्य इच्छा उसमें सर्वोच्च शासक है। वह जनवाणी है और जनवाणी ही देववाणी होती है। इसकी कोई अवहेलना या अवज्ञा नहीं कर सकता, सबको इसका पालन करना चाहिए। जो इसका पालन नहीं करता, वह अपना सच्चा हित नहीं जानता, भ्रम में है और भ्रान्ति में आबद्ध होने के कारण स्वतन्त्र नहीं है। उसे 'सामान्य इच्छा' के अनुसार जीवनयापन करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए।

(7) **सातवीं** विशेषता यह है कि सामान्य इच्छा को राज्य का आधार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, किन्तु जनता की सहमति से संचालित होता है।

सामान्य इच्छा तथा आदर्शवादी विचारधारा (General Will and Idealist Thought)—रूसो की सामान्य इच्छा ने आदर्शवादी विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला है। जर्मन आदर्शवादी विचारक काण्ट और हेगल पर तथा ब्रिटिश आदर्शवादी दार्शनिक ग्रीन और बोसांके पर इस विषय में रूसो की स्पष्ट छाप है। काण्ट ने रूसो की भाँति सामान्य इच्छा को कानून का मूल स्रोत तथा जनता को सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न प्रभु (Sovereign) माना। काण्ट का नैतिक स्वतन्त्रता का विचार रूसो की वास्तविक इच्छा (Read Will) से मिलता है। वह उसी इच्छा को स्वतन्त्र मानता है, जो तर्कसंगत तथा विवेकसम्पन्न (rational) और सार्वभौम है तथा समाज के हित एवं कल्याण को सम्पन्न करने वाली है। हेगल भी रूसो का ऋणी है। उसका सम्पूर्ण मानव-समुदाय में निवास करने वाली विश्वात्मा का विचार (Idea of Spirit) रूसो की सामान्य इच्छा के विचार से गहरा सादृश्य रखता है। रूसो के मतानुसार सामान्य इच्छा के अनुसार नियमों और कानूनों का पालन करने वाला व्यक्ति स्वतन्त्र है। हेगल भी इसी प्रकार राज्य के नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति को स्वाधीन मानता है। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक ग्रीन पर रूसो का गहरा प्रभाव है।

उसका यह विचार है कि केवल उत्तम या अच्छी इच्छा ही स्वतन्त्र होती है, बुरी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह इन्द्रियों के वशीभूत होने का परिणाम है। यह रूसो के समाज के कल्याण को बढ़ाने वाली वास्तविक इच्छा के विचार से मिलता है। रूसो तथा ग्रीन दोनों राज्य को इसलिए सर्वोत्तम समझते हैं कि यह सामान्य इच्छा पर आधारित है। ग्रीन ने यह लिखा है कि "इस भूमण्डल पर पार्लियामेण्ट तथा राज्य की अपेक्षा अधिक भव्यता रखने वाली वस्तु (Auguster thing) सामान्य इच्छा है।" ग्रीन ने राज्य का आधार शक्ति को नही, अपितु इच्छा को माना है। एक अन्य ब्रिटिश दार्शनिक बोसांके (Bosanquet) सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को तथा स्वार्थपूर्ण (Actual) तथा वास्तविक इच्छा (Real Will) के भेद को स्वीकार करता है।[1]

आलोचना—रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में **कुछ गम्भीर दोष हैं**: **पहला** दोष तो यह है कि रूसो विस्तृत रूप से यह नहीं बताता कि सामान्य इच्छा का निर्धारण किस प्रकार होगा। वैयक्तिक और सार्वजनिक हितों के संघर्ष में व्यक्ति के लिए सार्वजनिक हित को स्वीकार करना कठिन होता है। **एमिली** में रूसो ने स्पार्टा की एक माता का दृष्टान्त दिया है। उसने जब युद्धक्षेत्र से समाचार लाने वाले से उसका परिणाम पूछा तो उसने उत्तर दिया कि तुम्हारे पाँच पुत्र मारे गए हैं। इस पर उसने समाचारवाहक की भर्त्सना करते हुए कहा—"दुष्ट दास, मैंने तुझसे यह नहीं, किन्तु युद्ध का परिणाम पूछा है।" जब उसे यह उत्तर मिला कि युद्ध में स्पार्टा की विजय हुई है तो वह बच्चों के शोक के वैयक्तिक दुःख की परवाह न करते हुए सार्वजनिक हित की दृष्टि से लाभकर विजय के लिए भगवान् को धन्यवाद देने के लिए मन्दिर में चली गई। किन्तु वैयक्तिक हितों को सार्वजनिक हित की बलिवेदी पर चढ़ाने वाले ऐसे व्यक्तियों की संख्या समाज में बहुत कम होती है। रूसो स्वयमेव यह मानता है कि जनता का बहुमत ऐसी 'सामान्य इच्छा' का निर्धारण करने में असमर्थ होता है। इसके निर्धारण में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं : **पहली** कठिनाई यह है कि हमारे पास सामान्य जनहित की ऐसी कोई कसौटी नहीं है कि जिसके आधार पर सब लोगों की इच्छा में भेद किया जा सके। **दूसरी** कठिनाई यह है कि रूसो व्यक्ति की इच्छा (Individual Will) को दो भागों में विभक्त करता है—(क) स्वार्थी इच्छा (Actual Will) तथा (ख) सामाजिक इच्छा (Real Will)। व्यक्तियों की सामाजिक इच्छाओं का सर्वयोग सामान्य इच्छा है। किन्तु व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसका विभाजन सम्भव ही नहीं है।

दूसरा दोष इस सिद्धान्त से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होना है। पहले यह बताया जा चुका है कि वह सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके पालन के लिए बाधित करता है। यह स्थिति बहुधा अत्याचारपूर्ण तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में बाधक होती है। पहले बताए गए गैलीलियो के उदाहरण से यह स्पष्ट है।

तीसरा दोष यह है कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त केवल छोटे राज्यों में ही सफल हो सकता है क्योंकि जनसंख्या कम होने के कारण वहाँ इस इच्छा का सुगमता

---

1. आदर्शवादी विचारकों के विचारों के लिए देखिए हरिदत्त वेदालंकार—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 100—224.

से पता लग सकता है। आधुनिक युग के बड़े राज्यों में इतने विभिन्न प्रकार के स्वार्थों वाले व्यक्तियों का निवास होता है कि उनके सामान्य हित का निर्धारण करना असम्भव है।

चौथा दोष रूसो द्वारा सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलों की सत्ता का तथा प्रतिनिधिमूलक शासन-व्यवस्था (Representative Government) का विरोध करना है। आजकल लोकतन्त्रों की सफलता के लिए प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था तथा पार्टी प्रणाली को, प्रेस और प्लेटफार्म के साधनों को अनिवार्य समझा जाता है।

पाँचवाँ दोष यह है कि वर्तमान राज्यों में सामान्य इच्छा कभी-कभी राष्ट्र पर आने वाले महान् संकटों के अवसर पर ही अभिव्यक्त होती है। इस समय सब लोग वैयक्तिक स्वार्थों की क्षुद्र भावना से ऊँचा उठकर सामान्य हित का निर्धारण करते हैं, किन्तु सामान्य रूप से वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतने आबद्ध रहते हैं कि 'सामान्य इच्छा' का निर्धारण सम्भव नहीं होता।

छठा दोष अधिनायकवाद (Dictatorship) तथा सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सामान्य जनता में सामान्य हित के निश्चय करने का सामर्थ्य नहीं है। रूसो ने स्वयमेव लिखा है कि "जनता सदैव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सदैव इसे देख नहीं सकती है।"[1] अतः जनता को इसे बताने का कार्य करने वाले नेता और पथप्रदर्शक उत्पन्न होते हैं। स्पार्टा में लाइकरगस तथा एथेन्स में सोलन इसी प्रकार के नेता थे। किन्तु ऐसे नेता सम्पूर्ण सत्ता हस्तगत करके निरंकुश शासक बन सकते हैं। रूसो के सिद्धान्तों में इसकी बहुत बड़ी सम्भावना है। उसने वैयक्तिक हित को सार्वजनिक हित से सर्वथा भिन्न और पृथक् समझते हुए राज्य को इसका निर्माण करने वाले तत्त्वों से अधिक ऊँचा, पवित्र और पूजनीय सत्ता बना दिया है, इसके लिए व्यक्तियों को अपने हितों का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। इससे सरकार के हाथ में असाधारण सत्ता और शक्ति आ जाती है। वह अपने को जनमत और जनहित के अनुकूल बनाने के स्थान पर उसे अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने का प्रयास करती है। हिटलर और मुसोलिनी जैसे शासक प्रचार के प्रभावशाली साधनों द्वारा जनमत को अपने अनुकूल बनाकर मनमाना शासन और अत्याचार आरम्भ कर देते हैं। इससे निरंकुशतापूर्ण अत्याचारी शासन स्थापित हो जाता है और उस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूर्णरूप से हनन हो जाता है, जिसकी रक्षा के लिए रूसो ने सामाजिक समझौते की व्यवस्था की थी।

किन्तु इन दोषों के होते हुए भी रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व रखता है। इसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग-विशेष का नहीं, किन्तु समूचे समाज का कल्याण और जनता का हित सम्पादन करना होना चाहिए। सामाजिक और सामान्य हित वैयक्तिक हितों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट हैं। राज्य एक नैतिक संगठन है, यह

---

1. रूसो—सोशल कांट्रैक्ट, पुस्तक 2, अध्याय 6.

सामुदायिक हित पर बल देकर मनुष्य की स्वार्थमय तथा असामाजिक और हीन प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है; मनुष्य को भावनाओं से संचालित होने वाले पशु के स्तर से ऊँचा उठाकर बुद्धि से संचालित होने वाला परोपकारपरायण, सामाजिक हितों को महत्त्वपूर्ण समझने वाला व्यक्ति बनाता है। इसने प्रभुसत्ता के जनता में निहित होने के विचार (Popular Sovereignty) को लोकप्रिय बनाकर प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का पोषण किया और फ्रेंच राज्यक्रान्ति को प्रभावित किया। रूसो की मृत्यु यद्यपि फ्रेंच राज्यक्रान्ति आरम्भ होने से 11 वर्ष पहले 1778 में हो गई थी, किन्तु यदि किसी एक व्यक्ति को इस क्रान्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तो वह रूसो ही है। उसके ग्रन्थ न केवल फ्रेंच क्रान्तिकारियों के लिए, अधिक उसके बाद यूरोप के अन्य देशों में होने वाली क्रान्तियों के लिए प्रबल प्रेरणा का स्रोत तथा पथप्रदर्शक रहे हैं।

प्रभुसत्ता(Sovereignty)—रूसो के मतानुसार "प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छाओं में निहित होती है।" बोदैं तथा हॉब्स ने प्रभुसत्ता के विचार से राजा की निरंकुश सत्ता को पुष्ट किया था, रूसो की यह विशेषता है कि उसने इससे जनता की सत्ता का समर्थन किया।

रूसो की प्रभुसत्ता की **पहली** विशेषता **अनन्यक्राम्यता** (Inalienability) है, चूंकि सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है, अतः यह उससे कभी पृथक् नहीं हो सकती है। अधिकार तो दूसरे को दिए जा सकते हैं, किन्तु जनता अपनी इच्छा किसी दूसरे को नहीं दे सकती। इस विषय में रूसो ने लिखा है कि "मैं यह कहता हूँ कि प्रभुसत्ता सामान्य इच्छा का व्यावहारिक रूप में प्रयोग करना मात्र है। अतः यह किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दी जा सकती है क्योंकि शक्ति या अधिकार तो किसी दूसरे व्यक्ति को दिए जा सकते हैं, किन्तु अपनी इच्छा किसी दूसरे को देना सम्भव नही है।" अतः सामान्य इच्छा सदैव जनता में ही निहित होती है और किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दी जा सकती है। इसकी **दूसरी** विशेषता इसका **प्रतिनिधित्व न हो सकना**(Unrepresentability) है। चूंकि यह समूची जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है, अतः कोई भी व्यक्ति इसका समूचे रूप में कभी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। **तीसरी** विशेषता इसका असीम और अमर्यादित (Illimitable) होना है। यह जनता की सामान्य इच्छा से पृथक् कुछ भी नहीं है, जनहित के सिवाय इसका अपना कोई हित नहीं है, इसपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं है, जनता स्वयमेव अपने पर कोई बन्धन नहीं लगाती है। इस प्रकार रूसो अपने प्रभु या शासक को हॉब्स की भान्ति पूर्ण रूप से निरंकुश तथा सर्वोच्च बनाता है। किन्तु रूसो के शासक की निरंकुश शक्ति का आधार या मूल स्रोत ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तर्क द्वारा समर्थन न किया जा सकने वाला मानव-समाज के उषाकाल में किया जाने वाला कोई सामाजिक अनुबन्ध या समझौता (Social Contract) नहीं है, जैसा हॉब्स का विश्वास है, अपितु इस निरंकुश सत्ता का आधार सहमति (Consent) है, इसका आशय यह है कि प्रत्येक नागरिक ने अपनी इच्छा से इस बात को स्वीकार कर लिया है कि उसकी शक्ति और अधिकारों का प्रयोग उस समूह या समाज द्वारा किया जाएगा जिसका वह सदस्य है तथा इसका प्रयोग इस समूह के सामान्य जीवन के संरक्षक

तथा कल्याण के लिए किया जाएगा। **चौथी** विशेषता इसका सब कानूनों का मूल स्रोत होना है, राज्य की सभी मौलिक विधियाँ और नियम इससे प्रादुर्भूत होते हैं। **पांचवीं** विशेषता इसका अविभाज्य होना है, पहले बताया जा चुका है कि समूची जनता में इसका निवास होने के कारण इसका विभाजन सम्भव नहीं है। **छठी** विशेषता **एकता** (Unity) का पोषण करना है। सामान्य इच्छा किसी देश के सभी व्यक्तियों की सामान्य अभिलाषा और आकांक्षा को व्यक्त करती है, यह सब व्यक्तियों के मनों में विद्यमान एक सामान्य उद्देश्य को प्रकट करती है, इसीलिए यह उनमें एकता का निर्माण करने वाली तथा इसे बढ़ाने वाली होती है। इसे पुष्ट करने के कारण सब नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ होती है। इस प्रकार रूसो ने जनता की असीम, अमर्यादित, अनन्यक्राम्य और अविभाज्य प्रभुसत्ता का प्रतिपादन किया।

रूसो की प्रभुसत्ता **हॉब्स की प्रभुसत्ता की भाँति पूर्ण रूप से निरंकुश** (Absolute) है, किन्तु दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि हॉब्स इस प्रभुसत्ता को राज्य के अध्यक्ष—लेवियाथन में—एक व्यक्ति में या अनेक व्यक्तियों के समूह में निहित मानता है, किन्तु रूसो इसे समूची जनता को प्रदान करता है। इस अन्तर को मूर्त्त रूप देने के लिए रूसो ने अपने ग्रन्थ 'सामाजिक समझौते' के प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर **कटे सिर वाले लेवियाथन** का चित्र दिया था। हॉब्स ने जो निरंकुश सत्ता राजा को प्रदान की थी, वह रूसो ने प्रजा को प्रदान की। हॉब्स की भाँति रूसो भी यह मानता है कि प्रभुसत्ता रखने वाला व्यक्ति इसे किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकता है। रूसो ने राज्य के निरंकुश अधिकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रकृति जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर के अंगों पर निरंकुश अधिकार देती है, वैसे ही सामाजिक अनुबन्ध राजनीतिक संगठन (Body Politic) को अपने सब अंगों पर पूर्ण अधिकार प्रदान करता है। किन्तु हॉब्स के निरंकुश अधिकारों का आधार अराजकता से उत्पन्न भय की भावना है। यदि ऐसे अधिकार नहीं दिए जाएँगे, तो अराजकता का अन्त नहीं हो सकेगा। रूसो इसका आधार सहमति (Consent) को मानता है। प्रजा शासक को पूर्ण अधिकार अपनी इच्छा से सामाजिक अनुबन्ध द्वारा इसलिए देती है कि इससे सब नागरिकों को लाभ पहुँच सके।

इसीलिए यह कहा जाता है कि रूसो हॉब्स जैसा निरंकुशवादी (Absolutist) है और दोनों में यही अन्तर है कि हॉब्स की निरंकुशता एक व्यक्ति विशेष में निहित है और रूसो की निरंकुशता समूची जनता की सामान्य इच्छा में सुप्रतिष्ठित है। रूसो ने सामान्य इच्छा की धारणा से जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को सुस्थापित किया है। किन्तु उसकी पद्धति में मनुष्य वैयक्तिक रूप से सामान्य इच्छा का वशवर्ती अनुचर बन जाता है और उसको किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं रहती है। रूसो ने लिखा है जो कोई भी व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशों के पालन का विरोध करेगा, उसे इसका पालन करने के लिए विवश किया जाएगा अर्थात् उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाधित किया जाएगा। इसका यह अभिप्राय है कि सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करके ही व्यक्ति स्वतन्त्र हो सकता है।

इस दृष्टि से रूसो का राज्य भी निरंकुशता की दृष्टि से हॉब्स जैसा है, किन्तु जहाँ हॉब्स की निरंकुशता प्रभुसत्तासम्पन्न राजा की स्वेच्छाचारिता का पोषण करती

है, वहाँ रूसो की सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त जनता की प्रभुसत्ता का प्रतीक है। रूसो इस बात को स्वयंसिद्ध मानकर चलता है कि सामान्य इच्छा का प्रयोजन सदैव लोक-कल्याण होता है। व्यक्ति का कल्याण लोक-कल्याण से पृथक् नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अवयवी समाज का अभिन्न अवयव या अंग है। जिस प्रकार प्रकृति में प्रत्येक जीवधारी को अपने अंगों पर पूरी प्रभुसत्ता प्राप्त होती है, उसी प्रकार अवयवी समाज को अपने अंगों या व्यक्तियों पर निरंकुश सत्ता प्राप्त है। यह सत्ता असीम और अमर्यादित है और इसका प्रयोग समाज की सामान्य इच्छा करती है जो किसी एक व्यक्ति की नहीं है। अतः रूसो ने इस सामान्य इच्छा को 'सिर कटा दैत्य' (Leviathan head chopped off) बताया है। हॉब्स और रूसो दोनों राज्य की सत्ता को असीम और निरंकुश मानते हैं और व्यक्ति का कर्त्तव्य इसके आदेशों का पालन करना है।

इसके साथ ही रूसो लॉक की भाँति व्यक्ति के अधिकारों का भी प्रबल समर्थक है। इसकी सुरक्षा के लिए सर्वोच्च शासक (Sovereign) द्वारा शासन में कई बातों का पालन आवश्यक समझता है: (क) उसे ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए, जो समूचे समुदाय के लिए हितकर न हो। (ख) उसे कानून के समक्ष अब व्यक्तियों की समानता को तथा न्याय के शासन को बनाए रखना चाहिए। (ग) वह अपने प्रजाजनों पर कोई ऐसा बन्धन नहीं लगाएगा, जो समुदाय के लिए निरर्थक हो।[1] इसके साथ ही सामान्य इच्छा के लिए वह सबकी सहमति को आवश्यक मानता है। उसने यह सिद्धान्त लॉक से ग्रहण किया है। इस प्रकार उसकी प्रभुसत्ता के विचार में **हॉब्स और लॉक के विचारों का समन्वय** है। अर्नेस्ट रीज़ (Ernest Rhys) ने इस विश्य में सत्य ही लिखा है कि "रूसो हॉब्स की निरंकुश प्रभुसत्ता के विचार को, लॉक के जनता की सहमति (Popular Consent) के विचार से संयुक्त करके जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण करता है।"[2]

हॉब्स तथा लॉक के विचारों का सम्मिश्रण रूसो के सिद्धान्तों में है—रूसो की विचारधारा हॉब्स और लॉक के निरंकुशता तथा स्वतन्त्रता के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करती है। हॉब्स निरंकुशवाद का प्रबल समर्थक है। उसके मतानुसार जब सामाजिक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया जाता है तो व्यक्ति अपने सभी अधिकार प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य को सौंप देता है। राज्य बन जाने के बाद इसकी सत्ता या शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध या बन्धन नहीं रह जाता है, यह सर्वथा निरंकुश होता है। व्यक्ति अपने किन्हीं अधिकारों का कोई दावा नहीं कर सकता है। इस व्यवस्था में व्यक्ति के पास कोई अधिकार नहीं रहते हैं और राज्य के पास सभी अधिकार होते हैं। इसके सर्वथा विपरीत दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए लॉक ने यह कहा है कि व्यक्ति के हित सर्वोच्च हैं। उसके प्राकृतिक अधिकारों का हनन नहीं किया जा सकता है। राज्य का निर्माण व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए ही होता है। अतः सामाजिक समझौते द्वारा जब व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं तो वे अपने

1. रूसो-सोशल कांट्रैक्ट, दूसरी पुस्तक, चौथा अध्याय.।
2. अर्नेस्ट रीज—इण्ट्रोडक्शन टू सोशल कांट्रैक्ट, पृ० 26.

अधिकारों की रक्षा के लिए ही ऐसा करते हैं और इन अधिकारों को अपने पास बनाए रखते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि लॉक पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी (Individualist) अर्थात् व्यक्ति के अधिकारों का समर्थक है। वह राज्य की सत्ता को व्यक्ति के अधिकारों द्वारा पूरी तरह मर्यादित करता है।

रूसो की विचारधारा इन दोनों परस्पर विरोधी अतिवादी दृष्टिकोणों का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करती है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्त्व देता है, किन्तु यह महत्त्व इतना अधिक नहीं है कि इस कारण वह सामूहिक हित की उपेक्षा करे। अधिकारों का निर्माण समाज ने किया है और इनकी रक्षा सामूहिक हित को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए। रूसो इस सामूहिक हित को सामान्य इच्छा (General Will) का रूप देता है और इसे समाज में सर्वोच्च सत्ता प्रदान करता है। किन्तु रूसो व्यक्ति के अधिकारों को मानते हुए भी उन्हें समाज की सामान्य इच्छा का वशवर्ती बनाता है। इस प्रकार रूसो का सिद्धान्त जहाँ एक ओर हॉब्स के निरंकुशवाद (Absolutism) का समर्थक है, वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करने की जिम्मेदारी भी प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य को सौंपता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि रूसो का राजनीतिक सिद्धान्त लॉक के प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्ति तथा हॉब्स के प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य के बीच में समन्वय स्थापित करता है अथवा रूसो हॉब्स के सिद्धान्तों और लॉक के परिणामों का सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है।[1]

राज्य और सरकार—लॉक की भाँति रूसो ने इन दोनों में स्पष्ट भेद किया है। उसके मतानुसार राज्य तो समूचा राजनीतिक संगठन (Body Politic) है, यह सर्वोच्च सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इस इच्छा को क्रियात्मक रूप देने के लिए समुदाय द्वारा चुने गए व्यक्ति सरकार का निर्माण करते हैं। हॉब्स यह मानता था कि सरकार का निर्माण सामाजिक समझौते या अनुबन्ध द्वारा होता है, किन्तु रूसो इसे जनता द्वारा बनाया हुआ समझता था। यह केवल जनता की इच्छा को पूरा करने का साधन थी। वह इसके कार्य से असन्तुष्ट होने पर इसे बदल सकती है। हॉब्स के मतानुसार इसे न तो बदला जा सकता था और न इसके विरुद्ध विद्रोह हो सकता था। कार्यपालिका को जनता की सामान्य इच्छा की पूर्ति का साधन मानने के कारण रूसो अधिनायकवाद को बुरा नहीं समझता था। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय, सार्वजनिक सुरक्षा समिति (Committee of Public Safety) ने इसी आधार पर फ्रांस का शासन किया। रूसो सरकार का काम केवल शासन करना समझता था, कानून बनाने का कार्य सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न विधानसभा का था। यह सर्वोच्च होने के कारण सरकार से शासन के अधिकारों को छीन सकती थी।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अन्य अधिकार—यद्यपि व्यक्ति सामाजिक समझौता करते हुए अपने अधिकार एक सामूहिक संस्था को सौंप देता है; यह कोई बाह्य सत्ता नहीं है, किन्तु समझौता करने वाले सब व्यक्तियों का समुदाय मात्र है। अतः इससे उसकी स्वतन्त्रता पर लगाए गए प्रतिबन्ध वास्तविक नहीं होते हैं, इनसे उसकी स्वतन्त्रता

1. Rousseu's political theory aimed at reconciling the sovereign individual of Locke with the sovereign state of Hobbes or Rousseau combines the p remises of and temper of Hobbes with the conclusions of Locke.

को कोई क्षति नहीं पहुँचती है, क्योंकि जिस कानून को हम स्वयमेव बनाते हैं, उसके पालन से हमारी स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता है। इसका पालन करते हुए हम अपनी इच्छा का ही पालन करते हैं।

रूसो के मतानुसार स्वतन्त्रता (Liberty) का अर्थ स्वच्छन्दता (License) या मनमाना कार्य करने की आजादी नहीं है। समाज सामान्य हित की दृष्टि से कुछ नियम बनाता है, इनका पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सड़क पर बाईं ओर चलने का नियम इसलिए बनाया जाता है कि यातायात में सुव्यवस्था स्थापित हो और दुर्घटनाएँ न हों। सामाजिक हित की दृष्टि से यह वांछनीय है कि सब इसका पालन करें। इस नियम का पालन करते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता खण्डित नहीं होती है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रता की दुहाई देते हुए स्वच्छन्द आचरण करे और सड़क के बीच में या दाईं ओर अपनी गाड़ी चलाने लगे तो वह अपनी तथा दूसरों की जान खतरे में डालकर सामाजिक हित को तथा सामान्य इच्छा को हानि पहुँचाता है। रूसो लॉक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति के अधिकार मनुष्य के प्राकृतिक (Natural) नहीं, किन्तु राज्य द्वारा दिए जाने वाले नागरिक (Civil) अधिकार मानता है। समानता का अधिकार भी इसी प्रकार का है। सामुदायिक और सामाजिक हित की दृष्टि से वह अपनी स्वतन्त्रता और अधिकारों का उस सीमा तक परित्याग कर देता है, जहाँ तक सर्वोच्च सत्ता इनको छोड़ना आवश्यक समझे।

शासन-प्रणाली विषयक विचार—रूसो ने चार प्रकार की शासन-प्रणालियां मानी है—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र और मिश्रित (Mixed) शासन। मांतेस्क्यू की भाँति उसका यह मत था कि भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ किसी देश की शासन-प्रणाली पर गहरा प्रभाव डालती हैं। कृषिप्रधान तथा औद्योगिक देशों की शासन-प्रणालियाँ सर्वथा भिन्न होंगी। शासन के विविध प्रकारों में उसका झुकाव यूनानी नगर-राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की ओर था। वह प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का घोर विरोधी था, इसे वह राजनीतिक अधःपतन का परिणाम मानता था। उसका कहना था कि प्रतिनिधित्व का अर्थ है स्वतन्त्रता का हनन। ब्रिटेन की निर्वाचन प्रथा के विषय में उसका यह मत था कि वहाँ नागरिक केवल निर्वाचन काल में ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद दास बन जाते हैं। किसी भी शासन-प्रणाली की सफलता की कसौटी वह जनसंख्या की वृद्धि को समझता था। उसे यह अभीष्ट नहीं था कि सरकार अपने अधिकारों को बढ़ाएं। इसे रोकने के लिए वह यह आवश्यक समझता है कि कुछ निश्चित अवधि के बाद जनता की लोकसभाएँ बुलाई जाएँ और वे यह निश्चित करें कि वर्तमान शासन-व्यवस्था में और अधिकारियों में परिवर्तन किया जाना उचित है या नहीं। जब जनता इस लोकसभा के रूप में एकत्र होती है तो शासन के अधिकार इसे मिल जाते हैं। रूसो के इन सिद्धान्तों से यह विचार उत्पन्न हुआ कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जाए। जेफरसन ने यह सिद्धान्त बनाया कि प्रत्येक पीढ़ी को संविधान पर पुनर्विचार का अधिकार होना चाहिए। अनेक अमरीकी राज्यों में निश्चित अवधि के बाद संविधान के संशोधन के लिए सम्मेलन बुलाए जाने लगे।

रूसो का प्रभाव—रूसो की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें वर्तमान काल

सभी प्रमुख विचारधाराओं—**समाजवाद** (Socialism), **निरंकुशवाद** (Absolutism) **तथा लोकतन्त्रवाद के बीज मिलते हैं। समाजवाद** के विषय में उसके विचार 'विषमता के उद्गम' (Discourse on Inequality) के निबन्ध में मिलते हैं, इसमें उसने वैयक्तिक सम्पत्ति पर प्रबल आक्रमण करते हुए आर्थिक विषमताओं के उन्मूलन पर बल दिया है। लॉक की भाँति वह सम्पत्ति को मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार नहीं मानता है। उसने 'कोर्सिका के संविधान की योजना' (Plan for a Constitution of Corsica) में यहाँ तक कहा है कि राज्य को ही समूची सम्पत्ति का स्वामी होना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त निबन्ध में वह सम्पत्ति को पवित्र अधिकार मानता है। सैबाइन के मतानुसार वह पक्का कम्युनिस्ट नहीं था। उससे पहले मेसलिये (Meslier) ने तथा उसके बाद मैबली और मोरेली (Morelly) ने भूमि तथा उसकी पैदावार को सामूहिक सम्पत्ति बनाने की योजनाएँ रखी थीं। रूसो की योजना भी इसी प्रकार की थी। कल्पनावादी समाजवाद (Utopian Socialism) में उसकी बड़ी देन यह सामान्य विचार है कि सम्पत्ति आदि सभी अधिकार मनुष्य को समाज या समुदाय से प्राप्त होते हैं, वह इनका प्रयोग सामुदायिक हित के विरुद्ध नहीं कर सकता है।[1]

समाजवाद का एक प्रधान विचार यह है कि समाज व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, समाजवाद के हितों को व्यक्ति के हितों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिए, व्यक्ति को अपना कल्याण और भलाई समाज के हित में ही समझना चाहिए। समाजवाद समूचे समाज के हित की दृष्टि से राज्य के कार्यों के क्षेत्र में वृद्धि करने का समर्थक है। रूसो की सामान्य इच्छा भी व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज के हित को सम्पन्न करने पर अधिक बल देती है। इस प्रकार रूसो के ग्रन्थों में वर्तमान समाजवाद के कुछ विचार पाए जाते हैं।

रूसो की विचारधारा में निरंकुशवाद के भी कुछ तत्त्व मिलते हैं। उसने निरंकुशवाद की विचारधारा का समर्थन करते हुए कहा है कि जनता की सामान्य इच्छा सदैव ठीक होती है, प्रत्येक व्यक्ति को इसका आदेश शिरोधार्य करने के लिए बाधित किया जाना चाहिए, उसकी स्वतन्त्रता इसकी दासता करने से ही सुरक्षित रह सकती है। राज्य में कोई राजनीतिक पार्टी, चर्च, धार्मिक, आर्थिक या श्रमिक संगठन नहीं होना चाहिए। आगे चलकर यह बताया जाएगा कि हेगल को प्रशिया के निरंकुश राज्य का समर्थन करने की प्रेरणा रूसो से मिली थी। रूसो जर्मन और ब्रिटिश आदर्शवाद (Idealism) का अग्रदूत है। **लोकतन्त्र** पर उसका स्पष्ट प्रभाव है। उसने जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के विचार को फ्रेंच राजक्रान्ति के माध्यम से आधुनिक काल का एक सबसे प्रभावशाली विचार बनाया। लिंकन ने प्रजातन्त्र का लक्षण करते हुए कहा है कि यह ऐसी शासन-पद्धति है, जिसमें जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए शासन होता है। रूसो ने अपने ग्रन्थों में ऐसी पद्धति का प्रबल पोषण और समर्थन किया है। उसके मतानुसार सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित रहती है, सामान्य इच्छा जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है और यह इच्छा सदैव जनता के सामान्य हित के पोषण और वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहती है। रूसो प्रत्यक्ष जनतन्त्र

1. **सैबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 291-92,**

(Direct Democracy) का समर्थक है। लोकतन्त्र में व्यक्ति के अधिकारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। रूसो व्यक्तियों को न केवल सामूहिक रूप से, अपितु वैयक्तिक रूप से सर्वोच्च प्रभुसत्तासम्पन्न समझता है। रूसो के सामाजिक अनुबन्ध से व्यक्तियों को स्वतन्त्रता और समानता के वे महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं, जो लोकतन्त्र का आवश्यक तत्त्व समझे जाते हैं। उसके मतानुसार व्यक्ति स्वतन्त्र रहने के लिए बाधित किया जाता है और उसे यह स्वतन्त्रता उसकी भलाई एवं हित का सम्पादन करने के लिए दी जाती है। उसकी स्वतन्त्रता पर लगाए गए कानूनी बन्धन वस्तुतः बन्धन नहीं हैं, क्योंकि कानून सामान्य इच्छा द्वारा बनाया जाता है और सामान्य इच्छा में उसकी अपनी इच्छा सम्मिलित होती है, अतः यदि उसकी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं तो वे उसकी अपनी इच्छा से प्रादुर्भूत होने के कारण प्रतिबन्ध नहीं रहते हैं और उसकी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनते हैं। रूसो की व्यवस्था में व्यक्तियों को समानता का अधिकार भी प्राप्त होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समान सर्वोच्च अधिकार और कर्त्तव्य रखता है। लोकतन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व शासन के कार्य में जनता की सहमति और सहयोग तथा भाग लेना है। रूसो सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा शासन में जनता के सहयोग और भाग लेने पर बहुत बल देता है। इस तरह वह लोकतन्त्र के सभी आधारभूत तत्त्वों और मौलिक विचारों का प्रबल पोषक है।

इस प्रकार रूसो की विचारधारा में समाजवाद, निरंकुशवाद और लोकतन्त्र की विचारधाराओं के महत्त्वपूर्ण अंश मिलते हैं। उसके ग्रन्थों में इन सबका विलक्षण सम्मिश्रण हुआ है।

लोकतन्त्र तथा निरंकुशवाद की विचारधाराएँ सर्वथा विरोधी और प्रतिकूल हैं। एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देती है, दूसरी इसे कोई महत्त्व नहीं देती है; एक व्यक्ति को तथा दूसरी समाज को महत्त्वपूर्ण मानती है। रूसो ने दोनों का समर्थन किया है, अतः उसके विचारों में बड़ा विरोध है, और यह कहा जाता है कि उसके ग्रन्थों में **बढ़िया गड़बड़ी पैदा करने वाले विचारों की खिचड़ी है** (Medley of magnificent confusions) है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर उसके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त ने 1776 की अमेरिकन राज्यक्रान्ति का तथा 1789 की फ्रेंच राज्यक्रान्ति का समर्थन करके प्रजातन्त्र को पुष्ट किया, वहाँ दूसरी ओर उसने राज्य की निरंकुशता के समर्थक आदर्शवादी विचारकों—काण्ट और हेगल तथा ग्रीन को भी प्रेरणा प्रदान की है। अर्नेस्ट रीज़ के शब्दों में वह जर्मन तथा ब्रिटिश आदर्शवाद का अग्रदूत है। इंगलैण्ड में रूसो के विचारों को इसलिए भी महत्त्व मिला कि ये बेन्थम द्वारा प्रतिपादित 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम हित' के इस सिद्धान्त से बहुत मेल खाते थे। जिस प्रकार इस सिद्धान्त में साधारण जनता के सामान्य हितों के पोषण एवं वृद्धि पर बल दिया गया था, उसी प्रकार रूसो की सामान्य इच्छा भी अधिकांश जनता के कल्याण पर बल देती थी। ब्रिटिश लेखक गाडविन (Gadwin) की पुस्तक 'राजनीतिक न्याय' प्रधान रूप से रूसो की पुस्तक 'विषमता के उद्गम' (Origin of Inequality) पर आधारित है। रूसो का एक बड़ा प्रभाव यह भी था कि उसने तर्क एवं युक्ति पर बल देने वाले बुद्धि के युग (Age of Reason) को समाप्त करके उसके स्थान पर

भावना पर अत्यधिक बल देने वाले रोमांचवाद के युग (Age of Romanticism) का आरम्भ किया। उससे पहले तर्क एवं बुद्धि को बहुत महत्त्व दिया जाता था, रूसो ने इनके स्थान पर भावना को महत्त्व दिया। रूसो की रचनाओं के विशाल और व्यापक प्रभाव का एक मनोरंजक प्रमाण यह भी है कि इसके बाद विभिन्न प्रकार की विचार-धाराएँ रखने वाले लेखक, विचारक और दार्शनिक अपने मन्तव्यों की पुष्टि रूसो के ग्रन्थों के उदाहरणों से करते हैं। व्यक्तिवादी और समष्टिवादी (Collectivists), एकत्ववादी (Monists) और बहुत्ववादी (Pluralists) रूसो के ग्रन्थों में शरण ढूंढ़ते हैं, वह दार्शनिक अराजकतावाद, समाजवाद, हेगलवाद, संघवाद, सिण्डिकेलिज़्म आदि अनेक विचारों का प्रेरणास्रोत है। अर्नेस्ट रीज़ ने उसे मध्ययुग के परम्परागत सिद्धान्त तथा राज्य के आधुनिक दर्शन को सम्बद्ध करने वाला बताया है।[1]

रूसो की आलोचना तथा दोष— किन्तु रूसो का अत्यधिक प्रभाव होते हुए भी उसके आलोचकों की कमी नहीं है। उसकी विचारधारा के बड़े दोषों में **पहला** उसकी रचनाओं की असंगतियाँ, विरोध और अस्पष्टताएँ हैं। यह अपने सामाजिक समझौते का आरम्भ व्यक्ति के अधिकारों पर बल देने वाले व्यष्टिवाद (Individualism) से करता है, किन्तु इसकी समाप्ति व्यक्ति पर प्रभुता रखने वाली सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) तथा राज्य की समष्टिवादी (Collectivist) विचारधारा के साथ करता है। बार्कर के मतानुसार, "रूसो वस्तुतः सर्वाधिकारवादी है...उसने सर्वोच्च प्रभु (Sovereign) की सर्वशक्तिमत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाए।"[2] यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वह 'सामाजिक समझौते' के ग्रन्थ की समाप्ति धार्मिक अत्याचार के सुझाव के साथ करता है। कांस्टैण्ट का मत है कि वह निरंकुश सत्ता के सभी रूपों का प्रबल समर्थक है। उसके देशवासी दुगी (Duguit) ने उसे जेकोबिन निरंकुशवाद का जन्मदाता तथा काण्ट और हेगल के निरंकुशवादी सिद्धान्तों को प्रेरणा देने वाला कहा है। वॉन (Vaughan) ने यह सत्य ही लिखा है कि एक ओर तो वह राज्य का प्रबल पोषक था, दूसरी ओर व्यक्ति का उग्र समर्थक था और वह इन दोनों विरोधी आदर्शों को नहीं छोड़ सका। एक ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, दूसरी ओर उसे राज्य का दास बनाता है। एक ओर सहिष्णुता की नीति का उपदेश देता है, दूसरी ओर अपने गणराज्य से नास्तिकों को निष्कासित करता है।[3] इन असंगतियों के कारण मार्ले ने उस पर यह टिप्पणी की है कि उसे यद्यपि एक महान् विचारक कहा जाता है, किन्तु वह यह नहीं जानता था कि विचार किस प्रकार किया जाता है। एक ओर वह सम्पत्ति को सब बुराइयों का मूल स्रोत बताता है, दूसरी ओर उसे पवित्र संस्था मानता है। सम्भवतः रूसो की रचनाओं में जितनी अधिक असंगतियाँ और परस्पर विरोधी विचार पाए जाते हैं, इतने किसी अन्य बड़े लेखक की कृतियों में नहीं मिलते।

उसका **दूसरा दोष** बुद्धिवाद, विज्ञान तथा कला का विरोध है। भावुकतावाद (Romanticism) का घोर उपासक होने के कारण वह यह मानता है कि हमें अपने जीवन का संचालन भावनाओं के आधार पर करना चाहिए। बुद्धिपूर्वक चिन्तन करने

1. अर्नेस्ट रीज़—इण्ट्रोडक्शन टू सोशल कांट्रैक्ट, पृ० 7.
2. बार्कर—सोशल कांट्रैक्ट, भूमिका, पृ० 51.
3. वॉन—स्टडीज इन दी हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल फिलासफी, पृ० 252.

वाला मनुष्य दुष्ट पशु (Depraved animal) मात्र है। बुद्धि भक्ति की भावना का, विज्ञान श्रद्धा का और तर्क नैतिक अन्तर्दृष्टि का विनाश करने वाला है। इन विचारों को प्रतिपादित करने वाली तथा पुनः प्रकृति की ओर लौटने (Back to nature) पर बल देने वाली अपनी पुस्तक जब रूसो ने वाल्तेयर के पास भेजी तो उसने इसकी व्यंग्यपूर्ण आलोचना करते हुए लिखा था, "किसी ने अभी तक ऐसा मनोरंजक कार्य नहीं किया, जैसा आप हमें फिर से पशु बनाने के बारे में कर रहे हैं। आपकी पुस्तक पढ़कर मुझमें चौपाये पशुओं की भाँति चार टांगों पर चलने की इच्छा उत्पन्न हुई है। किन्तु क्योंकि मैंने 60 वर्ष पहले यह अभ्यास छोड़ दिया था, अतः दुर्भाग्यवश यह असम्भव प्रतीत होता है कि मैं इसे पुनः आरम्भ कर सकूँ।" अपने एक मित्र को वाल्तेयर ने एक पत्र में लिखा था कि "रूसो में और दार्शनिक में उतना ही साम्य है, जितना बन्दर और आदमी में है।"[1]

रूसो का **तीसरा दोष** उसके मानव-स्वभाव और सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त हैं। वह मानव-जाति के अतीत को अत्यन्त स्वर्णिम युग के रूप में देखता है, प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है। वस्तुतः मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नहीं। उसके मतानुसार मानव आरम्भ में सद्भावनापूर्ण, भला, सुखी, सीधा और शान्तिप्रिय था। वह मनुष्य में केवल उत्कृष्ट और भली प्रवृत्तियाँ देखता है, वस्तुतः मनुष्य में भली और बुरी, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का समावेश है।

चौथा दोष व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन है। यद्यपि वह अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सामाजिक समझौते का आरम्भ व्यक्ति को उसे पराधीन बनाने वाली बेड़ियों से मुक्त कराने की आशा के साथ करता है, किन्तु शीघ्र ही वह उसे सामान्य इच्छा का दास बना देता है।

पाँचवाँ दोष लोकतन्त्र का विरोध तथा अधिनायकवाद का समर्थन है। यद्यपि रूसो लोकतन्त्र का पोषक, क्रान्तिकारी विचारक समझा जाता है, किन्तु वास्तव में वह केवल छोटे नगर-राज्यों के लिए ही प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है। वर्तमान काल के बड़े राज्यों के सम्बन्ध में उसकी धारणा यह है कि इनमें लोकतन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता है क्योंकि इनमें जनता एकत्र नहीं हो सकती, उसे अपने काम-धन्धों से ही फुर्सत नहीं मिलती। "यदि देवताओं की जनता हो तो उनका शासन लोकतन्त्रात्मक हो सकता है। ऐसा पूर्ण शासन मनुष्यों के लिए नहीं है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि "उसकी पुस्तक 'सामाजिक संविदा' फ्रेंच क्रान्तिकारियों का 'धर्मग्रन्थ या बाइबल' थी। किन्तु रसेल के शब्दों में बाइबल की भाँति लोगों ने इसे पढ़ा नहीं, किन्तु इसकी पूजा की। इसे पढ़ने वालों ने इससे अधिनायकवाद के सिद्धान्त निकाले। हेगल ने इसकी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के आधार पर प्रशिया के निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। रसेल के कथनानुसार इसका पहला फल रोबेस्पियर का आतंक राज्य था और बोल्शेविक रूस तथा नाज़ी जर्मनी के अधिनायकवाद भी रूसो की शिक्षाओं

1. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ॰ 270-71.

का परिणाम हैं।[1] इस समय हिटलर रूसो के विचारों का फल है, रूज़वैल्ट और चर्चिल लॉक के विचारों का परिणाम हैं।"[2] रूसो द्वारा अधिनायकवाद का प्रबल समर्थन किया जाने के कारण इसकी तुलना हॉब्स से की जाती है और यह कहा जाता है कि रूसो तानाशाही का उतना ही बड़ा समर्थक है, जितना हॉब्स।

आलोचकों ने रूसो की निन्दा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। वाल्तेयर ने उसे नीमहकीम जंगली (Charltan savage), हू-हू करने वाला उल्लू (Hoot Owl), स्विट्ज़रलैण्डवासी सेवक (Swiss valet), डायोजीनीस के कुत्ते तथा हीरोस्ट्रेटस (Herostratus) की कुतिया की दोगली सन्तान कहा है।[3] लार्ड मार्ले ने यह विचार प्रकट किया था कि 'क्या संसार के लिए यह अधिक अच्छा न होता कि रूसो का जन्म ही न हुआ होता।"[4] सम्भवतः, यह समझा जाता है कि यदि वह जन्म न लेता तो फ्रेंच राज्यक्रान्ति का भीषण रक्तपात और नरमेध न हुआ होता।

रूसो का मूल्यांकन—राजनीतिक विचारों के इतिहास में रूसो का नाम उसकी महत्त्वपूर्ण देनों और विचारों के लिए अमर है। उसने लोकतन्त्र, समानता, स्वतन्त्रता के विचारों का शंखनाद किया, किसी भी पहले विचारक की अपेक्षा इस पर बहुत बल दिया कि जनता ही सारी राजनीतिक सत्ता का मूल स्रोत है, प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित है, सरकार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता की सेवक मात्र है, उत्तम शासन तथा कानून की कसौटी जनता के हित का सम्पादन करना है। राज्य हॉब्स के विचारानुसार केवल एक कृत्रिम यन्त्र (Machine) मात्र नहीं है, किन्तु सजीव शरीर (Organism) है। जनवाणी देववाणी है, शासन का आधार जनता की सहमति है। व्यक्ति और राज्य में तथा स्वतन्त्रता और सत्ता में विरोध नहीं है। रूसो के इन विचारों ने फ्रेंच राज्यक्रान्ति को प्रभावित किया, फ्रेंच राज्यक्रान्ति की सफलता के साथ लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचारों का प्रसार यूरोप के सभी देशों में हुआ। इनसे आधुनिक जगत् के राजनीतिक विचारों का निर्माण हुआ। वेपर के मतानुसार अर्वाचीन विश्व के मस्तिष्क पर रूसो से अधिक प्रभाव डालने वाले व्यक्ति इने-गिने हैं।[5] फ्रेंच दार्शनिक बर्गसों (Bergson) के मतानुसार देकार्त्त (Descartes) के बाद मानव-मन पर सबसे अधिक प्रबल प्रभाव रूसो का पड़ा है। उसने अपनी मौलिक प्रतिभा की छाप राजनीति, साहित्य, शिक्षा, धर्म आदि के सभी क्षेत्रों में छोड़ी है। डनिंग ने उसे राष्ट्रीय राज्य (National State) के सिद्धान्त का पोषक माना है। कोल का यह मत है कि उसका 'सामाजिक समझौता' राजनीति-शास्त्र की सर्वोत्तम पाठ्य-पुस्तक है, रूसो का महत्त्व न केवल वर्तमान काल के लिए, किन्तु सभी कालों के लिए है।[6]

हॉब्स, लॉक और रूसो की तुलना—ये तीनों सामाजिक समझौते या अनुबन्ध

1. रसेल, बर्ट्रेण्ड—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 726-27.
2. वही, पृ० 711.
3. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 137.
4. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 367.
5. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 136.
6. मैक्सी—पूर्वोक्त, पृ० 367.

के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु इसके विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में इनमें मौलिक मतभेद हैं। पहले इसका विस्तृत प्रतिपादन हो चुका है। उपसंहार के रूप में इनके प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं--

(1) **मानव-प्रकृति** (Human Nature)—हॉब्स मनुष्य को स्वार्थी, भय, शक्ति और कीर्ति की भावना से संचालित होने वाला, क्रूर, हिंसक, धूर्त और दुष्ट तथा रूसो इसे स्वाभाविक रूप से अच्छा मानता है। लॉक इन दोनों की मध्यवर्ती स्थिति में मनुष्य को शान्तिप्रिय, सद्‌भावना और सहयोग की भावना से अनुप्राणित मानता है।

(2) **प्राकृतिक दशा** (State of Nature)—हॉब्स इसे सतत युद्ध की दशा, लॉक सद्‌भावना, सौहार्द, पारस्परिक सहायता की तथा रूसो परम आनन्द (Idyllic Happiness) की दशा मानता है।

(3) **प्राकृतिक नियम** (Law of Nature)—प्राकृतिक दशा में हॉब्स के मतानुसार कोई राजकीय (Civil) कानून नहीं था। प्राकृतिक नियम से ही मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार नियन्त्रित होते थे। इसके दो अर्थ थे : (क) जीवन के संरक्षण के लिए उचित विवेक-बुद्धि का आदेश (Dictate of right reason), (ख) दूरदर्शिता और उपयोगिता पर आधारित यह विचार कि प्रत्येक को शान्ति बनाए रखने के लिए अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर अपने प्राकृतिक अधिकार एक शासक को सौंप देने चाहिएँ और समझौते का पालन करना चाहिए। लॉक प्राकृतिक नियम को सहज भावना (Instinct) नहीं, किन्तु ऐसा नैतिक नियम (Moral law) मानता है, जो बुद्धि पर आधारित है तथा मानवीय व्यवहार को नियन्त्रित करता है। रूसो प्राकृतिक नियम को बुद्धि का परिणाम नहीं मानता, वह इसका आधार सहज भावना (Instinct) तथा अनुभूति (Feeling) से उत्पन्न होने वाली सामाजिकता (Sociability) को बताता है।

(4) **प्राकृतिक अधिकार** (Natural Rights)—हॉब्स 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के अनुसार इसका आधार केवल शक्ति को मानता है। लॉक जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को स्वभाव से मनुष्य को उपलब्ध होने वाले जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। रूसो प्रकृतिक दशा में मनुष्य को सर्वथा स्वतन्त्र और इस स्वतन्त्रता से मिलने वाले अधिकारों से सम्पन्न मानता है।

(5) **सामाजिक संविदा या अनुबन्ध** (Social Contract)**की आवश्यकता**—हॉब्स इसे सतत संघर्ष से उत्पन्न अराजकता और असुरक्षा की भावना को दूर करने के लिए आवश्यक समझता है। लॉक के मतानुसार प्राकृतिक नियमों की अस्पष्टता और इन्हें लागू करने के लिए आवश्यकता के कारण यह समझौता किया गया था; रूसो वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण से पैदा हुई सामाजिक विषमता के उन्मूलन के लिए इसे आवश्यक मानता है।

(6) **सामाजिक अनुबन्ध का स्वरूप**—हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति इसमें आत्मरक्षा और प्राणरक्षा के अतिरिक्त सभी अधिकार एक सर्वोच्च प्रभु को समर्पित कर देता है। इस समझौते से राज्य (Commonwealth) का तथा प्रभु (Sovereign) का निर्माण होता है। यह अनुबन्ध केवल प्रजा के लिए है, राजा के लिए

इसका पालन आवश्यक नहीं है। राजा की सत्ता सर्वथा निरंकुश होती है। लॉक के मतानुसार व्यक्ति इस समझौते द्वारा सब नहीं, किन्तु कुछ निश्चित अधिकार ही छोड़ते हैं। सरकार की सत्ता निरंकुश नहीं, किन्तु सीमित होती है। रूसो के मतानुसार राज्य का जन्म व्यक्तियों की वैयक्तिक और सामूहिक (Corporate) दशा में किए गए समझौते से होता है। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक रूप में क ख ग घ के मिलने से बनी सामूहिक संस्था (क+ख+ग+घ) को वे अपने सब अधिकार सौंपते हैं।

(7) **प्रभुसत्ता** (Sovereignty)—हॉब्स की प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता निरंकुश, अमर्यादित, असीम, अविभाज्य, अनन्यक्राम्य, पूर्ण, कानून से ऊपर उठी हुई, कानून, न्याय और सम्पत्ति का स्रोत तथा राज्य और चर्च से ऊपर है। प्रजा को इसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार नहीं है। लॉक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की कल्पना नहीं करता, उसकी सरकार निश्चित कार्यों को करने वाली है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अधिकार सरकार पर प्रबल अंकुश है, वह इन अधिकारों की अवहेलना नहीं कर सकती है। रूसो के मतानुसार जनता सामूहिक रूप में सर्वोच्च प्रभु है, सर्वोच्च सत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित होती है। इसकी मुख्य विशेषताएँ एकता, अविभाज्यता, अनन्यक्राम्यता (Inalienability) और प्रतिनिधित्व के योग्य न होना (Unrepresentability) है।

(8) **स्वतन्त्रता**—हॉब्स के मतानुसार प्राकृतिक दशा में स्वतन्त्रता (Liberty) और स्वच्छन्दता (Licence) में कोई अन्तर न था। राज्य की स्थापना के बाद उसने प्रजा को नागरिक (Civil) स्वतन्त्रता प्रदान की। यह व्यक्ति को राज्य की भेंट है और वह इसे अपनी इच्छा से किसी भी समय उससे छीन सकती है, व्यक्ति इसके लिए कोई विरोध या प्रतिवाद नहीं कर सकता है। लॉक के मतानुसार जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार हैं, राज्य इन्हें व्यक्ति से नहीं छीन सकता है। रूसो राज्य में वैयक्तिक स्वाधीनता को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की ओर से व्यक्ति को दी जाने वाली भेंट समझता है। राज्य की निरंकुशतापूर्ण सत्ता के साथ इसका समन्वय होना चाहिए।

(9) **व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध**—व्यक्ति का राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार—हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति को सब अधिकार, शान्ति, व्यवस्था और सुशासन राज्य से प्राप्त होता है, अतः उसका प्रधान कर्त्तव्य राज्य के आदेशों का आँख मूँदकर पालन करना है। राज्य उसके सब अधिकारों को छीन सकता है। वह राज्य के विरुद्ध विद्रोह का या उसके आदेशों की अवज्ञा का अधिकार नहीं रखता है। इस विषय में हॉब्स दो महत्त्वपूर्ण अपवाद मानता है—(क) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राणरक्षा का अधिकार है, यदि सर्वोच्च प्रभु किसी व्यक्ति को मारना चाहे तो वह आत्मरक्षा के लिए उसका प्रतिरोध कर सकता है। (ख) देश में गृहयुद्ध छिड़ जाने की स्थिति में यदि पहला शासक उसके जीवन की रक्षा करने में असमर्थ है तो वह अपनी निष्ठा और राजभक्ति उससे हटाकर दूसरे शासक के प्रति रख सकता है। लॉक के मतानुसार व्यक्ति का स्थान राज्य से ऊँचा है, राज्य का जन्म व्यक्ति के अधिकारों

की रक्षा के लिए हुआ है, राज्य यदि अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का तथा शासन को बदलने का पूरा अधिकार है। उसके मतानुसार राज्य सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) नहीं है, किन्तु व्यक्ति पूरी प्रभुसत्ता रखने वाला है। रूसो के मतानुसार राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। उसे समानता, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार नागरिक बनने पर राज्य से प्राप्त होते हैं, लॉक की भाँति ये उसके स्वाभाविक अधिकार नहीं हैं। उसकी स्वतन्त्रता प्राकृतिक (Natural) है, उसे राज्य द्वारा दी गई (Civil) है। राज्य के आधीन होता हुआ भी व्यक्ति स्वाधीन है, क्योंकि राज्य द्वारा उस पर लगाए गए प्रतिबन्ध और बन्धन उसने स्वयमेव अपने पर सामान्य हित की दृष्टि से अपनी सामाजिक या वास्तविक इच्छा (Real Will) से लगाए हैं। उसकी यह इच्छा सर्वोच्च प्रभुत्व रखने वाली सामान्य इच्छा (General Will) का अंग है। अतः स्वयमेव अपने पर लगाए हुए ये बन्धन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं होते हैं।

(10) राज्य और सरकार का भेद—हॉब्स ने इन दोनों में कोई अन्तर नहीं माना। उसके लिए तथ्यानुयायी (de facto) तथा विध्यनुसारी (de Jure) शासनों में कोई अन्तर नहीं था। उसका यह मत था कि सरकार में परिवर्तन आने से राज्य का विघटन हो जाता है और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लॉक का यह विचार था कि जनता को अपनी सरकार चुनने का सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है, इससे असन्तुष्ट होने पर वह इसे बदल सकती है। रूसो के मतानुसार सरकार तो सर्वोच्च प्रभुसत्ता रखने वाली जनता की इच्छा को पूरा करने वाली अभिकर्त्ता (Agent) मात्र है। लॉक और रूसो सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) जनता में निहित मानते हुए सरकार के अधिकारों को नियन्त्रित करते हैं। लॉक यह समझता है कि जनता अपनी सर्वोच्च सत्ता सुरक्षित रूप में रख छोड़ती है, उसका प्रयोग उन्हीं असाधारण परिस्थितियों में करती है, जब विद्रोह और क्रान्ति करना नितान्त आवश्यक हो जाए। किन्तु रूसो प्रभुसत्ता को सदैव सक्रिय मानता है, जनता इसका प्रयोग करते हुए कानूनों के निर्माण का कार्य निरन्तर करती है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण से स्पष्ट है कि रूसो कुछ अंशों में हॉब्स का तथा कुछ अंशों में लॉक का अनुसरण करता है। एक ओर वह राज्य के निरंकुशवाद (Absolutism) का समर्थन करते हुए राज्य को सर्वोपरि मानता है, व्यक्ति का कार्य उसकी आज्ञाओं का पालन करना है। राज्य व्यक्ति के लिए नहीं, किन्तु व्यक्ति राज्य के लिए है। राज्य को व्यक्तियों पर पूर्णाधिकार है। यह प्लेटो तथा हॉब्स की विचार-धारा है और रूसो की पिछली रचनाओं में विशेष रूप से मिलती है। यद्यपि हॉब्स और रूसो दोनों राज्य के निरंकुशवाद (Absolutism) के समर्थक हैं, तथापि इन दोनों में इस विषय में कई मौलिक अन्तर हैं—(1) हॉब्स का व्यक्ति सामाजिक अनुबन्ध के समय अपने सब अधिकार लेवियाथन या प्रभुसत्ता को सौंप देता है, इसके बदले में उसे शान्ति और सुरक्षा के सिवाय कुछ नहीं मिलता है। किन्तु रूसो का व्यक्ति सब कुछ खो देने पर भी कुछ नहीं खोता है, क्योंकि यद्यपि वह अपने अधिकार खो देता है, किन्तु दूसरे सभी व्यक्तियों के अधिकारों में उसे साझा मिल जाता है। इस तरह रूसो द्वारा

प्रतिपादित समाज की निरंकुशता में प्रत्येक व्यक्ति का साझा है, क्योंकि उसका प्रभु या सर्वोच्च शासक समाज के सब व्यक्तियों के संयोग से मिलकर बनता है। (2) हॉब्स के लेवियाथन या प्रभु पर किसी प्रकार का अंकुश या प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु रूसो प्रभु समझी जाने वाली जनता की सामान्य इच्छा के लिए नैतिक और न्यायपूर्ण होना आवश्यक मानता है। यही उसके प्रभुत्व का आधार है। यह तभी तक नैतिक और न्यायपूर्ण होती है, जब तक जनता के सामान्य हित (Common good) का सम्पादन करती है। लॉक की वैध प्रभुसत्ता के विचार के सर्वथा प्रतिकूल रूसो हॉब्स की भांति प्रभुसत्ता को निरंकुश मानता है।

दूसरी ओर रूसो की आरम्भिक रचनाओं में 'विषमता के उद्गम पर निबन्ध' (Discourse on the Origin of Inequality) में वह घोर व्यक्तिवादी (Individualist) है। इसमें उस पर लॉक का स्पष्ट प्रभाव है। उसके सामाजिक अनुबन्ध या समझौते का आधार सहमति (Consent) की भावना है। इसके आधार पर हॉब्स ने लेवियाथन की निरंकुश सत्ता को पुष्ट किया था, किन्तु लॉक ने इससे सरकार की सत्ता को मर्यादित करते हुए यह कहा है कि वह समाज को ट्रस्टी है और उसका कार्य व्यक्ति तथा समाज की भलाई करना है। रूसो ने लॉक के **सहमति के सिद्धान्त को** स्वीकार करते हुए उसमें दो संशोधन किए। लॉक के अनुसार सामाजिक समझौता होने के समय जब एक बार इसे करने वाले अपनी सहमति प्रदान कर देते हैं, तो इसके बाद वे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेते। वे तब तक प्रसुप्त रहते हैं, जब तक कि शासनसत्ता उनके वैयक्तिक अधिकारों का हनन न करे। किन्तु रूसो की सर्वोच्च शासक—जनता सतत क्रियाशील और जागरूक रहते हुए सामान्य इच्छा द्वारा नियम निर्माण के कार्य में लगी रहती है। (2) रूसो को लॉक का दूसरा दोष यह प्रतीत हुआ कि वह बहुमत के शासन को श्रेष्ठ समझते हुए इसे बहुत महत्त्व देता है और उसे अल्पमत पर मनमाना अत्याचारपूर्ण शासन स्थापित करने की खुली छूट दे देता है। रूसो ने लॉक के इस **दोष** का समाधान सामान्य इच्छा के सिद्धान्त से किया है। अतः रूसो का सिद्धान्त हॉब्स की भाँति निरंकुश होता हुआ भी लॉक की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्रात्मक है।

वस्तुतः रूसो लॉक द्वारा निर्धारित विचार-पद्धति को अधिक विशद, स्पष्ट और सुदृढ़ बनाने वाला तथा उसे आगे बढ़ाने वाला है। उस पर हॉब्स की अपेक्षा लॉक का अधिक प्रभाव है। यह बात निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होती है। उसने लॉक के इन विचारों को ग्रहण करते हुए अधिक विशद बनाया है—(1) **जनता की प्रभुसत्ता का विचार** (Idea of Popular Sovereignty)—लॉक के मतानुसार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता अपने अधिकार जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को दे सकती है। रूसो यह मानता है कि सर्वोच्च सत्ता सदैव जनता में निहित रहती है, वह अपना यह अधिकार प्रतिनिधियों को नहीं दे सकती। (2) **मर्यादित शासन** (Limited Government)—रूसो इस विषय में लॉक का अनुसरण करते हुए इस बात पर बल देता है कि सरकार जनता की सामान्य इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने का साधन है, यह सरकार कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती, जो समूची जनता के हितों के प्रतिकूल हो।

हॉब्स, लॉक और रूसो के विभिन्न विचारों के उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण को संक्षेप में निम्नलिखित तालिका में प्रकट किया गया है—

हॉब्स	लॉक	रूसो
1. मानव का स्वभाव यह स्वार्थी, क्रूर, हिंसक, दुष्ट, भय शक्ति तथा कीर्ति की भावना से प्रेरित होने वाला, आसुरी प्रवृत्तियों की प्रधानता रखने वाला है।	शान्तिप्रिय, सद्भावना और सहयोग की भावना से अनुप्राणित है।	आरम्भ में स्वाभाविक रूप से अच्छा, दैवी प्रवृत्तियों वाला तथा उदार भावनाओं की प्रधानता रखने वाला है।
2. प्राकृतिक दशा सतत युद्ध की तथा विषमता की दशा है।	यह सद्भावना, सौहार्द्र तथा पारस्परिक सहायता की दशा है।	परम आनन्द तथा सुख की दशा है। इसमें स्वावलम्बी एवं आदर्श जीवन था, वैयक्तिक सम्पत्ति न होने से विषमता का अभाव था, बाद में वैयक्तिक सम्पत्ति से विषमता, ईर्ष्या, द्वेष, उत्पन्न हुआ।
3. प्राकृतिक नियम आरम्भिक प्राकृतिक दशा में राजकीय (Civil) कानूनों का अभाव था, प्राकृतिक नियमों से ही मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का नियन्त्रण होता था। प्राकृतिक नियम जीवन के संरक्षण के लिए उचित विवेक-बुद्धि का आदेश थे।	प्राकृतिक नियम विवेक-बुद्धि पर तथा नैतिकता पर आधारित थे, ये मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का नियन्त्रण करते थे।	प्राकृतिक नियम का आधार बुद्धि नहीं, किन्तु सहज भावना (Instinct) तथा अनुभूति से पैदा होने वाली सामाजिकता है।
4. प्राकृतिक अधिकार ये व्यक्ति की शक्ति तथा बल पर आधारित हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम सर्वमान्य है।	मनुष्य के तीन जन्मसिद्ध अधिकार—जीने का अधिकार, स्वतन्त्र रहने का तथा सम्पत्ति का अधिकार है।	प्राकृतिक दशा में मनुष्य को सब प्रकार के प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे और वह इच्छानुसार इनका उपभोग कर सकता था।

हॉब्स	लॉक	रूसो
5. सामाजिक समझौते (Social Contract) की आवश्यकता सामाजिक समझौते की आवश्यकता सतत संघर्ष से उत्पन्न अराजकता को दूर करने के लिए होती है।	प्राकृतिक नियमों की अस्पष्टता दूर करने तथा इन्हें लागू करने के लिए सामाजिक समझौता किया जाता है।	वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण से पैदा हुई सामाजिक विषमता के उन्मूलन के लिए सामाजिक समझौता किया गया था।
6. सामाजिक अनुबन्ध का स्वरूप इसमें व्यक्ति आत्मरक्षा तथा प्राणरक्षा के अतिरिक्त सभी अधिकार एक सर्वोच्च प्रभु को सौंप देता है। यह समझौता केवल प्रजा के लिए है, राजा की सत्ता सर्वथा निरंकुश होती है।	व्यक्ति इस समझौते द्वारा सब नहीं, किन्तु कुछ निश्चित अधिकार छोड़ते हैं। राज्य की सत्ता निरंकुश नहीं, मर्यादित होती है।	यह समझौता दो प्रकार से व्यक्तियों की वैयक्तिक तथा सामूहिक दशा में किए गए समझौते से सम्पन्न होता है।
7. प्रभुसत्ता यह निरंकुश, अमर्यादित, असीम, अविभाज्य, अनन्यक्राम्य, कानून से ऊपर उठी हुई, कानून, न्याय तथा सम्पत्ति का स्रोत तथा राज्य और चर्च से ऊपर है। प्रजा को इसके विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति का अधिकार नहीं है।	राज्य पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अधिकार सरकार पर प्रबल अंकुश है, वह इन अधिकारों की अवहेलना नहीं कर सकती, प्रजा इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए विद्रोह या क्रान्ति कर सकती है।	जनता सामूहिक रूप में सर्वोच्च प्रभु है, सर्वोच्च सत्ता जनता की इच्छा में निहित है। इसकी विशेषताएं एकता, अविभाज्यता, अनन्यक्राम्यता और प्रतिनिधित्व के योग्य न होना है।
8. स्वतन्त्रता प्राकृतिक दशा में स्वतन्त्रता (Liberty) तथा स्वच्छन्दता (Licence) में कोई अन्तर न था। राज्य की स्थापना के बाद उसने प्रजा को स्वतन्त्रता के अधिकार	यह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, राज्य इसे व्यक्ति से कभी छीन नहीं सकता है।	वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की ओर से व्यक्ति को दी जाने वाली भेंट है।

हॉब्स	लॉक	रूसो
का उपहार दिया है। वह इसे अपनी इच्छा से छीन सकता है।		
9. व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध—राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार— व्यक्ति को सब अधिकार, शान्ति, व्यवस्था और सुशासन राज्य से प्राप्त होता है, अतः उसका प्रधान कर्त्तव्य पूर्ण प्रभुतासम्पन्न, निरंकुश राज्य के आदेशों का आँख मूँदकर पालन करना है। राज्य उसके सब अधिकारों को छीन सकता है, किन्तु उसे प्राणरक्षा या गृहयुद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी भी दशा में राज्य के विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है।	व्यक्ति राज्य से ऊँचा है, राज्य का जन्म व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है। राज्य यदि अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो प्रजा को उसके विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का तथा शासन को बदलने का पूरा अधिकार है।	राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है; उसे समानता, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के अधिकार राज्य से प्राप्त होते हैं। राज्य के आधीन होता हुआ भी व्यक्ति स्वाधीन और स्वतन्त्र है क्योंकि राज्य द्वारा उस पर लगाए गए बन्धन उसने स्वयमेव सामान्य हित की दृष्टि से अपनी वास्तविक इच्छा से लगाए हैं, उसकी यह इच्छा सर्वोच्च प्रभुत्व रखने वाली सामान्य इच्छा का अंग है, अतः स्वयमेव अपने पर लगाए ये बन्धन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं हैं। सामान्य इच्छा सर्वोच्च प्रभु है, वह जब चाहे सामान्य हित की दृष्टि से क्रान्ति कर सकती है। सामान्य इच्छा को रखने वाली जनता को क्रान्ति करने का अधिकार है।

सोलहवाँ अध्याय

मांतेस्क्यू (1689-1755 ई०)

जीवन तथा कृतियाँ—18वीं शताब्दी के सबसे बड़े फ्रेंच राजनीतिक विचारक तथा इसी शती के सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ग्रन्थ – **कानूनों की भावना** (Expret des Lois) का प्रणयन करने वाले मांतेस्क्यू का जन्म फ्रेंच राज्यक्रान्ति से ठीक सौ वर्ष पहले बोर्दो के निकट एक सम्पन्न कुलीन परिवार में ला ब्रेदे (La Brede) की ज़मींदारी में हुआ। उसका अपना निजी नाम शार्ल लुई (Charles Louis de Secondat) था। 1714 ई० में कानून की उच्च शिक्षा ग्रहण करने पर वह वकील (Counselor) बना, अगले ही वर्ष एक विशाल जायदाद की उत्तराधिकारिणी स्त्री से उसका विवाह हुआ तथा 1716 ई० में उसके ताया ने मरते समय अपनी विशाल सम्पत्ति तथा बोर्दो के न्यायालय (Parlement) की अध्यक्षता का पद शार्ल को इस शर्त पर विरासत में दिया कि वह उसके वंश की 'मांतेस्क्यू के लार्ड' की उपाधि धारण करेगा। शार्ल को इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी। उसने मांतेस्क्यू का नाम और जागीर लेते हुए बोर्दो के प्रधान न्यायाधीश के पद पर 12 वर्ष तक बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य किया।

लक्ष्मी का कृपापात्र बनने पर मांतेस्क्यू ने सरस्वती की आराधना का भी संकल्प लिया। 1721 ई० में उसने अपनी पहली पुस्तक **ईरानी पत्र** (Persian Letters) प्रकाशित किए। फ्रांस की यात्रा करने वाले दो ईरानियों द्वारा स्वदेश में बन्धुओं को लिखे गए कल्पित पत्रों के बहाने से इनमें मांतेस्क्यू ने तत्कालीन राजनीति, धर्म, समाज और राजतन्त्र के दोषों तथा मूर्खताओं पर बहुत बढ़िया तथा प्रभावशाली व्यंग्य कसे हैं। इनके प्रकाशित होते ही फ्रांस में हलचल मच गई, इनके कई संस्करण छपे। इन पर यद्यपि जानबूझकर लेखक का नाम नहीं दिया गया था, किन्तु सबको यह विदित था कि यह मांतेस्क्यू की कृति हैं और इनसे उसे अपूर्व साहित्यिक ख्याति मिली। अब मांतेस्क्यू को सरस्वती तथा साहित्य साधना का आकर्षण इतना प्रबल प्रतीत हुआ कि न्यायाधीश का कार्य दूभर प्रतीत होने लगा। वह अपने इस पद को बेचकर साहित्य-सेवा के लिए पेरिस चला गया।

1728 ई० में उसने यूरोप के विभिन्न देशों—आस्ट्रिया, हंगरी, इटली, जर्मनी, इंगलैण्ड की यात्रा की। इन देशों में उसने राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों का गम्भीर अनुशीलन किया। उसका कहना था कि "जर्मनी की यात्रा

करनी चाहिए, इटली में थोड़े दिन के लिए पड़ाव (Sojourn) डालना चाहिए, इंगलैण्ड में सोचना चाहिए और फ्रांस में रहना चाहिए।" 'इंगलैण्ड में सोचने के लिए' वह 18 महीने रहा, उसने वहाँ के प्रमुख राजनीतिज्ञों और विद्वानों से परिचय प्राप्त किया, ग्रेट ब्रिटेन की राजनीतिक संस्थाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया। वह ब्रिटिश संस्थाओं के प्रति अगाध भक्ति और प्रशंसा के भाव लेकर स्वदेश वापिस लौटा और उसने अपना शेष जीवन अपनी ज़मींदारी ला ब्रे दे में स्वाध्याय एवं ग्रन्थ लेखन में बिताया। 1734 ई० में उसका दूसरा ग्रन्थ 'रोमन लोगों की महानता और पतन के कारणों पर विचार' तथा 1745 ई० में तीसरा ग्रन्थ 'सुल्ला और एक्रेटीज़ का संवाद' (Dialogue of Sulla and Ecrates) छपा, 1748 में 19 वर्ष के घोर परिश्रम से प्रणीत **कानून की भावना** (The Spirit of Law) प्रकाशित हुआ।[1] यह इतना लोकप्रिय हुआ कि 2 वर्ष में इसके 22 संस्करण छपे और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। यह उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसने मांतेस्क्यू का नाम अमर कर दिया। प्लासी के युद्ध से दो वर्ष पहले 1755 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। वह निम्नलिखित राजनीतिक विचारों के लिए उल्लेखनीय है—

(1) कानून का स्वरूप—मांतेस्क्यू से पहले कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणाएँ प्रचलित थीं। एक ओर कुछ विचारक इसे विवेक-बुद्धि का आदेश (Dictate of Reason) समझते थे, दूसरी ओर इसे प्रभुत्वसम्पन्न उत्कृष्ट सत्ता की आज्ञा (Command of a Superior) माना जाता था। किन्तु मांतेस्क्यू ने इन दोनों मतों से असहमति प्रकट करते हुए कानून का एक निराला ही लक्षण किया। उसके मतानुसार कानून अपने विस्तृत अर्थ में 'वस्तुओं की प्रकृति या स्वरूप से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बन्ध हैं।'[2] उसका यह लक्षण बहुत व्यापक है और विश्व की समग्र जड़-चेतन वस्तुओं के सम्बन्ध में है। इसके अनुसार इस जगत् में प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तु से किसी-न-किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध है। यही उसका नियम या कानून है। उदाहरणार्थ, आग और कागज का एक निश्चित सम्बन्ध है; जब कागज आग के साथ सम्पर्क में आएगा, तो वह जलेगा। अतः आग का नियम जलाना है। भारतीव दर्शन की परिभाषा में अग्नि का धर्म दाहकत्व है। मांतेस्क्यू यह मानता है कि प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म, कानून और नियम होता है। भगवान् के भौतिक जगत् के, पशुओं के, मनुष्यों के दूसरी वस्तुओं के साथ सम्बन्ध के अपने नियम और धर्म हैं। जड़ जगत् के नियम शाश्वत, सार्वभौम, सत्य, सनातन, अविकारी और अपरिवर्तनशील हैं। अग्नि सदैव वस्तुओं को जलाएगी, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति सब वस्तुओं को हमेशा अपनी ओर आकृष्ट करेगी। किन्तु मनुष्य सम्बन्धी नियम शाश्वत और सार्वभौम नहीं होते, क्योंकि मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा और कर्त्तृत्वशक्ति है, वह अज्ञानी है, काम-क्रोध-मोहादि की भावनाओं का दास बनता है। भगवान् के प्रति अपने सम्बन्धों को भूल जाता है, अतः उसे इनका स्मरण कराने के लिए धर्म के 'नियम या कानून (Laws of Religion) हैं। वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है, इसकी याद कराने के लिए दर्शन-शास्त्र नैतिकता की विधियाँ (Laws of Morality) बताता है। समाज में रहते हुए

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० 306.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 395.

व्यक्ति अपने पड़ोसियों के साथ सम्बन्धों को भुला सकता है, उसे इस विषय में अपने कर्त्तव्य का ज्ञान कराने के लिए राजनीतिक (Political) और दीवानी (Civil) कानून होते हैं। राजनीतिक कानून मनुष्य के राज्य के साथ तथा दीवानी कानून एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के साथ सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं।

किन्तु इन सब नियमों के बनने से पहले मनुष्य प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) से अनुशासित होता था। प्रकृति का पहला नियम आत्म-संरक्षण, शान्ति और सुरक्षा की आकांक्षा है। प्राकृतिक मानव को मांतेस्क्यू ने हॉब्स और लॉक की भांति बुद्धिमान् प्राणी न मानते हुए, अत्यन्त भीरु, आत्मरक्षा की भावना से संकटों से बचने के लिए सुरक्षित स्थान और खाद्य सामग्री को ढूंढ़ने वाला स्वीकार किया। वह दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाता है। इस प्रकार समाज में युद्ध की स्थिति उत्पन्न होती है और इस अवस्था में तीन प्रकार के भावात्मक कानून (Positive Laws) बनते हैं—(क) विभिन्न वर्गों, जनताओं, जातियों और राज्यों के सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले नियम। ये राष्ट्रों के कानून (Law of Nations) का मूल होते हैं। (ख) शासक और शासितों के सम्बन्धों को अनुशासित करने वाले नियमों से राजनीतिक कानून (Political Law, Le droit politique) का प्रादुर्भाव होता है। (ग) एक राज्य में नागरिकों के एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध निर्धारित करने वाले नियम दीवानी कानून (Civil Law) की सृष्टि करते हैं।

इन तीन में से पहला राष्ट्रों का कानून सब देशों और समाजों के लिए एक-सा होता है। किन्तु राजनीतिक और दीवानी कानून सब देशों में वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। मांतेस्क्यू के मत में कोई कानून या नियम तथा शासन-प्रणाली ऐकान्तिक रूप से सब देशों या जातियों के लिए सर्वोत्तम नहीं होती है। प्रत्येक देश की परिस्थितियों के अनुसार बुद्धि द्वारा बनने वाले नियम ही उसके लिए स्वाभाविक हैं। प्रत्येक देश की भौगोलिक, प्राकृतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के साथ उस देश के कानूनों का गहरा सम्बन्ध होता है। फिर इन कानूनों में एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध होता है। इन सब विभिन्न सम्बन्धों की समष्टि या समग्र रूप को ही मांतेस्क्यू **'कानून की भावना'** का नाम देता है, इसी का प्रतिपादन उसका प्रधान लक्ष्य है और इसीलिए उसने अपने ग्रन्थ को भी यही नाम दिया है।

(2) शासन के प्रकार— मांतेस्क्यू ने विभिन्न शासन-प्रणालियों को कुछ मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर पहले निरंकुशी (Despotic), राजतन्त्रीय (Monarchic), तथा गणराज्य (Republican) नाम के तीन वर्गों में बांटा है और इसके बाद गण-राज्य के दो अवान्तर भेद लोकतन्त्र (Democracy) तथा कुलीनतन्त्र (Aristocracy) किए हैं। इस वर्गीकरण का आधार इनका स्वरूप और संगठन है। निरंकुश शासन में एक व्यक्ति कानून के बिना तथा राजतन्त्र में कानून के अनुसार शासन करता है। गणराज्य में राजनीतिक शक्ति जनता में निहित होती है, जब यह समूची जनता में हो तो लोकतन्त्र होता है तथा कुछ व्यक्तियों के अल्पसंख्यक वर्ग में होने पर शासन कुलीनतन्त्र कहलाता है। यहाँ तक तो इस वर्गीकरण का मौलिक तत्त्व शासन की सर्वोच्च सत्ता

रखने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर है और यह अरस्तू के वर्गीकरण से मिलता है।

किन्तु इसके साथ ही मांतेस्क्यू इसका आधार इनके 'स्वरूप' (Nature) में पाए जाने वाले सिद्धान्त (Principle) की भिन्नता समझता है। स्वरूप से उसका तात्पर्य इनकी बनावट से तथा सिद्धान्त से उन मानवीय भावनाओं से है, जिनके कारण कोई पद्धति क्रियाशील होती है। उदाहरणार्थ, गणराज्य का सिद्धान्त अथवा इसे सक्रिय बनाने वाली भावना अर्थात् सद्‌गुण (Virtue), देशप्रेम और समानता का भाव है। प्रजातन्त्र में यह भाव अपने विशुद्ध रूप में होता है, किन्तु कुलीनतन्त्र में यह संयम (Moderation) का रूप धारण कर लेता है, इसमें शासक एक-दूसरे के प्रति तथा अपने से हीन जनता के प्रति शासन में संयत व्यवहार के नियम का पालन करते हैं। राजतन्त्र का सिद्धान्त सम्मान है, इसमें राजा तथा उच्च शासक वर्ग को उच्चतम प्रतिष्ठा, विशेषाधिकार और पद दिए जाते हैं, इनसे प्रेरित होकर शासक अपनी योग्यता से राज्य को वैसे ही संचालित करते हैं, जैसे समानता की भावना से अनुप्राणित होकर प्रजातन्त्र का संचालन होता है। निरंकुश शासन का प्रेरक तत्त्व भय का भाव होता है, राजा के प्रचण्ड कोप और शक्ति द्वारा राज्य का संचालन होता है।

प्रत्येक शासन-प्रणाली के विशिष्ट कानून और संस्थाएँ होती हैं। गणराज्य के कानून समानता के सिद्धान्त को बनाए रखते हैं, मताधिकार तथा निर्वाचन के विभिन्न नियमों का निर्धारण करते हैं। राजतन्त्र में कानूनों का उद्देश्य उच्च कुलीन वर्ग की सत्ता और प्रभुता को बनाए रखना होता है, क्योंकि उसका मूल मन्त्र है—"जहाँ राजतन्त्र नहीं है, वहाँ कुलीन वर्ग नहीं है; जहाँ कुलीन वर्ग नहीं है, वहाँ राजतन्त्र नहीं है (No Monarchy, no Nobility; no Nobility, no Monarchy)।" निरंकुश शासन (Despotism) की विशेष संस्था वज़ीर या मन्त्री होता है।

मांतेस्क्यू किसी भी शासन-प्रणाली को निरपेक्ष रूप से (Absolutely) सर्वोत्तम या आदर्श नहीं मानता था। वह सापेक्षतावाद (Relativity) का उपासक था। विशेष परिस्थितियों में तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली प्रणाली ही सर्वोत्तम होती है और इनके बदल जाने पर वह निष्प्रभाव और महत्त्वहीन हो जाती है। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र की मौलिक भावना समानता है, यदि यह लुप्त हो जाए तो इसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। कुलीनतन्त्र का प्राण संयम (Moderation) का तत्त्व है, यदि शासक वर्ग इसका पालन न करे तो इस शासन-प्रणाली का अन्त निश्चित है। शासकों में सम्मान की भावना निर्बल हो जाने पर राजतन्त्र का चलाना असम्भव हो जाता है। यूनानी विचारकों की भाँति मांतेस्क्यू विभिन्न शासन-प्रणालियों के परिवर्तन-चक्र के नियम में विश्वास नहीं रखता है।

(3) शासन-प्रणाली का धर्म और राज्य के आकार के साथ विशिष्ट सम्बन्ध— मांतेस्क्यू के मतानुसार विभिन्न धर्मों का विशेष प्रकार की शासन-प्रणालियों के साथ गहरा सम्बन्ध है। प्रजातन्त्र और प्रोटेस्टैण्ट धर्म, राजतन्त्र और रोमन कैथोलिक धर्म, निरंकुश राजशासन और इस्लाम घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं, एक-दूसरे के लिए उपयोगी तथा आवश्यक हैं। राज्य के आकार के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। छोटा आकार गणराज्य के लिए, बीच का आकार राजतन्त्र के लिए तथा विशाल

साम्राज्य निरंकुश शासन के लिए सर्वथा उपयुक्त होता है। आकार में परिवर्तन आने के साथ शासन-प्रणाली में परिवर्तन आना सर्वथा स्वाभाविक है। जब लघुराज्य का आकार बड़ा हो जाता है तो वह गणराज्य के लिए नहीं किन्तु राजतन्त्र के लिए उपयुक्त होता है। मांतेस्क्यू के समय का फ्रांस इसी प्रकार का था। किन्तु निरंकुश शासन को निकृष्ट समझने के कारण मांतेस्क्यू मेकियावेली की भाँति राज्यों के प्रादेशिक विस्तार का पक्षपाती नहीं था, क्योंकि इससे निरंकुश शासन को प्रोत्साहन मिलता था। छोटे राज्यों के बड़े राज्यों द्वारा हड़पे जाने को रोकने के लिए उसने संघ (Federation) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। ग्रेट ब्रिटेन से स्वतन्त्र होने वाले अमरीकी राज्यों पर मांतेस्क्यू के इस विचार का प्रभाव पड़ा और उन्होंने संघीय शासन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उसकी दृष्टि में इसका एक बड़ा लाभ यह था कि इसमें केन्द्र एवं राज्यों में अधिकारों और शक्ति का विभाजन होने के कारण राज्यों की स्वतन्त्रता बनी रहती थी और यह उसके मत में बहुत महत्त्वपूर्ण लाभ था।

(4) **स्वतन्त्रता का विचार** (Concept of Liberty)—इसे डनिंग के मतानुसार, मांतेस्क्यू के सिद्धान्त में सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए।[1] व्यापकतम अर्थ में इसकी परिभाषा करते हुए उसका कहना है कि यह व्यक्ति का ऐसा विश्वास है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर रहा है। स्वतन्त्रता के दो भेद हैं—राजनीतिक (Political) और नागरिक या दीवानी (Civil)। राजनीतिक स्वतन्त्रता राज्य के कानून द्वारा अनुमति दिए जाने वाले किसी भी कार्य को करने की स्वाधीनता है। यदि कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता, क्योंकि यदि सभी ऐसा कार्य करने लगेंगे तो किसी की भी स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। अतः स्वतन्त्रता का अर्थ कानून की मर्यादा में रहते हुए कोई भी काम कर सकने की आजादी है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कानून से ऊपर उठकर मनमानी करने का अधिकार रखता है, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं हो सकती है। यही कारण है कि निरंकुशवाद में एक वैयक्तिक शासक की मनमानी इच्छा का साम्राज्य होने से व्यक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित हो जाते हैं। मांतेस्क्यू के मत में नागरिक (Civil) स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का परिणाम है, इसका दासता के साथ वही सम्बन्ध है, जो निरंकुशवाद का राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ है। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दास बना लेता है तो उसकी नागरिक स्वाधीनता का अन्त हो जाता है। मांतेस्क्यू नागरिक स्वाधीनता को महत्त्व देते हुए दासता की प्रथा का प्रबल विरोध करता है। वह इसे अमानवीय तथा अप्राकृतिक और ईसाइयत-विरोधी समझता है। पर उसका मुख्य उद्देश्य शासन की ऐसी व्यवस्था करना है जिसमें सबको राजनीतिक स्वतन्त्रता उपलब्ध हो। ऐतिहासिक दृष्टि से वह यूरोप में इसका श्रीगणेश करने का श्रेय गाथ जाति को देता है। शासन में राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए शक्तियों के पार्थक्य का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।

(5) **शक्तिपार्थक्य** (Separation of Powers) **का सिद्धान्त**—मांतेस्क्यू का

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 409-10,

यह विचार है कि व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता वहीं पर मिल सकती है, जहाँ शासन अथवा सरकार के तीन अंग या शक्तियाँ—कार्यपालिका (Executive), विधानपालिका (Legislative) तथा न्यायपालिका (Judicial) कानून के नियन्त्रण में हों। यह तभी हो सकता है, जब ये तीनों शक्तियाँ सर्वथा पृथक् रखी जाएँ। "यदि विधानपालिका या व्यवस्थापिका की शक्ति कार्यपालिका की शक्ति के साथ संयुक्त होकर एक व्यक्ति के या अधिकारी-समूह के हाथ में आ जाती है तो कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती और यदि न्याय करने की शक्ति को विधानपालिका और कार्यपालिका की शक्तियों से पृथक् न किया गया तो भी कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। यदि वही व्यक्ति—चाहे वे कुलीन वर्ग के हों या जनता हो—कानून बनाने, सार्वजनिक प्रस्तावों के क्रियान्वित करने तथा व्यक्तियों के मुकद्दमे सुनने के तीनों कार्य करेंगे तो (स्वाधीनता) का अन्त हो जाएगा।" शासन की तीनों शक्तियों के पृथक् कर देने से सरकारी अधिकारियों की निरंकुशता पर प्रबल अंकुश स्थापित हो जाता है और प्रत्येक शक्ति एक-दूसरे के मनमाने कार्यों पर रोक या प्रतिबन्ध (Check) लगा देती है, सत्ता किसी एक व्यक्ति या संस्था में केन्द्रित नहीं हो पाती, शासन के तीन अंगों में सन्तुलन (Balance) बना रहता है। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्र न्यायपालिका शासक या कार्यपालिका को किसी व्यक्ति को अवैध रूप से पकड़ने नहीं देती, यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार पकड़ा जाता है तो उसके आवेदन पर वह उसे छोड़ने की आज्ञा देती है। इसके साथ ही वह विधानपालिका को कोई ऐसा कानून नहीं बनाने देती, जो राज्य के मौलिक नियमों के प्रतिकूल हो। इस प्रकार जब शासन के तीनों अंग एक-दूसरे पर प्रतिबन्ध और सन्तुलन (Checks and Balances) स्थापित करते हैं तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित हो जाती है।

मांतेस्क्यू का यह विचार था कि ऐसी व्यवस्था केवल इंगलैण्ड में पाई जाती है, अतः वहाँ व्यक्ति को सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसने अपने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में लॉक का अनुसरण किया और ब्रिटिश संस्थाओं की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है।[1] किन्तु उसका यह विचार ठीक नहीं था कि ग्रेट ब्रिटेन में शक्तिपार्थक्य के सिद्धान्त का पालन पूर्ण रूप से होता है क्योंकि वहाँ कार्यपालिका के रूप में कैबिनेट तथा मन्त्रिमण्डल, शासन-संचालन और विधान-निर्माण के दोनों कार्य करता है, लार्डसभा कानून को बनाने और न्याय करने के दोनों कार्य करती है। फिर भी मांतेस्क्यू का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि राज्य की तीनों शक्तियाँ सर्वथा पृथक् रहनी चाहिएँ, इनका एक व्यक्ति या संस्था में केन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए बहुत घातक सिद्ध होता है। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में शक्तिपार्थक्य का सिद्धान्त मांतेस्क्यू की बहुत बड़ी देन है और इसने संयुक्त राज्य अमरीका के संघीय तथा राज्यों के संविधान-निर्माताओं पर गहरा प्रभाव डाला। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय तैयार किए गए मानवीय अधिकारों के घोषणापत्र में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव—बोदें की भाँति मांतेस्क्यू का यह विश्वास था कि किसी देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संस्थाएँ भौतिक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित होती हैं।[2] इन परिस्थितियों में जलवायु बहुत महत्त्वपूर्ण

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 412.
2. मांतेस्क्यू—स्पिरिट ऑफ लाज, पुस्तक 14, अध्याय 2.

है। गर्मी मनुष्यों में संन्यास (Monasticism) तथा आलस्य की भावना उत्पन्न करती है। ठण्ड से पौरुष, क्रियाशीलता और मद्यपान की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। शीत-प्रधान देशों के व्यक्ति बड़े चंचल और चिड़चिड़े (Irritable) होते हैं। जलवायु के अनुसार मनुष्यों की आवश्यकताएँ और जीवन-पद्धतियाँ बदल जाती हैं, अतः उनके कानूनों और संस्थाओं में भी अन्तर आ जाता है। मांतेस्क्यू के मतानुसार ब्रिटिश संविधान वहाँ के जलवायु और लन्दन के कुहरे का परिणाम है। स्वतन्त्रता और जलवायु में गहरा सम्बन्ध है। इंगलैण्ड की ठण्ड ऐसी है कि वह व्यक्ति को चिड़चिड़ा बना देती है और वह निरंकुश शासन को सहन नहीं कर सकता है।[1] गर्म जलवायु एशिया के देशों में निरंकुश राजाओं की संस्था को पुष्ट करता है, यूरोप का शीत जलवायु वहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता, शक्ति और आत्मनिर्भरता की भावनाओं को जन्म देता है। भूतल की रचना भी राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रभावित करती है। पहाड़ों में खेती तथा विजय करना कठिन होता है, अतः यहाँ लोग स्वतन्त्रता के प्रेमी तथा पुरुषार्थी होते हैं। मैदानों को विजय करना आसान होता है, अतः यहाँ निरंकुश शासन स्थापित होते हैं। महाद्वीपों के निवासियों की अपेक्षा द्वीपवासियों में लोकतन्त्र की भावना अधिक होती है। महाद्वीपों में आक्रमणों का भय सदैव बना रहता है, अतः यहाँ निरंकुश शासन स्थापित हो जाते हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि उसके मत में राज्य के आकार का शासन-प्रणाली के साथ गहरा सम्बन्ध है। प्रजातन्त्र और वैधानिक शासन छोटे राज्यों में ही सम्भव है। विशाल प्रदेश वाले राज्यों का शासन निरंकुश राजाओं द्वारा ही सम्भव है।

धर्म के सम्बन्ध में मांतेस्क्यू उदारता और सहिष्णुता की नीति का पक्षपाती तथा धार्मिक अत्याचारों का विरोधी था। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की भिक्षु-प्रणाली का तथा पादरियों द्वारा शादी न करने के नियम का वह कटु आलोचक है। वह फ्रांस के चर्च में पोप की सत्ता को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करना चाहता था। मेकियावेली की भाँति वह चर्च को राज्य का एक अंग और विभाग बनाने का समर्थन करता था।

मांतेस्क्यू का समकालीन राजनीतिक विचारधारा से पृथक् होना—डनिंग ने लिखा है कि 16वीं शताब्दी के आरम्भ में मेकियावेली की भाँति, मांतेस्क्यू 18वीं सदी के मध्य में राजनीतिक सिद्धान्तों की सामान्य विचारधारा से थोड़ा-बहुत अलग खड़ा है।[2] यह उक्ति कई कारणों से सर्वथा सत्य प्रतीत होती है: (क) मांतेस्क्यू राजनीतिशास्त्र के अध्ययन को विधिशास्त्र (Jurisprudence), अर्थशास्त्र और सामान्य सामाजिक शास्त्र के साथ मिलाना चाहता था, किन्तु उसके समकालीन तथा परवर्ती विचारक इसके सर्वथा विपरीत राजनीतिशास्त्र को अन्य शास्त्रों से सर्वथा पृथक् करना चाहते थे। (ख) मांतेस्क्यू राजनीतिक सिद्धान्तों और सचाइयों को जानने के लिए ऐतिहासिक पद्धति पर और विभिन्न जातियों के रीति-रिवाजों के निरीक्षण पर बल देता था, विशेष घटनाओं के आधार पर सामान्य नियम बनाने की आगमनात्मक (Inductive) पद्धति का अनुयायी तथा अनुभूतिवादी (Empiricist) था। अन्य विचारक बुद्धिवादी होने के कारण पहले कुछ सर्वमान्य, सार्वभौम, सामान्य सिद्धान्तों की कल्पना कर लेते थे और पुनः इसके आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त

1. वही, पुस्तक 14, अध्याय 13.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 433.

बनाते हुए निगमनात्मक (Deductive) पद्धति का अनुसरण करते थे। उदाहरणार्थ, हॉब्स और लॉक ने बुद्धिवादी तर्कों द्वारा एक प्राकृतिक दशा (State of Nature) की तथा इसका अन्त करने वाले तथा राज्य को उत्पन्न करने वाले सामाजिक अनुबन्ध या संविदा (Social Contract) की कल्पना की। किन्तु मांतेस्क्यू राज्य को व्यक्तियों के समझौते का परिणाम नहीं समझता था, वह इसे परिस्थितियों का फल मानता था। प्रकृति के नियमों ने मनुष्यों को यह सिखाया कि समाज में शान्तिपूर्वक निवास करना उसके लिए हितकर और उपयोगी है, अतः उसने राज्य को बनाया। (ग) समकालीन विचारधारा से उसका तीसरा अन्तर गैटिल के शब्दों में यह है कि उसका उद्देश्य फ्रेंच राजतन्त्र का सुधार करना था, न कि वाल्तेयर और रूसो की भाँति उस पर प्रबल आक्षेप करना।[1] उसने न्याय, स्वतन्त्रता और राज्य की कार्यक्षमता के व्यावहारिक प्रश्नों पर अधिक विचार किया, जबकि उस समय के अन्य विचारक नागरिकों के अधिकारों पर तथा राजा के विशेषाधिकारों पर अधिक बल दे रहे थे। मांतेस्क्यू ने लॉक तथा अन्य विचारकों की भाँति मनुष्य के अधिकारों का अथवा प्रभुसत्ता का प्रतिपादन नहीं किया। वह फ्रेंच भावना और फ्रेंच राजतन्त्र को सुरक्षित बनाना चाहता था। उसने इसके लिए तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रखने के लिए शक्तिपार्थक्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। समकालीन विचारधारा से पृथक् होने के कारण उसके ग्रन्थ का तत्कालीन राजनीति पर वैसा गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा 'कानून की भावना' (Spirit of Laws) के प्रकाशन के 14 वर्ष बाद छपने वाले रूसो के **सामाजिक अनुबन्ध** (Social Contract) का पड़ा।

मांतेस्क्यू की देन और प्रभाव—राजनीतिशास्त्र के तीन क्षेत्रों में मांतेस्क्यू की विशेष देन है: (1) विषय-वस्तु की दृष्टि से डनिंग के मत में उसकी तुलना प्लेटो, अरस्तू, एक्विनास, बोदैं, सुआरेज़ और प्यूफेनडोर्फ से हो सकती है।[2] किन्तु इनमें से कोई भी पूर्ण रूप से उसके तुल्य नहीं है। प्लेटो तथा प्यूफेनडोर्फ द्वारा नैतिक सिद्धान्तों को दी गई प्रधानता मांतेस्क्यू को स्वीकार नहीं है, एक्विनास और सुआरेज़ की धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रमुखता से भी वह सहमत नहीं है। अरस्तू और बोदैं यद्यपि कुछ अंशों में उसके समकक्ष हैं, किन्तु उनका क्षेत्र राज्य के स्वरूप और उत्पत्ति के मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण करना है। मांतेस्क्यू उन सिद्धान्तों का अधिक वर्णन करता है, जो राज्य की समूची गतिविधियों और क्रियाकलापों का मूल प्रेरणा-स्रोत हैं तथा उनका स्वरूप निश्चित करते हैं।

(2) उसकी दूसरी देन राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति है। यद्यपि इसका प्रतिपादन उससे पहले अरस्तू, मेकियावेली तथा बोदैं ने किया था, किन्तु इसे पूर्णरूप से विकसित करने का तथा इसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत बनाने का श्रेय मांतेस्क्यू को ही है।

(3) उसकी तीसरी बड़ी देन स्वतन्त्रता का और शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त है। इसके साथ ही उसकी एक बड़ी देन यह विचार भी है कि प्रत्येक देश की एक

1. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 252.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 428.

सामान्य भावना(Esprit general) होती है, इसका निर्माण वहाँ की भौतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से होता है, देश के सभी कानून इस भावना के अनुकूल बनाए जाने चाहिएँ। यही उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कानून की भावना' का मूलसूत्र है।

मैक्सी ने मांतेस्क्यू के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि वह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में प्लेटो, अरस्तू, मेकियावेली और बोदें के समान विशिष्ट महत्त्व रखता है[1] वह यद्यपि 18वीं शती का फ्रेंच था, किन्तु उसके सिद्धान्त और अध्ययन-पद्धति सार्वभौम महत्त्व रखती है। यद्यपि उसका प्रभाव 18वीं शताब्दी पर बहुत अधिक नहीं पड़ा, किन्तु फिर भी उसने अमरीकी संविधान पर फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय बने विधान पर कुछ प्रभाव डाला। 1789 से 1848 ई० की सभी क्रान्तियों में नर्म, गर्म और प्रतिक्रियावादी पक्षों के नेता 'कानून की भावना' से प्रेरणा ग्रहण करते रहे। जहाँ एक ओर रूस की सम्राज्ञी कैथेराइन महान् (शासनकाल 1762-1796 ई०) और प्रशिया के राजा फ्रेडरिक महान् (शा० 1740-86 ई०) ने अपने निरंकुश शासन के लिए इससे पाथेय ग्रहण किया, वहाँ दूसरी ओर फ्रांस के क्रान्तिकारियों को भी इससे पथ-प्रदर्शन मिला।

अरस्तू से तुलना--मांतेस्क्यू अरस्तू के साथ गहरा सादृश्य रखता है। अरस्तू की पद्धति का अनुसरण करने से उसे **अठारहवी शताब्दी का अरस्तू** कहा जाता है। इन दोनों के प्रधान सादृश्य और समानताएँ निम्नलिखित हैं—(क) दोनों निरीक्षण (Observation) पर आधारित अनुभवमूलक (Empirical) पद्धति को अपनाने पर बल देते हैं। (ख) दोनों इस बात को मानते हैं कि भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा जलवायु शासन-पद्धति पर प्रभाव डालते हैं, किसी देश की सरकार का स्वरूप वहाँ की भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। (ग) दोनों शासन-पद्धतियों का वर्गीकरण कानून के आधार पर करते हैं। (घ) अरस्तू को अपने गुरु प्लेटो का आदर्शवाद पसन्द नहीं है, मांतेस्क्यू ने अपने समय के जनता की प्रभुसत्ता तथा प्राकृतिक अधिकारों आदि के काल्पनिक सिद्धान्तों का परित्याग किया। (ङ) अरस्तू ने शक्तिपार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त का संकेत मात्र किया था, मांतेस्क्यू ने इसका सुस्पष्ट एवं विशद प्रतिपादन किया। (च) दोनों राजतन्त्र को सर्वोत्तम शासन-प्रणाली समझते हैं। इन समानताओं के कारण मांतेस्क्यू **18वीं शती का अरस्तू** कहलाता है।

---

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 324.

सत्रहवाँ अध्याय

बर्क (1729-1796 ई०)

जीवनी तथा रचनाएँ—विलक्षण साहित्यिक प्रतिभाशाली, अद्‌भुत प्रभावशाली वक्ता, प्राचीन परम्पराओं और व्यवस्थाओं के लिए संरक्षणवादी (Conservative) और रूढ़िवादी होते हुए भी भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और हेस्टिंग्ज़ के कुशासन के विरुद्ध तथा अमरीकी उपनिवेशों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन करने वाले, अन्याय, अनाचार और अनीति के उग्र विरोधी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और विचारक एडमण्ड बर्क का जन्म 12 जनवरी, 1729 ई० को डबलिन में हुआ। यहाँ के ट्रिनिटी कालेज से 1748 ई० में स्नातक होने के बाद पिता ने वकालत की शिक्षा के लिए 1750 ई० में बर्क को लन्दन भेजा, किन्तु इसमें उसकी रुचि नहीं थी। वह साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। प्लासी के युद्ध वाले वर्ष—1756 ई० में उसके दो निबन्ध A Vindication of Natural Societyतथा Philosophical Inquiry into the Origin of our ideas on the Sublime and Beautiful छपे और उसने राजनीतिक तथा आर्थिक घटनाओं का संक्षिप्त वार्षिक विवरण देने वाले Annual Register नामक अब्दकोश का प्रकाशन आरम्भ किया। उस समय ऐसे प्रकाशन की तीव्र आवश्यकता थी, अतः इससे बर्क को आजीविका और साहित्यिक ख्याति की एकसाथ प्राप्ति हुई और वह तत्कालीन राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में आने लगा।

1759 ई० में आयर्लैंण्ड सम्बन्धी विषयों के मन्त्री विलियम जेरार्ड हेमिल्टन ने बर्क को अपने कार्यकर्तृ मण्डल का सदस्य बनाया, वह उसके साथ कई वर्ष डबलिन में रहा और यहाँ उसे क्रियात्मक राजनीति का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ और उसने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। 1765 ई० में बर्क प्रधानमन्त्री राकिंघम का निजी सचिव बना। यद्यपि वह इस पद पर एक ही वर्ष रहा, किन्तु इससे उसे अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ करने का सुअवसर मिला, मन्त्रिमण्डल की कृपा से वह पार्लियामेण्ट का सदस्य निर्वाचित हुआ। 27 जनवरी, 1766 को ब्रिटिश संसद् में अपने पहले भाषण में तथा 1794 ई० के अन्तिम विदाई भाषण तक वह तत्कालीन ह्विग (उदार) पार्टी का एक प्रसिद्ध नेता बना रहा। 1794 ई में अपने पुत्र की मृत्यु तथा अन्य घरेलू दुःखों के कारण उसने पार्लियामेण्ट छोड़ दी। अपने जीवन के शेष तीन वर्ष यद्यपि वह राजनीति से संन्यास ग्रहण करके शान्पूर्वक बिताना चाहता था, किन्तु

फ्रेंच राज्यक्रान्ति की घटनाओं से उत्पन्न विक्षोभ के कारण वह शान्त नहीं बैठ सका और मृत्यु-दिवस (8 जुलाई, 1796) पर्यन्त उसकी लेखनी इस क्रान्ति के विरुद्ध ओजस्वी रचनाओं के प्रणयन में संलग्न रही।

राजनीतिक विचारों की दृष्टि से बर्क के जीवन को दो भागों में बाँटा जा सकता है --(1) 1769 से 1789 ई० तक का बीस वर्ष का काल—इसमें बर्क ने ह्विग पार्टी की उदार सुधारवादी नीति का अनुसरण करते हुए भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के विषय में तथा अमरीकी उपनिवेशों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति में प्रबलसुधारों की माँग की। उसके इस समय के विचार प्रधान रूप से **वर्तमान असन्तोषों के कारणों पर विचार** (Thoughts on the causes of the Present Discontents) में मिलते हैं। (2) 1789 से 1797 ई० तक का काल—इस समय फ्रेंच राज्यक्रान्ति होने पर वह उसका रौद्र रूप देखकर क्रान्ति का कट्टर विरोधी हो गया। इस समय उसने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **फ्रेंच राज्यक्रान्ति पर विचार** (Reflection on the French Revolution) में पुरानी परम्पराओं और संस्थाओं के संरक्षण (Conservatism) का प्रबल समर्थन किया।

बर्क ने हॉब्स, रूसो या लॉक की भाँति राजनीतिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, कोरा दार्शनिक चिन्तन करना उसका स्वभाव नहीं था। उसने क्रियात्मक राजनीतिज्ञ की भाँति विभिन्न समयों पर उठने वाले राजनीतिक प्रश्नों की मीमांसा करते हुए इनमें व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों को और उच्च नैतिक आदर्शों को लागू किया। इस दृष्टि से वह ग्रेट ब्रिटेन का सबसे बड़ा तथा कुछ व्यक्तियों की सम्पत्ति में अरस्तू के बाद सबसे बड़ा राजनीतिक विचारक है।[1] उसका सारा जीवन महान् उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए संघर्ष करते हुए बीता। उसके विचार पार्लियामेण्ट में दिए गए उसके विभिन्न भाषणों में और अनेक लेखों और रचनाओं में बिखरे हुए मिलते हैं।[2] प्रमुख राजनीतिक प्रश्नों पर उसके मन्तव्य निम्नलिखित हैं।

प्रमुख विचार—(क) समाज और राज्य का स्वरूप—हॉब्स, लॉक और रूसो ने राज्य को एक सामाजिक संविदा या अनुबन्ध (Social Contract) का परिणाम माना था। बर्क इससे सहमत नहीं है। वह यद्यपि इसे संविदा कहता है, किन्तु इसका आशय उपर्युक्त लेखकों से सर्वथा भिन्न है। उसके शब्दों में, "समाज वस्तुतः संविदा है।...किन्तु राज्य को ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि यह काली मिर्च या कहवे के व्यापार के लिए बनाई गई साझेदारी (वाली कम्पनी) से अधिक कुछ भी नहीं है...यह केवल अस्थायी हित वाली वस्तु है और दोनों दलों की इच्छा से कभी भी समाप्त की जा सकती है। वस्तुतः यह (राज्य) समूचे ज्ञान, कला, प्रत्येक सद्गुण और पूर्णता की साझेदारी है।"[1] यह भूत, वर्तमान और भविष्यकाल की सभी पीढ़ियों का

---

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० 374.

2. बर्क की सब रचनाओं का संग्रह 12 खण्डों में Writings and Speeches of Edmund Burke (1901-6) में प्रकाशित हुआ है। इसके खण्ड 3 तथा 4 में विशेष रूप से राजनीतिक रचनाएँ संगृहीत हैं। अगले उद्धरण इसी पुस्तक के हैं।

3. बर्क के लेख और भाषण, खं० 3, पृ० 359.

समझौता है। राज्य का प्रादुर्भाव और विकास जीवशास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा शनैः-शनैः हुआ है। यह समझौते से बनने वाला कोई संगठन (Organisation) नहीं, किन्तु सजीव प्राणी के शरीर(Organism) के तुल्य है। इसकी भाँति समय बीतने के साथ इसमें परिवर्तन आते रहते हैं, पुरानी संस्थाएँ जीर्ण-शीर्ण होने पर नष्ट हो जाती हैं, इनका स्थान नई संस्थाएँ ग्रहण करती हैं। यह परिवर्तन स्वाभाविक रूप से होता है, किन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित कल्पनाओं द्वारा समाज के ढाँचे में सहसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। यह शनैः-शनैः ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए अतीत की पृष्ठभूमि के आधार पर किया जाना चाहिए। इस विषय में बर्क का दृष्टिकोण मांतेस्क्यू से मिलता है, वह उसकी ऐतिहासिक अध्ययन की पद्धति से सब सामाजिक संस्थाओं पर विचार करने का समर्थक है।

बर्क का यह मत था कि राज्य आदि राजनीतिक संस्थाओं का अभ्युदय भले ही शासितों की सहमति से हुआ हो, किन्तु राज्य की वर्तमान स्थिति में यह समझौता बिल्कुल निरर्थक है। समाज में जन्म लेते ही मनुष्य उसके अधीन हो जाते हैं। वे कभी उसकी सत्ता के वशवर्ती होने के लिए समझौता नहीं करते, उन्हें ऐसा करने की स्वतन्त्रता नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो अराजकता मच जाएगी। सदैव मनुष्य कुछ सामाजिक बन्धनों और ऋणों को लेकर ही पैदा होता है। रूसो का यह कथन सत्य नहीं है कि वह सर्वथा स्वतन्त्र रूप में जन्म लेता है। मनुष्य इन बन्धनों से वैसे ही कभी अपने को मुक्त नहीं कर सकता, जैसे माता-पिता के प्रति दायित्वों और कर्त्तव्यों से उसका आजीवन मुक्त होना सम्भव नहीं है।

(ख) मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights of Man)—लॉक ने यह मत रखा था कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं। रूसो तथा अन्य विचारकों ने भी समानता और स्वतन्त्रता को जन्मसिद्ध अधिकार माना। बर्क इससे सर्वथा असहमत था। वह बुद्धि या तर्क से परिकल्पित मानवीय अधिकारों की सत्ता नहीं मानता था, उसके मतानुसार व्यक्ति के केवल वे ही अधिकार माने जा सकते हैं, जो उसे समाज अपने नागरिक कानून (Civil Law)द्वारा प्रदान करे। यह कानून भगवान् के दैवी नियमों के अनुसार होना चाहिए। प्राकृतिक अधिकारों पर बल देना समाज मे अराजकता उत्पन्न करना है। ये दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही सत्य हों, किन्तु नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से मिथ्या हैं। प्राकृतिक अधिकारों को अराजकता का स्रष्टा होने तथा राष्ट्र के लिए घातक होने से वह इन्हें राष्ट्रीय अनुचित कार्य या अपकृत्य (National Wrongs) कहा करता था। स्वतन्त्रता के अधिकार के बारे में उसका यह मत था कि यह राज्य द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों के साथ होनी चाहिए। धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति होने के कारण वह यह मानता था कि सच्ची स्वतन्त्रता तो बुरी इच्छाओं और वासनाओं का दमन करने में है; यदि ऐसा न किया जाए तो मनुष्य इनका दास हो जाएगा, अपनी स्वतन्त्रता खो देगा। जमींदार ह्विग पार्टी का सदस्य होने के नाते वह समानता के अधिकार में विश्वास नहीं रखता था। उसने मानवीय अधिकारों के प्रबल समर्थक रूसो की सुप्रसिद्ध कृति **सामाजिक संविदा** की आलोचना करते हुए कहा था—"यह

मनुष्य के अधिकारों के बारे में चोकर, चिथड़े, कागज के छोटे और गन्दे टुकड़े मात्र है।" फ्रेंच राज्यक्रान्ति के मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र के सम्बन्ध में उसका कहना था कि यह एक प्रकार का अराजकता के नियमों का संग्रह और सारांश (a sort of institute and digest of anarchy) है।[1]

(ग) **फ्रेंच राज्यक्रान्ति के सिद्धान्त का खण्डन**—इस क्रान्ति की एक बड़ी देन व्यक्ति और राज्य के विभिन्न अधिकारों और कार्यों का प्रतिपादन करने वाले लिखित संविधान (Written Constitution) का विचार था। बर्क इसे सबसे बड़ी बेवकूफी समझता था।[2] उसका यह कहना था कि विधान बनाए नहीं जाते, किन्तु इनका स्वाभाविक परिस्थितियों में स्वतः विकास होता है, इसे बलपूर्वक किसी जनता पर कोई नया संविधान थोपकर बदला नहीं जा सकता है। राज्य के स्वाभाविक विकास के सिद्धान्त के प्रतिकूल होने से संविधान बनाने का विचार सर्वथा अस्वाभाविक और दोषपूर्ण है। राज्य मनुष्य-जाति के अनुभवों और अनुभूतियों का परिणाम है, इसे विशुद्ध तर्क पर आधारित सिद्धान्तों से नहीं बदला जा सकता है। प्रत्येक देश और राष्ट्र की कुछ अपनी निजी विशेषताएँ और परिस्थितियाँ होती हैं। इनमें उसकी विशिष्ट सामाजिक तथा राजकीय संस्थाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं का निर्माण होता है तथा राष्ट्रीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है। इसकी उपेक्षा करते हुए बौद्धिक सिद्धान्तों के आधार पर कोई नया संविधान नहीं बनाया जा सकता। यदि ऐसा कोई प्रयत्न किया जाएगा तो वह विफल होगा; उसने यह भविष्यवाणी की थी कि फ्रांस में लोकतन्त्र जबर्दस्ती स्थापित करने का परिणाम वहाँ तानाशाही शासन होगा।

(घ) **बर्क का सुधार विषयक दृष्टिकोण : उदारवाद और अनुदारवाद का सम्मिश्रण**—(i) **उदारवाद**—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बर्क राजनीतिक विचारों में संरक्षणवादी (Conservative) और अनुदार होते हुए भी उदारवाद (Liberalism) का पोषक था। ह्विग पार्टी का सदस्य होने के नाते उसमें उदारवादी दृष्टिकोण का होना सर्वथा स्वाभाविक था। अतः उसने अपनी पार्टी के साथ टोरी (अनुदार) पार्टी के समर्थक जार्ज तृतीय का विरोध किया, भारत और अमरीका के प्रति टोरी सरकार की उपनिवेशवादी, अन्यायपूर्ण नीति का प्रबल प्रतिवाद करते हुए अपने उदारवाद का परिचय दिया; भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुशासन का भण्डाफोड़ किया, वारेन हेस्टिंग्ज़ द्वारा भारत में किए गए अनीतिपूर्ण कुकृत्यों के लिए पार्लियामेण्ट में सात वर्ष तक चलने वाले मुकद्दमे में उस पर इस दृष्टि से आरोप लगाने में प्रधान भाग लिया कि भारत के ब्रिटिश शासन में पुनः ऐसे अन्याय न हों। उसके उपनिवेशों के प्रशासन तथा पराधीन जातियों के साथ उदार व्यवहार के विचार गैटिल के शब्दों में उसके समय से आधी शताब्दी आगे के हैं।[3]

(ii) **अनुदारवाद**—उपर्युक्त विषयों में उदारवाद और सुधारों का प्रबल पक्षपाती होते हुए भी बर्क व्यवस्था और सुशासन का परम भक्त था, अतः सब सुधारों को शनैः-शनैः पुरानी व्यवस्थाओं और संस्थाओं को सुरक्षित और अक्षुण्ण रखते हुए

1. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 178.
2. डनिंग—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 378.
3. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 307.

करना चाहता था। वह 1789 की फ्रेंच राज्यक्रान्ति जैसी आमूलचूल परिवर्तन करने वाली क्रान्तियों का घोर विरोधी था। इस दृष्टि से वह घोर संरक्षणवादी तथा अनुदार (Conservative) था। उसके सुधार का दृष्टिकोण इन शब्दों से स्पष्ट है—"राजनीतिज्ञ के विषय में मेरा मानदण्ड यह है कि उसमें दो बातें एकसाथ होनी चाहिएँ—(पुरानी व्यवस्थाओं को) संरक्षण करने की प्रवृत्ति तथा सुधार करने की योग्यता।" यदि मैं न्याय (Equity) पूर्वक सुधार नहीं कर सकता तो मैं सुधार को बिल्कुल नहीं करूँगा (If I cannot reform with equity, I will not reform at all)।[1] वह अपने सब सुधार पुरानी परम्पराओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर करना चाहता था। अतः वह प्राचीन परम्परा की उपेक्षा करने वाले क्रान्तिकारी नवीन सुधारों का उग्र विरोधी था। अतः हर्नशा ने उसके सम्बन्ध में यह सत्य ही लिखा है कि "वह सदैव सुधारक था, किन्तु क्रान्तिकारी कभी नहीं था; वह सदैव संरक्षणवादी था, किन्तु (सभी सुधारों का अन्ध विरोध करने वाला) टोरी नहीं था।"[2] उसका संरक्षणवाद (Conservatism) निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

वह यह अनुभव करता था कि जार्ज तृतीय द्वारा पार्लियामेण्ट को अपने वश में रखने की व्यवस्था में गम्भीर दोष हैं, किन्तु वह उसमें आमूलचूल परिवर्तन का विरोधी था। जब उसे कुछ व्यक्तियों ने यह सलाह दी कि पार्लियामेण्ट की दोनों सभाओं का संगठन बिल्कुल बदल दिया जाए तो उसने उन्हें चेतावनी देते हुए कहा—"मैंने एक राज्य के संरक्षण और सुधार के दोनों कार्य करने हैं। मुझे जनता को सन्तुष्ट करना है, किन्तु उसे भड़काना या उसका गलत पथप्रदर्शन नहीं करना है।"[3] अतः उसने ब्रिटिश संविधान में मौलिक परिवर्तन करने वाले ऐसे सभी प्रस्तावों का विरोध किया, जिनमें मताधिकार को व्यापक बनाने, ग्रामीण क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने, उजड़ी बस्तियों (Rotten Boroughs) से पार्लियामेण्ट में दो प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था को समाप्त करने पर बल दिया गया था। पार्लियामेण्ट में एक वक्तृता देते हुए उसने कहा था—"न तो इस समय और न किसी अन्य समय में यह बात दूरदर्शितापूर्ण होगी कि हम अपने संविधान के मौलिक सिद्धान्तों और प्राचीनकाल से सुपरीक्षित परम्पराओं में कोई हस्तक्षेप करें। हमारे प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लगभग उतनी ही पूर्ण है, जितनी मानवीय मामलों में आवश्यक अपूर्णता के साथ·· सम्भव है।"[4] किन्तु मौलिक सुधारों का विरोधी होते हुए भी वह टोरी दल का यह दृष्टिकोण नहीं स्वीकार करता था कि पार्लियामेण्ट में प्रतिनिधित्व का सम्पूर्ण अन्तिम अधिकार केवल भूमि पर स्वामित्व रखने वाले ज़मींदारों को ही है, राजा को शासन का दैवी अधिकार है। उसने एक बार कहा था कि "कामन्स सभा का गुण, आत्मा और तत्त्व इस बात में है कि यह राष्ट्र की भावनाओं का मूर्त्त रूप है।" वह यह समझता था कि ब्रिटिश संविधान स्वाभाविक विकास का परिणाम होने से सभी लिखित संविधानों से श्रेष्ठ है, उसमें विभिन्न प्रकार

---

1. मर्रे—दि हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइन्स फ्रॉम प्लेटो टू दी प्रेज़ेण्ट, पृ० 295.
2. हर्नशा—दि गोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज़ ऑफ दी रिवोल्यूशनरी ईरा, पृ० 97.
3. मर्रे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 295.
4. वही, पृ० 296.

के हितों का प्रतिनिधित्व है, सत्ता और स्वतन्त्रता का समन्वय है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

बर्क का अनुदारवाद इससे भी स्पष्ट है कि वह लोकतन्त्र का विरोधी था। लोकतन्त्र के दोषों को उससे पहले किसी अन्य विचारक ने इतने प्रभावशाली शब्दों में प्रतिपादित नहीं किया था। लोकतन्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) है। उसने इसका खण्डन करते हुए कहा कि सर्वोच्च प्रभुसत्ता रखने वाली जनता तो सब प्रकार के प्रतिनिधियों और मर्यादाओं से रहित भयावह निरंकुश शक्ति है। यह राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से कभी कोई गलती नहीं कर सकती। इनके कार्यों के लिए सभी उत्तरदायी हैं, इसका अर्थ यह है कि इनके लिए किसी भी विशेष व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। साधारण जनता राजा या कुलीन वर्ग की भाँति भयंकर अत्याचार और मूर्खताएँ कर सकती है, किन्तु इनके विरुद्ध कहीं कोई सुनवाई न होने से अत्याचार बड़े भयावह हो जाते हैं। बर्क जनसाधारण को मूढ़ मानते हुए योग्य कुलीन ज़मींदारों द्वारा ऐसे शासन का पक्षपाती था जिसमें सब व्यक्तियों के साम्पत्तिक अधिकार सुरक्षित रहें। मनुष्यों को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, किन्तु वह राज्य के सुशासन और व्यवस्था के अनुरूप होनी चाहिए। कोरे तर्क और विशुद्ध कल्पना के आधार पर बनाए गए मौलिक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए अथवा दूसरे देशों के अनुकरण पर कोई भी सुधार करने का बर्क प्रवल विरोधी है। उसके मत में मौलिक सुधार करने वाला राज्य विनाश के पथ पर अग्रसर होता है। पुरानी इमारत में यदि कुछ परिवर्तन अपेक्षित हों तो उसे पूरी तरह गिराकर नई इमारत बनाने के स्थान पर उसमें ही उसके स्वरूप के अनुसार सुधार, संशोधन और परिवर्धन करना अधिक अच्छा है।[1] मेकन्न के मतानुसार बर्क का संरक्षणवाद या अनुदारवाद (Conservatism) दो सिद्धान्तों पर आधारित है : पहला तो यह कि मानव-समाज और राज्य की पुनर्रचना किसी एक व्यक्ति या पीढ़ी का काम नहीं है और दूसरा सिद्धान्त यह है कि ऐसे प्रयत्न किए ही नहीं जाने चाहिएँ।[2] बर्क को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम अनुदारवाद के सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना की। अतः आइवर ब्राउन ने यह सत्य ही लिखा है कि बर्क ने अनुदारवादी दर्शन को संसार के सामने इतनी पूर्णता और योग्यता के साथ रखा कि ऐसा पहले कभी नहीं किया गया था। अतः उसे **आधुनिक अनुदारवाद का संस्थापक या जनक** (Father of Modern Conservatism) कहा जाता है।[3]

बर्क की देन (Contribution)—राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में बर्क की सबसे बड़ी देन विद्यमान संस्थाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर तथा उनके क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए सुधार योजनाओं को क्रियान्वित करना था। हर्नशा ने उसकी देन या अनुदान को पाँच भागों में बाँटा है[4] : **पहली** देन अमूर्त्त दार्शनिक राजनीतिक चिन्तन की तथा राज्य-सम्बन्धी क्रियात्मक मामलों के आध्यात्मिक विवेचन

1. मर्रे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 297.
2. जॉन मेकन्न—दि पोलिटिकल फिलासफी ऑफ बर्क, पृ० 58.
3. आइवर ब्राउन—इंगलिश पोलिटिकल थियोरी, पृ० 70.
4. हर्नशा—दि सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज़ ऑफ दी रिवोल्यूशनरी ईरा, पृ० 89.

की निन्दा है। वह यह मानता था कि राजनीतिक समस्याओं पर विशुद्ध व्यावहारिक और क्रियात्मक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। हॉब्स, लॉक, रूसो आदि ने उसका जो बौद्धिक और वास्तविकता से परे हटा हुआ चिन्तन किया था, वह उसका घोर विरोधी था। इस विषय में डनिंग ने सत्य ही लिखा है कि "बर्क की भावना एकान्त कुटिया (Closet) में चिन्तन करने वाले दार्शनिक की नहीं, किन्तु राजनीतिज्ञ की थी।"[1] उसके विचार में राज्य एक ठोस व्यावहारिक तथ्य था, न कि सूक्ष्म विचार के आधार पर बनाई जाने वाली धारणा। राजनीति में सूक्ष्म, चरमचिन्तनीय विचारों के आधार पर युक्ति करना वह तर्क, बुद्धि और विवेक के सर्वथा विरुद्ध समझता था। उसकी **दूसरी** देन अनुभूतिवाद (Empiricism) की है। वह मानव-जाति के अतीत अनुभव को तथा इसे मूर्त्तरूप देने वाली राजनीतिक संस्थाओं को बहुत महत्त्व देता था, उसका यह कहना था कि राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्धारण करने के लिए इन्हें आधार एवं मूल स्रोत समझना चाहिए। "इस दृष्टि से बर्क राजनीतिशास्त्र के ऐतिहासिक सम्प्रदाय का निर्माण करने वाले महत्त्वपूर्ण विचारकों में है। इसीलिए वह मांतेस्क्यू का परम भक्त है और रूसो पर बड़े कटु एवं प्रबल आक्षेप करता है।"[2] उसकी **तीसरी** देन प्रशासन सम्बन्धी मामलों के इतिहास तथा पुराने अनुभव को अपना पथप्रदर्शक मानना है। **चौथी** देन कोरी युक्तियों को नहीं, किन्तु उपयोगिता (Expediency) के सिद्धान्त को महत्त्व देना है। मनुष्यों के अधिकारों की समानता के कोरे बुद्धिवादी तर्क और युक्तियाँ समाज में सुधार का आधार नहीं होनी चाहिए। किन्तु जब सामाजिक व्यवस्था में ऐसे गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाएँ कि उनका निराकरण समाज और राज्य की व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक, उपयोगी और नितान्त वांछनीय हो, तभी ये सुधार किए जाने चाहिएँ। **पांचवीं** देन मध्यम मार्ग और संयम (Moderation) की है। सुधार करते हुए कट्टरता की और उदारता की दोनों अतियों (Extremes) से बचते हुए मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

बर्क के दोष—किन्तु मध्यममार्गी होते हुए भी बर्क का अधिक झुकाव कट्टरता और अनुदारवाद की ओर है। गैटिल के शब्दों में उसकी प्रवृत्ति वर्तमान पद्धति को पूज्य समझने तथा प्रगति में सहायता देने वाले विचारों का महत्त्व कम करने की है।[3] उसने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश संविधान की जिन संस्थाओं की वह प्रशंसा कर रहा है, वे दकियानूसी, प्रतिगामी और पुरानी पड़ गई हैं, उनका महत्त्व कम हो गया है। उसका दृष्टिकोण इस बात में निहित है—"हम भगवान् से भय खाते हैं, राजा को श्रद्धा से, पार्लियामेण्ट को प्रेम से, मजिस्ट्रेटों को कर्त्तव्य की भावना से, पुरोहितों को भक्तिभाव से तथा कुलीन वर्ग को आदर की भावना से देखते हैं।" वह फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद यूरोप में उत्पन्न होने वाले अनुदारवाद और प्रतिक्रियावाद का सर्वोत्तम व्याख्याता और प्रतीक है।

---

1. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज फ्राम रूसो टू स्पेन्सर, पृ० 183.
2. बर्क—वर्क्स, खं० 2, पृ० 459; खं० 4, पृ० 25, 211.
3. गैटिल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 308.

अठारहवाँ अध्याय

उपयोगितावादी विचारधारा के जन्मदाता जेरेमी बेन्थम

उपयोगितावाद का सामान्य परिचय—19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इंगलैण्ड की सबसे बड़ी देन उपयोगितावाद का सिद्धान्त था। इसने उस समय की राजनीति पर अत्यधिक प्रभाव डाला। इसका विशद एवं प्रबल प्रतिपादन जेरेमी बेन्थम (1748-1832 ई०) ने किया, किन्तु इस विचारधारा की परम्परा बेन्थम से बहुत पुरानी थी। जॉन लॉक (1632-1704) और डेविड ह्यूम (1711-1776 ई०) ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में इसके मौलिक सिद्धान्तों का विकास किया था। रिचर्ड कम्बरलैण्ड (1632-1719) ने अपने लेखों में सामान्य कल्याण को उच्चतम भलाई मानने का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए इस विचारधारा को स्वीकार किया था। फ्रांसिस हचेसन (1694-1747) ने 1755 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **नैतिक दर्शन की पद्धति** (System of Moral Philosophy) में उपयोगितावादियों के मूल मन्त्र 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' (The greatest happiness of the greatest number) के सुप्रसिद्ध वाक्य का पहली बार प्रयोग किया था। बेन्थम का यह कहना था कि उसने फ्रेंच दार्शनिक हैल्वेटियस (1715-1771) से यह सिद्धान्त सीखा था कि राज्य को 'अधिकतम संख्या के अधिकतम हित' को सम्पन्न कराने तथा बढ़ाने का कार्य करना चाहिए। प्रीस्टले के एक निबन्ध से बेन्थम को इस विषय में पहली प्रेरणा मिली। किन्तु इस पुराने सिद्धान्त को शास्त्रीय एवं व्यवस्थित रूप देने का तथा राजनीति के क्षेत्र में इसे लागू करने की पद्धति का विस्तृत प्रतिपादन करने का तथा लोकप्रिय एवं शक्तिशाली विचारधारा बनाने का श्रेय बेन्थम को ही है, अतः इसे कई बार बेन्थम के नाम से बेन्थमवाद भी कहा जाता है।

उपयोगितावाद के आधारभूत सिद्धान्त बड़े सरल और स्पष्ट हैं। इसका मौलिक मन्तव्य है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति आनन्द अथवा सुख प्राप्त करने की है। वह सदैव सुख पाने का तथा दुःख से बचने का प्रयत्न करता है। सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण मनुष्य की समूची चेष्टाओं का मूल कारण है। सुख-दुःख का मापदण्ड उपयोगिता है। सुख देने वाली वस्तु उपयोगी है, दुःख देने वाली वस्तु अनुपयोगी है। मनुष्य वही कार्य करता है, जिससे उसे सुख प्राप्ति की सम्भावना हो अर्थात् वह वस्तु उपयोगी हो। वह दुःख देने वाला या अनुपयोगी कार्य नहीं करता है। मनुष्य के सब

भौतिक कार्य उपयोगिता अर्थात् सुख या दुःख देने की सम्भावना से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार उपयोगितावाद मानवीय अनुभव के आधार पर प्रतिष्ठित होने के कारण एक क्रियात्मक सिद्धान्त था। वह व्यावहारिक अनुभव पर बल देता था और कोरे तर्क एवं कल्पना के आधार पर बनाए जाने वाले नैतिक सिद्धान्तों का उग्र विरोधी था। वह निरीक्षण और परीक्षण की वैज्ञानिक पद्धतियों से पुष्ट होने वाले भौतिक तथ्यों को ही स्वीकार करता था।

अतः अपनी निराली, अनुभववादी भौतिक पद्धति के कारण उपयोगितावाद एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। यह किसी भी वस्तु को इसलिए स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि वह अत्यन्त पुराने जमाने से चली आ रही है, प्राचीन परम्पराओं के कारण समाज में प्रतिष्ठित और पूजित है। इसके अनुसार किसी भी वस्तु को ग्रहण करने की एकमात्र कसौटी उपयोगितावाद—अर्थात् सुख या दुःख देने की मात्रा थी। अनुभववाद पर आश्रित होने से ही यह काल्पनिक तर्कों से पुष्ट किए जाने वाले प्राकृतिक अधिकारों के तथा रूसो के सामाजिक अनुबन्ध या संविदा (Social Contract) के सिद्धान्त को अस्वीकार करता था। यह राज्य को ऐसे अनुबन्ध से बनने वाला कृत्रिम संगठन नहीं समझता था, जिसका उद्देश्य इसके नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना हो। राज्य की सत्ता इसलिए थी कि यह कई कारणों से आवश्यक था। इसका प्रधान उद्देश्य सामान्य हित एवं जन-कल्याण को बढ़ाना था। यदि इसके कानून इस प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकते तो इन्हें बदल देना चाहिए। उपयोगितावादियों ने अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की दृष्टि से इंगलैण्ड की तत्कालीन शासन-व्यवस्था में कई उग्र-सुधारों का समर्थन किया। दार्शनिक आधार पर इनका समर्थन करने के कारण उपयोगितावाद को **दार्शनिक उग्र सुधारवाद** (Philosophical Radicalism) भी कहा जाता है।

उपयोगितावाद का संस्थापक जेरेमी बेन्थम (1748-1832 ई०)

बेन्थम की जीवनी—उपयोगितावाद के जनक जेरेमी बेन्थम का जन्म 1748 में एक सम्पन्न वकील घराने में हुआ। वह बचपन से असाधारण प्रतिभाशाली था। तीन वर्ष की आयु में इसने लैटिन और चार वर्ष की आयु में फ्रेंच पढ़ी, तेरह वर्ष की आयु में मैट्रिक की तथा पन्द्रह वर्ष की आयु में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास की। हमें यह पता नहीं कि आक्सफोर्ड में बेन्थम के शिक्षक उसे क्या समझते थे, किन्तु वह अपनी असाधारण योग्यता के कारण अपने गुरुओं को अयोग्य तथा साथियों को मूर्ख समझता था। उसे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता तथा विद्याध्ययन की अपेक्षा मधुपान और घुड़सवारी पर बल देने वाला वातावरण बिलकुल पसन्द नहीं आया।[1] बाद में उसने अपने कटु अनुभव

1. बेन्थम 1760 में ऑक्सफोर्ड के क्वींस कालेज में उस समय तक भर्ती होने वाले विद्यार्थियों में सबसे कम आयु का था। उन दिनों वहां विद्यार्थी खेलने के लिए आया करते थे, पढ़ने के लिए नहीं। परीक्षाएँ ढोंग थीं, उपाधियां वहां रहने से ही मिल जाती थीं। परीक्षक विद्यार्थियों से शराबों और घोड़ों के बारे में ही अधिक सवाल पूछते थे। (मैरी पी० मैक—जैरेमी बेन्थम, हीनमान क०, 1962, प्रथम खण्ड, पृ० 43-44).

के आधार पर आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों से निराश होकर नवीन ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन पर बल देने वाले, पुरानी परम्पराओं और धार्मिक बन्धनों से उन्मुक्त वातावरण प्रस्तुत करने वाले **लन्दन विश्वविद्यालय** की स्थापना में बड़ा भाग लिया। बेन्थम ने यद्यपि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से बहुत-कुछ नहीं सीखा, किन्तु वहाँ की पुस्तकों की दुकानों से उसे बहुत-कुछ मिला। एक बार 1768 में जब वह यहाँ विश्वविद्यालय के संसदीय चुनाव में मत देने के लिए आया तो उसे किताबों की एक दुकान में प्रीस्टले की एक पुस्तिका **'शासन पर निबन्ध'** (Essay on Government) मिली, इसके पन्ने पलटते हुए उसे एक पृष्ठ पर हचेसन की पुस्तक से लिया गया 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख'(The greatest happiness of the greatest number) का वाक्यांश मिला। बेन्थम ने लिखा है कि "इस पुस्तिका से तथा इस पृष्ठ से मैंने इस वाक्यांश को ग्रहण किया।...इसे देखते ही आन्तरिक आनन्द से मैं वैसे ही चिल्ला पड़ा, जैसे द्रवस्थितिविज्ञान (Hydrostatistics) के मौलिक सिद्धान्तों का पता लगाने पर आर्शीमीडीस 'योरेका' (मैंने पा लिया) कहते हुए चिल्लाया था।"[1]

बेन्थम का पिता अपने असाधारण प्रतिभाशाली पुत्र को वकालत पढ़ाकर उसे इंगलैण्ड के प्रधान न्यायाधीश पद पर देखने के सपने ले रहा था। उसने 1766 में उसे **लिंकन्स इन** में वकालत पढ़ने के लिए भेजा। किसी पुराने जमाने में यहाँ पढ़ाई होती थी, किन्तु उस समय यह दावतें खाने और निवास करने का क्लब मात्र था।[2] एक विद्यार्थी को तीन वर्ष के पाठ्यक्रम में पाँच भोजों में सम्मिलित होना पड़ता था और प्रत्येक सत्र में एक निबन्ध पढ़ना होता था, शेष समय के लिए उसे पूरी छुट्टी थी। बेन्थम ने इस समय का सदुपयोग कानून-सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन में लगाया और वह किंग्स बैंच के प्रधान न्यायाधीश लार्ड मैन्सफील्ड के न्यायालय में कानून का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाया करता था। यहाँ उसे कानून की वास्तविक स्थिति का, उसकी अपूर्णताओं, अनिश्चितताओं, त्रुटियों और दोषों का प्रत्यक्ष अनुभव और अद्भुत ज्ञान हुआ। वह कानून की अव्यवस्था, बेहूदापन और अनावश्यक जटिलता को देखकर चकित हो गया, यह ऊपर से कुछ था और भीतर से कुछ और। इसे जैसा कहा जाता था तथा जैसा होना चाहिए था, यह वैसा नहीं था। उस समय का कानून बड़ा क्रूर और पाशविक था।[3] 1800 ई० में 220 से 230 अपराधों के लिए प्राण-दण्ड की व्यवस्था थी, 40 शिलिंग से अधिक मूल्य की वस्तुओं की चोरी के लिए प्राण-दण्ड दिया जाता था। कानून तोड़ने वाले दण्ड पाने से बच जाते थे और निरपराध दण्ड पाते थे। इसमें झूठ, धोखे और प्रवंचना का साम्राज्य था। बेन्थम को कानून के दोषों का जितना अधिक ज्ञान हुआ, वह उतनी ही अधिक दृढ़ता से इनके सुधार के लिए संकल्प करने लगा। वकालत करने के स्थान पर, उसने अपने जीवन का ध्येय कानूनी पद्धति का संशोधन करना बना लिया। 1832 में मृत्युपर्यन्त वह इसी कार्य में लगा रहा।

---

1. मैरी पी० मैक—जेरेमी बेन्थम, प्रथम खण्ड, पृ० 103.
2. वही, पृ० 60.
3. वही, पृ० 72.

बेन्थम के प्रमुख सिद्धान्त—(1) उपयोगितावाद—यह उसकी समूची विचार-धारा और चिन्तन का मूलमन्त्र और आधारशिला है। उसके शब्दों में "उपयोगिता एक अमूर्त संज्ञा है। इसका अभिप्राय किसी विशेष वस्तु के उस गुण या प्रवृत्ति से है, जो किसी बुराई का निवारण करती है और कोई भलाई हमें प्रदान करती है। बुराई का अर्थ दुःख अथवा दुःख का कारण है। भलाई का अर्थ आनन्द अथवा आनन्द का कारण है।''''''क्योंकि प्रकृति ने मनुष्य को आनन्द और पीड़ा नामक दो सर्वोच्च प्रभुओं के शासन में रखा है। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। अतः उपयोगिता के सिद्धान्त का अर्थ आनन्दों और कष्टों के तुलनात्मक अनुमान की गणना करना या हिसाब लगाना है। कानून बनाने वाले का उद्देश्य जनता को आनन्द देना है। विधान निर्माण में उसका मार्गदर्शक सिद्धान्त सामान्य उपयोगिता अर्थात् अधिकतम संख्या का अधिकतम हित होना चाहिए।"[1]

बेन्थम के मत में जो वस्तु हमें सुख की अनुभूति देती है, वह अच्छी है, ठीक है और उपयोगी है। "उपयोगिता के सिद्धान्त का अनुयायी भलाई को केवल इसलिए अच्छा समझता है कि उसके आचरण से आनन्द की प्राप्ति होती है, बुराई इसलिए बुरी है कि इस पर आचरण करने से दुःख मिलता है।"

इस प्रकार उपयोगिता का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धान्त है। किन्तु सुख और दुःख का क्या स्वरूप है? इसका निर्धारण कैसे किया जाए? इस विषय में बेन्थम ने विशद वैज्ञानिक विवेचन किया है। उसके मत में सादे या सरल सुख निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के हैं—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले सुख, सम्पत्ति, दक्षता, मित्रता, उत्तम चरित्र अथवा कीर्ति, शक्ति, पवित्रता (Piety), परोपकार या सत्कामना, अपरोपकार या असत्कामना (Malevolence), बुद्धि, स्मृति, कल्पना, आशा, सत्संग और दुःख मुक्ति (relief) से प्राप्त होने वाले सुख। सारे दुःख केवल 11 प्रकार के हैं—पीड़ा (Privation), इन्द्रियों से होने वाले दुःख, गंवारपन या फूहड़पन (awkwardness), शत्रुता, बदनामी, पवित्रता (piety); सत्कामना, असत्कामना; स्मृति, कल्पना और आशा।

उपर्युक्त सारे सुखों और दुःखों के सम्मिश्रण से नाना प्रकार के जटिल (complex) सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं।

बेन्थम के मतानुसार मनुष्यों के मनों में सब सुख-दुःख कुछ उत्तेजनक कारणों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में सुख-दुःख के विभिन्न कारणों से पैदा होने वाले सुख-दुःख की मात्रा ग्रहण करने की या अनुभव करने की सामर्थ्य (Sensibility) विभिन्न प्रकार की होती है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह द्वारा अनुभव की जाने वाली सुख-दुःख की मात्रा इनके ग्रहण या अनुभव करने की सामर्थ्य को निश्चित करने वाले तत्त्वों पर निर्भर है, इन्हें सुख-दुःख की मात्रा की गणना करते हुए ध्यान में रखना चाहिए। ये 32 तत्त्व हैं, इनमें उल्लेखनीय तत्त्व ये हैं—स्वास्थ्य, शक्ति, कठोरता, शारीरिक दोष या कमियाँ, ज्ञान की मात्रा और स्वरूप, बौद्धिक शक्तियों की प्रखरता, मन की दृढ़ता और निश्चलता, मनोवृत्ति, नैतिक अनुभव ग्रहण करने

1. Theory of Legislation (Oxford University Prees), पृ॰ 1-5.

की शक्ति, नैतिक पक्षपात, धार्मिक पक्षपात, आर्थिक अवस्था, लिंग, सामाजिक पद, शिक्षा, जलवायु, वंशपरम्परा और शासन।

उपयोगिता का निर्धारण करने में बेन्थम सुखों की मात्रा पर बल देता है। यदि एक कार्य से सुख की अधिक मात्रा उत्पन्न होती है तो वह अधिक अच्छा सुख है; किन्तु इन सुखों की मात्रा कैसे नापी जाए। सुख-दुःख विशुद्ध रूप से मानसिक अनुभूतियाँ हैं, इन्हें इंचों, फीटों अथवा सेण्टीमीटरों में नहीं नापा जा सकता, न ही सुख की मात्रा को मन, सेर, छटाँक या किलोग्रामों में तोला जा सकता है। इनकी मात्रा का निर्धारण करने के लिए बेन्थम ने एक निराली पद्धति सुझायी है। इस पद्धति में सुखों और दुःखों को तुलनात्मक रीति से कुछ कसौटियों पर कसा जाता है, इस प्रकार सुख और दुःख का मूल्य नापा जाता है। इस प्रकार सुख-दुःख नापने की गणना पद्धति को **आनन्दमापक गणना पद्धति** (Felicific Calculus) कहा जाता है। एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले सुख-दुःख के मूल्य की मापक या निर्धारक कसौटियाँ निम्नलिखित हैं – प्रगाढ़ता, अवधि, निश्चितता, सामीप्य, उत्पादकता (एक आनन्द द्वारा अपने जैसा दूसरा आनन्द उत्पन्न करना), विशुद्धता (आनन्द का विशुद्ध आनन्द ही उत्पन्न करना, दुःख को न उत्पन्न करना, जैसे रसगुल्ले अधिक मात्रा में खाने से रसना का आनन्द पेट की पीड़ा के कष्ट को उत्पन्न करता है), मात्रा या संख्या अर्थात् एक आनन्द कितने मनुष्यों को सुखी बना सकता है। बेन्थम के कथनानुसार एक कानून बनाने वाले का यह कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त गणना पद्धति से किसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले सुखों और दुःखों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें दो पलड़ों में तोले, एक ओर सुखों के और दूसरी ओर दुःखों के मूल्य रखे जाएँ, इनमें से यदि सुखों वाला पलड़ा भारी हो तो वह प्रवृत्ति उत्तम अथवा उपयोगी है, यदि दुःखों वाला पलड़ा भारी हो तो यह प्रवृत्ति बुरी अथवा निरुपयोगी है। किसी नियम के पालन के साथ सम्बद्ध सुख-दुःख उसे पालन करवाता है और इसका मूल स्रोत इसकी अनुज्ञप्ति (Sanction) या पालन करने वाली शक्ति होती है। ये अनुज्ञप्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—भौतिक, नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक। भौतिक अनुज्ञप्ति में वे सुख या दुःख आते हैं, जो प्रकृति से प्राप्त होते हैं, इनमें कोई मानवीय हस्तक्षेप नहीं होता है। नैतिक अनुज्ञप्ति में घृणा या प्रेम की भावनाओं से अनुप्राणित होने वाले, पड़ोसियों से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख हैं। इसे लोकमत की अनुज्ञप्ति भी कहा जाता है। तीसरी राजकीय अनुज्ञप्ति मैजिस्ट्रेट आदि सरकारी कर्मचारियों से कानून के अनुसार दिए जाने वाले दण्ड हैं। इससे कानूनी अनुज्ञप्ति (Legal Sanction) भी कहा जाता है। चौथी धार्मिक अनुज्ञप्ति धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं के अनुसार मिलने वाले सुख-दुःख हैं। बेन्थम ने इन चारों को मकान के उदाहरण से समझाया है। यदि यह मकान मनुष्य की अपनी असावधानी और अदूरदर्शिता से जलता है तो यह प्रकृति के प्रकोप का परिणाम है। यदि यह आग लगने के समय सहायता न देने वाले पड़ोसियों की दुर्भावना से भस्म हुआ है तो यह लोकमत से प्राप्त होने वाला दुःख या दण्ड है। यदि यह मकान मैजिस्ट्रेट की आज्ञा से जलाया गया है तो यह राजनीतिक स्रोत से मिलने वाला दण्ड है। यदि इसका अन्त किसी देवता के रोष का परिणाम माना जाता है तो यह धार्मिक स्रोत से मिलने वाला दुःख है।

बेन्थम का विश्वास था कि उपयोगिता का सिद्धान्त स्वतःसिद्ध है, इसे अन्य प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, इस दुनिया में नैतिक भावना या अन्तःकरण नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण का अर्थ यही है कि हम किसी वस्तु को पसन्द या नापसन्द करते हैं। यह हम सुख या दुःख के आधार पर करते हैं, अतः अन्तःकरण को मानने की आवश्यकता नहीं है। सत्-असत्, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय सब उपयोगिता पर आधारित हैं, ये कोई स्वतन्त्र वस्तुएँ नहीं हैं। सत्-असत् को भगवान् की इच्छा या व्यवस्था स्वीकार करने वालों के लिए बेन्थम का यह उत्तर था कि भगवान् हमें अपनी वाणी द्वारा यह नहीं बताता कि उसे क्या वस्तु आनन्द देती है। जिस वस्तु को हम अपने-आपको सुख देने वाला समझते हैं, उसे भगवान् की इच्छा बता देते हैं। इसके साथ बेन्थम इरादे या अभिप्राय (motive) को स्वीकार नहीं करता था। सुख और दुःख अपने-आपमें उद्देश्य हैं, इनके होते हुए अच्छे और बुरे इरादों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार बेन्थम ने सत्-असत्, धर्म-अधर्म की परीक्षा के लिए नैतिकता की सभी पद्धतियों को, ईश्वर की इच्छा को और धर्मशास्त्र को तिलांजलि दे दी; वह नैतिक बुद्धि या कानून के किसी नियम को स्वीकार करने को तत्पर न था। इन सबको वह आत्मगत(subjective) कल्पना मात्र मानता था। उसके विचार में सत्-असत्, भलाई-बुराई नापने का कोई वैज्ञानिक, और बाह्य, मानसिक कल्पनाओं से प्रभावित न होने वाला नपैना होना चाहिए था। यह उपर्युक्त **आनन्द-मापक पद्धति**(Felicific Calculus) था। बेन्थम सभी मानवीय भावनाओं को प्राकृतिक एवं स्वाभाविक समझता था। कोई भी भावना अप्राकृतिक नहीं थी। इनका अच्छा या बुरा होना इनके परिणामों पर निर्भर था। सुख या दुःख पैदा करने के कारण ये भावनाएँ अच्छी और बुरी होती हैं। बेन्थम का यह विश्वास था कि मनुष्यों का राज्य या धर्म जैसी अमूर्त्त सत्ताओं या संस्थाओं के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, उनके कर्त्तव्य केवल सुख और दुःख की अनुभूति रखने में समर्थ अन्य मनुष्यों के प्रति हैं।

(2) राज्य की उत्पत्ति—बेन्थम से पहले राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते (Social Contract)का परिणाम समझी जाती थी। रूसो आदि ने इसका प्रबल प्रतिपादन किया था, किन्तु बेन्थम ने इसका उग्र विरोध किया। वह यह नहीं मानता था कि राज्य का जन्म, इसके तथा नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य किसी समझौते या अनुबन्ध से उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों द्वारा राज्य के आदेशों और कानूनों का पालन करने का कारण कोई पुराना समझौता नहीं, किन्तु वर्तमान काल में प्राप्त होने वाला लाभ और उपयोगिता है। ब्लैकस्टोन ने कहा था कि मनुष्य एक आदिम सामाजिक समझौते के कारण राज्य के प्रति अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं। बेन्थम के मतानुसार ऐसा कोई समझोता कभी नहीं हुआ था, यदि कोई ऐसा समझौता हुआ भी हो तो वह वर्तमान पीढ़ी को उससे नहीं बांध सकता था। राज्य के आदेशों का पालन केवल इसलिए होता है कि यह उपयोगी है और सामान्य हित तथा सुख को बढ़ाने वाला है। राज्य के नियमों के आज्ञापालन से होने वाले लाभ, आज्ञाभंग के दुष्परिणामों से अधिक हैं। अतः बेन्थम की दृष्टि में राज्य का आधार उपयोगिता से उत्पन्न होने वाली आज्ञापालन की आदत है, सामाजिक अनुबन्ध नहीं है।

(3) **प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन**—बेन्थम के समय में थामस पेन तथा गाडविन जैसे विचारकों ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर बहुत बल दिया था। यह कहा जाता था कि मनुष्य को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार प्रकृति के नियम से मिले हुए हैं। बेन्थम प्रकृति को एक अस्पष्ट शब्द समझता था, इसलिए प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक अधिकारों को बिल्कुल निरर्थक और बेहूदा समझता था। उसकी दृष्टि में कानून सर्वोच्च सत्ता रखने वाले की इच्छा होती है। यह इच्छा भगवान् या मनुष्य में ही सम्भव है, प्रकृति में ऐसी कोई इच्छा नहीं होती है। अतः प्राकृतिक कानून या अधिकार नाम की कोई वस्तु नहीं है। उसने समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा था—"पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से असम्भव है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक प्रकार की सरकार की सत्ता की प्रत्यक्ष विरोधी है। क्या सब मनुष्य स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं? क्या वे स्वतन्त्र रहते हैं?···एक भी आदमी ऐसा नहीं है। इसके विपरीत सब मनुष्य पराधीन पैदा होते हैं।" अधिकार प्राकृतिक नहीं हैं, किन्तु उपयोगिता पर आधारित कानून से बनाए जाते हैं।

(4) **सर्वोच्च सत्ता तथा अधिकार विषयक सिद्धान्त**—बेन्थम के मतानुसार शासक को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में कानून बनाने के असीम और अनन्त अधिकार थे। सर्वोच्च सत्ता (sovereignty) रखने वाले शासक पर केवल एक ही प्रतिबन्ध की कल्पना की जा सकती है, यह प्रतिबन्ध जनता के हितों और स्वार्थों का था। सामान्यतः प्रजाजनों को अपने राजा का विरोध करने का कोई कानूनी अधिकार नहीं था, उनका यह कर्त्तव्य था कि वे राजा के आदेशों का पूर्ण पालन करें। किन्तु यदि राजा के आदेश का प्रतिरोध करना उसके आदेश के पालन करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा सुख देने वाला हो तो प्रजा का यह नैतिक कर्त्तव्य था कि वह राजा का विरोध करे। राजा द्वारा असीम शक्तियों का प्रयोग उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित था।

बेन्थम के समय के अन्य विचारक नागरिकों के अधिकारों पर बहुत बल देते थे, लिखित संविधानों तथा कानूनों द्वारा इन अधिकारों को सुरक्षित बनाना महत्त्वपूर्ण समझते थे, इनके अनुसार राजा को अपनी प्रजा को ये अधिकार देने पड़ते थे। किन्तु बेन्थम लिखित संविधानों का समर्थक होते हुए भी यह नहीं मानता था कि सर्वोच्च सत्ता नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए सीमित की जा सकती थी। इसका प्रधान कारण उसका अधिकार विषयक सिद्धान्त था। वह इन्हें भी उपयोगिता के आधार पर उत्पन्न होने वाला समझता है। 'क' नामक व्यक्ति के अधिकार के साथ कर्त्तव्य का विचार जुड़ा हुआ है और कर्त्तव्य का आधार उपयोगिता या वैयक्तिक हित के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। 'ख' नामक व्यक्ति 'क' के अधिकारों के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य का पालन तब तक नहीं करेगा, जब तक कि इसके परिणाम उसके लिए अन्य कोई कार्य करने की अपेक्षा अधिक हितकर न हों अथवा राज्य द्वारा वह ऐसा करने के लिए बाधित न किया जाए। अतः वैयक्तिक अधिकारों का मूल सर्वोच्च शासक है, इसका आधार उपयोगिता का सिद्धान्त है, प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना निराधार है।

(5) **शासन-पद्धति**—शासन के विषय में प्रमुख सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह अधिकतम प्रजाजनों को अधिकतम सुख प्रदान कर सके। इसका लक्ष्य सुख को

बढ़ाना होना चाहिए, न कि दुःख को। अतः शासन-विधान इस दृष्टि से व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति कर सके। बेन्थम के शब्दों में, "सब व्यक्ति इस बात में सहमत हैं कि शासन-सत्ता उन व्यक्तियों को दी जानी चाहिए, जिनमें भगवान् में पाए जाने वाले बुद्धिमत्ता, भलाई और शक्ति के तीन महान् गुण हों। उनमें इस बात की बुद्धि हो कि वे समुदाय के वास्तविक हितों को समझ सकें, उनमें इतनी भलाई हो कि वे वास्तविक हितों की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करते रहें और उनमें इतनी शक्ति हो कि वे अपने ज्ञान को क्रियात्मक रूप में परिणत कर सकें।" लोकतन्त्र में भलाई का गुण अधिक होता है, कुलीनतन्त्र में बुद्धि के गुण की तथा राजतन्त्र में शक्ति के गुण की प्रधानता होती है। किन्तु इन तीनों में लोकतन्त्र या गणतन्त्र की व्यवस्था श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अन्य शासनों की अपेक्षा अधिकतम संख्या के अधिकतम हित को अधिक अच्छी तरह से पूरा करता है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते। अतः बेन्थम गणराज्यों की स्थापना द्वारा इस बुरी दुनिया को अच्छा बनाना चाहता था।

तत्कालीन ब्रिटिश शासन पद्धति को वह ब्लैकस्टोन की भाँति पूर्ण नहीं मानता था और इसमें कई सुधार करना चाहता था। पहला सुधार सार्वभौम पुरुष मताधिकार (Universal manhood sufferage) का था। उस समय पार्लियामेण्ट का सदस्य चुनने का अधिकार बहुत ही कम व्यक्तियों को था तथा यह भ्रष्टाचार का प्रधान स्रोत था। बेन्थम प्रत्येक साक्षर बालिग पुरुष को मताधिकार देना चाहता था, शासन में अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को मताधिकार देकर ही अधिकतम लोगों के हित को सुरक्षित बनाया जा सकता था। उस समय तक स्त्रियों के मताधिकार की चर्चा और माँग प्रबल नहीं हुई थी। उसका दूसरा सुधार पार्लियामेण्ट के वार्षिक चुनाव (Annual Parliaments) कराने का था। वह यह समझता था कि यदि प्रतिवर्ष चुनाव होंगे तो सदस्य अधिक क्रियाशील होंगे, उन्हें स्वार्थ सिद्धि का अधिक अवसर नहीं मिल सकेगा, निर्वाचकों को सदस्यों की योग्यता जाँचने के अधिक अवसर मिलेंगे। उसका तीसरा सुधार गुप्त मतदान प्रणाली का था। इससे चुनाव निष्पक्ष रीति से हो सकेंगे, मतदाताओं को डरा-धमका कर अथवा खिला-पिलाकर उनसे वोट नहीं लिए जा सकेंगे। उसका चौथा सुधार उपरले सदनों का विरोध था, वह लार्डसभा का उग्र विरोधी था, उसके मतानुसार यह विशिष्ट स्वार्थों का अड्डा और प्रगति का विरोधी था। वह इंगलैण्ड में राजतन्त्र को भी समाप्त करना चाहता था, क्योंकि उसके विचार में गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली में शासक एवं शासितों के हितों में अभिन्नता होती है और इससे अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख मिलता है।

(6) आर्थिक विचार—बेन्थम इस विषय में कुछ अर्थों में एडम स्मिथ का अनुयायी था। उसके मत में सरकार को आर्थिक मामलों में यथासम्भव कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए, किन्तु सूद या ब्याज के सम्बन्ध में वह एडम स्मिथ से सहमत नहीं था, उसके मतानुसार राज्य को सूदखोरी के विरुद्ध कानून नहीं बनाना चाहिए था। उसने 1787 में प्रकाशित **'सूदखोरी का समर्थन'** (Defence of Usuary) नामक पुस्तक में इस मत का प्रतिपादन किया था। वह व्यापार की सब बाधाओं और प्रतिबन्धों

को हटाकर स्वतन्त्र अथवा मुक्त व्यापार की नीति अपनाने का प्रबल समर्थक था। उसके मत में प्रतिबन्धरहित प्रतियोगिता समाज के लिए हितकर थी, वह एकाधिपत्य की तथा सरकारी सहायता देने की प्रणाली का तथा साम्राज्य का विरोधी था। उसे साम्राज्य का विचार तनिक भी पसन्द नहीं था, अतः उसके मत में व्यापार की दृष्टि से उपनिवेशों को प्राप्त करना ठीक नहीं था, इन कार्यों में लगाया जाने वाला धन अन्य कार्यों में अधिक उपयोगी रूप से व्यय किया जा सकता था। उसने 1793 में 'उपनिवेशों को मुक्त कीजिए' (Emancipate your colonies) में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उपनिवेशों का ब्रिटिश नियन्त्रण में रहना वह मानव-जाति के हित के लिए समझता था, किन्तु उसके मत के अनुसार इंगलैण्ड के लिए उपनिवेश सम्पत्ति का स्रोत नहीं बन सकते थे। 1828 में बेन्थम ने कनाडावासियों द्वारा पूर्ण पार्थक्य की माँग करने वाले एक आवेदन-पत्र का मस्विदा या प्रारूप तैयार किया था। उपयोगितावादियों को उपनिवेशों का परित्याग करने में तनिक भी झिझक नहीं थी, किन्तु अपने जीवन के सन्ध्या-काल में बेन्थम साम्राज्य के भीतर उपनिवेशों को स्वायत्त शासन का अधिकार देने के विचार का समर्थन करने लगा था। सम्भवतः भारत का पहला इतिहास लिखने वाले, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी तथा अपने भक्त जेम्स मिल के कारण बेन्थम ने भारत के मामलों में दिलचस्पी ली तथा भारत की कानूनी तथा न्यायिक पद्धति के सम्बन्ध में एक योजना बनाई। आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों के स्वशासन के बारे में भी बेन्थम नें एक योजना तैयार की।

(7) **व्यक्तिवाद**—बेन्थम अन्य व्यक्तिवादी (Individualist) विचारकों की भाँति राज्यों को एक आवश्यक बुराई मानता था। उपयोगिता की दृष्टि से राज्य के नियम मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाते हैं, अतः वे नियम बुरे हैं। किन्तु इन नियमों के बिना सभ्य जीवन का यापन करना असम्भव है, अतः राज्य की सत्ता मानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु राज्य को नागरिकों की स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए न्यूनतम नियम बनाने चाहिएँ। राज्य के नियम औषधि जैसे हैं, जिस प्रकार सामान्य रूप से स्वस्थ मनुष्य औषधि का प्रयोग कम-से-कम करना चाहता है, वैसे ही मनुष्य यह चाहता है कि राज्य के नियम कम-से-कम हों। अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है वह कम-से-कम नियम बनाए और व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्र वातावरण में छोड़े। उसके मत में समष्टि या समुदाय काल्पनिक संस्था है, यह इसकी रचना करने वाले व्यक्तियों से बनता है। समष्टि हित क्या है? यह इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों का हित है। व्यक्ति के हित को समझे बिना समष्टि या समुदाय के हित की कल्पना करना कोरी बकवास है। जो वस्तु व्यक्ति के हित और सुख को बढ़ाने में सहायक होती है, वह समष्टि के हित को भी बढ़ाने वाली होती है। इसका यह भी कारण है कि मनुष्य स्वयं अपने सुख-दुःख का ज्ञाता है, समुदाय या राज्य इनका इतना अच्छा ज्ञाता नहीं हो सकता, अतः राज्य को शान्तिस्थापना और सुरक्षा के क्षेत्र में ही नियमों का निर्माण करना चाहिए, अन्य क्षेत्रों में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। राज्य को चिकित्सक की भाँति सोच-समझकर किन्हीं भीषण विकारों (चोरी, हिंसा, विदेशी आक्रमण) को रोकने के लिए नियम बनाने चाहिएँ। राज्य का हस्तक्षेप तभी आवश्यक और उचित है, जब वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा में सहायक हो।

(9) **कानून तथा न्याय व्यवस्था**—बेन्थम के जीवन का एक प्रधान लक्ष्य तत्कालीन कानून की पद्धति में सुधार करना था। वह कानून को सर्वोच्च शासक की इच्छा की अभिव्यक्ति मानता था और प्रकृति के कानून की सत्ता को अस्वीकार करता था। उसके मतानुसार कानून एवं न्याय का उद्देश्य राज्य में सुख की वृद्धि करना था। इस दृष्टि से उस समय के कानून में और न्यायव्यवस्था में कई गम्भीर दोष थे, इनको अविलम्ब दूर किया जाना आवश्यक था। कानून के बड़े दोष इसकी अस्पष्टता, दुर्बोधता, अव्यवस्थितता, संदिग्धता, दुरूहता, दकियानूसीपन, जटिलता, अनावश्यक और अप्रचलित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग थे। इसके लिए यह आवश्यक था कि कानून को सरल, सुबोध एवं सुगम शब्दों में अभिव्यक्त किया जाए, विभिन्न नियमों और कानूनों को एक विधान-संहिता में सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जाए ताकि किसी को इनके समझने में कोई कठिनाई या सन्देह न हो। अतः बेन्थम संहिताकरण (Codification) का प्रवल समर्थक था और उसने स्वयमेव अन्तर्राष्ट्रीय कानून की, दीवानी फौजदारी और संवैधानिक कानूनों की ऐसी संहिताएँ तैयार की थीं। उसने विधिशास्त्र (Jurisprudence) को राजनीति से पृथक् करना आरम्भ किया, इस कार्य को उसके शिष्य जाँन आस्टिन ने पूरा किया।

इंगलैण्ड की तत्कालीन न्यायव्यवस्था में कई गम्भीर और भीषण दोष थे। यह बड़ी व्ययसाध्य थी, न्याय प्राप्त करने में बहुत समय लगता था, यह अनिश्चित थी, न्याय का क्रयविक्रय होता था। बेन्थम के शब्दों में, "इस देश में न्याय बेचा जाता है और बड़े मँहगे दामों पर बेचा जाता है, जो व्यक्ति व्यय नहीं कर सकता, वह न्याय नहीं प्राप्त कर सकता।" दण्ड-विधान बड़ा कठोर था, 200 से अधिक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। 1801 में 12 वर्ष के एक बालक को एक चमच चुराने के अपराध में प्राणदण्ड दिया गया था। बेन्थम ने उस समय के जजों और वकीलों की बड़ी तीखी आलोचना की है। उसके मत में उस समय के न्यायाधीश जिन अतीव दुष्ट व्यक्तियों को प्राणदण्ड देते थे, उनकी दुष्टता (Maleficence) न्यायाधीशों की दुष्टता से कम थी। वकीलों के बारे में उसकी यह सम्मति थी कि "ये आलसी, सत्-असत् का विवेक करने में असमर्थ, अदूरदर्शी, जिद्दी, सार्वजनिक उपयोगिता के सिद्धान्त की परवाह न करने वाले, स्वार्थी तथा अधिकारियों के इशारों पर नाचने वाले होते हैं"। बेन्थम की उग्र आलोचनाओं के कारण 19वीं शताब्दी में इंगलैण्ड की कानून एवं न्याय के प्रशासन की व्यवस्था में अनेक क्रान्तिकारी सुधार और परिवर्तन हुए।

(10) **दण्डव्यवस्था**—बेन्थम के मतानुसार दण्डव्यवस्था का उद्देश्य समाज में अपराधों को रोकना है, न कि अपराधी से बदला लेना। दण्ड न तो बहुत कठोर होना चाहिए और न अत्यन्त मृदु। यह परिस्थितियों के अनुसार ही दिया जाना चाहिए। जनता की भलाई और समाज का कल्याण ही दण्डव्यवस्था की कसौटी होनी चाहिए। किन्तु इसके साथ ही अपराधी को ऐसा दण्ड दिया जाना चाहिए कि इससे भयभीत होकर अन्य लोग ऐसे अपराध न करें। दण्ड अपराध के अनुरूप और उसका समानुपाती होनी चाहिए; चमच जैसी चोरी के लिए प्राणदण्ड का विधान अतीव कठोर व्यवस्था है। दण्ड के समय में अपराधी के सुधार का भी ध्यान रखना चाहिए। दण्ड

देते हुए अपराधी के व्यवहार, उसके पहले जीवन, उसके उद्देश्य, उसके द्वारा हानि पहुँचाए जाने वाले व्यक्तियों की तथा अपराध किए जाने की परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए। दण्ड निश्चित और निष्पक्ष होना चाहिए। बेन्थम के ये सभी विचार शनैः-शनैः सभी सभ्य देशों ने स्वीकार कर लिए और इनके अनुसार दण्ड-पद्धति में सुधार कर दिए गए। बेन्थम के समय इंगलैण्ड में 200 से अधिक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी, वाद में यह केवल राजद्रोह तथा हत्या के दो अपराधों तक ही मर्यादित कर दी गई।

(11) **जेलखानों का सुधार**—बेन्थम अपने समय के जेलखानों की शोचनीय दशा से बड़ा क्षुब्ध और असन्तुष्ट था। उस समय बन्दियों के साथ पाशविक व्यवहार किया जाता था। उन्हें अन्धेरी कोठरियों में ठूँसकर रखा जाता था, खाना रद्दी-से-रद्दी दिया जाता था, बाल-अपराधी और बड़ी आयु के पक्के अपराधी एकसाथ रखे जाते थे। इससे कारावास से बच्चे पक्के अपराधी बनकर निकलते थे। इस समय हावर्ड ने बन्दियों की दशा सुधारने का प्रयास आरम्भ किया, बेन्थम ने उसे पूरा सहयोग दिया और बन्दियों को सुधारने की अपनी **सर्वद्रष्टा** (Panopticon) योजना बनाई। वह इसे दुष्ट अपराधियों को पीसकर ईमानदार व्यक्ति बनाने वाली चक्की समझता था। इस योजना के अनुसार बन्दीगृह के भवन का निर्माण चक्र के रूप में किया जाना था, इसके मध्य में ऊँचे स्थान पर रहने वाले जेलर ने सब कैदियों पर अपने केन्द्रीय स्थान से दृष्टि रखनी थी, अतः इसे सर्वद्रष्टा (Panopticon, Pan=सब, optic=आँख) का नाम दिया गया। इस स्थान से अपराधियों द्वारा अपने कमरों में किए जाने वाले कार्यों को जेलर देख सकता था। जेलों में कैदियों की दशा सुधारने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए, उनसे दण्ड के रूप में कठोर श्रम नहीं लेना चाहिए, अपितु उन्हें यहाँ ऐसा काम सिखा देना चाहिए कि वे कारागृह से मुक्त होने पर स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवनयापन कर सकें। उन्हें खाली समय में प्राथमिक शिक्षा, नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए। बेन्थम तन्हाई कैद या एकान्त कक्ष में अपराधियों को बन्द करने का विरोधी था, "मन को खाली रखकर मन का सुधार नहीं हो सकता, इसे अच्छे विचारों से भरा जाना चाहिए"। बेन्थम की सर्वद्रष्टा कारागार की योजना यद्यपि पार्लियामेण्ट ने स्वीकार कर ली, किन्तु राजा जार्ज तृतीय के विरोध के कारण यह सफल नहीं हो सकी। बेन्थम ने इस योजना पर 20 वर्ष तथा काफी पैसा लगाया था और उसे इसकी क्षतिपूर्ति के लिए 23 हजार पौण्ड भी मिले थे। यद्यपि इंगलैण्ड ने उसकी सर्वद्रष्टा कारागृह योजना को स्वीकार नहीं किया, किन्तु अन्य देशों ने इसका स्वागत किया। संयुक्त राज्य अमेरिका में इलिनाय राज्य में जोलियट का कारागृह बेन्थम के आदर्श के अनुसार बना और बेन्थम के उपर्युक्त विचार सभी देशों में जेलों के सुधारों का एक प्रधान स्रोत थे।

(12) **अन्य सुधार**—बेन्थम ने शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधारों की योजनाएँ रखीं। सम्भवतः जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जो उसकी दृष्टि से अछूता रहा हो। काटलिन के शब्दों में उसने इन क्षेत्रों में सुधार प्रस्तावित किए—फौजदारी कानून, अपराध का सिद्धान्त, आजीवन निर्वासन के दण्ड के लिए

उपनिवेशों में भेजा जाना, सूदखोरी तथा कैथोलिक अनर्हता कानून को रद्द करना, दरिद्र कानूनों को व्यवस्थित बनाना, पार्लियामेण्ट की प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली का सुधार, मुक्त व्यापार, स्त्रियों का मताधिकार, गुप्त मतदान प्रणाली, स्वास्थ्य और सफाई के नियमों का निर्माण, राष्ट्रीय शिक्षा, एक संगठन द्वारा तथा विश्व न्यायालय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखना।[1] यह सूची विस्तृत होते हुए भी अपूर्ण है। इसमें उसकी निम्नलिखित कुछ अन्य योजनाएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं—व्यापारी जहाजों के लिए एक संहिता का निर्माण, स्थानीय न्यायालयों का विकास, बचत बैंकों की स्थापना, आविष्कार करने वालों के लिए संरक्षण की व्यवस्था, गरीबों के लिए सार्वजनिक वकीलों और बैंकों की व्यवस्था, सरकारी अधिकारियों को पदों से हटाना, धार्मिक परीक्षा की व्यवस्था का अन्त करना, हट्टे-कट्टे भिखारियों का दमन, समर्थ किन्तु दरिद्र व्यक्तियों की शक्ति का उपयोग, निर्धनों की सन्तान का प्रशिक्षण, ऋण के लिए कारावास के दण्ड की समाप्ति, नगरपालिका पद्धति का सुधार, स्वेज़ और पानामा नहरों की योजना का निर्माण। एबेन्स्टाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि "पिछली पाँच पीढ़ियों में ब्रिटेन में कोई ऐसा सुधार नहीं हुआ, जिसका मूल प्रेरणा-स्रोत बेन्थम नहीं है। उसी के आन्दोलन से कानूनों की पुरानी पद्धतियों में तथा साक्षी लेने की विधियों में अनेक सुधार हुए; विवाह, तलाक, सम्पत्ति, व्यापार और ट्रेड यूनियनों के कानूनों में अनेक परिवर्तन उसकेतथा उसके शिष्यों के आन्दोलन से हुए। फौजदारी कानूनों में बेन्थम तथा रोमिल्ली के प्रयत्न से कई प्रकार के क्रूरतापूर्ण दण्ड—औरतों को कोड़े मारना, अपराधियों को इंगलैण्ड से बाहर आस्ट्रेलिया आदि के उपनिवेशों में निर्वासित करना—बन्द हुए।[2]

बेन्थम के सिद्धान्तों की आलोचना—बेन्थम ने अपने सिद्धान्तों को बड़ा सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया था, किन्तु उसने उन्हें इतना अधिक सरल बना दिया कि इनमें कई बड़े-बड़े दोष उत्पन्न हो गए। उसके कथनानुसार उपयोगिता के सिद्धान्त की तीन आवश्यक शर्तें ये हैं--(1) यह स्पष्ट और शुद्ध (Precise) होना चाहिए। (2) मनुष्यों को प्रेरणा देने का यह पर्याप्त और एक मात्र कारण होना चाहिए। (3) नैतिक गणना-पद्धति (Moral Calculus) के अनुसार यह लागू किया जा सकने योग्य होना चाहिए। आलोचकों की दृष्टि में बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त उसके द्वारा निर्धारित की गई उपयुक्त तीनों कसौटियों पर खरा नहीं उतरता है और उसमें निम्नलिखित गम्भीर दोष हैं—

(1) **अस्पष्टता—इसका पहला दोष यह है कि यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु बड़ा अस्पष्ट** और **संदिग्ध** है। उसका यह कथन है कि हमारे सब कार्यों का निर्धारण अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के आधार पर होना चाहिए। ऊपर से देखने पर यह बड़ी सरल, स्पष्ट और सीधी बात प्रतीत होती है, परन्तु इसमें बड़ा दोष यह है कि इसमें यह नहीं बताया गया कि प्रधानता व्यक्तियों की संख्या को दी जाएगी या सुख की मात्रा को। ऐसी परिस्थिति में बेन्थम का सूत्र हमारी समस्या का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कल्पना

1. कांटलिन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 358.
2. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० 503-4

कीजिए कि हमें 'क' और 'ख' नामक दो प्रकार के कार्यों में से यह निश्चय करना है कि हम कौनसा कार्य करें। 'क' नामक कार्य 10 व्यक्तियों में से प्रत्येक के लिए आनन्द की सौ मात्राएँ और इस प्रकार आनन्द की कुल एक हजार मात्राएँ (10 × 100 = 1000) उत्पन्न करता है। 'ख' नामक कार्य 100 व्यक्तियों में से प्रत्येक के लिए आनन्द की दस मात्राएँ उत्पन्न करके वही एक हजार मात्राओं (100 × 10 = 1000) का सुख प्रस्तुत करता है। मात्रा की दृष्टि से दोनों कार्य समान हैं, वे सुख की एक हजार मात्राएँ उत्पन्न करते हैं। किन्तु पहला कार्य कम व्यक्तियों को अधिक सुख देता है, दूसरा कार्य अधिक व्यक्तियों को कम सुख देता है। इस दशा में कार्य की उपयोगिता का निर्धारण व्यक्तियों के आधार पर किया जाए या प्रति व्यक्ति को प्राप्त होने वाले सुख की मात्रा पर, इस विषय पर बेन्थम कोई प्रकाश नहीं डालता है।

यह बात एक अन्य उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाएगी। यह सम्भव है कि कोई कानून बनाने से 10 मिल-मालिकों में से प्रत्येक को 4000 रु० का लाभ होता है और उन्हें कुल लाभ 4000 रु० होता है। किन्तु इससे 1000 मजदूरों की मजदूरी में दो-दो रु० की कमी होकर उन्हें 2000 रु० की हानि होती है। अब यदि अधिकतम लाभ की दृष्टि से देखा जाए तो मिल-मालिकों का 4000 रु० का लाभ मजदूरों की 2000 की हानि से अधिक है, अतः इस कानून का बनाना उपयोगी है। किन्तु यदि अधिकतम लोगों की दृष्टि से देखा जाए तो 20 व्यक्तियों के लाभ की अपेक्षा 1000 व्यक्तियों की हानि को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए, इस कारण इन कानून का बनाना अधिक उपयोगी प्रतीत होगा। ऐसी अवस्थाओं में अधिकतम लोगों के अधिकतमसुख में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं और इस विरोध के कारण उपयोगितावाद का यह सूत्र व्यावहारिक जीवन में हमारा पथप्रदर्शन नहीं कर सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आरम्भ में बेन्थम का जो सूत्र हमें स्वतःसिद्ध और सरल प्रतीत होता है, वह वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें कई बार सुख और व्यक्तियों की संख्या एक-दूसरे का विरोध करने लगती है, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है। बेन्थम का सिद्धान्त इस विषय में हमारा कुछ भी पथ-प्रदर्शन न करने के कारण अस्पष्ट एवं दूषित है। ऐसे प्रसंगों में बेन्थम की आनन्द-मापक गणना-पद्धति (Felicific Calculus) की वैज्ञानिक विधि विफल हो जाती है और गणित हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता है। मेक्कून ने सत्य ही लिखा है कि राजनीति में अंकगणित वैसे ही सहायक नहीं हो सकता, जैसे अंकगणित में राजनीति सहयोग नहीं दे सकती है।

(2) सुख को एकमात्र लक्ष्य बनाना—**दूसरा दोष बेन्थम द्वारा सुख या भौतिक आनन्द को मानव-क्रियाओं और व्यापारों का एकमात्र प्रेरक कारण मान लेना है।** क्या मनुष्य केवल सुख के लिए ही सब कार्य करता है? यदि ऐसा होता तो राजसी ठाठ-बाठ और सब प्रकार के सुखों के बीच में रहने वाले सिद्धार्थ को गृह त्याग करने और जंगलों में बोधिज्ञान के लिए भटकने और तपस्या करके भीषण कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता थी? देशभक्त क्रान्तिकारी भगतसिंह जैसे व्यक्ति फाँसी के तख्ते पर झूलने में अपूर्व गर्व और उल्लास का क्यों अनुभव करते हैं, जिससे लगभग सभी व्यक्ति भय

खाते हैं और बचते हैं। एक व्यक्ति अपने प्राण संकट में डालकर दूसरे व्यक्ति को डूबने से क्यों बचाता है? एक चित्रकार, कवि या लेखक भूखा रहते हुए भी चित्र या कविता का निर्माण क्यों करता है? माता स्वयं भूखी रहकर भी बच्चे को क्यों खिलाती है? यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन सुख-दुःख की भौतिक, भोगपरायण भावना के अतिरिक्त, देशभक्ति, परोपकार, स्वार्थत्याग, प्रेम, नैतिकता, समाजसेवा, बौद्धिक और आध्यात्मिक सन्तुष्टि की भावनाओं से भी आन्दोलित होता है, इनसे भी उसके कार्य निर्धारित होते हैं। यदि भौतिक सुख ही मनुष्य का अभीष्ट लक्ष्य हो तो भीषण कष्ट उठाकर और जान जोखिम में डाल कर मनुष्य एवरेस्ट आदि के दुर्गम पर्वत-शिखरों पर क्यों चढ़ते हैं? यदि मानव-जाति में कोरे सुख और उपयोगितावाद की ही सत्ता होती तो विश्व में बुद्ध, ईसा और महात्मा गांधी जन्म न लेते। बेन्थम का जीवन स्वयमेव इसका सुन्दर उदाहरण है, यदि उसे केवल भौतिक सुख प्राप्त करना होता तो वह वकालत करके खूब पैसा कमाता और ठाठ से जीवन बिताता, पचास वर्ष तक शुष्क लेखन-कार्य में और चिन्तन में न लगा रहता।

उपयोगितावादी विचारक ऐसा तर्क कर सकते हैं कि देशभक्त को फाँसी के तख्ते पर झूलने में आनन्द अनुभव होता है तथा माँ को स्वयं भूखा रहकर बच्चे को खिलाने में सुख की अनुभूति होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें आंशिक सत्य है, किन्तु बेन्थम जिस भौतिक सुख को आनन्द मानता है, उसके अनुसार फाँसी पर लटकना या भूखा रहना कभी सुख नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः इन कष्टों को सुख मानना कुतर्क और वाक्छल मात्र है। देश-भक्ति, त्याग और परोपकार को स्वार्थ-प्रधान सुख बताना मानव-प्रकृति की उदात्त भावनाओं को कलंकित करना है। जिस प्रकार सुख की खोज मनुष्य की प्रकृति का एक स्वाभाविक अंग है वैसे ही देश-भक्ति, परोपकार आदि की उदात्त भावनाएँ भी उसके स्वभाव का मौलिक अंग हैं।

बेन्थम के मतानुसार यदि सुख को ही प्रेरक कारण मान लिया जाए तो मनुष्य के कर्त्तव्य और स्वार्थ का संघर्ष समाप्त हो जाएगा, बेन्थम ऐसा ही मानता है; किन्तु यह सामान्य अनुभव के प्रतिकूल है। दैनिक जीवन में हमें इस संघर्ष के अनेक उदाहरण मिलते हैं। राज्याभिषेक के दिन 14 वर्ष के लिए वनवास देने वाली पिता की आज्ञा से श्रीरामचन्द्र के सामने ऐसा ही कर्त्तव्य और स्वार्थ का संघर्ष उपस्थित हुआ था। उनका स्वार्थ और भौतिक सुख राजा बनने में था, किन्तु वे पिता की आज्ञा को अपना कर्त्तव्य समझकर वन में चले गए। बेन्थम के मतानुसार उन्हें राजगद्दी पर ही बैठना चाहिए था।

(3) सुख की मात्रा पर बल देना—तीसरा दोष सुख का मात्रात्मक होना है, गुणात्मक होना नहीं। जोन्स ने लिखा है कि बेन्थम का एक यह भी दोष है कि वह आनन्द को हलवे या केक की भाँति ऐसा भौतिक पदार्थ समझता है, जिसे विभिन्न खण्डों में विभक्त किया जा सकता है।[1] उसकी दृष्टि में विभिन्न पदार्थों और कार्यों से प्राप्त होने वाले आनन्द विभिन्न प्रकार के नहीं हैं। उदाहरणार्थ, हमें कुछ आनन्द भ्रमण करने से प्राप्त होता है और कुछ घर पर रहने से। जब हम घूमने के

1. जोन्स—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 374.

स्थान पर घर पर रहने का निर्णय करते हैं तो बेन्थम के मतानुसार यह इसलिए किया जाता है कि आनन्द की जितनी मात्रा घर पर रहने से मिलती है उतनी घूमने से नहीं मिलती। घर पर रहने की सुख की मात्रा का मूल्य घूमने के आनन्द की मात्रा से अधिक है, किन्तु दोनों आनन्दों में प्रकार अथवा गुण का कोई अन्तर नहीं है। मात्रा पर बल देने के कारण बेन्थम सुख का मात्रात्मक या संख्यात्मक (Quantitative) रूप मानता है, किन्तु वह सुखों के प्रकार या गुण के आधार पर कोई गुणात्मक (Qualitative) भेद नहीं करता। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त उदाहरण में हमें घर में रहने से बच्चों के साथ खेलने और मनोरंजन करने के, पत्नी के साथ रहने तथा बातचीत करने के आनन्द प्राप्त होते हैं, ये घूमने में, मित्रों से मिलने-जुलने, गपशप करने, खेल-तमाशा देखने के आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार के आनन्द हैं। हमें अच्छा भोजन खाने से, संगीत सुनने से, कबड्डी खेलने से और कविता का रसास्वादन करने से जो आनन्द मिलते हैं, वे एक जैसे नहीं हैं। एक चित्रकार को अपना चित्र बनाने में जो आनन्द मिलता है, वह उस चित्र को देखने वाले के आनन्द से भिन्न है। मलाई की बर्फ या रसगुल्ले खाने से मिलने वाला आनन्द कालिदास अथवा शेक्सपीयर की साहित्यिक कृतियों के अनुशीलन से मिलने वाले साहित्यिक आनन्द के समान नहीं है। आनन्दों और सुखों के अनन्त भेद और प्रकार हैं तथा गुणों की दृष्टि से इनमें बड़ा तारतम्य और अन्तर है। उदाहरणार्थ, सर्दियों में रजाई ओढ़कर सोने में एक बड़ा आनन्द है तथा भीषण सर्दी को सहते हुए एवरेस्ट पर्वत के शिखर पर चढ़ने में एक आनन्द है। इन दोनों सुखों में बेन्थम के अनुसार केवल मात्रा का ही भेद माना जाना चाहिए, किन्तु इनमें गुणात्मक भेद भी है। रजाई में लेटे रहना निष्क्रिय एवं आलस्यपूर्ण होने के कारण निकृष्ट कोटि का मानसिक आनन्द है, एवरेस्ट पर आरोहण सक्रिय, साहसपूर्ण, अद्भुत और असाधारण कार्य होने के कारण एक उत्कृष्ट कोटि का मौलिक आनन्द है। बेन्थम का सिद्धान्त सुख की मात्रा पर ही बल देने के कारण और सुख के प्रकार या गुणों की उपेक्षा करने के कारण दोषपूर्ण है। बेन्थम के प्रसिद्ध अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल ने सुख एवं उपयोगिता में गुण के भेद को भी स्वीकार किया है और यह माना है कि सुख को केवल मात्रा के मापदण्ड से ही नहीं परखा जा सकता है।

(4) सुखमापन की कठिनाई—चौथा दोष यह है कि बेन्थम द्वारा बताई गई पद्धति से सुखों की मात्रा को सही ढंग से मापना सम्भव नहीं हैं, क्योंकि इसमें विभिन्न विरोधी तत्त्वों की आपेक्षिक तुलना करने या मूल्यांकन करने की और मापने की निश्चित पद्धति नहीं बताई गई। उदाहरणार्थ बेन्थम ने यह कहा है कि सुख की मात्रा को निश्चित करते हुए हमें प्रगाढ़ता (intensity) और अवधि (duration) को देखना चाहिए। यदि कुछ सुख हमें समान रूप से घनी मात्रा में तथा समान काल के लिए आनन्द देते हैं तो उनकी मात्रा के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यदि एक सुख की प्रगाढ़ता कम तथा अवधि अधिक है तथा दूसरे की प्रगाढ़ता अधिक तथा अवधि कम है तो इन दोनों के सुखों की मात्रा और तारतम्य का निर्धारण कैसे हो? प्रगाढ़ता और अवधि के आपेक्षिक महत्त्व को किस प्रकार निश्चित किया जाए। इस विषय में मौन रहने के कारण बेन्थम की आनन्द-मापक पद्धति हमारे लिए निरुपयोगी है।

सुख और दुःख की मात्रा के निर्धारण में एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि व्यक्तियों की रुचि, समय और परिस्थितियों के कारण सुख-दुःख की मात्रा में परिवर्तन होता रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति को जो वस्तु सुख देने वाली हो, वह दूसरे को भी सुख देने वाली होगी। हिन्दी की एक कहावत है--किसी को बैंगन अच्छे लगते हैं और कोई उनसे चिढ़ता है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। किसी को शास्त्रीय संगीत के श्रवण में आनन्द आता है और किसी को फिल्मी गाने सुनने में। किसी को चिल्लाने-शोर मचाने में सुख मिलता है, किसी को चुप रहने में। रुचि-वैचित्र्य के कारण सुख का हिसाब लगाना और अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का निर्धारण करना बहुत कठिन है। वस्तुतः यह बड़ा अस्पष्ट और अनिश्चित है। ऊपर से देखने में अधिकतम संख्या के अधिकतम हित का विचार जितना आसान एवं स्पष्ट प्रतीत होता है, गम्भीर विचार करने पर यह उतना ही कठिन और दुर्बोध मालूम होता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि इस आनन्दवादी सिद्धान्त में सरलता और स्पष्टता है, किन्तु गम्भीरता नहीं है।

(5) **नैतिकता की उपेक्षा—पाँचवाँ दोष नैतिकता के सिद्धान्त को तिलांजलि देना है।** बेन्थम भारतीय चार्वाकों की भाँति केवल भौतिक आनन्दों को महत्त्व देता है और उनके आधार पर उपयोगिता के सिद्धान्त को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में उच्च नैतिक भावना, अन्तःकरण और सत्-असत् या धर्म-अधर्म का कोई स्थान नहीं है। उदाहरणार्थ, दस गुण्डे एक भले आदमी को लूटते हैं। इस दशा में अधिकतम लोगों का सुख तो इसी में है कि एक सज्जन व्यक्ति को लूट लिया जाए, क्योंकि इसमें दस को लाभ है, केवल एक को ही हानि है। किन्तु क्या ऐसा होना चाहिए ? नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि ऐसा नहीं होना चाहिए, दस दुष्टों के सुख की अपेक्षा एक सज्जन का हित-सम्पादन अधिक वांछनीय है। किन्तु बेन्थम के विचार में नैतिकता का कोई स्थान न होने से ऐसा सम्भव नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने ठीक ही लिखा है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में तथा अनिवार्य रूप में अपने लिए आनन्दमयी वस्तु को पाना चाहता है तो यह कहना निरर्थक है कि उसे कोई काम करना चाहिए। यदि हर आदमी को सदैव अपने आनन्द का अनुसरण करना हो तो नीतिशास्त्र दूरदर्शिता के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। उपयोगितावाद के मन्तव्यों से आप इसके सिवाय कोई परिणाम नहीं निकाल सकते।[1]

मर्रे ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि "यदि बेन्थम के मतानुसार हम अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो नैतिक और अनैतिक कार्य का कोई भेद नहीं रहेगा, केवल उपयोगी तथा अनुपयोगी कार्य ही रहेंगे। यदि व्यक्ति के अन्तःकरण को अस्वीकार किया जाए तो इन व्यक्तियों से बनने वाले समाज का सामूहिक अन्तःकरण नहीं होगा। अपराधी को समाज की निन्दा की अनुभूति नहीं होगी।"[2] यह समाज में घोर अनैतिकता और अव्यवस्था को उत्पन्न करने वाली अत्यन्त अवांछनीय और हानिकर स्थिति होगी।

1. बर्ट्रेण्ड रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 806.
2. मर्रे—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल साइन्स, पृ० 314.

(6) **बहुसंख्या का अत्याचार—इस सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह है कि यह समाज में बहुसंख्या को अल्पसंख्यकों को कुचलने तथा उन पर अत्याचार करने का अवसर प्रदान करता है।** यदि आनन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है तो उसे पाने का अधिकार सब को दिया जाना चाहिए। किन्तु बेन्थम का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के आनन्द पर नहीं, किन्तु बहुसंख्या के आनन्द पर बल देता है। क्या यह उचित है कि बहुसंख्या अल्पसंख्या को कुचलकर तथा उस पर अत्याचार करके आनन्द प्राप्त करे ? यदि बहुसंख्या अपने आनन्द के लिए अल्पसंख्या को जेलखानों के सींखचों में बन्द करना या अपने स्वार्थ के लिए उसे दास बनाना आनन्दमय समझती है तो क्या यह न्यायोचित है ? बेन्थम इसे न्यायोचित समझता है। यदि इस बात को मान लिया जाए तो अत्याचारी शासक को प्रजा पर तब तक अन्याय और अत्याचार करने का अधिकार मिल जाएगा, जब तक वह अपने इस कार्य को बहुसंख्या को अधिकतम आनन्द देने वाला सिद्ध कर सके। बेन्थम ने न्याय के विचार को तिलांजलि दे दी है, अतः शासक के ऐसे कार्य कभी अन्यायपूर्ण नहीं हो सकते। इस दशा में अल्पसंख्या का सुख बहुसंख्या के सुख से सदैव दबा रहेगा। बेन्थम के सिद्धान्त में अल्पसंख्या को अन्याय और अत्याचार से परित्राण पाने का कोई मार्ग नहीं है। यह बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला तथा स्थायी बनाने वाला है।[1]

(7) **सुखों की मृगतृष्णा-बेन्थम की एक मौलिक भूल यह भी है कि वह केवल आनन्द की प्राप्ति पर बल देता है** और यह भूल जाता है कि मनुष्यों के आनन्दों की इच्छा और सुखों की तृष्णा कभी पूरी नहीं हो सकती। हम अपनी इच्छाओं को जितना पूरा करते हैं, ये उतनी ही बढ़ती चली जाती हैं।[2] अतः बुद्धिमान व्यक्ति सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए इच्छाओं के दमन का और संयम का मार्ग अवलम्बन करना श्रेयस्कर समझते हैं। अपनी इच्छाओं के अनुसार सुखों को पूरा करने से हम उनके दास बन जाते हैं, अतः बेन्थम का सुख-प्राप्ति का सिद्धान्त मौलिक रूप से मिथ्या है।

(8) **भ्रान्त धारणाएँ—उपयोगितावाद की विचारधारा का आधार मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र की भ्रान्त एवं गलत धारणाएँ हैं।** बेन्थम मानव-प्रकृति को कोरा सुखवादी मानता हुआ उसकी मानसिक रचना का सही रूप हमारे सामने नहीं रखता है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी तथा केवल अपने सुख के लिए प्रयत्न करने वाला मानता है। किन्तु मनुष्य स्वार्थी ही नहीं, अपितु परोपकारी भी है; वह अपने लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए भी जीता है। वह केवल सुख की भावना से नहीं, अपितु परोपकार, देश-प्रेम, बलिदान, त्याग और तपस्या की भावनाओं से भी प्रेरित होकर कार्य करता है।

(9) **समाज की सत्ता न मानना—बेन्थम समाज और समुदाय की पृथक् सत्ता नहीं मानता है, वह इसे व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है।** जिस प्रकार विभिन्न अणुओं से किसी वस्तु का निर्माण होता है; इनसे पृथक् उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वैसे

1. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन माडर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 217.
2. मनुस्मृति 2/94, मिलाइए महाभारत आदिपर्व 75/49.
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।।

ही बेन्थम समाज को व्यक्तियों के समूह से भिन्न नहीं मानता है। किन्तु समाज केवल व्यक्तियों का पुँज मात्र नहीं है, अपितु वह विकसित होने वाली एक संस्था है।

(10) **सम्भव न होना**—उपयोगितावाद का ध्येय अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना है। किन्तु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। सुख व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु है, वह सबके लिए एक जैसा नहीं हो सकता। इस दशा में एक सामान्य सुख और सामान्य आनन्द की कल्पना कैसे की जा सकती है ? सुख वैयक्तिक है, अतः एक सामान्य सुख या आनन्द की कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती है।

(11) **भ्रान्तिपूर्ण तर्क—बेन्थम का सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से भी दोषपूर्ण है** जेम्स मिल ने बेन्थम का समर्थन करते हुए कहा है कि आनन्द ही एकमात्र वांछित या चाही जाने वाली वस्तु है, अतः आनन्द एकमात्र **वांछनीय** (Desirable) वस्तु है। उसका यह तर्क है क्योंकि देखी और सुनी जाने वाली वस्तुएँ एकमात्र दर्शनीय और श्रवणीय वस्तुएँ हैं, इसी प्रकार चाही जाने वाली वस्तुएँ वांछनीय हैं। यदि खाद्य वस्तु वही है, जो खाई जाए तो वांछनीय वस्तु वही है जो चाही जाए। वस्तुतः यह तर्क भ्रान्त है और मिथ्या सादृश्य पर आधारित है, क्योंकि दर्शनीय तथा खाद्य का अर्थ है जो देखा जा सके तथा खाया जा सके। यह विशुद्ध रूप से भौतिक विचार है, किन्तु वांछनीय का अर्थ है, जो चाहा जाने योग्य हो, अतः वांछनीय शब्द में नीतिशास्त्र का विचार निहित है। चाही जाने योग्य वस्तु केवल वही नहीं है, जिसके लिए हम इच्छा करते हों, वह खाद्य और दर्शनीय वस्तुओं से भिन्न है। हमारी इच्छाएँ नाना प्रकार की होती हैं, इनमें परस्पर संघर्ष होता है। नीतिशास्त्र की आवश्यकता इसीलिए है कि वह हमें दो प्रकार का ज्ञान करा सके। पहला तो यह कि वह हमें ऐसी कसौटी दे सके जिससे अच्छी-बुरी इच्छाओं का निर्धारण किया जा सके तथा दूसरा यह कि प्रशंसा एवं निन्दा के साधनों से अच्छी इच्छाओं को प्रोत्साहित एवं बुरी इच्छाओं को निरुत्साहित किया जा सके। मनुष्य प्रायः स्वार्थी, अज्ञानी, अदूरदर्शी होते हैं। उनकी अपनी वैयक्तिक इच्छाओं में तथा सामाजिक हित में विरोध हो सकता है, इसका निराकरण नीतिशास्त्र से होता है। उपयोगितावाद इसकी उपेक्षा करता है।

इस सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है कि जब मैं किसी वस्तु की इच्छा करता हूँ तो यह इसलिए करता हूँ कि इससे मुझे सुख मिलेगा। यह बात सर्वांश में सत्य नहीं है। भूखा होने पर मैं खाने की वस्तु चाहता हूँ, यह मुझे तभी तक सुख देगी, जब तक मैं भूखा हूँ। इसमें भूख या खाने की इच्छा मुझमें पहले पैदा होती है, पेट भर जाने के बाद तृप्ति अथवा क्षुधानिवृत्ति से मिलने वाला आनन्द इसका परिणाम है और भूख के बाद उत्पन्न होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाम को आनन्द पाने के लिए जब हम सिनेमा जाने की इच्छा करते हैं तो यहाँ आनन्द पहले है और हम उससे प्रेरित होकर कार्य करते हैं। किन्तु मनुष्य के अधिकांश कार्य भूख वाले उपर्युक्त उदाहरण की भाँति हैं, ये ऐसी इच्छाओं से उत्पन्न होते हैं, जो सुख से पहले बनी हैं।[1]

(12) **व्यक्तिवाद**—बेन्थन के मत का एक बड़ा दोष यह है कि वह समाज को

1. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 806.

केवल व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है और इसविषय में घोर **व्यक्तिवादी**(Individualistic) है। इसके अनुसार जिस प्रकार पदार्थ अणुओं के संयोग से बनते हैं, उसी प्रकार समाज व्यक्तियों के संयोग से बनता है। व्यक्तियों के अतिरिक्त समाज की कोई पृथक् सत्ता या व्यक्तित्व नहीं है। इसे समाज तथा राज्य का अणुवादी (Atomistic) विचार कहा जाता है। इसके अनुसार समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के जीवनों, उद्देश्यों तथा प्रयोजनों से पृथक् समाज का कोई जीवन, उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है, समष्टि की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह इसको बनाने वाले व्यक्तियों का योगफल मात्र है। अतः यह कहा जाता है कि उपयोगितावादियों का दृष्टिकोण यह है कि जंगल पेड़ों का समूह मात्र है, उससे पृथक् नहीं है। ये सावयव (Organic) सिद्धान्त मानने वालों की भाँति राज्य और समाज का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते हैं। इसका यह परिणाम हुआ है कि वे व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का यथार्थ निरूपण नहीं कर सके, इनमें एक झूठा उग्र विरोध समझते रहे। उनका यह मत था कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करने वाले हैं, अतः व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा के लिए वे मुक्त द्वार (laissez faire) की या राज्य द्वारा न्यूनतम हस्तक्षेप की नीति को आदर्श मानते थे। उनकी दृष्टि में, फ्रीमैन के शब्दों में सबसे अच्छी सरकार वही है, जो कम-से-कम शासन करती है (That government is the best which governs least)। बार्कर ने यह ठीक ही लिखा है कि "बेन्थम ने यह सिद्धान्त उस समय प्रतिपादित किया था, जब यूरोप की विभिन्न सरकारें अपने अत्यधिक प्रतिबन्धों और नियमों से व्यापार एवं उद्योग का गला घोंट रही थीं, कानून सामन्तवादी व्यवस्था के प्रबल पोषक थे और यूरोप की सरकारों पर कुटिल स्वार्थ रखने वाले व्यक्तियों का प्रभुत्व था।"[1] उस समय बेन्थम ने राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप और नियमों का विरोध करके वास्तव में एक महान् सेवा की। किन्तु 19वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति बढ़ने से परिस्थितियाँ बदल गईं, उस समय समाज का हित इसी में प्रतीत होता था कि वह मजदूरों का शोषण करने वाले तथा उनसे पशुओं की भाँति काम में लेने वाले पूँजीपतियों की स्वतन्त्रता पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए। उस समय राज्य और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विरोध का बेन्थम का उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या और भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होने लगा। इसके स्थान पर ग्रीन ने नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आदर्शवाद के नूतन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

(13) **राज्य का विवेचन न करना**—बेन्थम के उपयोगितावाद का एक यह भी दोष है कि यह केवल शासन (Government) विषयक सिद्धान्त है, राज्य के सम्बन्ध में यह सर्वथा मौन है। बेन्थम ने राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं माना, क्योंकि उपयोगितावाद प्रधान रूप से व्यक्ति द्वारा सुख की प्राप्ति के लक्ष्य पर ही बल देता है, वह मनुष्य के और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का कोई विश्लेषण या विवेचन नहीं करता; वह केवल इतना ही कहता है कि राज्य को न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह राज्य के सम्बन्ध में विस्तृत सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करता है।

1. बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड, पृ॰ 9.

राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से राज्य के सिद्धान्त का विवेचन न करना उसकी एक बड़ी कमी है।

(14) स्वतन्त्रता की उपेक्षा—बेन्थम की विचारधारा का एक बड़ा दोष यह है कि वह स्वतन्त्रता या समानता को कोई महत्त्व नहीं देता है। उसके मतानुसार कानून का प्रधान लक्ष्य सुरक्षा (Security) प्रदान करना है। सुरक्षा सामाजिक जीवन तथा मानवीय सुख के लिए परम आवश्यक है। समानता के सिद्धान्त का पालन उसी हद तक होना चाहिए, जहाँ तक इससे सुरक्षा को कोई बाधा नहीं पहुँचती है। स्वतन्त्रता कानून का प्रधान विषय नहीं है। उसे सुरक्षा का ही अंग समझना चाहिए। वह समानता और स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द करने वाली फ्रेंच क्रान्ति से पूर्व होने वाले यूरोप के लोकोपकारी (Benevolent) निरंकुश राजा—सम्राट् फ्रांसिस और रूस की रानी कैथेराइन का प्रशंसक था। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जब मानवीय अधिकारों का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया तो बेन्थम ने यह कहा कि इन अधिकारों को केवल तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(1) पहली श्रेणी के अधिकार दुर्बोध और अबुद्धिगम्य हैं। (2) दूसरी श्रेणी के अधिकार मिथ्या हैं। (3) तीसरी श्रेणी के अधिकार अबुद्धिगम्य और मिथ्या दोनों हैं। समानता के बारे में उसका विचार था कि यह हिंसा से ही स्थापित की जा सकती है और इसे हिंसा से ही समाज में बनाए रखा जा सकता है। बेन्थम के ये विचार वर्तमान युग में किसी को भी ग्राह्य और उचित नहीं प्रतीत हो सकते हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि बेन्थम के उपयोगितावाद का दार्शनिक आधार और मनोविज्ञान अपर्याप्त, अयथार्थ और भ्रान्तिपूर्ण था।[1] इसमें मानवीय कार्यों के एकमात्र मूल प्रेरक हेतु सुख की प्राप्ति तथा दुःख के निवारण की कामना को मानना बड़ा स्थूल, भ्रान्त, भौतिक तथा एकांगी दृष्टिकोण था। इसकी सुखों की मात्रा को नापने की पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण थी। इसमें सुखों के स्वरूप पर और व्यक्तियों की रुचियों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। इससे राज्य में बहुमत को अल्पमत पर मनमाना अत्याचार करने की खुली छूट मिल गई थी। इसमें व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकारों की उपेक्षा की गई थी तथा व्यक्ति और समष्टि के हित के समन्वय की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। यह सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट, अपूर्ण, गड़बड़, अव्यवस्था तथा भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला था।

बेन्थम की देन और महत्त्व—किन्तु इन दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में बेन्थम की विचारधारा का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। बेन्थम मौलिक अथवा उत्कृष्ट कोटि का विचारक नहीं था। वेपर[2] के शब्दों में, "उसने ज्ञान का सिद्धान्त लॉक तथा ह्यूम से ग्रहण किया, सुख-दुःख का सिद्धान्त हेल्वेटियस से लिया, सहानुभूति और प्रतिकूल भावना का सिद्धान्त ह्यूम से लिया, उपयोगिता का विचार कई अन्य लेखकों से लिया। उसमें मौलिकता का अभाव था।" फिर भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के क्षेत्र में अपनी विलक्षण देनों तथा प्रभाव के कारण वह विशिष्ट स्थान रखता है। वह एक क्रियात्मक सुधारक था, उसने उस समय की सामाजिक बुराइयों की ओर

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 467.
2. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 99.

ध्यान खींचा। जनता के हित के लिए विभिन्न प्रकार के सुधारों के लिए प्रबल आन्दोलन किया और उसके तथा उसके शिष्यों के प्रयास से अनेक क्षेत्रों में सुधार हुए। उसके विचार भले ही परस्पर विरोधी और अस्पष्ट हों, किन्तु इनसे राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में नवीनता, स्पष्टता और मौलिकता आई। अतः बेन्थम के विचारों में मौलिकता तथा स्पष्टता न होने पर भी, उसने राजनीतिक चिन्तन में कई नई देनें दीं तथा मौलिक प्रवृत्तियाँ आरम्भ कीं। विभिन्न क्षेत्रों में उसका असाधारण प्रभाव उल्लेखनीय है।

उन्नीसवाँ अध्याय

उपयोगितावादी विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873 ई०)

जीवनी—उपयोगितावाद के प्रबल समर्थक जेम्स मिल का बड़ा पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल था। जेम्स मिल बेन्थम का घनिष्ठ मित्र और प्रधान शिष्य था, उसने अपने पुत्र को बचपन से ही बेन्थम के आदर्शों के अनुसार ढालने का पूरा प्रयत्न किया, उसकी शिक्षा की ओर अत्यधिक ध्यान दिया। तीन वर्ष की आयु में उसे यूनानी भाषा सिखाई, आठ वर्ष की अवस्था में उसे लैटिन, बीजगणित और ज्यामिति का अध्ययन कराया। जब अधिकांश बालक स्कूल की पढ़ाई आरम्भ करते हैं, उस समय तक जॉन यूनानी भाषा में प्लेटो के सब संवाद, हिराडोटस की तथा जेनोफन की रचनाएँ पढ़ चुका था। यद्यपि उसे राबिन्सन क्रूसो के पढ़ने का शौक था, किन्तु उसका पिता उसे असाधारण विद्वान् बनाने पर तुला हुआ था। जॉन मिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उसे बच्चों की कहानियों की पुस्तकें और खिलौने कभी नहीं दिए गए, ये उसे कभी-कभी सम्बन्धियों या परिचित व्यक्तियों से भेंट के रूप में ही मिलते थे।[1] 11 वर्ष की आयु में उसे लिवी द्वारा लैटिन में लिखित 'रोमन शासन का इतिहास' पढ़ने के लिए दिया गया। 13 वर्ष की आयु होने पर पिता ने एडम स्मिथ और रिकार्डो की अर्थशास्त्र-विषयक पुस्तकें तथा तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के गम्भीर एवं जटिल विषय उसे पढ़ाने शुरू किए।

14 वर्ष की आयु में उसे बेन्थम के छोटे भाई सर सैमुअल बेन्थम के साथ एक वर्ष के लिए फ्रांस भेजा गया, यहाँ उसे फ्रेंच भाषा, साहित्य और संस्कृति का ज्ञान कराया गया, दक्षिणी फ्रांस में उसे पिरेनीज पर्वतमाला में तथा अन्य स्थानों पर घुमाया गया। इसका उस पर गहरा प्रभाव पड़ा, उसे वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र के अध्ययन में अभिरुचि उत्पन्न हुई, उसमें घूमने का ऐसा शौक पैदा हुआ कि मृत्युपर्यन्त वह भ्रमण का शौकीन बना रहा। इंगलैण्ड वापिस लौटने पर उसे बेन्थम की 'कानून के सिद्धान्त' की ड्युमान्त द्वारा सम्पादित फ्रेंच पुस्तक पढ़ने को दी गई। उसने आत्मकथा में लिखा है कि "इस पुस्तक के अध्ययन से मेरे जीवन में और मानसिक विकास में

---

1. काटलिन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल फिलासफीज पृ० 390.

नवयुग का श्रीगणेश हुआ।" इसी समय जॉन आस्टिन से उसे रोमन कानून का अध्ययन कराया गया।

17 वर्ष की छोटी आयु में अपने पिता के प्रभाव से उसे 1823 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत के साथ होने वाले पत्र-व्यवहार विभाग के निरीक्षक कार्यालय (Office of the Examiner of Correspondence) में अपने पिता के नीचे नौकरी मिल गई। उसका कार्य भारत भेजे जाने वाले पत्रों के मस्विदे या प्रारूप तैयार करना था, वह इस कला में अत्यन्त कुशल था। इण्डिया आफिस में कार्य करने से उसे शासन की वास्तविक समस्याओं का गहरा और क्रियात्मक अनुभव हुआ। 1856 में वह इस विभाग का अध्यक्ष बना और 1857 में जब भारतीय विद्रोह के बाद कम्पनी की समाप्ति का निश्चय किया जाने लगा तो उसे कम्पनी की ओर से इस निश्चय के विरुद्ध संसद् को दिये जाने वाले आवेदनपत्र को तैयार करने का काम सौंपा गया। उसने इसे इतने प्रभावशाली ढंग से लिखा कि अर्ल ग्रे ने यह घोषणा की थी कि उसने उस समय तक इससे अधिक अच्छे राजकीय पत्र को नहीं पढ़ा था।

1858 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समाप्त होने पर मिल को अच्छी पेन्शन मिली। वह अपनी पत्नी के साथ घूमने के लिए दक्षिणी फ्रांस गया, यहाँ आविन्योन (Avignon) में आकस्मिक बीमारी से पत्नी की मृत्यु हो गई और वहीं उसकी समाधि बनाई गई। मिल ने अपने जीवन का शेष बड़ा भाग आविन्योन में ही बिताया ताकि वह उसकी समाधि के पास रहता हुआ दिवंगत आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रख सके। 59 वर्ष की आयु में यह दार्शनिक उग्रसुधारदल वालों का प्रतिनिधि बनकर वैस्टमिंस्टर के निर्वाचन क्षेत्र से 1866 से 68 तक पार्लियामेण्ट का सदस्य रहा।

रचनाएँ—जॉन स्टुअर्ट की प्रधान रचनाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में उसके जीवनकाल में प्रकाशित होने वाली रचनाएँ आती हैं, ये कालक्रम से निम्नलिखित हैं—तर्कशास्त्र की पद्धति (System of Logic, 1483), अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (Principles of Political Economy, 1848)। 1859 में उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'स्वतन्त्रता पर निबन्ध' (Essay on Liberty) प्रकाशित हुई। इसी वर्ष 'संसदीय सुधार पर विचार' ((Thoughts on Parliamentary Reform) नामक पुस्तक छपी। 1860 में उसने 'प्रतिनिध्यात्मक शासन पर विचार' (Consideration on Representative Government) नामक पुस्तक लिखी। 1861 में फ्रेज़र मैगजीन में उपयोगितावाद पर उसका सुप्रसिद्ध निबन्ध छपा। 1869 में 'स्त्रियों की पराधीनता' (Subjection of Women) नामक प्रसिद्ध पुस्तक मुद्रित हुई। 1873 में उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित होने वाली पुस्तकें उसकी 'आत्मकथा' (1873) तथा 'धर्म पर तीन निबन्ध (1874)' (Three Essays on Religion, 1874) तथा एच० एस० आर० इलियट द्वारा 1910 में प्रकाशित पत्रों का संग्रह (Letters) हैं।

मिल के प्रमुख राजनीतिक विचार—मिल के स्वतन्त्रता विषयक विचार राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में जान स्टुअर्ट की सबसे बड़ी देन—व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन है। उसने इसका अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में 'स्वतन्त्रता पर निबन्ध' में जैसा प्रतिपादन किया है, वैसा सम्भवतः मिल्टन के अतिरिक्त, अंग्रेजी भाषा के किसी अन्य लेखक ने नहीं किया है। अतः इसे मिल्टन की सुप्रसिद्ध कृति *Aeropagitica*

के समान स्वाधीनता का अमर महाकाव्य और इस विषय की सर्वोत्तम रचना समझा जाता है। मिल ने इस छोटे से निबन्ध के प्रणयन में और पत्नी के साथ मिलकर इसका बार-बार संशोधन करने में पाँच वर्ष लगाए थे तथा उसका यह कहना था कि मैंने अपनी किसी अन्य रचना का इससे अधिक सावधानी से सृजन अथवा इससे अधिक सावधानी से संशोधन नहीं किया। उसने इसे दो बार लिखा और अपनी पत्नी के साथ मिलकर इसे कई बार पढ़ा, इसके एक-एक वाक्य को तोला और परखा।[1] उसका यह विश्वास था कि समय बीतने के साथ इसका महत्त्व बढ़ता जाएगा और 100 वर्ष बीत जाने के बाद आज भी उसकी यह भविष्यवाणी सर्वथा सत्य प्रतीत होती है।

उपयोगितावाद के आरम्भिक प्रवर्त्तकों और विचारकों ने स्वतन्त्रता को जॉन मिल के समान महत्त्व नहीं दिया था। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि बेन्थम इसे सुरक्षा के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान देता था। उसकी दृष्टि में अन्य वस्तुओं का महत्त्व अधिक था, किन्तु मिल ने इसे सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया। इसका कारण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाना था। बेन्थम और जेम्स मिल के समय में राजनीति के क्षेत्र में सत्ता मुट्ठी-भर कुलीन परिवारों के हाथ में थी, उस समय अधिकांश जनता के हित के लिए यदि कुलीनों की स्वतन्त्रता पर कुछ सामाजिक अंकुश लगाया जाता तो पुराने उपयोगितावादियों को यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता था, अतः उनके लिए स्वाधीनता कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती थी। किन्तु जॉन मिल की पुस्तक लिखे जाने के समय 1854 तक राजनीतिक परिस्थिति बिल्कुल बदल चुकी थी। 1832 के सुधार कानून ने मताधिकार व्यापक कर दिया था, चार्टिस्ट आन्दोलनकारी पार्लियामेण्ट के सुधार के लिए क्रान्तिकारी प्रस्तावों पर बल दे रहे थे। उस समय तक यह स्पष्ट हो चुका था कि जिस प्रकार पुराना सत्ताधारी अल्पसंख्यक कुलीनवर्ग समाज पर अत्याचार करता था, उसी प्रकार लोकतन्त्र में सत्ता हस्तगत करने वाला बहुसंख्यक वर्ग सामान्य हित को हानि पहुँचाते हुए भीषण अत्याचार का साधन बन सकता है। 'सुधार कानून' पास होने के बाद पार्लियामेण्ट ने बड़ी तेजी से अनेक कानून पास किए।

नवीन कानूनों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित एवं मर्यादित हो रही थी। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के आगे इस समय यह एक बड़ी समस्या थी कि वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार करे। एक ओर पूँजीवाद के एकाधिकार से तथा दूसरी ओर श्रमिक अथवा सर्वहारा वर्ग के आधिपत्य की सम्भावना से उसकी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ गई थी। जॉन मिल को इस बात का श्रेय है कि उसने ऐसी विषम परिस्थितियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उग्र एवं शक्तिशाली समर्थन किया। मिल इसका समर्थन पुराने उपयोगितावादियों द्वारा रद्दी की टोकरी में डाले गए प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर नहीं कर सकता था। अतः उसने इसका पक्षपोषण उपयोगिता के आधार पर किया। स्वतन्त्रता उच्चतम उपयोग की वस्तु है, क्योंकि वह समाज और व्यक्ति दोनों को लाभ पहुँचाने वाली है, अतः इसकी रक्षा प्राणपण से की जानी चाहिए। व्यक्ति को मानसिक और शारीरिक—विचार, भाषण और कार्य करने की पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए।

---

1. ऑन लिबर्टी, दी सब्जेक्शन ऑफ विमेन (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1954), भूमिका, पृ० 8.

मिल ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का समर्थन **दो प्रकार के दार्शनिक आधारों पर किया है, पहला व्यक्ति की दृष्टि से है तथा दूसरा समाज की दृष्टि से।** जर्मन दार्शनिक विल्हैल्म वान हम्बोल्ड का अनुसरण करते हुए मिल ने यह माना था कि मनुष्य का उद्देश्य अपनी शक्तियों का उच्चतम तथा अधिकतम सामंजस्यपूर्ण विकास करना है। यह विकास स्वाधीनता के वातावरण में ही सम्भव है, यदि यह स्वाधीनता न दी जाए तो मानव-जीवन का मूल एवं प्रधान उद्देश्य ही विफल हो जाएगा। दूसरा दार्शनिक आधार समाज की उन्नति और विकास का है। उसने अपने स्वाधीनता के निबन्ध में इस पर अत्यधिक बल दिया है कि मानव-समाज की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सभी प्रकार के चिन्तन का और सब प्रकार के व्यक्तियों को विकास का अवसर दिया जाए ताकि वे सब दिशाओं में उन्नति कर सकें। मिल का यह विचार था कि इन दिनों सरकार की शक्ति निरन्तर बढ़ रही है और वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचल रही है। यदि इस प्रवृत्ति का विरोध न किया गया और उसकी स्वतन्त्रता सुरक्षित न की गई तो मानव-समाज के विकास में बड़ी बाधा पड़ जाएगी। इसका विकास एवं प्रगति नवीन विचारों और नूतन आविष्कारों से होती है। ये सदैव विशेष व्यक्तियों के कारण होते हैं। आजकल हमें जो विलक्षण प्रगति और उन्नति दिखाई देती है, वह 19वीं, 20वीं शताब्दी के विस्मयावह आविष्कारों से और नई विचारधाराओं से हुई है। इसका श्रेय जेम्स वाट, जार्ज स्टीवन्सन, कार्ल मार्क्स, लेनिन, महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों को है। समाज में अधिकांश व्यक्ति रूढ़िवादी होते हैं, वे परम्परागत विचारों और जीवन-पद्धतियों को उत्कृष्ट एवं आदर्श समझते हैं, नवीन विचारधाराओं और प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं, इनके प्रवर्तकों को सनकी समझते हैं, इनकी खिल्ली उड़ाते हैं। आजकल डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त सर्वमान्य समझा जाता है, किन्तु 100 वर्ष पहले जब उसने सर्वप्रथम इसका प्रतिपादन किया था तो इसका उग्र विरोध किया गया था। 1920 में गांधी जी ने जब सत्य, अहिंसा और चर्खे तथा असहयोग से भारत को स्वराज्य दिलाने की बात कही थी तो आरम्भ में अधिकांश भारतीयों ने उन पर विश्वास नहीं किया था। ऐसे नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति समाज में पागल; झक्की, दीवाने या सनकी समझे जाते हैं। मिल का यह दृढ़ मत था कि मानव-समाज की समूची प्रगति और उन्नति ऐसे दीवाना समझे जाने वाले व्यक्तियों के कारण होती है। समाज प्रायः रूढ़िवादी होने के कारण बहुमत के बल से ऐसे व्यक्तियों का दमन करता है, उन्हें अपने अनुकूल मत रखने के लिए विवश करता है। इस प्रकार समाज की उन्नति में बड़ी बाधाएँ पड़ जाती हैं, उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। उसके निर्बाध विकास और उन्नति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सब व्यक्तियों को—विशेषतः सनकियों तथा दीवाने लोगों तक को—अपने विकास के लिए पूर्ण स्वाधीनता और स्वतन्त्रता दी जाए।

स्वतन्त्रता के दो लक्षण—मिल ने स्वाधीनता के दो लक्षण किए हैं। पहला लक्षण व्यक्ति का अपने ऊपर सर्वोच्च सत्ता रखना है। यह स्वाधीनता शब्द के इस अर्थ से भलीभाँति सूचित होता है कि यदि वह स्व के अर्थात् अपने अधीन है, उस पर किसी दूसरे का प्रभुत्व या नियन्त्रण नहीं हैं, वह सर्वथा स्वतन्त्र है, वह जैसा चाहे, जो चाहे, काम कर सकता है। **उसके मतानुसार सब प्रकार का नियन्त्रण या बन्धन अपने-आपमें**

में बुरा है। उसे सब कार्य करने की तब तक पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, जब तक वह दूसरों की हानि नहीं पहुँचाता है। इस विषय में यह कहना सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को उस हद तक अपनी छड़ी घुमाने की स्वतन्त्रता है, जहाँ तक वह दूसरे व्यक्ति की नाक से या सिर से न टकराए। मिल की स्वाधीनता का **दूसरा लक्षण** यह है कि "यह अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है।" यह पहले लक्षण से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुछ अधिक मात्रा में नियन्त्रित की जा सकती है। मिल ने यह कहा है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसे पुल से गुजर रहा है, जिसके टूट जाने का भय है तो आपका उसे ऐसे पुल पर जाने से रोकना सर्वथा न्यायोचित है। इस विषय में उसे अपनी इच्छानुसार कार्य की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि "स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार कार्य करना है और किसी व्यक्ति की यह इच्छा नहीं हो सकती कि वह नदी में गिर पड़े"। मनुष्य की इच्छा पुल पार करने की है, किन्तु इसका नियन्त्रण करना इसलिए न्यायोचित है कि उसकी इससे भी बड़ी—जीवित रहने की इच्छा को—नदी में गिरने से बचाकर पूरा किया जाए।

मिल ने **स्वाधीनता के दो बड़े प्रकार** माने हैं—पहला विचार और भाषण की स्वतन्त्रता तथा दूसरा कार्य करने की स्वतन्त्रता। पहले प्रकार में मिल व्यक्ति को पूर्ण रूप से निर्बाध तथा सब प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है, और दूसरे प्रकार में वह कुछ मर्यादाएँ या बन्धन मानता है। उसने दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता का समर्थन निम्नलिखित रूप में किया है।

(क) विचार और भाषण की स्वाधीनता की युक्तियाँ—मिल के मतानुसार मानव-समाज की उन्नति और प्रगति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार और भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इस विषय में वह इतना उदार है कि सभी प्रकार के पागल, झक्की और सनकी व्यक्तियों को भी उसने विचार की पूरी स्वतन्त्रता देने का प्रबल समर्थन किया है, क्योंकि यह सम्भव है कि दस सनकियों में एक सनकी समाज को नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा प्रदान करे। यदि ऐसी स्वतन्त्रता न दी जाए तो समाज की प्रगति में बाधा पहुँचेगी। मिल ने निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर विचार और भाषण की स्वतन्त्रता को न्यायसंगत एवं तर्कानुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—

(1) इतिहास का प्रमाण—इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कोई व्यक्ति प्रचलित विचारधारा के प्रतिकूल एक नई विचारधारा प्रस्तुत करता है तो उसका दमन नहीं किया जाना चाहिए, ऐसे व्यक्ति को समाज-विरोधी, सनकी, पागल कहकर उसे उसकी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं करना चाहिए ; क्योंकि यदि उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जाएगी तो नई विचारधारा का प्रचार नहीं होगा। ऐसा न होना समाज के लिए घातक एवं हानिकर है, क्योंकि यह सम्भव है कि समाज में प्रचलित विचारधारा असत्य हो तथा नवीन विचारधारा सत्य हो। अतः मिल ने कहा है कि "यदि केवल एक व्यक्ति को छोड़कर समूची मानव-जाति एक विचार को मानने वाली हो तो भी मानव-जाति के लिए यह न्यायसंगत नहीं है कि वह विरोधी मत रखने वाले एक व्यक्ति का दमन करे अथवा शक्तिसम्पन्न होने पर वह एक व्यक्ति मानव-जाति के विचारों

का दमन करे।"[1]

मिल ने इस बात को सुकरात और ईसा के ऐतिहासिक दृष्टान्तों से समझाया है। ये दोनों उदाहरण मानव-जाति द्वारा नवीन सत्यों के दमन किए जाने के महान् अपराध और भारी भूलें हैं। उसने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में कहा है कि मानव-जाति को इस बात का स्मरण कराने की आवश्यकता नहीं है कि कभी सुकरात नाम का एक व्यक्ति हुआ था, उसमें तथा उसके समय के कानूनी अधिकारियों एवं लोकमत के बीच में एक स्मरणीय संघर्ष हुआ था। सुकरात प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों का मूल स्रोत होने के कारण 2000 से अधिक वर्ष बीत जाने पर आज भी अमर है, उसे उसके देशवासियों ने अधार्मिकता और अनैतिकता के अपराधों के कारण प्राणदण्ड दिया था। वह राज्य द्वारा स्वीकार किए जाने वाले देवी-देवताओं को न मानने के कारण अधार्मिक था, अपनी शिक्षाओं और सिद्धान्तों द्वारा युवकों के मनों को दूषित करने के कारण वह अनैतिक था। न्यायालय ने उसे इन दोनों बातों में अपराधी पाया और ईमानदारी से ऐसे व्यक्ति को दण्ड दिया, जो उस समय तक उत्पन्न हुआ सर्व-श्रेष्ठ मानव था। ऐसे व्यक्ति को अपराधी की तरह मरवाना अत्यन्त क्रूरतापूर्ण था। दूसका उदाहरण जेरूसलेम के निकट कैलवेरी नामक पहाड़ी पर सूली पर लटकाए जाने वाले ईसामसीह का है। आज दो हजार वर्ष बीतने के बाद भी जिसे करोड़ों व्यक्ति भगवान् समझते हैं, उस भगवान् का निन्दक होने के कारण ईसामसीह को प्राणदण्ड दिया गया था। सनकी और पागल कहकर प्राणदण्ड से दण्डित किए जाने वाले ये दोनों महापुरुष यूरोप में दर्शन और धर्म के जन्मदाता हैं। इन ऐतिहासिक उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए मिल ने कहा कि आज मानव-जाति जिन व्यक्तियों को सनकी समझते हुए उनकी विचारधारा का दमन करती है, वही भविष्य में अपूर्व एवं अनोखे तथा समाज को अधिक लाभ पहुँचाने वाले विचारों के जन्मदाता हो सकते हैं। इनके दमन से मानव-समाज का घोर अहित होता है।

इस प्रसंग में मिल ने डॉ० जानसन के एक कथन का खण्डन किया है। जानसन का मत था का सचाई छिप नहीं सकती है, अतः उसका दमन हानिकर नहीं है, अपितु सत्य का रूप निखारने के लिए यह आवश्यक है। मिल ने ईसाइयत के इतिहास से जानसन का खण्डन करते हुए कहा है कि ऐसे दमन से मानव-प्रगति को हानि पहुँचती है। मार्टिन लूथर (1483-1546) के धर्मसुधार आन्दोलन से पहले लगभग 20 बार अनेक धर्मसुधारकों ने ऐसा आन्दोलन चलाने का प्रयत्न किया, किन्तु सदैव कठोर एवं क्रूर दमनचक्र द्वारा सुधार का प्रयास विफल बनाया गया। ब्रेसिया का आर्नोल्ड, फाडोल्सिनो, सावोनारोला, विक्लिफ और जॉन हस्स इसी प्रकार के सुधारक थे। यदि इनका दमन न किया जाता तो धर्मसुधार आन्दोलन बहुत पहले शुरू हो जाता और इस कारण आधुनिक युग को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ पहले ही उत्पन्न हो जातीं, मानव-जाति की 16वीं शती के बाद होने वाली प्रगति इससे पूर्व ही सम्पन्न हो जाती। इन दमनों से सत्य का निखार नहीं हुआ, किन्तु मानव-जाति की प्रगति के विकास में

1. ऑन लिबर्टी (आक्सफोर्ड यूनवर्सिटी प्रेस, दी वर्ल्ड्स क्लासिक्स), पृ० 23.
2. वही, पृ० 32-33.

भारी बाधा पहुँची। वस्तुतः इस प्रकार के दमन से किसी विचारधारा का उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्य अमर है। दमन से केवल इसके प्रचार और प्रसार में विलम्ब होता है, यह सामाजिक प्रगति में बाधक होता है। अतः समाज की प्रगति के लिए किसी विचारधारा का दमन नहीं किया जाना चाहिए। व्यक्ति के विचारों के प्रकाशन तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए, इससे सत्य को पुष्टि मिलती है तथा सामाजिक प्रगति सम्भव होती है।[1]

(2) **सत्य का प्रकाशन**—विचारों की स्वतन्त्रता न देने का एक दुष्परिणाम सत्य का दमन है, इसे न होने देने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार दिया जाना चाहिए। जब हम कानूनी दण्डविधान द्वारा अथवा सार्वजनिक निन्दा के द्वारा किसी विचार को दबाते हैं तो यह सम्भव है कि हम सत्य का दमन कर रहे हैं, क्योंकि यह विचार सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि जिस बात को समाज में अधिकांश व्यक्ति स्वीकार करते हैं, वह सत्य हो। उदाहरणार्थ, 17वीं शताब्दी तक यूरोप के अधिकांश व्यक्ति यह मानते थे कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है; और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। ब्रूनो तथा गैलिलियो जैसे व्यक्तियों को इसलिए दण्डित होना पड़ा कि वे अधिकांश व्यक्तियों द्वारा स्वीकार किए जाने वाले उपर्युक्त भ्रान्त मत के प्रतिकूल यह मानते थे कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। कोई विचार इसलिए सत्य नहीं होता कि वह अधिकांश व्यक्तियों द्वारा चिरकाल से माना जा रहा है। प्रायः परम्परा और रिवाज से माने जाने वाले विचार गलत होते हैं, इन्हें ठीक करने के लिए और बहुमत का अत्याचार दूर करने के लिए व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्न अत्यावश्यक हैं। यह बात विचार और भावना के सभी क्षेत्रों में—धर्म, नीतिशास्त्र, राजनीतिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों में समान रूप से लागू होती है। अतः व्यक्ति को भाषण और विचार की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(3) **सत्य का यथार्थ बोध**—सचाई किसी एक व्यक्ति या पक्ष की बपौती नहीं है; वस्तुतः सत्य का विराट् रूप है, उसके अनेक पहलू होते हैं। विवाद में कोई एक पहलू पर बल देता है और कोई दूसरे पहलू पर। चार अन्धों तथा हाथी की सुप्रसिद्ध कथा के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाएगा। एक गाँव के चार अन्धे जब हाथी को देखने गए तो उसके विभिन्न अंगों को स्पर्श से टटोलकर वे उसके सम्बन्ध में सर्वथा विभिन्न परिणामों पर पहुँचे। हाथी के पैर को टटोलने वाले ने उसे खम्भे की तरह बताया, उसका कान छूने वाले को उसका स्वरूप सूप या छाज जैसा प्रतीत हुआ। तीसरे ने उसकी सूंड को पकड़कर उसे छड़ी की तरह बताया और चौथे ने उसकी बगल को छूकर यह कहा कि हाथी दीवार की तरह होता है। सत्य की खोज में हम सबकी दशा इन अन्धों जैसी है। हम सचाई के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर पाते हैं, किन्तु अपने अनुभव के आधार पर आंशिक सत्य को ही पूर्ण समझने का आग्रह करते हैं। अतः सत्य के पूर्ण एवं वास्तविक रूप को समझने के लिए उसे जितने अधिक दृष्टिकोणों से देखने की व्यक्तियों को स्वतन्त्रता दी जाएगी, हम सत्य को उतना ही अधिक अच्छे रूप में समझने में समर्थ होंगे। ये विभिन्न दृष्टिकोण एक-दूसरे के विरोधी नहीं, किन्तु पूरक हैं। इन सबके समन्वय से हमें पूर्ण सत्य का बोध हो सकता है। अतः सचाई के यथार्थ

1. वही, पृ० 37

ज्ञान के लिए व्यक्ति को भाषण एवं विचार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(4) **सत्य का स्पष्टीकरण**—सत्य के समुचित स्पष्टीकरण के लिए तथा उसे सुदृढ़ बनाने के लिए भी विचार की स्वाधीनता आवश्यक है। 'वादे वादे जयते तत्त्व-बोधः', विचार-विमर्श, वाद-विवाद और संघर्षसे सत्य का स्वरूप अधिकाधिक निखरता है और स्पष्ट होता है। विरोधी का प्रत्युत्तर देने के लिए हम अपने सिद्धान्तों का गम्भीर चिन्तन और मन्थन करते हैं, उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं, अपने पक्ष की निर्बलताओं और दोषों को दूर करते हैं और उसे सुदृढ़ प्रमाणों से पुष्ट करते हैं। कुछ समय के लिए विरोध भले ही बुरा प्रतीत हो, किन्तु अन्ततोगत्वा यह लाभकर होता है। वाद-विवाद में तर्क की कसौटी पर सत्य की परख होती है। तर्क द्वारा सत्य और असत्य के संघर्ष में सत्य की विजय होती है, इसका रूप अधिक प्रस्फुटित और विकसित होता है। इसे मानने वालों के विचारों में अधिक स्पष्टता आती है, वे अपने सिद्धान्तों पर अधिक दृढ़ता से आस्था रखते हैं और उसके प्रचार में तत्पर होते हैं। मिल ने इसे प्राचीन एवं आधुनिक ईसाई धर्म के दृष्टान्त से समझाया है। प्राचीन काल में ईसाई मत पर दूसरे धर्मों के प्रबल आक्षेप और आक्रमण होते थे। इनका उत्तर देने के लिए उस समय के ईसाई अपने धर्म के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन करते थे, उसके विषय में विरोधियों से तर्क करते थे। इस तर्क से उन्हें ज्ञात होता था कि उनका धर्म सत्य है और उसके सिद्धान्तों का उन्हें पालन करना चाहिए। किन्तु आधुनिक ईसाइयों को विधर्मियों के साथ अपने धर्म के बारे में कोई तर्क नहीं करना पड़ता, अतः उसे इसका पूरा ज्ञान नहीं है, उसका ईसाई धर्म में केवल अन्धविश्वास मात्र है। अन्ध-विश्वास मानव-समाज की प्रगति के लिए घातक होते हैं। अतः निरन्तर स्वतन्त्र विचार तथा तर्क द्वारा सत्य को सुदृढ़ बनाना चाहिए और उसमें गहरी आस्था रखते हुए उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। मिल सत्य के विषय में डार्विन के जीव-शास्त्र के इस नियम को लागू करता है कि योग्यतम की विजय होती है। उसका यह मत था कि वही विचार सत्य का रूप धारण करेगा, जो तर्क रूपी संघर्ष में विजयी होगा। अतः राज्य को विचार एवं भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए, इस दशा में समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा।

मिल द्वारा विचार की स्वतन्त्रता के उग्र समर्थन का प्रधान कारण यह था कि उसे इस बात की आशंका थी कि मनुष्य समाज के अत्याचार का शिकार बन रहा है। उसका यह कहना था कि अनादि काल से इतिहास में स्वतन्त्रता के प्रेमियों ने समाज में शक्तिशाली एवं अत्याचारी शासक बनने वाले व्यक्तियों के अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा है। 19वीं शताब्दी के उदारतावादी राजनीतिक विचारकों का यह मत था कि यदि जनता को नवीन अधिकार प्रदान करने वाले संविधान बना दिए जाएँ और जनता को ही अपना स्वामी बना दिया जाए तो शक्तिशाली के अत्याचार का निराकरण हो सकता है। अत्याचारी शासक से सुरक्षा पाने के दो साधन है—पहला तो यह कि जनता के अधिकारों का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया जाए, इनका उल्लंघन होने पर जनता को विद्रोह करने का अधिकार हो। दूसरा, राज्य के संविधान में ऐसे नियन्त्रण स्थापित किए जाएँ कि राजनीतिक अत्याचार न हो सकें। किन्तु मिल इस विचारधारा से सहमत नहीं था, उसका कहना था कि लोकतन्त्र के विकास के

साथ बहुमत के शासन और अत्याचार की सम्भावना बढ़ती चली जा रही है। 'बहुमत के अत्याचार' से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाने की आवश्यकता है। 'बहुमत का अत्याचार' केवल राजनीतिक सत्ता ही नहीं करती, इसे समाज भी बहुत बड़ी मात्रा में करता है। समाज का अत्याचार राज्य के अनेक प्रकार के अत्याचारों से अधिक प्रबल होता है। यद्यपि समाज राज्य की भाँति भीषण दण्डों की व्यवस्था नहीं करता, तथापि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, समाज में प्रचलित विचारों, विश्वासों और आचरण एवं जीवनयापन की पद्धति की ऐसी सुदृढ़ लौह श्रृंखलाओं का निर्माण करता है कि इनमें लोकापवाद और निन्दा के कारण परम्परागत रीति-रिवाजों का पालन करने वाला जन-समुदाय बुरी तरह जकड़ा रहता है। मानव-समाज की प्रगति के लिए इन लौह श्रृंखलाओं से मुक्ति पाना अत्यावश्यक है। इसीलिए मिल ने व्यक्ति के लिए विचार और भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता का पूरी शक्ति के साथ उग्रतम समर्थन किया है।

(ख) कार्य करने की स्वतन्त्रता—विचारों के प्रकाशन तथा भाषण के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता का पक्षपाती होते हुए भी, मिल व्यक्ति को कार्य करने के क्षेत्र में पूरी स्वाधीनता देने का समर्थक नहीं था। इस विषय में उसने बड़ी अनिच्छा से और काफी शर्तों के साथ कुछ प्रतिबन्धों का प्रतिपादन किया है। वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में बाँटता है—(1) व्यक्तिगत या आत्मविषयक (self-regarding) कार्य—ये ऐसे कार्य हैं, जिनका प्रभाव केवल इन कार्यों को करने वाले पर ही पड़ता है, दूसरे व्यक्तियों पर नहीं पड़ता है। खाना, पीना, सोना, घूमने जाना, नहाना, कपड़े पहनना, अध्ययन करना इसी प्रकार के व्यक्तिगत कार्य हैं; मिल के मतानुसार शराब पीना, जुआ खेलना भी इसी श्रेणी में आते हैं। (2) सामाजिक अथवा दूसरे व्यक्तियों पर प्रभाव डालने वाले (other-regarding) कार्य—हमारे जिन कार्यों का प्रभाव समाज के दूसरे व्यक्तियों पर पड़ता है, उन्हें सामाजिक कार्य कहा जाता है, जैसे चोरी करना, शोर मचाना, सार्वजनिक स्थानों को गन्दा करना, सार्वजनिक पद स्वीकार करके उसके कार्य को समुचित रीति से न करना, शान्ति भंग करना। मिल का यह मत है कि व्यक्तिगत अथवा आत्मविषयक कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप करना ठीक नहीं है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जैसा चाहे वैसा आचरण करे। यह सम्भव है कि किसी का आहार, वेशभूषा, रहन-सहन समाज में प्रचलित पद्धति से भिन्न हो, कोई व्यक्ति प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल नमक न खाए, दाढ़ी या लम्बे बाल रखे, ऊँची धोती या चुस्त पोशाक पहने, इन मामलों में उसे पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए तथा इसके लिए किसी प्रकार का उत्पीड़न नहीं होना चाहिए। यह सम्भव है कि उस व्यक्ति के आहारविषयक अथवा वेशभूषा के नवीन प्रयोग से समाज को भविष्य में लाभ पहुँचे, अतः व्यक्तिगत कार्यों के क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप नितान्त अनुचित है।

किन्तु सामाजिक अथवा दूसरों पर प्रभाव डालने वाले कार्यों के सम्बन्ध में उसे यह स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को अपने घर में शराब पीने की पूरी स्वाधीनता है, किन्तु यदि वह शराब पीकर हल्ला-गुल्ला मचाता है और रात के बारह बजे पड़ोसियों की नींद हराम करता है तो उसे इस कार्य के लिए

खुली छुट्टी नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर में गाना गाने का अधिकार है, किन्तु यदि वह रात को गर्दभ स्वर से रेंकते हुए पड़ोसियों को न सोने दे तो उसके इस कार्य पर प्रतिबन्ध लगाया जाना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कार्य से उसके पड़ोसी चैन से नहीं सो पाएंगे, उनकी अपने मकानों में सोने की स्वतन्त्रता पर आघात होगा। अतः ऐसे कार्यों में राज्य का हस्तक्षेप न केवल उचित, अपितु आवश्यक है। इस विषय में राज्य के हस्तक्षेप के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मिल ने लिखा है—"किसी व्यक्ति को अपने-आपको दूसरों के लिए दुःखदायी (Nuisance) नहीं बनना चाहिए। यदि वह अपने से सम्बन्ध रखने वाली बातों में दूसरों को परेशान नहीं करता और अपने से सम्बद्ध विषयों में अपनी इच्छा और निर्णय के अनुसार कार्य करता है, तो जिन कारणों के आधारों पर उसे अपनी स्वतन्त्र सम्मति रखनी चाहिए, वही कारण इस बात को भी सिद्ध करते हैं कि उसे अपनी सम्मतियों को क्रियात्मक रूप देने की अनुमति दी जानी चाहिए।"[1] यही बात अपने से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में व्यक्तियों द्वारा समुदाय अथवा संघ बनाने के विषय में लागू होती है।

इस विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य अपने से सम्बन्ध रखने वाले कार्य किन्हें माने। इस बारे में मिल का मत है कि मनुष्य के विचार और सम्मतियाँ ऐसे कार्य नहीं हैं। मिल का यह कहना है कोई व्यक्ति एथनेसियस (Athnasius) की भाँति समूचे विश्व के प्रतिकूल अपनी एक सम्मति रखता हो तो भी मानव-जाति को उसकी सम्मति को दबाने का अधिकार नहीं है, क्योंकि "एक सम्मति के भी दमन से मानव-जाति की भावी एवं वर्तमान पीढ़ी का अहित होता है। इसमें इस सम्मति को मानने वालों का तथा न मानने वालों का भी अहित है। यदि यह सम्मति ठीक है तो इसका दमन होने पर व्यक्ति अपनी गलती को छोड़कर सत्य ग्रहण करने के अवसर से वंचित हो जाते हैं और यदि यह सम्मति ठीक नहीं है तो भी इसके दमन से व्यक्ति सत्य और असत्य के संघर्ष से प्रस्फुटित होने वाले सत्य के अधिक स्पष्ट और सजीव स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लाभ से वंचित हो जाएँगे।" किन्तु मनुष्यों के कार्यों के सम्बन्ध में यह स्थिति नहीं है। वहाँ पूरी स्वाधीनता नहीं दी जा सकती, दूसरों को हानि पहुँचाने वाले कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए।

फिर भी कार्य करने के क्षेत्र में मिल यथासम्भव अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देने का समर्थन करता है। उसका यह विचार है कि व्यक्ति के कार्यों पर इस दृष्टि से कोई पाबन्दी नहीं लगानी चाहिए कि ये समाज के अधिकांश व्यक्तियों की रुचि या इच्छा के अथवा समाज में प्रचलित रूढ़ियों के प्रतिकूल हैं। लोगों की अरुचि या सामान्य आचरण किसी विशेष व्यवहार के निर्भ्रान्त अथवा सच्चा होने की कसौटी नहीं हो सकता है। यदि किसी व्यक्ति का कोई आचरण उस समय समाज में प्रचलित नैतिकता के प्रतिकूल हो तो भी इसका दमन करना उचित नहीं है क्योंकि प्रचलित नैतिकता के साथ इसका संघर्ष नैतिकता के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अत्यन्त हितकर होता है। व्यक्ति के व्यवहार और आचरण की स्वतन्त्रता का समर्थन मिल ने इस तर्क के आधार

1. डेविडसन—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड, पृ॰ 152.

पर किया है कि समाज के लिए तथा मानव-जाति के लिए यह वांछनीय है कि जीवन यापन की विभिन्न प्रकार की अधिक-से-अधिक पद्धतियों के परीक्षण किए जाएँ, इस विषय में सब व्यक्तियों को स्वाधीनता दी जाए, व्यक्तित्व के विकास का यही अभिप्राय है कि सब व्यक्तियों को अपनी प्रकृति के अनुसार प्रस्फुटित होने का अवसर दिया जाए, उन्हें सामान्य रूप से प्रचलित परम्पराओं, परिपाटियों तथा रीति-रिवाजों के बन्धनों में न बाँधा जाए। यदि ऐसा होगा तो मनुष्यों को अपने विचारों के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं होगी। इसका परिणाम यह होगा कि "मानवीय सुख को बढ़ाने वाले—एक प्रधान तत्त्व का तथा वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सहायक एक प्रमुख तत्त्व का अभाव हो जाएगा, क्योंकि प्रकृति ने मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के स्वभाव बनाए हैं। एक के लिए अनुकूल वस्तु दूसरे के लिए प्रतिकूल हो सकती है और यदि समाज में एकरूपता पर आग्रह करते हुए सब व्यक्तियों को अपनी प्रकृति और इच्छा के अनुकूल विकास करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती तो कुछ व्यक्तियों का विकास अवरुद्ध हो जाएगा, इससे मानव को क्षति पहुँचेगी, अभीष्ट मात्रा में उसकी प्रगति नहीं हो सकेगी।"

मिल अन्य नागरिकों को हानि न पहुँचाते हुए व्यक्ति के कार्यों की अधिकतम स्वतन्त्रता का समर्थन तीन प्रकार की युक्तियों के आधार पर करता है : (क) **पहली युक्ति वैयक्तिक अनुभव द्वारा चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व के विकास की है।** इसे मद्यपान के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। कोई व्यक्ति मद्यपान दो प्रकार से छोड़ सकता है—अपने वैयक्तिक अनुभव से अथवा राज्य के नियम से। पहले प्रकार में व्यक्ति जब यह अनुभव करता है कि शराब पीने से उसका, उसकी पत्नी और बच्चों का घोर अहित एवं अनिष्ट हो रहा है, इसके आधार पर वह मद्यपान को छोड़ने का संकल्प करता है। दूसरा प्रकार राज्य द्वारा शराब बनाने और बेचने पर प्रतिबन्ध लगाना है ताकि शराब पीने वाले मजदूरों के स्त्री तथा बाल-बच्चों का अहित न हो। मिल के मतानुसार इन दोनों में पहला प्रकार अधिक श्रेयस्कर एवं उत्कृष्ट है क्योंकि शराब को छोड़ने का निश्चय व्यक्ति जब स्वयमेव अपने ठोस अनुभव के आधार पर करता है, तब इसमें उसे अपनी अच्छी-बुरी इच्छाओं, सत् एवं असत् संकल्पों से संघर्ष करना पड़ता है, इस संघर्ष के परिणामस्वरूप उसके चरित्र में दृढ़ता आती है। किन्तु राज्य के प्रतिबन्ध से ऐसा नहीं हो सकता, उसमें वह मद्यपान केवल दण्ड के भय से छोड़ता है, किन्तु उसे हानिकर समझते हुए नहीं छोड़ता है। इस दशा में यह सम्भव है कि अपनी आदत न छोड़ सकने के कारण वह चोरी-छिपे शराब पीना जारी रखे। व्यक्ति के निजी अनुभव के आधार पर आन्तरिक सुधार करने का पहला ढंग अधिक अच्छा है। दूसरे ढंग से शराब रोकने के दुष्परिणाम होते हैं। सं० रा० अमरीका में शराबबन्दी करने से तथा भारत के विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों द्वारा मद्यपान पर प्रतिबन्ध लगाने से शराब पीना बन्द नहीं हुआ, अपितु उसका अवैध रीति से पीना और विक्रय करना खूब बढ़ गया। अतः राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाले ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए। हां, वह परोक्ष या अप्रत्यक्ष उपायों से इन्हें रोकने का कार्य कर सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य का मद्यपान की बुराइयों को उग्र रूप में प्रदर्शित करने वाले पोस्टरों, चित्रों, चलचित्रों तथा समुचित शिक्षा

द्वारा लोगों के मनों पर इसके विरुद्ध प्रभाव डालने की या इसे छोड़ने की प्रेरणा देने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु उसे इसको कानून द्वारा नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि जब तक मनुष्य अपनी आत्मा में होने वाले संघर्ष के आधार पर शराबखोरी की लत नहीं छोड़ता, तब तक समाज में स्थायी रूप से मद्यपान की बुराई का अन्त नहीं होगा, लोग अवैध रूप से शराब पीते रहेंगे। यही स्थिति जुआ खेलने के सम्बन्ध में है। मिल इस पर राज्य द्वारा प्रतिबन्ध लगाने के विरुद्ध था। व्यक्ति स्वयमेव इसकी बुराई को अनुभव करके इसका त्याग करे—यह विधि मिल को श्रेयस्कर प्रतीत होती थी, क्योंकि इसमें आत्मसंघर्ष द्वारा व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है।

(ख) **सामाजिक रूढ़ियाँ**—मिल मनुष्यों को सामाजिक रीति-रिवाजों से और परम्पराओं से इसलिए भी मुक्त रखना चाहता था कि ये सामाजिक विकास में बाधक हैं। उसके मतानुसार प्राचीन काल में भारतवर्ष एक सभ्य देश था, किन्तु आजकल उसकी अधोगति का कारण परम्पराओं तथा सामाजिक रूढ़ियों से बँधा होना है। सामाजिक रूढ़ि व्यक्ति के आचरण को वैसे ही जकड़ देती है, जैसे चीनी स्त्री के पैर को बचपन से ही लकड़ी के जूते में रखकर उसका बढ़ना रोक दिया जाता है। अतः व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य द्वारा व्यक्ति के कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिए।

(ग) **नवीनता की युक्ति**—व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का एक प्रबल तर्क नवीनता और आविष्कार का है। साधारण जनता प्रायः रूढ़िवादी और लकीर की फकीर होती है। किन्तु समाज की उन्नति प्रायः नवीन आविष्कारों से होती है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी नई विचारधाराओं और आविष्कारों द्वारा नूतन पथों का प्रदर्शन करते हैं। इसके लिए अभिनव एवं अपूर्व बुद्धि आवश्यक है। यह रूढ़िवाद से तथा दकियानूसी परम्पराओं और पद्धतियों से नहीं आ सकती है। इसके लिए व्यक्तियों को नवीन परीक्षण करने की पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। मिल के मतानुसार समाज की प्रगति पागल, दीवाने या झक्की व्यक्तियों के कार्यों से ही होती है। अधिक भक्कियों का होना समाज की उन्नति का सूचक है, क्योंकि इनकी अधिकता का अर्थ है रुचियों तथा प्रयोगों की विभिन्नता। यह स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप की तीन परिस्थितियाँ—मिल के मतानुसार राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर केवल तीन ही परिस्थितियों में प्रतिबन्ध लगाना उचित था : **पहली परिस्थिति** व्यक्ति की स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचाने की सम्भावना थी। उदाहरणार्थ, सड़क पर मोटर चलाने के सम्बन्ध में राज्य का यह प्रतिबन्ध सर्वथा उचित है कि इसे चलाने के लाइसेन्स को प्राप्त न करने वाले व्यक्ति मोटर न चलाएँ, क्योंकि यदि ऐसे अनाड़ी व्यक्ति मोटर चलाने लगेंगे तो वे दुर्घटनाएँ करेंगे, सड़क पर चलने वाले अन्य व्यक्तियों को टक्कर लगाकर हानि पहुँचाएँगे। चोरों तथा डकैतों को भी स्वतन्त्रता से वंचित करना चाहिए, क्योंकि इनके कार्य अन्य नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं। अतः राज्य को सामाजिक प्रगति की दृष्टि से व्यक्ति के अहितकर कार्यों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए। **दूसरी परिस्थिति** समाज तथा राज्य की सुरक्षा की है। जब राज्य पर संकट हो तो व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अंश छोड़ने के लिए बाधित किया जा सकता है। राज्य पर आक्रमण

के समय में सब नागरिकों से अनिवार्य सैनिक सेवा की आशा की जा सकती है। यदि किसी मुहल्ले में चोरों का संकट बढ़ जाए तो इसकी सुरक्षा के लिए सब नागरिकों को पहरा देने के कार्य के लिए सप्ताह में एक रात की नींद का बलिदान करना पड़ता है। किन्तु ऐसे प्रतिबन्ध केवल विशेष संकटों के अवसर पर लगाए जाने चाहिए और अस्थायी होने चाहिए। **तीसरी परिस्थिति** वह है, जब किसी नागरिक द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का ऐसा दुरुपयोग हो, जिससे उसके कर्त्तव्यपालन में क्षति पहुँचने की सम्भावना हो। मिल प्रत्येक व्यक्ति को मद्यपान का पूरा अधिकार प्रदान करता है, किन्तु वह एक पुलिस कर्मचारी को अपने कार्य के समय में मद्यपान करके घूमने की स्वतन्त्रता नहीं देता, क्योंकि इससे उसके शान्ति स्थापित रखने के कर्त्तव्य-कार्य में बाधा पड़ने की आशंका है। अपने कार्य के समय में शराब पीना उसका वैयक्तिक नहीं, किन्तु सामाजिक कार्य है। राज्य को इस पर प्रतिबन्ध लगाना सर्वथा उचित है।

मिल वैयक्तिक कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता का इतना अधिक समर्थक था कि वह राज्य द्वारा **शिक्षा की व्यवस्था** किए जाने का विरोधी था। राज्य का कर्त्तव्य यहीं तक मर्यादित होना चाहिए कि वह सब नागरिकों को अपने बच्चे स्कूल में भेजने के लिए बाधित करे, किन्तु शिक्षा नागरिक की अपनी अभिरुचि के अनुसार दी जानी चाहिए, इस विषय में विभिन्न प्रयोग और परीक्षण होने चाहिएँ, इनके वैविध्य से शिक्षा-पद्धति विकसित और समृद्ध होगी।

व्यक्ति के आचरण और कार्य करने की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के सिद्धान्तों को संक्षेप में डेविडसन के मतानुसार निम्नलिखित तीन बातों के रूप में प्रकट किया जा सकता है[1] : (1) व्यक्ति के जीवन में भावना और इच्छा के स्थान व महत्त्व को समुचित रीति से स्वीकार किया जाए, बुद्धितत्त्व को प्रधानता देते हुए इनकी उपेक्षा न की जाए। मानव-प्रकृति की क्रियाशीलता और पौरुष की आवश्यकता स्वीकार की जाए तथा इन्हें प्रोत्साहित किया जाए। (2) आनन्द प्राप्ति अथवा मानवीय कल्याण के सम्पादन के लिए व्यक्तित्व के तत्त्व को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाए, व्यक्तियों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, इन्हें अपने विशिष्ट कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, इससे विभिन्न दृष्टिकोण सामने आने से जीवन में विविधता आएगी और मौलिकता को प्रोत्साहन मिलेगा। यह मानव-समाज की प्रगति में महत्त्वपूर्ण सहयोग देगा। (3) व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध करने वाली तथा स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाली सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह किया जाना चाहिए। वह समाज की परम्परागत परिपाटियों के निरंकुश शासन का उग्र विरोधी था। उसने अपने जीवन में स्वयमेव ऐसे अनेक विद्रोह किए थे और इन विषयों में सामाजिक तिरस्कार या लोकनिन्दा की परवाह नहीं की थी। इस विषय में उसका पहला काम श्रीमती टेलर के साथ सम्बन्ध था। उसने 21 वर्ष तक अपने पिता तथा अन्य सम्बन्धियों का विरोध होते हुए विवाहिता परकीया स्त्री के साथ उसके शब्दों में विशुद्ध प्रेम (Platonic love) किया, यद्यपि वह न तो सुन्दरी थी और न ही विशेष बुद्धिमती, समाज इस सम्बन्ध पर उंगली उठाता रहा और उसकी निन्दा करता

1. डेविडसन—पोलिटिकल थॉट इन इंग्लैण्ड—दी यूटिलिटेरियन्स, पृ० 154.

रहा। 1851 में श्रीमती टेलर का पति दिवंगत होने पर उसने अपने सम्बन्धियों के विरोध की परवाह न करते हुए उससे विवाह किया। 1865 में पार्लियामैण्ट का सदस्य चुने जाने पर उस समय पार्लियामैण्ट के सदस्यों के लिए आवश्यक समझे जाने वाले पार्टी के नियमों के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करते हुए मिल ने सदस्यों के अपनी बुद्धि से किए जाने वाले स्वतन्त्र आचरण पर बल दिया। उसका यह मत था कि जनता द्वारा चुना जाने वाला प्रतिनिधि जनता के विचारों की प्रतिध्वनि या गूंजमात्र नहीं होना चाहिए, अपितु अपनी स्वतन्त्र सम्मति और विचारों से उसका पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होना चाहिए। इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उसने उस समय साधारण जनता द्वारा स्वीकृत की जाने वाली गुप्त मतदान प्रणाणी (Secret Ballot) का उग्र विरोध किया और जनता द्वारा नापसन्द किए जाने वाले स्वतन्त्र विचारक चार्ल्स ब्रैडला का प्रबल समर्थन किया।

स्वतन्त्रताविषयक सिद्धान्त की आलोचना—मिल के स्वतन्त्रताविषयक विचारों का राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व है। इस विषय में **मैक्सी** ने यह सत्य ही लिखा है कि "राजनीतिक साहित्य के इतिहास में, मिल का विचार और विवाद की स्वतन्त्रता पर लिखा गया अध्याय इस विषय की एक सुन्दरतम रचना है। इसमें वैसी ही उदात्त और उच्च भावनाएँ प्रकट की गई हैं, जैसी मिल्टन, स्पिनोज़ा, वाल्तेयर, रूसो, पेन, जेफरसन तथा विचार एवं भापण की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करने वाले अन्य व्यक्तियों की रचनाओं में मिलती है।"[1] फिर भी मिल के उपर्युक्त विचारों में कुछ मौलिक भ्रान्तियाँ और दोष हैं। अतः बार्कर, डेविडसन, ब्रिण्टन आदि विचारकों ने मिल के इस सिद्धान्त की प्रबल आलोचना की है। **बार्कर** के शब्दों में, "मिल ने स्वाधीनता पर अपने निबन्ध में स्वतन्त्रता के विचार को अधिक गम्भीर और आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया। पुराने विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के कार्यों को बाह्य नियन्त्रण और हस्तक्षेप से इसलिए मुक्ति प्रदान करना था कि यह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने भौतिक हितों के ज्ञान के लिए तथा इनका अनुसरण करने के लिए आवश्यक था। मिल ने इस दृष्टिकोण से ऊपर उठते हुए स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के पौरुष को और अनेक प्रकार के वैविध्य को उद्बुद्ध एवं उत्पन्न करने वाली आध्यात्मिक मौलिकता तथा नवीनता की उन्मुक्त क्रीड़ा माना है। उसके मत में स्वतन्त्रता इसलिए आवश्यक थी कि यह व्यक्तियों के पुरुषार्थ एवं उत्साह द्वारा समाज की प्रगति एवं समृद्धि के लिए अभीष्ट वैविध्य एवं नवीनता प्रादुर्भूत कर सके।"... किन्तु स्वतन्त्रता के इस उदात्त विचार के बावजूद मिल "एक खोखली स्वाधीनता का तथा काल्पनिक या अमूर्त व्यक्ति (Abstract individual) का प्रतिपादन करने वाला पैगम्बर था। उसके पास अधिकारों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था, इन्हीं अधिकारों से स्वतन्त्रता के विचार का एक ठोस अर्थ प्राप्त होता है। उसे ऐसे पूर्ण समाज का कोई स्पष्ट विचार नहीं था, जिसमें राज्य और समाज का भ्रान्त विरोध लुप्त हो जाता है।"[2] मिल द्वारा प्रतिपादित विचार और कार्य की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 482.
2. बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड फॉम स्पेन्सर टू दी प्रोजेण्ट डे, पृ० 9-10.

प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(1) **मिल की स्वतन्त्रता खोखली और नकारात्मक है।** वह केवल यही प्रतिपादित करती है कि व्यक्ति की स्वाधीनता पर राज्य का अंकुश या प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। उसकी यह मान्यता है कि राज्य या समाज के जितने कम प्रतिबन्ध होंगे, वैयक्तिक स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक होगी, राज्य के प्रतिबन्ध जितने अधिक होंगे, स्वाधीनता उतनी कम होगी। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य का नियन्त्रण परस्पर-विरोधी वस्तुएँ हैं। इस धारणा का आधार सम्भवतः रूसो का यह क्रान्तिकारी कथन है कि व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है, किन्तु वह सभी ओर से अपने को दासता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ पाता है। मिल इन बेड़ियों को काटने पर बल देकर स्वतन्त्रता के अभावात्मक रूप का ही प्रतिपादन करता है और यह भूल जाता है कि स्वतन्त्रता का भावात्मक पक्ष भी है और वास्तविक स्वाधीनता तथा राज्य के नियन्त्रण में पारस्परिक विरोध नहीं है, सुव्यवस्था और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं। यदि राज्य का नियन्त्रण समाप्त हो जाए तो अराजकता, उच्छृंखलता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, उसमें न तो शान्ति सम्भव होगी और न स्वतन्त्रता। अतः स्वतन्त्रता की सत्ता के लिए राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है।

नकारात्मक अथवा अभावात्मक स्वतन्त्रता कितनी निरर्थक और खोखली है, यह इस बात से स्पष्ट हो जाएगा कि किसी व्यक्ति को निर्जन टापू में छोड़ दिया जाए तो वहाँ उसे मिल की आदर्श स्वाधीनता प्राप्त होगी, क्योंकि वहाँ उसके कार्यों में हस्तक्षेप करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति न होगा। किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता क्या वांछनीय है? क्या इसे कोई पसन्द करेगा? सम्भवतः ऐसी स्वतन्त्रता कोई पसन्द नहीं करेगा। इसका यह कारण है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय उत्तम जीवनयापन के लिए अभीष्ट एवं वांछनीय सुविधाएँ प्राप्त करना है राज्य अपने कार्यों तथा नियन्त्रणों द्वारा हमारे लिए ये सुविधाएँ उत्पन्न करता है। अतः उसके नियन्त्रण में रहना निर्जन टापू की स्वतन्त्रता से अधिक अच्छा तथा वरणीय है। राज्य हमारे कुछ कार्यों में हस्तक्षेप अवश्य करता है, इससे एक दिशा में हमारी स्वतन्त्रता अवश्य मर्यादित होती है, किन्तु इसके साथ ही दूसरी दिशाओं में इसका विस्तार भी होता है। उदाहरणार्थ, जब बालक को राज्य के नियम के द्वारा जबर्दस्ती पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा जाता है तो उसके खेलने की तात्कालिक स्वतन्त्रता में अवश्य हस्तक्षेप होता है; किन्तु जब शिक्षा द्वारा बच्चा पढ़-लिखकर अपनी आजीविका का उपार्जन करने में समर्थ होता है तो उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। अतः मिल की नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा बड़ी भ्रान्तिपूर्ण खोखली कल्पना है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग राज्य के हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता में तथा राज्य के कार्यों में पास्परिक विरोध आवश्यक नहीं है।

(2) **भ्रान्तिपूर्ण वर्गीकरण**—मिल का कार्य करने की स्वतन्त्रता के विषय में मानवीय कार्यों को आत्मविषयक या वैयक्तिक (self regarding) तथा पर-विषयक या सामाजिक (other regarding) नामक दो वर्गों में बाँटना भ्रान्तिपूर्ण और असम्भव है। वास्तव में व्यक्ति के कार्यों में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता है। मिल द्वारा दिए गए मद्यपान के सुप्रसिद्ध उदाहरण में यह सर्वथा आत्मविषयक या वैयक्तिक कार्य है, यह

तभी सामाजिक रूप धारण करता है जब शराब पीकर कोई व्यक्ति सड़क पर शोर मचाए या दंगा करे। किन्तु ऐसे व्यक्ति का अपने घर में शराब पीना भी विशुद्ध वैयक्तिक कार्य नहीं है, इसका उसकी पत्नी पर और बच्चों पर गहरा प्रभाव पड़ता है; यदि वह शराब में अन्धाधुन्ध पैसा न बरबाद करे तो वह यह धन अपनी पत्नी तथा बच्चों की शारीरिक तथा बौद्धिक उन्नति में लगा सकेगा और समाज को इससे लाभ पहुँचेगा। शराबी के बच्चे उसकी देखा-देखी उस दुर्व्यसन में फँस सकते हैं और इससे समाज को हानि होगी। वस्तुत: व्यक्ति का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जिसका समाज पर साक्षात् अथवा परोक्ष रीति से प्रभाव न पड़ता हो। यहाँ तक कि आत्महत्या को भी वैयक्तिक कार्य नहीं माना जाता; राज्य इसे रोकने के लिए दण्डविधान की व्यवस्था करता है, क्योंकि व्यक्ति का शरीर केवल उसका अपना ही नहीं है, इसके पालन-पोषण और विकास में समाज ने भाग लिया है, यह समाज की देन है, अत: इस पर उसका अधिकार है, वह इसका मनमाने ढंग से दुरुपयोग नहीं कर सकता। वस्तुतः व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहते हुए भी अपना जीवनयापन कर सकता है, उसका कोई भी कार्य उसके बाहर नहीं हो सकता। मिल की व्यक्ति और समाज के अन्तर्द्वन्द्व और विरोध की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है, इसीलिए बार्कर ने मिल की आलोचना करते हुए कहा है कि व्यक्ति और समाज के विरोध की कल्पना करने के कारण उसका स्वतन्त्रता का विचार सही नहीं है।

(3) मिल के मतानुसार राज्य को प्रत्यक्ष रूप से मद्यपान, जुए आदि पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि शराबी या जुआरी को अपने मानसिक संघर्ष या अनुभव के आधार पर मद्यपान या जुए के दुष्परिणामों को समझ लेना अधिक श्रेयस्कर है, किन्तु यह मार्ग बड़ा जटिल और श्रमसाध्य है। यदि मद्यपान पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए तो शराबी का आत्मसंघर्ष में लगने वाला समय उसकी उन्नति में लग सकता है। इसी प्रकार यदि शिक्षा, जलपूर्ति, सफाई आदि का प्रबन्ध राज्य करे तो नागरिकों के श्रम और समय की भारी बचत हो सकती है और उन्हें मिल द्वारा महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले चरित्र-निर्माण के कार्यों के लिए पर्याप्त समय मिल सकता है।

(4) मिल ने विचार की स्वतन्त्रता पर बल देते हुए इसे हास्यास्पद सीमा तक पहुँचा दिया है। उसका यह कहना है कि सनकी या झक्की व्यक्तियों को भाषण और विचार की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, क्योंकि यह सम्भव है कि दस सनकी व्यक्तियों में से एक अलौकिक प्रतिभासम्पन्न 'गुदड़ी का लाल' हो और वह समाज को नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा तथा मौलिकता प्रदान करे। किन्तु यह तर्क ठीक प्रतीत नहीं होता है। डेविडसन ने लिखा है कि मिल यह भूल जाता है कि सनक या झक्कीपन चरित्र की उत्कृष्टता का नहीं, अपितु निर्बलता का परिणाम है; इसको प्रोत्साहित करने की नहीं, किन्तु दमन करने की आवश्यकता है। क अपूर्व बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति की आड़ में नौ सनकी लोगों को स्वतन्त्रता क्यों दी जाए।[1] सर लेस्ली स्टीफेन ने लिखा है कि एक सनकी आदमी लकड़ी का ऐसा रद्दी टुकड़ा(crossgrained)होता है कि इसका राज्य में उपयोग नहीं किया जा सकता है। प्रोफेसर मैकन्न का मत है कि "सनकीपन व्यक्तित्व

1. डेविडसन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 155.

का विकार है।" ऐसे विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्तियों को स्वतन्त्रता देना समाज के लिए हितकर नहीं है।

(5) मिल ने वादविवाद और विचार की स्वतन्त्रता पर बल देते हुए यह कहा है कि व्यक्ति को बिना तर्क किए किसी विचारधारा को स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि तर्कहीन विश्वास अन्धविश्वास का रूप धारण कर लेता है। किन्तु तर्क की कोई मर्यादा होनी चाहिए, समाज के कुछ सिद्धान्त तर्क और विवाद से परे होने चाहिए; हत्या, सत्य, राजद्रोह आदि के बारे में जितना कम तर्क हो, वह समाज के लिए हितकर है। यदि राजद्रोह के सिद्धान्तों की चर्चा चौराहों पर होने लगे तो राज्य का भविष्य संकटापन्न हो जाएगा। तर्क को प्रधानता देने से समाज में निरर्थक वादविवाद या वितण्डा में समय नष्ट करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। यदि प्रत्येक व्यक्ति छोटी-छोटी बातों पर तर्क करने लगे और तर्क के बिना उन्हें स्वीकार न करे तो बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। कोरा तर्क और शुष्क वितण्डा समाज के लिए हितकर नहीं है।

(6) मिल के मतानुसार झक्कियों तथा सनकी व्यक्तियों को नवीन परीक्षण करने की खुली छूट देने से समाज में मानवीय चरित्र के विविध रूप उत्पन्न होंगे और यह वैविध्य समाज की प्रगति और वृद्धि में सहायक होगा। किन्तु डेविडसन ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि चरित्र का मूल्यांकन गुणों के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि वैविध्य के आधार पर। यदि वैविध्य ही प्रगतिशीलता का मानदण्ड हो तो "वह समाज अधिक प्रगतिशील कहलाएगा, जिसमें प्रत्येक सदस्य के कोट के बटन कंधे, पीठ आदि विभिन्न स्थानों में लगे हुए हों।" वस्तुत: पोशाक का सौन्दर्य उसकी अच्छी सिलाई पर है, न कि उसके वैविध्य पर। इसी प्रकार समाज का हित उसके सदस्यों के चरित्र की उत्कृष्टता पर अवलम्बित है, न कि भिन्नता पर। सनकियों की स्वतन्त्रता से भिन्नता का वैविध्य ही बढ़ेगा, चरित्र में उन्नति और समाज की प्रगति सम्भव न होगी; अतः इस विषय में मिल का मत दूषित तथा अप्रामाणिक है।[1]

शासन विषयक विचार : प्रतिनिधि शासन प्रणाली— मिल ने अपने शासन-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) नाम की पुस्तक में किया है। इसमें उसने उत्तम शासन की कसौटी या लक्ष्य का वर्णन करते हुए कहा है कि आदर्श की दृष्टि से शासन का सर्वोत्तम प्रकार वह है "जिसमें प्रभुसत्ता अथवा सर्वोच्च नियन्त्रक शक्ति समुदाय के समूचे व्यक्तियों में निहित है, प्रत्येक नागरिक को न केवल इस अन्तिम प्रभुसत्ता का प्रयोग करने का अधिकार है, अपितु वह स्थानीय अथवा सामान्य सार्वजनिक कार्य को व्यक्तिगत रूप से करके शासन में वास्तविक भाग लेता है।" उसकी दृष्टि में व्यक्ति का लक्ष्य मानव की शक्तियों का सर्वांगीण विकास करना है और वही शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है, जिसमें इनका अधिकतम विकास सम्भव हो। उसने लिखा है—"अन्ततोगत्वा राज्य का महत्त्व और योग्यता इसका निर्णय करने वाले व्यक्तियों के महत्त्व और योग्यता पर निर्भर है। जिस राज्य में नागरिकों के मानसिक विस्तार और उन्नति की अपेक्षा प्रशासन में कुशलता को अधिक

1. मिल के स्वतन्त्रता के विचार की अन्य आलोचनाओं के लिए देखिए क्रेन ब्रिण्टन—इंगलिश पोलिटिकल थॉट इन दी नाइंटीन्थ सेन्चुरी, हार्पर बुक्स, पृ० 91, 92, 95.

महत्त्व दिया जाता है, जहाँ मनुष्यों को इसलिए छोटा बना रहने दिया जाता है कि वे लाभदायक प्रयोजनों के लिए शासकों के हाथ में कठपुतली बने रहें, ऐसे राज्य में छोटे आदमियों की सहायता से वास्तव में कोई बड़ा कार्य पूरा नहीं किया जा सकता। अन्त में यह पता लगेगा कि राज्य के जिस शासनयन्त्र को पूर्ण बनाने के लिए व्यक्तियों के विकास का बलिदान दिया गया था, उस यन्त्र को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचेगा, क्योंकि इसने उस यन्त्र को अधिक उत्तम रीति से कार्य करने के लिए उसे उसका संचालन करने वाली शक्ति से वंचित कर दिया है।"

मिल का यह अभिप्राय है कि राज्य की प्राणशक्ति उसके चरित्रवान् व्यक्ति हैं; जिस शासन-प्रणाली में इनके विकास के अवसर नहीं हैं, वह शासन-प्रणाली ठीक नहीं है, भले ही उसमें कितनी अधिक क्षमता और प्रशासनिक कुशलता क्यों न हो। निरंकुश राजतन्त्र शक्तिशाली और क्षमतापूर्ण होने पर भी आदर्श नहीं हैं, क्योंकि उनमें व्यक्तियों को शासन में भाग लेकर अपने चरित्र के विकास का अवसर नहीं मिलता है। उसने प्रतिनिधि शासन वाले लोकतन्त्र को इसीलिए श्रेष्ठ शासन-प्रणाली बताया है कि इसमें व्यक्ति के बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास जिस मात्रा तक सम्भव होता है, वैसा अन्य किसी शासन-पद्धति में या निरंकुश राजतन्त्र में सम्भव नहीं है। वह यहाँ तक कहता है कि एक बुरा निरंकुश शासन (Malevolent despotism) लोकोपकारी निरंकुश शासन (Benevolent despotism) से अधिक अच्छा है, क्योंकि यह नागरिकों में बुरे शासन के विरुद्ध प्रतिरोध और विद्रोह की भावना उत्पन्न करके उनके द्वारा सार्वजनिक मामलों में बुद्धिमत्तापूर्वक भाग लेने की, तथा शासन में उत्तरदायित्व की अनुभूति की भावना को उत्पन्न करने में अधिक सहायक है। लोकतन्त्र-प्रणाली इसलिए उत्तम है कि इसमें अधिकांश जनता को मतदाता के रूप में शासन में भाग लेने का अधिकार मिलता है, स्थानीय स्वशासन में तथा जूरी आदि के कार्यों में भाग लेने से उसके बौद्धिक गुणों का विकास होता है। किन्तु जिन जातियों में सार्वजनिक भावना का तथा लोकतन्त्रीय शासन के कर्त्तव्यों के पालन का अभाव है, जिन्हें सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी नहीं है, उनके लिए प्रजातन्त्र की व्यवस्था ठीक नहीं है। इस विषय में मिल ने भारत का उदाहरण दिया है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कार्य करने से उसे भारत का कुछ अधकचरा ज्ञान था। इसके आधार पर उसने भ्रान्तिपूर्ण कपोलकल्पना करते हुए यह कहा है कि हिन्दुओं में यह प्रवृत्ति है कि वे अपराधियों से सहानुभूति रखते हैं, उन्हें पकड़वाने में राजकर्मचारियों की सहायता नहीं करते, वे चोर के विरुद्ध गवाही देकर उसे पकड़वाने की अपेक्षा झूठी गवाही देकर उसे छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं।[1] सार्वजनिक कर्त्तव्यपालन की भावना न रखने वाली ऐसी जातियों के लिए लोकतन्त्र की प्रणाली उपयुक्त नहीं है।

लोकतन्त्र प्रणाली को सर्वोत्तम मानते हुए भी, इसे सब जातियों के लिए उपयुक्त न मानने के कारण मिल बेन्थम से एक महत्त्वपूर्ण भेद रखता है। बेन्थम परम्परा और इतिहास को कोई महत्त्व न देते हुए अपने सिद्धान्तों को सार्वभौम रूप से सब देशों में और समयों में लागू होने योग्य मानता है, किन्तु मिल इससे सहमत नहीं है। वह यह समझता है कि किसी देश की शासन-प्रणाली वहाँ के अतीत इतिहास में पाई जाने वाली

1. जार्ज काटलिन—हिस्टरी ऑफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ॰ 398.

परिस्थितियों में विकसित होती है, सब देशों की परिस्थितियाँ भिन्न होने से शासन-पद्धतियाँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। मिल पर डार्विन के विकासवाद का तथा कोम्ते आदि फ्रेंच विचारकों का प्रभाव पड़ा था। वह राज्य को अन्य सजीव शरीरों की भाँति स्वयमेव विकसित होने वाली संस्था नहीं, अपितु मनुष्य द्वारा अपने प्रयत्नों से विकसित होने वाली संस्था मानता था। इस विषय में बेन्थम और मिल के दृष्टिकोण की तुलना मनोरंजक है। बेन्थम लोकतन्त्र प्रणाली को मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव के कारण श्रेष्ठ समझता था। मनुष्य स्वभाव से इतने स्वार्थी हैं कि इनके स्वार्थों का नियन्त्रण लोकतन्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य शासन-व्यवस्था में सम्भव नहीं है। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और अन्य सभी शासन-प्रणालियाँ विशेष वर्गों के स्वार्थों की सिद्धि का साधन होती हैं। मिल यद्यपि यह मानता है कि लोकतन्त्र ही ऐसी प्रणाली है, जिसमें सब वर्गों के हित सुरक्षित रहते हैं; किन्तु इसके साथ ही वह यहभी मानता है कि सभी जातियाँ लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त नहीं हैं। जिन व्यक्तियों में सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करने वाली उपयुक्त भावना और चरित्र न हो, उनके लिए लोकतन्त्र की व्यवस्था हितकर नहीं हो सकती है। अतः बेन्थम लोकतन्त्र को **मनुष्य की प्रकृति** के आधार पर श्रेष्ठ समझता है और मिल **मनुष्य की परिस्थिति** के आधार पर।

मिल लोकतन्त्र का समर्थक इसीलिए नहीं है कि यह शासन-पद्धति मनुष्यों को अधिक सुखी बनाती है, वह इसका पक्षपोषण इसलिए भी करता है कि यह उन्हें **अधिक अच्छा** बनाती है, उनके चरित्र के विकास के सुअवसर प्रदान करती है। उसकी दृष्टि में हमारे जीवन के लिए जिस प्रकार हवा जरूरी है, वैसे ही राजनीतिक प्राणी के लिए अपना वोट डालना, जूरी पद्धति में काम करना तथा अन्य सार्वजनिक कार्य करना आवश्यक है। मत देने के महत्त्व पर उसने जो विचार प्रकट किए हैं, सम्भवतः इस विषय पर इससे अधिक उदात्त विचार कभी अभिव्यक्त नहीं किए गए—"किसी भी राजनीतिक निर्वाचन में, सार्वभौम मताधिकार द्वारा होने वाले चुनाव में भी मतदाता का यह पूर्ण नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने वैयक्तिक हित के स्थान पर जनता के हितों का ध्यान रखे और अपना वोट अपनी सर्वोत्तम सम्मति के अनुसार इस प्रकार दे, जैसे वही एकमात्र वोटर हो तथा सारा चुनाव उस पर निर्भर हो। उसके वोट में विकल्प का स्थान नहीं है, जूरी के निर्णय की भाँति उसे अपनी वैयक्तिक इच्छाओं का ध्यान नहीं रखना है। वोट देना इसका कर्त्तव्य है, उसे इसका पालन सार्वजनिक हित के सर्वोत्तम विचार के अनुसार करना चाहिए।"[1]

किन्तु लोकतन्त्र का परम प्रशंसक और उपासक होते हुए भी, वह इसके दोषों को भली-भाँति जानता था। उसने जहाँ एक ओर लोकतन्त्र पर इंगलिश भाषा में एक अधिकतम प्रभावशाली रचना लिखी है, वहाँ दूसरी ओर इसकी बुराइयों का प्रतिपादन अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में किया है और इन बुराइयों के प्रतिकार के अनेक उपायों का वर्णन किया है। ये उपाय प्रधान रूप से निम्नलिखित हैं—(क) आनुपातिक प्रतिनिधित्व, (ख) शैक्षणिक योग्यताएँ, (ग) साम्पत्तिक योग्यताएँ, (घ) सार्वजनिक मतदान प्रणाली

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 118.

(ङ) बहुल मतदान (Plural Voting) तथा (च) विधि आयोग (Law Commission) की व्यवस्था।

(क) आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)—मिल के मतानुसार लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधि शासन का सबसे बड़ा दोष बहुमत का अत्याचार और उत्पीड़न तथा अल्पसंख्यकों की घोर उपेक्षा है। इसमें जिसे 51 प्रतिशत वोट मिल जाते हैं, वह चुना जाता है और 49 प्रतिशत वोटरों का प्रतिनिधि नहीं चुना जाता। चुनाव में अल्पसंख्यकों के सफल होने की आशा कभी नहीं की जा सकती, उनका प्रतिनिधित्व न होने से उनके हित सदैव उपेक्षित रहते हैं। इस दोष के प्रतिकार के लिए मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का समर्थन किया। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन लन्दन के एक बैरिस्टर थामस हेयर ने मिल के 'प्रतिनिधि शासन' के प्रकाशन से दो वर्ष पहले किया था। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए हेयर ने यह व्यवस्था की कि इसमें एक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए वोटों की एक निश्चित संख्या प्राप्त करनी होती है, यह संख्या वोटों की पूरी संख्या को चुनी जाने वाली सीटों की कुल संख्या से भाग देकर प्राप्त की जाती है। इसमें वोटर अपने-अपने मतपत्र पर अनेक उम्मीदवारों के नाम अपनी इच्छानुसार क्रम से लिखता है, सबसे पहले उस उम्मीदवार का नाम लिखता है, जिसे वह सबसे अधिक पसन्द करता है, इसके बाद अपनी पसन्दगी के क्रम से अन्य उम्मीदवारों का नाम लिखता है। जब एक उम्मीदवार को निश्चित संख्या में वोट मिल जाते हैं, तब उसके अन्य वोट वोटरों द्वारा दिए गए क्रम के अनुसार अन्य उम्मीदवारों को दिए जाते हैं। इस पद्धति के कुशलतापूर्वक प्रयोग से बहुत कम वोट बरबाद होते हैं और अल्पमतों को उनकी संख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व मिल जाता है। मिल ने हेयर की योजना का स्वागत और प्रबल समर्थन किया, वह इसे अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए आदर्श मानता था। मिल द्वारा इस व्यवस्था के समर्थन से यह लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली का एक आवश्यक अंग बन गई है। हमारे देश में भी पार्लियामैण्ट में और विधानसभाओं में विभिन्न समितियों के सदस्यों के चुनाव में इस पद्धति को अपनाया जाता है और इससे विरोधी दलों को समुचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

(ख) शैक्षणिक योग्यताएँ—मिल प्रजातन्त्र का एक और बड़ा खतरा यह समझता था कि बहुसंख्या का शासन होने के कारण यह अज्ञानी और निरक्षर व्यक्तियों का शासन बन जाएगा, क्योंकि देश में अधिकतर संख्या ऐसे ही व्यक्तियों की होती है। उसे यह आशंका थी कि यदि वोटरों की योग्यता और गुणों के बढ़ाने पर ध्यान नहीं दिया गया तो लोकतन्त्र में कम बुद्धि और योग्यता वाले लोग हावी हो जाएँगे, अतः लोकतन्त्र के भविष्य को उज्ज्वल और सुरक्षित बनाने के लिए आवश्यक है कि ऐसे लोगों को मताधिकार से वंचित किया जाए। इसलिए उसने निरक्षर व्यक्तियों को वोट का अधिकार देने का विरोध करते हुए कहा कि "मैं इस बात को पूर्ण रूप से अस्वीकार करता हूँ कि जो व्यक्ति पढ़ने-लिखने में और गणित के सामान्य सवाल निकालने में समर्थ नहीं है, उसे मतदान में हिस्सा न लेने दिया जाए।" उसके मत में वोट के लिए नाम दर्ज कराने से पहले वोटर बनने के इच्छुक व्यक्ति को अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना नाम वोटरों की सूची में दर्ज

करने वाले अधिकारी के सम्मुख इंगलिश पुस्तक से एक वाक्य की प्रतिलिपि करके तथा सवाल करके अपनी वोटर बनने की योग्यता को प्रमाणित करे।

(ग) **साम्पत्तिक योग्यताएँ**—शैक्षणिक योग्यता के अतिरिक्त मिल वोटर के लिए साम्पत्तिक योग्यता भी आवश्यक मानता था। उसका यह विश्वास था कि जिनके पास सम्पत्ति होती है, वे सम्पत्ति न रखने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा उत्तरदायित्व की भावना अधिक मात्रा में रखते हैं। उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि "यह बात महत्त्वपूर्ण है कि जो असेम्बली या विधानसभा सामान्य अथवा स्थानीय कर लगाती है, उसका चुनाव ऐसे मतदाताओं द्वारा ही हो, जो इस प्रकार लगाए जाने वाले टैक्सों का कुछ भाग देते हों। कर बिल्कुल न देने वाले व्यक्तियों को यदि अपने मतों द्वारा दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार दिया गया तो इस बात की सम्भावना है कि वे आर्थिक मामलों में खूब खर्च करने वाले तथा कोई बचत न करने वाले होंगे। उन्हें इस बात का अधिकार मिल जाता है कि वे जिस किसी बात को सार्वजनिक प्रयोजन समझते हैं, उसके लिए दूसरे व्यक्तियों की जेबों में हाथ डालें।" अतः मिल सम्पत्ति रखने वाले तथा कर देने वाले व्यक्तियों तक ही वोट का अधिकार सीमित रखना चाहता था।

(घ) **सार्वजनिक मतदान** (Public Voting)—मिल के समय में अन्य सभी विचारक प्रजातन्त्र की सफलता के लिए गुप्त मतदान प्रणाली (Secret Ballot) के समर्थक थे, उनका यह मत था कि इससे चुनाव में घूसखोरी और भ्रष्टाचार कम होता है। बेन्थम और जेम्स मिल इसी मत के थे, किन्तु जॉन मिल मांतेस्क्यू की भाँति यह मानता था कि सार्वजनिक मतदान द्वारा जनता को लोकतन्त्र की प्रणाली के लिए समुचित रूप से प्रशिक्षित किया जा सकता है। मिल इस प्रणाली का समर्थन इस तर्क के आधार पर करता था कि "मतदान का अधिकार सार्वजनिक कर्त्तव्य है, इसे अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों की भाँति जनता की देख-रेख में और उसकी आलोचना को सहते हुए खुले रूप में करना चाहिए।" यह ऐसा कर्त्तव्य है, जिसके समुचित पालन में सब लोगों का हित निहित है, अतः सब व्यक्तियों को यह देखने का अधिकार है कि इसका पालन ठीक ढंग से हो रहा है या नहीं हो रहा है। यदि गुप्त मतदान प्रणाली अपनायी गई तो इससे स्वार्थ-सिद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा। सबकी निगाहों में रहते हुए वोट देते समय प्रतिकूल आलोचना के भय से मनुष्य अपने कर्त्तव्य का समुचित रीति से पालन करता है, गुप्त मतदान में यह भय न रहने से कर्त्तव्य का ठीक ढंग से पालन नहीं होगा।

(ङ) **बहुल मतदान** (Plural Voting)—मिल लोकतन्त्र की एक बड़ी बुराई यह समझता था कि इसमें समानता के सिद्धान्त के आधार पर सब व्यक्तियों को एक वोट का अधिकार दिया जाता है, किन्तु सब व्यक्तियों के वोटों का महत्त्व और मूल्य एक जैसा नहीं होता। वस्तुतः समाज में बुद्धिमत्ता, शिक्षा और उत्कृष्ट गुण अज्ञान, मूर्खता और निकृष्ट चरित्र से अधिक महत्त्व रखते हैं; अतः बुद्धिमान्, शिक्षित तथा उत्कृष्ट गुण रखने वालों को मूर्खों तथा अशिक्षितों से अधिक वोट देने का अधिकार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने वालों को दो वोट दिए जाने चाहिएँ। वह लोकतन्त्र के दो भेद करता था—सच्चा (True)

लोकतन्त्र और झूठा (False) लोकतन्त्र। झूठा लोकतन्त्र संख्याओं को, तथा वोटों को गिनने का लोकतन्त्र है, इसका मूल सिद्धान्त है कि एक व्यक्ति का एक वोट होना चाहिए, एक व्यक्ति का एक से अधिक वोट नहीं होना चाहिए। इस सिद्धान्त का मतलब ऐसा शासन स्थापित करना है, जो सबसे कम शिक्षित लोगों का तथा हाथ से काम करने वाले मजदूरों का शासन होगा। यह झूठा लोकतन्त्र है। इसके विपरीत सच्चे लोकतन्त्र में सब व्यक्तियों के वोट बराबर नहीं, किन्तु उनकी योग्यता के आधार पर होते हैं। इसमें शिक्षा, नैतिकता आदि की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों को सामान्य व्यक्तियों से अधिक संख्या में वोट दिए जाते हैं। मिल ने इस विषय में एक विस्तृत योजना बनाई थी कि समाज के किन वर्गों को कितने वोट दिए जाने चाहिएँ, यह वर्गीकरण मानसिक और नैतिक गुणों के आधार पर किया गया था। यह सब लोकतन्त्र को अधःपतन के गर्त में गिरने से बचाने के लिए किया गया था, क्योंकि राज्य की रक्षा बुद्धि और चरित्र से ही हो सकती है। शिक्षित और बुद्धिमान् लोगों को अधिक संख्या में वोट देने का एक दुष्परिणाम यह हो सकता है कि शासन पर उनका आधिपत्य न स्थापित हो जाए, अतः मिल इस दुष्परिणाम से बचने के लिए यह व्यवस्था करता है कि वोटों की यह बहुसंख्या समाज में ऐसे दरिद्रतम व्यक्ति को भी प्राप्त होगी, जो यह सिद्ध कर सके कि सब कठिनाइयों के बावजूद, बुद्धि की दृष्टि से वह अधिक वोट पाने का अधिकारी है। इस बात को 'स्वेच्छापूर्वक दी जाने वाली परीक्षाओं' से प्रमाणित किया जाना था।

(च) विधि आयोग तथा लोकतन्त्रविषयक अन्य विचार—पार्लियामैण्ट या प्रतिनिधिसभा के कार्य के सम्बन्ध में उसके विचार विलक्षण थे। इसका कार्य "शासन करना नहीं है, इस कार्य के लिए उसमें कोई योग्यता नहीं है, प्रतिनिधिसभा का समुचित कार्य सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण करना इसके कार्यों पर प्रकाश डालना, इसके ग्रहणीय कार्यों की निन्दा करना, सरकारी कर्मचारियों में निहित किए जाने वाले विश्वास का दुरुपयोग करने वाले अधिकारियों को पदच्युत करना है।" चूँकि "सार्वजनिक प्रशासन की प्रत्येक शाखा का कार्य निष्णात एवं चतुर व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला होता है; अतः प्रतिनिधिसभा द्वारा प्रशासन के कार्य किए जाने का अर्थ यह होगा कि अयोग्यता तथा अनुभवशून्यता को योग्यता तथा अनुभव से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसलिए कानून बनाने का वास्तविक कार्य एक विशेष विधि आयोग (Special Commission on Legislation) को करना चाहिए, इसके सदस्य सिविल सर्विस के व्यक्ति होने चाहिएँ। इन कानूनों को पास करने का कार्य पार्लियामैण्ट का होना चाहिए। विधि आयोग द्वारा कानूनों का प्रारूप तैयार होने पर पार्लियामैण्ट को इसमें संशोधन का कोई अधिकार नहीं होगा, वह इन्हें या तो पास करेगी या रद्द करेगी।"

मिल ने इस व्यवस्था द्वारा संख्या के तथा गुण के सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। जनता की प्रभुसत्ता संख्या का सिद्धान्त है, शासन के कार्यों का वास्तविक संचालन योग्य व्यक्तियों द्वारा किया जाना तथा कानूनवेत्ताओं के आयोग द्वारा कानूनों का बनाया जाना गुण अथवा योग्यता का सिद्धान्त है। उसने इन दोनों का सामंजस्य करते हुए लोकतन्त्र के स्वरूप को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न किया है।

सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए मिल कुछ अन्य सुधार भी करना चाहता है। उच्च अथवा द्वितीय सदन में वह ऐसे हितों का प्रतिनिधित्व करना चाहता है, जिनका प्रतिनिधित्व सामान्य मताधिकार द्वारा निर्वाचित निम्न सदन में नहीं होता था। इसका कार्य निम्न सदन की गलतियों और दोषों के विरुद्ध प्रबल प्रतिवाद करना था। मिराबो ने कहा था कि प्रतिनिधिसभाएँ नक्शों जैसी होती हैं, जिस प्रकार इनमें देश की सब भौगोलिक विशेषताएँ उचित अनुपातों के साथ लघु रूप में दिखाई जाती हैं, उसी प्रकार विधानसभाओं में देश के विभिन्न स्वार्थों और दलों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। मिल के मतानुसार निम्न सदन में यह प्रतिनिधित्व संख्या के आधार पर होता था, किन्तु उच्च सदन में विभिन्न स्वार्थों और हितों का प्रितिनिधित्व होना चाहिए। 1832 के सुधार कानून से पहले इंगलैण्ड में विभिन्न हितों का ही प्रतिनिधित्व होता था। मिल ने स्वयमेव इस व्यवस्था के उन्मूलन के लिए प्रयत्न किया था, किन्तु तीस वर्ष के अनुभव से उसे विशेष हितों का प्रतिनिधित्व भी आवश्यक प्रतीत हुआ।

उसका **दूसरा** सुधार पालियामैण्ट के सदस्यों को वेतन या भत्ता न दिए जाने के बारे में था। उस समय इसके लिए प्रबल आन्दोलन हो रहा था किन्तु मिल इसका घोर विरोधी था। उसका यह कहना था कि इससे लोग आर्थिक प्रलोभन के कारण इसके सदस्य बनने लगेंगे, लोगों को अपने भाषणों से प्रभावित करने में समर्थ लोग (Demagogue) इस दिशा में आकृष्ट होने लगेंगे, चालाक और शासन करने में नालायक नादमी पार्लियामैण्ट के सदस्य बन जाएँगे, इसकी पवित्रता और क्षमता नष्ट हो जाएगी। लोगों की निष्काम सेवा की तथा कर्त्तव्य की भावना से पार्लियामैण्ट के सदस्य बनने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाएगी। सदस्यों को वेतन देने का विरोधी होने के साथ वह सदस्यों पर चुनावों का अनावश्यक और अनुचित बोझ भी नहीं डालना चाहता था। उसका मत था कि चुनाव के खर्च का भार उम्मीदवार पर नहीं पड़ना चाहिए।

मिल लोकतन्त्र के महान् विचारकों में गिना जाता है। लोकतन्त्रविषयक उसके उपर्युक्त सुझावों में कई इस समय सर्वसम्मति से स्वीकार किए जा चुके हैं और कई सुझाव रद्द कर दिए गए हैं। उसके सर्वत्र माने जाने वाले सुझाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व और स्त्रियों का मताधिकार है। स्विट्ज़रलैण्ड में उसका विशेषज्ञ लोगों द्वारा कानूनों के निर्माण का सुझाव स्वीकार किया गया है, अन्य देशों में भी इस कार्य को विशेषज्ञों को सौंपने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बहुल मतदान (Plural Voting) का तथा उपरले सदन में विशेष हितों के प्रतिनिधित्व के विचार भी अनेक लोकतन्त्रों में माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान के अनुसार कुछ राज्यों में शिक्षकों और विश्वविद्यालयों के स्नातकों को अपने सामान्य वोट के अतिरिक्त दो अन्य मत देने का अधिकार है और विधानपरिषदों में शिक्षकों, स्नातकों, नगरपालिकाओं आदि के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व होता है। मिल के स्वीकार न किए जाने वाले सुझावों में पार्लियामैण्ट के सदस्यों को वेतन न देने की तथा खुले मतदान की व्यवस्था है।

मिल अनिच्छुक लोकतन्त्रवादी (Hesitant Democrat) **है**—जॉन स्टुअर्ट मिल लोकतन्त्र का समर्थक होते हुए भी इसके दोषों को भलीभाँति जानता है। उसने इन्हें दूर करने के लिए उपर्युक्त छः उपायों की व्यवस्था की है। वह लोकतन्त्र को कुछ

प्रतिबन्धों के साथ ही लागू करने का पक्षपाती था। इसलिए वह अन्य विचारकों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली और वर्तमान समय में सर्वसम्मति से मानी जानी वाली लोकतन्त्रीय पद्धति की अनेक व्यवस्थाओं का उग्र आलोचक था। अत: वेपर ने उसे लोकतन्त्र का अनिच्छापूर्वक और अनेक प्रतिबन्धों के साथ समर्थन करने वाला अनिच्छुक अथवा शंकाशील लोकतन्त्रवादी (Hesitant Democrat) कहा है। यह बात उसके लोकतन्त्र-विषयक विचारों की उसके गुरु बेन्थम के विचारों के साथ तुलना करने से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है।

बेन्थम इंगलैण्ड की लार्डसभा को सर्वथा निरर्थक समझता था, उसने इसे समाप्त करने पर बल दिया था, किन्तु मिल लोकतन्त्र में लार्डसभा जैसे उच्च सदनों की आवश्यकता पर बल देता है और इसमें ऐसा सुधार लाना चाहता है जिससे यह सदन ऐसे प्रतिनिधियों की संस्था बने जिसमें कामन्स सभा के सदस्यों की अपेक्षा अधिक योग्यता तथा अनुभव रखने वाले व्यक्ति हों और जिनका चुनाव शैक्षणिक और साम्पत्तिक योग्यताओं के आधार पर किया जाए; जैसे भारत में उत्तर प्रदेश आदि कुछ राज्यों की विधानपरिषदों के सदस्य विश्वविद्यालय के स्नातकों, शिक्षकों तथा स्थानीय संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं। मिल ऐसी व्यवस्था के माध्यम से उच्च सदन में अधिक शिक्षित, समझदार, उत्तरदायी, योग्य और गुणी सदस्य लाना चाहता था क्योंकि उसे यह भय था कि यदि मतदाताओं की योग्यता और गुणों के बढ़ाने पर ध्यान न दिया गया तो लोकतन्त्र में अल्पबुद्धि एवं योग्यता रखने वाले व्यक्ति हावी हो जाएँगे। इसी दृष्टि से प्लेटो ने लोकतन्त्र को मूर्खों का शासन कहा था। इस दोष को दूर करने के लिए मिल ने लार्डसभा में योग्य व्यक्ति लाने पर बल दिया और इसे समाप्त करने के स्थान पर इसके कार्य को अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हुए इस बात पर बल दिया कि लार्डसभा का प्रमुख कार्य कामन्स सभा द्वारा पारित कानूनों में सुधार लाना, इनका पुनरीक्षण और समीक्षा करना और बिलों का प्रारूप तैयार करना होना चाहिए, क्योंकि उसके मतानुसार साधारण जनता द्वारा चुने जाने वाले कामन्स सभा के सदस्यों में ऐसे कार्यों की योग्यता नहीं होती है। इस प्रकार मिल ने एक सामान्य लोकतन्त्र के स्थान पर **अभिजात लोकतन्त्र** (Aristo Democracy) के प्रति अपनी प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। मिल का यह विश्वास था कि समुचित ढंग की शिक्षा से ऐसा लोकतन्त्र बनाया जा सकता है। यह शिक्षा केवल किताबी ही नहीं होनी चाहिए, अपितु मनुष्यों के स्वभावों और प्रवृत्तियों को समझने और विभिन्न क्षेत्रों में काम करने की क्षमता होनी चाहिए। यह कार्य स्वाभाविक नेताओं द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है।

बेन्थम ने प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए गुप्त मतदान (Secret Ballot) प्रणाली का समर्थन किया था। आजकल सर्वत्र इसका अनुसरण किया जाता है, किन्तु मिल इस प्रथा का सैद्धान्तिक रूप से उग्र विरोधी है क्योंकि उसके मतानुसार मतदाता मत की गोपनीयता के कारण इसका प्रयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर करता है तथा सार्वजनिक हित की उपेक्षा करता है। साधारण जनता को जो उम्मीदवार पैसे, शराब या अन्य वस्तुओं का लालच देता है, मतदाता उसी को अपना बहुमूल्य मत देता है और योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा करता है। इसी कारण मिल सार्वभौम वयस्क मताधिकार (Universal Adult Sufferage) का भी समर्थक नहीं है और ऐसी

व्यवस्थाओं वाले लोकतन्त्र को झूठा लोकतन्त्र (False Democracy) कहा जाता है।

मिल के मतानुसार सच्चे लोकतन्त्र का आशय ऐसी व्यवस्था से है जिसका आधार **एक व्यक्ति और एक मत** (one man, one vote) का सिद्धान्त नहीं होता है, अपितु समाज के विभिन्न वर्गों को उनकी संख्या तथा गुण दोनों के आधार पर समुचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है। वह योग्य, शिक्षासम्पन्न, सम्पत्ति रखने वाले व्यक्तियों को एक से अधिक वोट देने की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त आनुपातिक प्रतिनिधित्व(Proportional Representative) की व्यवस्था करता है ताकि बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों की उपेक्षा और उत्पीड़न न कर सके, समाज के छोटे-से-छोटे वर्गों को भी शासन में समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। मतदाता खुले मतदान की व्यवस्था होने के कारण अपना मत केवल सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए दें और किसी प्रकार के दबाव या प्रलोभन से प्रेरित होकर वोट न दें। संसद् के उच्च सदन में विभिन्न शिक्षित एवं साम्पत्तिक वर्गों के प्रतिनिधि निर्वाचित हों और निम्न सदन के कानूनों और विधि-विधानों का संशोधन एवं परिमार्जन करते रहें। संसद् स्वयं प्रशासन-कार्य न करे, अपितु प्रशासन का निरीक्षण करे ताकि नौकरशाही मनमानी न कर सके। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कोई अनावश्यक प्रतिबन्ध न लगाए जाएँ और लोकतन्त्र न केवल राजनीतिक दृष्टि से सबको समान अधिकार देने वाला हो, अपितु आर्थिक विषमताओं को भी दूर करने वाला हो। इन विशेषताओं को रखने वाला प्रजातन्त्र ही एक सच्चा लोकतन्त्र है और मिल इसी की स्थापना करना चाहता है। वह लॉक आदि अन्य विचारकों द्वारा प्रतिपादित सबको समान मत देने वाले लोकतन्त्र को झूठा लोकतन्त्र कहता था और इसकी स्थापना के लिए अधिक इच्छुक नहीं था।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता—मिल के समय में इंगलैण्ड में नारियों की दशा बड़ी दयनीय थी, पुरुषों की तुलना में उन्हें बहुत कम अधिकार प्राप्त थे, उनके पास सम्मानित जीवन बिताने का एकमात्र साधन विवाह था और इसमें भी कानून ने उन्हें पतियों की दासता के बन्धन में जकड़ रखा था। स्त्रियों को विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा पाने, पार्लियामैण्ट का वोटर या सदस्य बनने तथा अन्य सार्वजनिक पदों पर कार्य करने का अधिकार नहीं था। सामाजिक रूढ़ियों और कानूनों ने उन्हें दासता के पाश में बाँध रखा था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 1869 में प्रकाशित होने वाली **स्त्रियों की दासता** (The Subjection of Women) नामक पुस्तक में इस स्थिति के विरुद्ध प्रबल आवाज उठाई, नर-नारी के अधिकारों में विषमता के उन्मूलन पर बल दिया, स्त्रियों को वोटर बनाने तथा अन्यायपूर्ण कानूनी बन्धनों से उन्मुक्त करते हुए पुरुषों के तुल्य समान अवसर देने का प्रबल समर्थन अकाट्य तर्कों के आधार पर किया। मिल स्त्रियों के मताधिकार तथा मुक्ति के लिए पार्लियामैण्ट में तथा इसके बाहर उग्र आन्दोलन करने वाला पहला व्यक्ति था। उसकी '**स्त्रियों की दासता**' इस विषय में एक अमर कृति है।

मिल की नारियों की स्वतन्त्रताविषयक प्रबल युक्तियों का तत्कालीन इंगलैण्ड पर बड़ा प्रभाव पड़ा। डेविडसन ने लिखा है कि इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इस समय ग्रेट ब्रिटेन में स्त्रियों को उच्च शिक्षा की जो सुविधा प्राप्त है तथा सामाजिक एवं अन्य क्षेत्रों में विकास के जो अवसर उन्हें मिल रहे हैं, उसका श्रेय मिल

द्वारा स्त्रियों के अधिकारों के प्रबल समर्थन को तथा इस विषय में उसके नेतृत्व को है।[1]

मिल द्वारा उपयोगितावाद का संशोधन : बेन्थम और मिल के सिद्धान्तों के भेद—जॉन स्टुअर्ट मिल को उसके पिता ने बचपन से ऐसी शिक्षा दी थी कि वह उपयोगितावाद के साँचे में ढल सके, बेन्थम के सिद्धान्तों का प्रबल प्रचारक बन सके। किन्तु समय बीतने के साथ कई कारणों से जॉन मिल के विचारों में बड़ा परिवर्तन आने लगा। इसका पहला कारण 20 वर्ष की आयु में मिल का मानसिक अवसाद का दौरा था। इससे उपयोगितावाद के सिद्धान्त में उसकी आस्था शिथिल होने लगी। दूसरा कारण मिल द्वारा वड्र्सवर्थ और कोलरिज की कविता का अध्ययन तथा उस पर डार्विन, कोम्ते, स्पेन्सर आदि की रचनाओं का प्रभाव था। तीसरा कारण इंगलैण्ड की परिवर्तित परिस्थितियाँ थीं। बेन्थम और जेम्स मिल ने ब्रिटिश समाज की जिन बुराइयों के संशोधन पर बल दिया था, वे लुप्त हो रही थीं। अब इनकी आलोचना पर बल देने की आवश्यकता नहीं थी। इस समय इनके स्थान पर उत्पन्न होने वाली नई बुराइयों के निराकरण के लिए नवीन चिन्तन की आवश्यकता थी। अतः इन कारणों से जॉन मिल के विचारों में शनैः-शनैः एक क्रान्ति हुई और उसने नवीन सिद्धान्तों पर बल देना शुरू किया। इनसे उपयोगितावाद का आमूलचूल संशोधन हुआ, उसके स्वरूप में बहुत अन्तर आ गया। मिल ने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद (Individualism) पर अधिक बल दिया, अतः उसे **अन्तिम उपयोगितावादी** तथा **प्रथम व्यक्तिवादी** दार्शनिक कहा जाता है। मिल ने उपयोगितावाद के सम्बन्ध में अपने विचारों का विशद प्रतिपादन 1861 में इस विषय पर लिखे 'Utilitarianism' नामक निबन्ध में किया। इसके आरम्भ में तो उसने इसके सिद्धान्तों को स्वीकार किया है, किन्तु आगे चलकर इसके प्रधान सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया है। यहाँ इसके आधार पर बेन्थम के उपयोगितावाद से उसके प्रधान मतभेदों का वर्णन किया जाएगा।

(1) सुख का स्वरूप—बेन्थम से उसका पहला भेद सुख के स्वरूप के सम्बन्ध में था। पहले यह बताया जा चुका है कि बेन्थम सुखों में मात्रात्मक (Quantitative) भेद मानता था, किन्तु मिल ने उनमें गुणात्मक (Qualitative) भेद भी माना। बेन्थम के मतानुसार सुख की मात्रा एक-सी होने पर रसगुल्ले खाने के आनन्द में या कालिदास के काव्य का रसपान करने में कोई अन्तर नहीं है। मिल को यह बात मान्य नहीं थी। उपर्युक्त निबन्ध में बेन्थम के अधिकतम सुख के सिद्धान्त को मानने के बाद उसने यह लिखा है कि यह बात उपयोगिता के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है कि इस बात को मान लिया जाए कि आनन्द के कुछ प्रकार अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक वांछनीय और अधिक मूल्यवान् होते हैं। यह **बड़ी बेहूदा बात** होगी कि सब आनन्दों का मूल्यांकन करते समय **केवल मात्रा** पर ही विचार किया जाए।[1] मिल के मतानुसार रसना के आनन्दों से बुद्धि के आनन्द अधिक उत्कृष्ट थे। उसने लिखा था कि सभी उपयोगितावादी लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि शारीरिक सुखों की तुलना में मानसिक सुख

1. डेविडसन—पूर्वोक्त पृ० 145.
2. यूटिलिटेरियनिज्म, लिबर्टी, रिप्रैजेण्टेटिव गवर्नमैण्ट(एवरीमैन्स लाइब्रेरी, 1910) पृ० 7.

अधिक उत्कृष्ट होते हैं क्योंकि ये अधिक स्थायी एवं सुरक्षित होते हैं।

मिल ने सुखों में गुण की दृष्टि से उच्चमम तथा निम्नतम सुखों का भेद स्वीकार किया। उसका यह कहना था कि सुसंस्कृत एवं परिमार्जित रुचि वाले विद्वान् पुरुषों को जिन वातों में सुख मिलता है, वह मूढ़ लोगों के इन्द्रियों को संतुष्ट करने वाले निम्नस्तर के आनन्दों से कहीं अधिक उत्कृष्ट हैं। यदि विद्वान् और मनीषी अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट न हो तो भी उसकी यह अवस्था पूर्ण रूप से सन्तुष्ट निम्न कोटि वाले व्यक्ति से कहीं अधिक अच्छी है। उसने लिखा था कि "असन्तुष्ट मानव सन्तुष्ट सूअर की अपेक्षा अच्छा है, असन्तुष्ट सुकरात पूर्णतया सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा उत्कृष्ट है।"[1] इसका यह अभिप्राय है कि सुकरात जैसे व्यक्तियों का सुख सूअर या मूर्ख के सुख की अपेक्षा मात्रा में न्यूनतर होने पर भी गुणात्मक दृष्टि से उच्चतर होने के कारण अधिक वांछनीय है। मिल का यह कहना था कि इस विषय में उन विद्वानों और आप्त पुरुषों का वचन प्रमाण मानना चाहिए, जिन्हें उच्चतम तथा निम्नतम दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव है। उनकी साक्षी के आधार पर ही हमें इस गुणात्मक भेद को स्वीकार करना चाहिए। यदि सुखों में यह भेद मान लिया जाए तो इसका यह अर्थ होगा कि हम यह भी मानेंगे कि हमें उच्चतर सुख पाने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उपयोगितावाद का आधार ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि उपयोगितावाद सुखवादी होने से सुखों में मात्रा का ही भेद मानता है, गुणों का नहीं। अत: मिल ने सुखों को गुणात्मक मानकर उपयोगितावाद के एक बड़े आधारस्तम्भ को तिलांजलि दे दी।

(2) सुखों का मापन-दूसरा भेद सुखों की गणना पद्धति (Felcific Calculus) के बारे में है। सुखों में गुणात्मक भेद मान लेने से उनको नापने या निष्पक्ष रीति से मूल्यांकन करने के सभी प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं क्योंकि रसगुल्ला खाने से रसना को सुख देने वाले निम्नस्तर के ऐन्द्रियिक सुख की तुलना कालिदास के काव्यरसास्वादन के उत्कृष्ट सुख से नहीं हो सकती है। तुलसीदास ने कहा है कि स्वर्गादि के भोगों से प्राप्त होने वाले सुख यदि एक पलड़े में रखे जाएँ और सत्संग का क्षण भर का आध्यात्मिक सुख दूसरे पलड़े में रखा जाए तो स्वर्ग के सुख सत्संगति के सुख की तुलना नहीं कर सकते हैं। भारतीय धर्मशास्त्रों में इसलिए आध्यात्मिक सुखों को भौतिक सुखों से उत्कृष्ट बताया गया है। महाभारत में कहा गया है[2] कि सांसारिक काम या वासना की तृप्ति होने से जो सुख होता है और जो सुख स्वर्ग में मिलता है, ये दोनों सुख मिलकर तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख के सोलहवें हिस्से के भी बराबर नहीं हैं। विभिन्न सुखों की यह तुलना विद्वानों द्वारा की जाती है। बेन्थम सुखों की मात्रा को आनन्ददायक गणना पद्धति से नापना चाहता था। किन्तु इस विषय में मिल का नपैना सर्वथा भिन्न है, यह इसके सम्बन्ध में विद्वानों को ही प्रमाण मानता है, क्योंकि इनके सिवाय इनकी जांच या निर्णय किसी अन्य प्रकार से नहीं हो सकता है। "दो सुख देने वाली अनुभूतियों की प्रगाढ़ता का निर्णय वही लोग कर सकते हैं, जिन्हें दोनों अनुभूतियों का ज्ञान हो।"

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 115.
2. महाभारत, शान्ति पर्व, 174।48

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

अतः मिल का मत इस विषय में सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि सुखों का नापने का कार्य बेन्थम की आनन्दमापक पद्धति से सम्भव नहीं है। यह मिल का बेन्थम से एक मौलिक भेद तथा उपयोगितावाद के एक महान् मन्तव्य का परित्याग था।

(3) **तीसरा भेद इतिहास एवं परम्पराओं के महत्त्व के सम्बन्ध में था।** बेन्थम इनकी घोर उपेक्षा करता था, उसके मतानुसार उसके द्वारा तैयार किए गए संविधान और शासन-प्रणालियाँ दुनिया के किसी भाग में, असभ्यतम देशों में तथा सभ्यतम देशों में सर्वत्र समान रूप से लागू की जा सकती थीं। किन्तु मिल ऐसा नहीं मानता था, उसके मतानुसार प्रत्येक देश और जाति का अपना इतिहास, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ और नियम होते हैं, इनका उस देश की विशिष्ट परिस्थितियों में विकास होता है, प्रत्येक देश की शासन-प्रणाली वहाँ की परम्पराओं और परिस्थितियों के अनुसार होनी चाहिए। कोई भी शासन-प्रणाली ऐसी आदर्श या उन्नत नहीं हो सकती, जो सर्वत्र समान रूप से लागू की जा सके। पहले यह बताया जा चुका है कि लोकतन्त्र की व्यवस्था को उत्कृष्ट मानते हुए भी मिल इसे भारत जैसे देशों के उपयुक्त नहीं मानता था। अतः उसे ऐतिहासिक सापेक्षतावादी (Historical relativist) कहा जाता है। इसलिए लोकतन्त्र को जहाँ बेन्थम मानव-प्रकृति (Nature of man) के आधार पर उत्कृष्ट मानता है, वहाँ मिल इसे मनुष्य की परिस्थिति के आधार पर श्रेष्ठ समझता है।

(4) **नैतिकता को महत्त्व देना—चौथा भेद** मिल द्वारा व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों को ऊँचा बनाना तथा उपयोगितावाद में उच्च नैतिक सिद्धान्तों का समावेश करना है। बेन्थम मानव-जीवन का लक्ष्य अपने सुख की प्राप्ति और राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों को इसकी प्राप्ति में सहायता देना मानता है, वह अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त पर बल देता है, वह नैतिकता के विचार को तनिक भी महत्त्व नहीं देता है। मिल का मत इसके सर्वथा प्रतिकूल है। व्यक्ति का लक्ष्य केवल सुख की खोज नहीं, अपितु जर्मन विद्वान् विल्हैलमवान हम्बोड के मतानुसार "अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का उच्चतम तथा अधिकतम सामंजस्यपूर्ण विकास" करना है। राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों का सुख बढ़ाना नहीं, किन्तु उनके मानसिक गुणों को बढ़ाना है। मिल के मत में राज्य एक नैतिक संस्था है, उसका एक नैतिक उद्देश्य है। उसका लक्ष्य वैयक्तिक सुख या उपयोगिता को ही बढ़ाना नहीं, अपितु व्यक्तियों के गुणों का विकास और वृद्धि करना है। इस पर वेपर ने यह टिप्पणी की है कि मिल ने इस प्रकार उपयोगितावाद का समर्थन उसका पूर्ण परित्याग करके किया।

यह बात उसके अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त की व्याख्या से स्पष्ट हो जाती है। उपयोगितावाद की एक बड़ी समस्या यह थी कि जब सब व्यक्ति स्वार्थी होने के कारण अपने वैयक्तिक सुखों पर बल देते हैं तो समष्टि का या "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख" का लक्ष्य कैसे पूरा हो सकता है, क्योंकि विभिन्न सुखों और स्वार्थों के संघर्ष के कारण अधिकतम सुख का निर्धारण या प्राप्ति बहुत कठिन है। मिल इसे ईसा के स्वर्णिम नियम—उपयोगितावाद की नैतिकता के आधार पर स्पष्ट करता है। "ईसा का उपदेश है कि तुम दूसरे के साथ वैसा व्यवहार करो, जैसा तुम अपने साथ चाहते हो, अपने पड़ोसी से वैसा प्यार करो, जैसा तुम अपने साथ करते हो। यही उपयोगितावादी नैतिकता का आधार है। तुम अपना सुख और हित उसी बात में समझो,

जिसमें दूसरे का सुख और हित हो।"[1] मिल यह समझता है कि समुचित शिक्षा द्वारा मनुष्य का ऐसा विकास हो सकता है कि वह समष्टि के या अधिकतम व्यक्तियों के सुख को अपना सुख समझे, वह अपना आचरण ऐसा बनाए कि उससे इसको तथा अधिकतम व्यक्तियों को आनन्द प्राप्त हो।

मिल की उपयोगितावाद की यह व्याख्या बेन्थम के मत के सर्वथा प्रतिकूल है। उसके मतानुसार मानवीय आचरण और व्यवहार में हमारा चरम लक्ष्य भौतिक सुख की प्राप्ति है। उसमें नैतिकता के प्रश्नों का तथा व्यक्ति के सुख के उपर्युक्त रीति से समष्टि के सुख में रूपान्तरित होने का कोई प्रश्न नहीं है। बेन्थम के मतानुसार मनुष्य सभ्यता की जिस दशा में हो, उसे सुख मिलना चाहिए, मिल मनुष्य की दशा को उन्नत करके उसमें सुख के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाना चाहता था। मैक्सी ने दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—"बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त भेड़ियों के समाज में स्वार्थ को महत्त्व देता है और सन्तों के समाज में साधुता को। मिल का यह संकल्प था कि चाहे कोई भी समाज हो, उसमें उपयोगिता की कसौटी साधुता (saintliness) ही होनी चाहिए।"[2]

(5) **पाँचवाँ भेद राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप के बारे में है।** मिल बेन्थम की भाँति इन्हें मनुष्यों की कृति मानता है, किन्तु वह इस बात पर बेन्थम की अपेक्षा अधिक बल देता है कि राज्य आदि सभी संस्थाओं का आधार इच्छा (Will) है। यह इच्छा केवल संख्या पर ही आधारित नहीं है, अपितु गुणों पर टिकी हुई है। संस्थाओं का निर्माण करने वाली इच्छा धर्म जैसे सुदृढ़ धार्मिक विश्वास का रूप धारण कर सकती है। अतएव मिल का यह कहना था कि "सुदृढ़ विश्वास रखने वाला एक व्यक्ति केवल अपना स्वार्थ या हित रखने वाले 99 व्यक्तियों के समान सामाजिक शक्ति रखता है।" बेन्थम इससे बिल्कुल सहमत नहीं था, वह राज्य को इच्छा के स्थान पर हितों (Interests) का परिणाम या कार्य मानता है। मिल राज्य से मानवीय इच्छा या व्यक्तित्व की उपेक्षा करने वाले किसी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, यह बेन्थम के मत के सर्वथा प्रतिकूल था।

(6) **छठा भेद राज्य के आर्थिक कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में है।** पुराने उपयोगितावादियों की यह धारणा थी कि व्यक्तियों द्वारा अपने सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न से समाज को सुख प्राप्त होगा। मिल ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' (Political Economy) में इसका खण्डन किया है। इस विचार में इस बात की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है कि सब व्यक्तियों की शक्ति में बड़ा अन्तर होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ सर्वत्र एक जैसी नहीं हैं, यदि भूतकालीन परिस्थितियों के कारण कुछ व्यक्तियों के पास अधिक साधन सम्पत्ति है तो उन्हें आर्थिक प्रतियोगिता में कम साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक लाभ रहेगा। भूसम्पत्ति पर, कारखानों पर तथा ज्ञान पर थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार है, शासनसत्ता भी इन्हीं के हाथ में है, इन्होंने सब कानूनों का निर्माण अपने स्वार्थों की सिद्धि के उद्देश्य से किया है। अतः ये लोग इन

---

1. मिल—यूटिलिटेरियनिज्म, पृ० 16.
2. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 480.

कानूनों से साधारण जनता के जीवन को दयनीय बना रहे हैं और लाखों व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास में बाधाएँ डाल रहे हैं। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इन बाधाओं का निराकरण करे और सार्वजनिक कल्याण व सुख की वृद्धि करे। यद्यपि मिल कट्टर व्यक्तिवादी होने के कारण राज्य के कार्य-क्षेत्र को संकुचित करने पर तथा उसके कार्य कम करने पर बल देता था, फिर भी वह व्यक्ति के विकास को और मानव-जाति की प्रगति को अवरुद्ध करने वाले कार्यों को रोकना चाहता था। इस दृष्टि से उसने भूसम्पत्ति का विरोध किया, वह भूमि पर वैयक्तिक अधिकार को समाज के लिए उपयोगी या हितकारी नहीं मानता था। यह बेन्थम के सम्पत्ति को पवित्र और महत्त्वपूर्ण मानने के विचार से सर्वथा प्रतिकूल था। वह नागरिकों के विकास के लिए अनिवार्य शिक्षा-पद्धति का समर्थक था, यद्यपि वह राज्य द्वारा शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित किए जाने का विरोधी था। वह उत्तराधिकार द्वारा पुत्रों के विशाल सम्पत्ति प्राप्त करने का विरोध करता था, उसका यह मत था कि किसी व्यक्ति को एक निश्चित मात्रा से अधिक सम्पत्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए। वह कारखानों की दशाओं में सुधार करने वाले, विशेषत: बच्चों की स्थिति सुधारने वाले कानून बनाने के पक्ष में था। उसके मतानुसार काम करने के घण्टे नियन्त्रित होने चाहिए। वह राज्य को आर्थिक मामलों में मजदूरों के कल्याण और हित की दृष्टि से हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार प्रदान करता था और इस दृष्टि से समाजवादी था। अत: एबेन्स्टाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि मिल ने अपने जीवन का आरम्भ उपयोगितावादी के रूप में तथा अन्त समाजवादी के रूप में किया।[1] बेन्थम आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ की अहस्तक्षेप (laissez faire) की नीति का समर्थक था, मिल ने इसका विरोध उपयोगितावाद के प्रधान आधार—अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख एवं सार्वजनिक कल्याण के आधार पर किया।

(7) **सातवाँ भेद स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में है।** बेन्थम ने इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया था, इसका स्थान सुरक्षा के बाद माना था। किन्तु मिल के मतानुसार राजनीतिक और सामाजिक जीवन में इसका सर्वोच्च स्थान था। **आठवां भेद** गुप्त मतदान प्रणाली के बारे में था। बेन्थम इसका कट्टर समर्थक और मिल उग्र विरोधी था। **नवाँ भेद** स्त्रियों के मताधिकार के बारे में था। मिल ने इसका जैसा उग्र समर्थन किया था, वह हमें बेन्थम और जेम्स मिल की रचनाओं में नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन किए। वेपर ने तो यहां तक लिखा है कि उपयोगितावाद पर किए जाने वाले आक्षेपों से इसकी रक्षा करने के लिए मिल इतनी दूर तक चला

1. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० 534; मिल ने समाजवाद पर एक पुस्तक भी लिखना आरम्भ किया था, वह इसे पूरा नहीं कर सका। इस अपूर्ण पुस्तक को उसकी लड़की ने 'चैप्टर्स ऑन सोशलिज्म' के नाम से छापा है। मिल ने समाजवाद के सिद्धान्तों के बारे में मार्क्स और एंजेल्स की उपेक्षा की है, वह इस विषय में ओवन, फूरिये, सेण्ट साइमन तथा लुई ब्लांक आदि फ्रेंच विचारकों का अनुयायी है। उसने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह पहले ही देख लिया था कि मार्क्स का समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचल देगा, अत: उसका झुकाव इसे सुरक्षित रखने वाले ब्रिटिश तथा फ्रेंच समाजवादी विचारकों की ओर था।

गया कि उसने उपयोगितावाद के समूचे सिद्धान्त का परित्याग कर दिया। उसका संशोधन-कार्य इतना अधिक था कि मिल द्वारा इसकी पुनर्व्याख्या के बाद इसमें उपयोगितावाद का कुछ भी अंश नहीं रह गया। वेपर ने इसकी तुलना के लिए मनोरंजक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि यदि किसी गम्भीर दार्शनिक के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह बच्चे को नहलाने-धुलाने के बाद उसे उठाना भूल गया था तो यह बात मिल के बारे में ही पूर्ण रूप से कही जा सकती है। उसने उपयोगितावाद की इतनी सफाई की कि उसका नाम-निशान बाकी नहीं रहा। किन्तु लैंकास्टर आदि अन्य विद्वान् वेपर की इस **अतिरंजित** आलोचना से सहमत नहीं हैं। मिल ने उपयोगितावाद में महत्त्वपूर्ण संशोधन किए। उसने इसको नवीन दिशाओं में विस्तीर्ण करके इसकी नींवों को खोखला बनाया, किन्तु वह इस दृष्टि से अन्तिम समय तक "बेन्थम का अनुयायी बना रहा कि वह एक प्रकार के समाजशास्त्र में विश्वास रखता था और यह मानता था कि मनुष्य का ज्ञान बढ़ने के साथ मानवीय मामलों का संचालन अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से हो सकता है।"[1]

मिल का महत्त्व और अनुदान—मिल के राजनीतिक चिन्तन की बड़ी कड़ी आलोचना को गई है और अनेक विद्वानों ने इसके दोषों का प्रदर्शित किया है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए उसकी नींव खोखली कर दी, उसके मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। उसकी रचनाओं और विचारों में विरोध, असंगति और अस्पष्टता है, उसके कई तर्क थोथे और हेत्वाभासपूर्ण हैं।[2] मिल की स्वतन्त्रता के विचार की आलोचना पहले ही की जा चुकी है। उसने विचार-विमर्श और विवाद की स्वतन्त्रता पर इतना अधिक बल दिया है कि यह समाज में अस्थिरता और निर्बलता उत्पन्न करने वाली है। बर्क ने यह सत्य ही कहा था कि वादविवाद की प्रवृत्ति अधिक बढ़ जाने पर हम अपने कर्त्तव्यों के बारे में भी सन्देह करने लगते हैं।

किन्तु मिल की इन आलोचनाओं के बावजूद हमें यह मानना पड़ता है कि वह उपयोगितावादी दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ और अधिकतम सन्तोषजनक है। उसने उपयोगितावाद के सिद्धान्तों को बेन्थम की तथा अपने पिता की अपेक्षा अधिक गहराई, ऊँचाई और उदारता प्रदान की है। उसने उस समय लोकतन्त्र की निर्बलताओं और दोषों का प्रतिपादन किया, जब सर्वत्र इसका गुणगान हो रहा था। स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल देने के कारण यह राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सदैव चिरस्मरणीय रहेगा। बीसवीं शताब्दी में हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन जैसे तानाशाहों के अभ्युत्थान से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जो भीषण संकट उत्पन्न हो गया था, उसे देखते हुए मिल के व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विचारों को असाधारण महत्त्व प्राप्त हो जाता है। बहुमत और लोकमत के अत्याचार से व्यक्ति को स्वाधीनता के कुचले जाने का संकट 19वीं शताब्दी की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी में अधिक बढ़ गया है। रेडियो, सिनेमा, टेलीविज़न और नीट्शे के शब्दों में प्रात:कालीन प्रार्थना का स्थान लेने वाला समाचार-

1. लैंकास्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खण्ड 3, पृ० 119.
2. सी० ई० एम० जोड—गाइड टू दी फिलासफी ऑफ मॉरल्स एण्ड पालिटिक्स, पृ० 334-35.

पत्र प्रचार के इतने प्रबल साधन बन गए हैं कि कोई भी तानाशाह इनकी सहायता से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्ण दमन कर सकता है। ऐसे समय में मिल जैसे सनकी और झक्की आदमी मानव-समाज की स्वतन्त्रता सुरक्षित बनाए रखने के लिए परम आवश्यक हैं। जब तक मानव-जीवन में स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया जाएगा, तब तक इसके प्रबल पोषक जॉन स्टुअर्ट मिल को इसके समर्थन के लिए सदैव स्मरण किया जाएगा। स्त्रियाँ अपने मताधिकार का और पुरुषों के तुल्य समानाधिकार पाने के आन्दोलनों का श्रीगणेश करने के लिए मिल के प्रति अत्यन्त आभारी हैं। व्यक्तिवाद और उदारवाद की विचारधाराएँ आज भी मिल को अपना मूल स्रोत मानती हैं।

बीसवाँ अध्याय

आदर्शवादी जर्मन विचारक
काण्ट तथा हेगल

आदर्शवाद (Idealism) **का सामान्य परिचय तथा महत्त्व**—आदर्शवाद की राजनीतिक विचारधारा का प्रादुर्भाव 18वीं शताब्दी के अन्त में तथा 19वीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मनी में हुआ। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड में उपयोगितावादी विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में यह बड़ी लोकप्रिय हुई। सुप्रसिद्ध इंगलिश विचारक ग्रीन अपने शिष्यों को कहा करता था—"मिल और स्पेन्सर की पुस्तकें पढ़ना बन्द कर दो, काण्ट और हेगल के ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ करो।" जर्मनी में रूसो से प्रेरणा ग्रहण करने वाला इम्मेनुएल काण्ट (1724-1804) इसका प्रवर्तक था। इस विचारधारा का पोषण करने वाले अन्य विद्वान् फिक्टे (1762-1814) तथा हेगल (1770-1831) थे। इंगलैण्ड में हेगल के सिद्धान्तों का प्रसार ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थामस हिल ग्रीन (1836-1882), फ्रांसिस एच० ब्रैडली (1846-1924) तथा बर्नार्ड बोसांके (1848-1923) ने अपनी रचनाओं द्वारा किया।

इस विचारधारा की यह विशेषता थी कि इसने राज्य के महत्त्व पर बल दिया, व्यक्ति के अधिकारों को ही महत्त्वपूर्ण मानने वाले व्यष्टिवादी (Individualist) दृष्टिकोण का खण्डन किया, व्यक्ति को राज्य का वशवर्ती बना दिया। इस विचारधारा के जर्मन लेखकों—हेगल आदि ने राज्य को सर्वोच्च, पूर्ण, पूज्य, दैवीय एवं निरंकुश सत्ता बनाया। 19वीं शती के आरम्भ में जर्मनी अनेक छोटी रियासतों में बँटा हुआ एक निर्बल राज्य था, 20वीं शती के प्रारम्भ तक वह इस विचारधारा के प्रभाव से एक संगठित और समूचे विश्व को चुनौती देने वाला शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। बीसवीं शताब्दी के दो प्रसिद्ध तानाशाहों—हिटलर तथा मुसोलिनी की नाजीवाद और फासिज्म की विचारधाराओं पर आदर्शवाद का स्पष्ट प्रभाव है, अतः यह वर्तमान राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में विशेष महत्त्व रखती है।

आदर्शवाद का अभिप्राय—आदर्शवाद शब्द का प्रयोग हिन्दी में Idealism के लिए होता है, क्योंकि आइडियल (Ideal) को आदर्श कहा जाता है। आइडियल शब्द का मूल अर्थ है केवल विचार (Idea) के जगत् में रहने वाला। पूर्णता केवल विचार के जगत् में ही सम्भव है, अतः ऐसी पूर्णता रखने वाली वस्तु को आदर्श (Ideal) कहा

जाता है। हम अपने चारों ओर जो भी वस्तुएँ देखते हैं, वे पूर्ण नहीं हैं, उनमें कोई-न-कोई कमी अवश्य है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि कोई वस्तु सर्वथा दोषशून्य नहीं हो सकती। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु में भी कोई-न-कोई कमी होती है। चन्द्रमा के अतीव मनोरम होने पर भी उसमें कलंक है, मोर की पूँछ सुन्दर होते हुए भी उसके पैर भद्दे होते हैं। प्रकृति में कहीं भी सब गुण एकसाथ नहीं दिखाई देते हैं (नैकत्र सर्वो गुणसंनिपात:)। अत: प्लेटो ने पश्चिमी जगत् में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि पूर्णता केवल विचार (Idea) में, कल्पना में या आदर्श में ही सम्भव है। सौन्दर्य के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा। किसी व्यक्ति के बहुत सुन्दर होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कोई दोष नहीं है या उससे अधिक सुन्दर व्यक्ति नहीं हो सकता। सुन्दरता केवल शारीरिक नहीं है, वह मानसिक एवं बौद्धिक गुणों से तथा चरित्र से भी सम्बन्ध रखती है, ऐसा पूर्ण सौन्दर्य इस जगत् में कहीं नहीं दिखाई देता है। सोने में सुगन्ध नहीं होती, अत: सौन्दर्य की चरम अवस्था केवल विचार, कल्पना या आदर्श में ही हो सकती है। इसलिए आदर्श का अर्थ है—पूर्ण या सर्वोत्कृष्ट। अत: आदर्शवाद का सम्बन्ध इस दिखाई देने वाली दुनिया से न होकर, विचारों के आन्तरिक जगत् में पाई जाने वाली पूर्णता से है। आदर्शवाद की विचारधारा का अभिप्राय उस विचारधारा से है, जो इस दृश्य जगत् मे पाई जाने वाली वास्तविकता से आगे किसी विषय के पूर्ण अथवा उत्कृष्टतम स्वरूप की गवेषणा, अनुसन्धान या विवेचना करती है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में यह विचारधारा इस संसार में पाए जाने वाले राज्यों की विवेचना से सन्तुष्ट नहीं होती, किन्तु इनसे आगे बढ़कर आदर्श राज्य के स्वरूप का वर्णन करती है, अत: इसे राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealist Theory of State) कहते हैं।

इस विचारधारा के अन्य नाम—दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory) **तथा इसकी पृष्ठभूमि**—इस विचारधारा का दूसरा नाम दार्शनिक सिद्धान्त भी है। इसे यह नाम दिए जाने के कई कारण हैं : **पहला** कारण यह है कि बोसांके के मतानुसार यह राज्य के समग्र रूप का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन करती है।[1] किसी भी वस्तु का अध्ययन कई प्रकार से हो सकता है। एक सुन्दर फूल को वनस्पतिशास्त्री, रसायनशास्त्री और कलाकार अपने विशेष दृष्टिकोणों से देखते हैं, किन्तु दार्शनिक समग्र विश्व की दृष्टि से उसके स्थान और महत्त्व पर विचार करता है। राज्य के सम्बन्ध में भी वह इसी दृष्टिकोण को अपनाता है। **दूसरा** कारण यह है कि यह सिद्धान्त प्रधान रूप से दार्शनिकों की देन है। बर्ट्रेण्ड रसेल के कथनानुसार इस सिद्धान्त के प्रधान व्याख्याता—काण्ट, हेगल और ग्रीन विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक और बौद्धिक व्यक्ति थे, इनका व्यावहारिक राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था।

इसे दार्शनिक सिद्धान्त का नाम देने का **तीसरा** कारण इस सिद्धान्त का विशेष दार्शनिक आधार (Philosophical base) पर प्रतिष्ठित होना है। यह आधार चेतना के अद्वैतवाद (Spiritual Monism) का है। भारतीय वेदान्त की भाँति यह अद्वैतवाद जगत् में दिखाई देने वाली वस्तुओं का अन्तिम मूलतत्त्व एक ही चेतनतत्त्व (Spirit) को

1. बोसांके—दी फिलासफिकल थियोरी ऑफ दी स्टेट, पृ० 1-2.

मानता है, जगत् में दिखाई देने वाली विभिन्न वस्तुएँ उसी की चेतना से बने हुए विभिन्न रूप हैं। यह सारा विश्व उसी चेतनतत्त्व का प्रपंच है, अतः इसे चेतनाद्वैतवाद का नाम दिया जाता है। किन्तु कार्ल मार्क्स जैसे अनेक विचारक इस विश्व का अन्तिम मूलतत्त्व किसी एक चेतन सत्ता को न मानकर जड़पदार्थ (Matter) को मानते हैं, अतः इनको जड़ाद्वैतवादी (Materialistic Monists) कहा जाता है। आगे यह बताया जाएगा कि कार्ल मार्क्स का हेगल से यह एक मौलिक मतभेद है।

आदर्शवाद के अन्य तीन नाम क्रमशः राज्य का **आध्यात्मिक सिद्धान्त** (Metaphysical Theory), **निरंकुशतावादी सिद्धान्त** (Absolutist Theory) तथा **आदर्शवादी-नैतिक सिद्धान्त** (Idealist-Ethical School) हैं। इनमें से पहले नाम का प्रयोग श्री हाबहाउस ने किया है। इसे यह नाम इसलिए दिया जाता है कि यह राज्य के दृश्यमान भौतिक तत्त्वों पर बल न देकर उसके भौतिक जगत् से ऊपर उठे हुए आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देता है, अतः यह आध्यात्मिक सिद्धान्त कहलाता है। इसे जोड (Joad) ने निरंकुशतावादी सिद्धान्त कहा है, क्योंकि यह राज्य को पूर्ण एवं सर्वोत्कृष्ट सत्ता मानने के कारण उसे व्यक्तियों पर असीम, निर्बाध और निरंकुश (Absolute) अधिकार प्रदान करता है। इसे गैटल ने नैतिक (Ethical) सिद्धान्त कहा है, क्योंकि यह नैतिकता पर अत्यधिक बल देता है। हमारी आत्मा परमात्मा का अंश होने के कारण पूर्ण, निर्दोष और निष्कलंक है, किन्तु भौतिक देह के आवरण में सीमित और बद्ध होने के कारण उसमें मलिनता आ जाती है। उसके अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे इस मलिनता को दूर करके पूर्णता पाने के लिए प्रेरित करती है, पूर्णता की ओर अग्रसर होने वाली इस आन्तरिक प्रेरणा को नैतिकता या कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक कहते हैं। इस पर बल देने के कारण इसे नैतिक सिद्धान्त कहा जाता है।

इसका उद्गम तथा विकास—आदर्शवाद के सिद्धान्त का प्राचीनतम रूप हमें पश्चिमी जगत् में सर्वप्रथम प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं में उपलब्ध होता है। प्लेटो ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य की एक रूपरेखा प्रस्तुत की थी और इस बात पर बल दिया था कि राज्य का निर्माण भूमि आदि भौतिक वस्तुओं से न होकर मनुष्यों की आत्माओं से होता है। प्लेटो के शब्दों में राज्य किसी बांझ (Oak) के वृक्ष से या चट्टान से नहीं, किन्तु उनमें निवास करने वाले व्यक्तियों से बनते हैं।[1] राज्य की सभी संस्थाएँ मानसिक विचारों का परिणाम हैं, इनकी वास्तविक सत्ता मन में ही है। उदाहरणार्थ, राज्य की न्यायव्यवस्था को स्थूल रूप से राजदण्ड में और न्यायालयों में देखा जा सकता है, किन्तु वस्तुतः यह आध्यात्मिक और मानसिक चिन्तन का परिणाम है। बार्कर के मतानुसार राज्यविषयक चिन्तन में प्लेटो तथा अरिस्टॉटल की एक बड़ी देन इसे बाह्य तथा भौतिक सत्ता न समझकर, एक आन्तरिक तथा आध्यात्मिक सत्ता मानना है।[2] यह आदर्शवादी विचारधारा का एक मौलिक तत्त्व है। इसका दूसरा तत्त्व, अरस्तू का यह विचार है कि राज्य एक प्राकृतिक संगठन है, क्योंकि राज्य में ही मनुष्य अपने स्वभाव की प्रकृति के चरम विकास को प्राप्त कर सकता है। राज्य में मनुष्य को

1. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, दूसरा संस्करण, पृ० 91.

2. वही पुस्तक, पृ० 153.

पशुओं से पृथक् करने वाले बौद्धिक एवं नैतिक गुणों के विकास का अवसर मिलता है, अतः राज्य प्राकृतिक (Natural) है। राज्य के प्राकृतिक होने के ही कारण अरस्तू मनुष्य को राजनीतिक प्राणी (Political animal) मानता है, क्योंकि उसकी प्रकृति का सर्वोत्तम विकास राज्य में ही सम्भव है। कोई व्यक्ति राज्य से पृथक् रहते हुए अपना विकास नहीं कर सकता, इस दशा में न तो उसकी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होंगी और न उसकी बौद्धिक और नैतिक शक्तियाँ विकसित हो पाएँगी। राज्य के अभाव में मनुष्य अपनी किसी प्रकार की कोई उन्नति नहीं कर सकता है। राज्य मानवीय उन्नति का अनिवार्य साधन है।

आदर्शवादी विचारधारा के उपर्युक्त मूलभूत यूनानी विचार अरस्तू के बाद लगभग दो हजार वर्ष तक दबे पड़े रहे। 18वीं शताब्दी के मध्य में रूसो के समय से इनका पुनरुत्थान हुआ और काण्ट ने आधुनिक आदर्शवादी विचारधारा का प्रवर्तन किया। यह विचारधारा तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम थी और जर्मनी में इसका प्रादुर्भाव 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में भौतिक बुद्धिवाद (Rationalism) पर बल देने वाले प्रबोध आन्दोलन (Enlightenment) की विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। उस समय विज्ञान के विकास के कारण यह समझा जाने लगा था कि बुद्धि द्वारा प्रकृति के सब रहस्यों का पता लगाना, प्राकृतिक शक्तियों पर नियन्त्रण करना तथा इससे अमित उन्नति करना सम्भव है। उस समय यह माना जाता था कि राज्य मनुष्यों के समझौते द्वारा बनाया गया एक संगठन है, बुद्धि एवं तर्कशक्ति के समुचित प्रयोग से इसकी कमियाँ दूर करके इसे सर्वथा पूर्ण और निर्दोष संस्था बनाया जा सकता है।

रूसो ने इस विचारधारा पर प्रबल आक्रमण करते हुए कहा कि विज्ञान की उन्नति से मनुष्य का नैतिक अधःपतन हुआ है, उसे अपने उत्थान के लिए आरम्भिक प्राकृतिक दशा की ओर लौट जाना चाहिए, मनुष्य की गरिमा उसके बुद्धिमान् (Rational) होने में नहीं, किन्तु नैतिक (Moral) प्राणी होने में है। मनुष्य को बुद्धि की अपेक्षा भावनाओं को अधिक महत्त्व देना चाहिए। उस समय विज्ञान की उन्नति के कारण जड़ जगत् को सृष्टि का अन्तिम मूलतत्त्व मानने वाले भौतिकवाद (Materialism) का प्राधान्य था, रूसो ने इसका विरोध करते हुए धर्म को ऊँचा स्थान दिया तथा सामान्य इच्छा (General Will) की प्राप्ति को राज्य का लक्ष्य बताया। रूसो के इन सिद्धान्तों का काण्ट पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने यह स्वीकार किया था कि रूसो ने उसे मार्ग दिखाया है। इस प्रकार जर्मनी में तर्कवाद (Rationalism) और बुद्धिवाद का विरोध करने वाली आदर्शवादी विचारधारा का जन्म हुआ। इसने वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले सत्य की अपेक्षा अधिक ऊँचे प्रकार के सत्य को प्रतिपादित किया। प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण से उपलब्ध होने वाले सत्य में तथा सूक्ष्म विचार की प्रक्रिया से प्राप्त होने वाले सत्य में अन्तर को स्पष्ट किया गया। राजनीतिक चिन्तन को आध्यात्मिक विचारधारा का अंग बनाया गया। काण्ट, फिक्टे, वान हम्बोल्ड तथा हेगल में इस आदर्शवादी विचारधारा का चरम विकास हुआ।

आदर्शवाद के दो रूप—आधुनिक आदर्शवादी विचारधारा दो रूपों में प्रवाहित हुई है। इसका पहला रूप उपर्युक्त जर्मन दार्शनिकों की रचनाओं में दिखाई देता है। अतः इसे जर्मन विचारधारा कहते हैं। यूनान की पुरानी विचारधारा में व्यक्ति की

स्वतन्त्रता पर तथा इसके साथ ही व्यक्ति द्वारा राज्य में किए जाने वाले उसके कर्त्तव्यों पर समान रूप से बल दिया गया था। किन्तु जर्मन विचारधारा ने दूसरे तत्त्व पर बल देते हुए राज्य को अत्यधिक महत्त्व दिया तथा व्यक्ति की घोर उपेक्षा की; अतः उसके मतानुसार राज्य स्वयमेव एक लक्ष्य है, व्यक्ति उस लक्ष्य को पूरा करने का साधन मात्र है, व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन होना चाहिए। राज्य सर्वशक्तिमान्, निर्दोष एवं ईश्वरीय है, अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के आदेशों का पालन करे। इस प्रकार राज्य को पूर्णरूप से निरंकुश अधिकार प्रदान करने के कारण जर्मन आदर्शवाद को उग्र या अतिवादी (Extreme) कहा जाता है। किन्तु ग्रीन आदि ब्रिटिश विचारकों ने जर्मन दार्शनिकों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी, इसमें व्यक्ति के कुछ अधिकार स्वीकार किए, उसे राज्य के हितों की वेदी पर बलिदान नहीं किया, अपितु उसको मनुष्य की उन्नति का साधन माना। राज्य को व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु व्यक्ति को राज्य के लिए माना। इंगलैण्ड में उदारवाद (Liberalism) की परम्परा बड़ी सुदृढ़ थी जिसके अनुसार जनता की स्वीकृति द्वारा शासन, शासक का पार्लियामेण्ट या विधानसभा के अधीन होना, लोकतन्त्र की व्यवस्था, व्यक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की महत्ता, विधि या नियम के अनुसार शासन (Rule of Law), व्यक्ति के जन्मजात अधिकारों की राज्य द्वारा सुरक्षा तथा राज्य के आर्थिक क्षेत्र में न्यूनतम हस्तक्षेप को वांछनीय समझा जाता था। ग्रीन ने इन सब बातों को स्वीकार करते हुए आदर्शवाद का विकास किया, अतः उसका आदर्शवाद जर्मन आदर्शवाद की भाँति उग्र न होने के कारण संयत या मध्यममार्गी (Moderate) आदर्शवाद कहलाता है। ग्रीन, बोसांके तथा ब्रैडली ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे, अत; यहाँ विकसित होने के कारण इसे **ऑक्सफोर्ड सम्प्रदाय** (Oxford School) भी कहा जाता है। ग्रीन के विचारों में उदारवाद तथा आदर्शवाद का सम्मिश्रण था, अतः उसे **नवीन व्यक्तिवादी** और **नवीन आदर्शवादी** भी कहते हैं। ब्रैडली के विचारों में आदर्शवाद की मात्रा बढ़ी और बोसांके के विचारों में यह पराकाष्ठा तक पहुँच गई। वस्तुतः सभी आदर्शवादी विचारक महान् दार्शनिक थे। उनकी शब्दावली तथा विचार अत्यन्त दुरूह, कठिन एवं क्लिष्ट थे, उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा से राज्य की दासता को वास्तविक स्वतन्त्रता तथा अपनी इच्छानुसार कार्य करने को परतन्त्रता सिद्ध किया। यह वैसा ही है, जैसे अन्धेरे को प्रकाश तथा प्रकाश को अन्धेरा सिद्ध करना। यहाँ इन दुरूह दार्शनिकों के जटिल विचारों को यथासम्भव सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाएगा।

काण्ट (1724—1804)

जीवनकथा—यूरोप के आधुनिक तत्त्वचिन्तन पर गहरा प्रभाव डालने वाले इम्मेनुएल काण्ट (Immanuel Kant) का जन्म पूर्वी जर्मनी के एक नगर कानिग्जबर्ग[1] (Konigsberg) में घोड़ों की काठियाँ और जीनें बनाने वाले अत्यन्त निर्धन कारीगर

1. उस समय यह पूर्वी प्रशिया की राजधानी थी। आजकल यह रूस में है और इसका नाम कालिनिनग्राद है।

के घर में 22 अप्रैल 1734 को हुआ। काण्ट अपने दस भाई-बहनों के साथ बड़ी गरीबी में पला।

काण्ट के माता-पिता उसे धर्मशास्त्र (Theology) का प्रकाण्ड पण्डित और पुरोहित बनाना चाहते थे। किन्तु विद्यालय में उसे धार्मिक विषय इतने अधिक पढ़ाए गए थे कि काण्ट को इनसे बिल्कुल अरुचि हो गई थी। उसने विश्वविद्यालय में दर्शन का, प्राकृतिक विज्ञानों का और गणितशास्त्र का अध्ययन किया। गणितशास्त्र ने उसकी परवर्ती विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला, इसी अध्ययन के आधार पर उसने अनुभव निरपेक्ष (a priori), परम सत्य (Absolute truth) की सत्ता सिद्ध की थी। काण्ट का दूसरा प्रिय विषय प्राकृतिक विज्ञान थे, उसे अपने जीवन में चिरकाल तक आध्यात्मिक विषयों की अपेक्षा भौतिक विषयों में—भूगोल, ज्योतिष आदि के पढ़ने-पढ़ाने में अधिक आनन्द आता था, उसने ग्रहों के सम्बन्ध में एक नवीन मत का प्रतिपादन करते हुए बाद में एक पुस्तक 'थियोंरी ऑफ हैवन्स' (Theory of Heavens) लिखी, उसके शोध-प्रबन्ध का विषय 'अग्नि' था, उसने भूचालों, हवाओं, ज्वालामुखी पर्वतों, ग्रहों तथा मानवशास्त्र (Anthropology) आदि के विषय में कई पुस्तकें और ग्रन्थ लिखे। ये विश्वविद्यालय में किए गए उसके वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन और अनुसन्धान के परिणाम थे।

35 वर्ष की आयु में डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर लेने पर भी उसे विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद पाने के लिए अगले पन्द्रह वर्ष तक (1755-70) सुदीर्घ प्रतीक्षा और तपस्या करनी पड़ी। 46 वर्ष की अवस्था में वह कानिग्ज़बर्ग विश्वविद्यालय में तर्कशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र का प्रोफेसर नियत किया गया। अपनी मृत्युपर्यन्त (22 फरवरी, 1804) 80 वर्ष की अवस्था तक वह यहाँ अपने अध्ययन, अध्यापन और लेखनकार्य में लगा रहा।

काण्ट की कृतियाँ—काण्ट ने 1745 से अपनी मृत्युपर्यन्त चालीस से अधिक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। इनमें अधिकांश विभिन्न वैज्ञानिक विषयों के सम्बन्ध में हैं। आज काण्ट की वैज्ञानिक रचनाएँ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं, किन्तु उसकी दार्शनिक कृतियाँ अब भी बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। काण्ट की प्रमुख दार्शनिक कृतियाँ निम्नलिखित हैं—**(1) शुद्ध बुद्धि मीमांसा** (Critique of Pure Reason)—यह जर्मन दार्शनिक की सम्भवतः सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है, इसे उसने 15 वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद 57 वर्ष की आयु में 1781 में प्रकाशित किया और इसके प्रकाशित होते ही दार्शनिक जगत् में हलचल मच गई। इसमें उसने यह सिद्ध किया था कि इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले इस दृश्य जगत् (Phenomenon) के अतिरिक्त एक वास्तविक जगत् है, इसको इन्द्रियों से नहीं, किन्तु शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) से ही समझा जा सकता है। मनुष्य, प्रकृति, ईश्वर, आत्मा, स्वतन्त्र इच्छा आदि सभी विचार हमारी इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का परिणाम हैं, अतः ये विचार वास्तविक जगत् से सम्बन्ध नहीं रखते, हम शुद्ध बुद्धि से ईश्वर की सत्ता नहीं सिद्ध कर सकते। इस प्रकार उसने इस पुस्तक में ईश्वर तथा धर्म सम्बन्धी सभी प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करते हुए पादरियों को इतना रुष्ट कर दिया कि वे काण्ट को कुत्ते की गाली देने लगे तथा अपने कुत्तों का नाम काण्ट रखने लगे।

(2) व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा (The Critique of Practical Reason)— अपनी पहली कृति में ईश्वर का खण्डन करने के बाद उसने इस कृति में इसे व्यावहारिक आवश्यकता के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया। हाइन (Heine) ने परिहासपूर्ण शब्दों में यह लिखा है कि "जब काण्ट ने ईश्वर का खण्डन किया तो छाता लेकर चलने वाले काण्ट के सेवक लाम्पे (Lampe) को इससे गहरी व्यथा हुई, वह रोने लगा, उसे रोते देखकर काण्ट को उस पर बहुत तरस आया, उसने सोचा कि लाम्पे को ईश्वर अवश्य मिलना चाहिए, यदि उसे यह न मिला तो वह सुखी नहीं रह सकता। उसकी भाँति, अन्य मनुष्यों को भी सुखी रहना चाहिए, अतः व्यावहारिक सामान्य बुद्धि की दृष्टि से भगवान् का होना आवश्यक है, इसे सिद्ध करने के लिए उसने अपनी दूसरी पुस्तक लिखी।" इसमें उसने यह प्रतिपादित किया कि धर्म और ईश्वर की सत्ता का आधार बुद्धि नहीं, किन्तु नैतिक भावना (Morals) है। इस जगत् में यदि कोई वास्तविक सत्ता है तो वह हमारी नैतिक भावना और कर्त्तव्य की सत्ता है, इसी को उसने **निरपराद नैतिक कर्त्तव्यादेश** (Categorical Imperative) का नाम दिया है। यह भावना अथवा अन्तःकरण हमें सत् और असत् का विवेक करने में समर्थ बनाता है। हमारा यह अन्तःकरण या नैतिक भावना विशुद्ध बुद्धि (Pure Reason) का विषय नहीं है, अपितु व्यावहारिक दुद्धि का विषय है। हमारी यह भावना हमारे अन्तःकरण के पथप्रदर्शक भगवान् का हमें बोध कराती है, यह भावना स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) की सत्ता भी सिद्ध करती है, क्योंकि यदि हममें स्वतन्त्र इच्छा न हो तो नैतिक कर्त्तव्य को करने का अर्थात् सत् का अनुसरण करने तथा असत् का परित्याग करने का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। हमारी नैतिक भावना यह भी सिद्ध करती है कि मरने के बाद जीवन की सत्ता बनी रहती है, क्योंकि हम अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से ऐसे कार्य भी करते हैं, जिनका फल इहलोक में पाने की हमें कोई आशा नहीं होती है।

(3) निर्णय की मीमांसा (The Critique of Judgement)—काण्ट ने अपनी पहली कृति में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया था, दूसरी कृति में इसे स्वीकार किया, तीसरी कृति में उसने प्रकृति की सुन्दर योजना में ईश्वर के दर्शन किए हैं। किसी भी कलाकृति के लिए यह आवश्यक है कि उसका निर्माण करने वाला कोई कलाकार हो। प्रकृति की सुन्दर कृति इसके निर्माता भगवान् की सत्ता का प्रबल प्रमाण है। काण्ट के एक सुप्रसिद्ध वाक्य के अनुसार भगवान् की सत्ता विश्व की दो महान् वस्तुओं से स्पष्ट सिद्ध हो रही है—पहली वस्तु ताराजटित गगन मण्डल (starry heavens above) तथा दूसरी वस्तु मनुष्य के अन्तःकरण के भीतर पाए जाने वाले नैतिक नियम (Moral law within) हैं।

काण्ट के राजनीतिक विचार—अध्यात्मशास्त्र और दर्शन की समस्याओं पर चिन्तन करने के साथ-साथ, काण्ट राजनीतिक प्रश्नों और घटनाओं में भी गहरी दिलचस्पी लेता था। उसने मांतेस्क्यू और रूसो के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया था, इनका उसके राजनीतिक विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा था। अमेरिकन उपनिवेशों द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा और ब्रिटेन के युद्ध (1776-86) तथा फ्रेंच राज्यक्रान्ति (1789) की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ उसके जीवन काल में हुई थीं, वह अमेरिकन उपनिवेशों

की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था, इसी कारण ग्रीन नामक एक ब्रिटिश नागरिक से उसका उग्र वादविवाद हुआ था।[1] फ्रेंच राज्यक्रान्ति की खबरों को वह समाचारपत्रों में बड़े ध्यान से पढ़ता था। वह इस क्रान्ति का प्रबल समर्थक था। कहा जाता है कि 65 वर्ष की आयु में जब उसने इस क्रान्ति का समाचार सुना तो उसकी आँखें आनन्दाश्रुओं से भर आईं और उसने अपने एक मित्र को कहा—अब मैं सिमियन की भाँति यह कह सकता हूँ कि "हे भगवान्, अब आपका सेवक शान्तिपूर्वक इस संसार से प्रस्थान कर सकता है, क्योंकि उसने अपनी आंखों से आप द्वारा की जाने वाली मानवता की मुक्ति को देख लिया है।" फ्रेंच राज्यक्रान्ति में आतंकराज्य (Reign of Terror) के समय की जाने वाली भीषण हत्याओं और नृशंसताओं से भी इस क्रान्ति के प्रति काण्ट के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आया, उसके मतानुसार ये सब नृशंसताएँ फ्रांस में पहले विद्यमान निरंकुश राजतन्त्र द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों की तुलना में नगण्य थीं। जिस समय यूरोप में अधिकांश व्यक्ति फ्रेंच राज्य क्रान्ति में होने वाले रक्तपात से उद्विग्न होकर इसका विरोध करने लगे थे, उस समय 1798 में 74 वर्ष की आयु में उसने अपनी पुस्तक 'The Conflict of Faculties' में इस क्रान्ति का तथा गणराज्य-पद्धति का अत्यधिक उग्र समर्थन किया। इस विषय में विल ड्यूरैण्ट ने यह सत्य ही लिखा है कि "सम्भवत: किसी वृद्ध व्यक्ति ने कभी उद्दाम यौवन की ऐसी भावना से परिपूर्ण विचार अभिव्यक्त नहीं किए हैं।"[2]

काण्ट ने अपने राजनीतिक विचार निम्नलिखित निबन्धों और पुस्तकों में प्रतिपादित किए हैं—On the Proverbial saying : All Very Well in Theory but no Good in Practice (1793), Perpetual Peace (1795), Metaphysical First Principles of Jurisprudence (1797), Conflct of the Facualties (Part 2, 1798). उसके प्रमुख राजनीतिक विचार इस प्रकार हैं—

राज्यविषयक सिद्धान्त—काण्ट की दृष्टि में राज्य के विषय में पहली प्रधान समस्या यह थी कि राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् रूप में विद्यमान स्वतन्त्र इच्छाओं का समन्वय एक सामान्य इच्छा (General Will) द्वारा इस प्रकार किस ढंग से किया जाए कि प्रत्येक व्यक्ति की निजी इच्छा की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आए; क्योंकि काण्ट व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समानता का प्रबल समर्थक था। उसका यह कहना था कि "सबकी सामान्य इच्छा राज्य में समूची न्यायपद्धति का मूल स्रोत है और इस न्यायपद्धति में सबकी स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए रखने की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित किया जाता है।" इस विषय में काण्ट की मुख्य कसौटी उसका निरपवाद नैतिक परमादेश (Categorical Imperative) का सिद्धान्त है। उसका यह कहना है कि एक पृथक् व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा जुआ खेलने या शराब पीने की हो सकती है, किन्तु उसकी इस स्वतन्त्र इच्छा को सब व्यक्तियों की सामान्य इच्छा (General Will) नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये दोनों कार्य नैतिक भावना तथा निरपवाद परमादेश के प्रतिकूल हैं। राज्य के सभी कानून इस परमादेश

1. क्लिन्के—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 41.
2. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ॰ 311.

के अनुकूल होने चाहिएँ, सामान्य इच्छा इसके प्रतिकूल नहीं हो सकती है। अतः जुआ खेलने या शराब पीने की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामान्य इच्छा तथा नैतिक परमादेश की विरोधी होने से नियन्त्रित की जानी चाहिए। इस विषय में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि काण्ट का यह दृष्टिकोण व्यष्टिवादी (Individualist) मिल के स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है, जिसके अनुसार व्यक्ति को तब तक जुआ खेलने और शराब पीने की पूरी स्वतन्त्रता है, जब तक उसका यह कार्य दूसरों की स्वतन्त्रता अथवा शान्ति को भंग न करे। किन्तु काण्ट यह मानता है कि व्यक्ति समाज का मूल है, जब उसमें बुराई आएगी तो इसको समाज में फैलने से कोई नहीं रोक सकता। अतः व्यक्ति को अनैतिक कार्य करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए। उसके मत में राज्य के सभी नियम नैतिक परमादेश तथा नैतिक भावना के अनुकूल होने चाहिएँ, सामान्य इच्छा भी इसी को प्रतिबिम्बित करती है, अतः सामान्य इच्छा का विरोध करने वाले अनैतिक कार्य करने की स्वतन्त्रता किसी व्यक्ति को नहीं दी जा सकती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का है। काण्ट का यह दृढ़ विश्वास था कि प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान अधिकार प्रदान किए हैं, प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। स्वतन्त्रता का आशय सर्वथा बन्धनमुक्त उच्छृंखलता नहीं है। काण्ट का यह कहना है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्य ने जंगली जानवरों वाली तथा किसी कानून का पालन न करने वाली अपनी स्वाधीनता का परित्याग इसलिए किया था कि वह कानून की वश्यता में रहते हुए एक अधिक उत्तम प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके। काण्ट ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लक्षण करते हुए लिखा है कि "कोई भी व्यक्ति मुझे ऐसे ढंग से रहने के लिए बाधित नहीं कर सकता, जो वह दूसरे व्यक्तियों की भलाई के लिए उपयुक्त समझता है; किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जिस विधि को अपनी सुख प्राप्ति के लिए आवश्यक समझे, उस विधि का अनुसरण करने में उसे तब तक पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो, जब तक दूसरे व्यक्तियों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति में वह बाधक नहीं बनता है।"

व्यक्ति का दूसरा अधिकार समानता है, यह स्वतन्त्रता का ही परिणाम है। काण्ट के अनुसार समानता का आशय प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी स्वतन्त्रता देना है कि वह अपनी योग्यता, परिश्रम और भाग्य से समाज में यथोचित स्थान प्राप्त कर सके।

तीसरा प्रश्न **स्वतन्त्र इच्छा** (Free Will) का है। इस विषय में काण्ट पर रूसो का बहुत प्रभाव पड़ा है, यह उसके राजनीतिक विचारों में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पहले यह बताया जा चुका है कि काण्ट कर्त्तव्यपालन के लिए स्वतन्त्रता को आवश्यक मानता है क्योंकि यदि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है तो उस पर किसी उचित अथवा अनुचित कार्य को करने का दायित्व नहीं डाला जा सकता। सभी व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहते हैं, इससे समाज में संघर्ष अनिवार्य है। किन्तु विभिन्न व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में संघर्ष न हो तथा उनमें सामंजस्य बना रहे, इस दृष्टि से राज्य का निर्माण होता है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में काण्ट का मत कुछ अंशों में रूसो के मत से भिन्न है। रूसो राज्य के उद्गम के बारे में यह मानता था कि आरम्भ में इसे बनाने के लिए मनुष्यों में एक सामाजिक समझौता या अनुबन्ध (Social Contract) हुआ।

यह एक ऐतिहासिक सत्य था। काण्ट इसे वास्तविक तथ्य (Actual fact) न मानकर 'बुद्धि का एक विचार' (Idea of a Reason) मानता है। यह एक आवश्यक और तर्कसंगत पूर्वकल्पना (Presupposition) मात्र है, एक ऐतिहासिक घटना नहीं है। यह वास्तव में किसी देश के लोगों की सभी निजी और विशिष्ट इच्छाओं का मिलकर एक सामान्य और सार्वजनिक इच्छा बनना तथा राज्य में न्याय के लिए बनाई जाने वाली कानूनी पद्धति का आधार बनना था। यह इच्छा प्रत्येक कानून-निर्माता को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वह अपने कानूनों को इस ढंग से बनाए कि वे समूची जनता की संयुक्त इच्छा से प्रादुर्भूत हों तथा प्रत्येक व्यक्ति अपना यह कर्त्तव्य समझे कि वह कानून को अपनी निजी इच्छा की सहमति से बनाया जाने वाला समझे तथा उसका पालन करे, क्योंकि यह कानून सामान्य इच्छा से बना है, और सब व्यक्तियों की सामान्य इच्छा में उसकी इच्छा भी सम्मिलित है। राज्य के सभी कानून बेन्थम के मतानुसार सुख तथा उपयोगिता (Utility) के सिद्धान्त के आधार पर बनने चाहिएँ, किन्तु काण्ट इसका आधार सामान्य इच्छा और बुद्धि (Reason) को बताता है। उसके कथनानुसार "जिस राज्य में राजा अपनी दृष्टि के अनुसार प्रजा के लिए सुख बढ़ाने वाले कानून बनाता है, उन्हें अपने दृष्टिकोण से सुखी बनाने का प्रयत्न करता है, वह शीघ्र ही अत्याचारी शासक का रूप आरम्भ कर लेता है, क्योंकि प्रजाजन अपने इस दावे या अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें अपने लिए सुख देने वाली बातों को स्वयमेव निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिए।" यह बात तभी हो सकती है जब राजा अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, किन्तु सामान्य इच्छा के अनुसार कानून बनाए।

चौथा प्रश्न राज्य के स्वरूप का है। राज्य की स्थापना मनुष्य ने जंगली जानवरों की स्वतन्त्रता से अधिक उत्कृष्ट प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए की थी। अतः राज्य को एक प्रकार के अनुबन्ध या समझौते पर बना हुआ समझा जा सकता है। इसमें कानून बनाने की शक्ति जनता की संयुक्त इच्छा (United Will) में निहित है, यही समूची न्यायपद्धति का मूल स्रोत है। कानून-निर्माण की शक्ति तथा प्रभुसत्ता जनता में ही निहित है, क्योंकि जनता की सामान्य इच्छा ही कानून का आदिस्रोत है। संविधान सामान्य इच्छा का वह निर्णय है, जिसके द्वारा जनसमूह सुसंगठित जनता का रूप धारण कर लेता है। राज्य में तीन शक्तियाँ होती हैं—प्रभुसत्तासम्पन्न विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका। स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि विधानमण्डल और कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक् रहें। यदि विधानमण्डल और कार्यपालिका पृथक् हों तो शासन गणराज्यात्मक (Republican) होता है, अन्यथा इन दोनों के पृथक् न रहने से वह निरंकुश हो जाता है।

काण्ट राज्य के तीन प्रकार मानता है— (1) निरंकुश राजतन्त्र (Autocracy), (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), (3) लोकतन्त्र (Democracy)। वह इस बात पर बहुत बल देता है कि राज्य का संविधान न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिए। इन सिद्धान्तों का निर्णय नैतिक परमादेश (Categorical Imperative) से, नैतिक इच्छा से और व्यावहारिक बुद्धि से किया जाना चाहिए। काण्ट का आदर्श राज्य नैतिक परमादेश के अनुसार होना चाहिए।

काण्ट गणराज्य की शासन-पद्धति को आदर्श समझता था। उसके मतानुसार

विश्व में शान्ति बनाए रखने के लिए प्रत्येक राज्य का संविधान लोकतन्त्रीय होना चाहिए। सच्चा गणराज्य राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली पद्धति के बिना स्थापित नहीं हो सकता। सरकार जनता की प्रतिनिधि होनी चाहिए, अन्यथा वह बुद्धि-विरुद्ध है। रूसो से उसका इस बात में मतभेद है कि रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Demo-cracy) का समर्थक है, किन्तु काण्ट प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र (Representative Demo-cracy) का प्रबल पोषक है। किन्तु काण्ट का प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र वर्तमान लोकतन्त्र के विचार से भिन्न है। आजकल ऐसे लोकतन्त्र में सब प्रतिनिधियों का जनता द्वारा निर्वाचित होना आवश्यक समझा जाता है, किन्तु काण्ट ऐसा नहीं मानता। उसके मतानुसार राजा या उच्चवर्ग के कुलीन व्यक्ति जनता के प्रतिनिधि हो सकते हैं, बशर्ते कि वे जनता की सामान्य इच्छा तथा नैतिक परमादेश (Categorical Impera-tive) के अनुसार शासन करें। काण्ट ने ऐसी व्यवस्था सम्भवतः अपने देश में विद्यमान परिस्थितियों के आधार पर की थी, क्योंकि उस समय जर्मनी के किसी भी राज्य में लोकतन्त्र की प्रणाली प्रचलित नहीं थी, सर्वत्र निरंकुश राजतन्त्र का साम्राज्य था।

जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का विरोध—डनिंग ने यह लिखा है कि काण्ट ने रूसो तथा मांतेस्क्यू के विचारों का सम्मिश्रण करके अपने राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयत्न किया, इनका सम्मिश्रण करना एक असम्भव कार्य था, इसे काण्ट की सूक्ष्म बुद्धि ही सम्पन्न कर सकती थी। किन्तु इस कार्य में बड़ी कठिनाइयाँ थीं और इस कारण काण्ट के राजनीतिक विचारों में बड़ी असंगति और विरोध उत्पन्न हो गया। यह प्रभुसत्ता (Sovereignty) के अधिष्ठान के सम्बन्ध में था। रूसो के मतानुसार यह प्रभुसत्ता जनता में तथा उसकी सामान्य इच्छा में निहित थी, किसी राजा या कुलीन वर्ग में यह नहीं रह सकती थी। किन्तु काण्ट यह मानता था कि यह प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में, कुछ व्यक्तियों में तथा अनेक व्यक्तियों में रह सकती है। यद्यपि वह यह मानता है कि कानून बनाने की शक्ति केवल जनता में ही रह सकती है, किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि जनता का एक शासक (Beherrscherdes Volks) होता है, यह कानून बनाने वाला होता है, जनता के प्रति इसके कोई कर्त्तव्य नहीं होते, किन्तु अधिकार ही होते हैं, इसके द्वारा किए जाने वाले संविधान के उल्लंघनों या अतिक्रमणों का नियन्त्रण करने के लिए जनता के पास कोई अधिकार नहीं था। प्रजा राज्य के कानूनों का निर्माण करने वाले शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं रखती। काण्ट ने जनता द्वारा राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रबल खण्डन करते हुए कहा है—"यदि संविधान दोषपूर्ण है तो इसमें परिवर्तन केवल राजा द्वारा स्वयमेव सुधार करके किए जा सकते हैं, जनता द्वारा विद्रोह करके नहीं किए जा सकते।"

यह वस्तुतः आश्चर्यजनक बात है कि फ्रेंच राज्यक्रान्ति का उग्र समर्थक काण्ट जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का प्रबल विरोध करे। डनिंग ने इसके दो कारण बताए हैं: पहला कारण तो जर्मनी की तात्कालिक परिस्थिति थी। "वह प्रशिया के राज्य में एक राजकीय विश्वविद्यालय में बूढ़ा प्रोफेसर था। महान् फ्रेडरिक के तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में कोई भी राजभक्त प्रजाजन जनता द्वारा विद्रोह की कल्पना नहीं कर सकता था। जनता तथा राष्ट्र अथवा राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल समर्थन करने वाले दार्शनिक भी अपने को इस विचार से सर्वथा मुक्त नहीं कर

सकते थे कि प्रभुसत्ता राजा में ही रहती है।"[1] दूसरा कारण काण्ट की उपद्रवों तथा अव्यवस्था के प्रति स्वाभाविक घृणा थी।

युद्धविषयक विचार—काण्ट ने 71 वर्ष की आयु में प्रकाशित अपनी **शाश्वत शान्ति** (Eternal Peace) नामक पुस्तक में युद्ध और शान्ति के विषय में बड़े क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए हैं तथा राष्ट्रसंघ की स्थापना पर बल दिया है। उसका यह कहना है कि यह "व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) का आदेश और प्रकृति की आज्ञा है कि मनुष्य को शाश्वत शान्ति बनाए रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक राष्ट्रसंघ की स्थापना करनी चाहिए।" युद्धों के दुष्परिणाम का भीषण चित्र खींचते हुए उसने लिखा है कि "हमारे शासकों के पास सब लोगों शिक्षा देने वाली पद्धति की व्यवस्था करने के लिए पैसा नहीं है, क्योंकि वे अपनी सारी आय को भावी युद्धों की तैयारी में लगा देते हैं।" उसका यह मत था कि राष्ट्र तब तक वास्तव में सभ्य नहीं होंगे, जब तक स्थायी सेनाएँ (Standing Armies) रखने की प्रणाली समाप्त नहीं हो जाएगी। एक देश की सेनाएँ दूसरे देश को उससे अधिक सेनाएँ रखने के लिए प्रेरित करती हैं, इस प्रकार सैनिक व्यय निरन्तर बढ़ता चला जाता है। काण्ट का यह मत था कि इस सैनिकवाद का एक प्रधान कारण अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के देशों में यूरोप का साम्राज्य विस्तार था। जिस प्रकार लूट का माल बाँटने के लिए चोरों में संघर्ष होता है, वैसे ही उपनिवेशों को प्राप्त करने के लिए यूरोप के राज्यों में संघर्ष हो रहा है। ये संघर्ष वे राज्य कर रहे हैं, जो धर्मपरायण तथा सभ्य होने का ढिढोरा पीटते हैं।

काण्ट साम्राज्य प्राप्त करने के प्रलोभन से किए जाने वाले इन संघर्षों का मूल कारण यूरोपियन राज्यों की अल्पतन्त्रीय (Oligarchical) शासन-व्यवस्था को समझता था तथा इसके प्रतिकार का उपाय लोकतन्त्र और गणतन्त्र की व्यवस्था को मानता था। उसका यह कहना था कि इन राज्यों में शासन-सत्ता मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में रहती है, साम्राज्य से इन्हीं को प्रभूत मात्रा में अधिक लाभ मिलता है। यदि यूरोप में लोकतन्त्र की व्यवस्था स्थापित हो जाए, सब व्यक्तियों को राजनीतिक शासन-सत्ता में हाथ बँटाने का अवसर मिले तो अन्तर्राष्ट्रीय चोरी और डकैती से प्राप्त होने वाले लाभ इतने अधिक छोटे भागों में विभक्त हो जाएँगे कि लड़ाई छेड़ने में किसी को कोई आकर्षण या लाभ प्रतीत नहीं होगा। अतः विश्व में शाश्वत शान्ति स्थापित करने के लिए पहली आवश्यक शर्त यह है कि "प्रत्येक राज्य में गणराज्य की शासन-पद्धति स्थापित होनी चाहिए और यह व्यवस्था होनी चाहिए कि तब तक किसी युद्ध की घोषणा न की जाए जब तक सभी नागरिक जनमत संग्रह द्वारा इस युद्ध को लड़ने के लिए अपनी सहमति न प्रदान करें। जब रणक्षेत्र में लड़ने वाले व्यक्ति इस बात का निश्चय करेंगे कि युद्ध छेड़ा जाना चाहिए या नहीं, तो इतिहास में खून की नदियाँ बहना बन्द हो जाएँगी। दुर्भाग्य से इस समय बिल्कुल उल्टी स्थिति है, लड़ाई में कोई भाग न लेने वाले राजा और मन्त्री युद्ध करने का निश्चय करते हैं, इन्हें वैयक्तिक रूप से लड़ाई में कोई हानि नहीं उठानी पड़ती। राजा के वैयक्तिक आनन्दों पर, स्वादिष्ट भोजन पर और दरबार

1. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, तीसरा खण्ड, पृ० 134-35.

में होने वाले महोत्सवों पर लड़ाई का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इस समय राजा अतीव क्षुद्र कारणों से लड़ाई छेड़ देता है, मानो यह शिकार खेलने जैसा एक मामूली कार्य हो। यदि सब देशों में गणराज्य का संविधान हो तथा जनता से पूछकर लड़ाई छेड़ी जाए तो इन लड़ाइयों के कारण भीषण कष्ट झेलने वाली जनता इन युद्धों का कभी समर्थन नहीं करेगी और युद्ध बिल्कुल बन्द हो जाएँगे।" काण्ट के ये विचार अपने समय से बहुत आगे बढ़े हुए तथा दो शताब्दी बाद के विचार प्रतीत होते हैं। इन्हें पढ़ते हुए यह नहीं प्रतीत होता कि हम 18वीं शताब्दी के किसी लेखक के विचार पढ़ रहे हैं, अपितु यह प्रतीत होता है कि हम बीसवीं शताब्दी के किसी शान्तिवादी राजनीतिज्ञ के विचारों का स्वाध्याय कर रहे हैं।

शान्तिविषयक विचार—काण्ट के राजनीतिक विचारों की यही दूरदर्शिता तथा आधुनिकता शान्तिस्थापना के लिए उसके द्वारा बताई गई छः शर्तों में तथा राष्ट्रसंघ के सुझाव में प्रतीत होती हैं। उसके मतानुसार शाश्वत एवं स्थायी शान्ति बनाए रखने के लिए निम्नलिखित छः बातों का होना आवश्यक था—(1) ऐसी किसी भी शान्ति सन्धि को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए जिसके साथ भावी युद्ध को छेड़ने के लिए कुछ गुप्त धाराएँ या व्यवस्थाएँ जुड़ी हुई हों। (2) कोई भी छोटा या बड़ा स्वतन्त्र राज्य उत्तराधिकार, विनिमय, विक्रय या दान द्वारा किसी दूसरे राज्य को नहीं दिया जाएगा। (3) स्थायी सेनाओं (Standing Armies) के रखने की व्यवस्था को शनैः-शनैः बिल्कुल समाप्त कर दिया जाएगा। (4) किसी राज्य के वैदेशिक मामलों के लिए कोई ऋण नहीं लिए जाएँगे। (5) कोई भी राज्य किसी दूसरे राज्य के संविधान में या शासन में बलपूर्वक हस्तक्षेप नहीं करेगा। (6) दूसरे राज्यों के साथ युद्ध के समय में कोई भी राज्य ऐसे कार्य नहीं करेगा, जिनसे भविष्य में शान्ति स्थापित होने पर राज्यों का एक-दूसरे से विश्वास उठ जाए। ऐसे कार्य दूसरे राज्य के राजा, मन्त्री आदि को मारने के लिए हत्यारों तथा विष देने वालों का प्रयोग करना, आत्मसमर्पण की शर्तों का भंग करना तथा शत्रु के देश में राजद्रोह को भड़काना हैं।

इन छः शर्तों के अतिरिक्त काण्ट ने शान्ति स्थापित करने के लिए तीन अन्य 'अन्तिम व्यवस्थाओं' (Final Articles) पर बहुत बल दिया है—(1) प्रत्येक राज्य में गणराज्यात्मक संविधान होना चाहिए। (2) स्वतन्त्र राज्यों का संघ बनाया जाना चाहिए और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन की व्यवस्था की जानी चाहिए। (3) विश्व नागरिकता (World citizenship) के अधिकार सभी व्यक्तियों को मिलने चाहिएँ और सभी को दूसरे देशों में निर्बाध रूप से प्रवेश का अधिकार (Hospitality) मिलना चाहिए। विभिन्न देशों में रहने वाले सभी व्यक्ति इस भूमण्डल के निवासी होने से विश्वबन्धुत्व के बन्धन में बँधे हुए हैं, वे विश्व के महान् अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्य हैं। इस समय सब देशों ने एक देश से दूसरे देश में जाने पर बड़ी पाबन्दियाँ लगाई हुई हैं, जर्मन नागरिकों को फ्रांस में जाने के लिए पासपोर्ट लेने पड़ते हैं। काण्ट के मतानुसार जब तक व्यक्ति शान्तिपूर्वक रहता है, तब तक विश्व का नागरिक होने के नाते उसे किसी भी देश में बिना पासपोर्ट के निर्बाध रूप से प्रवेश करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

काण्ट की उपर्युक्त व्यवस्थाएँ अपने समय से बहुत आगे बढ़ी हुई थीं। उसके द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रसंघ युद्धपीड़ित विश्व में पहली बार 1919 में, उसका ग्रन्थ 'शाश्वत शान्ति' प्रकाशित होने के सवा सौ वर्ष बाद ही बन सका और इसी समय यूरोप में लोकतन्त्र की विजय हुई। यद्यपि उसका विश्वास था कि 1795 में फ्रेंच राज्यक्रान्ति की सेनाओं को प्रतिक्रियावादी निरंकुश राजाओं की सेनाओं पर जो सफलता मिली है, उसके बाद यूरोप में शीघ्र ही ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित होगा, यह संगठन लोकतन्त्र पर आधारित होगा, यह दासता और शोषण के सभी रूपों से मुक्त होगा, क्योंकि राज्य का कार्य व्यक्ति को अपना विकास करने में सहायता प्रदान करना है, न कि अपने स्वार्थ के लिए उसका दुरुपयोग करना। "प्रत्येक को साध्य (End) मानते हुए उसका पूरा सम्मान किया जाना चाहिए, मनुष्य होने के नाते किसी व्यक्ति को प्राप्त होने वाली गरिमा (Dignity) बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे किसी अन्य बाहरी प्रयोजन की सिद्धि करने का साधन न बनाया जाए।" काण्ट व्यक्ति की गरिमा और महत्त्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उसकी स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों पर बड़ा बल देता है। वह वंशपरम्परा तथा जन्म के कारण प्राप्त होने वाले तथा समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले सभी विशेषाधिकारों का प्रबल विरोधी है, वह इन्हें अतीत काल में अन्यायपूर्ण रीति से बलपूर्वक की गई विजयों का दुष्परिणाम समझता है। जिस समय यूरोप के सभी राजा फ्रांस की राज्यक्रान्ति को कुचलने के लिए कटिबद्ध हो गए, सर्वत्र क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ प्रबल हो गईं, उस समय ऐसे वातावरण में तथा 71 वर्ष की वृद्धावस्था में काण्ट ने अपनी अमर लेखनी द्वारा व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों पर बल दिया, उदारवाद का उग्र समर्थन किया तथा युद्धों की समाप्ति के लिए राष्ट्रसंघ का प्रस्ताव रखा। वास्तव में यह बड़ा अद्भुत कार्य था।

काण्ट का मूल्यांकन तथा देन—पश्चिमी दर्शन के क्षेत्र में काण्ट एक अत्युच्च स्थान रखने वाला दार्शनिक है। मैक्समूलर ने उसे भूमण्डल का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कहा है, रूपर्ट लाज ने उसे पश्चिमी जगत् में प्लेटो के बाद द्वितीय स्थान दिया है। काण्ट की 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' ने आधुनिक तत्त्वचिन्तन को सबसे अधिक प्रभावित किया है। यह कहा जाता है कि बाइबल को छोड़कर किसी अन्य पुस्तक पर इतना लिखा और कहा नहीं गया, जितना 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' पर लिखा और कहा गया है। शोपनहार ने कहा था, "जब तक कोई व्यक्ति काण्ट के ग्रन्थ नहीं पढ़ लेता, तब तक वह बच्चा ही बना रहता है।" यद्यपि काण्ट के राजनीतिक विचारों ने उसके दार्शनिक विचारों जैसा प्रभाव नहीं डाला, फिर भी ये विचार इतने क्रान्तिकारी तथा अपने समय से आगे बढ़े हुए थे कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उन्हें सदैव बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों का प्रबल समर्थन, विशेषाधिकारों का विरोध, युद्ध की समाप्ति और राष्ट्रसंघ की स्थापना के विचार उदारवाद के उग्र समर्थक काण्ट के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचार हैं। वह इन विचारों के लिए चिरस्मरणीय है। डनिंग ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि "अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्म चर्चाओं के मरुस्थल में की जाने वाली काण्ट की यात्राओं में उसका मार्ग प्रदर्शन करने वाली ज्योति

बुद्धिसम्पन्न मानव के महत्त्व और गरिमा में अगाध विश्वास रखना था। उसके ग्रन्थों एवं विचारों के दुर्बोधतम घनान्धकार में भी मानव की स्वतन्त्रता और समानता का विचार प्रखर प्रकाश से चमक रहा है। यद्यपि उसने सामूहिक सत्ताओं (Collective entities) के रूप में समाज, राज्य और जनता को पर्याप्त महत्त्व दिया था, तथापि उसके दर्शन में प्रधान स्थान स्वतन्त्र इच्छा रखने वाले बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति को ही प्राप्त है। राजनीतिक चिन्तन में काण्ट का प्रभाव व्यक्तिवाद पर बल देना था, इस विषय में यह एक बड़ा मनोरंजक तथ्य है कि 19वीं शताब्दी के सबसे बड़े व्यक्तिवादी हर्बर्ट स्पेन्सर को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि उसने घोर परिश्रम से व्यष्टिवाद के जिस नवीन सिद्धान्त का आविष्कार किया है, उसका प्रतिपादन उससे पहले ही एक जर्मन दार्शनिक कर चुका है।"[1]

हेगल (1770—1831)

जर्मनी में आदर्शवाद के सिद्धान्त को चरम शिखर तक पहुँचाने वाले तथा राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रबलतम प्रतिपादन करने वाले जार्ज विल्हैल्म फ्रीडरिख हेगल का जन्म स्टटगार्ट में 1770 में उस समय हुआ, जब काण्ट 46 वर्ष की आयु में कानिग्ज़बर्ग के विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर नियत हुआ था। हेगल के पिता वुर्टमबर्ग नामक एक छोटे जर्मन राज्य में सरकारी कर्मचारी थे। वे अपने पुत्र को धार्मिक शिक्षा दिलाकर चर्च में अच्छा पद दिलाना चाहते थे, अतः उन्होंने अपने पुत्र को ट्यूबिजन (Tubingen) के धार्मिक विद्यालय में भेजा। यहाँ हेगल ने यद्यपि पढ़ने-लिखने में कठोर परिश्रम का परिचय दिया, किन्तु उसे धार्मिक विषयों की अपेक्षा यूनानी साहित्य का अध्ययन करने में अधिक अभिरुचि थी। 1793 में अपनी शिक्षा समाप्त करने पर उसने स्नातक की पदवी प्राप्त की। किन्तु जिस व्यक्ति ने बाद में अपने विलक्षण दार्शनिक चिन्तन से पश्चिमी जगत् पर गहरा प्रभाव डालना था, दर्शनशास्त्र का प्रसिद्ध प्रोफेसर बनना था, उसके स्नातक परीक्षा के प्रमाणपत्र में यह लिखा गया था कि वह उत्तम चरित्रसम्पन्न है तथा अर्थशास्त्र और भाषाशास्त्र में निष्णात है, किन्तु दर्शनशास्त्र में उसकी कोई योग्यता नहीं है।

बाद में असाधारण दार्शनिक की प्रसिद्धि का उपार्जन करने वाले हेगल का जीवन अत्यन्त साधारण था। शिक्षा समाप्त करने के बाद उसे छः वर्ष (1793-99) तक बर्न और फ्रैंकफोर्ट में ट्यूशन करके अपना निर्वाह करना पड़ा। हेगल 1801 में, जेना आया तथा 1803 में उसे विश्वविद्यालय में स्थान मिल गया। किन्तु यहाँ देर तक रहना उसके भाग्य में नहीं बदा था। 1806 में, नैपोलियन की सेनाओं ने जेना में प्रशिया की जर्मन सेनाओं को बुरी तरह हराया, फ्रैंच सैनिक हेगल के घर में घुसे और उसे अपनी पुस्तक '**आत्मा के दृश्यवस्तुशास्त्र**' (Phenomenology of Spirit) की पाण्डुलिपि लेकर वहाँ से जान बचाकर भागना पड़ा। कुछ वर्ष बाद उसे हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक की गद्दी मिली। यहाँ 1817 में उसने एक विशाल

1. डनिंग—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरीज़, तीसरा खण्ड, पृ० 136.

ग्रन्थ **'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश'** (Encyclopaedia of the Philosophical Sciences) लिखा। इसके आधार पर उसकी पदोन्नति की गई तथा उसे बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर का पद मिला (1818)। अगले तेरह वर्ष (1818-1831) अपनी मृत्युपर्यन्त वह बर्लिन में अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करता रहा। उसने यहाँ **'अधिकार का दर्शन'** (Philosophy of Right) नामक पुस्तक लिखी तथा इस समय विद्यार्थियों को दिए गए उसके व्याख्यान उसकी मृत्यु के बाद **'इतिहास का दर्शन'** (Philosophy of History) के नाम से प्रकाशित हुए। बर्लिन में उसे पूरा राजकीय सम्मान मिला। उसने प्रशिया के निरंकुश राजतन्त्र का दार्शनिक दृष्टि से उग्र समर्थन किया, क्रान्तिकारी विचारकों की खिल्ली उड़ाई, प्रशिया की सरकार का गुणगान किया, इस शासन को सर्वोत्तम बताते हुए यह घोषणा की कि यह विश्व में भगवान् (Absolute) की अभिव्यक्ति का उत्कृष्टतम रूप है।[1] इसीलिए हेगल के आलोचकों ने उसे प्रशिया की सरकार का समर्थन करने वाला **सरकारी दार्शनिक** (Official Philosopher) कहा है। महान् सुख, शान्ति एवं कीर्ति का उपभोग करने के साथ-साथ हेगल बड़ी जल्दी बूढ़ा होने लगा। 1831 में, बर्लिन में हैज़े की महामारी फैली, हेगल इसका शिकार हुआ, केवल एक दिन की बीमारी के बाद इस महान् दार्शनिक का देहावसान हो गया।

राजनीतिक विचार—राज्य की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ—हेगल राज्य के सम्बन्ध में रूसो का अनुसरण करने वाले फ्रेंच क्रान्तिकारियों का यह विचार नहीं मानता था कि राज्य की उत्पत्ति किसी सामाजिक समझौते (Social Contract) से हुई है। इसके सर्वथा विपरीत उसका यह मत था कि राज्य विश्वात्मा के आध्यात्मिक पक्ष का द्वन्द्वात्मक पद्धति से होने वाला चरम विकास था, यह अन्य देहधारी प्राणियों की भाँति अपना पृथक् शरीर (Organism) रखता था। हेगल से पहले के क्रान्तिकारी विचारक राज्य को विभिन्न व्यक्तियों के समूह से बनने वाली एक सत्ता समझते थे, इसमें प्रत्येक व्यक्ति के अपने नैसर्गिक अधिकार (Natural rights) बने रहते थे। किन्तु हेगल इसे व्यक्तियों के कोरे समूह के स्थान पर एक वास्तविक व्यक्तित्व रखने वाली सत्ता एवं विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानता था। हेगल के विचार में राज्य के सदस्य के रूप में ही व्यक्ति को वास्तविक सत्ता और महत्ता प्राप्त होती है। यूनानी विचारों के प्रभाव के कारण वह अरस्तू की भाँति यह मानता था कि व्यक्ति का उच्चतम विकास समाज में ही सम्भव है, अतः व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए है। इसीलिए उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि व्यक्ति तभी पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है, जब वह राज्य के आदेशों का पालन करे। राज्य विश्वात्मा का सर्वोच्च रूप है, इसलिए आदर्श नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य की इच्छानुसार अपना जीवनयापन करे।

हेगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति से राज्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उसने लिखा है कि इसका निर्माण दो प्रकार के तत्त्वों से होता है, एक ओर विश्वात्मा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई इसके विकास में सहयोग देती है,

---

1. ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० 325.

दूसरी ओर मनुष्य इसके द्वारा अपने को पूर्ण बनाने का यत्न करते हुए इसका निर्माण करते हैं। "अतः विश्व-इतिहास के विशाल जाल की रचना करने वाला ताना तो विश्वात्मा का विचार है और बाना मनुष्यों की इच्छाएँ और भावनाएँ हैं।" पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल के मतानुसार विश्वात्मा अपने अन्तिम लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए नाना रूपों में से होकर गुजरती है। जड़ जगत् से चेतन जगत् तक के असीम विस्तार में इसके अनन्त रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यह जड़ वस्तुओं, वनस्पतियों, पशुओं की नाना योनियों में होकर, ऊपर उठते हुए मनुष्य की अपूर्ण चेतना के रूप में विकसित होती है। हेगल का मत था कि भौतिक क्षेत्र में मनुष्य विश्वात्मा का सर्वोत्तम विकसित रूप है, इसके बाद इस क्षेत्र में इसका इससे अधिक उत्कृष्टतर रूप कभी विकसित नहीं होगा।

किन्तु मनुष्य एकाकी रहते हुए अपना विकास कभी नहीं कर सकता है, वह सामाजिक प्राणी है, वह दूसरों के साथ मिलकर रहता है और उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिए अनेक संस्थाओं का विकास होता है। ये विश्वात्मा की बाह्यात्मा (Objective Spirit) के विभिन्न रूप हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि सामाजिक आचार (Ethics) के क्षेत्र में परिवार (Family) का प्रादुर्भाव उसकी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए होता है, परिवार में रहते हुए बच्चों को माता-पिता का संरक्षण मिलता है, पति-पत्नी को दाम्पत्य आनन्द और काम-सुख की प्राप्ति होती है, इससे उनकी विभिन्न आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। परिवार का मौलिक तत्त्व प्रेम की भावना है, राज्य की उत्पत्ति के लिए हेगल परिवार को पहली सीढ़ी या वाद (Thesis) समझता है।

किन्तु परिवार मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। बच्चे बड़े होने पर परिवार से निकलकर अधिक विस्तीर्ण क्षेत्र में आते हैं। हेगल ने इसे सुव्यवस्थित (Civil) अथवा नगरवासी (Bourgeois) समाज का नाम दिया है। यह परिवार का प्रतिवाद (Antithesis) है। परिवार के सदस्य स्नेह के सूत्र से बँधे रहते हैं, इस नगरवासी समाज के सदस्यों को एक सूत्र में पिरोने वाले तत्त्व स्वार्थ और अनुबन्ध (Contract) थे। परिवार की विशेषता इसके सदस्यों का एक-दूसरे से प्रेम था, किन्तु नगरवासी समाज की विशेषता प्रतिस्पर्धा की भावना थी। इस समाज में संघर्ष और प्रतिस्पर्धा के होने के कारण यह समाज परिवार की अपेक्षा कम आकर्षक प्रतीत होता था, किन्तु इसकी एक विशेष उपयोगिता थी। इसने व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में मानव-समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण किया। इस समाज ने अपने कानूनों का विकास किया और पुलिस की व्यवस्था की। इसका और अधिक विकास होने पर इसने व्यापारिक श्रेणियों (Guilds) तथा निगमों (Corporations) को उत्पन्न किया। ये नवीन संगठन अपने सदस्यों को यह पाठ पढ़ाते हैं कि उन्हें केवल अपने हितों का ही नहीं, अपितु अपने सम्पूर्ण समाज के हितों का ध्यान रखना है। इस कारण उनमें न केवल अपने समाज की स्पर्धा और प्रतियोगिता की विशिष्ट भावना प्रकट होती है, अपितु राज्य की एक विशेष भावना—सहयोग का भी प्रकटीकरण होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्नेह की भावना से एकता के सूत्र में आबद्ध परिवार का वाद (Thesis) अपने विरोधी एवं एकताशून्य ऐसे नगरसमाज के प्रतिवाद

(Antithesis) को उत्पन्न करता है, जिसके सदस्य स्पर्धा के कारण विभक्त हैं। किन्तु शीघ्र ही इन दोनों में समन्वय स्थापित करने वाले राज्य का संगठन उत्पन्न होता है, यह इन दोनों से ऊँचा और उत्कृष्ट संगठन होने के कारण इनमें एकता और सामंजस्य स्थापित करता है और ये दोनों संस्थाएँ समष्टि के हितों को अपना समझते हुए उनको बढ़ाने का प्रयत्न करती हैं।

राज्य की विशेषताएँ—इस प्रकार प्रादुर्भूत होने वाले राज्य की हेगल ने कुछ विशेषताएँ प्रतिपादित की हैं। इसकी **पहली विशेषता** इसका दैवी (Divine) सत्ता होना है। अनन्त युगों से असीम रूपों में विकसित होने वाली विश्वात्मा (Weltgeist) या भगवान् का चरम रूप के कारण इसका दिव्य होना स्वतःसिद्ध और स्पष्ट है। यह "भूमण्डल पर दैवी विचार के रूप में अवस्थित" है। इसे पृथ्वी पर भगवान् की महा-यात्रा का अन्तिम पड़ाव कहा जा सकता है। **दूसरी विशेषता** राज्य का साध्य और व्यक्ति का साधन होना है। चूँकि राज्य इस पृथ्वी पर विश्वात्मा का अन्तिम रूप है, अतः वह अपने-आपमें साध्य (End) ही हो सकता है, साधन कभी नहीं बन सकता। राज्य के ऐसा होने का एक कारण यह भी है कि वह समष्टि (Whole) है और समष्टि अपने अंगों या अवयवों से सदैव अधिक बड़ा और महत्त्वपूर्ण होती है, इनकी सार्थकता समष्टि का अंग बने रहने में ही है। हेगल ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ '**इतिहास के दर्शन**' (Philosophy of History) में लिखा है—"मनुष्य का सारा मूल्य और महत्त्व—उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता केवल राज्य में ही सम्भव है।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि व्यक्ति राज्य का अंग होने के कारण ही अपना नैतिक महत्त्व रखता है। अतः व्यक्तियों को पूर्णरूप से राज्य के प्रभुत्व में रहना चाहिए। राज्य उनका सर्वेसर्वा तथा देवाधिदेव है, उन्हें उसके सभी आदेशों का पालन करने में गौरव और गर्व का अनुभव करना चाहिए। इस बात का प्रबल प्रतिपादन करने के कारण ही, हेगल को अधिनायकवादी अथवा सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) विचारधारा के आधुनिक सभी रूपों—फासिज़्म, नाज़ीवाद, सैनिकवाद—का प्रवर्त्तक या जन्मदाता कहा जाता है।

हेगल के राज्य की **तीसरी विशेषता** इसका सब प्रकार के नैतिक बन्धनों से मुक्त होना है। इसका कारण यह है कि राज्य सर्वोच्च संस्था है, अतः इसको नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाली कोई दूसरी सत्ता नहीं हो सकती है। राज्य स्वयमेव नैतिकता के सिद्धान्तों का सृजन करने वाला है। यह बात राज्य के अपने प्रदेश में किए जाने वाले कार्यों से तथा उसके वैदेशिक सम्बन्धों से पुष्ट होती है। प्रत्येक राज्य अपने अधिकार-क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों के लिए कानूनों का निर्माण करते हुए उनके द्वारा पालन की जाने वाली नैतिकता के मानदण्डों का निर्धारण करता है। राज्य में उसके द्वारा की जाने वाली नैतिक व्यवस्था सर्वोच्च होती है, इसके आधार पर बनाए गए उसके कानूनों की अवहेलना करके कोई भी नागरिक इस युक्ति के आधार पर राज्य का दण्ड पाने से नहीं बच सकता कि ये कानून उसके अन्तःकरण के अथवा नैतिक भावना के प्रतिकूल हैं। काण्ट का यह विश्वास था कि व्यक्ति का अन्तःकरण (Conscience) नैतिक प्रश्नों का निर्णय कर सकता है। किन्तु हेगल ने रूसो की भाँति इस बात पर

बल दिया[1] कि अन्तःकरण हमें केवल अच्छा (Right) कार्य करने को कहता है, किन्तु इस बात का निश्चय नहीं करता है कि कौनसा काम किन कारणों से अच्छा है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण का निर्णय उसके समाज में प्रचलित परम्पराओं, धारणाओं और विश्वासों से होता है। समाज में जिन विचारों को अच्छा माना जाता है, हमारा अन्तःकरण उनके ही अनुसार हमें कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है। वह स्वयमेव अच्छे-बुरे का अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता है। किन्तु हेगल का यह कहना है कि राज्य विश्वात्मा का रूप है, वह जो आवश्यक समझता है तथा जो कार्य करता है वह सब-कुछ सत्-असत् के विचार से ऊंचे धरातल की वस्तु है, अतः राज्य नैतिकता के बन्धनों से ऊपर उठा हुआ है। राज्य जो भी कार्य करता है, वह सर्वथा न्यायोचित है।

राज्य की **चौथी विशेषता** यह है कि वह अपनी आत्मरक्षा के लिए अन्य राज्यों के साथ कोई भी कार्य करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। हेगल राज्य के कल्याण को 'उच्चतम कानून' समझता है। '**अधिकार के दर्शन**' (Philosophy of Right) नामक पुस्तक में उसने घोषणा की है कि सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है और यह एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि राज्य का अपना विशेष हित सबसे अधिक महत्त्व रखता है। अपने नीतिशास्त्र (Ethics) में उसने इस बात का समर्थन करते हुए यह लिखा है कि राज्य स्वयमेव अपने कर्त्तव्य निश्चित करने वाला एक ऐसा पूर्ण मन (Absolute Mind) है, जो सत् और असत् के नियमों को, लज्जापूर्ण, जघन्य, चालाकी (Craft) तथा धोखाधड़ी वाले किन्हीं नियमों को स्वीकार नहीं करता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राज्य दूसरे देशों के साथ अपने हितों की रक्षा के लिए जो भी कार्यवाही करे, वह सर्वथा एवं सर्वदा न्यायोचित है। इस प्रकार हेगल ने राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमाने कार्य करने की खुली छूट दे दी और सन्धियों की पवित्रता को समाप्त कर दिया। उसके सिद्धान्तों के प्रचार का ही यह परिणाम था कि 1914 के प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी ने अपने हितों की रक्षा के लिए बेल्जियम पर आक्रमण करने में कोई संकोच नहीं किया, यद्यपि उसने एक सन्धि द्वारा इसकी तटस्थता की रक्षा करने का पहले वचन दिया हुआ था। जब ब्रिटेन ने उसे सन्धि का स्मरण कराया तो उसने यह उत्तर दिया यह सन्धि तो रद्दी कागज का टुकड़ा है। हेगल से पहले काण्ट ने स्थायी शान्ति बनाए रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की मर्यादा का पालन करने तथा राष्ट्रसंघ की स्थापना करने पर बल दिया था। किन्तु हेगल ने इन सबका विरोध करते हुए शान्ति की खिल्ली उड़ाई, युद्ध का प्रबल समर्थन किया और यह कहा कि "राज्य एक-दूसरे के साथ जो सन्धियाँ करते हैं, वे अस्थायी होती हैं। जब विभिन्न राज्यों की विशिष्ट इच्छाओं में कोई समझौता नहीं हो सकता तो इस विवाद का निर्णय केवल युद्ध द्वारा ही किया जा सकता है।"

राज्य की **पांचवीं विशेषता** यह है कि यह मनुष्य की स्वतन्त्रता को विकसित करने और बढ़ाने का साधन है। व्यक्ति केवल राज्य में रहते हुए ही पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है, इसके बिना मनुष्य पराधीन ही बना रहता है। हेगल ने

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 164.

यूनान का परम भक्त होते हुए भी उसकी आलोचना इस दृष्टि से की है कि यूनानी दास-प्रथा को स्वीकार करते थे और इस बात का अनुभव नहीं करते थे कि राज्य को मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा सम्मान करना चाहिए। उसका यह दावा है कि केवल आधुनिक राज्यों में स्वतन्त्रता के महत्त्व को समझा गया है, जर्मनी में ही मनुष्य को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। वह विश्व के इतिहास को स्वतन्त्रता की भावना की प्रगति के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता था। उसने राज्य को स्वतन्त्रता की भावना का मूर्त्त रूप (Actualization of Freedom) समझता है। अतः इस प्रसंग में उसके स्वतन्त्रता के विचार को अच्छी तरह समझ लेना समुचित प्रतीत होता है।

स्वतन्त्रता का विचार—हेगल इसे मनुष्य का एक मौलिक तत्त्व समझता है। उसका यह कहना है कि "मनुष्य का एक विशेष गुण स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता को छोड़ने का अर्थ मानवता का परित्याग करना है। अत स्वतन्त्रता न होना मनुष्य द्वारा अपने मानवीय अधिकारों का तथा कर्त्तव्यों का परित्याग करना है।" किन्तु हेगल की स्वतन्त्रता का विचार फ्रेंच राज्यक्रान्ति द्वारा प्रतिपादित किए गए स्वतन्त्रता के विचार से सर्वथा भिन्न था। वस्तुतः उसका उद्देश्य फ्रेंच क्रान्ति द्वारा इस विषय में उत्पन्न की गई भ्रान्त धारणाओं और मिथ्या विश्वासों का खण्डन करना था। फ्रेंच क्रान्ति के विचारकों का स्वतन्त्रता का विचार व्यक्तिवादी (Individualistic) था, वे इसका यह अर्थ समझते थे कि मनुष्य को अपनी इच्छानुसार अपना जीवन बिताने, आजादी से रहने, घूमने-फिरने, विचार प्रकट करने की तथा अपना धर्म पालन करने की स्वाधीनता होनी चाहिए; जहाँ तक वह दूसरों की स्वतन्त्रता पर आघात नहीं पहुँचाता है, वहाँ तक उस पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। इस प्रकार स्वाधीनतापूर्वक जीवन बिताना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और राज्य को उस पर यथासम्भव कम-से-कम प्रतिबन्ध लगाने चाहिएँ।

हेगल का स्वतन्त्रता का विचार न केवल स्वाधीनता के उपर्युक्त विचार से भिन्न है, अपितु इसका सर्वथा विरोधी है। उसके मतानुसार स्वतन्त्रता व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वाधीनता नहीं है, अपितु राज्य की इच्छानुसार कार्य करना है; स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छा के प्रतिकूल राजकीय आदेशों को अपना कर्त्तव्य समझते हुए उनका पालन करना है। सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि व्यक्ति की अपनी इच्छा में और राज्य की इच्छा में कई बार विरोध हो सकता है, राज्य निरंकुश होने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बुरी तरह कुचल सकता है, जैसा 1789 की राज्यक्रान्ति होने से पहले फ्रांस में हुआ करता था। किन्तु हेगल व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के सभी आदेशों का आंख मूंदकर पालन करने में समझता है। इस प्रकार अन्य व्यक्ति जिसे परतन्त्रता समझते हैं, हेगल उसे स्वतन्त्रता समझता है। उसका स्वतन्त्रता का यह विचार बड़ा निराला और सामान्य व्यक्तियों को बड़ा अटपटा, विचित्र तथा अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है। किन्तु हेगल ने इसे निम्नलिखित दार्शनिक तर्कों के आधार पर युक्तिसंगत सिद्ध किया है।

इस विषय में हेगल का पहला तर्क यह है कि प्राकृतिक दशा (State of Nature) के बाद सुव्यवस्थित नागरिक राज्य की दशा मनुष्यों में बड़ा परिवर्तन पैदा कर देती है। पहली प्राकृतिक दशा में मनुष्य जंगली पशुओं की भांति स्वच्छन्द और

उच्छृंखल होता है, किन्तु दूसरी दशा में वह समाज में व्यवस्था और न्याय की स्थापना करने के लिए अपने-आप पर अनेक अंकुश लगाना स्वीकार करता है, क्योंकि इसी से उसकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। अब वह पशु-समाज के धरातल से ऊँचा उठकर नैतिक समाज का निर्माण आरम्भ करता है, उसके कार्य अब नैतिक रूप धारण करते हैं। पहले वह भूखा होने पर किसी को मारने में अथवा किसी की लूट-पाट करने में कोई दोष नहीं समझता था, अब उसमें यह नैतिक भावना उत्पन्न होती है कि उसका कर्त्तव्य है कि वह ऐसा पशु-तुल्य कार्य न करे, अपितु न्यायोचित मार्गों से ही अपनी क्षुधा शान्त करे, वह कोई भी कार्य करने से पहले केवल अपनी इच्छाओं का दास न बने, अपितु अपनी बुद्धि और विवेक से परामर्श लेकर कार्य करे। इससे यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय अपनी वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना नहीं है, किन्तु राज्य और बुद्धि के विवेक से तथा उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना है। मनुष्य स्वार्थी है, वह संकीर्ण दृष्टि रखता है; उसमें काम, क्रोध, राग-द्वेष और मोह की भावनाएँ उसकी इच्छा को दूषित बनाने वाली हैं। इन वासनाओं तथा इच्छाओं से प्रेरित होकर कार्य करना स्वतन्त्रता नहीं, किन्तु दासता है। राज्य विश्वात्मा के विकास का चरम रूप है, वह विभिन्न व्यक्तियों की क्षुद्र वासनाओं और संकीर्ण दृष्टि से ऊपर उठा हुआ है, अतः उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है, इसमें वस्तुतः वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं की दासता से मुक्ति पाकर स्वाधीनता का उपयोग करता है।

हेगल एक अन्य दार्शनिक तर्क से भी राज्य के आदेशों के पालन को ही स्वतन्त्रता सिद्ध करता है। उसका यह कहना है कि स्वतन्त्रता केवल आत्मा का ही विशिष्ट गुण या धर्म हो सकता है, यह जड़ अथवा भौतिक जगत् की विशेषता नहीं हो सकती है क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ अपने-आपमें पूर्ण होना, दूसरे पर किसी भी प्रकार से निर्भर न रहना, दूसरे की ओर कोई प्रवृत्ति न रखते हुए आत्मनिष्ठ (self-contained) बने रहना है। यह विशेषता केवल आत्मा में है, जड़ जगत् में नहीं है। क्योंकि जड़ जगत् में आत्मनिष्ठा (self-containedness) की विशेषता नहीं पाई जाती है। एक मोटे उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। जड़ जगत् की सभी वस्तुएँ गुरुत्वाकर्षण के नियम से शासित होती हैं, उनकी प्रवृत्ति सदैव अपने स्वरूप से बाहर अवस्थित गुरुत्वाकर्षण के केन्द्र की ओर जाने की होती है, अतः उन्हें स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर आत्मा अपने ही स्वरूप में अवस्थित है, वह अपने से बाहर कहीं नहीं जाती। अतः वह स्वतन्त्र है, इसलिए दूसरे शब्दों में आत्मा का विकास स्वतन्त्रता का विकास है, इसलिए मानव-जाति के विकास का इतिहास स्वतन्त्रता के विकास का सूचक है। मानव-इतिहास का उच्चतम विकास राज्य के रूप में होता है, इसमें विश्वात्मा अपना अन्तिम साकार रूप ग्रहण करती है। अतः पूर्ण आदर्श राज्य ही वास्तव में स्वतन्त्र राज्य है और जो नागरिक आदर्श राज्य के आदर्श कानून का स्वेच्छापूर्वक पालन करता है, वह आदर्श स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

किन्तु कई बार ऐसी स्थिति आ सकती है कि व्यक्ति यह सोचे कि राज्य के कानून उस पर उसकी इच्छा के विरुद्ध थोपे जा रहे हैं, इस दशा में वह अपने को किस प्रकार स्वतन्त्र अनुभव कर सकता है। हेगल इस युक्ति का बड़ा सुन्दर उत्तर देता है।

उसका यह कहना है कि राज्य का कोई भी कानून किसी व्यक्ति पर बाहर से थोपा हुआ नहीं हो सकता, यह वास्तव में उसकी अपनी ही इच्छा का परिणाम है, क्योंकि व्यक्ति भी विश्वात्मा का साकार या मूर्त्तरूप (Embodiment) है, यद्यपि उसमें उतनी पूर्णता नहीं है, जितनी पूर्णता राज्य में पाई जाती है। किन्तु फिर भी उसमें इतना आत्मतत्त्व अवश्य है कि वह अपने को राज्य से पूर्ण रूप से अभिन्न समझे, क्योंकि दोनों में एक ही आत्मतत्त्व की सत्ता पाई जाती है। किन्तु अभिन्न होते हुए भी दोनों में कुछ अन्तर हैं। व्यक्ति कई बार दूसरों का कोई भी ध्यान न रखते हुए स्वार्थ बुद्धि से एवं पाशविक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य कर सकता है। किन्तु जब वह ऐसा कार्य करता है तो उस समय उसका यह कार्य विश्वात्मा की व्यापक योजना के प्रतिकूल होता है। उस समय विश्वात्मा का आत्मतत्त्व उसमें दब जाता है और स्वार्थपूर्ण वासनाओं का दास बन जाने के कारण उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। वह केवल उसी समय स्वतन्त्र रहते हुए कार्य करता है, जबकि वह अपने को विश्वात्मा से अभिन्न बनाते हुए अपनी क्षणिक स्वार्थपूर्ण वासनाओं के अनुसार नहीं, अपितु विश्वात्मा की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। वस्तुतः यह उसका वास्तविक इच्छा (Real Will) के अनुसार कार्य करना है। वह विश्वात्मा के प्रयोजनों को जितनी अधिक मात्रा में समझता है, उतनी ही अधिक मात्रा में वह स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। वस्तुत: स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना नहीं है, अपितु विश्वात्मा के प्रतीक—राज्य—की इच्छा के अनुसार कार्य करना है।

किन्तु एक व्यक्ति राज्य की इच्छा का अथवा उसके कानूनों का पालन दण्ड के भय से भी कर सकता है। हेगल की दृष्टि में ऐसा व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है; क्योंकि वह स्वेच्छापूर्वक नहीं, अपितु दण्ड के भय से विवश होकर ऐसा कार्य कर रहा है, दण्ड के वशीभूत होने से अथवा उसके आधीन होने के कारण उसे किसी भी प्रकार से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि वह अपनी इच्छा से और प्रसन्नता से राज्य के आदेशों का पालन करता है और इनका इस दृष्टि से पालन करता है कि इससे वह विश्वात्मा की इच्छा के अनुकूल कार्य कर रहा है और उसकी वास्तविक इच्छा भी यही है तो इस दशा में ही उसे वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। स्वतन्त्रता के इस रूप का प्रतिपादन करने के बाद हेगल ने यह ठीक ही लिखा है कि लोग प्रायः स्वतन्त्रता का यह अर्थ समझते हैं कि जनता को अपने शासक चुनने का अधिकार हो, उन्हें अपने कानून बनाने का अधिकार हो, उन्हें अपने विचारों को प्रकट करने की, बोलने की और लिखने की स्वाधीनता हो। हेगल इसे स्वतन्त्रता न मानता हुआ, उपर्युक्त रीति से राज्य के आदेशों को आँख मूँदकर पालन करने के कर्त्तव्य को ही स्वाधीनता समझता है। चूँकि हेगल के मतानुसार राज्य की आज्ञा का पालन ही स्वतन्त्रता है, अतः नागरिक राज्य के किसी कार्य को कभी अन्यायपूर्ण नहीं समझ सकते और उन्हें राज्य की किसी बात का विरोध करने का अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है।

हेगल की स्वतन्त्रता की यह कल्पना बड़ी स्पष्ट है और भावात्मक (Positive) है। यह काण्ट की स्वतन्त्रता की कल्पना का विलोम है। काण्ट यह कहा करता था कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपने व्यक्तित्व की रक्षा करनी चाहिए, राज्य पर अधिक

निर्भर नहीं रहना चाहिए। अतः काण्ट की स्वतन्त्रता का यह विचार अपने पर बल देने के कारण **आत्मगत अथवा आन्तरिक** (Subjective) था। इसकी दूसरी विशेषता नकारात्मक (Negative) होना था, क्योंकि वह स्वतन्त्रता का अर्थ मनुष्य की स्वाधीनता को प्रधान रूप से कई प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त करने पर, उसकी गतिविधि, विचारों की अभिव्यक्ति आदि पर कोई पाबन्दियाँ न लगाने पर बल देता था। किन्तु हेगल की स्वतन्त्रता का विचार इन दोनों बातों में काण्ट के विचार से भिन्न था। वह स्वतन्त्रता को नकारात्मक न मानकर भावात्मक (Positive) अर्थात् राज्य के आदेशों का पालन करना मानता था। इसके साथ ही उसकी स्वतन्त्रता का विचार व्यक्ति तक ही सीमित न होने से आत्मगत (Subjective) नहीं था, वह इसे राज्य की विशेषता मानता था, अतः उसका यह विचार वस्तुगत (Objective) था। दोनों में इस विषय में एक अन्य भेद यह था कि काण्ट व्यक्तिवाद (Individualism) का पोषक है, वह व्यक्ति को साध्य मानता है, अतः वह अपनी स्वतन्त्रता का विचार व्यक्ति तक ही सीमित (Limited) रखता है। किन्तु हेगल व्यक्ति को साधन और राज्य को साध्य मानता है, अतः उसका स्वतन्त्रता का विचार व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। इसलिए बार्कर ने यह सत्य ही लिखा है कि हेगल ने काण्ट की स्वतन्त्रता के उस विचार की आलोचना की, जो नकारात्मक, सीमित एवं आत्मगत (Subjective) था; इसके स्थान पर उसने स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ऐसे विचार का प्रतिपादन किया जो अधिक भावात्मक और वस्तुगत (Objective) था तथा उसकी अपेक्षा कम व्यक्तिवादी था।[1] वस्तुतः हेगल व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं मानता था, उसका यह कहना है कि व्यक्ति राज्य की इच्छा में अपने को जितना अधिक विलीन करेगा, उसकी स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक पूर्ण होगी। इस विषय में वह प्लेटो, अरस्तू आदि प्राचीन यूनानियों द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों में आस्था रखता था कि व्यक्ति अपने जीवन का पूर्ण विकास समुदाय के जीवन में या राज्य में ही कर सकता है तथा कोई भी व्यक्ति अपने पर पूर्ण अधिकार नहीं रखता, क्योंकि सब पर राज्य का अधिकार है।

युद्धविषयक विचार—पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल के मतानुसार विभिन्न राज्यों के पारस्परिक विवादों के निर्णय का एकमात्र हल युद्ध है। वह काण्ट की भाँति स्थायी शान्ति का उपासक नहीं था और न ही राष्ट्रों के किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का समर्थक था। उसे राष्ट्रसंघ का विचार बड़ा बेहूदा प्रतीत होता था। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति राष्ट्रीय राज्य (Nation-State) को राजनीतिक संगठन का चरम रूप समझती थी। उसका यह मत था कि राष्ट्रीय राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाए रखने के लिए जब चाहे तब युद्ध के उपाय का अवलम्बन कर सकता है, क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य के रूप में उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा : चूँकि राज्य का जीवन और उद्देश्य व्यक्ति के जीवन एवं उद्देश्य से अधिक ऊँचे हैं, अतः व्यक्ति को राज्य की रक्षा के लिए किए जाने वाले युद्ध में सब प्रकार का बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए, ताकि राज्य की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रह सके। हेगल काण्ट की स्थायी शान्ति को कोरा सपना समझता था, वह **युद्ध का प्रबल प्रशंसक और समर्थक**

1. बार्कर—पोलिटिकल फिलासफी इन इंगलैण्ड, 1948-1914, पृ० 19.

था। उसका यह मत था कि युद्ध एक अतीव उपयोगी तथा लाभदायक कार्य है। वेपर ने लिखा है कि एक्टन के वाक्य को कुछ बदलते हुए हेगल के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसके कथनानुसार शान्ति मनुष्य के चरित्र को भ्रष्ट करने वाली थी और स्थायी शान्ति मानव-चरित्र का शाश्वत रूप से पतन करने वाली थी।[1] युद्ध मनुष्यों में विभिन्न सद्गुणों का विकास करता है; उनमें साहस, देशभक्ति, एकता, शूरवीरता और बलिदान की भावनाओं को जागृत एवं पुष्ट करता है; राष्ट्रों के अहंकार की भावना को नष्ट करता है। लड़ाई मानव-जाति के नैतिक विकास के लिए तथा उसका मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक है। जिस प्रकार समुद्र में शान्ति के समय उत्पन्न होने वाली गन्दगी प्रबल तूफान से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मानव-समाज की गन्दगी तथा भ्रष्टाचार की शुद्धि युद्ध से हो जाती है। "सफलता पाने वाले युद्धों ने गृहयुद्धों की सम्भावना को समाप्त किया है तथा राज्य की आन्तरिक शक्ति को सुदृढ़ बनाया है।"

युद्ध में होने वाले नवीन आविष्कार विश्वात्मा द्वारा अपनी प्रगति की महान् यात्रा में विचारपूर्वक किए जाने वाले बड़े परिवर्तन हैं। बन्दूक और बारूद सभ्यता को उन्नत करने वाले आविष्कार थे।

हेगल द्वारा युद्ध की स्तुति करने का कारण उसके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त थे। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का मौलिक तत्त्व वाद और प्रतिवाद का संघर्ष था। उसका यह भी विश्वास था कि प्रत्येक राज्य और राष्ट्र एक विचार (Idea) का मूर्त्त रूप होता है, वस्तुतः 'प्रत्येक राज्य विश्वात्मा के एक विशिष्ट विचार की साकार प्रतिमा' थी। कोई भी राज्य विश्वात्मा के समूचे विचार को मूर्त्त रूप नहीं दे सकता। इतिहास में विश्वात्मा अपने को नाना रूपों में प्रकट करती है, किन्तु किसी भी युग का प्रधान रूप उस समय सर्वाधिक शक्ति रखने वाले किसी राज्य के रूप में प्रकट होता है। राज्यों में होने वाले विभिन्न युद्धों से ऐसे शक्तिशाली राज्यों का प्रादुर्भाव होता है तथा विश्वात्मा अधिक पूर्ण विकास को प्राप्त करती है। युद्ध में ही विश्वात्मा (Weltgeist) इस बात का निर्णय करती है कि कौनसा राष्ट्र इसके विचार का अधिक सच्चा मूर्त्त रूप है, इसी राष्ट्र को विश्वात्मा विजय प्रदान करती है। युद्ध में विजय प्राप्त करना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि विजेता राष्ट्र विजित राष्ट्र की अपेक्षा अधिक सचाई के साथ विश्वात्मा के किसी विचार की साकार प्रतिमा है। इस विषय में हेगल का यह कथन उल्लेखनीय है कि विश्वात्मा द्वारा विजय के लिए चुने जाने वाले राष्ट्र को कभी भी पहले से ही अपनी इस महत्त्वपूर्ण भूमिका या कार्य का ज्ञान नहीं होता है। अतः कोई राष्ट्र युद्ध छेड़ते समय इस बात का दावा नहीं कर सकता कि वह इस लड़ाई को विश्वात्मा के आदेश पर उसके प्रयोजन को पूरा करने के लिए लड़ रहा है। वह इस दावे को तभी कर सकता है, जब वह युद्ध में सफलता प्राप्त कर ले। उदाहरणार्थ, हिटलर द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ते हुए 1939 में यह दावा नहीं कर सकता था कि वह विश्वात्मा के आदेश का पालन करने के लिए इस लड़ाई को शुरू कर रहा है। यदि वह 1945 में विजयी होता तो उसे यह दावा करने का अधिकार होता कि जर्मनी

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ॰ 165.

विश्वात्मा के प्रयोजन को सफल बनाने के लिए यह लड़ाई लड़ रहा है।

शासनविषयक विचार : मौलिक सिद्धान्त—हेगल के शासनविषयक विचारों को उसके दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। इस विषय में हेगल के दो दार्शनिक सूत्र स्मरणीय हैं : पहला सूत्र यह है कि "वास्तविक तत्त्व बुद्धिसंगत है" (The actual is the rational) तथा दूसरा सूत्र है कि "समष्टि ही वास्तविक है।" (The Whole is real)। पहले सूत्र से यह परिणाम निकलता है कि मानव-समाज में इसे नियन्त्रण में रखने वाली जो भी शक्तियाँ हैं, वे कुछ अंशों में बुद्धिसम्पन्न हैं, अर्थात् विचार एवं बुद्धि की साकार प्रतिमा विश्वात्मा का आंशिक रूप हैं। दूसरे सूत्र से यह परिणाम निकलता है कि सत्ता को अपना पूर्ण रूप तभी प्राप्त होता है, जब सत्ता के निम्न स्तरों पर पाए जाने वाले विरोधों का समाधान एक अन्तिम समन्वय द्वारा किया जाता है। यह अन्तिम समन्वय राज्य है, यह पूर्ण समष्टि (Organic Whole) है। पूर्ण रूप से विकसित राज्य का शासन अपने स्वरूप और विशेषताओं को इस समन्वय से ग्रहण करता है। यह विशेष हितों का नहीं, अपितु सार्वभौम (Universal) हितों का संरक्षण करता है। इसके विकास से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार विकसित होने वाले राज्य के समन्वय (Synthesis) का वाद (Thesis) परिवार तथा प्रतिवाद (Antithesis) व्यवस्थित नागरिक समाज (Civil Society) हैं। परिवार पति-पत्नी तथा बच्चों की एकता (Unity) का प्रतिनिधि है, इसका विरोध स्पर्धा के तत्त्व पर बल देने वाले नागरिक समाज से होता है। किन्तु विरोध की स्थिति अधिक देर तक नहीं रह सकती, अतः दोनों में समन्वय होकर राज्य की स्थापना होती है।

संविधान—राज्य के संविधान (Constitution) के बारे में हेगल का यह विचार था कि यह समानता रखने वाली सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के भीतर कई पीढ़ियों तक निवास करने वाले जन-समूहों द्वारा पालन की जाने वाली आदतों से बनता है। संविधान में राज्य की शक्तियों को उसने यद्यपि तीन भागों में बाँटा है, किन्तु उसका यह विभाजन मांतेस्क्यू आदि विचारकों द्वारा किए गए शक्तियों के विभाजन (Separation of Powers) से दो बातों में मौलिक भेद रखता है : पहला भेद यह है कि वह इन तीनों शक्तियों को एक-दूसरे से स्वतन्त्र तथा एक-दूसरे का नियन्त्रण करने वाला नहीं मानता है, प्रत्येक शक्ति अपने में पूर्ण और दूसरी शक्ति का विरोध करके सन्तुलन स्थापित करने वाली नहीं है, किन्तु तीनों शक्तियाँ एक-दूसरे की पूरक तथा एक महान् समष्टि के विभिन्न अंग हैं। हेगल का यह विचार था कि फ्रांस में राज्यक्रान्ति होने का तथा प्राचीन राजतन्त्र के पतन होने का बड़ा कारण यह था कि इनमें शासन करने वाली (Executive) तथा कानून बनाने वाली (Legislative) शक्तियाँ पृथक्-पृथक् थीं। दूसरा बड़ा भेद यह था कि उसने मांतेस्क्यू की कार्यपालिका, विधानपालिका, न्यायपालिका की तीन शक्तियों के स्थान पर विधानपालिका, कार्यपालिका तथा राजतन्त्र (Monarchy) की तीन शक्तियों को माना था। उसने अपनी व्यवस्था में न्यायपालिका को स्वतन्त्र नहीं माना, किन्तु इसे कार्यपालिका की शाखा

स्वीकार किया, इसके स्थान पर उसने राजतन्त्र की तीसरी शक्ति मानी।[1] अपनी शासन पद्धति में हेगल ने राजा को विशेष स्थान इसलिए दिया है कि राजा विधान-पालिका और कार्यपालिका में समन्वय स्थापित करके उन्हें एक बनाता है। इस प्रकार राजा राज्य की एकता और सर्वोच्च सत्ता का प्रतीक है। उसके मतानुसार प्रभुसत्ता जनता में नहीं, किन्तु राजा में निहित है। वही राज्य की इच्छा (Will) का निर्धारण करता है। हेगल वैध राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) का समर्थक है। शासन का कार्य सामान्य रूप से मन्त्री और राजकीय कर्मचारी (Civil Servants) करते रहते हैं, केवल संकट के विशेष अवसरों पर ही राजा महत्त्वपूर्ण निर्णय करता है। वैध राजतन्त्र का पोषक होते हुए जर्मन दार्शनिक ब्रिटेन के वैध राजतन्त्र को पसन्द नहीं करता था। उसका आदर्श प्रशिया का राजा था। यहाँ इंगलैण्ड की भाँति लोकसभा में बहुमत रखने वाले दल के व्यक्ति मन्त्री नहीं बनाए जाते थे, किन्तु राजा अपनी इच्छा से व्यक्तियों को मन्त्री बनाता था। वह यद्यपि उनके परामर्श से कार्य करता था, किन्तु उसे स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने का तथा मन्त्रियों को पदच्युत करने का अधिकार था, प्रशिया का प्रधानमन्त्री ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की भाँति अपने को विधानसभा या पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी न समझकर प्रशिया के सम्राट् के प्रति उत्तरदायी समझता था, 1912 में जर्मन पार्लियामैण्ट द्वारा विरोधी रवैया अपनाने पर जर्मन प्रधानमन्त्री ने इसी प्रकार की घोषणा की थी।[2] हेगल के राजतन्त्र की एक अन्य विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह वैध राजतन्त्र का प्रबल समर्थक होते हुए भी इसे वंशपरम्परागत (Hereditary) मानता था।

शासन के अन्य दो अंगों विधानपालिका और कार्यपालिका के विषय में हेगल के विशिष्ट सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। आजकल प्रायः सभी विधानसभाओं के सदस्य विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से जनता द्वारा वोट डालकर चुने जाते हैं। हेगल इस प्रणाली को पसन्द नहीं करता था। उसका यह कहना था कि मतदान द्वारा विधायकों के चुने जाने की यह पद्धति मौलिक रूप से दोषपूर्ण है, क्योंकि राज्य व्यक्तियों का समूह (Aggregate of individuals) नहीं है, अपितु विभिन्न प्रकार के समुदायों का समूह (Collection of groups) है। समाज में नाना प्रकार के वर्ग रहते हैं, विधानसभा में इन वर्गों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। हेगल अपनी विधानसभा के दो सदनों में से एक सदन का निर्माण तो जमींदारों के वर्ग से करता है तथा दूसरे सदन में वह राजा के आदेश से विभिन्न व्यवसायों, पेशों और सांस्कृतिक संगठनों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों को सम्मिलित करता है। लैंकास्टर ने लिखा है कि उसकी यह व्यवस्था मध्ययुग की ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की व्यवस्था से मिलती है, क्योंकि इसकी लार्डसभा में बड़े जमींदार और पादरी सम्मिलित होते थे तथा कामन्स सभा में नगरों के व्यापारी, अन्य नगरवासी (Burgesses) तथा जिलों और देहाती प्रदेशों में रहने वाले नाइट (Knight) सम्मिलित होते थे।'[3] हेगल अपनी विधानसभा के सदस्यों को उच्च जमींदार वर्ग से तथा मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न पेशों के प्रतिनिधि समझता था

1. लैंकास्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थाट, तीसरा खण्ड, पृ० 54,
2. वही, पृ० 63.
3. वही, पृ० 56,

समाज के विभिन्न वर्गों के स्वार्थों को प्रतिनिधित्व देने की प्रणाली को कार्यमूलक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) की व्यवस्था कहते हैं। मध्ययुग में समूचे यूरोप में यह व्यवस्था सार्वभौम थी। वर्तमान समय में मुसोलिनी ने इटली में इसे क्रियात्मक रूप दिया था। यह बात उल्लेखनीय है कि यह व्यवस्था हेगल द्वारा बहुप्रशंसित प्रशिया की शासन-पद्धति में भी नहीं थी। विधानपालिका के विषय में हेगल का दूसरा विशेष विचार यह था कि यह सरकारी कर्मचारियों को विशुद्ध रूप से परामर्श देने वाली संस्था थी, इसे इन पर नियन्त्रण का कोई अधिकार नहीं था। आजकल संसदीय शासन प्रणाली में सर्वत्र विधानपालिका शासन-व्यवस्था पर पूरा अंकुश रखती है। हेगल इस व्यवस्था से सहमत नहीं है।

कार्यपालिका (Executive) पर हेगल ने बहुत बल दिया है, क्योंकि वस्तुत: शासन का संचालन करने की प्रधान शक्ति इसी में निहित है। शासन चलाने का सामान्य कार्य सरकारी कर्मचारी (Civil Servants) या नौकरशाही (Bureaucracy) करती है। उसने समाज की तीन श्रेणियों में इस श्रेणी को सर्वोच्च स्थान दिया है। ये तीन श्रेणियाँ क्रमश: (1) कृषक, (2) व्यापारी, कारीगर और व्यवसायी तथा (3) सरकारी कर्मचारी हैं। कृषक और व्यापारी अपने संकीर्ण क्षेत्रों में कार्य करते हैं, किन्तु सरकारी कर्मचारी शासन-संचालन का सार्वभौम (Universal) कार्य करता है। वह पहली दोनों श्रेणियों की तुलना में समाज की सामान्य इच्छा तथा विवेक (Reason) का प्रतिनिधित्व करता है; किन्तु कृषक और कारीगर अपने विशिष्ट क्षेत्रों के संकीर्ण स्वार्थों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। हेगल यह भी मानता था कि "राज्य के संगठन और आवश्यकताओं को समझने के लिए उच्चतम सरकारी कर्मचारियों में अधिक गम्भीर और व्यापक दृष्टि होती है।"[1] वे विधानपालिका की सहायता के बिना ही सर्वोत्तम शासन कर सकते हैं। इसी आधार पर हेगल ने यह भी कहा है कि सामान्य रूप से कानूनों को प्रस्तावित करने का कार्य उच्च सरकारी कर्मचारियों का ही होना चाहिए। इस विषय में विधानपालिकाओं के दो कार्य होने चाहिएँ—(1) इनके सम्मुख समाज की ऐसी आवश्यकताओं को प्रस्तुत करना, जो सरकारी कर्मचारियों की दृष्टि में आने से चूक जाएँ। (2) शासन-प्रबन्ध के विषय में जनता द्वारा की जाने वाली आलोचना की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना। उनके मतानुसार कानूनों में सामान्य सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन होना चाहिए था, इसको विस्तृत रूप से लागू करने तथा इस विषय में व्यवस्थाएँ बनाने का कार्य सरकारी कर्मचारियों पर ही छोड़ देना चाहिए।

लैंकास्टर ने यह मत प्रकट किया है कि हेगल वास्तव में कुलीनतन्त्र (Aristocracy) की पुरानी शासक श्रेणी के स्थान पर योग्यता के आधार पर चुनी जाने वाली नई शासक श्रेणी का निर्माण करना चाहता था। पुराना कुलीनतन्त्र जन्म-मूलक था, उसे अपनी कुलीनता का अभिमान था, वह राज्य के पदों को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति समझता था। इस श्रेणी का स्थान हेगल "अपने वैयक्तिक स्वार्थ न रखने वाली, सार्वजनिक कार्यों को कर्त्तव्य बुद्धि से करने वाली तथा अपने कार्य के लिए उत्तम रूप से प्रशिक्षित इस श्रेणी को देना चाहता था।" उसने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के

1. लैंकास्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 65,

कुलीनतन्त्र की आलोचना इसी आधार पर की थी कि इस श्रेणी के लोग बड़े स्वार्थी और सार्वजनिक कर्त्तव्य की भावना से शून्य थे। जर्मनी में फ्रेडरिक महान् ने पुराने सामन्तवाद के साथ संघर्ष में प्रशिया में सरकारी कर्मचारियों की इस श्रेणी का विकास किया था। हेगल की सूक्ष्म दृष्टि ने इस श्रेणी के महत्त्व को सही रूप में पहचान लिया था, इसका कुछ कारण शायद यह भी था कि उसने स्वयमेव इस श्रेणी में जन्म लिया था। यह वास्तव में राजनीतिक क्षेत्र में उसका एक उदात्त विचार था कि वह ऐसे सरकारी कर्मचारियों की श्रेणी का प्रबल समर्थन करे, जो राज्य में चल रहे क्षुद्र झगड़ों से ऊपर उठकर विशाल दृष्टि से, अद्भुत योग्यता और क्षमता के साथ, सार्वजनिक कर्त्तव्य की भावना से ओतप्रोत होकर, केवल राजा के प्रति अपने को उत्तरदायी समझते हुए शासन के सभी कार्यों का संचालन करे।

शासन के तीन प्रकार—हेगल ने शासन के तीन प्रकार माने हैं—(1) निरंकुश शासन (Despotism) (2) लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र, (3) राजतन्त्र। पहले यह बताया जा चुका है कि विश्वात्मा ने इतिहास में तीन दशाएँ ग्रहण की थीं: पहली दशा चीन, भारत, मिस्र आदि पूर्वी देशों की थी। इनमें निरंकुश राजतन्त्र की पद्धति प्रचलित थी, यहाँ केवल एक ही व्यक्ति को अर्थात् निरंकुश शासक को स्वतन्त्रता प्राप्त थी। दूसरी दशा यूनानी नगर-राज्यों की थी। इनमें लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र की शासन पद्धतियाँ प्रचलित थीं और कुछ व्यक्तियों को स्वतन्त्रता मिली। किन्तु अन्त में जर्मन लोगों ने ईसाइयत के प्रभाव से यह ज्ञान प्राप्त किया कि मनुष्य स्वतन्त्र है, अब सब मनुष्यों को स्वतन्त्रता मिली। यहाँ राजतन्त्र की शासन-प्रणाली प्रचलित है, वैध राजतन्त्र सर्वोत्तम शासन-प्रणाली है। हेगल के कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि पूर्वी जगत् में केवल निरंकुश राजतन्त्र की और यूनान में केवल लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली प्रचलित थी, उसके कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि पूर्वी देशों की भौतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि निरंकुश राजतन्त्र उनके लिए अधिक अनुकूल था। हेगल का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक राज्य की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है, यह भौगोलिक परिस्थितियों से तथा राष्ट्रवासियों के स्वाभाविक एवं सामाजिक गुणों से निश्चित होती है। इसे उसने विश्वात्मा (Weltgeist) की तुलना में राष्ट्रीय मानस या राष्ट्रात्मा (Volksgeist) का नाम दिया है। प्रत्येक राज्य अपनी विशिष्ट राष्ट्रात्मा के साथ मानव-जाति की प्रगति में तथा विश्वात्मा के विकास में सहयोग देया है।

काण्ट तथा हेगल की तुलना—दोनों जर्मन दार्शनिक आदर्शवादी हैं। काण्ट ने ह्यूम का अनुसरण करते हुए अपने दर्शन का आधार आध्यात्मिक सत्ता को प्रधानता देते हुए इससे भिन्न दृश्यमान (Phenomenal) जड़ जगत् के मूलतत्त्व (Thing in itself) को माना था। किन्तु हेगल विशुद्ध अद्वैतवादी है, जड़ जगत् की पृथक् सत्ता न मानते हुए जड़-चेतन सभी वस्तुओं को विश्वात्मा का रूप मानता है, यह विश्वात्मा वेदान्तियों के ब्रह्म की भाँति निर्जीव और सजीव प्रकृति में विकसित होते हुए अन्त में मनुष्य के रूप में विकसित होता है। **दूसरा भेद** दोनों दार्शनिकों की पद्धति में है। काण्ट ने विश्लेषणात्मक (Analytic) तथा निगमनीय (Deductive) पद्धति द्वारा ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया था, हेगल ने इसके स्थान पर ऐतिहासिक, विकासवादी

(Evolutionary) तथा द्वन्द्वात्मक पद्धति का अनुसरण किया। **तीसरा भेद** व्यक्तिवाद-विषयक है। काण्ट व्यक्तिवादी (Individualist) है, वह व्यक्ति के विकास पर बल देता है। किन्तु हेगल ने इसे बिल्कुल अस्वीकार करते हुए राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को उसका साधन बना दिया, उसकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के आदेशों का पालन करना है। **चौथा भेद** काण्ट का स्थायी शान्ति का समर्थन तथा युद्धों को बन्द करने के लिए राष्ट्रसंघ बनाने की विचारधारा का है। हेगल शान्ति को कोरा सपना तथा युद्ध को मानव विकास के लिए अतीव आवश्यक समझता है। **पाँचवाँ भेद** काण्ट द्वारा राज्य के सामाजिक अनुबन्ध(Social Contract)के सिद्धान्त को मानना है, हेगल इसे स्वीकार नहीं करता है। **छठा भेद** स्वतन्त्रता के विचार का है, पहले यह बताया जा चुका है कि काण्ट की स्वतन्त्रता का विचार नकारात्मक, आत्मगत (Subjective) तथा सीमित (Limited) है, हेगल की स्वतन्त्रता भावात्मक (Positive), वस्तुगत (Objective) तथा अमर्यादित है। **सातवाँ भेद** राज्य के बारे में है, काण्ट राज्य को नैतिकता के बन्धनों में बँधा हुआ तथा इससे ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की तथा राष्ट्र-संघ की सत्ता का समर्थन करता है, किन्तु हेगल राज्य को नैतिकता के किसी बन्धन से न बँधी हुई पूर्ण रूप से स्वतन्त्र सत्ता मानता है। अतः दोनों दार्शनिक आदर्शवादी होते हुए भी गम्भीर मतभेद रखते हैं।

हेगल के विचारों की आलोचना : सर्वाधिकारवादी विचारधाराओं का जन्मदाता—हेगल द्वारा दुरूह दार्शनिक शब्दों में प्रतिपादित उपर्युक्त विचारों की बड़ी कड़ी आलोचना की गई है। उसे बीसवीं शताब्दी की दो बड़ी **सर्वाधिकारवादी**(Totalitarian) विचारधाराओं का—फासिज़्म और साम्यवाद—का मूल स्रोत तथा जनक माना गया है। **एबेन्स्टाइन** ने लिखा है कि "यद्यपि उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी शब्दाडम्बरपूर्ण दार्शनिक परिभाषाओं में किया है, किन्तु उसमें फासिज़्म के सभी तत्त्व मिलते हैं। ये तत्त्व इस प्रकार हैं—अपनी जाति का उग्र अभिमान(Racialism), राष्ट्रीयता, विश्व के नेतृत्व का दावा, जनता की सहमति के स्थान पर शक्ति द्वारा शासन और शक्ति को अत्यधिक गौरव प्रदान करना (Idolization of Power)। हेगल ने 1802 में लिखा था कि "मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे नहीं जानते कि सच्चाई शक्ति में निवास करती है—क्योंकि शक्ति प्रकृति द्वारा किए जाने वाले न्याय का प्रधान साधन है।...." मेकियावेली ने भी शक्ति और नैतिकता को भिन्न माना था और यह कहा था कि ये दोनों सर्वथा पृथक् स्वरूप रखने वाली व्यवहार-पद्धतियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक के अपने नियम हैं और दोनों एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। किन्तु हेगल इस बात में मेकियावेली से भी आगे बढ़ गया, उसने शक्ति और नैतिकता को अभिन्न बना दिया।[1]" उसने यह प्रतिपादन किया कि राज्य नैतिकता के नियमों से बँधा नहीं हुआ है, वह जैसा चाहे, वैसा व्यवहार कर सकता है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भीषण अराजकता उत्पन्न की है, हेगल की विचारधारा से अनुप्राणित होकर जर्मनी ने 20वीं शताब्दी में दो बार विश्वयुद्ध छेड़कर भीषण विध्वंस और विनाश की ताण्डवलीला की। इसके अतिरिक्त हेगल के सिद्धान्तों के अन्य प्रधान दोष निम्नलिखित हैं—

1. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० 595.

(1) **राज्य को निरंकुश बनाना**—पहला तथा **सबसे बड़ा दोष** हेगल द्वारा व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान कर देना है। वह व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानते हुए यह घोषणा करता है कि राज्य की सत्ता को बनाए रखने के लिए व्यक्ति को अपना सर्वस्व देने के लिए तैयार रहना चाहिए, उसका अस्तित्व राज्य के लिए है, वह उसे राज्य की तुलना में कोई अधिकार नहीं देता है। उसने राज्य को सर्वथा निरंकुश, पूर्ण, प्रभुतासम्पन्न तथा व्यक्ति के अधिकारों को रौंदने वाला बना दिया है। इसका यह परिणाम हुआ है कि ब्राउन के शब्दों में व्यक्ति राज्य का दास बन गया है, वह उसके लिए सैनिक सेवा करने और युद्धों में खून बहाने के लिए विवश हो गया है। उसने हिटलर और मुसोलिनी जैसे सर्वाधिकारवादी अधिनायकों की परम्पराओं को जन्म दिया है, आधुनिक युग की अधिनायकवादी विचारधाराओं का श्रीगणेश करने का तथा इनके कारण होने वाले व्यक्ति के भीषण दमन का दोष हेगल को ही दिया जाना चाहिए। वेपर के शब्दों में उसने मानव के चरम उत्कर्ष पर बल दिया, किन्तु इसके साथ-साथ व्यक्ति के अधिकारों को रौंदने वाले भीषण अत्याचारों वाले युग को आरम्भ किया।[1] वह बुद्धि (Reason) तत्त्व का परम उपासक था, किन्तु सम्भवतः उसने बुद्धिशून्यता (Unreason) के वर्तमान युग का पथ प्रशस्त करने में सबसे अधिक भाग लिया है। राज्य की निरंकुशता तथा व्यक्ति के अधिकारों के हनन की जिस बुराई को उसने उत्पन्न किया है, उसके दुष्परिणाम हम आज भी भोग रहे हैं।

उसका दूसरा दोष राज्य को देवता बनाना और उसे भगवान् का रूप समझना है। इस बात को सभी मानते हैं कि राज्य ने व्यक्ति के बौद्धिक एवं मानसिक विकास में बहुत बड़ा भाग लिया है, किन्तु अन्य संस्थाओं ने भी इसमें बहुत सहायता की है। इस सम्बन्ध में धर्म और चर्च का कार्य उल्लेखनीय है तथा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। **तीसरा दोष** उसकी स्वतन्त्रता का दूषित विचार है। ग्रीन ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि एथेन्सवासी दास को उसका स्वामी अपनी वासनाओं की पूर्ति का साधन बना सकता था, इस दशा में यह कहना क्रूर व्यंग्य होगा कि दासों पर अत्याचार करने की खुली छूट देने वाले राज्य को स्वतन्त्रता की साकार प्रतिमा स्वीकार किया जाए। हेगल ने स्वतन्त्रता के जिस विचार का प्रतिपादन किया है, वह वर्तमान समाज की परिस्थितियों में सत्य प्रतीत नहीं होता है। **चौथा दोष हेगल द्वारा राज्य के कार्यों पर किसी प्रकार के नैतिक बन्धन को न मानना है।** यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में राज्यों को स्वच्छन्द आचरण की खुली छूट देकर अराजकता उत्पन्न करने वाला तथा सभ्यता की प्रगति को पीछे की ओर धकेलने वाला है।

पाँचवाँ दोष यह था कि यद्यपि हेगल ने अपने दार्शनिक विचारों में आदर्श राज्य का प्रतिपादन किया था, जो वास्तविक जगत् में अपनी सत्ता नहीं रखता था, फिर भी उसने इस आदर्श राज्य को प्रशिया के तत्कालीन जर्मन राज्य से अभिन्न माना था। अतः उसका आदर्श राज्य प्रशिया की भाँति निरंकुश राजतन्त्र में पाए जाने वाले दोषों वाला था। उसने अपनी तर्क पद्धति से तत्कालीन परिस्थितियों को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सुप्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री वाघन (Vaughan) के

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 175.

मतानुसार उसके इस प्रकार के दार्शनिक चिन्तन का यह परिणाम हुआ कि उसने प्रशिया के तत्कालीन राज्य की व्यवस्था एवं संस्थाओं के प्रति अन्धविश्वासपूर्ण भक्ति और निष्ठा का प्रदर्शन किया तथा इसे खतरे में डालने वाली अथवा उसका संशोधन करने वाली किसी भी व्यवस्था के प्रति घोर अविश्वास और सन्देह प्रकट किया। यह प्रवृत्ति मानव-समाज की प्रगति को अवरुद्ध करने वाली तथा उसके विकास पर कुठाराघात करने वाली थी। **छठा दोष द्वन्द्वात्मक** Dialectic) **पद्धति की दूषित तर्क-प्रणाली थी।** उसका यह दावा था कि उसने तर्कशास्त्र की दोषपूर्ण पद्धति के स्थान पर नवीन द्वन्द्वात्मक पद्धति का आविष्कार किया है, किन्तु उसकी यह पद्धति बिल्कुल मनमानी, अस्पष्ट और सर्वथा अवैज्ञानिक थी।

सातवाँ दोष यह था कि उसने अपनी तर्क-प्रणाली और शब्दाडम्बर से कुछ प्रसिद्ध राजनीतिक शब्दों का ऐसा अर्थपरिवर्तन किया कि इससे अर्थ का अनर्थ हो गया। वस्तुत: हम उस समय आश्चर्यचकित हो जाते हैं, जब हम यह देखते हैं कि उसने स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के आदेशों का पालन करना बताया है, सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय: है कि राज्य की पराधीनता में व्यक्ति स्वाधीनता का उपभोग कर सकता है। वस्तुत: परतन्त्रता को अपने तर्क से स्वतन्त्रता सिद्ध कर देना हेगल की बुद्धि का एक महान् चमत्कार है। **आठवाँ दोष हेगल का राज्य को विश्वात्मा के** विकास का चरम रूप मानते हुए यह भ्रान्त कल्पना कर लेना है कि किसी व्यक्ति का समूचा विकास राज्य में ही सम्भव हो सकता है। प्लेटो तथा अरस्तू आदि पुराने यूनानी विचारकों का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य का विकास राज्य या समाज के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। हेगल ने इसी का अनुसरण करते हुए अपने उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। किन्तु उसने यह नहीं प्रदर्शित किया कि वर्तमान राज्य किस प्रकार मनुष्य का सर्वांगीण विकास कर सकता है। पुराने यूनान में भले ही यह सम्भव रहा हो, किन्तु आधुनिक राज्य में यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सेबाइन ने यह प्रदर्शित किया है कि आजकल मनुष्य के राजनीतिक जीवन के अतिरिक्त उसके आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अनेक पक्षों का विकास हो गया है, इन पक्षों में उसके विकास के लिए तथा उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ है और ये उसके सर्वांगीण विकास के लिए राज्य की भाँति आवश्यक हैं। इन संस्थाओं में विभिन्न प्रकार के धार्मिक संगठन जैसे प्रोटैस्टैंण्ट और रोमन कैथोलिक चर्च, आर्य समाज, सनातन धर्म सभाएँ, अरविन्द आश्रम, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, सं० रा० संघ की विभिन्न संस्थाएँ, विभिन्न वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन हैं। वर्तमान समय में मनुष्य के जीवन का बड़ा विकास इन संगठनों द्वारा होता है, अत: यह कहना सत्य नहीं है कि राज्य मनुष्य के विकास का चरम रूप है।[1]

नवाँ दोष हेगल द्वारा व्यक्ति को किसी भी दशा में राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार प्रदान न करना है। इसका कारण यह है कि वह राज्य को भूतल पर भगवान् का अवतार समझता है, अत: व्यक्ति को उसकी आलोचना या विरोध करने

1. सेबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 640.

का कोई अधिकार नहीं है। वस्तुतः हेगल ने राज्य को दिव्य बताकर 17वीं शताब्दी के राजा के दैवी अधिकार वाले सिद्धान्त(Divine Right Theory of Kings)का ही पुनरुज्जीवन किया था। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें यह मान लिया जाता है कि व्यक्ति को राज्य की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि राज्य भगवान् का अंश होने के कारण सदैव सच्चाई पर होता है। यह स्थिति किसी आदर्श राज्य के बारे में भले ही सत्य हो, किन्तु इस पृथ्वी पर पाए जाने वाले वास्तविक राज्यों के बारे में सही नहीं हो सकती है। यदि राज्य वस्तुतः ऐसे होते तो उनका कभी विरोध न होता, उनके विरुद्ध विद्रोह न हुए होते। कई बार राज्य ऐसे कार्य करते हैं, जो विशुद्ध रूप से स्वार्थपूर्ण तथा किसी विशेष वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने वाले तथा किसी अन्य वर्गों पर घोर अन्याय करने वाले होते हैं। इस प्रकार का भेद-भाव बढ़ाने वाले तथा अन्यायों का पोषण करने वाले राजकीय कार्यों को भगवान् का कार्य नहीं कहा जा सकता और उनका प्रतिरोध करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका के राज्य में अल्पसंख्यक गोरी जातियों ने अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए भारतीयों तथा नीग्रो लोगों को मताधिकार से वंचित कर दिया था। महात्मा गांधी ने इस अन्याय के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह किया था। हेगल की दृष्टि से उन्हें इस अन्याय का प्रतिकार नहीं करना चाहिए था, क्योंकि यह राज्य की इच्छा के विरुद्ध था। सम्भवतः बहुत कम व्यक्ति इस विषय में हेगल के दृष्टिकोण को सही मानेंगे। अगले अध्याय में यह बताया जाएगा कि हेगल के सिद्धान्तों का सामान्य रूप से समर्थन करने वाले ब्रिटिश दार्शनिक ग्रीन ने इस विषय में उसके मत को अस्वीकार करते हुए कुछ विशेष अवस्थाओं में व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार दिया था।

दसवाँ दोष उसकी यह मान्यता है कि राष्ट्रीय राज्य (Nation State) के आविर्भाव के साथ विश्वात्मा के विकास की समाप्ति हो जाती है। हेगल इसे सामाजिक संगठन का पूर्णतम और चरम रूप स्वीकार करता है। किन्तु यह इतिहास से पुष्ट न होने के कारण सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि राष्ट्रों के उग्र संघर्ष मनुष्यों को यह अनुभव कराने लगे हैं कि राष्ट्रों के ऊपर इनके पारस्परिक विवादों का समाधान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सं० रा० संघ जैसे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होने चाहिएँ, अणुबमों द्वारा मानव-जाति के सर्वनाश की विभीषिका से आतंकित और संत्रस्त व्यक्ति अब अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की उपयोगिता और महत्त्व समझने लगे हैं। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से तथा व्यापार के विकास के कारण सब राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर होने लगे हैं। अतः जोड ने यहाँ तक कहा है कि मानव-जाति में आर्थिक निर्भरता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण राष्ट्रीय राज्य का विचार अब अतीत काल की वस्तु प्रतीत होने लगा है।

ग्यारहवाँ दोष हेगल का **ऐतिहासिक आवश्यकता** (Historic necessity) का भ्रान्त सिद्धान्त है। पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल के मतानुसार विश्वात्मा अपने विकास के लिए विभिन्न राज्यों या राष्ट्रों के रूप में अवतरित होती है। यह विकास उसकी दैवी योजना के अनुसार अनिवार्य रूप से स्वयमेव होता रहा है, यही ऐतिहासिक आवश्यकता है। इस विकास पर मनुष्यों की इच्छा या कार्यों का कोई

प्रभाव नहीं पड़ता है। आस्तिकता की दृष्टि से यह सिद्धान्त भले ही अभीष्ट प्रतीत हो, किन्तु सामान्य दृष्टि से यह सर्वथा असत्य और अनाकर्षक प्रतीत होता है। इतिहास मानवीय प्रयत्नों से बनाए गए राज्यों और राष्ट्रों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। यदि इस विश्व में सभी घटनाएँ दैवीय योजना के अनुसार होती हैं और मनुष्यों के प्रयास निरर्थक हैं तो उद्योगी एवं साहसी पुरुषों को ऐसे जगत् में निवास करना सर्वथा अरुचिकर प्रतीत होगा।

बारहवाँ दोष विश्वात्मा के विकास में व्यक्तियों की तुलना में राष्ट्रों को अनुचित महत्त्व देना है। हेगल यह मानता है कि विश्वात्मा अपने विकास में विभिन्न राष्ट्रों का रूप धारण करती है, यह सब कार्य दैवी योजना के अनुसार होता है और इतिहास का निर्माण करता है, इसमें महापुरुष कोई बड़ा भाग नहीं लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि इतिहास में कई बार दैवी योजना काम करती है, मनुष्यों की योजनाओं को विफल बनाती है। किन्तु हेगल की यह बात सही नहीं है कि इतिहास पर महापुरुषों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, सुकरात, प्लेटो, सेण्ट आगस्टाइन, लूथर, नैपोलियन, मार्क्स, लेनिन, गांधी जैसे महापुरुष इतिहास पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

हेगल की देन—किन्तु उपर्युक्त गम्भीर दोष होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में हेगल की कुछ विशिष्ट देनें हैं और इनके कारण वह सदैव स्मरणीय बना रहेगा। उसे इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने राजनीतिक चिन्तन को एक नई दिशा और नया वेग प्रदान किया। उसकी **पहली बड़ी देन द्वन्द्वात्मक पद्धति** (Dialectic Method) **थी।** सदोष होते हुए भी इसने यूरोपियन दर्शन के क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न की, विज्ञान और धर्म के विरोध को समाप्त किया, विकासवादी प्रक्रिया पर बल देते हुए भौतिक जगत् को समझने की तथा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानने की अधिक अच्छी दृष्टि प्रदान की। धार्मिक लोगों का विश्व के विषय में पुराना विचार यह था कि सृष्टि का निर्माण भगवान् ने एक निश्चित क्षण में किया था और अनन्तकाल से यह विश्व विधाता के नियमों के अनुसार इसी प्रकार चला आ रहा है, इसके नियम अपरिवर्तनशील (Immutable) और जड़ (Static) हैं, पुराने दर्शनशास्त्र ने तर्कशास्त्र द्वारा इस जड़ जगत् के नियमों को समझने की एक पद्धति का आविष्कार किया। किन्तु 16वीं-17वीं शताब्दी में विज्ञान की प्रगति ने विश्व के जड़ नियमों से संचालित होने के विश्वास को भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध करते हुए यह प्रतिपादित किया था कि विश्व निरन्तर परिवर्तनशील और गतिशील (Dynamic) है, इसमें होने वाले परिवर्तन बेकन के मतानुसार विनाश और मृत्यु की ओर ले जाने वाले नहीं हैं, अपितु वे नवीन रूपों का निर्माण करने वाले हैं। इस प्रकार होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों ने धर्म और दर्शन की विश्व-विषयक पुरानी मान्यताओं को असत्य सिद्ध कर दिया। निरन्तर गतिशील जगत् के लिए पुराने दार्शनिकों की विचारधारा और तर्क-पद्धति काम नहीं दे सकती थी। इसके लिए नवीन पद्धति की आवश्यकता थी। हेगल ने इसे अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में प्रस्तुत करते हुए विश्व में होने वाले महान् परिवर्तनों को समझने के लिए एक नवीन दार्शनिक साधन प्रस्तुत किया,[1]

1. **फिलिस डायल—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 244-45.**

विकासवादी प्रक्रिया से उन्नति होने पर बल दिया तथा यह प्रतिपादित किया कि हम किसी वस्तु के मूलतत्त्व या यथार्थ स्वरूप को विरोधी वस्तुओं से उसकी तुलना करके ही समझ सकते हैं। हेगल की इस देन ने राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न की, वर्तमान विश्व को आन्दोलित करने वाली समाजवादी विचारधारा के प्रवर्त्तक—कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का आधार इसी पद्धति को बनाया है।

हेगल की **दूसरी देन राष्ट्रीय राज्य** (Nation State) **का विचार है**। उसे राष्ट्रीयता का अग्रदूत, व्याख्याता और प्रबल प्रचारक कहा जा सकता है। उसने अपनी रचनाएँ उस समय लिखी थीं, जब नैपोलियन की सेनाएँ विभिन्न जर्मन राज्यों को अपने पैरों तले रौंद रही थीं। उसे स्वयमेव 1806 में फ्रेंच सेनाओं की विजय के बाद जेना से भागना पड़ा था। उस समय जर्मनी पराजित, पददलित और निराश था। ऐसे समय में हेगल का यह उद्देश्य था कि वह अपनी मातृभूमि में गौरव की भावना को उत्पन्न करे, उसे उसके स्वर्णिम अतीत में किए गए कार्यों का स्मरण कराए और उसकी भावी गरिमा के गीत गाकर उसमें आत्मविश्वास उत्पन करे।[1] उसने यह कार्य राष्ट्रीय राज्य के महत्त्व पर बल देते हुए तथा जर्मनी को विश्वात्मा के विकास का अन्तिम रूप मानते हुए किया। उसकी रचनाओं से न केवल जर्मनी में, अपितु अन्य देशों में राष्ट्रीयता की उग्र भावना का विकास हुआ। मैक्सी ने लिखा है[2] कि "वर्तमान युग में पाए जाने वाले राष्ट्रीयता के अतीव उत्कट सिद्धान्तों का पोषण हेगल के विचारों से हुआ है। उस समय उसका तात्कालिक प्रयोजन जर्मनी के राष्ट्रीय एकी-करण के मार्ग में आने वाली बौद्धिक बाधाओं का निराकरण करना था, किन्तु उसने इससे भी अधिक बड़ा कार्य किया। उसने अपनी रचनाओं में ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया, जिनसे न केवल जर्मनी में, अपितु अन्य सभी देशों में राष्ट्रीयता को धर्म का रूप दिया जा सकता था।" हैलोवैल ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि "हेगल की अपेक्षा किसी अन्य व्यक्ति ने राष्ट्रीयता का अधिक उदात्त रूप में वर्णन नहीं किया है। इसका उद्देश्य स्वतन्त्रता को तथा इतिहास में भगवान् की इच्छा को मूर्त्तरूप प्रदान करता है।"[3]

उसकी **तीसरी देन प्रगति का विचार है**। इसके अनुसार राज्य का एवं अन्य सभी वस्तुओं का निरन्तर विकास हो रहा है, इस विकास से ये अधिक उत्कृष्ट रूप ग्रहण कर रहे हैं। अतः राज्य के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण बड़ा अग्रगामी और गतिशील (Dynamic) है। उसने इसके इतिहास को निरन्तर होने वाले विकास की प्रक्रिया माना है। इसने विधिशास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया। विधिशास्त्र (Jurisprudenc) के ऐतिहासिक सम्प्रदाय का जन्मदाता सैविग्नी बर्लिन विश्वविद्यालय में हेगल का सहयोगी था तथा उसने हेगल से अनेक विचार ग्रहण किए हैं। हेगल की **चौथी** देन व्यक्तिवाद (Individualim) के दोषों का निराकरण करना है। 17वीं-18वीं शताब्दी में यूरोप में व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का प्राधान्य था। इसके समर्थक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों पर बहुत बल देते थे, वे

1. लैंकास्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 66-67.
2. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० 503-4.
3. हैलोवैल—मेन करेंट्स इन माडर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 275.

राज्य को मनुष्यों का समूह मात्र समझते थे, उसके सामाजिक स्वरूप की तथा मनुष्य के विकास में उसके द्वारा किए जाने वाले महत्त्वपूर्ण कार्य की वे उपेक्षा करते थे, वे राज्य और व्यक्ति के हितों में उग्र विरोध और घोर संघर्ष की कल्पना करते थे। हेगल ने इस विषय में समन्वय स्थापित करते हुए इस बात पर बल दिया कि राज्य और व्यक्ति में कोई विरोध नहीं है, यूनानी विचारकों का अनुसरण करते हुए उसने यह कहा कि राज्य के बिना व्यक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती, व्यक्ति का विकास राज्य में ही हो सकता है। राज्य के सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory) पर उसने बल देते हुए इस बात का प्रतिपादन किया कि व्यक्ति के केवल अधिकार ही नहीं होते हैं, उसके कर्त्तव्य भी होते हैं।

पांचवीं देन स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक विकास के विचार पर बल देना है। फ्रांस के क्रान्तिकारियों का यह विश्वास था कि वे अपने देश का नया शासन-विधान विधाननिर्मात्री परिषद् द्वारा बड़ी सुगमता से तैयार कर सकते हैं, अन्य देशों के विधानों को भी इसी प्रकार आसानी से परिवर्तित किया जा सकता है। किन्तु हेगल ने स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया पर बल देते हुए कहा कि नवीन संविधान इस प्रकार नये कानून पास करके किसी देश पर बलपूर्वक नहीं थोपे जा सकते, इस प्रकार थोपे जाने वाले विधान चिरस्थायी नहीं होते। इस विषय में उसकी यह उक्ति एक महान् ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन करती है कि "संविधान को बनाने जैसी बात इतिहास में कभी घटित नहीं हुई है, संविधान राष्ट्रीय भावना के विकास का परिणाम होता है।" छठी देन हेगल का यह विचार था कि राजनीति और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उससे पहले राज्य का नैतिकता के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जाता था, उसने राज्य को विश्वात्मा एवं नैतिकता का सर्वोच्च रूप माना था। उसकी अन्य देनों का उल्लेख करते हुए वेपर ने कहा है—"उसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि उसने राजनीति को विभिन्न हितों के समन्वय से ऊँचा उठाया, उसने कानून को कोरी आज्ञा से अधिक उत्कृष्ट वस्तु बनाया। उसका यह सिद्धान्त कम महत्त्व नहीं रखता है कि राज्य को शान्ति बनाए रखने में पुलिस का कार्य करने वाले संगठन से अधिक उच्च तथा मनुष्य का नैतिक विकास करने का साधन समझा जाना चाहिए।"[1]

हेगल का प्रभाव—प्राय: दार्शनिक व्यावहारिक राजनीति की घटनाओं पर कोई बड़ा तात्कालिक प्रभाव नहीं डालते हैं। उनका काम नई दुनिया का निर्माण करना नहीं, अपितु विद्यमान जगत् की व्याख्या करना होता है। हेगल स्वयमेव यह कहा करता था कि दर्शन का कार्य नूतन सृजन करना नहीं है, किन्तु विश्व की समुचित व्याख्या करना है। फिर भी विश्व की क्रियात्मक राजनीति पर जितना गहरा प्रभाव हेगल का पड़ा है, उतना बहुत ही कम दार्शनिकों का पड़ा है। उसका **पहला प्रभाव** अपने देश जर्मनी पर पड़ा था। उसके सिद्धान्तों ने विभक्त और पराजित जर्मन राज्यों में एकता की, राष्ट्रीयता की तथा अपने ऐतिहासिक कार्य को पूरा करने की भावना उत्पन्न की। जर्मनी के एकीकरण को पूर्ण रूप प्रदान करने वाले सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बिस्मार्क ने हेगल के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप दिया, उसकी सभी नीतियों की प्रेरणा का प्रधान

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 170-71.

स्रोत हेगल था।[1] उसने इस महान् दार्शनिक के विचारों का अनुसरण करते हुए शक्ति पर आधारित राष्ट्रीय राज्य का निर्माण करना अपना लक्ष्य बनाया तथा लोकतन्त्र की तुलना में सर्वशक्तिशाली राजतन्त्र और नौकरशाही का समर्थन किया। 19वीं शताब्दी के दार्शनिक जगत् में हेगल का एकच्छत्र साम्राज्य था, वह सबसे बड़ा दार्शनिक माना जाता था। उसने ट्रीट्श्के ड्रायसन, सैविग्नी जैसे ऐतिहासिकों और विधिशास्त्रियों पर गहरा प्रभाव डाला था।

उसका **दूसरा** प्रभाव इंगलैण्ड, अमरीका आदि में पड़ा। हेगल की यह विशेषता है कि उसका प्रभाव केवल स्वदेश में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी व्यापक रूप से पड़ा। लोकतन्त्र के प्रवल उपासक ग्रेट ब्रिटेन में थामस ह्लि ग्रीन, बोसांके और ब्रैडली जैसे विद्वानों ने हेगल के सिद्धान्तों का समर्थन किया और ऑक्सफोर्ड में एक आदर्शवादी विचारधारा (Oxford Idealist School) का विकास हुआ। इसका अगले अध्याय में प्रतिपादन किया जाएगा। इटली में आगस्टो वेरा (Augusto Vera), बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) ने इसके सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाया। सं० रा० अमरीका में मोरिस, पामर और रायस तथा जॉन ड्युई (John Dewy) हेगल के अनुयायी थे। ड्युई का कहना था कि उसे हेगल के विचारों से बड़ी प्रेरणा मिली है।

उसका **तीसरा** प्रभाव समाजवाद और साम्यवाद के विकास पर पड़ा है। इस विचारधारा के जन्मदाता कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का विचार हेगल से ग्रहण करते हुए इसके आधार पर अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा का निर्माण किया। किन्तु उसने हेगल की कुछ मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए द्वन्द्वात्मक पद्धति से हेगल की अपेक्षा कुछ भिन्न परिणाम निकाले। उसने आदर्शवाद (Idealism) के स्थान पर भौतिकवाद (Materialism) को, विश्वात्मा (Weltgeist) के स्थान पर उत्पादन की शक्तियों (Forces of production) को तथा राष्ट्रीय राज्यों के स्थान पर श्रेणियों (Classes) को माना। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति से समाज के विकास की तथा इतिहास की भौतिक व्याख्या की और यह माना कि इसके विकास की अन्तिम दशा में राज्य की संस्था समाप्त हो जाएगी, जब कि हेगल राज्य को विश्वात्मा के विकास का चरम रूप मानता था। **चौथा** प्रभाव राज्य की निरंकुश सत्ता का समर्थन करने वाली, तानाशाही और अधिनायकतन्त्र पर बल देने वाली बीसवीं शताब्दी की दो प्रधान विचारधाराओं—फासिज़्म तथा नाज़ीवाद को हेगल द्वारा राज्य को दैवी संस्था बनाने का परिणाम समझा जाता है। यह कहा जाता है कि मुसोलिनी और हिटलर हेगल के मानस पुत्र हैं, इन्होंने उसके विचारों को इटली तथा जर्मनी में मूर्त्तरूप प्रदान किया है।

हेगल का महत्त्व और मूल्यांकन—दार्शनिक जगत् में हेगल के स्थान और महत्त्व पर बड़ा मतभेद है। उसके प्रशंसकों तथा शिष्यों का यह मत है कि वह अरस्तू तथा सन्त थामस एक्विनास की भाँति अपने युग का एकमात्र महान् दार्शनिक (The Philosopher) था, उसने अपने युग के समूचे ज्ञान-विज्ञान का समन्वय करके जगत् की अन्तिम सत्ता द्वारा इस विश्व को संचालित करने वाले मौलिक नियमों का आविष्कार किया था। हेगल को स्वयमेव यह दृढ़ विश्वास था कि उसने विश्व की सब जटिल

1. मैकगवर्न—फ्रॉम लूथर टू हिटलर, पृ० 265.

समस्याओं के समाधान ढूंढ़ लिए हैं। उसके शिष्यों की यह मान्यता थी कि जिस प्रकार सिकन्दर द्वारा विश्व विजय कर लेने के बाद भूमण्डल का कोई भी स्थान जीतने के लिए शेष नहीं रहा था, उसी प्रकार हेगल के बाद दर्शन की कोई भी विचारणीय समस्या बाकी नहीं रही थी। किन्तु दूसरी ओर शोपनहार जैसे आलोचकों की भी कमी नहीं थी, जो उसके दुरूह शब्दजाल को पागल व्यक्ति का प्रलाप मात्र समझते थे। इनके अनुसार उसे 'उन्मत्तता से परिपूर्ण रहस्यवादी बेहूदा बकवास' लिखने में कमाल हासिल था। उसके राज्य-विषयक सिद्धान्तों के बारे में यह कहा जाता है कि उसने इसका सृजन "विज्ञान के उद्यान में बैठकर नहीं किया, अपितु (प्रशिया के राजा की) दासता रूपी कूड़े के ढेर पर बैठकर किया है।"[1] आजकल हेगल के बारे में ये दोनों दृष्टिकोण सही नहीं माने जाते हैं। उसे उपर्युक्त आलोचकों के मतानुसार उन्मत्त प्रलाप करने वाला रहस्यवादी दार्शनिक नहीं माना जाता, किन्तु इसके साथ ही उसे 19वीं शताब्दी का एकमात्र दार्शनिक भी नहीं माना जाता। उसकी गणना यूरोप के कुछ बड़े दार्शनिकों में अवश्य की जाती है, किन्तु उसे पहले की भाँति अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है। उसकी मृत्यु के बाद की एक शताब्दी में उसके अनुयायी प्रशंसकों और शिष्यों की संख्या निरन्तर घटती चली गई है, अब उसके भक्त बहुत कम रह गए हैं। उसके अधिकांश विचारों को उसके कार्ल मार्क्स जैसे विरोधियों ने पचाकर अपने सिद्धान्तों का अंग बना लिया है।[2] बर्ट्रैण्ड रसेल ने हेगल का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"19वीं शताब्दी के अन्त में अमरीका में तथा ग्रेट ब्रिटेन में सभी प्रमुख दार्शनिक हेगल के अनुयायी थे। ...उसके इतिहास के दर्शन ने राजनीतिक सिद्धान्त के विकास पर गम्भीर प्रभाव डाला था। मार्क्स अपनी जवानी में हेगल का शिष्य था, उसने अपने परिपक्व सिद्धान्तों में हेगल की कुछ बातों को स्थान दिया। मेरा विश्वास है कि हेगल के लगभग सभी सिद्धान्त असत्य हैं, फिर भी उसका न केवल ऐतिहासिक महत्त्व है, अपितु इस कारण भी उसका महत्त्व बना हुआ है कि वह एक विशेष प्रकार के दर्शन का सर्वोत्तम प्रतिनिधि है।"[3]

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 153-54.
2. कन्साइज इन्साइक्लोपीडिया ऑफ वैस्टर्न फिलासफी एण्ड फिलास्फर्स, लन्दन, 1960, पृ० 157.
3. रसेल—हिस्टरी ऑफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० 757.

इक्कीसवाँ अध्याय

आदर्शवादी ब्रिटिश विचारक
ग्रीन, बोसांके तथा ब्रैडली

ब्रिटेन की आदर्शवादी विचारधारा का स्वरूप और विशेषताएँ—आदर्शवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव और विकास जर्मनी में काण्ट तथा हेगल की रचनाओं से हुआ था, शनैः-शनैः इसका प्रभाव दूसरे देशों में फैलने लगा। इसके कई प्रमुख सिद्धान्त यद्यपि इंगलैण्ड की लोकतन्त्र एवं उदारवादी मान्यताओं के प्रतिकूल थे, फिर भी 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आदर्शवादी विचारधारा यहाँ लोकप्रिय होने लगी। इसे लोकप्रिय बनाने का कार्य प्रधान रूप से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन कराने वाले कुछ प्रोफेसरों—टी० एच० ग्रीन (1836-82), ब्रैडली (1846-1924) तथा बोसांके (1848-1923) ने किया, अतः इसे **ऑक्सफोर्ड की विचारधारा** (Oxford School) भी कहते हैं। इसका प्रचार 1870 के बाद कई कारणों से अधिक प्रबलता से हुआ। यह वस्तुतः भौतिक सुखों पर तथा व्यष्टिवाद पर बल देने वाले उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया थी। इस समय इंगलैण्ड में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने वाले, राज्य के हस्तक्षेप को न्यूनतम मात्रा में किए जाने का समर्थन करने वाले व्यष्टिवादी (Individualist) सिद्धान्त के दुष्परिणाम उग्र रूप में प्रकट होने लगे थे, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर अधिकांश व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का हनन हो रहा था, कारखानों में मजदूरों के साथ इतने भीषण अन्याय हो रहे थे कि सरकार को इन मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए विवश होकर 'कारखाना कानून' (Factory Acts) बनाने पड़ रहे थे। अब पुलिस का कार्य करने वाले राज्य (Police State) की कल्पना के स्थान पर 'जन-कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की कल्पना की जाने लगी थी। ऐसे समय में, नवीन परिस्थितियों के लिए इंगलैण्ड में नये दर्शन की आवश्यकता थी। यह ऑक्सफोर्ड में विकसित होने वाली आदर्शवादी विचारधारा से पूरी हुई। इसने व्यष्टिवाद के उग्र मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दी, राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र न मानते हुए स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाली एक सजीव (Organic) संस्था माना, राज्य को व्यक्ति के अधिकारों का विरोधी समझने के स्थान पर उसे इनका संरक्षक समझा, व्यक्ति और राज्य के हितों का समन्वय किया तथा इस बात का प्रतिपादन किया कि राजनीति का और नैतिकता का गहरा सम्बन्ध है, राज्य का उद्देश्य उपयोगितावादियों की भाँति भौतिक सुख को बढ़ाना नहीं है, अपितु मनुष्य का नैतिक विकास करना है।

आदर्शवाद के दो स्रोत—इस विचारधारा के प्रधान मूल स्रोत यूनानी और जर्मन विचारक थे। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय यूनानी साहित्य के अध्ययन का प्राचीन और प्रसिद्ध केन्द्र था, यहाँ प्लेटो की सुप्रसिद्ध कृति **रिपब्लिक** (Republic) के तथा अरस्तू की अमर रचना **पालिटिक्स** (Politics) के अध्ययन पर बड़ा बल दिया जाता था। इस विचारधारा ने इन ग्रन्थों से निम्नलिखित विचार ग्रहण किए—(क) मनुष्य स्वाभाविक रूप से एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है, उसका पूर्ण विकास राज्य में ही हो सकता है। (ख) राज्य की एक सजीव सत्ता (Organism) है, उसकी अपनी इच्छा है और उसका प्रयोजन व्यक्तियों के उत्तम जीवन का विकास करना है। (ग) समुदाय अथवा राज्य के जीवन में एवं कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने निश्चित कर्त्तव्य का पालन करना ही भलाई (Righteousness), साधुता अथवा न्यायपरायणता है। (घ) कानून विशुद्ध एवं रागद्वेषादि की भावनाओं से मुक्त बुद्धि की अभिव्यक्ति है।

इस विचारधारा का दूसरा स्रोत जर्मन विचारक थे। पहले बताया जा चुका है कि काण्ट ने रूसो से सामान्य इच्छा और नैतिक स्वतन्त्रता के विचार ग्रहण किए थे। जर्मन विचारक राज्य को स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाली सजीव सत्ता और सब प्रकार के अधिकारों का मूल स्रोत मानते थे। ब्रिटिश विचारकों ने काण्ट और हेगल से ये सब विचार ग्रहण किए। किन्तु उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे उनके सभी विचारों को ग्रहण करते, क्योंकि लोकतन्त्र एवं उदारवाद के उन्मुक्त वातावरण में पोषण पाने के कारण ब्रिटिश दार्शनिकों को जर्मन विचारकों के निम्नलिखित सिद्धान्त अमान्य थे—(क) वे इनके निरंकुश राजतन्त्र के विचार से असहमत थे। (ख) हेगल ने यह प्रतिपादन किया था कि राज्य पर कोई नैतिक बन्धन नहीं होते हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छा से कोई भी कार्य करने में स्वतन्त्र है। यह सिद्धान्त ब्रिटेन की परम्परा के प्रतिकूल था। (ग) काण्ट और हेगल पार्लियामैण्ट आदि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं पर विश्वास नहीं रखते थे और ब्रिटेन की शासन-पद्धति के घोर आलोचक थे। (घ) हेगल ने राज्य के आदेशों का पालन करने में व्यक्ति की स्वतन्त्रता मानी थी, स्वाधीनता के इस विचार से कोई भी ब्रिटिश विचारक सहमत नहीं हो सकता था। अतः गैटल के शब्दों में, "ब्रिटिश आदर्शवादी दार्शनिकों ने जर्मन आदर्शवाद के विचारों को समग्र रूप में नहीं, किन्तु कतिपय महत्त्वपूर्ण संशोधनों के साथ ही स्वीकार किया, उन्होंने हेगल की अपेक्षा काण्ट का अधिक अनुसरण किया।[1]

इन विचारकों ने जर्मन आदर्शवाद को ब्रिटेन में ग्राह्य और मान्य बनाने के लिए इसमें निम्नलिखित संशोधन किए—(क) इन्होंने राज्य को हेगल की भाँति पूर्ण रूप से निरंकुश होने के अधिकार नहीं प्रदान किए। (ख) जर्मन दार्शनिक व्यक्ति को साधन और राज्य को साध्य मानते थे, ब्रिटिश विचारकों ने व्यक्ति को भी साध्य माना। (ग) इन्होंने राज्य की तुलना में व्यक्ति के अधिकारों को नगण्य नहीं माना। (घ) इन्होंने कुछ विशेष अवस्थाओं में व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का भी अधिकार प्रदान किया। इस प्रकार इन्होंने जर्मन आदर्शवाद को ग्रहण करते हुए ब्रिटेन की उदारवाद (Liberalism) की पुरानी परम्परा को नहीं छोड़ा, अपितु उसके साथ इसका समन्वय किया। एक ओर तो इन विचारकों ने जर्मन आदर्शवाद के दोषों को

1. **गैटल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 322.**

दूर करके नवीन आदर्शवाद की स्थापना की, दूसरी ओर ब्रिटेन की उदारवाद (Liberalism) की परम्परागत विचारधारा में जो दोष आ गए थे उन्हें दूर किया तथा इस प्रकार ब्रिटिश आदर्शवाद की विचारधारा को जन्म दिया। इसका प्रवर्त्तक थामस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green) था। **इसने जर्मन आदर्शवाद तथा ब्रिटिश उदारवाद का समन्वय किया।** यहाँ पहले ग्रीन के विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा।

थामस हिल ग्रीन (1836—1882)

जीवन तथा रचनाएँ—ग्रीन का जन्म 6 अप्रैल 1836 को यार्कशायर जिले के बिरकिन नामक स्थान पर हुआ। उसका पिता इंगलैण्ड के चर्च का एक सुप्रसिद्ध पादरी था, वह धार्मिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा बाइबल की शिक्षाओं पर आचरण करने पर बल देने वाले इन्जीलवादी (Evangelical) सम्प्रदाय का अनुयायी था। ग्रीन पर अपने पिता की नैतिकता का और प्रचण्ड धार्मिक उत्साह का गहरा प्रभाव पड़ा। 14 वर्ष तक यहाँ शिक्षा पाने के बाद वह 1855 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ, इसके पश्चात् उसने अपना शेष सारा जीवन यहीं व्यतीत किया। विद्यार्थी जीवन में, ग्रीन ने हेगल की भाँति पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों के अध्ययन में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की, किन्तु वह स्वयमेव विभिन्न विषयों का व्यापक अध्ययन करता रहा। महाविद्यालय के जीवन में उसके गुरु बेंजमिन जोवेट का ग्रीन पर गहरा प्रभाव पड़ा। 1860 में वह बेलियोल कालिज में अनुसन्धान तथा अध्यापन कार्य करने के लिए फेलो (Fellow) चुना गया और 1878 में उसे नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) का प्रोफेसर बनाया गया। ग्रीन ने आक्सफोर्ड में इतिहास, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, शिक्षा तथा दर्शन का इतिहास आदि विभिन्न विषय पढ़ाए। वह अन्य दार्शनिकों की भाँति केवल अपने अध्ययन-अध्यापन में ही रत नहीं रहता था, अपितु सार्वजनिक मामलों में तथा व्यावहारिक राजनीति में काफी भाग लेता था। उसका भाई बहुत पियक्कड़ था, इससे उसे शराब के दुष्परिणाम भली-भाँति विदित हो गए, इस कारण उसने मद्यनिषेध आन्दोलन में बड़ा भाग लिया, वह शराब के व्यापार पर सरकार की ओर से नियन्त्रण स्थापित करने के लिए बल देता रहा, लोगों को शराब की आदत छुड़वाने के लिए उसने आक्सफोर्ड में कॉफी पिलाने की एक दुकान खोली थी।[1] ग्रीन बहुत गम्भीर स्वभाव का व्यक्ति था, वह 46 वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हुआ।

ग्रीन के जीवनकाल में उसकी कोई कृति प्रकाशित नहीं हुई। उसके शिष्य आर० एल० नेटलशिप ने उसकी सब कृतियों को तीन खण्डों में उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित किया। ये सब उसके व्याख्यानों के विद्यार्थियों द्वारा लिए गए नोटों के आधार पर हैं। उसकी अधिकांश रचनाएँ दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्रविषयक हैं। राजनीतिशास्त्र-विषयक उल्लेखनीय रचनाएँ केवल दो हैं। पहली रचना 1880 में आयरिश जमींदारों और असामियों के बीच में हुए अनुबन्धों को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में ग्लैडस्टन द्वारा प्रस्तुत किए एक प्रस्ताव के विषय में दिया गया भाषण है। इसका शीर्षक

1. लैंकास्टर--मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 203.

'लिबरल कानून निर्माण तथा अनुबन्ध की स्वतन्त्रता' (Liberal Legislation and Freedom of Contract) है। उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन **राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्तों पर व्याख्यान** (Lectures on the Principles of Political Obligation) में किया है। इसे नेटलशिप ने ग्रीन के नोटों पर तथा उसके शिष्यों के द्वारा लिए गए नोटों के आधार पर तैयार किया है। ग्रीन के राजनीतिक विचार उसके दार्शनिक विचारों पर आधारित हैं, अतः यहाँ पहले इनका वर्णन किया जाएगा।

दार्शनिक विचार—ग्रीन हेगल की भाँति अद्वैतवादी है। वह इस विश्व के मूल में एक ही अध्यात्म तत्त्व मानता है। हेगल ने इसे पूर्ण बुद्धि या विचार (Absolute Reason, Idea) का नाम दिया था। ग्रीन इसे शाश्वत चैतन्य (Eternal Consciousness) का नाम देता है। इसे ईश्वर भी कहा जा सकता है। यही समूचे विश्व में अथवा ब्रह्माण्ड की जड़ एवं चेतन वस्तुओं में ओत-प्रोत है, संसार में इससे पृथक् कोई अन्य तत्त्व नहीं हो सकता है। हमारी आत्मा भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त इसी शाश्वत चैतन्य का अंश है। आत्मा के शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का अंग होने से ग्रीन ने कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं। **पहला** परिणाम यह है कि मनुष्य केवल जड़ प्रकृति का अंश न होकर अपना चेतन-स्वरूप रखता है, उसके कार्यों को स्थूल प्राकृतिक दृष्टि से देखना उचित नहीं है। **दूसरा** परिणाम यह है कि उसके उद्देश्य की पूर्ति केवल भौतिक आवश्यकताओं से ही नहीं हो सकती, शाश्वत चैतन्य का अंश रखने वाला प्राणी क्षुद्र भौतिक सुखों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, उसका वास्तविक उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा और महान् है, वह अपने भीतर विद्यमान दैवीय अंश की अनुभूति करना चाहता है तथा अपने को पूर्ण बनाने (Self-perfection) का प्रयास करता है। अतः मनुष्य का लक्ष्य कोरे भौतिक सुख को प्राप्त करना नहीं, किन्तु उच्च नैतिक जीवन को बिताना है। **तीसरा** परिणम ग्रीन का यह विचार है कि शाश्वत चैतन्य की एक विशेषता स्वतन्त्रता है, अतः इसका एक अंश होने से मनुष्य की भी एक विशिष्टता स्वाधीनता का गुण है। ग्रीन की स्वतन्त्रता का विचार विशेष महत्त्व रखता है। वह यह जानता था कि सामान्य रूप से स्वतन्त्रता का अर्थ यही समझा जाता है कि मनुष्य को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वाधीनता हो। किन्तु वह इस विचार से सहमत नहीं था, प्लेटो और सेण्ट पाल की भाँति वह यह मानता था कि यदि मनुष्य को अपनी इच्छाओं के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता मिल जाए तो वह स्वतन्त्र नहीं रहेगा, अपितु इच्छाओं का दास बन जाएगा। मनुष्य तभी स्वतन्त्र माना जा सकता है, जब वह अपनी अच्छी इच्छाओं के अनुसार काम करे। ग्रीन का यह मत है कि मनुष्य दिव्य चेतना का अंश है, अतः वह एक नैतिक प्राणी है, उसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान उत्तम दैवी भावनाएँ उसे सत्कर्मों द्वारा आत्मसिद्धि के या आत्मा के स्वाभाविक रूप को पाने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। यह सम्भव है कि उसकी उच्च नैतिक इच्छाओं में तथा क्षुद्र स्वार्थपूर्ण वासनाओं में संघर्ष हो, इनमें देवासुर संग्राम चले, किन्तु इनमें विजय सदैव दैवी अथवा उत्तम भावनाओं की ही होती है। **चौथा** परिणाम यह है, चूँकि मनुष्य की आत्मा इस संसार में व्याप्त दैवीय तत्त्व का अंश है, अतः उसका लक्ष्य केवल अपना हित साधना

ही नहीं, अपितु समूचे समाज का कल्याण करना और उसे लाभ पहुँचाना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे अपने वैयक्तिक हितों के साथ-साथ सामाजिक हितों का भी ध्यान रखना चाहिए। **पांचवां** परिणाम ग्रीन द्वारा व्यक्ति को विशिष्ट महत्त्व दिया जाना है। शाश्वत चैतन्य या भगवान् का अंश होने से मनुष्य में दैवी तत्त्व हैं, अतः उसका अपना महत्त्व है, इसके उत्कृष्टतम विकास पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। हेगल ने यह माना था कि व्यक्ति नगण्य है, राज्य सब-कुछ है, राज्य साध्य है तथा व्यक्ति साधन है। ग्रीन ने हेगल से असहमति प्रकट करते हुए व्यक्ति का महत्त्व और गरिमा स्वीकार की, व्यक्ति को साधन नहीं, किन्तु साध्य माना, इस विषय में हेगल और अरस्तू के मत को न मानते हुए उसने काण्ट और प्लेटो का अनुसरण किया। छठा परिणाम मनुष्यों की समानता और भ्रातृभाव का विचार था। यदि हम ग्रीन की इस बात को मान लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट महत्त्व और गौरव है, उसका पूरा सम्मान किया जाना चाहिए तो हमें इसके स्वाभाविक परिणामों को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का विशिष्ट महत्त्व है, अतः इस दृष्टि से सभी व्यक्ति समान हैं और भ्रातृभाव के बन्धन में बँधे हुए हैं, कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थ-पूर्ण विकास के लिए किसी दूसरे व्यक्ति का शोषण करने का अधिकार नहीं रखता है। **सातवाँ** परिणाम ग्रीन का यह विचार है कि दैवी सत्ता का अंश होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने नैतिक विकास के लिए दैवी गुणों को अपने चरित्र में ढालकर अपने को दिव्य बनाने का यत्न करे, इसके लिए अच्छे काम करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे स्वयमेव अच्छा बनना चाहिए। व्यक्ति का आन्तरिक सुधार उत्तम कानून बनाने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। राज्य व्यक्तियों को अच्छे कानून बनाकर अच्छा नहीं बना सकता। वह उन्हें अपनी आत्मा का विकास करके ही अच्छा बना सकता है। राज्य केवल ऐसी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न कर सकता है, जिनमें व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सके। ग्रीन के विचारों की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि का परिचय देने के बाद उसके प्रधान राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा।

ग्रीन के राजनीतिक विचार : (1) स्वतन्त्रता— ग्रीन अपने विचारों का श्रीगणेश स्वतन्त्रता के विचार से करता है और इसी के आधार पर अधिकारों तथा राज्य का प्रतिपादन करता है। बार्कर ने ग्रीन की इस युक्ति-परम्परा का संक्षिप्त और सारगर्भित विवेचन करते हुए लिखा है—"मानवीय चेतना के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है, स्वतन्त्रता में अधिकारों का विचार निहित है, अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।'[1] इसका यह तात्पर्य है कि ग्रीन स्वतन्त्रता को शाश्वत चैतन्य (Eternal Consciousness) या ईश्वर के एक अंश—मानवीय आत्मा—का आवश्यक गुण मानता है, मनुष्य की आत्मा सदैव स्वतन्त्रता चाहती है, यदि उसे स्वतन्त्रता न रहे तो वह किसी अन्य शक्ति द्वारा संचालित किया जाने वाला यन्त्र मात्र ही रह जाती है। अतः स्वतन्त्रता मनुष्य का आवश्यक तत्त्व और प्राण है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की—आन्तरिक तथा बाह्य होती है। आन्तरिक स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र का

1. बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड, पृ० 32—"Human Consciousness postulates liberty; Liberty involves rights, rights demand State.

विषय है, इसका प्रधान तात्पर्य अपनी इन्द्रियों, वासनाओं, बुरी मनोवृत्तियों की कठपुतली और दास न बनना, किन्तु उन्हें अपने वश में बनाकर स्वतन्त्र बने रहना है। बाह्य स्वतन्त्रता राजनीतिशास्त्र का विषय है, उसका अभिप्राय ऐसी बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करना है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक हित के कार्यों को पूरा कर सके और उसे अपनी आत्मा का विकास करने में किसी बाधा का सामना न करना पड़े। ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की शर्तों को ही अधिकार कहा जाता है, इनसे ही हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। किन्तु इन अधिकारों को सुरक्षित बनाए जाने की आवश्यकता है, जिन अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती उन्हें अधिकार कहना ठीक नहीं है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए ही राज्य का निर्माण होता है। अतः ग्रीन के राजनीतिक दर्शन का सारांश बार्कर के उपर्युक्त वाक्य के अनुसार तीन सूत्रों में कहा जा सकता है—(1) मनुष्य की आत्मा का आवश्यक गुण स्वतन्त्रता है। (2) स्वतन्त्रता के लिए अधिकार आवश्यक है। (3) अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है। यहाँ इसी क्रम से इन तीनों का प्रतिपादन किया जाएगा।

ग्रीन की स्वतन्त्रता के विचार की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं और ये दोनों ग्रीन से पहले प्रचलित स्वतन्त्रता की धारणा का खण्डन करती हैं। **पहली विशेषता** स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार मनमाना काम करने की स्वाधीनता नहीं, अपितु एक निश्चित प्रकार (Determinate) के कार्य करना है, जिसके द्वारा मनुष्य उस वस्तु या सुख को प्राप्त कर सके, जो सामाजिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से प्राप्त करने योग्य हो। **दूसरी विशेषता** स्वतन्त्रता का नकारात्मक या अभावात्मक (Negative) न होकर सकारात्मक या भावात्मक (Positive) होना है। इन दोनों विशेषताओं को अब क्रमशः स्पष्ट किया जाएगा।

पहली विशेषता निश्चित प्रकार (Determinate) **के काम करने की स्वाधीनता है।** ग्रीन से पहले उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी विचारक व्यक्ति के अधिकारों का उग्र समर्थन करते हुए इस बात पर बल देते थे कि स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार सभी प्रकार के कार्य करने की स्वाधीनता देना है। कुछ कार्य नैतिक और धार्मिक दृष्टि से निन्दनीय हो सकते थे, जैसे शराब पीना, जुआ खेलना। व्यक्तिवादी यह मानते थे कि मनुष्य को इन्हें करने में भी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। पहले यह बताया जा चुका है कि मद्यमान और द्यूत मिल की दृष्टि में विशुद्ध वैयक्तिक कार्य हैं, इनके विषय में उसे पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। किन्तु ग्रीन इससे सहमत नहीं है। वह मनुष्य की आत्मा को शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का अंश मानता है, अतः मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, उसका चरम लक्ष्य न केवल आत्मविकास करना, अपितु ईश्वर के अंशस्वरूप अन्य प्राणियों का तथा समाज का हित सम्पादन करना है। जो कार्य इस उद्देश्य को पूरा करें, मनुष्य का नैतिक विकास तथा सामाजिक उन्नति करने में सहायक हों, उन्हीं कार्यों को करना स्वतन्त्रता है। इससे मनुष्य को सच्चा सन्तोष, सुख और शान्ति मिलती है तथा समाज का कल्याण होता है। मनुष्य को बुरे काम करने में भी क्षणिक आत्मसन्तोष मिल सकता है, किन्तु ये कार्य उसकी आत्मा के विकास एवं उन्नति में बाधक होते हैं, अतः इन कार्यों को उसे न करने देना ही स्वतन्त्रता है, वस्तुतः ऐसे समय में इन कार्यों को करते हुए मनुष्य स्वतन्त्र नहीं,

अपितु परतन्त्र हो जाता है। स्वतन्त्र का अर्थ है—स्व अर्थात् अपनी आत्मा के विकास में सहायक शुभ एवं सामाजिक हित का सम्पादन करने वाली दैवी प्रवृत्तियाँ। किन्तु जब मनुष्य शराब पीता है या जुआ खेलता है तो वह परतन्त्र हो जाता है, क्योंकि वह वस्तुत: अपने आत्मविकास में बाधक इन अनैतिक कार्यों, आसुरी प्रवृत्तियों और बुरी भावनाओं के वशीभूत होकर करता है। इस समय वह इन दुष्ट विचारों का दास हो जाता है, अतः उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता केवल ऐसे कार्य करने का नाम है, जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों और वासनाओं के वशीभूत होकर काम न करे, अपितु आत्मा को तथा समाज को उन्नत करने वाले कार्य करे। ग्रीन ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—"यह सम्भव है कि किसी कार्य से प्राप्त किया जा सकने वाला आत्मसन्तोष ऐसा हो कि वह इसे पाने वाले व्यक्ति की आत्मा के पूर्णता तक पहुँचने वाले विकास के मार्ग में बाधक हो। यह आत्मसन्तोष ऐसे आत्मसन्तोष से सर्वथा भिन्न है, जो व्यक्ति के विकास में सहायक हो।" ग्रीन इस निश्चित उद्देश्य को पूरा करने वाले कार्यों के करने को ही स्वतन्त्रता कहता है। बार्कर ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"अच्छे काम करने की प्रेरणा देने वाली, भली इच्छा के आदेशों का पालन करने की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वाधीनता हो सकती है।"[1]

ग्रीन का यह विचार काण्ट के मत से कुछ साम्य रखता है। दोनों यह मानते हैं कि मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों का सुख पाने में और विषयोपभोग में रत होता है, उस पर आसुरी प्रवृत्तियाँ अपना शासन स्थापित करती हैं तो वह स्वतन्त्र न रहकर इनका दास हो जाता है। किन्तु काण्ट नैतिक कर्त्तव्यादेश (Categorical Imperative) के अनुसार काम करने को स्वतन्त्रता मानता है; ग्रीन की दृष्टि में आत्मविकास में और सामाजिक कल्याण में सहायक होने वाले कार्यों का करना ही स्वतन्त्रता है। इससे दोनों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर हो जाता है। काण्ट की स्वतन्त्रता विशुद्ध रूप से वैयक्तिक है, उसका समाज के अथवा राज्य के हित से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः उसका कार्यक्षेत्र सीमित (Limited) है और वह आत्मगत (Subjective) है, एक व्यक्ति की आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है, अन्य व्यक्तियों से या राज्य के कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु ग्रीन की स्वतन्त्रता व्यक्ति तक सीमित न रहकर समूचे समाज और राज्य के कल्याण का सम्पादन करना चाहती है, और राज्य का यह कर्त्तव्य मानती है कि वह उस उद्देश्य की पूर्ति में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करे। अतः ग्रीन का स्वतन्त्रता का विचार अधिक व्यापक और विशाल तथा वस्तुगत (Objective) है। यह विचार हेगल के इस दृष्टिकोण से कुछ सादृश्य रखता है कि राज्य विश्वात्मा के विकास का चरम रूप है और स्वतन्त्रता का अर्थ इसके आदेशों का पालन करना है।

ग्रीन के स्वतन्त्रता के विचार की **दूसरी विशेषता इसका सकारात्मक या भावात्मक** (Positive) होना है। उससे पूर्ववर्ती उपयोगितावादी विचारक राज्य द्वारा बनाए गए सभी कानूनों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने वाला समझते थे, उनका यह दृढ़ मत था कि पार्लियामैण्ट को ऐसे सभी कानून रद्द कर देने चाहिएँ, जिनसे व्यक्ति

1. बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड, पृ० 24.

पर किसी प्रकार की कोई पाबन्दी या बन्धन लगता हो। एडम स्मिथ ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में किसी प्रकार के कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहिएँ, सब मामलों में 'खुला छोड़ दो' (laissez faire) की नीति अपनानी चाहिए। व्यक्ति पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण, बन्धन या प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, इनके मतानुसार राज्य के प्रतिबन्धों या हस्तक्षेप का अभाव ही स्वतन्त्रता है। इसमें सब प्रकार के प्रतिबन्धों या कानूनों के अभाव पर या हटाए जाने पर बल दिया जाता था, अतः इसे अभावात्मक स्वतन्त्रता (Negative Freedom) कहा जाता था। इस विचार ने इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भिक दिनों में पूंजीपतियों को कारखानों में मजदूरों का भीषण शोषण करने की खुली छूट देकर भयंकर दुष्परिणाम उत्पन्न किए। इनके कारण लिबरल या उदार दल ने इन दुष्परिणामों को दूर करने के लिए 'कारखाना कानूनों' (Factory Acts) द्वारा काम करने के घण्टों का नियन्त्रण करने की, कारखानों को निरीक्षण करने की, उनमें स्वास्थ्य-जनक परिस्थितियाँ बनाए रखने की व्यवस्था करने वाले कानूनों का निर्माण करना आरम्भ किया, इस प्रकार राज्य द्वारा हस्तक्षेप न किए जाने के पुराने सिद्धान्त को खण्डित करना शुरू कर दिया। किन्तु अभी तक यह केवल व्यावहारिक राजनीति में हुआ था, सैद्धान्तिक दृष्टि से इस समय मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूरा बल दे रहा था, अभावात्मक स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन कर रहा था। उस समय यद्यपि सब लोगों को यह विदित हो चुका था कि राज्य द्वारा अहस्तक्षेप (laissez faire) की नीति का अनुसरण करने का परिणाम अधिकांश व्यक्तियों को निर्धनता, अज्ञान और बीमारी के पाश में बांधे रखना है, तथापि दूसरी ओर मिल जैसे विचारकों को यह भय बना हुआ था कि यदि राज्य को सभी मामलों में हस्तक्षेप करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई तो व्यक्ति की स्वाधीनता का एवं व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाएगा।

ग्रीन ने इस आशंका को दूर करने के लिए उपयोगितावादियों की 'नकारात्मक या अभावात्मक (Negative) स्वतन्त्रता' के स्थान पर 'सकारात्मक या भावात्मक स्वतन्त्रता' (Positive Liberty) के विचार का समर्थन किया।[1] इसका यह अभिप्राय था कि व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यताओं तथा गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था से, आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति के कानूनों से, स्वास्थ्यजनक परिस्थितियों को उत्पन्न करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई आँच नहीं आती है, अपितु शिक्षा द्वारा तथा अन्य साधनों से व्यक्ति की आत्मोन्नति के अवसर बढ़ जाते हैं। अतः राज्य द्वारा ऐसे कार्य करने से व्यक्ति का एवं समाज का हित सिद्ध होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में तथा राज्य के कार्यों में कोई विरोध नहीं रहता है, राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शोषक नहीं, किन्तु पोषक है।

अतः ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाए, उसे मनमाने काम करने, शराब पीने, जुआ खेलने आदि की स्वतन्त्रता हो, अपितु स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसे कार्यों

1. लैंकास्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 205.

को किए जाने से है, जो हमारी आत्मोन्नति में तथा समाज की उन्नति में सहायक हों। इसका अभिप्राय आत्मा एवं समाज के लिए आदर्श एवं हितकर समझे जाने वाले कार्य करने की स्वाधीनता है। शराबी को शराब पीने की स्वतन्त्रता न दिया जाना सच्ची स्वाधीनता है, क्योंकि शराब उसकी आत्मा के और समाज के विकास में बाधक है। हमारे मनों में दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, स्वतन्त्रता का अभिप्राय आसुरी प्रवृत्तियों को खुली छूट न देकर, उनका दमन करना है, क्योंकि इसी से व्यक्ति तथा समाज का वास्तविक हित सम्पन्न हो सकता है और उन्हें सच्ची शान्ति मिल सकती है। इस सच्ची शान्ति को पाने के लिए हमारे मन को इन्द्रियों के विषयों और भोगों से ऊँचा उठना पड़ता है, अपनी आसुरी प्रवृत्तियों का दमन करके वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण करने वाली दैवी प्रवृत्तियों का पोषण करना पड़ता है। इसी प्रकार हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं और सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र हो सकते हैं, अन्यथा हम अपनी वासनाओं और इन्द्रियों के दास बने रहते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ वासनाओं की पूर्ति नहीं, अपितु उच्च भावनाओं द्वारा आत्मकल्याण और सामाजिक हित का सम्पादन करना है। यह तभी हो सकता है जब हम अपनी उत्तम और स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार कार्य करें, न कि अपनी बुरी इच्छा और वासनाओं के वशीभूत होकर कार्य करें। ग्रीन के शब्दों में, एक व्यक्ति उसी दशा में स्वतन्त्र कहला सकता है, "जब वह आत्मा की उन्नति के आदर्श को प्राप्त करे तथा उस नियम का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझे, जिसके बारे में उसका यह विचार है कि उसे इसका पालन करना चाहिए।"[1] अतः ग्रीन का दृष्टिकोण व्यक्तिवादियों की इस नकारात्मक स्वतन्त्रता से सर्वथा भिन्न था कि राज्य का हस्तक्षेप न होना ही स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत उसका यह कहना था कि व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए आवश्यक सभी कार्य राज्य को करने चाहिएँ— शिक्षा का प्रसार, कारखानों में काम करने की परिस्थितियों का नियन्त्रण, मद्य-निषेध आदि में पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उन सभी रुकावटों को रोके (Hindering Hinderances to good life), जो व्यक्ति के उत्तम जीवन का लक्ष्य पूरा करने में तथा आत्मा के विकास में बाधक हैं। यही ग्रीन का 'भावात्मक स्वतन्त्रता का विचार है। उसके जीवनकाल में व्यक्तिवाद के प्रबल प्रचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि राज्य को निर्धन लोगों को आर्थिक सहायता देने (Poor relief), सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने, 'कारखाना कानून बनाने तथा डाक व तार की व्यवस्था करने वाले कार्य नहीं करने चाहिएं, पहले यह बताया जा चुका है कि जॉन स्टुअर्ट मिल राज्य द्वारा विद्यालय खोलकर शिक्षा देने का उग्र विरोधी था। ग्रीन ने इन अतिवादी एवं उग्र व्यक्तिवादी धारणाओं का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि इनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई आघात नहीं पहुँचता, अपितु मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है। रूसो और काण्ट की भाँति वह यह मानता था कि व्यक्तित्व का विकास राज्य में रहते हुए हो सकता है, इससे पृथक् रहते हुए नहीं, अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के विकास की सभी परिस्थितियों को उत्पन्न करे तथा इसके मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करे।

1. ग्रीन—लैक्चर्स ऑन दी प्रिंसिपल्ज़ ऑफ पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० 2.

इसी प्रकार मनुष्य को सच्ची स्वतन्त्रता मिल सकती है।

हेगल से तुलना—ग्रीन की स्वतन्त्रता का विचार हेगल की स्वाधीनता की धारणा से गहरा सादृश्य रखता है। दोनों ही मनुष्य को तभी स्वतन्त्र मानते हैं, जब वह दिव्य तत्त्व (Divine Spirit) के साथ अभेद स्थापित करता है। हेगल के मतानुसार राज्य विश्वात्मा का सर्वोत्तम रूप है और उसके आदेशों का पालन करना ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन व्यक्ति को तभी स्वतन्त्र मानता है, जब वह आत्मविकास एवं सामाजिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों को करता है, न कि अपनी क्षुद्र वासनाओं और भावनाओं का दास होकर कार्य करता है। मनुष्य तभी स्वाधीन होता है, जब वह अपनी "सच्ची भलाई के लिए कार्य करता है और यह भलाई केवल अपना ही भला करने में नहीं, अपितु समाज का और सब लोगों का भला करने में निहित है।" उसके शब्दों में स्वतन्त्रता "समाज के हित के लिए मनुष्यों की सभी शक्तियों का उन्मुक्त रूप से प्रयोग करना है। किन्तु मनुष्य इस सामाजिक हित को सम्पादित करने का प्रयत्न इसलिए करते हैं कि उनमें दैवी भावना निहित है और वह उन्हें प्रेरणा प्रदान करती है, अतः स्वतन्त्रता वास्तव में दैवी भावना के अनुसार कार्य करना है और इन दोनों में अभिन्नता है। अतः वेपर ने यह सत्य ही लिखा है कि ग्रीन इस बात से सहमत है कि दैवी तत्त्व (Divine Spirit) राज्य में मूर्त्त रूप धारण करती है और ग्रीन हेगल के इस मत का अनुयायी है कि सच्ची स्वतन्त्रता राज्य में ही प्राप्त हो सकती है।"[1]

(2) **अधिकार**—स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करने के बाद ग्रीन अधिकारों का विवेचन करता है। उसका अधिकारों का विकास ज़ॉन लॉक द्वारा प्रतिपादित 'प्राकृतिक अधिकारों' (Natural Rights) के विचार से बहुत भिन्न है। लॉक व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति-रक्षा के तीन अधिकार प्रदान करता है, इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध, स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार मानता है तथा राज्य का प्रादुर्भाव इन्हीं की रक्षा के लिए मानता है।[2] किन्तु ग्रीन इस परम्परागत ब्रिटिश दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न मत का प्रतिपादन करता है। वह अधिकारों को प्राकृतिक और स्वाभाविक न मानकर समाज द्वारा व्यक्ति को समाज के हित को भली-भाँति सम्पादित करने की दृष्टि से दी गई ऐसी सुविधाएँ मानता है, जिन्हें समाज ने अपने कल्याण की दृष्टि से स्वीकार किया हुआ है। वह अधिकार को दो प्रकार के रूप अथवा पक्ष रखने वाला समझता है। उसका पहला **वैयक्तिक पक्ष** या रूप तो यह है कि यह एक व्यक्ति द्वारा अपने किसी गुण या योग्यता को स्वतन्त्रतापूर्वक क्रिया रूप में परिणत करने की माँग है, जैसे व्यक्ति का स्वाधीन रहते हुए जीवन को बिताने की माँग करना। इसका **दूसरा सामाजिक पक्ष** समाज द्वारा इस माँग को मान लेना तथा व्यक्ति को वैसा करने की स्वाधीनता देना है। उसका यह कहना था कि "अधिकारों का निर्माण समाज द्वारा इन्हें मान्यता देने से होता है।" कोई भी बात तब तक अधिकार का रूप धारण नहीं करती, जब तक इसे मान्यता न दी जाए। मेरी यह इच्छा हो सकती है कि मैं भारत का राष्ट्रपति बनूँ, किन्तु समाज ने भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के चुनाव की एक विधि

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 177.
2. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, दूसरा संस्करण, पृ० 440-46.

निश्चित की है, उस विधि के अनुसार चुने जाने वाले व्यक्ति को ही भारतीय समाज राष्ट्रपति स्वीकार करेगा। अतः राष्ट्रपति बनने के लिए मेरा इच्छा करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु संविधान द्वारा निश्चित मान्य विधि के अनुसार निर्वाचित होना भी आवश्यक है।

अधिकार के इन दोनों पक्षों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। हम ऐसे अधिकारों को इसी अर्थ में **'प्राकृतिक'** (Natural) कह सकते हैं कि ये माँगें (Claims) राज्य द्वारा इस कारण स्वीकार की जानी चाहिएँ कि समाज में सब व्यक्ति समान रूप से इस बात को अनुभव करते हैं या यह सामान्य चेतना (Common consciousness) रखते हैं कि व्यक्तियों को ऐसे अधिकार दिए जाने चाहिएँ। ये अधिकार प्राकृतिक तथ्य (Natural facts) न होकर, विचार-जगत् में रहने वाले आदर्श (Ideals) हैं। अतः समाज की नैतिक चेतना में परिवर्तन आने के साथ-साथ इन अधिकारों में भी परिवर्तन आता है। ग्रीन का विश्वास है कि नैतिक चेतना (Moral consciousness) उन्नत होने पर 'प्राकृतिक' समझे जाने वाले अनेक अधिकारों को ऐसा नहीं समझा जाएगा तथा अन्य अधिकार प्राकृतिक माने जाने लगेंगे। इस प्रकार व्यक्ति द्वारा रखे जाने वाले प्रत्येक अधिकार की सत्ता इस बात पर निर्भर है कि समाज इसे अपने सामान्य कल्याण के लिए कहाँ तक उपयोगी मानता है। अधिकार की अन्तिम कसौटी समाज के कल्याण में सहायक होना तथा सहयोग देना है, इसमें सहयोग देने वाली व्यक्ति की प्रत्येक माँग को अधिकार माना जाता है और इस कसौटी पर खरी न उतरने वाली माँग को समाज अधिकार के रूप में मान्यता नहीं प्रदान करता है।

इसी कसौटी को अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हुए ग्रीन ने यह घोषणा की है कि "अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने ऐसे उद्देश्यों को पूर्ण करने की शक्ति है, जिन उद्देश्यों को वह अपने लिए हितकर समझता है तथा समाज यह अधिकार व्यक्ति को इस आधार पर प्रदान करता है कि इस अधिकार के प्रयोग से समाज को लाभ पहुँचेगा।"[1] अतः ग्रीन की दृष्टि में व्यक्ति को कोई ऐसे प्राकृतिक तथा अविच्छेद्य (Inalienable) अधिकार नहीं प्राप्त हैं, जो उससे छीने न जा सकें तथा सर्वत्र एवं सर्वथा उसे प्राप्त रहें। यह लॉक द्वारा स्वीकृत व्यक्ति के अधिकारों की धारणा से सर्वथा भिन्न धारणा थी। हैलोवैल ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि ग्रीन ने व्यक्ति के सभी अविच्छेद्य और प्राकृतिक अधिकारों को एक ही अधिकार में परिणत कर दिया है, यह समाज के सब व्यक्तियों के हित के साथ सामंजस्य रखते हुए अपने वैयक्तिक हित का सम्पादन करना है।[2] मनुष्य को स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का अधिकार तभी तक है, जब तक वह समाज द्वारा सम्मत रीति से और समाज के हित को बढ़ाने में सहायक बनते हुए कार्य करता है। ग्रीन ने इस दृष्टि से व्यक्ति का सम्पत्ति रखने का, उत्तराधिकार का तथा व्यापार की स्वतन्त्रता का अधिकार स्वीकार किया है। वह एक व्यक्ति द्वारा असीम पूंजी एकत्र करने का अधिकार मानता है और इस बात का खण्डन करता है कि पूँजीवाद निर्धनता का प्रधान उत्पादक कारण है, किन्तु वह

1. ग्रीन—लैक्चर्स ऑन दी प्रिंसिपल्ज़ ऑफ पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० 207.
2. ग्रीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 224.

भू-सम्पत्ति एवं जमींदारी के अधिकार का उग्र विरोधी है क्योंकि उसका यह मत है कि भूमि पर व्यक्ति को अधिकार उसके परिश्रम से नहीं, किन्तु लूट से मिला है। उसके मतानुसार "आरम्भिक जमींदार विजेता थे।"[1]

ग्रीन द्वारा प्रतिपादित अधिकारों की उपर्युक्त धारणा से यह स्पष्ट है—इस विषय में उसका सिद्धान्त उस समय प्रचलित दो प्रकार के सिद्धान्तों से भिन्न है। **पहला सिद्धान्त** लॉक तथा उसके अनुयायी एवं सामाजिक समझौते (Social Contract) में विश्वास रखने वालों का था। ये व्यक्ति के अधिकार को जन्मसिद्ध, स्वाभाविक, प्राकृतिक, और अविच्छेद्य मानते थे। उनका यह मत था कि ये अधिकार मनुष्य को राज्य निर्माण से पहले की प्राकृतिक दशा में (Natural state) से प्राप्त हैं। बेन्थम आदि उपयोगितावादी विचारकों ने इसे सर्वथा काल्पनिक मानते हुए इसका खण्डन किया था तथा इसे बेहूदा बकवास बताया था। ग्रीन उनकी इस आलोचना से सहमत था। उसके मतानुसार अधिकार मनुष्य को समाज का तथा राज्य का सदस्य होने के कारण तथा इसके द्वारा मान्यता दिए जाने से ही मिलते हैं, अतः इन्हें राज्य से पहले की प्राकृतिक दशा में उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता है। मनुष्य के अधिकार की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न प्रकार से होती है। मनुष्य में इच्छा-शक्ति है, वह विभिन्न वस्तुओं को पाने की इच्छाएँ रखता है, किन्तु इनमें से केवल उन्हीं इच्छाओं को बुद्धिमत्तापूर्ण इच्छा (Reasoned Will) कहा जा सकता है, जो मनुष्य के नैतिक विकास में तथा समाज का सामान्य हित बढ़ाने में सहायक सिद्ध हों। किन्तु यहाँ यह जटिल समस्या उत्पन्न होती है कि मनुष्य को इस बात का कैसे ज्ञान होता है कि कोई कार्य उसके नैतिक विकास में तथा समाज के सब व्यक्तियों का सामान्य कल्याण करने में सहायक है और करने योग्य है। ग्रीन ने इस ज्ञान के उत्पन्न होने के दो कारण माने हैं: **पहला कारण** तो मनुष्य का नैतिक प्राणी होने से उसे इसका स्वाभाविक ज्ञान होना है। उसके शब्दों में, "प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का स्पष्ट ज्ञान होता है कि उसके तथा उसके पड़ोसियों के सामान्य हितों की वृद्धि में सहायक कुछ विशिष्ट स्वार्थ हैं, जैसे मजदूरों को सप्ताह समाप्त हो जाने पर वेतन मिलना चाहिए, दुकान से कोई वस्तु खरीदने पर उसके लिए व्यय की जाने वाली राशि के बदले में पूरा माल मिलना चाहिए, उसको तथा उसकी पत्नी को सुरक्षित एवं अक्षत रूप से जीवन बिताने का अवसर मिलना चाहिए।[2] उसकी ये सब माँगें स्वतःसिद्ध और समुचित प्रतीत होती हैं, समाज द्वारा इनको स्वीकार कर लिए जाने से ये माँगें अधिकार का रूप धारण करती है। हमें अपने कर्त्तव्य का बोध कराने वाला **दूसरा** कारण हमारे समाज की वे नागरिक संस्थाएँ (Civil Institutions) हैं, जिनमें समाज की नैतिकता के मानदण्ड निहित हैं तथा जो व्यक्तियों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने में पथ-प्रदर्शक का काम करती हैं। ये संस्थाएँ भी आरम्भ में मनुष्य के विवेक अथवा बुद्धि से बनती हैं तथा मानव-जाति के नैतिक विकास के बाह्य रूप को अभिव्यक्त करती हैं।

प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर उपयोगितावादियों ने यह सिद्धान्त निश्चित

---

1. ग्रीन—पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० 226.
2. वही, पृ० 129.

किया था कि सभी अधिकारों का मूल स्रोत एक प्रभु (Sovereign) या सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न शक्ति होती है, मनुष्य को ऐसा कोई भी अधिकार नहीं मिल सकता, जिसे प्रभु उसे देने से इनकार करे। ग्रीन इसे स्वीकार नहीं करता है, वह उपयोगितावादियों की भाँति यह नहीं मानता है कि राज्य किसी शक्तिशाली सत्ता द्वारा स्थापित व्यवस्था है, वह इसे समाज के सामान्य हित के लिए तथा अधिकारों की रक्षा के लिए बनाया गया संगठन समझता है, इसमें व्यक्तियों की निजी इच्छाओं में तथा समाज की आवश्यकताओं में सामंजस्य और सन्तुलन बना रहता है। समाज द्वारा स्वीकृत की जाने वाली ये माँगें ही अधिकार कहलाती हैं । यहाँ ग्रीन हेगल के इस सिद्धान्त से बहुत सादृश्य रखता है कि राज्य में ही 'स्वतन्त्रता' का चरम विकास होता है ।

लैंकास्टर ने ग्रीन के अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि उसने इसमें दो विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय करने का विफल प्रयास किया है।[1] एक ओर तो वह प्रबल व्यष्टिवादी (Individualist) है, वह राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों का समर्थन इसी आधार पर करता है कि वे व्यक्ति के विकास में सहायक होंगे। वह यह मानता है कि व्यक्तियों के चरित्र की उच्चता से राज्य उच्च होगा । किन्तु वह इसका समर्थन मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में जिस प्रकार के सिद्धान्त से करता है, वह सर्वथा अमान्य है । उसने मनुष्य की प्रकृति को आदर्श, बहुत ऊँचा और अच्छा माना है, उसमें आसुरी तत्त्वों के स्थान पर दैवी तत्त्वों की प्रधानता मानी है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तिम विजय दैवी तत्त्वों की होती है, किन्तु यह बड़े लम्बे संघर्ष के बाद होती है। सामान्य रूप से देवासुर संग्राम में देवता हारते रहते हैं, संसार में भी आसुरी प्रवृत्तियों का साम्राज्य दिखाई देता है। ग्रीन ने इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा की है, मानव-प्रकृति का एक अतीव उज्ज्वल पक्ष सत्य माना है, अतः उसका अधिकारों का सिद्धान्त सच्चाई से दूर, अव्यवस्थित (Confused) और असंगत (Inconsistent) प्रतीत होता है।

(3) अधिकार, नैतिकता तथा कानून—ग्रीन अधिकारों का नैतिकता और कानून से गहरा सम्बन्ध और भेद मानता है। अधिकारों का नैतिक जीवन के साथ यह सम्बन्ध है कि इनके बिना नैतिक जीवन को बिताना सम्भव नहीं है । किन्तु दोनों में एक मौलिक भेद यह है कि अधिकारों का पालन बलपूर्वक कराया जाना सम्भव है, किन्तु नैतिक कर्त्तव्यों का पालन स्वेच्छापूर्वक ही होना चाहिए, अन्यथा वे महत्त्व-शून्य हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, बच्चों की शिक्षा के प्रश्न को लिया जा सकता है। अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने वाले देशों में बालक को शिक्षा पाने का अधिकार है, यदि बच्चे का पिता इसमें बाधा डालता है तो राज्य उसे अपने बच्चे को स्कूल भेजने के लिए बाधित कर सकता है, यह अधिकार का बलपूर्वक पालन कराना है । किन्तु नैतिक कर्त्तव्यों में ऐसा बलप्रयोग या जोर-जबर्दस्ती नहीं की जा सकती; जैसे एक बालक का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता का सम्मान करे। यदि उसमें यह भावना नहीं है, वह स्वेच्छापूर्वक माता-पिता का सम्मान नहीं करता तो उसे यदि इस कार्य के लिए बलपूर्वक बाध्य किया जाएगा तो वह वास्तविक सम्मान न

1. लैंकास्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 223.

होकर, उसका बाह्य प्रदर्शन मात्र होगा, उस दशा में यह कोरा ढोंग होगा। अतः अधिकार और नैतिक कर्त्तव्य में यह भेद है कि पहले का सम्बन्ध केवल भौतिक अथवा शारीरिक कार्य मात्र से है, अतः उसका बलपूर्वक पालन कराना सम्भव है, किन्तु नैतिकता का सम्बन्ध आन्तरिक मनोभावना से है, उसका पालन शक्ति के प्रयोग से नहीं कराया जा सकता है।

अधिकार और कानून में परस्पर गहरा सम्बन्ध भी है। किसी भी अधिकार को कानूनी रूप देकर उसका पालन राज्य द्वारा बलपूर्वक कराया जा सकता है। अधिकार आरम्भ में नैतिक या स्वाभाविक माँगें होती हैं, बाद में उन्हें कानूनी रूप देकर अधिकार बनाया जाता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति की मानसिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक योग्यताओं के विकास के लिए उसे शिक्षा दिया जाना आवश्यक है, अतः शिक्षा प्राप्त करना व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य है, किन्तु जब राज्य अनिवार्य रूप से शिक्षा देने का कानून बनाता है तो यह नैतिक कर्त्तव्य अधिकार बन जाता है। किन्तु अधिकार और कानून में एक महत्त्वपूर्ण भेद भी है। सभी कानून अथवा विधिसम्मत अधिकार नैतिक और न्यायपूर्ण नहीं हो सकते। राज्य द्वारा अन्यायपूर्ण कानून भी बनाए जा सकते हैं। प्राचीन समय में और मध्यकाल में दास-प्रथा का प्रचलन था, अरस्तू तथा सन्त थामस एक्विनास ने इसका समर्थन किया था। यह कानून-सम्मत प्रथा थी, उस समय मनुष्यों को दास रखने, उन्हें खरीदने और मार डालने तक के कानूनी अधिकार थे, किन्तु इन्हें सच्चे नैतिक या न्यायपूर्ण अधिकार नहीं कहा जा सकता है।

हिन्दू-समाज में अस्पृश्यता की अन्यायमूलक व्यवस्था चिरकाल तक विधि-सम्मत थी, यद्यपि यह नैतिक दृष्टि से अनुचित और अन्यायपूर्ण थी। स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने इसका घोर विरोध किया था। इस व्यवस्था को **अस्पृश्यता उन्मूलन कानून** से ही अवैध बनाया गया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि समाज की सभी व्यवस्थाएँ और कानून नैतिक नहीं होते हैं।

अधिकार दो प्रकार के हैं—कुछ अधिकार तो अभी नैतिक कर्त्तव्य मात्र हैं, इन्हें कानून द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है। इनमें अनेक ऐसी व्यवस्थाएँ आती हैं, जिनको समाज में कानूनी रूप नहीं दिया गया है, किन्तु नैतिक दृष्टि से इन्हें आवश्यक समझा जाता है और भविष्य में नैतिक उन्नति होने से इन्हें कानूनी रूप दिया जाना सम्भव है। भारत के संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों (Directive Principles) में ऐसी ही बातों का निर्देश है। एक उदाहरण से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाएगी। राज्य का यह नैतिक कर्त्तव्य है और भारत में सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को भरपेट भोजन, पर्याप्त वस्त्र, मकान, शिक्षा आदि की सुविधा मिलनी चाहिए, बेकारी दूर होनी चाहिए, प्रत्येक व्यक्ति को काम पाने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु अभी तक हमारे देश में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह सबको भरपेट भोजन या काम देने के आदर्श को क्रियात्मक रूप दे सके। अतः उसने इसे कानूनी रूप नहीं दिया है, इस समय कोई भूखा व्यक्ति भारत की सरकार से रोटी या रोजी पाने का दावा नहीं कर सकता है। ये वस्तुतः ग्रीन के आदर्श (Ideal) या प्राकृतिक अधिकार हैं। ये कानून द्वारा स्वीकृत वास्तविक अधिकारों (Actual

Right) की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर होते हैं। किन्तु दूसरी ओर दासता आदि कुछ ऐसे भी अधिकार हैं, जिन्हें कानून स्वीकार करता रहा है, फिर भी इन्हें नैतिक नहीं कहा जा सकता है। इसके सुप्रसिद्ध उदाहरण दास-प्रथा तथा अस्पृश्यता हैं। अधिकारों की सुरक्षा राज्य द्वारा की जाती है। अतः अधिकारों के बाद ग्रीन ने राज्य का प्रतिपादन किया है।

(4) **राज्य का निर्माण तथा सामान्य इच्छा** (General Will)—राज्य का निर्माण अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। जब हम शान्त चित्त से तथा बुद्धिपूर्वक विचार करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि हमें अपने अधिकारों के समान ही अन्य व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए। किन्तु स्वार्थ, घृणा या क्रोध के आवेश में हम दूसरों के अधिकारों की अवहेलना करते हैं, ऐसे अवसरों पर अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को कोई हानि न पहुँचे, इस बात की आवश्यकता सब लोगों द्वारा अनुभव की जाती है। अतः सभी लोगों की यह **सामान्य इच्छा** (General Will) है कि सभी दशाओं में अधिकारों की रक्षा करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए। यह संस्था राज्य है। रूसो की भाँति ग्रीन भी दो इच्छाओं का सिद्धान्त मानता है। फ्रेंच विचारक के मतानुसार, ये इच्छाएँ मनुष्य के वैयक्तिक हित को ध्यान में रखने वाली **स्वार्थपूर्ण इच्छा** (Actual Will) तथा व्यक्ति और समाज के हित में समन्वय करने वाली **सामाजिक इच्छा** (Real Will) हैं।[1] ग्रीन ने इसका अनुसरण करते हुए कहा है कि प्रत्येक मनुष्य में रूसो की सामाजिक इच्छा जैसी एक सदिच्छा (Good Will) होती है, यह उसे कुछ निश्चित कार्यों को करने की प्रेरणाएँ देती है, ये प्रेरणाएँ ग्रीन के शब्दों में नैतिक आदेश (Moral Imperatives) हैं, इन आदेशों के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति नैतिक व्यक्ति है। वह नैतिकता के अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते हुए एक दिन अवश्य पूर्णता प्राप्त करेगा, ब्रह्माण्ड में व्याप्त शाश्वत चेतना का अंग बन जाएगा, सब मनुष्यों की सद्इच्छाएँ एक ऐसी सामान्य इच्छा को उत्पन्न करती हैं जिसका प्रधान उद्देश्य समाज के सामान्य हित में सहायक हो सकने वाले सभी कार्यों को करना है। समाज के सभी व्यक्तियों की यह एक सामान्य इच्छा है कि समाज में सभी के हित सुरक्षित हों तथा सबकी उन्नति हो। यही सामान्य इच्छा राज्य का मूल प्रेरणा-स्रोत है तथा सब प्रकार के कानूनों और विधियों को उत्पन्न करती है; क्योंकि यद्यपि समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों का लक्ष्य समाज के हित में सहयोग देना होता है। फिर भी समाज में अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो नैतिक चेतना के आदेशों के विरुद्ध स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक कार्य करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को समाज-विरोधी कार्यों से रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता होती है। इनसे राज्य का काम आसान हो जाता है, वह 'अन्य लोगों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए बल का प्रयोग करता है'।

इस प्रसंग में राज्य का निर्माण करने वाली **सामान्य इच्छा**(General Will) के सम्बन्ध में एक प्रश्न विचारणीय है। क्या यह सामान्य इच्छा राज्य के सभी सामान्य नागरिकों में पाई जाती है? रूसो की भाँति ग्रीन का यह विश्वास था कि

1. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, दूसरा संस्करण, पृ० 462.

"सार्वजनिक एवं सामान्य हित के कार्यों को करने की तथा इनमें सहयोग देने की भावना सुव्यवस्थित शासन को चलाने के लिए आवश्यक है। यह भावना अधिकांश व्यक्तियों में पाई जाती है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शराब की दुकानों से घिरे हुए लन्दन के अनपढ़ एवं दरिद्र व्यक्तियों जैसे नागरिकों में यह भावना बहुत ही कम मात्रा में है।" वे अपनी रोजी कमाने की चिन्ता में इतने अधिक व्यस्त हैं तथा इतने अधिक अशिक्षित हैं कि वे अपने समाज के सामान्य हित के प्रश्नों पर विचार करने का अवकाश या सामर्थ्य नहीं रखते हैं। किन्तु फिर भी सूक्ष्म रूप से उनमें राज्य के 'सामान्य हित' को उन्नत करने की कुछ भावना अवश्य है। ग्रीन का मत है कि यदि उनमें यह भावना सूक्ष्म रूप से न हो और वह राज्य को उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण न समझे तो उसे राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने में कोई संकोच नहीं होगा, वह राज्य के नियमों का पालन नहीं करेगा तथा राज्य के प्रधान आधारस्तम्भ—सामान्य इच्छा की नींव खोखली हो जाएगी।[1]

(5) **राज्य का वास्तविक आधार बल नहीं, किन्तु इच्छा है**—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य के निर्माण का मौलिक तत्त्व सामान्य इच्छा (General Will) है, यह इच्छा किसी भी राज्य के सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाई जाती है और यह सभी को राज्य की उन्नति के सामान्य उद्देश्य के लिए प्रेरित करती है। अतः वार्कर ने इसे "समान उद्देश्य से प्रेरित होने वाले सब नागरिकों में पाई जाने वाली चेतना तथा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाली एक सामान्य इच्छा कहा है।"[2] ग्रीन के मतानुसार यही इच्छा **राज्य का आधार है, न कि बल इसका आधार है** (Will, not force is the basis of the State)। उसके इस सूत्र को भली-भाँति समझने के लिए ग्रीन से पहले की राजनीतिक विचारधारा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। उससे पूर्ववर्ती विचारक राज्य के मौलिक आधार के विषय में यह धारणा रखते थे कि राज्य राजा एवं प्रजा, शासक एवं शासित के दो मौलिक तत्त्वों से मिलकर बनता है और इसका आधार शक्ति या बल प्रयोग है। वे प्रजाजनों अथवा शासितों को कुछ जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकारों से सम्पन्न तथा राजा या शासक को उन्हें अपने वश में या दबाव में रखने वाली तथा अपने आदेशों का पालन कराने वाली शक्ति से सम्पन्न समझते थे। राज्य की सैनिक शक्ति और राजदण्ड के भय से नागरिक राज्य के कानूनों की अवहेलना नहीं करते हैं, अतः राज्य का आधार शक्ति है किन्तु यह 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' का सिद्धान्त है। यदि उसे पूर्ण रूप से सत्य मान लिया जाए तो राज्य को अपनी शक्ति के अनुसार प्रजाजनों पर यथेच्छ रूप से शासन करने का अधिकार मिल जाएगा, नागरिक पूर्ण रूप से उसकी कृपा पर जीवित रहने वाले तथा सब प्रकार के अधिकारों से वंचित हो जाएँगे। इस अवांछनीय स्थिति से बचने के लिए लॉक, रूसो आदि दार्शनिकों ने सामाजिक समझौते (Social Contract) के सिद्धान्त की कल्पना करते हुए यह माना था कि इसके अनुसार मनुष्यों को कुछ प्राकृतिक या स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हैं, राज्य को इन्हें सुरक्षित रखना

1. ग्रीन—पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० 129.
2. बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड, द्वितीय संस्करण, पृ० 28.

चाहिए। इस अपवाद के अतिरिक्त, वे राज्य को शक्ति पर ही टिका हुआ मानते हैं, क्योंकि उसके दण्ड देने की शक्ति (Coercive Authority) के भय से ही नागरिक राज्य के नियमों और कानूनों का पालन करते हैं। यदि राज-दण्ड की शक्ति का भय न रहे तो नागरिक राजकीय आदेशों की अवहेलना करने लगेंगे और राज्य की संस्था ही समाप्त हो जाएगी।"

ग्रीन ने इस विचारधारा का प्रबल खण्डन करते हुए यह बताया है कि राज्य के कानूनों का पालन हम दण्ड के भय से नहीं करते हैं, अपितु इसलिए करते हैं कि इनका पालन करना हमारे लिए तथा समाज के लिए हितकर है, यदि हम इनका पालन नहीं करेंगे तो उस दशा में हमारा और समाज का नैतिक विकास अवरुद्ध हो जाएगा, हम अपनी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता के वातावरण को और अनुकूल परिस्थितियों को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। हमारा हित और भलाई राज्य के कानूनों का पालन करने में है, अतः हम इनका पालन स्वेच्छापूर्वक करते हैं, न कि राज्य की दण्डशक्ति के भय से। अतः राज्य का आधार इच्छा है, न कि शक्ति। राज्य के सब व्यक्तियों के हितों को सुरक्षित रखने की हमारी इस इच्छा की और समान हितों को उन्नत करने की आकांक्षा और सामान्य चेतना से ही नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का, तथा इन्हें बनाए रखने वाले कानूनों का, सामाजिक संस्थाओं का तथा राज्य की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इसे स्पष्ट करते हुए ग्रीन ने लिखा है—"नैतिकता का तथा राज्य के अधीन रहने की व्यवस्था का मूल स्रोत एक ही है। यह कुछ मनुष्यों द्वारा बुद्धिपूर्वक इस बात को मान लेना है कि सबकी सामान्य भलाई में ही उनकी उन्नति निहित है।"[1] इस प्रकार ग्रीन यह मानता है कि प्रत्येक समाज और राज्य का आधार उसके नागरिकों द्वारा इस बात को मान लेना है कि सबकी भलाई और उन्नति की दृष्टि से राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है।

किन्तु राज्य में ऐसे अवांछनीय तत्त्वों की भी कमी नहीं होती, जो सबकी भलाई में अपनी भलाई नहीं समझते हैं, समाज के हित का ध्यान न रखते हुए वैयक्तिक हितों का अधिक ध्यान रखते हैं, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से दूसरों को तथा समाज को हानि पहुँचाने वाले काम करते हैं। इस दशा में राज्य को ऐसे समाज विरोधी तत्त्वों और कार्यों का दण्ड की शक्ति से दमन करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः अधिकांश मनुष्यों की प्रवृत्ति ऐसी होती है, इसका विरोध करने के लिए राज्य को पुलिस, न्यायालय, जेलखाना और सेना की शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। किन्तु ग्रीन इस शक्ति के प्रयोग को भी सामान्य इच्छा का ही दूसरा रूप समझता है। यह बात चोरी के उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। जब मनुष्य स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से दूसरे की सम्पत्ति चुराता है तो वस्तुतः वह अपनी नैतिक चेतना के तथा समाज की सामान्य इच्छा के प्रतिकूल कार्य करता है। उसकी अन्तरात्मा उसको इस चोरी के लिए धिक्कारती है, क्योंकि समाज में यदि चोरी की व्यवस्था सामान्य रूप से प्रचलित हो जाए तो किसी की सम्पत्ति सुरक्षित न रह सके। अतः समाज की सामान्य इच्छा चोरी करने का विरोध करने वाली भावना है, पुलिस और न्यायालय के रूप में समाज ने इस भावना या इच्छा को सुरक्षित करने

1. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन मॉडर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 280.

की व्यवस्था की है, इसमें चोर की वास्तविक इच्छा भी सम्मिलित है, भले ही कुछ समय के लिए वह वैयक्तिक लाभ से प्रेरित होकर स्वार्थपूर्ण इच्छा (Actual Will) से चोरी करे। अतः जब पुलिस चोर को पकड़ती है और न्यायालय उसे दण्ड देते हैं तो वे किसी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करते, अपितु चोर की अपनी यथार्थ नैतिक इच्छा का तथा समाज की इस सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं कि चोर को दण्ड दिया जाना चाहिए। इसलिए चोर को चोरी के लिए दिया जाने वाला दण्ड किसी शक्ति का नहीं, किन्तु उसकी इच्छा का परिणाम है। इस दण्ड से चोर को अपनी स्वार्थपूर्ण वासना की दासता से मुक्ति मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के जिन कार्यों में हमें शक्ति का प्रयोग दिखाई देता है, वह भी वस्तुतः उसकी सामान्य इच्छा से ही प्रादुर्भूत होते हैं। अतः राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं है।

राज्य की आधारभूत इस इच्छा के स्वरूप का ग्रीन ने कोई स्पष्ट प्रतिपादन या लक्षण नहीं किया है। उसके शब्दों में यह "समान स्वार्थों तथा सहानुभूति के बन्धन से बँधी हुई जनता की आशाओं तथा आशंकाओं के अतिसूक्ष्म समूह (Impalpable Congeries) हैं, अन्यत्र उसने इसे एक "सामान्य हित की सिद्धि के लिए सब लोगों में समान रूप से पाई जाने वाली चेतना या भावना (Common Consciousness of a Common Good), समान हितों को रखने की भावना या 'जनता द्वारा सामान्य हितों की प्राप्ति की आकांक्षा' कहा है।"[1] इसका स्वरूप अस्पष्ट होने पर भी ग्रीन इस बात पर स्पष्ट और निश्चित रूप से बल देता है कि यह इच्छा **राज्य की नहीं है, अपितु राज्य के हित के लिए है।** सभी व्यक्ति समूचे विश्व में ओतप्रोत शाश्वत चेतना का या दैवी सत्ता का अंश हैं, इनके वैयक्तिक विकास में और राज्य के सामान्य हित में कोई विरोध नहीं है, व्यक्ति की भलाई समाज और राज्य की भलाई के साथ सम्बद्ध है। अतः सामान्य इच्छा सदैव सब व्यक्तियों के लिए तथा राज्य के लिए हितकारी सिद्ध होने वाली इच्छा ही रखती है। इस स्थिति में राज्य की कोई ऐसी इच्छा नहीं हो सकती, जो व्यक्तियों के नैतिक विकास एवं आत्मोन्नति में बाधक हो। हेगल ने राज्य की विश्वात्मा के विकास का चरम रूप स्वीकार करते हुए उसकी इच्छा का पालन करने को ही स्वतन्त्रता माना था और इस प्रकार राज्य की निरंकुश सत्ता का और राज्य द्वारा व्यक्तियों पर भीषण अत्याचार करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था, किन्तु ग्रीन ने सामान्य इच्छा की उपर्युक्त धारणा से इस मार्ग को सर्वथा अवरुद्ध कर दिया है। यह ग्रीन और हेगल का एक महत्त्वपूर्ण भेद है।

(6) प्रभुसत्ता का विचार—ग्रीन की प्रभुसत्ता (Sovereignty) का विचार 'सामान्य इच्छा' से सम्बद्ध तथा अन्य राजनीतिक विचारकों से कुछ भिन्न है। ग्रीन से पहले इस विषय में दो परस्पर विरोधी विचार प्रचलित थे : पहला विचार रूसो का था, इसके अनुसार प्रभुसत्ता या राज्य के नियमों का बाधित रूप से पालन कराने वाली सर्वोच्च शक्ति 'सामान्य इच्छा' (General Will) में रहती है, किन्तु आस्टिन यह मानता था कि यह प्रभुसत्ता सदैव किसी ऐसे निश्चित सर्वोत्तम मानव-अधिकारी (determinate human superior) में निहित होती है, जिसके आदेशों का पालन

1. वार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड, पृ० 28.

समाज के अधिकांश भाग द्वारा स्वाभाविक रूप से किया जाता है और जो स्वयमेव किसी अन्य सत्ता के आदेशों का पालन नहीं करता है। ये दोनों दृष्टिकोण विरोधी प्रतीत होते हैं क्योंकि रूसो की 'सामान्य इच्छा' रखने वाला कोई निश्चित व्यक्ति या व्यक्तिसमूह नहीं हो सकता है, यतः यह जनता में निहित होती है। जनता अपने-आपमें अस्पष्ट और अनिश्चित सत्ता है।

किन्तु ग्रीन प्रभुसत्ता के उपर्युक्त दोनों विचारों को विरोधी न मानता हुआ इनमें समन्वय करने का तथा संगति बिठाने का प्रयत्न करता है। वह आस्टिन के प्रभुसत्ता के लक्षण को यहाँ तक तो सही मानता है कि कानूनों के निर्माण और पालन के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें बनाने वाला तथा पालन कराने वाला एक निश्चित मानव या मानवसमूह हो। ग्रेट ब्रिटेन में ऐसी सर्वोच्च प्रभुसत्ता पार्लियामैण्ट तथा राजा हैं, इंगलिश जनता सदैव स्वाभाविक रूप से उनकी आज्ञा का पालन करती है और ये किसी शक्ति के आदेशों का पालन नहीं करते हैं। किन्तु हम यदि इससे अधिक गहराई में जाएँ तो हमें ग्रीन के मतानुसार आस्टिन की प्रभुसत्ता की परिभाषा दोष-पूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि वह इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दे सकता कि प्रभुसत्ता के आदेशों का पालन स्वाभाविक रूप से क्यों किया जाता है। आस्टिन का तथा उसके अनुयायियों का यह विश्वास है कि प्रजा द्वारा सर्वोच्च सत्ता के आदेशों और कानूनों के पालन का कारण राजकीय शक्ति और दण्ड का भय है, इनसे प्रेरित होकर राज्य के कानूनों का पालन किया जाता है। किन्तु ग्रीन इससे असहमति रखता है, उसके मतानुसार प्रजा द्वारा राज्य के कानूनों के पालन करने का प्रधान कारण राजकीय शक्ति के दण्ड का भय नहीं, अपितु जनता का यह विश्वास है कि ये कानून उनके हित के लिए बनाए गए हैं, उसके मतानुसार सर्वोच्च प्रभुसत्ता समाज की सामान्य इच्छा मूर्त्त रूप धारण करती है और अपने को अभिव्यक्त करती है। आस्टिन के लक्षण की आलोचना करने के बाद ग्रीन ने इस विषय में लिखा है कि प्रजा द्वारा स्वाभाविक रूप से राज्य के कानूनों का पालन कराने वाली शक्ति एक-दूसरे के हित में अभिरुचि रखने वाले तथा सामान्य हितों के लिए मिलकर कार्य करने वाले मनुष्यों की सामान्य इच्छा और बुद्धि है।[1] **सार्वभौम बुद्धिपूर्ण इच्छा** (Universal Rational Will) मनुष्यों की प्रवृत्तियों पर गहरा प्रभाव डालने वाली शक्ति है, किन्तु कभी-कभी असाधारण दशाओं में मनुष्यों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए राजकीय दण्ड की शक्ति का भी प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार ग्रीन आंशिक रूप से आस्टिन से सहमत होता हुआ भी अन्त में रूसो की सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता मानने का सिद्धान्त स्वीकार करता है, आस्टिन तथा रूसो के प्रभुसत्ता के लक्षणों का समन्वय करते हुए यह कहता है कि प्रभुसत्ता का अन्तिम अधिष्ठान या निवास-स्थान तो सामान्य इच्छा है, किन्तु विभिन्न राज्यों में इसका वास्तविक उपभोग करने वाले कुछ निश्चित उच्च मानव अधिकारी हैं। यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रभुसत्ता का उपभोग करने वाले इन मानव अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत सामान्य इच्छा है, ये उसे मूर्त्त रूप देने वाले उसके सेवक मात्र हैं, जैसे चन्द्रमा स्वतः प्रकाशमान पिण्ड नहीं है, उसे

1. नैटलशिप द्वारा सम्पादित ग्रीन के ग्रन्थ, खण्ड 2, पृ॰ 430-31.

अपना प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है, इसी प्रकार निश्चित उच्च मानव अधिकारियों को अपनी सत्ता जनता की सामान्य इच्छा से प्राप्त होती है, यही इच्छा पृष्ठभूमि में रहते हुए उन्हें बल प्रदान करती है। जब इस सामान्य इच्छा का समर्थन निश्चित मानव अधिकारियों को नहीं प्राप्त होता तो इनकी प्रभुसत्ता नष्ट हो जाती है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

अत्यधिक निरंकुश एवं अत्याचारी शासन भी जनता की सामान्य इच्छा का समर्थन हट जाने पर कोरी पाशविक शक्ति के आधार पर नहीं टिके रह सकते हैं। फ्रांस और रूस इसके सुन्दर उदाहरण हैं। 1789 की राज्यक्रान्ति से पहले फ्रांस के अत्याचारपूर्ण शासन को कोई खतरा नहीं था, क्योंकि अन्यायपूर्ण होते हुए भी इसे अधिकांश जनता का मूक समर्थन प्राप्त था। किन्तु जब क्रान्ति की विचारधारा द्वारा जनता में इसके विरुद्ध तीव्र विरोध, रोष और असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई तो राजा का शासन जनता की सामान्य इच्छा के समर्थन से वंचित हो गया और उसकी प्रभुसत्ता का अन्त हो गया। 1917 की बोलशेविक क्रान्ति के बाद रूस में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई और वहाँ ज़ारशाही के निरंकुश शासन की समाप्ति हो गई। भारत में ब्रिटिश शासन के समय में ऐसी ही स्थिति थी, करोड़ों भारतीयों पर मुट्ठी-भर अंग्रेज शासन करते रहे, इसका प्रधान कारण उनकी सैनिक शक्ति नहीं, अपितु भारतीयों की ब्रिटिश शासन के प्रति अनुकूल भावना और सदिच्छा थी, मुगल साम्राज्य के विघटन से उत्पन्न अराजक दशा में अंग्रेजों ने शान्ति स्थापित की थी, अतः साधारण जनता इस शासन को पसन्द करती थी। राष्ट्रीय महासभा के आरम्भिक युग में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा गोपालकृष्ण गोखले जैसे नेता ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान समझते थे। इस दशा में यह कहा जा सकता है कि उस समय ब्रिटिश शासन को भारतीय जनता की सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त था, वह उस पर टिका हुआ था। किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल होने के साथ-साथ ब्रिटिश शासन को जनता द्वारा मिलने वाले समर्थन में कमी आने लगी, जितनी अधिक मात्रा में यह कमी आई, उसी मात्रा में भारत में ब्रिटिश शासन की नींव खोखली होने लगी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विशेषतः 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बाद सामान्य जनता में ब्रिटिश-विरोधी भावना पराकाष्ठा पर पहुँच गई, समझदार ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि उन्हें भारतीय जनता का नैतिक समर्थन अब प्राप्त नहीं है, राष्ट्रीय महासभा जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, अतः उन्होंने 1947 में भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की और भारत की प्रभुसत्ता भारतीयों को सौंप दी। ये सब उदाहरण ग्रीन के इन मन्तव्यों को पुष्ट करते हैं कि प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित होती है और राज्य का आधार शक्ति नहीं, किन्तु इच्छा है।

(7) **राज्य के कार्य**—राज्य का उद्देश्य मनुष्य को उसके पूर्ण नैतिक विकास में अथवा आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्राप्त करने (self-realization) में सहायता पहुँचाना है, अतः राज्य को वही कार्य करने चाहिएँ, जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। किन्तु आत्मा का नैतिक विकास वस्तुतः ऐसा कार्य है, जिसे बाह्य साधनों या शक्तियों से नहीं किया जा सकता। नैतिकता का अर्थ स्वयं अपनी प्रेरणा से निश्चित किए हुए कर्त्तव्यों का निःस्वार्थ एवं निष्काम बुद्धि से पालन करना है। उदाहरणार्थ,

आत्मा के नैतिक विकास के लिए प्रार्थना या उपासना आवश्यक है, यह किसी बाह्य शक्ति के दबाव से नहीं की जा सकती है। इसका महत्त्व इसी बात में है कि हम स्वयमेव अपने विकास के लिए इसे आवश्यक कर्त्तव्य समझें और निष्काम भाव से इसे करें। राज्य इस विषय में हमारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता है। राज्य केवल इसके बाहरी स्वरूप के पालन के लिए नियम बना सकता है, किन्तु वह आन्तरिक प्रेरणा देने में असमर्थ है। उदाहरणार्थ, राज्य इस बात के लिए नियम बना सकता है कि सब लोग रविवार को चर्च या मन्दिर में उपासना करने के लिए जाएँ, किन्तु वह चर्च में जाने वाले व्यक्तियों को इस बात के लिए बाधित नहीं कर सकता है कि वे वहाँ बैठकर अपना ध्यान भगवान् की उपासना में लगाएँ। यह सम्भव है कि प्रार्थना-मन्दिर में बैठकर भी मनुष्यों का मन सांसारिक विषयों का चिन्तन करता रहे। वहाँ वह केवल आध्यात्मिक विषयों का ही चिन्तन करे—यह उन व्यक्तियों की आन्तरिक प्रेरणा से ही सम्भव है। राज्य इस बात का कानून बना सकता है कि कोई व्यक्ति चोरी न करे, इससे यह मनुष्यों के चोरी-विषयक बाह्य कृत्यों को ही रोक सकता है, किन्तु मनुष्यों के मनों में चोरी का विचार उत्पन्न होने का नियन्त्रण नहीं कर सकता, यह तो मनुष्य द्वारा आत्मोत्थान के लिए स्वयमेव किए जाने वाले प्रयत्नों से हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य अपने कार्यों से प्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों को धार्मिक या नैतिक बना सकता है, क्योंकि सच्ची नैतिकता का विकास तभी हो सकता है, जब मनुष्य उसका पालन स्वेच्छापूर्वक आन्तरिक प्रेरणा से करे। यदि कोई राजदंड के भय से धार्मिक या नैतिक बनता है तो वह केवल ढोंग करता है। सच्ची नैतिकता दिखावे या आडम्बर की वस्तु नहीं है। यदि राज्य अपने दण्डविधान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता को बढ़ाने या फैलाने का प्रयत्न करेगा तो राज्य में बाह्य आडम्बर तथा पाखण्ड की ही वृद्धि होगी, सच्ची नैतिकता लुप्त हो जाएगी। अतः ग्रीन का यह मत है कि राज्य को प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएँ जो नैतिकता को बढ़ाने में सहायक हों, अपितु जीवन बिताने के लिए ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ, जिनमें नैतिकता का विकास सम्भव हो सके। राज्य को अपने कानून और नियम इस प्रकार के बनाने चाहिएँ कि व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाएँ दूर हो जाएँ। समाज में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्ति के विकास में बाधा डालती हैं, उदाहरणार्थ, अशिक्षा, निर्धनता, दूषित भूमि-व्यवस्था, मद्यपान की बुराई उसकी आत्मा के तथा नैतिकता के विकास को अवरुद्ध करती है। एक अशिक्षित, निर्धन, शराबी व्यक्ति उत्तम जीवन नहीं बिता सकता, अतः **राज्य का प्रधान कार्य उत्तम जीवन के मार्ग की इन बाधाओं का निवारण करना** है (To act as a Hindrance to Hindrances against good life)।

इस प्रकार ग्रीन के मतानुसार राज्य का प्रधान कार्य निषेधात्मक (Negative) है। बार्कर के शब्दों में, "यह कार्य उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है, जो मनुष्य द्वारा किए जाने योग्य कार्यों में बाधा डालते हैं। राज्य का यह भावात्मक या सकारात्मक (Positive) कार्य नहीं है कि वह अपने सदस्यों को नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा बनाए; उसका यह नकारात्मक नैतिक कार्य है कि वह मनुष्यों की उन

बाधाओं को दूर करे जो उन्हें अधिक अच्छा बनने से रोक रही हैं।"[1] ये बाधाएँ प्रधान रूप से निम्नलिखित हैं—

पहली बाधा अशिक्षा और अज्ञान की है। शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपना बौद्धिक और नैतिक विकास नहीं कर सकता है, वह भलाई और बुराई का तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक करने में असमर्थ रहता है। अतः राज्य का एक बड़ा कार्य इस बाधा को दूर करने के लिए विद्यालयों की स्थापना करना तथा प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाना है। **दूसरी** बाधा दरिद्रता की है। ग्रीन के मतानुसार इंगलैण्ड में इसका मूल कारण दूषित भूमि-व्यवस्था थी। अतः इस बाधा को दूर करने के लिए उसने जमींदारी प्रथा के राज्य द्वारा उन्मूलन किए जाने पर बहुत बल दिया। **तीसरी** बाधा मद्यपान की बुराई थी, उसने राज्य द्वारा मद्य विक्रय का निषेध किए जाने के लिए उग्र आन्दोलन किया। लोगों को इसकी बुराई से बचाने के लिए उसने ऑक्सफोर्ड में कॉफी पिलाने की एक दुकान भी खोली थी। **चौथी** बाधा लोगों के उत्तम स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का न होना था। उस समय इंगलैण्ड में महामारियों का बड़ा प्रकोप हो रहा था, नगरों की सफाई तथा प्रणाली व्यवस्था का सुचारु प्रबन्ध नहीं था, अतः बीमारियाँ बहुत होती थीं। ग्रीन उत्तम स्वास्थ्य को नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक मानता था। अतः उसने नैतिक विकास की इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य द्वारा बीमारी रोकने के लिए आवश्यक रूप से टीका लगाए जाने को तथा नगरों की सफाई की व्यवस्था पर बहुत बल दिया। **पाँचवीं** बाधा कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों—विशेषतः बच्चों और स्त्रियों की दयनीय दुर्दशा थी। इसे सुधारने के लिए वह राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक समझता था। उसका यह मत था कि कारखानों में स्त्रियों और बच्चों द्वारा काम करने की पद्धति को यदि पूर्णरूप से बन्द न कराया जा सके तो भी इसे बहुत बड़ी मात्रा में कम कर दिया जाना चाहिए। इस स्थिति को बनाए रखने के पक्ष में व्यक्तिवादियों द्वारा दिए जाने वाले 'अनुबन्ध की स्वतन्त्रता' (Freedom of Contract) के तर्क का वह उग्र विरोधी था। उसका कहना था कि केवल उसी अनुबन्ध को स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाने वाला माना जा सकता है, जो समाज के सामान्य हित की वृद्धि की दृष्टि से किया गया हो तथा जिनमें दोनों पक्षों की स्थिति समान हो। किन्तु यदि एक पक्ष दूसरे पक्ष की निर्बलता का लाभ उठाता है तो यह अनुबन्ध समाज में दुष्परिणाम उत्पन्न करता है ओर इसको पवित्र एवं मान्य समझे जाने का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य का प्रधान कार्य मनुष्य के नैतिक विकास तथा उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निवारण करना ही मानता है। ऊपरी दृष्टि से यह कार्य निषेधात्मक (Negative) प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः यह सकारात्मक या भावात्मक (Positive) है। बार्कर ने इसे दो कारणों

---

1. बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड, 1848-1949, द्वितीय संस्करण, ऑक्सफोर्ड, 1950, पृ० 36.

से ऐसा माना है।[1] पहला कारण तो यह है कि नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाए रखने के लिए तथा बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य को निश्चित रूप से (Positively) ऐसी बातें करनी पड़ती हैं, ऐसे विधि-विधान बनाने पड़ते हैं, जो इन बाधाओं को दूर करें या उपयुक्त परिस्थितियों को बनाएँ, जैसे अशिक्षा दूर करने के लिए विद्यालय स्थापित करना या अनिवार्य आरम्भिक शिक्षा का कानून बनाना। ये सब निश्चित तथा भावात्मक (Positive) व्यवस्थाएँ हैं। **दूसरा** कारण यह है कि बाधाएँ दूर करने का अन्तिम प्रयोजन सदैव भावात्मक अर्थात् नैतिक विकास को करना है। यह आगे वर्णित इसके दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाएगा।

ग्रीन के राज्य के कार्यविषयक उपर्युक्त सिद्धान्तों की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं: **पहली विशेषता** यह है कि उसने इससे व्यक्ति को विशेष महत्त्व और गरिमा प्रदान की है, उसने हेगल की भाँति राज्य को साधन नहीं माना, अपितु साध्य बना दिया है। राज्य का कार्य व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक होना तथा इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। ग्रीन का चरम लक्ष्य व्यक्ति और उसका विकास है, राज्य का नहीं। हेगल ने राज्य को अन्तिम लक्ष्य और साध्य माना था, ग्रीन ने व्यक्ति को। यह दोनों का एक महत्त्वपूर्ण भेद है। **दूसरी विशेषता** लोकहितकारी या जनकल्याणकारी राज्य (Welfare State) के विचार को जन्म देना था। यह इस समय सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि राज्य को जनता के, विशेषतः निर्धन जनता के कल्याण के लिए, उनकी बेकारी, बीमारी और बुढ़ापे में रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार की बीमा योजनाओं की तथा बुढ़ापे में पेन्शनों की व्यवस्था करनी चाहिए। ग्रीन ने सर्वप्रथम इस विचार को प्रबलता से रखा कि राज्य को जनता के कल्याण के लिए सभी प्रकार के आवश्यक कानून बनाने चाहिएँ।

ग्रीन के राज्यविषयक उपर्युक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण उसके व्यक्ति द्वारा राज्य के विरोध करने के, दण्ड देने के, राज्य तथा अन्य समुदायों के पारस्परिक सम्बन्ध के सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है। अतः अब इनका वर्णन किया जाएगा।

(8) राज्य का विरोध करने का अधिकार—ग्रीन के मत में राज्य का कार्य उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना तथा व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है, अतः जब तक राज्य ऐसा कार्य करता है, तब तक उसके आदेशों का विरोध करने का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि वह हमारे विकास के लिए ही कार्य कर रहा है। किन्तु यदि राज्य ऐसा न करे अथवा उत्तम जीवन को बिताने के मार्ग में बाधा डाले तो व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है? क्या वह राज्य का विरोध करने का अधिकार रखता है? ग्रीन से पूर्ववर्त्ती विचारक राज्य के विरुद्ध मनुष्य के कुछ स्वाभाविक या प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) मानते थे और मनुष्य को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करते थे। किन्तु ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसके अनुसार प्राकृतिक का अर्थ मनुष्य की आदिम एवं जंगली दशा नहीं है, अपितु इसका अर्थ है मनुष्य की प्रकृति में स्वाभाविक ढंग से रहने वाले

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 37.

अधिकार।[1] वह अधिकारों के विषय में यह मानता है कि ये अधिकार मनुष्य को इसलिए दिए गए हैं कि वह अपनी आत्मा का विकास तथा समाज के सामान्य हितों की उन्नति कर सके, अतः इस अवस्था में समाज या राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के किसी अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती है।

सामान्य रूप से कई कारणों से राज्य के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार को नहीं माना जाना चाहिए : **पहला** कारण तो यह है कि राज्य के नियम कई युगों से संचित अनुभवों, विवेक और बुद्धि के परिणाम होते हैं,[2] वे किसी एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से अधिक यथार्थ होते हैं, क्योंकि व्यक्ति के दृष्टिकोण में संकीर्णता के कारण भ्रान्ति होना सम्भव है, अतः इनका पालन होना चाहिए। **दूसरा** कारण यह है कि ये नियम समाज के सामान्य हित की दृष्टि से बनाए गए हैं, इनसे समाज में सुव्यवस्था और सुशासन बना रहता है, यदि इनमें से किसी नियम का विरोध किया जाएगा तो समाज में नियमों का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगेगी, यह अराजकता की स्थिति को उत्पन्न कर सकती है। यह स्थिति समाज के हित को हानि पहुँचाने वाली है, अतः मनुष्य को राज्य के कानूनों का विरोध नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी कानून से असहमत है तो भी उसे इसका पालन करना चाहिए। इस कानून का विरोध शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से ही करना चाहिए और जब तक इस कानून को समाप्त नहीं कर दिया जाए, तब तक इसका विधिपूर्वक पालन और अनुसरण होना चाहिए।

किन्तु सामान्य रूप से ग्रीन विद्रोह करने का अधिकार न देते हुए भी इसे केवल उस दशा में प्रदान करता है, जबकि ऐसा करना राज्य के हित की दृष्टि से वांछनीय हो[3] अर्थात् राज्य के वर्तमान कानूनों में आदर्श कानूनों की दृष्टि से कोई कमी हो और समाज के सामान्य हित की दृष्टि से इनका संशोधन आवश्यक हो। अतः कुछ विशेष दशाओं में ही व्यक्ति को राज्य के नियमों के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। ये दशाएँ निम्नलिखित हैं[4]—

पहली दशा राज्य के किसी नियम का सन्देहपूर्ण होना है। उदाहरणार्थ, सं० रा० अमरीका में संघ के तथा राज्यों के अधिकारों का प्रश्न बड़ा जटिल है, कई बार यह जटिलता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि दोनों के वास्तविक अधिकारों का निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसी सन्देहपूर्ण दशा में एक उत्तम नागरिक को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह अपने अन्तःकरण की इच्छा के अनुसार संघ के अथवा राज्य के नियमों का पालन करे। **दूसरी** दशा ऐसी स्थिति का उत्पन्न होना है कि जब किसी कानून को रद्द कराने अथवा परिवर्तित कराने का आन्दोलन चलाने के कोई साधन शेष न रह जाएं। इस दशा में राज्य के कानून का विरोध करना केवल अधिकार ही नहीं, अपितु एक आवश्यक कर्त्तव्य भी है। **तीसरी** दशा शासन की समूची पद्धति का निजी स्वार्थों के हावी होने के कारण इतना दूषित, भ्रष्टाचारपूर्ण तथा जनता के हितों का विरोधी बन जाना है कि इस दशा की अपेक्षा क्रान्ति द्वारा लाई

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 26.
2. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 182.
3. नैटलशिप—ग्रीन के ग्रन्थ, दूसरा खण्ड, पृ० 453.
4. प्रिंसिपल्ज ऑफ पोलिटिकल ऑब्लिगेशन, पृ० 101-12.

जाने वाली अल्पकालीन अराजकता अधिक वांछनीय प्रतीत होती है। इस दशा में राजकीय आदेशों की अवहेलना से उत्पन्न होने वाली अराजकता हर हालत में वर्तमान दशा से अधिक अच्छी है, अतः व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार है। **चौथी** दशा ऐसी स्थिति है, जिसमें राज्य में आदेश देने वाली सत्ता अधिकारों की व्यवस्था बनाए रखने की समूची पद्धति से इतनी पृथक् और भिन्न हो कि किसी विशेष कानून की अवहेलना करने से राज्य की शासन-व्यवस्था पर कोई बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं हो। **पाँचवीं** दशा राज्य द्वारा किए जाने योग्य कार्यों को न करने की स्थिति है। राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए सार्वजनिक शिक्षा का प्रबन्ध, मद्यपान का निषेध और दरिद्रता के निवारण के लिए आवश्यक कानून बनाने चाहिएँ, यदि राज्य ऐसा नहीं करता तो व्यक्ति को उसका विरोध करने का अधिकार है। **छठी** दशा राज्य द्वारा ऐसे अनुचित या अन्यायपूर्ण कानून बनाना या ऐसी आज्ञाएँ देना है, जो राज्य को नहीं देनी चाहिएँ। उदाहरणार्थ, यदि राज्य दासप्रथा का अन्याय-पूर्ण कानून बनाए तो नागरिकों को इसका विरोध करने का पूर्ण अधिकार है।

किन्तु राज्य का विरोध करते हुए व्यक्ति को सदैव कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए : **पहली** बात यह है कि विरोध सदैव राज्य एवं समाज के व्यापक, सार्वजनिक एवं सामान्य हित की दृष्टि से होना चाहिए। किसी भी कानून का विरोध करने से पहले नागरिक को यह बात अच्छी तरह निश्चित कर लेनी चाहिए कि उसके विरोध से राज्य एवं समाज का लाभ अधिक होगा और हानि कम होगी। राज्य के विरोध को केवल सामाजिक हित के कारणों के आधार पर ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है,[1] सामान्य हित (Common Good) के आदर्श के अधिक पूर्णता के साथ सफल होने की सम्भावना होने पर ही राज्य के आदेशों की अवहेलना समुचित है; व्यक्ति केवल इसी आधार पर राज्य का विरोध कर सकता है कि वर्तमान परिस्थितियों में उसका नैतिक विकास पूर्ण रूप से होना सम्भव नहीं है। **दूसरी** बात यह है कि राज्य का विरोध करने से पहले नागरिक को इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि राज्य के जिस आदेश को अन्यायपूर्ण समझते हुए वह उसका विरोध करना चाहता है, क्या अन्य व्यक्ति भी उसे ऐसा समझते हैं। यदि वे ऐसा नहीं समझते तो उसे पहले प्रचार द्वारा जनमत को अपने अनुकूल बनाना चाहिए और जनमत प्रबल होने पर ही अपना सक्रिय विरोध आरम्भ करना चाहिए। उदाहरणार्थ, 1920 तथा 1930 में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग (Non-cooperation) तथा सविनय अवज्ञाभंग (Civil disobedience) आन्दोलन आरम्भ करने से पहले महात्मा गांधी ने 'यंग इण्डिया' और 'नवजीवन' में अपने लेखों द्वारा तथा अपने भाषणों से इन आन्दोलनों के पक्ष में प्रबल लोकमत तैयार किया और इसके बाद ही ये आन्दोलन चलाए। इस प्रकार के प्रचार के दो बड़े लाभ हैं : **पहला** लाभ तो यह है कि यदि किसी व्यक्ति का प्रचार सफल होगा, उसे जनता का समर्थन मिलेगा तो वह यह जान जाएगा कि उसका आन्दोलन सामाजिक कल्याण और हित को बढ़ाने वाला है और सर्वथा समुचित है; यदि उसे जनता का समर्थन नहीं मिलता है तो उसकी यह भ्रान्ति दूर हो जाएगी कि

1. **वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 183.**

यह जन-कल्याण को बढ़ाने वाला है, उस दशा में वह अपना आन्दोलन करना छोड़ देगा और एक बड़ी गलती करने से बच जाएगा। प्रचार करने का **दूसरा** लाभ यह है कि इससे सब लोग आन्दोलन करने के उद्देश्य को, कारणों को तथा इसे चलाने की पद्धति को अच्छी तरह समझ जाते हैं, इससे आन्दोलन को उचित मार्ग पर चलाने में तथा पथ-भ्रष्ट होने से बचाने में बड़ी सहायता मिलती है। लोकमत को जागृत किए बिना चलाए गए आन्दोलनों के लक्ष्य-भ्रष्ट होकर निरर्थक हिंसा और अराजकता में परिणत होने की सम्भावना बनी रहती है। उदाहरणार्थ, गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन को अहिंसापूर्ण रीति से चलाने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु कुछ लोगों ने उनके आदेशों का पालन न करते हुए हिंसात्मक कार्यवाहियाँ आरम्भ कर दीं, गोरखपुर जिले में चौरा-चौरी की घटना इसी प्रकार की थी। इससे व्यथित होकर गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया। **तीसरी** बात यह है कि विरोध केवल सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाने वाली निश्चित बातों का ही होना चाहिए, और ऐसा विरोध करते हुए भी व्यक्ति को राज्य के अन्य सभी नियमों का पूरा पालन करना चाहिए। 1930 में गांधीजी ने जब सविनय अवज्ञाभंग आन्दोलन शुरू किया तो देशवासियों को ब्रिटिश सरकार के केवल एक कानून—नमक कर को ही तोड़ने का निर्देश दिया। इसके अतिरिक्त वे अन्य सभी कानूनों का पालन करने पर बल देते रहे, जेल में जाने पर वे स्वयमेव बन्दीगृह के सब नियमों का पूरा पालन करते थे, अपने अनुयायियों को भी ऐसा आदेश देते थे, 'तिकड़म' करके जेल में अवैध रूप से सिगरेट आदि मँगाना तथा जेल के अन्य नियम तोड़ना उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं था। इस विषय में वे ग्रीन के अनुयायी थे कि राज्य की गिनी-चुनी बातों का ही विरोध करना चाहिए तथा उसके लिए राज्य द्वारा दिया गया दण्ड सहर्ष भोग लेना चाहिए। यदि राज्य का सर्वांगीण अथवा व्यापक विरोध किया जाए तो इससे अराजकता फैलने की अवांछनीय स्थिति उत्पन्न होने की आशंका होती है। **सातवीं** बात यह है कि ग्रीन राज्य के विरोध को व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य नहीं समझता, अपितु इसे केवल कुछ दशाओं में ही समुचित मानता है। बार्कर ने लिखा है कि "जब विरोध के लिए आवश्यक प्रत्येक शर्त पूरी हो जाती है, तभी विरोध करना सम्भवतः न्यायोचित होता है, यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है।"[1] **आठवीं** और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति को कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राज्य के विरोध का अधिकार देना हेगल के सिद्धान्तों से एक महत्त्व-पूर्ण भेद रखता है। वेपर ने यह सत्य ही लिखा है कि "ग्रीन और हेगल के विचारों का भेद किसी अन्य बात में इतना अधिक स्पष्ट नहीं है, जितना इस बात में कि व्यक्ति राज्य का विरोध करने में न्यायोचित हो सकता है।"[2]

(9) **दण्डविषयक सिद्धान्त**—राज्य उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करने के लिए ही अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करता है। अपराधी अनेक समाज-विरोधी कार्य—हत्या, हिंसा, चोरी, डकैती आदि करके अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को हानि पहुँचाते हैं, अतः राज्य का कर्त्तव्य है कि वे इन्हें दण्ड देकर व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए, समाज की उन्नति में काँटा और

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ॰ 32.
2. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ॰ 182.

बाधा बनने वाले अपराधियों का दमन करे। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन करने के अधिकार (Right to Free Life) से है, राज्य तब तक अपने सब नागरिकों को स्वतन्त्र जीवन बिताने का अधिकार नहीं प्रदान कर सकता, जब तक कि वह इसमें बाधा डालने वाले अपराधियों को दण्डित न करे। अतः दण्ड देने का उद्देश्य "समाज के प्रत्येक सदस्य की नैतिक इच्छा को कार्य करने के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाना है"।

दण्ड देने के सम्बन्ध में ग्रीन के समय में तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित थे : पहला और सबसे पुराना **प्रतिशोध या बदला लेने का सिद्धान्त**(Retributive Theory) था। इसके अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी से किए गए अपराध का बदला लेना था। यदि कोई किसी व्यक्ति की आँख को हानि पहुँचाता है तो इसके बदले में उसकी आँख निकाल लेनी चाहिए, यदि वह दाँत तोड़ता है तो उसके भी दाँत तोड़ने चाहिएँ। 'आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत' का बर्बरतापूर्ण सिद्धान्त सभी जंगली जातियों में प्रचलित रहा है। **दूसरा निवारक सिद्धान्त** (Deterrent Theory) है। इसका यह अभिप्राय है कि अपराधी को दण्ड इस उद्देश्य से और इस प्रकार का देना चाहिए कि अपराधी की दुर्दशा से भयभीत होकर अन्य व्यक्ति भविष्य में ऐसे अपराध न करें। बलबन ने बंगाल में विद्रोहियों का दमन करने के बाद इनकी लाशें चौराहों पर तथा रास्तों के पेड़ों पर लटका दी थीं ताकि इससे भावी विद्रोहियों को शिक्षा मिले, 1857 के सैनिक विद्रोह में अंग्रेजों ने भी ऐसा किया था। **तीसरा सुधार का सिद्धान्त** (Reformatory Theory) है। इसके अनुसार दण्ड देने का प्रयोजन अपराधी का सुधार करना होता है, दण्डित होने पर अपराधी को पश्चात्ताप होता है और वह भविष्य में अपराध न करने का निश्चय करता है।

किन्तु ग्रीन दण्ड देने के इन तीनों सिद्धान्तों में गम्भीर दोष देखता है। उसके मतानुसार पहला सिद्धान्त इतना बर्बरतापूर्ण है कि वह जंगली और असभ्य जातियों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। राज्य केवल बदला लेने के हीन उद्देश्य से प्रेरित होकर अपराधियों को दण्ड नहीं देता। दूसरा निवारक सिद्धान्त भी उसे इसलिए मान्य नहीं है कि इसमें अपराधी व्यक्ति को, अन्य व्यक्तियों को अपराध करने से बचने के लिए, चेतावनी देने के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, जबकि प्रत्येक मनुष्य को साध्य समझा जाना चाहिए। बार्कर के कथनानुसार इस सिद्धान्त का एक बड़ा दोष यह है कि इससे अपराधी अपने को स्वयमेव सुधारने के तथा अपनी बुरी इच्छा को ठीक बनाने के मौलिक कर्त्तव्य का पालन करने के अवसर से वंचित हो जाएगा।[1] वह तीसरे सुधार के सिद्धान्त को भी ठीक नहीं मानता है, क्योंकि अपराधी का सुधार दण्ड से नहीं, किन्तु अपनी आन्तरिक प्रेरणा से हो सकता है। यदि दण्ड का उद्देश्य सुधार करना ही माने तो यह दण्ड नैतिक अपराध की मात्रा के अनुकूल होना चाहिए। किन्तु हम इसका निर्धारण तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हमें मन की तथा इच्छा की आन्तरिक गहराइयों का तथा उद्देश्यों का ज्ञान न हो। यह केवल अन्तर्यामी भगवान् के लिए ही सम्भव है, सामान्य न्यायाधीश तो केवल बाह्य परिस्थितियों को

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 38.

ही देख सकते हैं।

इस प्रकार तीनों सिद्धान्तों का खण्डन करने के बाद ग्रीन अपना यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि इसका उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्र वातावरण और उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाना तथा इनमें आने वाली बाधाओं को दूर करना है। अपराधी समाज में विक्षोभ डालने वाली तथा इसे हानि पहुँचाने वाली शक्ति है, राज्य इसका विरोध करने के लिए दण्ड देने की शक्ति का प्रयोग करता है और इस प्रकार समाज-विरोधी शक्ति का प्रतिकार अथवा निवारण करता है। प्रत्येक अपराध—हिंसा, हत्या, चोरी, डकैती—राज्य द्वारा सुरक्षित किए जाने वाले स्वतन्त्र जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों पर किया जाने वाला भीषण आक्रमण है, इससे समाज की प्रतिष्ठित व्यवस्थाओं और अधिकारों पर कुठाराघात होता है। इसे रोकने के लिए राज्य दण्ड की शक्ति का प्रयोग करता है। अतः दण्ड का उद्देश्य समाज-विरोधी शक्तियों का विध्वंस, उत्तम जीवन की बाधाओं का निवारण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना है।

राज्य के अन्य कार्यों की भाँति, दण्ड देने का एक स्पष्ट नैतिक प्रयोजन भी है। इसे दो प्रकार से नैतिक कहा जा सकता है—(1) यह इस अर्थ में नैतिक है कि इसका अन्तिम उद्देश्य और चरम लक्ष्य ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है कि जिनमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों को स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकता है। (2) यह इस अर्थ में भी नैतिक है कि यह अपराधी का नैतिक सुधार करता है। वैसे तो यह सुधार अपराधी की आन्तरिक प्रेरणा से ही सम्पन्न होता है, किन्तु राज्य दण्ड देकर अपराधी को ऐसा आघात पहुँचाता है कि इससे उसकी प्रसुप्त नैतिक चेतना जागृत हो जाती है और वह अपने सुधार के पथ पर अग्रसर होने लगती है। इस प्रकार राज्य द्वारा दण्ड की व्यवस्था समाज में दो प्रकार के परिणाम उत्पन्न करती है: पहला प्रत्यक्ष परिणाम यह है कि इससे समाज-विरोधी कार्य करने वाले तत्त्वों की शक्ति का राज्य की शक्ति द्वारा उन्मूलन किया जाता है तथा व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाकर उसके नैतिक विकास के लिए समुचित परिस्थितियों का निर्माण किया जाता है। इस दण्ड-व्यवस्था का दूसरा परोक्ष परिणाम अपराधी को आघात पहुँचाकर उसकी अपनी ही प्रेरणा से उसकी बुरी इच्छा का सुधार करना है।[1]

(10) **राज्य का अन्य समुदायों से सम्बन्ध**—इस विषय में ग्रीन अरस्तू के इस कथन से सहमत है कि राज्य व्यक्तियों का ही समुदाय नहीं है, अपितु समुदायों का समुदाय (An association of associations) भी है। इसका यह अर्थ है कि राज्य में परिवार, धार्मिक संगठन, व्यापारिक संघ, आर्थिक संगठन आदि बीसियों प्रकार के छोटे-छोटे समुदाय होते हैं। व्यक्ति राज्य का नागरिक होते हुए इन समुदायों का भी सदस्य होता है, जैसे एक भारतीय भारत का नागरिक होने के साथ-साथ अपने परिवार का, अपने धार्मिक और सामाजिक संगठन का भी सदस्य होता है। ये समुदाय यद्यपि एक राज्य में पाए जाते हैं, किन्तु इनका निर्माण राज्य द्वारा नहीं होता है। ये स्वतन्त्र रूप से बनते हैं और इनमें सदस्यों के कुछ अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। उदाहरणार्थ,

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 38-39.

परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्रियों के कुछ अधिकार तथा एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य हैं। इसी प्रकार अन्य सभी समुदायों के सदस्यों के अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। जैसे राज्य अपनी राजनीतिक अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था को सुरक्षित बनाता है, उसी प्रकार वह इन समुदायों द्वारा बनाए गए कर्त्तव्यों और अधिकारों का संरक्षक हैं। राज्य का कार्य विभिन्न समुदायों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करना, इनके अधिकारों की रक्षा करना तथा इनमें संघर्ष न उत्पन्न होने देना है। राज्य इनके कार्यों तथा अधिकारों को स्वयं अपने हाथ में नहीं ले सकता है। उदाहरणार्थ, परिवार का कार्य बच्चों का पालन-पोषण करना है, राज्य माता की ममता और पिता के प्रेम को नहीं ला सकता है। बोल्शेविक क्रान्ति के आरम्भिक दिनों में रूस में परिवार का स्थान राज्य ने अपनी शिशुशालाओं, बालोद्यानों आदि से लेने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्त में उसे परिवार के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ा तथा अधिक सन्तानें उत्पन्न करने वाली माताओं को उच्चतम सम्मान और सुविधाएँ देनी पड़ीं। अतः राज्य इन समुदायों का स्थान नहीं ले सकता है, वह केवल इनके अधिकारों दो प्रकार से सामंजस्य स्थापित कर सकता है : पहला प्रकार तो परिवार आदि के भीतर इसके सदस्यों के अधिकारों की व्यवस्था करना तथा दूसरा बाह्य प्रकार से सामंजस्य स्थापित करना अर्थात् परिवार का अन्य धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक संगठनों से समन्वय स्थापित करना है। इस प्रकार राज्य विभिन्न समुदायों के आन्तरिक और बाह्य अधिकारों और सम्बन्धों का सर्वोच्च संरक्षक और नियन्ता बन जाता है।

राज्य द्वारा इस सामंजस्य को स्थापित करने से बार्कर के कथनानुसार दो परिणाम उत्पन्न होते हैं : पहला परिणाम तो यह है कि परिवार आदि समुदायों के भीतर सदस्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्धारण, संरक्षण और सामंजस्य राज्य द्वारा किया जाता है, अतः ये अधिकार राज्य द्वारा बनाए गए समझे जाते हैं। दूसरा परिणाम यह होता है कि विभिन्न समुदायों में सामंजस्य स्थापित करने से राज्य को इन सब पर सर्वोपरि एवं सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हो जाती है। किन्तु राज्य इस सत्ता का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं कर सकता है। उसे इसका प्रयोग 'विश्व-भ्रातृत्व' (Universal Brotherhood) की भावना से करना पड़ता है। यह ग्रीन का एक विशेष विचार है और इसने उसके युद्ध-विषयक विचारों पर बड़ा प्रभाव डाला है, अतः अब इसका विवेचन किया जाएगा।

(11) विश्व-भ्रातृत्व तथा युद्ध—ग्रीन विश्व-भ्रातृत्व के विचार की पुष्टि प्रत्येक मनुष्य के जीने के अधिकार (Right to live) के आधार पर करता है। उसका यह कहना है कि प्राचीन काल में सभी समाजों ने यह अधिकार अपने समाज के सदस्यों तक ही सीमित रखा था, किन्तु उससे भिन्न अन्य समाजों के व्यक्तियों को यह अधिकार नहीं प्रदान किया था। उदाहरणार्थ, यहूदी या यूनानी समाज ने यह नियम बनाया था कि उनके समाज में एक यहूदी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे यहूदी को मारे, किन्तु किसी गैर-यहूदी को मारने में कोई दोष नहीं है। उस समय विजातीय या विदेशी का वध करना अपराध नहीं माना जाता था। शनैः-शनैः रोमन कानून के तथा ईसाइयत के प्रभाव से यह समझा जाने लगा कि सभी मनुष्यों को मनुष्य

होने के नाते जीने का अधिकार है, विदेशी का वध भी अपनी जाति या देश के व्यक्ति की हत्या के समान ही जघन्य अपराध है। इस प्रकार सभी देशों में मनुष्य के जीवन के अधिकार को पवित्र एवं अनुल्लंघनीय समझा गया, इसका अतिक्रमण करने वाला अपराधी माना जाने लगा। जब इस अधिकार को हम विश्वव्यापी विचार के रूप में स्वीकार करते हैं तो हमें स्वाभाविक रूप से एक विश्वव्यापी या सार्वभौम समाज (Universal Society) की कल्पना करनी पड़ती है, इसमें सब व्यक्ति मनुष्य होने के नाते एक-दूसरे के भाई या बन्धु हैं। यही विश्व-भ्रातृत्व (Universal Brotherhood) की भावना है।

ग्रीन का मत है कि युद्ध किसी भी प्रकार पूर्ण रूप से न्यायोचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह व्यक्ति को जीवन के अधिकार से वंचित करता है। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में युद्ध न्यायोचित भी हो सकता है। जब मनुष्यों के मानसिक और नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों को बनाए रखने के लिए, विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए युद्ध करना आवश्यक प्रतीत हो तो इसे करने में दोष नहीं है। यद्यपि यह अनुचित कार्य है, किन्तु शत्रु के आक्रमण रूपी इससे बड़े अनुचित कार्य का प्रतिकार करने के लिए इसका अवलम्बन करने में कोई दोष नहीं है। युद्ध राज्यों की अपूर्णता का सूचक है। राज्य ज्यों-ज्यों पूर्णता की ओर अग्रसर होते जाएँगे, त्यों-त्यों युद्धों का तथा युद्ध करने की प्रवृत्ति का अन्त हो जाएगा। काण्ट की भाँति ग्रीन भी यूरोप में उस समय राज्यों द्वारा किए जाने वाले युद्धों से व्यथित था और इससे अच्छी पद्धति का विकास करने के लिए उत्सुक था। उसकी दृष्टि में यद्यपि अभी तक मानव-जाति "विभिन्न राज्यों की सहमति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्वप्न को साकार रूप नहीं दे सकी थी, किन्तु यह उस आदर्श की ओर अग्रसर हो रही थी।"

हेगल आदि जर्मन आदर्शवादी विचारकों ने जिन युक्तियों के आधार पर युद्ध का समर्थन किया था, ग्रीन उनका प्रबल खण्डन करता है। युद्ध के समर्थकों की पहली युक्ति यह थी कि इससे देश-भक्ति की भावना का विकास होता है। ग्रीन का यह कहना है कि इसके विकास के लिए युद्ध के अनैतिक उपाय को ही क्यों ग्रहण किया जाए, जबकि हम देश की सेवा और उन्नति के लिए अपने देशवासियों को प्राकृतिक साधनों पर विजय पाने की शिक्षा दे सकते हैं। देश-भक्ति के विकास के अनेक शान्तिपूर्ण उपाय भी हो सकते हैं, इनका पूरा प्रयोग करने से हम इस भावना को उद्बुद्ध कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध जिस प्रकार की देश-भक्ति और राष्ट्रीयता को उत्पन्न करता है, वह शत्रु-देश के प्रति विद्वेष, घृणा और ईर्ष्या पर आधारित होने से अवांछनीय है, इसका अर्थ शत्रुओं का विध्वंस और विनाश है। ऐसी देश-भक्ति किसी भी प्रकार से लाभदायक नहीं है।

दूसरी युक्ति यह थी कि युद्ध से आत्मबलिदान, देशहित के लिए क्षुद्र हितों के परित्याग, सेवा और स्वार्थ-त्याग की उदात्त भावनाओं का विकास होता है। ग्रीन इस युक्ति का उत्तर देते हुए कहता है कि इस प्रकार का तर्क करने वाले "इतने संकीर्ण दृष्टि वाले तथा स्वार्थी प्रतीत होते हैं कि उनमें इस बात की क्षमता नहीं है कि वे अपने

चारों ओर समाज में निःस्वार्थ बुद्धि से किए जाने वाले कार्यों को देख सकें।" ग्रीन के मतानुसार यह युक्ति ठीक नहीं है कि युद्ध हमें निःस्वार्थ वृत्ति से कार्य करने की शिक्षा देता है, वस्तुतः युद्ध में अधिकांश व्यक्ति स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से भाग लेते हैं और इसे चाहते हैं। शस्त्रास्त्रों के व्यापारी अपने हथियारों की बिक्री के लिए राज्यों को युद्ध करने के लिए उकसाते हैं। **तीसरी** युक्ति युद्ध द्वारा शूरवीरता आदि के गुणों का विकास है। ग्रीन का कहना है कि इनका विकास शान्तिपूर्ण कार्यों से भी हो सकता है। युद्ध का समर्थन करने की **चौथी** युक्ति यह है कि इससे अनेक उपयोगी कार्य और हितकर व्यवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। जूलियस सीजर ने इंगलैण्ड पर चढ़ाई की, इसके परिणामस्वरूप वह रोमन साम्राज्य का अंग बना और उसने रोम से सभ्यता और कानून का पाठ पढ़ा। नैपोलियन ने अपने युद्धों द्वारा यूरोप में फ्रेंच राज्यक्रान्ति की उदात्त भावनाओं का प्रसार किया। भारत में प्लासी के युद्ध से ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ी, इससे भारत को कई सदियों की अराजकता के बाद स्थायी शान्ति प्राप्त हुई। ग्रीन का यह कहना है कि ये परिवर्तन शान्तिपूर्ण उपायों से भी हो सकते थे। युद्ध से विनाश और विध्वंस की ताण्डवलीला के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं होता है। अतः युद्ध हर हालत में अवांछनीय और अनुचित है। **वेपर** के मतानुसार ग्रीन के युद्ध-विषयक विचार उसे "हेगल से पृथक् करने वाली सबसे चौड़ी खाई है।"[1]

(12) **सम्पत्ति-विषयक विचार**—इस विषय में ग्रीन न तो उग्र समाजवादी था और न ही घोर व्यक्तिवादी। वह निजी सम्पत्ति के सभी रूपों का न तो उग्र समर्थक था और न कट्टर विरोधी। वह निजी सम्पत्ति रखने का इस आधार पर समर्थन करता है कि यह व्यक्ति की योग्यताओं और गुणों का विकास करने का साधन है। इसे वह जीने के अधिकार से स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाला अधिकार समझता था। यदि मनुष्यों को अपना नैतिक विकास करने के लिए जीने का अधिकार है तो उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन रखने का भी अधिकार होना चाहिए। इस दृष्टि से सम्पत्ति का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह अपनी आत्मा के विकास तथा समाज के सामान्य हित की वृद्धि के लिए आवश्यक साधनों का समूह है। अरस्तू ने इसीलिए सम्पत्ति को समाज के सर्वोत्तम जीवन में सहायक बनने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक और उपयोगी उपकरणों का समूह माना था। ग्रीन इसे ऐसी "इच्छा की पूर्ति का साधन मानता है, जो इच्छा सम्भवतः सामाजिक उद्देश्य से संचालित होती है।" ग्रीन के इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति का प्रयोजन सामाजिक कल्याण है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि इसका सदैव इसी रूप में प्रयोग होता ही हो। यह केवल उसके आदर्श को ही सूचित करता है कि सम्पत्ति का प्रयोग सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से किया जाने की सम्भावना स्वीकार करनी चाहिए।

ग्रीन तथा अन्य समाजवादियों में सम्पत्ति के विषय में दो बड़े भेद हैं: **पहला** भेद सम्पति की विषमता के सम्बन्ध में है। सभी समाजवादी इस विषय में एकमत हैं कि अमीर-गरीब के भेद का तथा साम्पत्तिक वैषम्य का उन्मूलन होना चाहिए। किन्तु ग्रीन इसका समर्थन इस आधार पर करता है कि सामाजिक हित एवं कल्याण की

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 188.

दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस समाज में विभिन्न व्यक्ति, विभिन्न स्थितियों में रहते हुए अपना कार्य करें और उनकी सम्पत्ति में विषमता बनी रहे। इस प्रकार समाज में सम्पत्ति का भेद बना रहना आवश्यक है और यह समाज के लिए श्रेयस्कर है।[1] दूसरा बड़ा भेद व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Capital) के सम्बन्ध में है। समाजवादी इसे सारे अनर्थों की जड़ समझते हुए इसके उन्मूलन पर बल देते हैं। ग्रीन इसका प्रबल समर्थक था। उसका यह कहना था कि पूंजी का प्रयोग सदैव सामाजिक कल्याण के लिए होता है, इसे लगाकर कल-कारखाने खोलने से हजारों आदमियों को काम तथा वेतन मिलता है, पूंजी का स्वभाव वितरण का और विभक्त होने का है। एक व्यक्ति के पास अधिक पूंजी होने से दूसरे के मार्ग में बाधा नहीं पड़ती, वह गरीब नहीं होता, क्योंकि पूंजी का विस्तार अनन्त एवं अपरिमित मात्रा में हो सकता है, इसकी मात्रा सीमित नहीं है। मजदूर भी परिश्रम और अध्यवसाय से पूंजीपति बन सकते हैं। समाजवादी विचारक दरिद्र एवं सर्वहारा वर्ग (Proletariat) की निर्धनता का मूल कारण पूंजीवाद को समझते थे, किन्तु ग्रीन इसका वास्तविक कारण दूषित भूमि-व्यवस्था को समझता था। भूमि प्रकृति की देन है, इसे उसने परिमित मात्रा में प्रदान किया है, किन्तु कुछ जमींदारों ने उसके बड़े भाग पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया है, इस कारण अधिकांश व्यक्ति उससे वंचित हो गए हैं। भूमि का इसलिए भी विशेष महत्त्व है कि उसी से अन्न पैदा होता है, उसी पर मकान और कल-कारखाने बनते हैं, उसके बड़े भाग पर जमींदारों का अधिकार स्थापित होने से ही सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति हुई है, अतः इस प्रथा का तत्काल उन्मूलन होना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही, वह राज्य द्वारा 'अनुपार्जित वृद्धि' (unearned increment) पर राज्य के अधिकार को इस कारण अनुचित समझता था कि इससे व्यक्तियों द्वारा पुरुषार्थ करने की उस प्रवृत्ति और क्रियाशीलता में कमी हो जाएगी, जो भूमि में सुधार करके समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा कर रही है।

ग्रीन और हेगल की तुलना—ग्रीन का एक बड़ा कार्य जर्मनी में काण्ट और हेगल द्वारा प्रतिपादित आदर्शवाद को ब्रिटिश जनता के लिए स्वीकरणीय रूप में उपस्थित करना था। अतः ग्रीन की हेगल और काण्ट से तुलना करना बड़ा मनोरंजक और बोधप्रद है। यहाँ पहले दोनों में समानताओं और सादृश्यों का प्रतिपादन करने के बाद मतभेदों का विवेचन किया जाएगा। दोनों में पहली समानता यह है कि दोनों अध्यात्मवादी और अद्वैतवादी हैं, इस विश्व का संचालन और निर्माण करने वाली एक दैवी चेतन सत्ता में विश्वास रखते हैं। ग्रीन हेगल की भाँति यह मानता था कि यह दिव्य भावना (Divine Spirit) निरन्तर अपनी पूर्णता की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है। वे इस दिव्य सत्ता के अपने लक्ष्य तक पहुँचने को पूरी वास्तविकता (Reality) मानते थे। सामान्य मनुष्य जिसे आदर्श, कल्पना या विचार की वस्तु (Ideal) समझते हैं, वे उसे वास्तविक मानते थे। ग्रीन हेगल की भाँति यह मानता था कि पूर्णता की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाली दैवी विश्वात्मा समाज के विभिन्न समुदायों, संस्थाओं और संगठनों में अवतार या रूप धारण करती

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 43.

है और उसका प्रत्येक अगला रूप पहले रूप से अधिक उत्कृष्ट एवं पूर्ण होता है। उदाहरणार्थ, परिवार की संस्था में विश्वात्मा पहले अवतरित हुई और राज्य के रूप में उसका अवतरण बाद में हुआ। अतः राज्य की संस्था परिवार से श्रेष्ठ है। ग्रीन हेगल की भाँति इस बात में भी विश्वास रखता था कि विश्वात्मा महापुरुषों के माध्यम से संसार की भलाई के लिए कार्य करती है। जूलियस सीज़र ने भले ही कीर्ति एवं शक्ति प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश द्वीपसमूह को जीता, किन्तु विश्वात्मा ने उसे इन टापुओं की जनता को सभ्यता का पाठ पढ़ाने का माध्यम बनाया। **दूसरी** समानता राज्य की महत्ता के सम्बन्ध में है। दोनों इसे दैवी विश्वात्मा के विकास का नवीनतम तथा उत्कृष्टतम रूप मानते थे। ग्रीन का यह मन्तव्य था कि मनुष्य अपना पूर्णतम विकास राज्य में ही कर सकता है, इसके बिना वह मनुष्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं है। हेगल की भाँति ग्रीन राज्य की महिमा और शक्ति में पूर्ण आस्था रखता था, उसका यह कहना था कि राज्य व्यक्ति के सभी वास्तविक अधिकारों का आदिस्रोत है। **तीसरी** समानता राज्य तथा अन्य समुदायों और संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में है। ग्रीन हेगल की भाँति राज्य को 'समुदायों का समुदाय' (Community of Communities) तथा राज्य को इन सबमें सर्वोपरि एवं सर्वोच्च समझता था। **चौथी** समानता स्वतन्त्रताविषयक विचार हैं। दोनों मनुष्यों को उसी दशा में स्वतन्त्र समझते हैं, जबकि वह दैवी सत्ता के आदेशों का पूर्ण रूप से पालन कर रहा होता है। स्वतन्त्र होने का यह अर्थ नहीं है कि वह अपनी इच्छानुसार मनमाने कार्य करे, इस दशा में तो वह अपनी इन्द्रियों का, वासनाओं का और आसुरी भावनाओं का दास होकर कार्य करता है; वह इन दुर्वासनाओं के पाश से तभी मुक्त होता है, जब अपने में निवास करने वाले दैवी अंश के आदेशों के अनुसार कार्य करे, इसी में उसकी अपनी तथा समाज की सच्ची भलाई निहित है। ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ "सामाजिक कल्याण के लिए मनुष्य की सभी शक्तियों को पूर्ण रूप से उन्मुक्त करके प्रयोग में लाना है।" मनुष्य सामाजिक हित के ये कार्य इसलिए करता है कि उसमें दैवी सत्ता के अंश विद्यमान हैं। **पाँचवीं** समानता समाज के महत्त्व के बारे में है। दोनों इसे असाधारण गरिमा प्रदान करते हैं। उनका यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज के विशिष्ट वातावरण की परिस्थितियों में विकसित होता है, यह समाज अपने व्यक्तियों के लिए नैतिकता के मानदण्ड निर्धारित करता है। इसी कारण सब समाजों की नैतिकता में भेद होता है। ग्रीन के मतानुसार समाज इस बात को निश्चित करता है कि व्यक्ति को कौनसे कार्य करने चाहिएँ तथा कौनसे नहीं करने चाहिएँ। व्यक्ति को उस समय तक अपने अन्त.करण की इच्छानुसार कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता है, जब तक वह समाज की नैतिक चेतना के अनुसार कार्य कर रहा है। इसीलिए ग्रीन यह मानता है कि प्रत्येक देश का अपना राष्ट्रीय चरित्र, संस्थाएँ और परम्पराएँ होती हैं, इनकी उपेक्षा करने वाला कोई भी सुधार-कार्य कभी सफल नहीं हो सकता है। यद्यपि ग्रीन हेगल के साथ उपर्युक्त समानताएँ रखता है, तथापि उसका कई बातों में हेगल के साथ घोर मतभेद भी है। अब इनका वर्णन किया जाएगा।

हेगल से ग्रीन का **पहला** और सबसे महत्त्वपूर्ण भेद ब्रिटिश दार्शनिक द्वारा

व्यक्तिवाद (Individualism) का प्रचण्ड समर्थन है। हेगल ने राज्य को साध्य एवं सभी कुछ माना था, व्यक्ति को राज्य की उन्नति का साधन माना था, उसने व्यक्ति के हितों एवं अधिकारों को राज्य के लिए बलिदान कर दिया था। किन्तु ग्रीन ने व्यक्तिवादी ब्रिटिश परम्परा का पालन करते हुए राज्य को साध्य नहीं, किन्तु व्यक्ति के पूर्ण नैतिक विकास का साधन माना। ग्रीन यद्यपि राज्य को हेगल की भाँति दैवी सत्ता की साकार प्रतिमा मानता था, फिर भी उसने इस बात को कभी विस्मृत नहीं किया कि उसकी सत्ता व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिए ही है; व्यक्ति राज्य के लिए नहीं, किन्तु राज्य व्यक्ति के लिए है। काण्ट की भाँति उसका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट महत्ता और गरिमा होती है, किसी भी अन्य प्रयोजन के लिए उसका शोषण नहीं होना चाहिए। सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए बार्कर ने लिखा है कि ग्रीन हेगल की अपेक्षा काण्ट के सिद्धान्तों का अधिक अनुयायी (More Kantian than Hegelian) प्रतीत होता है।[1] ग्रीन ने व्यक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा था कि "राष्ट्र का निर्माण करने वाले व्यक्तियों से पृथक् रूप में राष्ट्रीय जीवन की कोई सत्ता नहीं होती है।" "किसी भी राष्ट्र की या समाज की प्रगति, सुधार या विकास का अर्थ इनका निर्माण करने वाले मनुष्यों के गुणों में वृद्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता है।" व्यक्ति के विकास को महत्त्व देने के कारण ही उसने राज्य के कार्यों का निषेधात्मक (Negative) रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि राज्य का कार्य मनुष्य को नैतिक बनाना नहीं है, क्योंकि नैतिकता "स्वयमेव अपने निश्चित किए गए कर्त्तव्यों का निःस्वार्थ बुद्धि से पालन करना" (the disinterested performance of self-imposed duties) है। यह सर्वथा आन्तरिक कार्य है और राज्य इसे नहीं कर सकता। उसका कार्य केवल उत्तम जीवन के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। ग्रीन हमें बताता है कि अन्ततोगत्वा व्यक्ति राज्य से महत्त्वपूर्ण है, राज्य का उद्देश्य उसके नैतिक विकास की बाह्य परिस्थितियों को उत्पन्न करना है, इसके लिए आवश्यक आन्तरिक परिस्थितियों को तो मनुष्य स्वयमेव अपनी भीतरी प्रेरणा से उत्पन्न करता है। ग्रीन इस बात पर सर्वदा आग्रह करता है कि राज्य आदि विभिन्न संस्थाएँ मनुष्य का विकास करने का साधन मात्र है, अपने-आपमें स्वयं साध्य नहीं हैं। यह साध्य तो व्यक्ति ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य को भले ही कितना महत्त्व दे, उसका रहस्यपूर्ण और प्रभावशाली शब्दों में वर्णन करे, वस्तुतः वह व्यक्ति को और उसके नैतिक विकास को ही सबसे अधिक महत्त्व देता है और इस दृष्टि से वह कट्टर व्यक्तिवादी है।

दूसरा भेद राज्य की इच्छा का है। हेगल इसे सर्वथा निरंकुश समझता है, किन्तु ग्रीन इसे सामान्य इच्छा पर आधारित मानता है। पहले इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह बताया जा चुका है कि यह समाज का हित चाहने वाले सब नागरिकों की इच्छाओं का समूह होता है। राज्य का आधार शक्ति नहीं, किन्तु इच्छा है, मनुष्य राज्य के आदेशों का पालन उसकी दण्ड-शक्ति के भय से नहीं, अपितु इस कारण करते हैं कि राज्य उनकी इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है। **तीसरा भेद** स्वतन्त्रता-विषयक

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 47.

है। हेगल के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ स्वयमेव राज्य के नियमों का पालन करना तथा अपने को उनसे अभिन्न समझना है। किन्तु ग्रीन इसे अपना नैतिक विकास करने की स्वतन्त्रता समझता है, यदि राज्य उत्तम है और उसने नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर कर दिया है तो व्यक्ति स्वयमेव राज्य के सभी नियमों का पालन करेगा; किन्तु यदि राज्य अच्छा नहीं है और वह व्यक्ति के विकास की समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं करता तो व्यक्ति कुछ असाधारण दशाओं में राज्य का विरोध भी कर सकता है। हेगल इस स्थिति की कभी कल्पना नहीं कर सकता था। **चौथा** भेद राज्य का विरोध करने का है। हेगल इसकी किसी भी दशा में अनुमति नहीं देता है, किन्तु ग्रीन कुछ असाधारण परिस्थितियों में राज्य के विरोध को आवश्यक कर्त्तव्य मानता है। **पाँचवाँ** भेद युद्ध-विषयक है। ग्रीन हेगल की इस बात को नहीं मानता कि युद्ध अच्छा है, यह राज्यों की सत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक है तथा इससे मनुष्य में नाना प्रकार के उत्कृष्ट गुणों का विकास होता है। ग्रीन ने हेगल के इन सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन किया है। **छठा** भेद अन्तर्राष्ट्रीय कानून का है। पहले हम देख चुके हैं कि हेगल राज्य को सर्वशक्तिशाली मानते हुए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता को तिलांजलि दे देता है, किन्तु ग्रीन विश्व-भ्रातृत्व (Universal Brotherhood) की कल्पना करता है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता स्वीकार करता है। उसका यह विश्वास है कि सभी मनुष्य शाश्वत चेतना (Eternal Consciousness) का अंश होने से एक ही भगवान् के पुत्र और भाई-भाई हैं। जिस प्रकार सामान्य हितों को पूरा करने की भावना ने एक राज्य के भीतर सभी नियमों के निर्माण के लिए एक नैतिक पद्धति (Ethical Code) का निर्माण किया है, इसी प्रकार सम्पूर्ण मानव-जाति में सभी देशों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करने के लिए एक नैतिक पद्धति का निर्माण होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की जननी है तथा समूची मानव-जाति की सामान्य इच्छा (General Will of Humanity) पर आधारित है।

ग्रीन की आलोचना—ग्रीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की निम्नलिखित दृष्टियों से कड़ी आलोचना की गई है[1] : (1) वह रूढ़िवादी एवं अनुदार है। यह कहा जाता है कि उसका झुकाव वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने का तथा उसका समर्थन करने का था। पहले यह बताया जा चुका है कि वह अमीर-गरीब के भेद को, सम्पत्ति की क्षमता को तथा पूँजीवाद को सर्वथा न्यायोचित समझता है। उसने राज्य के विरोध का अधिकार स्वीकार करते हुए भी उस पर इतने कठोर प्रतिबन्ध लगाए हैं कि वह अधिकार बिलकुल निरर्थक हो गया है। राज्य के कार्यों के विषय में उसका दृष्टिकोण अभावात्मक (Negative) था। उसे श्रमिकों की समस्याओं का कोई ज्ञान नहीं था, उसने अनुपार्जित आय (Unearned Increment) के राज्य द्वारा लिए जाने का उग्र विरोध किया था। (2) उसकी प्रभुसत्ता का सिद्धान्त दोषपूर्ण है, इसमें उसने आस्टिन और रूसो के सिद्धान्तों के समन्वय का विफल प्रयत्न किया है। वह इसे 'सामान्य इच्छा' (General Will) का समर्थन पाने पर ही सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न मानता है। किन्तु हॉबहाउस ने इसका युक्तियुक्त खण्डन करते हुए कहा है—"जहाँ तक इसका इच्छा

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 46.

होने के साथ सम्बन्ध है, यह सामान्य नहीं है और जहां तक यह सामान्य है, वहां तक इच्छा नहीं है।" (3) ग्रीन का यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है कि इतिहास में वर्णित महापुरुषों में दैवी प्रवृत्तियाँ आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय पा लेती हैं, इस विषय में पहले जूलियस सीज़र तथा नैपोलियन के उदाहरण दिए जा चुके हैं। ग्रीन की इस धारणा का खण्डन चंगेज़खां, नादिरशाह और हिटलर जैसे खून की नदियां बहाने वाले महापुरुषों के दृष्टान्तों से हो जाता हैं, अशोक जैसे विरले राजाओं में ही देवत्व का विकास होता है। अधिकांश शासक सत्ता से मदान्ध होकर सब प्रकार के अनैतिक कार्य करते हैं। इस विषय में वेपर ने प्रशिया के राजा फ्रेडरिक महान् की यह सारगर्भित उक्ति उद्धृत की है[1] कि "आप अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कितने भी जघन्य उपायों का प्रयोग करें, आपके कार्यों को न्यायोचित सिद्ध करने वाला कोई-न-कोई दार्शनिक आपको मिल ही जाएगा।" (4) ग्रीन का एक बड़ा दोष अत्यधिक बुद्धिवादी होकर सब समस्याओं का समाधान करना है, वह यह समझता है कि मनुष्य सभी कार्य बुद्धिपूर्वक सोच-विचारकर ही करता है, वस्तुतः मनुष्य अधिकांश कार्य अपने अचेतन मन (Sub-conscious Mind) से तथा मनोभावनाओं के प्रबल आवेगों में बहकर करता है। ग्रीन इन मौलिक तथ्यों की उपेक्षा करता है। (5) मनुष्य के सम्बन्ध में उसने अत्यन्त उज्ज्वल आदर्श और आशावादी दृष्टिकोण रखा है, उसमें दैवी प्रवृत्तियों की सदैव प्रधानता मानते हुए यह विचार प्रकट किया है कि वह हमेशा अपनी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति में तथा समाज का कल्याण करने में लगा रहता है। यह एकांगी दृष्टिकोण है, वस्तुतः मनुष्य के हृदय में देवासुर संग्राम चलता रहता है, इसमें अन्त में तथा बड़े संघर्ष के बाद ही दैवी प्रवृत्तियों की विजय होती है, सामान्यतः आसुरी प्रवृत्तियां काफी प्रबल बनी रहती हैं। ग्रीन इस तथ्य की उपेक्षा करता है। मनुष्य को विशुद्ध चेतनासम्पन्न नैतिक प्राणी मानना वैसी ही भूल है, जैसे उसे उपयोगितावादियों के मतानुसार कोरे आनन्द की आकांक्षा रखने वाला प्राणी मानना। (6) उसके प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त परस्पर विरोधों और असंगतियों से भरा होने के कारण दूषित है। वह एक ओर तो अन्तःकरण को ही सभी प्रश्नों का अन्तिम न्यायालय मानता है, दूसरी ओर इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति को राज्य या समाज का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है, वह केवल शान्तिपूर्ण रीति से ही उसका सुधार कर सकता है।

किन्तु उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए यह मानना पड़ेगा कि ग्रीन सभी आदर्शवादियों में सबसे अधिक उदार, युक्तियुक्त और स्वीकरणीय प्रतीत होता है और निम्नलिखित देनों के कारण राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

ग्रीन की देन—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में ग्रीन की **पहली** देन उपयोगितावाद एवं उदारवाद का समयानुकूल संशोधन करके इनमें नवजीवन का संचार करना तथा इसे प्रबल शक्ति बनाना था। ग्रीन से पहले उदारवाद को अनुप्राणित करने वाला बेन्थम का उपयोगितावाद निष्प्राण हो चुका था, इस पर कई विचारधाराएँ प्रबल

1. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 190.

प्रहार कर रही थीं। पुराने व्यष्टिवादी विचारक राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यधिक संकुचित करना चाहते थे, स्पेन्सर ने उग्र व्यक्तिवाद का पोषण किया था। दूसरी ओर इसके सर्वथा विपरीत हेगल और कार्ल मार्क्स की विचारधाराएँ राज्य के क्षेत्र को अधिकाधिक विशाल बनाना चाहती थी। बेन्थम और मिल ने मनुष्य के कार्यों का मूल प्रेरणास्रोत विशुद्ध स्वार्थबुद्धि और सुख माना था। जॉन स्टुअर्ट मिल के समय तक उपयोगितावाद निष्प्राण हो चुका था। ग्रीन ने इन विरोधी विचारधाराओं में समन्वय करके इसे अपने नवीन सिद्धान्तों द्वारा नवजीवन प्रदान किया। मैक्सी ने इस विषय में उसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"19वीं शती के मध्य में एक भारी परिवर्तन हुआ, राज्य द्वारा आर्थिक कार्यों में अहस्तक्षेप (laissez faire) की नीति का परित्याग करते हुए इंगलिश भाषाभाषी देशों में बुढ़ापे और बेकारी की बीमा-योजना, मजदूरों के मुआवजे आदि के सामाजिक कानून बनाए जाने लगे। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इस प्रवृत्ति को अपना बौद्धिक आधार ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन से मिला है।"[1]

ग्रीन की **दूसरी** देन आदर्शवाद का संशोधन था। हेगल ने व्यक्ति को साधन बनाकर उसके हितों को राज्य के लिए बलिदान कर दिया था, राज्य को अपने-आपमें साध्य तथा नैतिकता का स्रोत माना था, युद्ध का समर्थन किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों पर कोई नैतिक बन्धन न मानते हुए उन्हें मनमाना कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान की थी। ग्रीन ने इन दूषित सिद्धान्तों का संशोधन करते हुए इस बात पर बल दिया कि व्यक्ति साध्य है, राज्य के लिए उसके हितों का बलिदान नहीं किया जाना चाहिए। राज्यों का काम आपस में लड़ाई करना नहीं है। ग्रीन युद्ध को प्रत्येक दशा में अनैतिक समझते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के संघर्षों को समाप्त करना चाहता था। वेपर ने ग्रीन के महत्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "उसने उदारवाद और आदर्शवाद के दोषों का संशोधन किया। ग्रीन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसने उदारबाद को एक नया धार्मिक विश्वास प्रदान किया, व्यक्तिवाद को नैतिक तथा सामाजिक बनाया तथा आदर्शवाद का परिष्कार और परिमार्जन किया।"[1]

बर्नार्ड बोसांके (1848—1923)

ग्रीन के सिद्धान्तों का प्रबल प्रचार करने वाला उसका शिष्य बर्नार्ड बोसांके था। ग्रीन की भाँति यह भी एक पादरी परिवार में उत्पन्न हुआ था। इसका पिता नार्थम्बरलैण्ड का एक समृद्ध पुरोहित था, उसने इसे हैरो तथा ऑक्सफोर्ड में शिक्षा के लिए भेजा। यहाँ इसने बड़ी सफलता प्राप्त की, ऑक्सफोर्ड में इस पर ग्रीन का तथा जोवेट का गहरा प्रभाव पड़ा। दस वर्ष तक (1871-81) ऑक्सफोर्ड में शिक्षक रहने के बाद उसने सामाजिक सुधार के क्रियात्मक कार्यों में भाग लेने के लिए अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, उसने अपने ग्रन्थों द्वारा जटिल दार्शनिक प्रश्नों को सरल रूप में जनता को समझाने का सराहनीय प्रयास किया। उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थों—The Philosophical Theory of the State, The Value and Destiny of the Indivi-

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 509-10.
2. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 192-93.

dual, Social and International Ideals ने इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

उसने अपने गुरु ग्रीन के आदर्शवादी सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए उसके उदारवाद को तिलांजलि दे दी। इसलिए ग्रीन की अपेक्षा उसके विचार हेगल के सिद्धान्तों से अधिक घनिष्ठ सादृश्य रखते हैं। बोसांके की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए मनोविज्ञान के नवीन अन्वेषणों की सहायता ली है। यहाँ उसके विशिष्ट सिद्धान्तों का परिचय दिया जाएगा।

(1) **राज्य का स्वरूप**—बोसांके राज्य को एक नैतिक विचार (Ethical Idea) तथा वास्तविक या सामान्य इच्छा का साकार रूप मानता है। यह नैतिक इसलिए है कि इसका सम्बन्ध मनुष्य के उत्थान और उन्नति से है, राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति है। राज्य एक विचार मात्र है, इसको मनोविज्ञान के आधार पर वह बड़े मनोरंजक रूप से पुष्ट करता है। उसकी यह धारणा है कि न केवल राज्य, अपितु परिवार आदि सभी संस्थाएँ दो पक्ष रखती हैं—पहला पक्ष भौतिक होता है और दूसरा मानसिक या आध्यात्मिक। जिस प्रकार मनुष्य में देह तथा आत्मा के दो पक्ष होते हैं और इनमें असली मूलभूत तत्त्व आत्मा होता है, उसी प्रकार प्रत्येक संस्था के भौतिक पक्ष या देह के साथ-साथ एक मौलिक विचार उसकी आत्मा होती है। यह विचार किसी एक व्यक्ति के मन का विचार नहीं, अपितु उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी व्यक्तियों के व्यक्तिगत मनों का सामान्य अंश होता है। यह व्यक्तियों के एक विशेष समूह के मनों से बना होने के कारण एक **सामूहिक मन** (Mind of a group) कहलाता है। इसे बोसांके ने विद्यालय के तथा बार्कर ने संसद् के उदाहरण से समझाया है।

किसी भी विद्यालय का भौतिक पक्ष उसकी इमारतें, विद्यार्थी और अध्यापक हैं। किन्तु क्या यही वास्तविक विद्यालय है? बोसांके इसका उत्तर देते हुए कहता है कि "विद्यालय की वास्तविकता इस तथ्य में निहित है कि कुछ व्यक्तियों के मन इसमें निश्चित ढंग से सम्बद्ध हैं, इसके विषय में अध्यापकों, विद्यार्थियों, प्रबन्धकों, विद्यार्थियों के अभिभावकों के तथा जनता के कुछ निश्चित विचार हैं, स्कूल तब तक स्कूल बना रहता है, जब तक इनके अनुसार कार्य होता रहता है।"[1] स्कूल का मौलिक विचार शिक्षा देना है, जब तक इससे प्रेरित होकर विद्यार्थी, शिक्षक, मैनेजर और अभिभावक कार्य करते रहते हैं, तब तक यह विद्यालय विद्यालय बना रहता है। किन्तु यदि इसका शिक्षा देने का मौलिक विचार बदल जाए तो यह विद्यालय नहीं रहेगा। उदाहरणार्थ, विद्यालय के इस भवन में कपड़ा बुनने की मशीनें लगा दी जाएँ, इस इमारत में अध्यापकों से श्रम-निरीक्षकों का और विद्यार्थियों से श्रमिकों का कार्य लिया जाने लगे और यहाँ कपड़ा तैयार होने लगे तो उसी इमारत के, उन्हीं विद्यार्थियों और शिक्षकों के होते हुए भी यह विद्यालय नहीं, किन्तु कारखाना कहलाएगा, क्योंकि इसका मौलिक विचार अब शिक्षा देने के स्थान पर वस्त्रों का उत्पादन करना हो गया है। बार्कर ने इसे पार्लियामेण्ट के उदाहरण से समझाया है।[2] इसके छः सौ सदस्य हैं, वे एक विशाल एवं भव्य भवन में एकत्र होकर कार्य करते हैं। किन्तु छः सौ व्यक्तियों वाले विशाल

1. बोसांके—फिलोसाफिकल थियोरी ऑफ दी स्टेट, पृ० 159.
2. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 60-61.

भवन को ही यदि हम पार्लियामैण्ट समझ लें तो यह हमारी भूल होगी। वस्तुतः पार्लियामैण्ट वह मौलिक विचार है, जो छः सौ सदस्यों के मनों को एक विशेष प्रकार के चिन्तन के लिए प्रेरित करता है और उन्हें एक सामान्य प्रयोजन के सूत्र में आवद्ध करके यहाँ उनसे विशेष प्रकार का कार्य कराता है। यह विचार इंगलैण्ड का शासन करना तथा उसके आवश्यक कानूनों का निर्माण करना है। इस विचार और प्रयोजन से प्रेरित होकर पार्लियामैण्ट के सदस्य कार्य करते हैं, इस प्रयोजन को हम पार्लियामैण्ट का नैतिक विचार (Ethical Idea) कह सकते हैं, यह उसकी आत्मा या प्राण है। पार्लियामैण्ट ईट, मिट्टी, पत्थर और सीमेण्ट से बने किसी भव्य भवन का नाम नहीं है, अपितु छः सौ व्यक्तियों के मनों में समान रूप से रहने वाले इंगलैण्ड के शासन और कानून के निर्माण का विचार है।

इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक संस्था का एक मौलिक विचार होता है, यह उसकी आत्मा एवं प्राण होता है, इसके आधार पर उसका संगठन और संचालन किया जाता है, उसके लिए आवश्यक योजना का सूत्रपात होता है, उसे क्रियान्वित रूप देने के लिए इमारतें बनाकर, कर्मचारियों को नियुक्त कर उसके भौतिक रूप का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक संस्था अपने बाह्य रूप को धारण करती है, किन्तु यह रूप एक मौलिक विचार से उत्पन्न होता है, अतः बोसांके यह कहता है कि सभी संस्थाएँ विचार रूप हैं (Institutions are ideas)। विद्यालय के उपर्युक्त उदाहरण में मौलिक विचार शिक्षा देना है, इसे मूर्त्त रूप देने के लिए एक समिति बनाई जाती हैं, धन एकत्र करके विद्यालय के भवन बनाए जाते हैं, अध्यापकों की नियुक्ति की जाती है, विद्यार्थियों को प्रविष्ट किया जाता है, निश्चित नियमों के अनुसार विद्यालय के संचालित होने पर शिक्षा देने का मौलिक विचार मूर्त्त रूप धारण करता है।

सामूहिक मन का सिद्धान्त—बोसांके ने इस मौलिक विचार के विकास और कार्य के सम्वन्ध में मनोविज्ञान के आधार पर कुछ नवीन बातों का प्रतिपादन किया है। यदि संस्था का आधार एक मौलिक विचार है तो यह कहाँ रहता है ? इस विषय में उसका विचार है कि यह विचार किसी एक व्यक्ति के मन में नहीं, अपितु उस संस्था से सम्बद्ध अनेक व्यक्तियों के मन में रहता है। उदाहरणार्थ, विद्यालय का विचार उससे संवद्ध विद्यार्थियों, अध्यापकों, कर्मचारियों तथा प्रबन्धकों के मनों में रहता है। इन सबके मन में विद्यालय के कार्य के सम्बन्ध में एक धारणा रहती है, विद्यार्थी इसमें पढ़ने के लिए आते हैं, शिक्षक पढ़ाने के लिए, प्रबन्धक इसकी व्यवस्था के लिए तथा अन्य कर्मचारी अपना निश्चित कार्य पूरा करने के लिए आते हैं। इन सब व्यक्तियों के **मनों के समूह** (Group mind) में विद्यालय के स्वरूप तथा कार्य के बारे में एक धारणा है, इसके अनुसार ही इसका कार्य चलता है। अतः प्रत्येक संस्था एक व्यक्ति के मन से नहीं, अपितु इससे सम्बद्ध व्यक्तियों के **सामूहिक मन** (Group mind) से संचालित होती है। यह मन संस्था से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों के मनों के सामान्य अंशों से मिलकर बनता है। यद्यपि सामूहिक मन सदैव क्रियाशील रहता है, तथापि यह प्रायः अदृश्य रूप से कार्य करता है और हमें इसकी सत्ता का बोध स्पष्ट रूप से नहीं होता है; किन्तु कुछ अवसरों पर हम इसका स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं, जैसे दो विद्यालयों के हाकी या क्रिकेट के मैच के समय। इस समय दोनों विद्यालयों से सम्बद्ध

विद्यार्थी और अध्यापक अपने विद्यालय की विजय की उत्कट अभिलाषा को प्रत्येक सफलता पर उग्र रूप से की जाने वाली हर्ष ध्वनि से अभिव्यक्त करते हैं। इस समय उनका सामूहिक मन विशेष रूप से क्रियाशील रहता है और इसको स्पष्ट रूप से समझना सुगम होता है।

सामान्य इच्छा—अन्य संस्थाओं की भाँति, राज्य भी एक संस्था है। अतः इसका एक मौलिक विचार होना चाहिए। यह विचार क्या है? बोसांके के मतानुसार यह सब लोगों की **वास्तविक इच्छा** (Real Will) या **सामान्य इच्छा** का साकार रूप है। इस विषय में वह रूसो का अनुसरण करते हुए कहता है कि हमारी इच्छाएँ दो प्रकार की हैं—यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण इच्छा (Actual Will) तथा वास्तविक इच्छा (Real Will)। यथार्थ इच्छा समुद्र के ऊपरी पृष्ठ पर दिखाई देने वाली लहरों के समान चंचल, अस्थिर, क्षणभंगुर, बुद्धि और तर्क के प्रतिकूल तथा अदूरदर्शी होती है, किन्तु वास्तविक इच्छा समुद्र की ऊपरी लहरों के नीचे रहने वाली जलराशि की भाँति गम्भीर. प्रशान्त, स्थायी, बुद्धिसंगत और दूरदर्शी होती है। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी की यथार्थ इच्छा पढ़ाई से ऊबकर सिनेमा देखने, मित्रों के साथ गप्पें लगाने, ताश खेलकर समय बरबाद करने की हो सकती है, ये सब इच्छाएँ क्षणिक, अस्थायी और अल्पकालीन हैं। उसकी वास्तविक इच्छा पढ़ाई करके परीक्षा में उत्तम विभाग प्राप्त करने की तथा जीवन बिताने के लिए अच्छी नौकरी उपलब्ध करने की है। यह वास्तविक इच्छा उसके जीवन के भविष्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण उसकी सिनेमा आदि जाने की उपर्युक्त यथार्थ इच्छाओं से अधिक दूरदर्शितापूर्ण, बुद्धिसंगत और स्थायी है। वस्तुतः सब व्यक्तियों की यथार्थ इच्छाएँ स्वार्थपूर्ण और अलग-अलग होती हैं, वास्तविक इच्छा इनमें दूरदर्शिता के दृष्टिकोण से सामंजस्य और समन्वय स्थापित करती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में विद्यार्थी की यथार्थ इच्छा सिनेमा देखने की हो सकती है, किन्तु परीक्षा के लिए परिश्रम करके उत्तम विभाग प्राप्त करने तथा अपने भविष्य को सुरक्षित बनाने की वास्तविक इच्छा उसे कर्त्तव्य-पालन के लिए बाधित करती है, सिनेमा में समय नष्ट करने के लिए उसे धिक्कारती है, उसे सत्य के लिए प्रेरित करते हुए उसका मार्ग-प्रदर्शन करती है, उसकी यथार्थ इच्छाओं से उसके कार्यों का समन्वय और सामंजस्य स्थापित करती है।

यही स्थिति राज्य के सम्बन्ध में भी है। यहाँ भी व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं में तथा सबकी सामान्य अथवा वास्तविक इच्छा में अन्तर्द्वन्द्व, विरोध और संघर्ष चलता रहता है। व्यक्तियों की अपनी क्षणभंगुर यथार्थ इच्छाएँ विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। एक व्यक्ति को दूसरे की बढ़िया घड़ी देखकर उसे चुराने का प्रलोभन हो सकता है, यह उसकी यथार्थ एवं क्षणिक इच्छा है, थोड़ा गम्भीर विचार करने से उसे यह ज्ञान होता है कि उसका तथा अन्य सब व्यक्तियों का कल्याण समाज में ऐसी स्थिति बनाए रखने में है, जिसमें समाज के सभी व्यक्तियों की सम्पत्ति सुरक्षित बनी रहे। अतः किसी व्यक्ति की घड़ी चुराने की यथार्थ इच्छा होते हुए भी सब व्यक्तियों की सामान्य या वास्तविक इच्छा घड़ी को न चुराने की है। इस प्रकार समाज एवं राज्य में रहने वाले व्यक्तियों की अनेक वास्तविक इच्छाएँ हैं और राज्य इनका

मूर्तिमान् रूप है, जिस प्रकार पढ़ने की इच्छा के विचार का मूर्त्त रूप विद्यालय है, उसी प्रकार कानून बनाने के विचार का मूर्त्त रूप पार्लियामैण्ट भवन तथा वस्तुओं के उत्पादन के विचार का साकार रूप एक कारखाना होता है।

इस प्रकार बोसांके राज्य को वास्तविक इच्छा का साकार रूप मानने के कारण एक नैतिक विचार (Ethical Idea) मानता है। वह इससे राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिणामों पर पहुँचता है: (1) वह राज्य के शासन को सच्चा स्वशासन (Self-government) समझता है। ऊपर से देखने में स्वशासन शब्द में विरोधाभास प्रतीत होता है क्योंकि शासन में शासक और शासित के दो पक्षों का होना अनिवार्य है। स्वशासन का ऊपर से प्रतीत होने वाला अर्थ है—स्वयमेव अपना शासन करना। इसमें दो पक्षों का होना सम्भव ही नहीं है, प्रजातन्त्र में भी व्यक्ति स्वयमेव अपने द्वारा नहीं, किन्तु अन्य व्यक्तियों द्वारा शासित होता है। इस दृष्टि से देखने पर स्वशासन का शब्द अर्थशून्य तथा बेहूदा प्रतीत होता है। बोसांके इसकी सार्थकता सिद्ध करता हुआ कहता है कि राज्य सामान्य इच्छा का साकार रूप है, इसमें हमारी वास्तविक इच्छा भी सम्मिलित है। राज्य का सारा संचालन इसी इच्छा के अनुसार हो रहा है, इसका यह अर्थ है कि हम वास्तव में किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा से नहीं, अपितु अपनी ही इच्छा से शासित हो रहे हैं, यही स्वशासन है।[1]

स्वशासन का यह सिद्धान्त मान लेने के बाद व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह राज्य के आदेशों का आँख मूंदकर पालन करे, क्योंकि वे उसकी अपनी ही वास्तविक इच्छा के आदेश हैं। इससे व्यक्ति अपनी पृथक् सत्ता न रखते हुए उसे राज्य में विलीन कर देता है। बोसांके का यह सिद्धान्त अपने गुरु ग्रीन की अपेक्षा हेगल के सिद्धान्त से अधिक मिलता है। ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा पर बल देता है, बोसांके इसकी उपेक्षा करता है। बार्कर ने लिखा है—"बोसांके राज्य तथा इसकी संस्थाओं के साथ एक सामान्य नागरिक की स्वतन्त्र इच्छा के सम्बन्ध में ग्रीन द्वारा प्रतिपादित किए जाने वाले प्रतिबन्धों को तिलांजलि दे देता है और इस प्रकार वह हेगल के इस सिद्धान्त के अधिक समीप आ जाता है कि आत्मा अपने को राष्ट्र की आत्मा में स्वतन्त्रतापूर्वक एवं स्वेच्छापूर्वक विलीन कर लेती है।"[2]

(2) दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम राज्य और समाज का सम्बन्ध है। राज्य शक्ति का प्रयोग करने वाला एक राजनीतिक संगठन है, यह समाज और इसका निर्माण करने वाली विभिन्न संस्थाओं—परिवार, धार्मिक संगठन या चर्च, आर्थिक संघ—आदि से भेद रखता है क्योंकि इन संस्थाओं के पास अपने नियमों और आदेशों का पालन कराने के लिए राज्य की भाँति कोई शक्ति नहीं होती है। समाज की ये सभी संस्थाएँ राज्य को विभिन्न कार्यों के करने में पूरा सहयोग प्रदान करती हैं, इनके बिना राज्य का कार्य नहीं चल सकता है। वस्तुतः ये सब राज्य के विशाल रूप में समाई हुई हैं। यदि राज्य को शक्ति का प्रयोग न करने वाली संस्था के रूप में नहीं, किन्तु विराट् रूप रखने वाले समाज के रूप में देखा जाए तो राज्य अनेक समूहों का समूह

1. बोसांके—दी फिलोसाफिकल थियोरी ऑफ दी स्टेट, चतुर्थ संस्करण, 1958, पृ० 50-73.

2. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 59.

तथा समुदायों का समुदाय (Group of Groups, A Community of Communities) है, यह मानव-समाज के समूचे क्षेत्र में फैला हुआ है और इसका संचालन, नियन्त्रण और धारण कर रहा है।

(3) तीसरा परिणाम राज्य के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में है। राज्य न केवल एक नैतिक विचार है, अपितु सर्वोच्च अथवा एकमात्र नैतिक विचार (The Ethical Idea) है, क्योंकि राज्य एक सर्वोच्च, सार्वभौम संस्था है, इसमें समाज की विभिन्न संस्थाओं के आधारभूत एवं मौलिक विचारों का सामंजस्य और समन्वय हुआ है, अतः राज्य के मूल में निहित नैतिक विचार समाज में पाई जाने वाली विभिन्न संस्थाओं के नैतिक विचारों का योगफल (sum total) ही नहीं है, अपितु इन सबमें समन्वय स्थापित करने वाला एकमात्र नैतिक विचार है। विभिन्न संस्थाओं के नैतिक विचार एकांगी और विरोधी हो सकते हैं, किन्तु राज्य अपने उच्चतर दृष्टिकोण से इनमें पाए जाने वाले विरोध और असंगति दूर करके इनमें समन्वय स्थापित करता है। राज्य यह इसलिए करता है कि उसका दृष्टिकोण एकांगी न होकर, सर्वांगीण होता है, वह उसके एक पक्ष को न देखकर सब पक्षों पर विचार करता है।

अतः बोसांके के मतानुसार राज्य समग्र मानव जीवन को बिताने की एक व्यावहारिक योजना (Working Concept of Life) को प्रस्तुत करता है। राज्य में परिवार, चर्च, व्यापारिक संगठन आदि सभी प्रकार की संस्थाओं का समावेश होता है, यह इनके विरोधों तथा असंगतियों की आलोचना करके इनका संशोधन इस दृष्टि से करता है कि समाज का कार्य भली-भाँति चलता रहे। इसे बोसांके ने समाज की सब संस्थाओं के यथोचित कार्य करने के लिए आवश्यक आलोचना (Operative Criticism of all Institutions) कहा है। मानवीय संस्थाएँ शीघ्र ही जड़ता, निष्क्रियता और विकृति का शिकार हो जाती हैं, इनमें स्वार्थ की वृत्ति प्रधान होती है। उदाहरणार्थ, परिवार तथा चर्च अपने ही सदस्यों के हितों का ध्यान रखते हैं, इनकी दृष्टि को विशाल बनाना, समष्टि के हितों के साथ इनका समन्वय करना तथा इनका समुचित मार्ग-प्रदर्शन करना राज्य का कार्य है। इसकी तुलना समुद्र-यात्रा करने वाले एक जहाज के कप्तान के पास विद्यमान उस मानचित्र से की जा सकती है, जिसके अनुसार उसे अपने मार्ग का तथा इसमें आने वाली चट्टानों का और भँवरों का ज्ञान होता रहता है। जिस प्रकार जहाज इस नक्शे से पथ-प्रदर्शन पाता हुआ आगे बढ़ता है, वैसे ही मनुष्य की समस्त जीवन-यात्रा का तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान राज्य द्वारा होता है।

किन्तु राज्य यह पथ-प्रदर्शन शक्ति द्वारा करता है, क्योंकि बोसांके का कथन है कि "अन्ततोगत्वा राज्य ही एकमात्र मान्य एवं न्यायोचित शक्ति है"[1] (the only recognised and justified force)। शक्ति राज्य का स्वाभाविक तत्त्व है, यह हमारी वास्तविक इच्छा का ही विशाल एवं विस्तृत रूप है। यह हमें अपने कर्त्तव्यों का बोध कराता है, 'अज्ञानी, आलसी, विद्रोही' लोगों को उनके कार्य का ज्ञान कराता हुआ उन्हें कर्त्तव्य-पालन के लिए विवश करता है। यह समझना एक बड़ी गलती है कि राज्य का कार्य केवल कानून तोड़ने वालों को पकड़ना और दण्ड देना है, वस्तुतः राज्य हमें

1. बोसांके—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 236.

जीवन के सभी पक्षों में न केवल कर्त्तव्य का ज्ञान कराता है, अपितु उनके अनुसार जीवन-संचालन करने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है।

इस बात को बोसांके ने **चक्के** (Flywheel) **के उदाहरण** से समझाया है। जिस प्रकार एक मशीन को प्रधान रूप से गति प्रदान करने वाला एक बड़ा पहिया या चक्का होता है, यह अपनी गति से समूची मशीन को और इससे सम्बद्ध सभी छोटी मशीनों को गति प्रदान करता है, उसी प्रकार राज्य जीवन के सभी अंगों तथा इसमें विद्यमान सभी संस्थाओं और समूहों को शक्ति प्रदान करता है तथा उन्हें संचालित करता है। अन्य संस्थाएँ और समूह **दांतेदार पहिये** (Cogwheel) की भाँति हैं, जिस प्रकार कई दांतेदार पहियों के दांते एक-दूसरे से गुँथे और जुड़े होते हैं तथा बड़े पहिये की शक्ति से सब छोटे पहिये चलते रहते हैं, उसी प्रकार राज्य की शक्ति से उसकी सभी संस्थाएँ संचालित होती हैं।

राज्य के दो कार्य—इस प्रकार बोसाँके के राज्य के दो प्रकार के कार्य माने हैं। **पहला** कार्य जीवन के समूचे कार्यों का समुचित पथ-प्रदर्शन करना तथा कर्त्तव्य का ज्ञान कराना है और **दूसरा** कार्य मनुष्य को अपने निश्चित मार्ग पर बलपूर्वक चलाना है। जब हम अज्ञानवश या आलस्यवश अथवा अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के कारण अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते हैं, पथ-भ्रष्ट होते हैं, तो राज्य अपने दण्ड की शक्ति से हमें सचेत कर देता है कि हमें गलत रास्ते पर न चलकर, ठीक रास्ते से ही चलना चाहिए।

यह बात बोसांके के **दण्ड-विषयक सिद्धान्त** से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। ग्रीन ने इसे समाज-विरोधी शक्ति का विरोध करने वाली शक्ति माना था, किन्तु बोसांके मनोविज्ञान के नवीन अनुसन्धानों के अनुसार अचेतन मन की महत्ता को स्वीकार करता हुआ यह मानता है कि दण्ड अपराधी को धक्का देकर सचेत करने का काम करता है, ताकि वह आगे से ऐसी भूल न करे। बार्कर ने इसे साइकल के उदाहरण से समझाया है।[1] कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति साइकल पर एक चौराहे से गुजरता है, यहाँ उसकी तनिक असावधानी के कारण एक दुर्घटना में उसे कोई चोट लगती है। इसका यह परिणाम होगा कि यह उसे भबिष्य में इसका सदैव स्मरण कराती रहेगी कि वह उस चौराहे पर अपनी साइकल को बड़ी सावधानी से चलाए ताकि ऐसी दुर्घटना की पुनरावृत्ति न हो। जिस प्रकार दुर्घटना से लगी चोट से मिलने वाली शिक्षा उसके अचेतन मन का अंग बनकर उसे सचेत करती रहती है, इसी प्रकार राज्य के दण्ड से लगा हुआ धक्का उसे समाज-विरोधा अपराध करने से रोकता रहता है। मनुष्य इससे भविष्य में अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक सचेत और जागरूक हो जाता है।

दण्ड-विषयक इस विश्लेषण के आधार पर बोसांके दण्ड के विषय में पुराने तीनों सिद्धान्तों को आंशिक रूप से सही मानता है। दण्ड देने में अपराधी से बदला लेने (Retributive), उसका सुधार करने (Reformative) तथा उसे भविष्य में अपराध से रोकने (Deterrent) के उद्देश्य मिले रहते हैं। दण्ड का वास्तविक उद्देश्य तो अधिकारों की रक्षा करना है, किन्तु दण्ड देकर अपराधी के मन में स्वाभाविक रूप

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 62-63.

से यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि यह उसके दुष्कर्म का परिणाम है। यदि भविष्य में वह ऐसा बुरा काम करेगा तो उसे इस प्रकार का दण्ड भुगतना पड़ेगा। इसके परिणामस्वरूप वह भविष्य में अपराध करने से बचा रहता है और उसका सुधार हो जाता है।

राज्य की नैतिकता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—वोसांके हेगल की भांति राष्ट्रीय-राज्य (Nation-State) को सामाजिक संगठन का सर्वोच्च रूप मानता है। इसका कारण यह है कि किसी भी संस्था के लिए समान उद्देश्य से प्रेरित मनुष्यों के मनों का एक समूह (Group of Minds) तथा एक मौलिक विचार होना आवश्यक है। यह इस समय राष्ट्रीयता के कारण एकानुभूति रखने वाले राज्यों में ही दिखाई देता है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से हमें समस्त मानव-जाति का एक सामान्य प्रयोजन से संचालित होने वाला मन नहीं दिखाई देता है, अतः राज्य को ही सर्वोच्च संगठन माना जाना चाहिए। यदि राज्य को ऐसा संगठन मान लिया जाए तो हमें उसे समूची नैतिक व्यवस्था का संरक्षण करने वाला सर्वोपरि संगठन मानना पड़ेगा। इस दिशा में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में उचित-अनुचित का विवेक करने वाली कोई नैतिकता नहीं मानी जा सकती है। पहले यह बताया जा चुका है कि ग्रीन ने इस सिद्धान्त को विश्व-भ्रातृत्व (Universal Brotherhood) के विचार के आधार पर सही नहीं माना है। किन्तु बोसांके निम्नलिखित युक्तिक्रम के आधार पर राज्य से ऊँची और बड़ी नैतिकता अस्वीकार करता है।

उसका यह कथन है कि **राज्य के कार्यों में तथा व्यक्ति के कार्यों** (Public and Private Acts) में भेद करना चाहिए, दोनों को नैतिकता के एक नपैने से नहीं नापा जा सकता है। वस्तुतः राज्य साधारण नैतिकता के नियमों से ऊँचा उठा हुआ होता है, क्योंकि ये नियम उसी के द्वारा प्रचलित एवं संचालित किए जाते हैं। व्यक्ति की तथा राज्य की नैतिकता में अन्तर है। यदि व्यक्ति किसी की हत्या या हिंसा करता है तो वह अपराधी माना जाता है, किन्तु राज्य द्वारा दूसरे देश के साथ युद्ध में सैनिकों की हत्या को अपराध नहीं माना जाता है। इसी प्रकार राज्य युद्ध में नैतिकता के सभी नियमों को भंग करते हुए, लूट-मार, छल, सन्धि-भंग, विश्वासघात आदि के बीसियों अनैतिक कार्य करता है, किन्तु राज्य को इनके लिए अपराधी नहीं ठहराया जाता, अपितु यह कहा जाता है कि युद्ध और प्रेम में किए जाने वाले सभी कार्य उचित होते हैं (All is fair in love and war)। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य अपने कार्यों की नैतिकता स्वयमेव निश्चित करता है, क्योंकि राज्य से अधिक ऊँचा या व्यापक कोई ऐसा संगठन नहीं है, जो उसके लिए नैतिक नियम बना सके या आदर्श स्थापित कर सके। इस प्रकार राज्य नैतिक दृष्टि से पूर्णतया निरंकुश है, क्योंकि राज्य के सदस्यों पर लागू किए जाने वाले नैतिक नियमों से राज्य को कभी नहीं बांधा जा सकता है। भले ही हमें यह स्थिति वांछनीय प्रतीत न हो, हम उसे हीन कोटि का विचार समझें, किन्तु इसकी सत्यता से इनकार नहीं किया जा सकता कि राज्य पर कोई दूसरी शक्ति नैतिक नियमों को लागू नहीं कर सकती। इस स्थिति को मान लेने पर राज्य को मनमाने ढंग से सभी कार्य करने, युद्ध छेड़ने आदि का अधिकार प्राप्त हो जाता है। राज्य दूसरे

राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों को निश्चित करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है, अतः यदि किसी समय कोई राज्य अपने लिए यह आवश्यक समझता है कि उसे पड़ोसी देश पर हमला करना चाहिए या युद्ध छेड़ना चाहिए तो उसे वह अपनी इच्छानुसार कर सकता है। राज्यों के ऊपर कोई नैतिक नियम न मानना तथा इन्हें मनमाना कार्य करने की खुली छुट देना अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति को तिलांजलि देना तथा अराजकता और लड़ाई को खुला निमन्त्रण देना है। बोसांके की यह विचारधारा ग्रीन की अपेक्षा हेगल के विचारों से अधिक गहरा सादृश्य रखती है।

ब्रैडली (1846-1924)

फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडली वैस्टमिंस्टर के एक उच्च पादरी (Dean) का पुत्र, ऑक्सफोर्ड में प्रशिक्षित और वहाँ अध्यापन कराने वाला तथा हेगल का उग्र समर्थन करने वाला दार्शनिक था। उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन **नैतिक अध्ययन** (Ethical Studies) में प्रकाशित 'मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य' (My Station and its duties) नामक निबन्ध में किया है। इसके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित स्थान होता है, यह कुछ तो उसकी परिस्थितियों से निश्चित होता है तथा कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक चुने गए कार्यों द्वारा। किन्तु जब एक बार समाज में मनुष्य का स्थान निर्धारित हो जाए तो उसे उस स्थान से सम्बन्ध रखने वाले सभी कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। इसी में व्यक्ति एवं समाज—दोनों का कल्याण निहित है। ब्रैडली प्लेटो की भाँति समाज को बहुत महत्त्व देता था और यह मानता था कि मनुष्य का सम्पूर्ण विकास समाज के द्वारा ही होता है।

ब्रैडली राज्य को एक नैतिक प्राणी या अवयवी (Moral Organism) मानता है। राज्य दो दृष्टियों से नैतिक है—(1) वह नैतिक उन्नति की आकांक्षा रखने वाले तथा उसके लिए प्रयत्न करने वाले मनुष्यों का समुदाय है। (2) वह इसलिए भी नैतिक है कि मनुष्य के नैतिक विकास और उन्नति का प्रधान साधन है। राज्य एक जीवित प्राणी के सजीव शरीर (Organism) की भाँति है, जिस प्रकार सारे शरीर में एक चेतना होती है, इसका एक बाह्य रूप या शरीर और आत्मा होती है, उसी प्रकार राज्य में एक सामान्य इच्छा (General Will) होती है, अनेक अंग तथा इसकी एक अपनी आत्मा होती है। इसके विभिन्न अंग पुलिस, न्याय आदि के विभाग यह जानते हैं कि उन्हें क्या कार्य करना है, राज्य की समष्टि में उनका क्या स्थान है। अतः बार्कर के शब्दों में ऐसा ज्ञान और इच्छा रखने वाले अपने अंगों के कारण राज्य स्वचेतनायुक्त (Self-conscious) तथा स्वेच्छापूर्वक कार्य करने वाला (Self-willing) है। ब्रैडली का यह विचार हेगल के इस विचार से अधिक मेल खाता है कि राज्य एक 'आत्मचेतनाम्सपन्न' नैतिक पदार्थ और आत्मज्ञानी (Self-knowing) तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने वाला व्यक्ति (Self-actualising individual) है। इसकी इच्छा और ज्ञान राज्य में रहने वाले मनुष्यों की इच्छा और ज्ञान हैं। नैतिक प्राणी के रूप में राज्य का एक सामान्य प्रयोजन सब मनुष्यों की नैतिक उन्नति करना है। ब्रैडली हेगल की भाँति राज्य को सर्वशक्तिमान् मानता है और जीवन के

सभी पहलुओं पर तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं पर राज्य का पूरा नियन्त्रण स्थापित करता है। वस्तुतः ब्रैडली हेगल का कट्टर अनुयायी था। उसने अपने ग्रन्थ 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) में हेगल की पुस्तकों से लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए हैं।

ब्रैडली का ग्रीन और बोसांके की अपेक्षा ब्रिटिश जनता पर कम प्रभाव पड़ा, क्योंकि उसने 1876 के बाद अपनी उपर्युक्त पुस्तक को दुबारा इसलिए नहीं छपवाया था कि इसमें उसके अपरिपक्व विचार थे। उसके ग्रन्थ प्रकाशित न होने के कारण उसके सिद्धान्तों का प्रचार बहुत कम हुआ, उसे विशेष प्रसिद्धि नहीं मिली। यह कहा जाता है कि 76 वर्ष की आयु होने पर जब लार्ड हाल्डेन ने उसका नाम इस बात के लिए प्रस्तावित किया कि उसे ब्रिटिश सम्राट् द्वारा योग्यतम व्यक्तियों को दी जाने वाली 'आर्डर ऑफ मैरिट' (Order of Merit) की उपाधि से सम्मानित किया जाए तो तत्कालीन प्रधानमन्त्री लायड जार्ज ने तथा ब्रिटिश सम्राट् जार्ज पंचम ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया, क्योंकि उन्होंने ब्रैडली का नाम इससे पहले कभी नहीं सुना था।[1]

आदर्शवाद का प्रभाव—इंगलैण्ड में आदर्शवादी विचारकों का सबसे बड़ा प्रभाव व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति को क्षीण करना तथा समष्टिवाद (Collectivism) को पुष्ट करना था। समष्टिवाद ने इसके प्रभाव से शनैः-शनैः राजकीय समाजवाद (State Socialism) का रूप धारण किया तथा उत्पत्ति, वितरण और विनिमय के साधनों के राष्ट्रीयकरण पर बल दिया जाने लगा। इससे राज्य के कार्यों में असाधारण वृद्धि होने लगी। आदर्शवाद ने राज्य को व्यक्ति से ऊँचा स्थान दिया तथा पूँजीवाद का समर्थन करते हुए विशेषाधिकार रखने वाले सम्पत्तिशाली वर्ग का समर्थन किया। इसने राष्ट्रीय भावना एवं अहंकार को उद्दीप्त करते हुए सैनिकवाद और साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। किन्तु इसके साथ ही आदर्शवाद ने राज्य को बहुत ऊँचा स्थान देकर इसके विरुद्ध कई प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कीं। सर्वशक्तिशाली राज्य का प्रतिवाद करने के लिए तथा राज्य की सत्ता के विभाजन पर बल देने वाले श्रमिक संघवाद (Guild Socialism) तथा प्रभुसत्ता के बहुलवादी (Pluralistic) सिद्धान्त का जन्म हुआ।[2]

आदर्शवाद की देन—**इसकी पहली** देन राज्य को मनुष्य की उन्नति के लिए एक प्राकृतिक और स्वाभाविक संगठन मानना था। इससे पहले राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इसे अत्यन्त प्राचीन काल में सब मनुष्यों में हुए समझौते या अनुबन्ध (Contract) द्वारा बनाया गया कृत्रिम संगठन माना जाता था। हॉब्स, लॉक, रूसो यही सिद्धान्त मानते थे। इसके अनुसार व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान मिला था और राज्य को गौण स्थान प्राप्त हुआ था। किन्तु आदर्शवाद ने इसे मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक मानते हुए एक प्राकृतिक संस्था माना, राज्य को ऊँचा स्थान दिया और यह कहा कि राज्य के बिना व्यक्ति अपना यथार्थ रूप नहीं प्राप्त कर सकता है। **दूसरी** देन राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध का यथार्थ निरूपण था। इससे पहले उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र मानते थे, इसने इनमें अंगांगीभाव

1. काटलिन—ए हिस्टरी ऑफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० 514.
2. गैटल—हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 324.

अथवा अवयवी (Organic) सम्बन्ध माना; जिस प्रकार शरीर का तथा उसके हाथ-पैर आदि अंगों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसा ही सम्बन्ध राज्य में तथा उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों में माना गया। **तीसरी** देन राजनीतिशास्त्र का आचारशास्त्र के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करना था। इससे पहले उपयोगितावादी भौतिक सुखों की प्राप्ति को तथा भौतिक प्रगति को महत्त्वपूर्ण मानते थे। आदर्शवादियों ने मनुष्य के नैतिक विकास को राज्य का लक्ष्य बनाया। **चौथी** देन भावात्मक स्वतन्त्रता (Positive Liberty) का प्रतिपादन था। इससे पहले व्यक्तिवादी अभावात्मक (Negative) स्वतन्त्रता को ही आदर्श समझते थे। **पाँचवीं** देन जनहित के कार्यों में राज्य के हस्तेक्षप को बढ़ाना तथा समाजवाद की व जनकल्याणकारी राज्य (Welfare State) की भावना को जन्म देना था। इससे पहले उपयोगितावादी इस बात पर बल देते थे कि राज्य को कम-से-कम कार्य करने चाहिएँ, मनुष्य का पूरा विकास तभी हो सकता है, जब राज्य कम-से-कम प्रतिबन्ध लगाए और न्यूनतम कानून बनाए, वह अहस्तक्षेप (laissez faire) की नीति अपनाए। ग्रीन ने इस बात पर बल दिया कि राज्य को मनुष्य के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करना चाहिए और इसके लिए सभी प्रकार के कानून बनाने चाहिएँ, इसने इंग्लैण्ड में तथा अन्यत्र समाजवाद के तथा जनकल्याणकारी राज्य के विचार का पोषण किया।

बाईसवाँ अध्याय

वैज्ञानिक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक स्पेन्सर

वैज्ञानिक सम्प्रदाय का आविर्भाव—आदर्शवादियों ने राज्य का अध्ययन बुद्धिवाद के आधार पर किया था; किन्तु 19वीं शताब्दी में विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति होने के साथ-साथ इस बात की प्रवृत्ति बढ़ रही थी कि राजनीतिशास्त्र आदि विभिन्न सामाजिक विषयों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जाए। इसका यह आशय था कि किसी विषय से संम्बद्ध सभी तथ्यों का निष्पक्षभाव से निरीक्षण, संकलन और वर्गीकरण करके इन्हें सुव्यवस्थित किया जाए और इनमें कार्य करने वाले नियमों की वैज्ञानिक नियमों की भाँति खोज की जाए। फ्रांस में इस प्रवृत्ति के प्रवर्त्तक **आगस्त कोम्त** (Auguste Comte) नामक विचारक थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जिस प्रकार भौतिक जगत् की घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके उनके बारे में नियमों की खोज की जाती है, वैसे ही सामाजिक घटनाओं के नियमों का वैज्ञानिक अन्वेषण होना चाहिए। कोम्त ने 1830 से 42 तक प्रकाशित होने वाले अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Positive Philosophy' के पांच खण्डों में तथा 1851 से 54 के बीच में छपने वाले 'Positive Polity' के चार खण्डों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रबल समर्थन करते हुए यह मत प्रतिपादित किया कि चूंकि हमारा समूचा वास्तविक ज्ञान इन्द्रियजन्य अनुभवों पर आश्रित है, इसे केवल निरीक्षण और परीक्षण की पद्धति से जाना जा सकता है; अतः हमें बुद्धि द्वारा आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के सब प्रयासों को छोड़कर, विभिन्न विज्ञानों में अनुसरण की जाने वाली विधियों से ही सुनिश्चित एवं प्रत्यक्ष तथ्यों (Positive facts) का ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस जगत् की आत्मिक सत्ताओं अथवा तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के अध्यात्मशास्त्र के प्रयत्न को तिलांजलि देनी चाहिए, क्योंकि परब्रह्म आदि के तत्त्व अज्ञेय हैं, इनका अन्वेषण मृगमरीचिका के समान है। इसी को **प्रत्यक्षवादी दर्शन** (Fositve Philosophy) अथवा **प्रत्यक्षवाद** (Positivism) कहते हैं। इसके प्रभाव से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन भी वैज्ञानिक विधियों से किया जाने लगा। इंगलैण्ड में हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्राणिशास्त्र की दृष्टि से तथा ग्राह्म वालास तथा मैकडूगल ने मनोविज्ञान की दृष्टि से राज्यशास्त्र की समस्याओं का विवेचन किया। यहां पहले स्पेन्सर के विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा, क्योंकि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पेन्सर उस समय के समस्त ज्ञान-विज्ञान का मन्थन और सामंजस्य करके उसके मौलिक नियमों की खोज

करने वाला एक महान् दार्शनिक माना जाता था। मैक्सी ने इसे विक्टोरियाकालीन इंग्लैण्ड का तथा सं० रा० अमरीका का अरस्तू और अपने जीवन में सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला विचारक कहा है।[1]

स्पेन्सर की जीवनी—हर्बर्ट स्पेन्सर ने इंगलिश चर्च से विभिन्न धार्मिक मत रखने वाले (Non-conformist dissenter) एक अत्यन्त निर्धन तथा अध्यापनवृत्ति से निर्वाह करने वाले वंश में डर्बी नामक स्थान में जन्म लिया। वह बड़ा आलसी और पिता का लाड़ला बेटा था। अतः यह महान् दार्शनिक 40 वर्ष तक लगभग अशिक्षित ही बना रहा। उसने किसी स्कूल या कालेज में नियमित रूप से शिक्षा नहीं प्राप्त की।' पिता ने उसे पढ़ाने के लिए डर्बी से उसके चाचा के पास हिण्टन नामक स्थान पर भेजा, किन्तु वह वहाँ से घर भाग आया। उसने अपनी आत्मकथा में बड़े अभिमान से लिखा है—"बचपन में और जवानी में मैंने इंगलिश भाषा का एक भी पाठ नहीं पढ़ा है, मुझे वाक्यविज्ञान (Syntax) की अब तक कोई नियमित शिक्षा नहीं मिली है।" इस महान् दार्शनिक ने 30 वर्ष की आयु तक दर्शन की एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी, इसके बाद उसने काण्ट का एक ग्रन्थ पढ़ना शुरू किया, इसमें ज्यों ही उसे यह पता चला कि काण्ट देश और काल को वास्तविक (Objective) सत्ताएँ न मानकर इन्द्रियजन्य ज्ञान (sense perception) का रूप मानता है तो उसको यह विश्वास हो गया कि काण्ट मूर्ख है और उसने उसकी पुस्तक एक ओर फेंक दी।[3] उसने दूसरे व्यक्तियों द्वारा लिखी गई बहुत ही कम पुस्तकें पढ़कर अपने भारी-भरकम ग्रन्थ लिखे हैं। बिना पढ़े इतने अधिक ग्रन्थ लिखने का रहस्य यह था कि उसमें जिज्ञासावृत्ति सदैव जागरूक रहती थी, वह अपने चारों ओर की घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहता था, उसमें अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए आवश्यक सामग्री संकलन करने का विलक्षण सामर्थ्य था। उसका मस्तिष्क अपेक्षित सामग्री एकत्र करने के लिए एक अद्‌भुत चुम्बक का कार्य करता था, इससे वह अपने विचारों और मन्तव्यों के समर्थन के लिए सभी क्षेत्रों से झटपट प्रमाण संगृहीत कर लेता था। इसी कारण वह अपने समय के समूचे ज्ञान-विज्ञान का विस्तृत वर्गीकरण और समन्वय करने में समर्थन हुआ।

उसे बचपन से पढ़ाई-लिखाई में कोई रुचि न होने पर भी इंजीनियरी का—विभिन्न प्रकार के यन्त्र बनाने और आविष्कार करने का शौक था। उसने अपनी आत्मकथा में इन आविष्कारों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी आविष्कार सफल सिद्ध नहीं हुआ। किन्तु अपनी इस प्रवृत्ति के कारण 17 वर्ष की छोटी आयु में उसे लन्दन-बिरमिंघम रेलवे कम्पनी में इंजीनियर का काम मिल गया। इसके बाद उसे लेख लिखने का शौक चढ़ा; कुछ समय बाद राजनीतिक कारणों से रेल कम्पनी के बन्द हो जाने पर जब उसे इंजीनियर की नौकरी से छुट्टी मिली तो वह लेखन-कार्य का सुअवसर मिलने के कारण परम प्रसन्न हुआ। 1848 में 27 वर्ष की आयु में वह उस समय के सुप्रसिद्ध पत्र 'इकनामिस्ट' का उपसम्पादक बना, यहाँ

1 मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 555.
2. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० 386.
3. वही पुस्तक, पृ० 387.

उसका सम्पर्क उस समय के प्रसिद्ध विद्वानों और वैज्ञानिकों—हक्सली, टिण्डल, न्यूमैन, इलियट आदि से हुआ, इनका उसके विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ समय बाद, अपने चाचा की मृत्यु होने पर उसे विरासत में कुछ सम्पत्ति मिली। उसने यह निश्चय किया कि वह स्वतन्त्र रूप से लेखन-कार्य ही करेगा और 1853 में उसने 'इकनामिस्ट' के उपसम्पादक के पद से त्यागपत्र दे दिया।

इस समय तक वह अपने लेखों और पुस्तकों से कुछ प्रसिद्ध हो चुका था। 1842 में उसने 'शासन का समुचित क्षेत्र' (Proper Sphere of Government) पर 'नान-कन्फर्मिस्ट' (Non-Conformist) नामक पत्र में उग्र व्यष्टिवाद का समर्थन करने वाले कुछ निबन्ध लिखे, 22 वर्ष की अवस्था में प्रकट किए गए इन विचारों के साथ वह अपनी मृत्यु-पर्यन्त अगले 60 वर्ष तक चिपटा रहा। तीस वर्ष की आयु में उसने 'सामाजिक स्थितिविज्ञान' (Social Statics) नामक पहला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। 1852 में 'जनसंख्या के सिद्धान्त' पर एक निबन्ध में उसने डार्विन द्वारा जीवशास्त्र के क्षेत्र में विकासवाद का प्रतिपादन करने से छः वर्ष पहले इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुए यह बताया कि जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) होती है। 1855 में उसने अपनी दूसरी पुस्तक 'मनोविज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Psychology) में मन के विकास का प्रतिपादन किया। 1857 में 'प्रगति के नियम और कारण' (Progress, its Law and Cause) में उसने इतिहास में विकासवाद के नियम को लागू किया। 1858 में अपने पुराने निबन्धों का नवीन संस्करण के लिए संशोधन करते समय उसे यह विचार सूझा कि ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में—नीहारिका (Nebula) से मनुष्य तक, जंगली जातियों से शेक्सपीयर तक के विकास को प्रदर्शित करने के लिए, समूचे ज्ञान-विज्ञान को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए तथा एक नवीन दर्शन का प्रतिपादन करने के लिए वह एक ग्रन्थमाला लिखे, इसमें भूगर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयों का विकासवाद के आधार पर विवेचन किया जाए तथा एक नवीन समन्वयात्मक दर्शन (Synthetic Philosophy) का निर्माण किया जाए।

रचनाएँ—स्पेन्सर के समन्वयात्मक दर्शन की ग्रन्थमाला के प्रधान ग्रन्थ ये थे—First Principles (1862), Principles of Biology 2 Vols. (1864-67), Principles of Psychology, 2 Vols. (1870-72), Principles of Sociology, 3 Vols. (1876-96), Principles of Ethics, 2 Vols. (1892-93) थे। उसने अपने राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन कुछ निबन्धों में भी किया है, इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—Proper Sphere of Government (1842), Man versus State (1884)। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उसने अपनी आत्मकथा तीन खण्डों में लिखी है।

स्पेन्सर के विचारों के प्रधान प्रेरणा-स्रोत—पहला स्रोत राजकीय इंगलिश चर्च से असहमति (Dissent) रखने वाले क्वेकर (Quaker) मतावलम्बी कुल में जन्म लेना था। इससे उसमें प्रमाणवाद का विरोध करने की तथा उग्र सुधार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। उसका चाचा इंगलिश चर्च में प्रबल सुधार करने का पक्षपाती

था, उसने बिरमिंघम निवासी जोसेफ स्टर्ज के साथ मिलकर 1841 में 'नान-कन्फर्मिस्ट' (Non-Conformist) नामक एक साप्ताहिक पत्र 1841 में निकाला। इसी में स्पेन्सर ने अपना पहला प्रसिद्ध लेख 'राज्य का समुचित कार्यक्षेत्र' (Proper Sphere of Government) प्रकाशित करवाया था, वह चुनाव में मौलिक सुधार करके उसमें भ्रष्टाचार को दूर करना चाहता था, अतएव उसने सब लोगों को मताधिकार देने का आन्दोलन करने वाली संस्था (Complete Suffrage Union) की डर्बी शहर की शाखा के मन्त्री के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया, 'अनाज कानूनों' (Corn Laws) का तथा राजकीय चर्च का विरोध करने वाले आन्दोलनों में भाग लिया और इस प्रकार की परिस्थितियों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए 1847 में उसने अपनी पहली पुस्तक 'सामाजिक स्थितिविज्ञान' (Social Statics) का प्रणयन किया।

दूसरा प्रेरणा-स्रोत 1848 में 'इकनामिस्ट' का उपसम्पादक बनने पर थामस हाजस्किन (Thomas Hodgskin) के सम्पर्क में आना था। यह बेन्थम के विचारों का विरोध करने वाला उग्र सुधारक था। उसे मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों में गहरा विश्वास था, जबकि बेन्थम इनकी खिल्ली उड़ाया करता था। बेन्थम ने केवल आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक शक्तियों को कार्य करने की खुली छूट देने का या राज्य द्वारा हस्तक्षेप न करने की (laissez faire) नीति का समर्थन किया था, किन्तु शासन और कानून के क्षेत्र में वह विज्ञान-सम्मत नियन्त्रण का पक्षपाती था; इसके विपरीत हाजस्किन यह मानता था कि समाज प्राकृतिक नियमों से संचालित होने वाली एक स्वाभाविक घटना है, इसका संचालन एक सर्वोच्च नैतिक शक्ति द्वारा इस उद्देश्य से किया जा रहा है कि इसके सदस्य समाज में एक न्यायपूर्ण व्यवस्था का निर्माण करें, अतः सरकार को शासन का कार्य कम-से-कम करना चाहिए, उसे प्राकृतिक नियमों को अपना कार्य करने की खुली छूट देनी चाहिए। इस विषय में अन्तिम लक्ष्य ऐसी स्थिति को लाना है, जिसमें राज्य की संस्था लुप्त हो जाए तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए तथा दूसरे व्यक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित रखते हुए अपना जीवन व्यतीत करे। स्पेन्सर का राज्य-विषयक सिद्धान्त हाजस्किन के सिद्धान्त से गहरा सादृश्य रखता है।

तीसरा स्रोत शेलिंग और श्लीगल का जर्मन आदर्शवाद (German Idealism) था। इसे स्पेन्सर ने कॉलरिज की रचनाओं से ग्रहण किया। स्पेन्सर ने इनसे 'जीवन का विचार' (Idea of Life) ग्रहण किया। 19वीं शताब्दी में वैज्ञानिकों ने भगवान् को तिलांजलि देते हुए इसके स्थान पर जीवन-शक्ति (Life-force) के विचार को जन्म दिया था। इसके अनुसार सदैव गतिशील बनी रहने वाली इस शक्ति के ही कारण मनुष्य जाति का सदैव उन्नतिशील विकास हो रहा था। विकास की यह प्रक्रिया विश्व की सभी वस्तुओं में, सभी क्षेत्रों में, प्राकृतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में दिखाई देती है, अतः इसे सार्वभौम विकास (Universal Evolution) कहते हैं। समाज और प्रकृति में जीवन-विकास की इस प्रक्रिया के चलते रहने के कारण, सजीव शरीर (Living Organism) बनते हैं और इस प्रक्रिया से उनके विभिन्न अंगों का विशिष्ट विकास होता है।

चौथा प्रेरणा-स्रोत प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन था। स्पेन्सर को बचपन से भौतिकशास्त्र में गहरी दिलचस्पी थी, वह शुरू में इंजीनियर था और उसने अनेक आविष्कार करने के लिए विभिन्न प्रकार के परीक्षण किए थे, रसायनशास्त्र के कुछ परीक्षणों में उसने अपनी उँगलियाँ जलाई थीं, उसे कीड़े पालने का भी शौक था। प्राणिशास्त्र में विकास के सम्बन्ध में उसने डार्विन की अपेक्षा उससे पूर्ववर्ती लेमार्क (Lamarck) के सिद्धान्तों का अनुसरण किया था। उसकी रचनाओं पर विज्ञान की गहरी छाप है। इन चार विभिन्न स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करने के कारण उसके विचार विचित्र पंचमेल या खिचड़ी बन गए और उनमें कुछ विरोध दिखाई देता है। उसके प्रधान विचार निम्नलिखित हैं—

(1) **विकासवाद**—यह स्पेन्सर के सब विचारों का मूल या आधारशिला है। आजकल सामान्य रूप से चार्ल्स डार्विन को विकासवाद के सिद्धान्त का प्रवर्त्तक समझा जाता है। किन्तु यह धारणा सर्वांश में सत्य नहीं है। विकासवाद का विचार उससे बहुत पुराना है, डार्विन ने केवल विकास होने की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है, 1858 में जब उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उस समय तक स्पेन्सर के विचार परिपक्व हो चुके थे। स्पेन्सर अपने विकास-विषयक विचारों के लिए जर्मन आदर्शवादियों से इन्हें ग्रहण करने वाले कॉलरिज का तथा फ्रेंच वनस्पतिशास्त्री लेमार्क (Lamarck) का ऋणी था।

स्पेन्सर का विकासवाद डार्विन के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विशाल है, क्योंकि वह उसे सृष्टि के प्रत्येक क्षेत्र में, न केवल प्राणिशास्त्र में, अपितु भूगर्भशास्त्र, जीवनशास्त्र, मनोविज्ञान, आचारशास्त्र, धर्म, दर्शन और समाजशास्त्र के क्षेत्रों में भी लागू करता है। वस्तुतः स्पेन्सर ने ही डार्विन के सिद्धान्त को विकासवाद का नाम दिया था[1] और उसे सार्वभौम रूप से सभी क्षेत्रों में लागू किया था। विकास का सामान्य अर्थ उन्नत एवं उत्कृष्ट रूप की ओर अग्रसर होना किया जाता है। किन्तु स्पेन्सर ने इसका लक्षण यह किया है कि यह ऐसी प्रक्रिया का नाम है, जिसमें अनिश्चित और अस्पष्ट एकरूपता (Homogeneity) रखने वाले पदार्थ निश्चित, स्पष्ट और विभिन्नता (Heterogeneity) रखने वाला रूप धारण करते हैं और जिसमें पदार्थ का एकत्रीकरण (Integration) तथा इसके परिणामस्वरूप शक्ति का क्षय (Dissipation of motion) होता है। स्पेन्सर का यह लक्षण कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। सृष्टि के आरम्भ में अस्पष्ट और अनिश्चित उत्तप्त वाष्पसमूह या नीहारिका (Nebula) होता है, यही बाद में विकसित होकर सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि ग्रहों का निश्चित, स्पष्ट और विभिन्नता रखने वाला रूप धारण करता है। हमारी पृथ्वी भी आरम्भ में उत्तप्त वाष्पपिण्ड थी, इसके सभी तत्त्वों में एकरूपता (Homogeneity) थी, इसमें सभी कुछ अस्पष्ट और अनिश्चित था, बाद में इस धरती के ठण्डा होने पर इस वाष्प के कुछ पिण्डों ने एकत्र होकर पर्वतों का रूप धारण किया, दूसरे पिण्डों ने एकत्र होकर समुद्रों का रूप धारण किया। इस प्रकार एक ही प्रकार के उत्तप्त वाष्पपिण्ड से इस धरती पर

---

1. डेगोबर्ट रूनेस—पिक्टोरियल हिस्टरी ऑफ फिलासफी, पृ० 257.

दिखाई देने वाले अनन्त रूप उत्पन्न होते हैं। विकास का अभिप्राय पदार्थ का एक विशिष्ट ढंग से इकट्ठा होना तथा बढ़ना है। उदाहरणार्थ, रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होने वाला भ्रूण आरम्भ में अति सूक्ष्म होता है, शनैः-शनैः उसके साथ आवश्यक पदार्थों के जुड़ने से गर्भस्थ शिशु बड़ा होने लगता है तथा बाद में वही नर या नारी का पूर्ण रूप धारण करता है, अतः स्पेन्सर विकास को पदार्थ का एकत्रीकरण (Integration of matter) कहता है। हमारा ज्ञान भी इसी प्रकार इन्द्रियजन्य अनुभवों और स्मृतियों के एकीकरण और संकलन से बनता है और ज्ञान की वृद्धि होने पर इसका विकास विज्ञान और दर्शन के रूप में होता है। सामाजिक क्षेत्र में नर-नारी अपनी सन्तान के साथ मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं, परिवारों के सम्मिलन से जनजातियाँ, इनके एकत्रीकरण से राज्य और राज्यों के सम्मिलन से विश्व का संघ बनता है। ये सब पदार्थ के एकीकरण से विकास के उदाहरण हैं। इस एकीकरण का एक आवश्यक परिणाम यह है कि इसके विभिन्न अंशों या अंगों में गति कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब व्यक्तियों के एकीकरण से राज्य का निर्माण होता है और उसकी शक्ति बढ़ने लगती है तो इसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों की शक्ति और अधिकार घटने लगते हैं। इस प्रकार एकीकरण और वैविध्य विकास की प्रक्रिया के अनिवार्य अंग हैं।

डार्विन का मत है कि विकास की प्रक्रिया सतत रूप से चलती रहती है, इसका कभी अन्त नहीं होता है। किन्तु स्पेन्सर इसका अन्तिम रूप साम्यावस्था या समता की दशा (Equiliberation) मानता है। सृष्टि में असंख्य प्रकार की क्रियाएँ चल रही हैं, इन सबमें शक्ति क्षीण हो रही है, अतः प्रत्येक गति और शक्ति का अन्त अनिवार्य है, इस समय सूर्य में भले ही प्रचण्ड उष्णता हो, परन्तु वह निरन्तर कम हो रही है, अरबों वर्ष बाद यह स्थिति आ सकती है कि वह चाँद की तरह बिलकुल ठण्डा हो जाए, उसकी गति शान्त हो जाए। यही हाल सृष्टि की अन्य वस्तुओं का है, सब पदार्थों की गति शान्त होने पर प्रलय अथवा साम्य की दशा आती है। यह सृष्टि जिस अस्पष्ट, अनिश्चित वाष्पपिण्ड से उत्पन्न हुई थी, उसी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का एक चक्र पूर्ण होता है तथा दूसरा चक्र आरम्भ हो जाता है।

(2) **समाज की आदर्श स्थिति**—समाज के विकास के सम्बन्ध में स्पेन्सर ने एक विशेष प्रकार की अन्तिम स्थिति मानी है। इस दशा में राज्य की संस्था लुप्त हो जाएगी, मनुष्य इसके बिना ही एक-दूसरे के साथ पूर्ण समन्वय और सामंजस्य की भावना से रहेंगे, इससे सब व्यक्तियों में पूर्ण सन्तुलन (Equilibrium) बना रहेगा और सरकार के कार्यों द्वारा हस्तक्षेप न होने के कारण व्यक्तियों के अधिकारों का अधिकतम विकास होगा। वह सामाजिक विकास की आदर्श और उच्चतम स्थिति है; इसमें समाज सदैव स्थित रहेगा, इसीलिए इस विकास को प्रदर्शित करने के लिए लिखी गई पुस्तक को उसने सामाजिक स्थितिशास्त्र (Social Statics) का नाम दिया है। इसमें उसने समाज की उस अन्तिम आदर्श अराजक स्थिति का वर्णन किया जो आवश्यक रूप से गतिशून्य (Static) और जड़ है, क्योंकि आदर्श को प्राप्त कर लेने पर हमारी समूची प्रगति समाप्त हो जाती है। इस स्थिति को आदर्श मानने के

कारण स्पेन्सर इसे अपने सभी विचारों का मानदण्ड बनाता है और प्रत्येक वस्तु का महत्त्व और मूल्य इस बात से आँकता है कि वह इस स्थिति से कहाँ तक मेल खाती है। व्यक्ति के अधिकारों को वह इसीलिए गौरव प्रदान करता है कि इस आदर्श स्थिति में उनका पूर्ण विकास होता है। अराजकता को वह इसीलिए श्रेष्ठ मानता है कि इस स्थिति में राज्य की संस्था का अभाव होता है।

किन्तु स्पेन्सर के सामाजिक स्थिति के इस विचार की बार्कर ने दो आलोचनाएँ की हैं[1] : **पहली** आलोचना तो यह है कि मानव-समाज के विकास में आदर्श कभी इस प्रकार से स्थायी एवं गतिशून्य (Static) बने रहने वाले नहीं होते, ये सदैव आगे बढ़ते रहते हैं। हम ज्यों ही आदर्श तक पहुँचने लगते हैं, यह उससे आगे बढ़ जाता है। समाज में कभी कोई अन्तिम समाधान या समन्वय नहीं होता है, इसमें सदैव नई समस्याएँ पैदा होती हैं और इनके कारण हमारा आदर्श दूर हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो हमारी सामाजिक प्रगति समाप्त हो जाए। **दूसरी** आलोचना यह है कि स्पेन्सर ने समाज के अन्तिम आदर्श के तथा वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों के सम्बन्ध के बारे में कुछ भ्रान्त कल्पनाएँ कर ली हैं। वह वर्तमान समाज की परिस्थितियों को समाज के अन्तिम कल्पित आदर्श के मापदण्ड से अच्छा या बुरा समझता है, उसने सरकार और शासन की आलोचना इसलिए की है कि समाज की अन्तिम आदर्श स्थिति में ये संस्थाएँ नहीं पाई जातीं, इसलिए वह इन्हें अन्यायपूर्ण और अनुचित समझता है। वस्तुतः इनका औचित्य वर्तमान परिस्थितियों में इनके कार्य से आँका जाना चाहिए, न कि एक काल्पनिक स्थिति से। अतः स्पेन्सर का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

(3) **सामाजिक विकास की दो दशाएँ—सैनिक समाज तथा औद्योगिक समाज**—स्पेन्सर विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर सभ्यता और समाज के विकास में दो महत्त्वपूर्ण दशाएँ मानता है : पहली दशा सैनिक समाज (Militant Society) की तथा दूसरी दशा औद्योगिक समाज (Industrial Society) की है। मानव-समाज की आरम्भिक दशा में बड़ी अराजकता थी, बलवान् व्यक्ति और समाज निर्बल व्यक्ति और समाज को कुचल रहा था। इस शोचनीय अवस्था से परित्राण पाने का एकमात्र साधन कठोर अनुशासन में बँधा हुआ सैनिक-समाज था, यह अपनी इस व्यवस्था से विरोधी शत्रुओं पर तथा प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पा सकता था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को कठोर सैनिक-अनुशासन में रहना पड़ता है। अतः स्वाभाविक रूप से इसमें राजतन्त्र की व्यवस्था प्रचलित होती है, विभिन्न श्रेणियों को एक-दूसरे से पृथक् करने वाले जात-पाँत के कठोर बन्धन होते हैं, इस समाज में धर्म भी राजा और पुरोहितों के अधिकार पर बल देने वाला तथा प्रमाणवादी (Authoritarian) होता है, युद्ध की प्रमुखता के कारण इस समाज में पुरुषों की प्रभुता होती है। युद्धों में मनुष्यों के बड़ी संख्या में मारे जाने से विजेता उनकी स्त्रियों को पकड़ लेते थे, इससे समाज में बहुभार्यता (Polygamy) की प्रथा प्रचलित हुई। सैनिक-समाज एक-दूसरे से लड़ते रहते थे, अतः इनका इतिहास दूसरे समाजों के साथ लड़ने का, उनकी लूट-पाट, मार-

1. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 80.

काट, हिंसा और हत्या करने का है। हम आदिम जातियों में नर-मांस भक्षण की पद्धति को जघन्य समझते हैं, किन्तु ये सैनिक-समाज इसी जघन्य कार्य में लगे रहते हैं। समाज और सभ्यता की उस समय तक उन्नति नहीं हो सकती जब तक इस आत्मघाती पद्धति का अन्त न हो जाए। सभ्यता की उन्नति युद्ध की समाप्ति पर अवलम्बित है।

यह स्थिति औद्योगिक समाज (Industrial Society) में उत्पन्न होती है। ऐसे समाज भूमध्यसागर के तीरवर्ती प्रदेशों में तथा यूरोप में विकसित हुए हैं। इनमें युद्ध के स्थान पर व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का अधिक विकास हुआ। व्यापार मनुष्य की बुद्धि को प्रखर बनाता है, उसमें नवीन आविष्कार करके पैसा कमाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। यह व्यवस्था स्वतन्त्रता की पोषक है, क्योंकि ऐसे वातावरण में ही व्यक्ति उन्नति कर सकता है। सैनिक-समाज में पनपने वाली स्वतन्त्रता की इस प्रवृत्ति के कारण परम्पराएँ, प्रमाणवाद तथा जात-पाँत के बन्धन शिथिल होने लगते हैं। व्यापार और उद्योग के लिए शान्ति आवश्यक है, अतः यह समाज युद्धों को बन्द करने पर बल देता है। सैनिक के कार्य को समाज में अधिक प्रतिष्ठा नहीं दी जाती, शक्ति को समृद्धि का मूल माना जाता है। पूंजी के अन्य देशों में प्रसार के साथ विभिन्न देशों की एक-दूसरे पर निर्भरता या अन्योन्याश्रितता बढ़ने लगती है, इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित होती है। युद्ध बन्द हो जाने से बहुभार्यता का स्थान एकविवाह (Monogamy) की प्रथा ले लेती है। स्त्रियों का दर्जा ऊँचा उठने लगता है। इतिहास अब लड़ाइयों की कथा नहीं, किन्तु नये विचारों तथा आविष्कारों की कहानी बन जाता है। पहले समाज में मनुष्य पराधीन तथा सैनिक-अनुशासन से जकड़ा होता था, अब वह स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। पहले वह भय और सैनिक-दबाव से बाधित होकर समाज के कार्यों में सहयोग देता था, अब वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से स्वेच्छापूर्वक सहयोग देता है। वर्तमान जगत् में सैनिक-समाज के उदाहरण फ्रांस और प्रशिया तथा औद्योगिक समाज के दृष्टान्त इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका हैं।

(4) **समाज को सजीव प्राणी मानने** (Social Organism) **की कल्पना, राज्य का सावयवी सिद्धान्त** (Organic Theory of the State)—स्पेन्सर ने समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों में तथा अपनी अन्य रचनाओं में इस बात पर बल दिया है कि समाज एक प्राकृतिक, देहधारी सजीव प्राणी के समान है। उसका विकास अन्य प्राणियों की भाँति होता है। प्राणियों में सबसे पहला, निम्नतम और आदिम रूप एक कोष रखने वाला अमीबा नामक प्राणी होता है, वह एक कोष से ही खाने-पीने, श्वास लेने, मलमूत्र निकालने, चलने-फिरने तथा सन्तानोत्पादन के विविध कार्य करता है, इसी प्रकार आदिम मानव-समाज में एक ही व्यक्ति लड़ने, शिकार करने, आहार प्राप्त करने, झोपड़ी बनाने तथा अपने औजार और हथियार आदि बनाने के सभी कार्य करता है। प्राणी का विकास होने पर, उसके शरीर में विभिन्न कार्यों के लिए अनेक अंगों का विकास होता है, खाने के लिए मुंह, देखने के लिए आँख, सुनने के लिए कान, पकड़ने के लिए हाथ, चलने के लिए पैर आदि अंग विकसित होते हैं। इसी प्रकार समाज का विकास होने पर, उसमें श्रम-विभाजन (Division of Labour) के आधार पर विभिन्न कार्यों को करने वाले विशिष्ट वर्ग या श्रेणियां उत्पन्न हो जाती हैं।

उदाहरणार्थ, लड़ने के लिए सैनिकों का वर्ग बनता है। उत्पादन के कार्य कृषक, निर्माण के कार्य राज तथा मिस्त्री, औजार और हथियार बनाने के काम लुहार करने लगते हैं। शरीर के अंगों की भाँति ये सब वर्ग एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं और समाज के हित के लिए कार्य करते हैं। स्पेन्सर ने एक जीवित प्राणी और समाज में निम्नलिखित समानताओं का प्रतिपादन किया है—

(1) दोनों का विकास होता है, दोनों आरम्भ में थोड़े-से कुछ कोषों (Cells) या व्यक्तियों का लघु समूह होते हैं, शनैः-शनैः इनकी संख्या में वृद्धि होने लगती है।

(2) दोनों में एक ही जैसा विकास-क्रम दिखाई देता है। दोनों अपने आरम्भिक रूप में सरल और समान होते हैं, किन्तु विकास होने पर इनके स्वरूप में जटिलता और वैविध्य बढ़ने लगता है, श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर विशिष्ट कार्य करने के लिए विभिन्न अंग बनने लगते हैं। पहले बताया जा चुका है कि जिस प्रकार आरम्भिक जीवों में हाथ, मुँह, पैर, पेट, फेफड़े, आँख, कान के पृथक्-पृथक् अंग नहीं थे, वैसे ही समाज में भी विशिष्ट कार्य करने वाले कोई पृथक् वर्ग नहीं थे। किन्तु जिस प्रकार शनैः-शनैः प्राणी के शरीर में विभिन्न अंगों का विकास होने लगा, उसी प्रकार समाज में विभिन्न कार्य करने वाले कृषकों, सैनिकों, कारीगरों आदि की श्रेणियों का प्रादुर्भाव हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों का विकास एक ही प्रकार से, एक जैसे नियमों का अनुसरण करते हुए होता है।

(3) प्राणी और समाज कुछ छोटे तत्त्वों या अंशों से मिलकर बनते हैं। प्राणी का निर्माण जीव-कोषों (Cells) से होता है तथा समाज और राज्य का व्यक्तियों से।

(4) प्राणी के शरीर में सब अंग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं, प्रत्येक अंग द्वारा भली-भाँति कार्य करने पर समूचे शरीर का स्वास्थ्य और बल ठीक बना रहता है, किन्तु यदि किसी अंग में कोई विकार या बीमारी आ जाए, तो इसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, फेफड़ों में बड़ी खराबी आने से सारे शरीर का क्षय आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार समाज अथवा राज्य की समृद्धि और शक्ति, इसका निर्माण करने वाले सभी वर्गों के स्वास्थ्य, सामर्थ्य और शक्ति पर निर्भर है। जिस प्रकार शरीर का कल्याण सब अंगों द्वारा अपना कार्य ठीक ढंग से करने पर माना जाता है, उसी प्रकार समाज का कल्याण इसके सब वर्गों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। इनके अभाव में सामाजिक जीवन पंगु हो जाता है।

(5) प्राणि-शरीर में पुराने जीव कोष और रुधिर-कोष नष्ट होते रहते हैं, इनके स्थान पर नये जीव-कोषों का निर्माण होता रहता है। इसी प्रकार समाज में भी बूढ़े, बीमार और अनुपयुक्त व्यक्ति मरते रहते हैं, इनके स्थान पर नये व्यक्ति पैदा हो जाते हैं।

(6) प्राणि-शरीर किसी एक जीव-कोष या अंग पर आश्रित नहीं होता है, हाथ या पैर काट देने से शरीर का अन्त नहीं होता है। इसी प्रकार राज्य या समाज में किसी एक वर्ग या श्रेणी की समाप्ति से समाज का अन्त नहीं होता है।

(7) जिस प्रकार प्राणि-शरीर का पोषण मुख, पेट और आँतों द्वारा होता है, उसी प्रकार समाज का पोषण कृषि से तथा उद्योगों की व्यवस्था से होता है। इस प्रकार दोनों में एक जैसी पोषण की व्यवस्था (Sustaining System) पाई जाती है।

(8) दोनों में एक जैसी वितरण व्यवस्था (Distributive System) है। जिस प्रकार शरीर में नसें अंग-प्रत्यंग में रक्त पहुँचाकर और इसका विभाजन करके शरीर की शक्ति बनाए रखती हैं, इसी प्रकार समाज में यातायात, व्यापार और विनिमय के साधन समाज के सभी हिस्सों में धन तथा अन्य आवश्यक सामग्री का वितरण करते रहते हैं। स्पेन्सर ने 1860 में 'वैस्टमिंस्टर' नामक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक लेख में यह बताया था कि विभिन्न प्रकार के माल को राज्य के सभी भागों में पहुँचाने वाली रेल की लाइनें और सड़कें प्राणि-शरीर की नसों के तुल्य हैं, धन रक्त के जीव-कोषों के समान है तथा तार भेजने वाली व्यवस्था शरीर की नाड़ियों (Nerves) से सादृश्य रखती है।

(9) दोनों में नियमन या नियन्त्रण की व्यवस्था (Regulating System) एक जैसी है। हमारे शरीर में दिमाग हमारी सभी चेष्टाओं का पूर्णरूप से नियन्त्रण करता है, इसी प्रकार समाज में सरकार सब व्यक्तियों के कार्यों का नियमन करती है।

उपर्युक्त सादृश्यों के आधार पर स्पेन्सर ने प्राणि-शरीर और समाज में कई विचित्र एवं मनोरंजक तुलनाएँ व समानताएँ प्रदर्शित की हैं। उसका यह कहना है कि समाज के सैनिकों की तुलना हमारे शरीर को रोगों से बचाने वाली व्यवस्था से की जा सकती है, उसके मतानुसार यातायात में कमी और अधिकता हमारे रक्त-प्रवाह में होने वाली न्यूनता तथा अधिकता से मिलती है। रेलवे लाइनों और सड़कों को देहाती क्षेत्र से पृथक् करने वाली बाड़ें हमारी रक्त-वाहिनी शिराओं और धमनियों की दीवारों की भाँति हैं, कारखाने के विकास की तुलना अनेक जीव-कोषों की वृद्धि से मिलकर बनने वाले यकृत (Liver) से की जा सकती है।

इन सब समानताओं से स्पेन्सर इस परिणाम पर पहुँचता है कि समाज एक जीवित शरीर है, इसका विकास इसके भीतर से होता है, यह उसके सभी अंगों पर गहरा प्रभाव डालता है, अतः इसे शारीरिक विकास (organic growth) कहा जाता है तथा इस सिद्धान्त को सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) कहा जाता है।

किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी स्पेन्सर को स्वयमेव इनमें दो मौलिक भेद भी स्वीकार करने पड़े : (1) प्राणी के शरीर का स्वरूप निश्चित होता है, उसके सभी अंग आपस में जुड़े हुए होते हैं, वे अपना कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं रखते हैं, वे शरीररूपी यन्त्र के पुर्जे मात्र हैं, इससे पृथक् रूप में उनका कोई अस्तित्व या महत्त्व नहीं है। हाथ या पैर को यदि शरीर से काटकर पृथक् कर दिया जाए तो उसका कोई स्वतन्त्र जीवन सम्भव नहीं है। अतः स्पेन्सर शरीर के संगठन को स्थूल (Concrete) अथवा मूर्त्त रूप में दिखाई देने वाला मानता है। इसके विपरीत राज्य क अंग माने जाने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़े हुए, सम्बद्ध और मूर्त्त नहीं होते; उनका संगठन सूक्ष्म और चेतन (Discrete) होता है। (2) दूसरा भेद चेतना के केन्द्र की अवस्थिति का है। व्यक्ति के शरीर में चेतना शरीर के एक छोटे से भाग—मस्तिष्क में तथा नाड़ियों (Nerves) में केन्द्रित होती है, किन्तु समाज में ऐसी सामान्य अनुभूति या चेतना के केन्द्र (Centre of Common Consciousness) का अभाव होता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को काँटा लगने पर शरीर झटपट उसकी वेदना का अनुभव

करता है और प्रतिकार का उपाय करता है, किन्तु समाज में ऐसा नहीं है। स्पेन्सर के मतानुसार भारत के राज्य को एक शरीर माना जाना चाहिए, किन्तु इसके किसी भाग—उड़ीसा या बंगाल में अकाल पड़ने पर पंजाब, केरल आदि अन्य अंगों को अकाल के कष्टों की वैसी तीव्र अनुभूति नहीं होती, जैसी काँटा लगने पर सारे शरीर को होती है।

स्पेन्सर के मत में ये भेद सावयव सिद्धान्त को मिथ्या नहीं बनाते, अपितु व्यक्तिवाद को पुष्ट करते हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि समाज में व्यक्तियों की सामूहिक चेतना का केन्द्र कोई नहीं है, अतः समाज के सामाजिक हित का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण में ही समाज का कल्याण है, अतः उसे अपने हितों को प्राप्त करने में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

आलोचना—स्पेन्सर का यह सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) कई दृष्टियों से दोषपूर्ण है: (1) समाज को प्राणी के शरीर की भाँति मानना अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। इसके अनुसार समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों और शरीर की रचना करने वाले जीव-कोषों (Cells) को एक जैसा मानना पड़ेगा। किन्तु वास्तव में इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व, पृथक् व्यक्तित्व तथा अपनी इच्छाशक्ति होती है, उनमें सोचने-विचारने की शक्ति, बुद्धि और नैतिक स्वतन्त्रता है। किन्तु शरीर के जीव-कोषों में ये विशेषताएँ बिल्कुल नहीं हैं, वे शरीररूपी यन्त्र के पुर्जे या अंश मात्र हैं, इससे पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं है। (2) व्यक्ति समाज या राज्य से अलग होकर जंगल में रहते हुए अपना स्वतन्त्र जीवन बिता सकता है। किन्तु यदि किसी शरीर से उसके हाथ या पैर को काट दिया जाए तो वह नष्ट हो जाएगा। (3) शरीर और समाज के जन्म और विकासक्रम में भी गहरा भेद है। शरीर का जन्म नर-नारी के तत्त्वों से मिलकर होता है, वह शैशव, यौवन और बुढ़ापे की अवस्थाओं में से होता हुआ नष्ट हो जाता है। किन्तु राज्य का जन्म नर-नारी के संयोग से नहीं होता, उसमें बचपन आदि की अवस्थाओं का क्रमिक विकास नहीं दिखाई देता है, वह मनुष्य के शरीर की भाँति काल का ग्रास नहीं बनता। उसमें होने वाले परिवर्तन बड़े सूक्ष्म और अलक्ष्य होते हैं। (4) एक सजीव शरीर में सब अंग—हाथ, पैर, मुँह, नाक आदि भौतिक रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और शरीर का निर्माण करते हैं, समाज का निर्माण करने वाले व्यक्ति इस प्रकार भौतिक दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं होते हैं। (5) शरीर में हाथ-पैर आदि अंगों की स्थिति निश्चित होती है। वे अपनी इस स्थिति से इधर-उधर नहीं हो सकते हैं, किन्तु समाज में मनुष्य की स्थिति किसी विशेष स्थान के साथ बँधी हुई नहीं होती है। वे स्वतन्त्रतापूर्वक कहीं भी आ-जा सकते हैं। (6) शरीर में अनुभव करने की शक्ति एक विशेष अंग में ही होती है, किन्तु समाज में सभी व्यक्ति यह शक्ति रखते हैं।[1] (7) व्यक्ति के शरीर मे चेतना (Consciousness) और प्राण एक विशेष स्थान मे केन्द्रित होते हैं, जब यह प्राण शरीर से निकल जाता है तो जीवित शरीर मृत हो जात है। किन्तु समाज में चेतना या प्राण का कोई निश्चित स्थान नहीं होता है,

---

[1] हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन मॉडर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 307.

अतः वह चिरस्थायी और अमर होता है, व्यक्ति के समान नश्वर या अल्पकालस्थायी नहीं होता। अतः समाज और शरीर के सादृश्य वास्तविक नहीं, किन्तु भ्रान्तिपूर्ण हैं।

बार्कर ने इस भ्रान्ति का मूल कारण स्पष्ट करते हुए तथा स्पेन्सर की आलोचना करते हुए कहा है कि राज्य जीवित प्राणी नहीं है, अपितु उस जैसा संगठन है। स्पेन्सर की भूल यह है कि उसने राज्य को जीवित प्राणी मान लिया है। वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि राज्य एक भौतिक रचना नहीं, किन्तु मानसिक रचना (mental structure) है; क्योंकि यह एक समान उद्देश्य और प्रयोजन से प्रेरित होने वाले विभिन्न व्यक्तियों के मनों के सम्मिलन से प्रादुर्भूत होने वाला संगठन है। किन्तु यह मानसिक रचना दो दृष्टियों से शरीर से समानता रखती है—(क) इसके सामान्य उद्देश्य की पूर्ति इस बात पर निर्भर है कि इसके विभिन्न अंग एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध अपने कार्यों को समुचित रूप से करते रहें, इस प्रकार इसमें सजीव शरीर में पाई जाने वाली एकता (organic unity) जैसी एकता पाई जाती है। (ख) इसमें कोई भी परिवर्तन अन्दर से इस प्रकार होता है कि उसका सब अंगों पर प्रभाव पड़ता है, अतः इसका विकास सजीव शरीर के विकास (organic growth) जैसा है। किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी इस तथ्य को मानना पड़ता है कि राज्य एक सजीव शरीर (organism) नहीं है, क्योंकि यह स्वयमेव संकल्प या निश्चय करने वाले मनों से प्रादुर्भूत होने वाला मानसिक संगठन है। स्पेन्सर का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने जीवित शरीर और राज्य में ऊपर से दिखाई देने वाले सादृश्यों के आधार पर दोनों को अभिन्न मान लिया है। वस्तुतः प्राणी का शरीर भौतिक जगत से तथा राज्य मानसिक जगत् से सम्बन्ध रखता है। बार्कर के कथनानुसार स्पेन्सर इन दोनों की समानताओं को विस्तृत रूप से दिखाने में ही इतना व्यस्त रहा है कि उसने इनके मौलिक अन्तर की उपेक्षा कर दी है। इस कारण उसके सिद्धान्त का मूल आधार भ्रान्तिपूर्ण है तथा उसका मत यथार्थ नहीं है। इसका एक अन्य बड़ा दोष यह भी है कि यदि राज्य को शरीर मान लिया जाए तो व्यक्ति के अधिकारों की कोई स्थिति नहीं रहती है। समूचे शरीर की तुलना में हाथ-पैर आदि अंगों के कोई अधिकार नहीं होते, उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता या जीवन नहीं हो सकता है। राज्य के सावयवी (organic) सिद्धान्त को मानने वाले हेगल, बोसांके आदि विचारकों ने राज्य की तुलना में व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं माने हैं। किन्तु स्पेन्सर ने इस तर्कसंगत स्थिति को स्वीकार न करते हुए व्यक्ति के अधिकारों पर बहुत बल दिया है। अब यहाँ इनका वर्णन किया जाएगा।

(5) **व्यक्ति के अधिकार**—स्पेन्सर का विश्वास है कि संसार में सबसे अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण बात व्यक्ति को उसके गुणों और योग्यताओं के विकास के लिए पूरी स्वाधीनता देना है, क्योंकि वह इसी से सुख प्राप्त कर सकता है। **'सामाजिक स्थितिविज्ञान'** में उसका पहला मौलिक सिद्धान्त (First Principle) प्रत्येक व्यक्ति को उस हद तक पूरी स्वतन्त्रता देना है, जहाँ तक यह दूसरों की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। स्पेन्सर व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य और आन्तरिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता के अधिकार का समर्थन इन युक्तियों से करता है। व्यक्ति के बाह्य एवं प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले भौतिक क्षेत्र के सम्बन्ध में एडम स्मिथ की भाँति उसका भी यही विचार है कि प्रकृति ने भौतिक जगत् की एक बड़ी सुन्दर योजना बनाई है,

इसमें सबका एक-दूसरे के साथ सुन्दर समन्वय स्थापित किया है और प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की व्यवस्था की है, अतः व्यक्ति को बाह्य जगत् में स्वतन्त्रता का अधिकार प्रकृति से प्राप्त हुआ है। आन्तरिक क्षेत्र में उसका यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में न्याय, प्रेम, सहानुभूति और परोपकार की ऐसी भावना निहित है कि वह स्वयमेव दूसरों के अधिकारों का ध्यान रखेगा और सब व्यक्ति निर्बाध रूप से अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे। स्वतन्त्रता आदि के इन अधिकारों को प्राकृतिक कहने का कारण यह है कि ये मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव में विद्यमान हैं, समाज का निर्माण होने से पहले की (Pre-social) प्राकृतिक दशा से ही मनुष्य को प्राप्त हैं।

स्वतन्त्रता के साथ, स्पेन्सर व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का भी अधिकार देता है। किन्तु इस विषय में उसकी एक विशेषता उल्लेखनीय है। वह भूमि पर किसी व्यक्ति का निजी अधिकार नहीं मानता है, क्योंकि वह भूमि पर सब व्यक्तियों द्वारा समान स्वतन्त्रता के साथ अधिकार रखने के मौलिक सिद्धान्त का विरोधी है। अतः इसका अर्थ यह है कि भूमि पर राज्य का एवं राष्ट्र का स्वामित्व होना चाहिए, किन्तु फिर भी समाज में भूमि तथा इसकी पैदावार पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि भूमि के एक अंश पर व्यक्ति ने अपना परिश्रम लगाकर वस्तु उत्पन्न की है और समाज ने इसे स्वीकार किया है। यहाँ स्पेन्सर की इस अधिकार के समाज द्वारा स्वीकृत करने की शर्त वस्तुतः उसके प्राकृतिक अधिकारों की नींव को खोखला कर देती है, क्योंकि इससे यह परिणाम निकलता है कि अधिकार मनुष्य की प्रकृति से या उसके स्वभाव से नहीं मिलते, अपितु समाज की सहमति से मिलते हैं, जैसा ग्रीन ने माना था।

स्पेन्सर ने अपनी एक अन्य पुस्तक 'The Man versus the State' में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन प्राणिशास्त्र के आधार पर किया है। उसका कहना है कि यदि मनुष्य को अच्छी तरह जीवित रहना है तो उसे अपने जीवन के लिए सभी आवश्यक कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उसे अपने प्राकृतिक अधिकार मिलने चाहिएँ। किन्तु यह युक्ति बड़ी निस्सार और थोथी है। हक्सली (Huxley) ने इसका खण्डन करते हुए कहा है, यदि उत्तम जीवन के आधार पर प्राकृतिक अधिकारों को मानना हो तो यह **शेर के अधिकारों** (Tiger Rights) जैसी बात होगी। शेर को जीवन धारण करने के लिए गौ को खाना चाहिए। क्या इसी प्रकार मनुष्य को अपने जीवन को बनाए रखने के लिए दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण करना चाहिए? यदि समाज में इस व्यवस्था को मान लिया जाए तो बलवान् निर्बलों को हड़प जाएँगे। स्पेन्सर इस अवांछनीय स्थिति से बचने के लिए यह कहता है कि मनुष्य के तथा शेर के अधिकारों में अन्तर है, इसका कारण समाज में अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति है। शेर जंगल का राजा है, वह वहाँ मनमाना व्यवहार कर सकता है, किन्तु मनुष्य को समाज में अन्य प्राणियों के साथ मिलकर रहना है, अतः उसे ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएँ, जो अन्य व्यक्तियों के कार्य या स्वतन्त्रता में बाधा डालते हों। यदि मनुष्य इस प्रकार अपने कुछ दावों (Claims) या स्वतन्त्रताओं का परित्याग करता है तो उसकी शेष स्वतन्त्रताओं और दावों को **नैतिक अधिकार** (Ethical Rights) कहा जाना

चाहिए। किन्तु इससे स्पेन्सर के सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह आ जाता है कि यदि इन्हें नैतिक अधिकार समझा जाए तो ये प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) नहीं रह जाते। अत: स्पेन्सर का व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का विचार बड़ा असंगत और परस्पर विरोधी है। बार्कर ने इस विरोध को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—"स्पेन्सर किसी समय तो इस बात पर बल देता है कि प्राकृतिक अधिकार मनुष्य में स्वाभाविक रूप से निहित हैं और कभी यह मानता है कि अधिकारों के लिए समाज से स्वीकृति लेना आवश्यक है।"[1] किसी समय वह इसका समर्थन प्राणिशास्त्र के आधार पर करता है और कभी वह इन्हें नैतिक अधिकार मानता है।

राज्य के कार्य—स्पेन्सर विकासवाद का परम भक्त और व्यक्ति के अधिकारों का प्रबल पोषक था, अत: उसने राज्य के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक सीमित करते हुए व्यक्ति को अपने विकास के लिए पूरी छूट दी है। वह राज्य को एक अनिवार्य बुराई मानता था, राज्य एक अल्पकालस्थायी संस्था थी, समाज की अन्तिम आदर्श स्थिति अराजक दशा की थी, जिसमें राज्य की संस्था का लोप हो जाएगा। उस समय मनुष्यों में ऐसा समन्वय और सामंजस्य स्थापित हो जाएगा कि राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस समय जिस प्रकार अनेक ईसाई रोमन कैथोलिक चर्च की उपेक्षा करते हैं, इसी प्रकार भविष्य में मनुष्यों में सहयोग और समन्वय की भावना प्रबल होने पर राज्य सर्वथा अनावश्यक और उपेक्षित संस्था हो जाएगी।

स्पेन्सर ने राज्य के कार्यों का विरोध विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया है। इसके अनुसार जीवन के लिए उग्र संघर्ष प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। इसमें योग्यतम और शक्तिशाली की विजय होती है; निर्बल तथा अयोग्य नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति की बड़ी हितकर व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, जंगल में कुछ शिकारी जानवर कमजोर और बूढ़े प्राणियों का संहार करते हैं। इस प्रकार की मृत्यु से तीन प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है—बूढ़े जानवर को अपने दयनीय दु:खपूर्ण जीवन से मुक्ति मिल जाती है, नौजवान जानवर बूढ़ों की प्रभुता से मुक्त होकर जीवन का अधिक आनन्द उठाते हैं और शिकारी जानवरों को बूढ़े तथा कमज़ोर प्राणियों का शिकार करने में बड़ा मज़ा आता है। यद्यपि यह व्यवस्था ऊपरी दृष्टि से कठोर और निर्दयतापूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु यह बड़ी हितकर है क्योंकि इससे अयोग्य एवं निर्बल तत्त्वों का सफाया होता रहता है, समाज शक्तिशाली एवं सुदृढ़ बना रहता है। मानव-समाज में भी इस लाभप्रद और कठोर व्यवस्था को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य इस संघर्ष को निर्बाध रूप से चलने दे, निर्बल व्यक्तियों की सहायता न करे।

अत: राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस जीवन-संघर्ष में हस्तक्षेप न करते हुए केवल उन्हीं कार्यों को करे, जो समाज एवं राज्य को बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक हैं। ये तीन प्रकार के कार्य हैं—(1) विदेशी आक्रमणों से व्यक्तियों की रक्षा, (2) आन्तरिक उपद्रवकारियों—चोर-डाकुओं आदि के आतंक से नागरिकों को सुरक्षित बनाना, (3) कानून के अनुसार किए गए समझौतों का पालन करवाना। राज्य को ये सब निषेधात्मक कार्य ही करने चाहिएँ, कोई भावात्मक कार्य नहीं करना चाहिए।

1. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 110.

शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और जनहित के कार्यों का राज्य द्वारा किया जाना समुचित नहीं है। राज्य को शिक्षा के प्रसार के लिए विद्यालय नहीं खोलने चाहिएँ, बीमारों के इलाज के लिए चिकित्सालय भी नहीं खोले जाने चाहिएँ, मज़दूरों की दशा सुधारने के लिए 'कारखाना कानून' नहीं बनाने चाहिएँ, निर्धनों को राज्य की ओर से भरण-पोषण की सहायता (Poor relief) नहीं दी जानी चाहिए। राज्य की ओर से मुद्रा व्यवस्था तथा डाक-तार की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।[1] स्पेन्सर का यह विचार था कि यदि लोग शिक्षा या स्वास्थ्य की व्यवस्था के महत्त्व को समझेंगे तो इसके लिए स्वयमेव स्कूल और हस्पताल खोल लेंगे और अधिक उत्साह से काम करेंगे। इसी प्रकार गरीबों को अपनी दशा स्वयमेव सुधारनी चाहिए; यदि वे इसे नहीं सुधारते हैं तो वे अयोग्य हैं, यदि उन्हें सहायता देकर जीवित रखा गया तो वे समाज पर भाररूप ही सिद्ध होंगे तथा उसकी प्रगति में बाधा डालेंगे। इसी तरह जनता को यदि डाक, तार, मुद्रा आदि की व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होगी तो लोग स्वयमेव इनकी व्यवस्था कर लेंगे। इस प्रकार बार्कर के शब्दों में स्पेन्सर राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में प्रधान रूप से इस बात का ही प्रतिपादन करता है कि राज्य को कौनसे कार्य नहीं करने चाहिएँ। जिस प्रकार हमारे शास्त्र भगवान् का वर्णन 'नेति'-'नेति' के शब्दों से करते हैं, उसी प्रकार स्पेन्सर राज्य के कार्यों का वर्णन नकारात्मक रूप में ही करता है।

स्पेन्सर एक अन्य कारण से भी राज्य के कार्यों का विरोध करता है। उसमें यह जन्मजात एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति थी कि वह स्वतन्त्रता से प्रेम करे और सत्ता का विरोध करे। उसने Man versus State नामक पुस्तक में तथा इसके **'विधान-निर्माताओं के पाप'** (Sins of Legisiators) नामक निबन्ध में इस बात का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है कि राज्य ने कितने मूर्खतापूर्ण कानून बनाए हैं, विधानमण्डलों के अशिक्षित, अनुभवहीन सदस्यों ने अतीत काल में कितनी भयंकर भूलें करके समाज को हानि पहुँचाई हैं, अतः भविष्य में उन पर कोई भरोसा नहीं रखा जाना चाहिए। राज्य को इन कानूनों के आधार पर कोई भी कार्य नहीं करने देने चाहिएँ। इसके साथ ही वह बड़े उग्र शब्दों में पार्लियामैण्ट की प्रभुसत्ता का विरोध करते हुए कहता है—"अतीत काल में एक बड़ा राजनीतिक अन्धविश्वास राजाओं का दैवी अधिकार (Divine Right of Kings) था; वर्तमान समय का एक बड़ा राजनीतिक अन्धविश्वास पार्लियामैण्टों का दैवी अधिकार है।"[2]

आलोचना—किन्तु आजकल स्पेन्सर के इन सिद्धान्तों को कोई भी व्यक्ति सही नहीं मानता है। मैक्सी ने लिखा है कि वर्तमान समय के आलोचक उसे पूरा ज्ञान न रखने

1. स्पेन्सर को राज्य की डाक-व्यवस्था में इतना अविश्वास था कि वह अपनी पुस्तक की पाण्डुलिपि प्रकाशक को डाक से न भेजकर स्वयमेव उसके पास जाकर उसे सौंपा करता था (विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० 431, स्पेन्सर की आत्मकथा खण्ड 1, पृ० 239)। स्पेन्सर को नींद न आने की बीमारी थी, इसलिए उसने राज्य द्वारा केवल एक ही कार्य के किए जाने पर बल दिया था, यह एक कानून बनाकर रेलगाड़ियों के इंजनों का रात के समय सीटी बजाना बन्द करना था, क्योंकि सीटी बजाने से उसकी नींद में बड़ी बाधा पड़ती थी (स्पेन्सर—प्रिंसिपल्ज ऑफ ईथिक्स, खण्ड 1, पृ० 296)।

2. स्पेन्सर—मैन वर्सस स्टेट (1897 का संशोधित संस्करण), पृ० 377.

वाला वैज्ञानिक (Amateur Scientist) तथा अधकचरा दार्शनिक (Pesudo-Philosopher) मानते हैं।[1] स्पेन्सर के समय से विज्ञान ने विकासवाद के बारे में बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और यह स्पेन्सर के सिद्धान्तों का पोषण करने के स्थान पर उसका खण्डन करता है। बार्कर ने लिखा है कि वह अधूरी सामग्री को पूरी तरह समझे बिना, इसके आधार पर सामान्य नियमों की कल्पना करने में बड़ा कुशल था। यही कारण है कि उसके सिद्धान्तों को उसके समय में जितनी लोकप्रियता और यश मिला था, ज्ञान की वृद्धि के साथ उसकी कीर्ति उतनी ही जल्दी क्षीण होने लगी। ब्रिण्टन के व्यंग्यपूर्ण शब्दों में किसी समय उसके ग्रन्थों को चाव से पढ़ा जाता था, उन पर चर्चा होती थी, उनमें प्रतिपादित मन्तव्यों का प्रबल समर्थन किया जाता था, किन्तु आजकल उसके ग्रन्थ कबाड़ी बाजार में भी नहीं बिकते और दर्शनशास्त्र में डॉक्टर की उपाधि पाने के इच्छुक जर्मन या अमेरिकन विद्वान् भी इसका अध्ययन नहीं करते।[2] इस समय उसके सिद्धान्तों में निम्नलिखित प्रमुख दोष बताए जाते हैं।

पहला दोष उसके सिद्धान्तों का पारस्परिक विरोध और असंगति है। एक ओर तो वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों पर बल देता है और दूसरी ओर वह समाज को एक जीवित शरीर (organism) मानता है तथा इसके साथ इसके सादृश्यों और समानताओं का विस्तृत प्रतिपादन करता है। ये दोनों सर्वथा विरोधी सिद्धान्त हैं। यदि व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण और साध्य माना जाए तो समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्र रह जाता है, इसमें व्यक्ति प्रधान और समाज गौण हो जाता है, किन्तु यदि समाज को जीवित शरीर माना जाए तो इसमें समाज प्रधान तथा व्यक्ति गौण बन जाता है। स्पेन्सर ने इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों को एकसाथ सही बताने का विफल प्रयास किया है। बार्कर के शब्दों में उसने दो अलग दिशाओं में चलने वाले बैलों की भाँति राजनीति-शास्त्र और प्राणिशास्त्र को एक ही जुए में जोतने का निष्फल प्रयत्न किया है।[3] वस्तुत: उसकी असली सहानुभूति व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के साथ है, राज्य की शरीर के साथ तुलना एक रूपक मात्र है। इसके वास्तविक परिणाम—समाज की प्रधानता और व्यक्ति की गौणता को स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं है। **दूसरा** दोष प्राकृतिक अधिकारों की भ्रान्तिपूर्ण कल्पना है, पहले (पृ० 485-87) इसका वर्णन हो चुका है। **तीसरा** दोष विकासवाद के विषय में ऐसी कल्पनाएँ करना है, जो अब अवैज्ञानिक समझी जाती हैं। उसने विकासवाद तथा उन्नति को प्रगति का पर्याय माना और यह विचार रखा था कि विकास सदैव उन्नति की दिशा में ही होता है, समाज में विकास की अन्तिम आदर्श स्थिति आने पर आगे कोई विकास नहीं होता है। आधुनिक वैज्ञानिक इन दोनों कल्पनाओं को सत्य नहीं मानते हैं। **चौथा** दोष सैनिक तथा औद्योगिक समाज की भ्रान्तिपूर्ण कल्पना है। इतिहास की साक्षी इसका विरोध करती है। स्पेन्सर की मान्यता यह है कि व्यापारी और औद्योगिक समाज युद्ध करना बन्द कर देते हैं, किन्तु यूनान में एथेन्स ने अपना व्यापारिक उत्कर्ष पाने के बाद ही अधिकांश लड़ाइयाँ लड़ी थीं। 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र अपने उद्योग-धन्धों

---

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज पृ० 562.
2. क्रेन ब्रिण्टन—इंगलिश पोलिटिकल थॉट इन दी नाइण्टीन्थ सेंचुरी, पृ० 227.
3. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 113.

के लिए कच्चा माल पाने तथा तैयार माल की बिक्री के लिए उपयुक्त मण्डियों को सुरक्षित बनाने के लिए तथा अपने साम्राज्य बढ़ाने की दृष्टि से अनेक युद्ध करते रहे हैं। वर्तमान युग में सैनिकवाद का परमभक्त जर्मनी विश्व का एक महान् औद्योगिक राष्ट्र बना हुआ है। **पाँचवाँ** दोष समाजवाद के सम्बन्ध में यह भ्रान्त कल्पना थी कि इसका जन्म सैनिक और समाजवादी राज्यों में होता है, इसका उद्योग-धन्धों से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें केन्द्रीयकरण की तथा सरकार की शक्ति बढ़ाने की, व्यक्ति को राज्य के अधीन बनाने की वही प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका दर्शन हमें सैनिक-राज्यों में होता है। अगले अध्यायों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि समाजवाद का विकास औद्योगिक राज्यों में ही होता है, इसका उद्योग-धन्धों के विकास से गहरा सम्बन्ध है।

छठा दोष उसकी कट्टरता और असहिष्णुता थी, उसे अपने सिद्धान्तों पर ऐसा गहरा विश्वास था कि वह विरोधी पक्ष को सुनना तक भी पसन्द नहीं करता था। किन्तु बुढ़ापे में उसकी सम्मतियों और विचारों की उग्रता कुछ कम होने लगी थी। पहले वह सदैव इंगलैण्ड में उसके समय में विद्यमान राजतन्त्र की खिल्ली उड़ाया करता था, किन्तु अब उसने यह अनुभव किया कि जिस प्रकार बच्चों को गुड़िया के साथ खेलने में आनन्द आता है, उसी प्रकार ब्रिटिश लोग अपने राजा से बड़े प्रसन्न रहते हैं, उन्हें इस आनन्द से वंचित करना ठीक नहीं है। उसने यह भी अनुभव किया कि धार्मिक विश्वास गम्भीर प्रेरणाओं तथा आवश्यकताओं पर आधारित हैं, उन्हें कोरे तर्कों से नहीं बदला जा सकता है अपने जीवन की संध्या में वह यह अनुभव करने लगा था कि दुनिया उसके ग्रन्थों की उपेक्षा करते हुए मनमाने ढंग से आगे बढ़ रही है, उसने जीवन के आनन्दों का उपभोग न करते हुए साहित्यिक यश पाने की लालसा से कठोर परिश्रम द्वारा अपना जीवन और स्वास्थ्य बरबाद करके एक बड़ी मूर्खता की है। 1903 में अपनी मृत्यु के समय उसे यह विश्वास हो चुका था कि उसका सारा परिश्रम बिल्कुल बेकार था।[1] क्या वास्तव में यही बात थी ?

स्पेन्सर का महत्त्व और मूल्यांकन—अपने विषय में स्पेन्सर की उपर्युक्त धारणा सही नहीं प्रतीत होती है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में वह अपनी कई देनों के कारण सदैव स्मरणीय बना रहेगा। उसकी **पहली** देन राज्य के अवयवी सिद्धान्त (Organic Theory of the State) का विशदतम और स्पष्टतम प्रतिपादन था। उससे पहले किसी ने इतनी अधिक स्पष्टता के साथ राज्य की शरीर से तुलना नहीं की थी। मैक्सी के मतानुसार उसने इस सिद्धान्त को विकास के चरम शिखर तक पहुँचाया था। **दूसरी** देन विधानसभाओं के कानूनों द्वारा समाज का सुधार करने की सम्भावना का खण्डन करना था; केवल सरकारी कानूनों से जनता का सुधार करने की मूर्खता को उसने अपनी कृतियों में भलीभाँति प्रदर्शित किया और इससे यह बात स्पष्ट हुई थी कि समाज में परिवर्तन बड़ी मन्थर गति से होता है, मनुष्य अपनी परम्परागत रूढ़ियों और रिवाजों को तथा अपनी आदतों को आसानी से छोड़ने को तैयार नहीं होते हैं। **तीसरी** देन वैयक्तिक अधिकारों का प्रचण्ड समर्थन और राज्य द्वारा अहस्तक्षेप (laissez faire) के सिद्धान्त के लिए वैज्ञानिक आधार को प्रस्तुत करना था। उसने समष्टिवाद और

1. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ॰ 434.

साम्यवाद के प्रबल प्रवाह का विरोध करते हुए व्यक्ति के अधिकारों का बड़ी उग्रता से पोषण किया। इस दृष्टि से आज भी स्पेन्सर का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इस समय राज्य की शक्ति निरन्तर बढ़ रही है और व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने की आवश्यकता पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। **चौथी** और सबसे बड़ी विशेषता अपने युग के ज्ञान-विज्ञान का अद्‌भुत समन्वय प्रस्तुत करना था। स्पेन्सर 19वीं शताब्दी का वेदव्यास था, जिस प्रकार प्राचीन काल में कृष्णद्वैपायन व्यास ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय का वर्गीकरण और समन्वय किया था, वैसे ही स्पेन्सर ने 19वीं शताब्दी के दर्शन, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि सभी ज्ञान-विज्ञानों का समन्वय किया था। ऐसे विशाल कार्य में भूलें रह जाना स्वाभाविक है, किन्तु इनसे इस कार्य की गरिमा और महत्ता में कोई कमी नहीं आती है। "यदि हम इस समय स्पेन्सर के समय से भी अधिक ज्ञान रखते हैं तो इसका कारण उसके द्वारा भगीरथ परिश्रम से निकाले गए ज्ञान-नवनीत से लाभ उठाना है।" विल ड्यूरैण्ट के शब्दों में, "हम उसके कन्धों पर चढ़कर उससे ऊपर उठ सकते हैं।"[1] उसने 19वीं शताब्दी के ज्ञान-विज्ञान के समन्वय जैसा अद्‌भुत कार्य किया था, बीसवीं शताब्दी के ज्ञान-विज्ञान के वैसे समन्वय के कार्य को कोई विद्वान् अब तक नहीं कर सका। यही उसकी महत्ता का एक प्रबल प्रमाण है।

1. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी ऑफ फिलासफी, पृ० 433.

तेईसवाँ अध्याय

कार्ल मार्क्स तथा लेनिन

मार्क्स का महत्त्व—वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्त्तक, क्रान्तिकारी विचारक महर्षि मार्क्स समाजवादी विचारकों में असाधारण महत्त्व रखते हैं। पिछली एक शताब्दी में उनके विचारों ने संसार पर जितना गहरा प्रभाव डाला है, उतना संभवतः इस युग के किसी अन्य विचारक ने प्रभाव नहीं डाला है। इस दृष्टि से उनकी तुलना संसार के महान् धर्मप्रवर्त्तकों—बुद्ध, ईसा और मुहम्मद से की जा सकती है। पश्चिमी जगत् में ईसाइयत और इस्लाम के बाद साम्यवाद जैसा कोई विशाल जनान्दोलन नहीं हुआ है। आज संसार में करोड़ों व्यक्ति मार्क्स को नवयुग का देवता मानते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसके ग्रन्थों को वेद, बाइबल और कुरान जैसा धर्मग्रन्थ मानते हैं, उसके सिद्धान्तों में अगाध श्रद्धा एवं आस्था रखते हैं, उससे प्रेरणा पाते हुए आदर्श साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए उद्यत हैं।

मार्क्स की जीवनी—मार्क्स का जन्म फ्रेंच राज्यक्रान्ति से अत्याधिक प्रभावित राइन नदी के तटवर्ती जर्मन प्रदेश राइनलैण्ड के एक छोटे नगर ट्रेयर या ट्रीव्ज़ में हुआ। चौथी शताब्दी ई० में इस नगर ने ईसाइयत के एक महान् सन्त एम्ब्रोज़ (Ambrose) को पैदा किया था; अब इसने साम्यवाद के सन्त को जन्म दिया। मार्क्स का पिता एक मध्यवर्गीय यहूदी वकील था। मार्क्स की आरम्भिक शिक्षा उसके भावी श्वसुर, उदार विचारक एवं कुलीन व्यक्ति वैस्टफेलन के घर पर और एक विद्यालय में हुई। उसने वैस्टफेलन के सम्पर्क से शेक्सपियर, शिलर, दाँते आदि महाकवियों की कृतियों में रस लेना शुरू किया, इसने उसमें सहृदयता और कविता की प्रेरणा को उत्पन्न किया।

विद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद, उसने सत्रह वर्ष की आयु में पहले जेना के तथा बाद में बर्लिन के विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। उसका पिता मार्क्स को कानून की शिक्षा दिलाना चाहता था, किन्तु मार्क्स ने यहाँ दर्शन और इतिहास का अध्ययन किया, दिन-रात वह दर्शनशास्त्र के गम्भीर अध्ययन में निमग्न रहता था। बर्लिन में अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद उसने 1841 में जेना के विश्वविद्यालय से 'डेमोक्रिटस और एपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शनों' पर निबन्ध लिखकर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

मार्क्स को अपने बाइबल-विरोधी नास्तिक विचारों के कारण किसी सरकारी विश्वविद्यालय में नौकरी नहीं मिल सकती थी, अतः उसने पत्रकारिता को अपनी

आजीविका का साधन बनाया। 25 वर्ष की आयु में उसका विवाह वैस्टफेलन के कुलीन नवाब (Baron) की रूपवती और बुद्धिमती 29 वर्षीया कन्या जेनी से हुआ। विवाह के बाद जेनी के जीवन में सुख नहीं बदा था। उसे अपने पति के साथ विभिन्न देशों में भटकना पड़ा। मार्क्स जिस देश में जाता था, वहाँ से उसे क्रान्तिकारी विचारों के कारण निर्वासित कर दिया जाता था। 1843 में मार्क्स को जर्मनी छोड़कर पेरिस आना पड़ा। यहाँ पर वह फ्रेंको-जर्मन अब्दकोशों (Franco-German Year Books) का सम्पादक बना और उसने तत्कालीन संस्थाओं और प्रथाओं की उग्र आलोचना आरम्भ की। यहीं 1844 में उसका परिचय इसी अब्दकोश में लेख लिखने वाले जर्मनीवासी किन्तु मैन्चेस्टर में व्यापार करने वाले फ्रेडरिक एंगल्ज़ से हुआ। यह परिचय शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रता में परिणत हो गया और इसी कारण मार्क्स अपना शेष जीवन साहित्यिक अध्ययन और लेखन में लगा सका।

मार्क्स के दुर्भाग्य से अब्दकोश का प्रकाशन शीघ्र ही बन्द हो गया। बेकार हो जाने पर उसने ब्रिटेन और फ्रांस में प्रचलित अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजवाद के सिद्धान्तों का गहरा अनुशीलन करके **'पवित्र परिवार'** (The Holy Family) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें उसने इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों को बीज रूप से प्रतिपादित करते हुए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को दरिद्र एवं सर्वहारा वर्ग (Proletariat) द्वारा समाप्त करने पर बल दिया। इस समय पेरिस में वह प्रूदों आदि फ्रेंच समाजसुधारकों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। प्रशियन सरकार अभी तक उसके पीछे पड़ी हुई थी। उसके आग्रह पर 1845 में फ्रेंच सरकार ने मार्क्स को फ्रांस छोड़कर चले जाने का आदेश दिया। मार्क्स को विवश होकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्ज़ में शरण लेनी पड़ी। यहाँ अगले तीन वर्ष—फरवरी 1848 तक रहते हुए उसने एंगल्ज़ द्वारा भिजवाए हुए अर्थशास्त्र-विषयक अनेक ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हुए प्रूदों द्वारा साम्यवाद के खण्डन में लिखी गई पुस्तक का उत्तर **दर्शन की दरिद्रता** (Misere de la Philosophie) के रूप में 1847 में दिया। इसमें उसने सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन-विषयक अपने विचारों का प्रतिपादन किया। इस समय वह जर्मन मजदूरों का संघ सुदृढ़ करने में लगा हुआ था, उसने इसे 'कम्यूनिस्ट संघ' का नाम दिया। इस संस्था ने अपनी दूसरी बैठक में मार्क्स को इसका एक कार्यक्रम तैयार करने का आदेश दिया। यह कार्यक्रम ही सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक **कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र** (Communist Manifesto) है। यह मार्क्स और एंगल्ज़ की संयुक्त कृति थी, 1848 में यूरोप के अनेक देशों में क्रान्तियाँ होने के समय इसका प्रकाशन हुआ था। 1848 की क्रान्तियों में मार्क्स ने जर्मनी और फ्रांस में इन्हें सफल बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु इनके विफल होने पर 1 49 में वह पेरिस से निर्वासित होकर लन्दन चला आया, उसने अपने जीवन के शेष वर्ष यह व्यतीत किए और अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक पूंजी लिखी। 1875 से उसका स्वास्थ्य बहुत खराब रहने लगा। 14 मार्च 1883 को वह दिवंगत हुआ। एंगल्ज़ ने उसकी मृत्यु पर अपने एक अमेरिकन मित्र को पत्र में लिखा—"मानव-जाति में आज एक मस्तिष्क कम हो गया, वह वस्तुतः वर्तमान युग का सबसे **महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क था।**"

वैज्ञानिक समाजवाद का स्वरूप—कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों को आजकल मार्क्सवाद (Marxism) नाम दिया जाता है, किन्तु उसने स्वयमेव उन्हें **वैज्ञानिक समाजवाद** (Scientific Socialism) का नाम दिया है। यह नाम सेण्ट साइमन, फूरियर जैसे पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों से उसकी विचारधारा को पृथक् करने के लिए दिया गया है। मार्क्स यह मानता था कि उससे पहले के विचारकों ने समाजवाद की आदर्श अथवा हवाई योजनाएँ बनाई थीं, वे केवल आर्थिक विषमता के स्थान पर समाज में धन के न्यायोचित वितरण पर बल देते थे, किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया था कि यह विषमता समाज में क्यों उत्पन्न होती है, इसका उत्पादन की विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है, उन्होंने समाज की प्रगति और विकास के नियमों को समझने का प्रयत्न नहीं किया था। उनकी दूसरी बड़ी कमी यह थी कि उन्होंने समाजवाद को आदर्श तथा वांछनीय व्यवस्था मानते हुए भी यह नहीं बताया था कि इसकी स्थापना किस प्रकार किन पद्धतियों से की जानी चाहिए, इसके स्थापित होने की क्या सम्भावना है।

उसने अपने मत को वैज्ञानिक इसलिए कहा है कि उसने एक वैज्ञानिक की भाँति समाज के स्वरूप एवं विकास के नियमों की खोज करने का प्रयत्न किया था, उसने यह पता लगाया था कि समाज में परिवर्तन क्यों होते हैं, भविष्य में ये परिवर्तन किस प्रकार तथा किन दशाओं में होंगे। वह अपने अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचा था कि मानव-समाज में परिवर्तन अकस्मात् और अकारण नहीं होते हैं, अपितु बाह्य प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों की भाँति कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार होते हैं। इन नियमों की खोज के बाद मानव-समाज के सम्बन्ध में ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया जा सकता है, जो कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर मानव-जाति के वास्तविक अनुभवों पर और इसके विकास को संचालित करने वाले वैज्ञानिक नियमों पर आश्रित हों। मार्क्स का विचार था कि उसका मत ऐसी वैज्ञानिक सामग्री के आधार पर निश्चित किया गया है, अतः उसने उसे वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का नाम दिया। इसके प्रधान सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism)—यह मार्क्स के विचारों का मूलाधार है, उसके मतानुसार सारे संसार की सभी समस्याओं में यह हमारा यथार्थ पथ-प्रदर्शन करता है, इससे न केवल हमें वर्तमान काल में, अपितु भविष्य में समाज में होने वाले परिवर्तनों की दिशा ज्ञात होती है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में दो शब्द हैं, इनमें पहला शब्द तो उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है और दूसरा शब्द इस सृष्टि के मूल तत्त्व को सूचित करता है। यहाँ पहले भौतिकवाद का वर्णन करने के बाद द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का वर्णन किया जाएगा।

जड़ प्रकृति या भूत (Matter) **का स्वरूप और विशेषताएँ**—मार्क्स विशुद्ध अद्वैतवादी है, वह इस सृष्टि का एकमात्र मूल तत्त्व जड़ प्रकृति या भूत (Matter) को समझता है। भूत का तात्पर्य अपनी इन्द्रियों से दिखाई देने वाला जड़ जगत् है। इसे सृष्टि का मौलिक तत्त्व मानने वाला सिद्धान्त भौतिकवाद (Materialism) कहलाता है। एंगल्ज़ के शब्दों में जो प्रकृति को (सारे जड़ चेतन जगत् का) मूल

मानता है, ऐसे वाद को भौतिकवाद कहते हैं। मार्क्स का यह कहना है कि आत्मा का हम अनुभव नहीं कर सकते हैं, अतः उसका हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं है। इसके विपरीत मिट्टी, पेड़-पौधे, मकान आदि वस्तुएँ हमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती हैं, वे हमारे लिए सर्वथा सत्य हैं। हमें अपने विचार का आधार प्रत्यक्ष सुस्पष्ट भौतिक वस्तुओं को बनाना चाहिए; आत्मा, ईश्वर जैसी अस्पष्ट वस्तुओं की मृगमरीचिका के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। मार्क्स ईश्वर को मनुष्य की कल्पना की सृष्टि मानता था, अतः उसने जगत् का मूल तत्त्व उसे न मानकर इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जड़ पदार्थों को माना। इससे यह स्पष्ट है कि मार्क्स वेदान्तियों या आस्तिकों की भाँति इस जगत् का मूल कारण या आरम्भिक स्रष्टा ईश्वर अथवा ब्रह्म जैसी कोई चेतन सत्ता नहीं मानता है। वेदान्ती और हेगल अद्वैतवादी होते हुए विश्व का मूल एक चेतन सत्ता मानते हैं, मार्क्स अद्वैतवादी होता हुआ भी इसके सर्वथा विपरीत जगत् का मूल कारण जड़ प्रकृति या भूत को ही मानता है। उसके मत में जगत् का विकास अथवा उसके स्वरूप में परिवर्तन होना किसी बाहरी शक्ति के अधीन नहीं है, उसकी भीतरी शक्ति तथा उसका स्वभाव ही उसके लिए प्रेरक है।

मार्क्स से पहले के भौतिकवादियों पर कई आक्षेप किए जाते थे : **पहला आक्षेप** यह था कि यदि जड़ प्रकृति ही इस सृष्टि का मूल है तो इसमें गति कहाँ से आई है, इसे गति देने वाली और इसका नियमन करने वाली प्रकृति तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह जड़ है, अतः इसे आरम्भिक गति देने वाली, इसका नियन्त्रण करने वाली कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए। **दूसरा** बड़ा आक्षेप यह था कि यदि जगत् का मूल कारण जड़ प्रकृति है तो इसमें चेतना कहाँ से आई है, क्योंकि जड़ से जड़ वस्तु ही उत्पन्न हो सकती है। किन्तु यदि मार्क्स द्वारा बताई गई जड़ प्रकृति की विशेषताओं पर ध्यान दें तो ये आक्षेप हमें निराधार प्रतीत होंगे। मार्क्स ने जड़ प्रकृति के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ और नियम बताए हैं—

(1) **गतिशीलता**—जड़ प्रकृति सदैव स्वतः गतिशील (Matter in Motion) है। निरन्तर गति में बना रहना प्रकृति का स्वभाव है। वह एक क्षण के लिए भी निश्चल नहीं हो सकती। भले ही, ऊपर से हमें ईंट, पत्थर और मकान स्थिर दिखाई दें, वस्तुतः ये ऐसे नहीं हैं। ये सब अणुओं से मिलकर बने हैं और इनका अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक हमें यह बताते हैं कि प्रत्येक अणु के भीतर उसका निर्माण करने वाले इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन सदैव गतिशील बने रहते हैं। अतः इनसे बनने वाला सारा जड़ जगत् सदैव स्वतः गतिशील है, उसे गति देने के लिए दूसरे व्यक्ति की शक्ति की जरूरत नहीं होती है।

(2) **परिवर्तनशीलता**—प्रकृति निरन्तर गतिशील होने के कारण परिवर्तनशील है, उसमें सदैव कुछ वस्तुओं का उद्भव और विकास होता है और कुछ वस्तुओं का ह्रास और विनाश होता है। प्रकृति निरन्तर अपने रूप बदलती रही है, उसमें कोई चिरन्तन, शाश्वत और स्थायी सत्ता नहीं है। परिवर्तन ही सृष्टिचक्र का शाश्वत नियम है। एंगल्ज़ ने लिखा है, "समस्त प्रकृति—छोटी वस्तु से लेकर बड़ी वस्तु तक—बालू-कण से सूर्य तक—सभी एक निरन्तर स्थिति में, एक निरन्तर प्रवाह में, अनवरत गति तथा परिवर्तन की स्थिति में हैं।"

(3) **सम्बद्धता**—भौतिक जगत् की सब वस्तुएँ और घटनाएँ एक-दूसरे से पृथक्, स्वतन्त्र और असम्बद्ध न होकर एक-दूसरे से सम्बद्ध तथा एक-दूसरे पर निर्भर हैं। प्रकृति एक सुसम्बद्ध और संयुक्त समष्टि (Integrated Whole) है। किसी भी घटना को दूसरी घटनाओं से या वस्तुओं से पृथक् रूप में नहीं समझा जा सकता है। प्रत्येक घटना अन्य घटनाओं से घिरी होती है, उन सबका प्रत्येक घटना पर तथा प्रत्येक घटना का अन्य सब पर प्रभाव पड़ता है, इन्हें समझे बिना हम किसी घटना का यथार्थ स्वरूप नहीं समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, सामन्तवाद या पूँजीवाद को ही लीजिए। इसे हम पृथक् रूप से एक सामाजिक संस्था के रूप में कभी नहीं समझ सकते, इसे ठीक तरह से समझने के लिए हमें इनके प्रादुर्भाव के समय की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक—सभी प्रकार की परिस्थितियों का अध्ययन करना पड़ेगा। इन सबने इसके विकास में सहयोग दिया है, अतः समष्टि रूप से इनका अध्ययन किए बिना इसका यथार्थ स्वरूप नहीं माना जा सकता है।

(4) **विरोधी तत्त्वों का संगम**—प्रत्येक जड़ पदार्थ में सदैव विरोधी तत्त्वों का संगम या उपस्थिति बनी रहती है। यह बात ऊपर से देखने में अटपटी लगती है, किन्तु सत्य है। उदाहरणार्थ, आप जिस कुर्सी पर बैठे इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं, उसकी लकड़ी कड़ी और नरम दोनों हैं। यदि यह लकड़ी कड़ी न होती तो यह आपका बोझ कैसे सहारती। यह नरम भी है; यदि यह नरम न होती तो इसे कुल्हाड़ी से काटकर कुर्सी न बनाया जा सकता। अतः यह मानना पड़ता है कि लकड़ी में दो विरोधी गुण—कड़ापन और नर्मी—पाए जाते हैं।

(5) **आन्तरिक असंगतियाँ**—मार्क्स ने इस सिद्धान्त को हेगल से ग्रहण करते हुए इसे सामाजिक परिस्थितियों पर सर्वथा नवीन ढंग से लागू किया है। यह उसका **आन्तरिक विरोधों या असंगतियों का सिद्धान्त**(Theory of Inner Contradictions) है। उसका यह कहमा है कि सृष्टि का विकास इन आन्तरिक विरोधों के कारण होता है। प्रत्येक वस्तु में उसका एक विरोधी तत्त्व निहित होता है। इनके पारस्परिक संघर्ष से परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया चलती है। हिंसा, बलप्रयोग एवं पीड़ा इस संघर्ष के अनिवार्य तत्त्व हैं। हमें अच्छा लगे या न लगे, प्रकृति का यही नियम है। माता की प्रसव-वेदना के बिना शिशु का जन्म सम्भव नहीं है। हिंसापूर्ण क्रान्ति परिवर्तनरूपी शिशु को जन्म देने के लिए समाजरूपी माता की प्रसूति वेदना है। यूरोप में पहले सामन्तवाद (Feudalism) की प्रथा प्रचलित थी, उसकी आन्तरिक असंगतियों और विरोधों से पूंजीवाद का जन्म हुआ। पूंजीवाद की आन्तरिक असंगतियों से समाजवाद का जन्म होगा। मार्क्स प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्त्वों का संगम मानता है और इनके संघर्ष को सृष्टि के परिवर्तन और विकास का मूल कारण समझता है।

द्वन्द्वात्मक विकास के नियम—सृष्टि में यह परिवर्तन हेगल द्वारा बताई गई द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Process) से होता है। उस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति का विकास कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इसके प्रधान नियम अग्रलिखित हैं—

(क) यह विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है। इस विषय में मार्क्स ने हेगल का पूरा अनुसरण करते हुए कहा है कि यह वाद-प्रतिवाद-संवाद के त्रैत से सर्वथा निरन्तर ऊर्ध्व दिशा में, ऊपर की ओर होता है। यह विकास-क्रम पेचकस की गरारियों की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी चक्करदार किन्तु ऊपर की ओर चढ़ने वाली रेखा की भाँति है। इसका प्रत्येक चक्कर या घुमाव वाद-प्रतिवाद-संवाद की तीन कड़ियों से मिलकर पूरा होता है। प्रत्येक कड़ी अपने से पहली कड़ी का विलोम, निषेध या विपरिणाम (Negation) होती है, किन्तु प्रत्येक चक्कर के अन्त में हम पहले की अपेक्षा थोड़ा ऊँचा उठ जाते हैं।

इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को समझाने के लिए मार्क्स तथा उनके अनुयायियों ने कुछ तो हेगल वाले उदाहरणों को दिया है और कुछ विज्ञान के नवीन दृष्टान्त दिए हैं। यहाँ इस विषय में एंगल्ज़ द्वारा दिए गए कुछ दृष्टान्तों का उल्लेख पर्याप्त होगा।[1] पहला उदाहरण पौधों का है। गेहूँ के पौधे में सबसे नीचे बीज या वाद (Thesis) है। इसे भूमि में बोने पर तथा जलवायु की अनुकूल परिस्थिति होने पर इसका विकास होता है, यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित होता है और पौधा बनता है। यह पौधे के विकास की दूसरी दशा या कड़ी प्रतिवाद (Antithesis) या परिणाम (Negation) है। तीसरी कड़ी पौधों में गेहूँ की बाली का आना, इसके पकने पर गेहूँ के दाने बनना तथा पौधों का सूखकर नष्ट होना है—यह तीसरी दशा संवाद या **विपरिणाम का विपरिणाम** (Negation of Negation) है।[1] साम्यवादियों को यह दृष्टान्त बहुत पसन्द है। लेनिन ने लिखा था कि जई (Oats) हेगल की बताई पद्धति के अनुसार उगती है। दूसरा दृष्टान्त तितली का है। तितली वाद है, इसका अण्डे से निकलना प्रतिवाद या विपरिणाम है, इसके बाद अनेक दशाओं में से होते हुए अण्डे पैदा करना तथा मर जाना संवाद या विपरिणाम का विपरिणाम है। जड़ प्रकृति से विकास का तीसरा दृष्टान्त चट्टानों का लिया जा सकता है। तेज धूप, प्रबल आँधी और भीषण ठण्ड के प्रभाव से चट्टानें टूटती हैं और चूर्ण बनती हैं, यह वाद है। इस चूर्ण का वर्षा के जल द्वारा बहकर समुद्र में जाना प्रतिवाद है, बहुत काल तक समुद्र में रहने के बाद अनेक प्राकृतिक कारणों से इसका चट्टानों और पर्वतों का रूप धारण करना संवाद है।

(ख) विकास का दूसरा नियम इसका **आन्तरिक विरोध से संचालित होना** है। पहले यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्त्व और गुण मिले रहते हैं, उसमें एकता का और विरोधी तत्त्वों का मिश्रण रहता है। इसे चुम्बक के उदाहरण से समझा जा सकता है, एक ही चुम्बक के दो सिरे उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव (North and South Poles) हैं। ये सिरे यद्यपि एक-दूसरे के विरोधी और स्पष्ट रूप से भिन्न होते हैं, फिर भी ये पृथक् रूप में अलग-अलग, केवल उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के रूप में नहीं रह सकते। यदि चुम्बक को ठीक दो हिस्सों में काट दिया जाए तो उसके एक हिस्से में उत्तरी ध्रुव तथा दूसरे हिस्से में केवल दक्षिणी ध्रुव हो, ऐसा नहीं होता है, अपितु दोनों टुकड़ों में ही दोनों ध्रुव उत्पन्न हो जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी तत्त्व उसके प्रत्येक अंश में घुसे होते हैं, अतः

1. एंगल्ज—एण्टी डूह्‌रिंग, पृ० 151-59,

विकास के इस दूसरे नियम को **विरोधी तत्त्वों के अन्त:प्रवेश या विपरीत समवाय का नियम** (Law of Interpenetration of Opposites) कहा जाता है।

(ग) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विकास का **तीसरा नियम** यह है कि मात्रा (Quantity) में बड़ा अन्तर होने से गुण (Quality) में भी अन्तर पड़ जाता है। यह नियम प्रकृति में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों की व्याख्या करता है। वैसे तो सभी वस्तुओं में मात्रा के थोड़े बहुत परिवर्तन सदैव होते रहते हैं, इनसे उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु एक विशेष मात्रा में परिवर्तन होने पर उनके गुणों में अन्तर आ जाता है। एक विशेष मात्रा (Nodal Point) तक पहुँचने पर यह परिवर्तन मानो सहसा छलाँग लगा के होता है। इसे **मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों के रूपान्तर का नियम** (The Law of Transformation of Quantitative into Qualitative Changes) कहते हैं। कुछ उदाहरणों से इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा।

यदि हम पानी को गरम करें तो यह अनन्त मात्रा तक अधिकाधिक गरम नहीं होगा, किन्तु एक निश्चित बिन्दु अर्थात् 100^0 सेण्टीग्रेड पर एकदम वाष्प बनकर उड़ने लगेगा, यह एक गुणात्मक परिवर्तन है, तरल जल ने वाष्प के रूप में गैस का बिल्कुल नया रूप और गुण धारण कर लिया है। इसी प्रकार यदि पानी को निरन्तर ठण्डा करते जाएँगे तो वह अनन्त मात्रा तक अधिकाधिक शीतल नहीं होगा, किन्तु शून्य सेण्टीग्रेड के तापमान पर जमकर बर्फ बन जाएगा, यह तरल जल का एक दूसरे ठोस रूप में गुणात्मक परिवर्तन है।

सामाजिक क्षेत्र में इस प्रकार से सहसा होने वाले परिवर्तनों को हम क्रान्ति कहते हैं। कुछ समय तक शनैः-शनैः परिवर्तन होने के बाद औद्योगिक क्रान्ति, फ्रेंच राज्य-क्रान्ति, रूसी राज्यक्रान्ति जैसे परिवर्तन सहसा होते हैं। उदाहरणार्थ, औद्योगिक क्रान्ति या पूँजीवाद का परिवर्तन होने से पहले उपनिवेशों की लूटपाट से कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में पूँजी एकत्र होने लगती है, दूसरी ओर किसानों के जमीनों से वंचित होने पर भूसम्पत्तिहीन सर्वहारा वर्ग (Proletariat) की संख्या बढ़ने लगती है। ये दोनों परिवर्तन शनैः-शनैः होते हैं, किन्तु शीघ्र ही ऐसा बिन्दु आ जाता है, जब उद्योग-धन्धों और कारखानों को बनाने के लिए काफी पूँजी तथा कारखानों में मजदूरों का काम करने के लिए पर्याप्त व्यक्ति उपलब्ध हो जाते हैं। इसी समय समाज में औद्योगिक क्रान्ति होकर पूँजीवाद की स्थापना होती है।

यह नियम जड़ से चेतन की उत्पत्ति को भी स्पष्ट करता है। पहले यह बताया जा चुका है कि आस्तिक लोगों को भौतिकवाद पर एक प्रबल आपत्ति यह है कि जड़ जगत् से चेतनाशक्तिसम्पन्न आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं। मार्क्सवादी इस नियम के आधार पर कहते हैं कि विशेष दशाओं में जड़ जगत् में जिस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन दिखाई देते हैं, उसी प्रकार के परिवर्तनों से चेतना, मन और आत्मा उत्पन्न हुए हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना—मार्क्स के इस सिद्धान्त के दोनों तत्त्वों की उग्र आलोचना हुई है। भौतिकवाद की **पहली** आलोचना यह है कि यह आत्मतत्त्व की घोर उपेक्षा करता है। मार्क्स भारतीय चार्वाकों की भाँति प्रत्यक्षवादी है, वह इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले ज्ञान को ही प्रामाणिक मानता है। आत्मा को हम देख,

सुन या छू नहीं सकते, अतः मार्क्स के अनुसार यह भ्रम मात्र है। किन्तु इन्द्रियों से न दिखाई देने पर भी हमें अपनी आत्मा की अनुभूति इतनी प्रबलता से होती है कि इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति पूरी ईमानदारी से यह नहीं कह सकता कि वह अपने अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता या उसकी कोई सत्ता नहीं है। उसे सबसे पहले 'मैं हूँ' का ज्ञान होता है। अतः उसकी आत्मा की सत्ता उसके वैयक्तिक अनुभव के आधार पर स्वतः सिद्ध है। मार्क्स जितने वल से जड़जगत् की सत्ता सिद्ध करता है, दूसरे व्यक्ति उतने ही प्रवलता से अनुभव के आधार पर आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हैं। अतः उसका भौतिकवाद पूर्ण रूप से सत्य नहीं है।

दूसरी आलोचना चेतनतत्त्व के जड़जगत् के पदार्थों के संयोग से बनने और संचालित होने की है। यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। संसार में सर्वत्र चेतन व्यक्ति द्वारा जड़शक्ति के संचालन के उदाहरण देखे जाते हैं। चेतन व्यक्ति ही मोटर या रेल को बनाता या चलाता है। मोटर जड़ पदार्थ है, वह स्वयमेव अपने को न तो बना सकती है और न चला सकती है। इस प्रसंग में स्वयमेव चलने वाली आटोमैटिक घड़ी का उदाहरण भी दोषपूर्ण है। यह घड़ी यदि कुछ समय तक हाथ में बँधी न रहे तो बन्द हो जाएगी, उसे पुनः किसी चेतन व्यक्ति द्वारा जब तक गति नहीं प्रदान की जाएगी, तब तक नहीं चलेगी। वस्तुतः जड़ पदार्थ में कोई गति स्वयमेव नहीं उत्पन्न हो सकती है। मार्क्स का उसे स्वयमेव गतिशील और विकासशील मानना समुचित नहीं प्रतीत होता है। ऐसा विकास और गति केवल चेतन पदार्थों में ही सम्भव है।

इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या (Materialist or Economic Interpretation of History)—मार्क्स ने द्वन्द्ववादी भौतिकवाद (Dialectic Materialism) के सिद्धान्त का उपयोग करते हुए मानव-इतिहास में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों और घटनाओं के बारे में यह बतलाया है कि ये सभी परिवर्तन भौतिक अथवा आर्थिक कारणों से होते हैं, अतः उसका यह सिद्धान्त इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या कहलाता है। एंगल्ज़ ने मार्क्स की समाधि पर दिए गए अपने सुप्रसिद्ध भाषण में कहा—"मार्क्स का एक महान् कार्य मानव-इतिहास में विकास के नियम की खोज था, उसने अब तक की विचारधाराओं के झाड़-झंखाड़ में छिपे हुए इस सरल तथ्य का पता लगाया था कि मनुष्य-जाति को राजनीति, विज्ञान, धर्म आदि का विकास करने से पहले खाने-पीने की, निवास की और कपड़ों की आवश्यकता है। अतएव एक निश्चित समय में एक निश्चित जाति में जीवन-निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन एवं आर्थिक विकास की मात्रा में ऐसी नींव होती है, जिस पर उस जाति की राज्य-विषयक संस्थाएँ, कानूनी विचार, कला एवं धार्मिक विचार आधारित होते हैं, अतः इसी दृष्टि से उन सब वस्तुओं की व्याख्या की जानी चाहिए।"[1]

यह बड़े आश्चर्य और दुर्भाग्य का विषय है कि मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और विशद रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। उसके विभिन्न ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ उद्धरण ही इस पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालते

1. मार्क्स—सेलेक्टिड वर्क्स, खण्ड 1, पृ० 16.

हैं, एंगल्ज़ ने तथा परवर्ती लेखकों ने इसकी व्याख्या की है। इनके आधार पर इस सिद्धान्त का संक्षिप्त स्वरूप निम्नलिखित है।

इस सिद्धान्त का मौलिक तत्त्व यह है कि मनुष्य के जीवन के लिए भोजन पहली आवश्यकता है, उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर है कि वह प्रकृति के साधनों से अपने लिए कितनी भोजन सामग्री प्राप्त कर सकता है। अतः मनुष्य के सब कार्यों में भोजन सामग्री या आहार का उत्पादन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य अकेला रहते हुए जितना उत्पादन कर सकता है, उससे कहीं अधिक उत्पादन दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर समाज का निर्माण करके कर सकता है। अतः जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के उत्पादन की दृष्टि से समाज की रचना होती है। किन्तु समाज इन वस्तुओं के उत्पादन से समाज के सभी सदस्यों को सन्तुष्ट नहीं रख सकता है। सभी समाजों में निर्धन व्यक्तियों को असन्तोष बना रहता है, इससे समाज में अशान्ति उत्पन्न होती है। मनुष्य यह अनुभव नहीं करता है कि यह असन्तोष उत्पादन के साधनों के दोषपूर्ण होने का परिणाम है। वह केवल ऐसे दूसरे स्वर्गलोक की कल्पना करता है, जहाँ वह इन सब असन्तोषों, अभावों और चिन्ताओं से मुक्त होकर अनन्त सुखों का उपभोग करेगा, इस प्रकार दोषपूर्ण उत्पादन-पद्धति धर्म की संस्था को जन्म देती है। यह जनता के लिए अफीम का काम करती है, इसके नशे में परलोक के और स्वर्ग के आनन्दों की सुखद कल्पना से जनता वर्तमान जीवन के भीषण कष्टों की व्यथा को भूल जाती है। इसका निर्माण समाज में प्रभुताशाली वर्ग अपना प्राधान्य बनाए रखने के लिए करता है, क्योंकि समाज में अनादिकाल से दो वर्ग चले आ रहे हैं, एक तो उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित करने वाला शोषक वर्ग है और दूसरा इन साधनों से वंचित शोषित वर्ग। शोषक वर्ग राज्य की व्यवस्था का, कानूनों का तथा सामाजिक संस्थाओं का निर्माण उत्पादन पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की दृष्टि से करता है। अतः आर्थिक परिस्थितियाँ ही मनुष्य के आचार-विचार का, धर्म का, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, कला एवं सभ्यता का निर्माण करती हैं और उनका स्वरूप निश्चित करती हैं। मार्क्स ने इसे सूत्र रूप में यों कहा है—"मनुष्यों की चेतना उनकी सत्ता को निश्चित नहीं करती है, अपितु इसके विपरीत उनकी सामाजिक चेतना (भौतिक परिस्थितियाँ) उनकी चेतना (राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप) को निर्धारित करती है।" कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

कुछ प्राचीन यायावर या फिरन्दर (Nomadic) समाजों में घोड़ा सम्पत्ति को प्राप्त करने एवं संचय करने का प्रधान साधन था। अतः यह घोड़ा ही उनके आर्थिक जीवन का आधार या नींव (Foundation) था, इसी पर इन समाजों का ऊपरी ढाँचा (Superstructure)—इसकी राजनीतिक संस्थाएँ, धर्म, कानून तथा सामाजिक संस्थाएँ—टिकी हुई थीं। इस समाज के नेता वही लोग थे, जिनके पास सम्पत्ति का साधन—घोड़े अधिक मात्रा में थे, उन्हीं के हाथ में सारी शासन-सत्ता थी, वही समाज की प्रथाओं, रूढ़ियों और कानूनों का निर्माण करते थे। धर्म में भी इसका स्पष्ट प्रभाव था, क्योंकि इसमें भगवान् की कल्पना इस रूप में की जाती थी कि वह तेज घोड़े पर सवार एक शक्तिशाली पुरुष है। इस समाज में शासन और

न्याय के विचारों को भी अधिक घोड़े रखने वाले सरदार ही निश्चित करते थे। इसी प्रकार जिस समाज में उत्पादन का आधार भूमि पर होता है, वहाँ समाज में सत्ता और प्रतिष्ठा अधिक भूमि रखने वाले जमींदारों, जागीरदारों और ताल्लुकेदारों को प्राप्त होती है, समाज की राजनीतिक, कानूनी और धार्मिक संस्थाएँ जमींदारों द्वारा अपने स्वार्थों को सुरक्षित बनाने की दृष्टि से निर्धारित की जाती हैं। औद्योगिक समाज में इनका निर्धारण पूँजीपतियों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए किया जाता है।

मानव-इतिहास के पाँच युग—मार्क्स के अनुयायियों ने मानव-इतिहास के विकास पर आर्थिक कारणों का प्रभाव स्पष्ट करने के लिए इसे पाँच युगों में बाँटा है। इनमें तीन युग बीत चुके हैं, चौथा युग चल रहा है और पाँचवाँ युग अभी आना है। पहला **आदिम साम्यवादी** (Primitive Communist) युग है। यह समाज की प्राचीनतम दशा है। एंगल्ज ने अमेरिकन रैंड इण्डियनों की एक जनजाति—इरोक्रुओई के सम्बन्ध में लुई मोर्गन द्वारा लिखी एक पुस्तक **प्राचीन समाज** (Ancient Society) के आधार पर इसकी कल्पना की थी। इस युग में मनुष्य अपना आहार प्रधान रूप से फलों के संचय, पशुओं और मछलियों आदि के शिकार से करता था। इसके लिए पहले पत्थर के तथा बाद में ताँबे, काँसे लोहे से बने हथियारों का तथा तीर-कमान का उपयोग होता था। यही उत्पादन के साधन थे। उस समय परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि आहार-अन्वेषण के तथा किसी-न-किसी प्रकार का घर बनाने के कार्य सब लोगों द्वारा मिल-जुलकर ही किए जा सकते थे। संयुक्त श्रम करने के साधनों पर तथा उनसे मिलने वाली वस्तुओं पर सबका अधिकार होता था। उस समय उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति का अधिकार नहीं था, अतः इसे रखने वाले किसी विशेष वर्ग का अस्तित्व नहीं था, समाज शोषक और शोषित के दो वर्गों में नहीं बँटा हुआ था। उस समय समाज में सर्वत्र समानता और साम्यवाद का साम्राज्य था, किसी प्रकार की विषमता नहीं थी।

दूसरा युग **दास पद्धति** (Slave System) का था। इसमें मनुष्य ने पशु-पालन और खेती का आविष्कार किया। यह उत्पादन प्रणाली में पहला परिवर्तन था, अब जीवननिर्वाह आखेट और आहार संचय के स्थान पर खेती और पशुपालन से किया जाने लगा। इस उत्पादन-प्रणाली में यह लाभ था कि एक मनुष्य भूमि पर परिश्रमपूर्वक खेती करके कई मनुष्यों द्वारा खाने योग्य भोजन सामग्री उत्पन्न कर सकता था। इस प्रकार इस युग में यह सम्भव हो गया कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों पर आधिपत्य स्थापित करके तथा उनके परिश्रम से लाभ उठाकर, स्वयं बिना कुछ काम करते हुए मौज से जीवन बिता सके। किन्तु ऐसा जीवन वही बिता सकता था, जो भूमि के बड़े हिस्से पर अपनी शक्ति से अधिकार कर ले तथा दूसरे व्यक्तियों को दास बनाकर उनके श्रम से अपनी खेती का या पशुपालन का काम कराए। अतः इस युग में स्वाभाविक रूप से समाज में दो वर्ग उत्पन्न हो गए—पहला वर्ग दास रखने वाले स्वामियों तथा जमींदारों का था और दूसरा वर्ग दासों का था। इस युग में सर्वप्रथम दास-प्रथा का आविर्भाव हुआ, अतः इसे **दास-पद्धति का युग** कहते है। इसमें दासों के स्वामी दासों से बड़ी नृशंसता, कठोरता और क्रूरता से अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए काम लेते थे। दासों के निर्मम शोषण से उनमें प्रतिरोध और विद्रोह की भावना

उत्पन्न हुई। इसे कुचलने के लिए उत्पीड़न के एक नये साधन—राज्य का आविष्कार किया गया, इससे पहले आदिम साम्यवाद के युग में राज्य की संस्था नहीं थी। मार्क्स यह मानता है कि राज्य का प्रधान कार्य शोषक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाना तथा इसी दृष्टि से कानून आदि की व्यवस्था को बनाना है। इस युग में राज्य के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विषमता का था। पहले युग में अमीर-गरीब का कोई भेद नहीं था, अब दासों के स्वामी उनसे परिश्रम कराके उसका लाभ उठाते हुए सम्पन्न एवं समृद्ध होने लगे।

फिर भी मानव-समाज की प्रगति में इस युग ने बड़ा सहयोग दिया। इस युग में श्रम-विभाजन का अधिक विकास हुआ। खेती करने वालों तथा विभिन्न उद्योग-धन्धे करने वालों के विशेष वर्ग उत्पन्न हुए। खेती में अन्न के अतिरिक्त सब्जियों और फलों का उत्पादन हुआ, उत्पादन के लिए नये प्रकार के पटेले (Harrow) व दरांती के आविष्कार हुए, मनुष्यों ने दासों के श्रम के अतिरिक्त जानवरों को पालतू बनाकर उनकी शक्ति से लाभ उठाना शुरू किया। मजदूरों के विशाल समूहों का उपयोग करते हुए बड़े-बड़े बाँध, सिंचाई की व्यवस्थाएँ, सड़कें, पोत और शहर बनने लगे।

किन्तु शनैः-शनैः ऐसा समय आया, जब इस पद्धति से होने वाले उत्पादन में अधिक वृद्धि की सम्भावना समाप्त हो गई, क्योंकि दासों के स्वामियों ने दासों का सस्ता श्रम उपलब्ध होने के कारण उत्पादन के साधनों को उन्नत करने की ओर ध्यान नहीं दिया। इस युग में दासों को अपने परिश्रम से उत्पन्न की गई वस्तुओं पर कोई स्वत्व नहीं था, अतः उन्हें उत्पादन बढ़ाने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। अतः उत्पादन के साधनों की उन्नति में अवरोध उत्पन्न हो गया। इसका निवारण सामाजिक क्रान्ति से ही हो सकता था। यह दासों के विद्रोहों से तथा विदेशी आक्रमणों से सम्पन्न हुआ। दास-पद्धति अपने आन्तरिक विरोधों से विनष्ट होने लगी तथा इसका स्थान सामन्तवादी पद्धति ने लिया। दास-पद्धति का सर्वोत्तम रूप हमें प्राचीन यूनान के एथेन्स, स्पार्टा आदि के राज्यों में दिखाई देता है।

तीसरा युग **सामन्तवादी पद्धति** (Feudal System) का है। इसमें उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का शासन होता है। राजा आवश्यकता पड़ने पर सैनिकों को देने की एवं सैनिक सेवा प्रदान करने की कुछ शर्तों के साथ राज्य की भूमि को अपने प्रमुख साथियों या सरदारों में बाँट दिया करता था। ये सरदार सामन्त (Feudal Lords) कहलाते थे। उत्पादन के प्रधान साधन—भूमि पर इनका अधिकार था। खेती करने वाले किसान इनके वशवर्ती थे, यद्यपि ये दासों की भाँति पूर्ण रूप से उनकी सम्पत्ति नहीं थे। अतः इन्हें अर्धदास या भूदास (Serf) कहा जाता था। इन्हें भूदास कहने का यह कारण था कि ये अपनी भूमि के साथ बँधे हुए होते थे, उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की या स्वतन्त्र कारोबार करने की इन्हें स्वतन्त्रता नहीं थी, इन्हें सामन्तों से अपने निर्वाह के लिए जमीन मिलती थी, किन्तु इसके बदले में इन्हें अपने जमींदारों की जमीन की जुताई-बुआई आदि बेगार के रूप में करनी पड़ती थी, युद्ध के समय उनकी सेना में सिपाहियों के रूप में भरती होना पड़ता था। उन्हें जमींदारों या सामन्तों को कई प्रकार के कर देने पड़ते थे, इन्हें देने के बाद शेष बचने वाली सम्पत्ति पर ही इनका अधिकार होता था। इस युग में उत्पादन के छोटे-मोटे साधनों पर कारीगरों

का स्वामित्व होता था अतः इनको उन्नत करके इनसे उत्पादन बढ़ाने में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। इस कारण इस समय उद्योग-धन्धों के उत्पादन में तथा व्यापार के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। नगरों का तथा नगरों में रहने वाले व्यापारियों का, वकालत, डाक्टरी आदि विभिन्न पेशे करने वाले नगरवासी मध्यम वर्ग (Bourgeoise) का विकास होने लगा। इस युग में समाज प्रधान रूप से चार वर्गों में विभक्त था—(1) सामन्त वर्ग, (2) पादरी वर्ग, (3) नगरवासी स्वतन्त्र नागरिकों का मध्यम वर्ग, (4) भूमि के साथ बँधे हुए किसान या भूदास। शनैः-शनैः सामन्त एवं पादरी वर्ग ने मिलकर उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले विशेषाधिकार-प्राप्त उच्च एवं कुलीन वर्ग (Aristocracy) का रूप धारण किया। समाज में उच्च, मध्यम एवं भूदासों या मजदूरों के तीन ही वर्ग रह गए। इतिहास में यह स्थिति 13वीं-14वीं शताब्दी तक ही रही। इस युग में समूची शासन-पद्धति, उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले एवं शोषण करने वाले सामन्त वर्ग के हाथ में थी; कानून और धर्म इसी के पृष्ठपोषक थे।

चौथा युग पूँजीपति पद्धति (Capitalist System) का है। इसमें उत्पादन के प्रधान साधन कल-कारखानों पर पूँजीपतियों का स्वामित्व होता है। ये उत्पादन के साधनों से सर्वथा वंचित मजदूरों का अधिकतम शोषण करते हैं। इस युग में वाष्प, बिजली आदि की शक्तियों का उपयोग करने से उत्पादन की मात्रा में अधिकतम वृद्धि होती है, इससे विश्वव्यापी व्यापार एवं आर्थिक पद्धति विकसित हो जाती है। उत्पादन की नवीन प्रणाली के कारण सामाजिक सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगते हैं। अब समाज में वर्ग-संघर्ष उग्र होने लगता है, सामन्त पद्धति के तीन वर्गों के स्थान पर केवल छोटा-सा पूँजीपति वर्ग और उत्तरोत्तर संख्या में बढ़ने वाला श्रमजीवी वर्ग ही रह जाता है। बड़ी-बड़ी मशीनों के विकास से इनके लिए अधिक पूँजी आवश्यक होती है। यह पूँजी बहुत थोड़े व्यक्तियों के हाथों में होती है, अतः पूँजीपति वर्ग की संख्या निरन्तर घटती जाती है। दूसरी ओर मध्यमवर्ग की कठिनाइयाँ बढ़ती हैं, हर पीढ़ी में इस वर्ग के अनेक व्यक्तियों को मजदूरी के लिए विवश होना पड़ता है, मध्यम वर्ग की संख्या घटने लगती है, श्रमजीवी वर्ग में विफल पूँजीपतियों के तथा मध्यमवर्ग के सम्मिलित होने के कारण मजदूर वर्ग में विलक्षण और विशाल वृद्धि होती है। पूँजीपति वर्ग संख्या में अत्यल्प होता हुआ भी उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और नियन्त्रण रखने के कारण मजदूर वर्ग का भीषण शोषण करता है; मजदूर जीविका का कोई अन्य साधन न होने के कारण भुखमरी से बचने के लिए पूँजीपतियों के शोषण का शिकार बनते हैं। किन्तु इससे उनके हृदय में इस पद्धति के प्रति प्रतिरोध और असन्तोष की भीषण ज्वाला उद्बुद्ध होती है। इसे दबाने के लिए पूँजीपति राजनीतिक संस्थाओं को अपने हाथ में लेते हैं। सामन्तयुगीन राजतन्त्र के स्थान पर संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना की जाती है, लोगों को वोट का अधिकार तथा कुछ स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती हैं, कानून की दृष्टि में सबके समान होने की घोषणा की जाती है। किन्तु इस लोकतन्त्रीय शासन में भी वास्तविक शासन-सत्ता पूँजीपतियों के ही हाथों में रहती है। शनैः-शनैः पूँजीवाद अपने भीषण दुष्परिणामों के रूप में आन्तरिक विरोधों को उत्पन्न करता है। इनके निवारण का एक मात्र उपाय एक

क्रान्ति द्वारा उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों के स्वामित्व को हटाकर समाज का स्वामित्व स्थापित करना है। पूँजीपति पद्धति स्वयमेव अपना विध्वंस करने के लिए तथा इस क्रान्ति को करने के लिए मजदूर वर्ग को जन्म देती है। मजदूर वर्ग या सर्वहारा वर्ग इस क्रान्ति के बाद अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करता है। इसे **सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद** (Dictatorship of the Proletariat) कहते हैं। यह संक्रमणकालीन (Transitional) व्यवस्था है। इसका उद्देश्य पूँजीवाद का समूलोन्मूलन तथा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना है। 1917 में ऐसा अधिनायकतन्त्र बोलशेविक क्रान्ति द्वारा रूस में, 1945 के बाद यूरोप के कुछ देशों में तथा 1949 में चीन में स्थापित हुआ है।

अन्तिम युग साम्यवाद(Communism) का है। इसमें उत्पादन के सभी प्रकार के साधनों पर समाज का स्वामित्व होगा, वितरण लोगों के परिश्रम या योग्यता के अनुसार न होकर, लोगों की आवश्यकता के अनुसार होगा। समाज में पूर्ण समानता और साम्य का साम्राज्य होगा। पूँजीपति वर्ग बिल्कुल लुप्त हो जाएगा, समाज में केवल श्रमजीवियों का वर्ग बच जाएगा। विरोधी वर्ग न रहने से वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जाएगा। उस समय विशेष वर्ग की प्रभुता को बलपूर्वक स्थापित करने वाले, उत्पीड़न और शोषण के प्रधान साधन—राज्य की भी समाज में आवश्यकता नहीं रहेगी, अतः यह स्वयमेव लुप्त हो जाएगा (The State will wither away)। यह अन्तिम दशा अभी तक किसी देश में नहीं आई है, रूस वाले अपनी व्यवस्था को समाजवादी कहते हैं, उनका अन्तिम ध्येय राज्यहीन साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना है।

आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त की आलोचना—(1) एकांगी होना—इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह आर्थिक उत्पादन की प्रणाली के तत्त्व पर अत्यधिक बल देने के कारण एकांगी सिद्धान्त है और इतिहास पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्त्वों की घोर उपेक्षा करता है। इतिहास की घटनाएँ किसी एक तत्त्व से निश्चित और निर्धारित न होकर अनेक प्रकार के तत्त्वों से वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा, लोभ, शक्ति पाने की आकांक्षा, धर्म, विशिष्ट विचारधारा आदि से—प्रेरित होती हैं। इनमें कभी एक तत्त्व प्रधान होता है और कभी दूसरा तत्त्व। यह आवश्यक नहीं है कि सदैव आर्थिक तत्त्व ही प्रधान हो। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। सिकन्दर ने पश्चिमी एशिया, मिस्र, ईरान और भारत पर हमला किया, इसमें उसका कोई आर्थिक उद्देश्य—पूर्वी देशों के व्यापार पर एकाधिपत्य करने की लालसा नहीं, अपितु विश्वविजयी बनने की वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा थी। 2500 वर्ष पहले यूनान और ईरान का भीषण संघर्ष हुआ। यूनानियों ने ईरानी सम्राटों का डटकर मुकाबला किया, किन्तु इस लड़ाई का मूल कारण क्या था? यह लघु एशिया या वर्तमान तुर्की के प्रदेश में यूनानी राज्यों के व्यापारिक हितों का संरक्षण नहीं, अपितु इनकी सत्ता और स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए रखने का प्रश्न था। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों का कारण केवल आर्थिक स्वार्थ ही नहीं, अपितु लोकतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र की विरोधी विचारधाराओं का तथा राष्ट्रीयता का भी संघर्ष था। इस समय विश्व दो विरोधी गुटों में बँटा हुआ है। एक ओर सं० रा० अमेरिका तथा उसके समर्थक देश हैं; दूसरी ओर रूस, चीन तथा इसके पृष्ठपोषक हैं। इन दोनों का संघर्ष किन्हीं आर्थिक कारणों

से प्रेरित होकर नहीं हो रहा है, अपितु इनकी विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है। मास्को और पेकिंग संसार में सर्वत्र साम्यवादी भावनाओं का प्रसार करना चाहते हैं, वाशिंगटन इसका विरोध करते हुए लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता और उदारवाद की भावनाओं का प्रसार करना चाहता है।

इतिहास में अनेक घटनाएँ प्रधान रूप से धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर हुई हैं, इनका अन्तिम कारण आर्थिक परिस्थितियों को कभी नहीं माना जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारत में महात्मा बुद्ध ने प्राणीमात्र के मंगल की कामना से बौद्ध-धर्म का प्रवर्त्तन किया। धर्म-चक्र प्रवर्त्तन में उनका कोई आर्थिक उद्देश्य या स्वार्थ नहीं था। यही बात अन्य धर्म-प्रवर्त्तकों तथा सुधारकों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। मध्ययुग में लूथर ने उस समय ईसाइयत में आए भीषण दोषों को दूर करने के लिए धर्म-सुधार आन्दोलन (Reformation) आरम्भ किया था। साम्यवादी विचारों से पूर्ण सहानुभूति रखने वाले सुप्रसिद्ध विद्वान् **लास्की** ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए लिखा है[1]—"कोई भी आर्थिक परिस्थितियाँ बाल्कान प्रायद्वीप के राज्यों की आत्मघाती राष्ट्रीयता की व्याख्या नहीं कर सकती हैं।"

(2) **संयोग से होने वाली घटनाओं की उपेक्षा**—इस सिद्धान्त का **दूसरा** दोष यह है कि यह इतिहास में संयोगवश होने वाली घटनाओं के प्रभाव की उपेक्षा करता है। यह संयोग ही था कि न्यूटन ने अकस्मात् पेड़ से सेब गिरते देखा और इसके आधार पर गुरुत्वाकर्षण के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विकास किया। पास्कल (1623-62) यह कहा करता था कि क्लिओपैट्रा की नाक थोड़ी छोटी होती तो विश्व का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। उसका यह अभिप्राय था कि क्लिओपैट्रा यदि अनिन्द्य सुन्दरी न होती, वह अपने रूप से जूलियस सीज़र तथा मार्क एण्टनी को मुग्ध न करती तो रोम का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। अश्वघोष ने बुद्धचरित में लिखा है कि गौतम को सड़क पर अचानक बूढ़ा, बीमार और मृत व्यक्ति देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसी से उन्होंने दुःख का मूल कारण खोजने के लिए राजपाट और घर छोड़ा, तपस्या की, बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त करके सारनाथ में बौद्ध-धर्म का प्रवर्त्तन किया। यह स्पष्ट है कि संसार के इतिहास पर व्यापक प्रभाव डालने वाले बौद्ध-धर्म को प्रवर्त्तन करने के मूल में कोई आर्थिक प्रेरणा नहीं थी। संयोग से महान् ऐतिहासिक परिवर्तनों के अन्य बीसियों उदाहरण दिए जा सकते हैं। यह संयोग ही था कि इंगलैण्ड की रानी एलिज़ाबेथ प्रथम ने विवाह नहीं किया, यदि वह विवाह कर लेती तो उसकी मृत्यु केबाद स्काटलैण्ड और इंगलैण्ड का एकीकरण सम्भव नहीं था। 1917 में यदि जर्मन और रूसी सरकारें लेनिन को रूस आने की अनुमति न देतीं तो शायद रूस की बोल्शेविक क्रान्ति इतनी शीघ्रता से सम्पन्न न हो पाती। 1769 में नेपोलियन के जन्म से केवल एक वर्ष पहले कोर्सिका का टापू जिनोआ ने फ्रांस को दिया था। यदि यह न दिया जाता तो नेपोलियन फ्रांस का प्रजाजन न बनता और उसे फ्रांस के तथा यूरोप के अधीश्वर बनने का अवसर न मिलता।

---

1. लास्की—कार्ल मार्क्स, ऐन एस्से.

(3) **परिवर्तन केवल आर्थिक कारणों से न होना—तीसरा** दोष यह मान लेना है कि आर्थिक कारण ही राजनीतिक शक्ति तथा सत्ता का मूल है। प्रायः ऐसा होता है, किन्तु सर्वत्र और सर्वदा आर्थिक कारण सत्ता और शक्ति के मूल नहीं होते हैं। प्राचीन भारत में धन की शक्ति रखने वाले वैश्यों को ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बाद तीसरा स्थान दिया गया था। नेपोलियन ने फ्रांस की राजनीतिक सत्ता अपनी सैनिक शक्ति और प्रतिभा के कारण प्राप्त की थी, न कि किसी आर्थिक कारण से। इतिहास में सेना की शक्ति द्वारा सत्ता हथियाने के सैकड़ों ऐसे दृष्टान्त हैं, जिनमें आर्थिक कारणों ने कोई प्रभाव नहीं डाला है।

(4) **सर्वत्र समान परिवर्तन न होना—चौथा** दोष यह है यदि आर्थिक उत्पादन की प्रणाली सामाजिक और ऐतिहासिक परिवर्तनों का मूल कारण है तो विभिन्न देशों में एक प्रकार की उत्पादन-प्रणाली को एक ही प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न करने चाहिएँ, क्योंकि समान कारण समान कार्यों को पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी व्यवस्था यदि अपने आन्तरिक विरोधों के कारण साम्यवादी क्रान्ति और समाजवादी पद्धति को उत्पन्न करती है, उसने रूस और चीन में ऐसे परिवर्तन किए हैं, तो पूँजीवाद के गढ़—ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका में उसने ऐसे परिणाम उत्पन्न क्यों नहीं किए ? पिछले दोनों देशों में साम्यवाद के प्रबल होने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती है।

(5) **अधूरी व्याख्या—पाँचवां** दोष यह है कि यह पूरी तरह से ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता है। मार्क्स के मतानुसार यदि यह माना जाए कि आर्थिक कारण सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि ये आर्थिक कारण किन कारणों से उत्पन्न होते हैं। इसका उत्तर दिए बिना इतिहास की व्याख्या नहीं हो सकती है और मार्क्स इसका कोई उत्तर नहीं देता है।

(6) **पक्षपातपूर्ण व्याख्या—छठा** दोष यह है कि मार्क्स ने इस सिद्धान्त को इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन एवं गम्भीर अनुशीलन करके नहीं निकाला है, उसने अपने सिद्धान्त को प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया है। किन्तु इतिहास के अध्ययन से पहले ही हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने इसकी कल्पना कर ली है। इसकी कल्पना करने का यह कारण था कि वह पूँजीवाद के विध्वंस के लिए कटिबद्ध था, उसके सभी सिद्धान्त इसी उद्देश्य से बनाए गए थे। एंगल्ज़ के शब्दों में मार्क्स सबसे पहले एक क्रान्तिकारी था, उसके जीवन का उद्देश्य पूँजीवादी समाज के विनाश में सहयोग देना था। वह दुनिया को बदलने के लिए उतावला था। उसने इस पक्षपातपूर्ण दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करके उसके नियम ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की आर्थिक व्याख्या से वह इस निश्चय पर पहुँचा था कि पूँजीवाद का विनाश और साम्यवाद की अन्तिम विजय अवश्यम्भावी है। इसी को पुष्ट करने के लिए उसने इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त निश्चित किया। अतः निष्पक्ष ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित न होने के कारण इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त कुछ अंशों में सत्य होते हुए भी भ्रान्तिपूर्ण है।

वर्ग-संघर्ष (Class Struggle)—यह मार्क्स का एक प्रमुख सिद्धान्त है और

समाज में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया को सूचित करता है, जबकि इतिहास की आर्थिक व्याख्या इनके मौलिक सिद्धान्त पर प्रकाश डालती है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि इतिहास में द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार संघर्ष द्वारा एक ऐतिहासिक अवस्था से दूसरी दशा—सामन्तवाद से पूंजीवाद तथा पूंजीवाद से समाजवाद विभिन्न वर्गों के संघर्ष या विग्रह से कैसे उत्पन्न होता है। इसमें पहला प्रश्न यह है कि वर्ग किसे कहते हैं। इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल देने के कारण मार्क्स इसका लक्षण आर्थिक तत्त्वों पर बल देते हुए यह करता है कि जिस समूह के आर्थिक हित एक-से होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं, जैसे जमींदारों का, मिल-मालिकों का, किसानों का तथा मजदूरों का वर्ग। संघर्ष का अर्थ केवल लड़ाई नहीं है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ असन्तोष, रोष और आंशिक असहयोग भी है। जब यह कहा जाता है कि वर्गों में अनादिकाल से सदैव संघर्ष होता रहा है तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि हमेशा युद्ध की ज्वालाएँ भड़कती रही हैं, ये केवल थोड़े ही समय के लिए भड़कती हैं, सामान्य रूप से असन्तोष और रोष की भावना धीरे-धीरे शान्तिपूर्ण रीति से सुलगती रहती है, केवल कुछ ही अवसरों पर यह भीषण ज्वाला का रूप धारण करती है।

मार्क्स का मत यह है कि वर्गों के स्वरूप में भले ही अन्तर आता रहे, किन्तु समाज में एक वर्ग उत्पादन के साधनों पर—भूमि और पूंजी पर अधिकार रखता है, इसे जमींदार या पूंजीपति वर्ग कहते हैं, दूसरा इन पर आश्रित रहने वाला तथा अपना परिश्रम करके जीने वाला मजदूर, कृषक अथवा श्रमजीवी वर्ग है। पहला वर्ग बिना कुछ परिश्रम किए हुए दूसरे वर्ग के परिश्रम से लाभ उठाना चाहता है, इसी को **शोषण** (Exploitation) कहा जाता है। इस दृष्टि से पहले को शोषक वर्ग तथा दूसरे को शोषित वर्ग कहा जाता है। इन वर्गों के स्वरूप में और शोषण के प्रकार में परिवर्तन आता रहता है। समाज में पहले **दास-प्रथा** (Slavery) और **भूदास-प्रथा** (Serfdom) थी; अब यद्यपि उनका लोप हो गया है, फिर भी शोषण का अन्त नहीं हुआ है। पूंजीवाद ने एक नवीन रूप में मजदूरों का शोषण आरम्भ कर दिया है। अतः मार्क्स का यह कहना है कि इतिहास में सदैव कोई-न-कोई शोषक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता चला आया है। कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो में यह घोषणा की गई है, "अब तक इतिहास में जो भी समाज विद्यमान रहे हैं, उनमें निरन्तर वर्ग-संघर्ष होता रहा है। स्वतन्त्र मनुष्य और दास, कुलीन (Patrician) तथा साधारण जनता (Plebeian), सामन्त (Baron) और उसकी रैयत, गिल्ड (Guild) या आर्थिक संघ के स्वामी और उसके अधीन काम करने वाले कारीगर—एक शब्द में कहें तो शोषक और शोषित—सदा एक-दूसरे के विरोध में खड़े होकर कभी प्रत्यक्ष तथा कभी परोक्ष रीति से अनवरत युद्ध करते रहे हैं।"[1]

वर्ग-संघर्ष के मूल कारणों पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है कि आजीविका के आधार पर समाज को दो बड़े वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पूंजीपति वर्ग तथा श्रमजीवी वर्ग। पूंजीपति उत्पादन के साधनों—भूमि, पूंजी, कच्चा माल, कारखाने आदि पर स्वामित्व रखकर अपना जीवन निर्वाह करता है और श्रमजीवी

1. कम्युनिस्ट घोषणापत्र, (पीपल्स पब्लिशिंग हाउस), पृ॰ 33-34.

अपना श्रम बेचकर। वह या तो जमींदार का खेत जोतता, बोता तथा काटता है, अथवा उसके कारखाने में अपना श्रम बेचकर अपना पेट भरता है। दोनों को एक-दूसरे की जरूरत है। यदि जमींदार या मिल-मालिक को मजदूर न मिलें तो उसके खेतों की जुताई-बुवाई नहीं हो सकती, उसके कारखाने नहीं चल सकते। दूसरी ओर यदि मजदूरों को खेतों और कारखानों में काम न मिले तो वे भूखे मर जाएँगे। इस प्रकार दोनों को एक-दूसरे की प्रबल आवश्यकता है। फिर भी इन दोनों के हितों में विरोध है, इसी कारण इनमें संघर्ष होना अनिवार्य है। पूँजीपति अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना चाहता है, इस कारण वह मजदूरों को कम-से-कम मजदूरी देना चाहता है। दूसरी ओर मजदूर अधिक-से-अधिक मजदूरी लेना चाहता है। अतः दोनों वर्गों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है।

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना—मार्क्स के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की निम्नलिखित गम्भीर आलोचानएँ की गई हैं : (1) सहयोग की उपेक्षा—यह सिद्धान्त संघर्ष के तत्त्व पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण एकांगी और दोषपूर्ण है। कम्यूनिस्ट घोषणापत्र के आरम्भ में ही कहा गया है कि "अब तक के समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" यदि वास्तव में मानव-समाज में ऐसा संघर्ष होता तो यह कभी का समाप्त हो गया होता। इसमें संघर्ष की अपेक्षा सहयोग, प्रेम सहानुभूति की भावानाएँ अधिक प्रबल हैं, इन्हीं पर समाज टिका हुआ है। प्लेटो ने समाज का विश्लेषण करते हुए बतलाया था कि मनुष्यों की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पारस्परिक सहयोग देने वाले विभिन्न वर्गों से ही इसका निर्माण होता है। सहयोग ही समाज का प्रधान तत्त्व है। सहयोग और यज्ञ की यह भावना ही सृष्टि-चक्र का प्रवर्त्तन कर रही है, समाज के विभिन्न वर्ग— कृषक, कारीगर, व्यापारी एक-दूसरे का सहयोग न करें तो सामाजिक जीवन विश्रृङ्खल और छिन्न-भिन्न हो जाए। समाज के अन्य वर्गों की भाँति यदि मजदूर और पूँजीपति में सहयोग न हो तो उत्पादन-कार्य सम्भव नहीं हो सकता है, मजदूर पूँजीपति के बिना भूखा मरता है, पूँजपति मजदूरों के सहयोग के बिना अपना कारखाना चलाने में असमर्थ है। दोनों के आर्थिक हितों में संघर्ष होते हुए भी, उन्हें उत्पादन के लिए एक-दूसरे का सहयोग अपेक्षित है। यदि संघर्ष ही मानव-जीवन का एकमात्र सत्य हो, मालिक और मजदूर में कोई सहयोग न हो तो वस्तुओं का उत्पादन नहीं हो सकता है तथा मानव-समाज का कार्य चलना असम्भव हो जाए। अतः मार्क्स ने सहयोग की उपेक्षा करते हुए संघर्ष के तत्त्व पर अधिक बल देकर एक बड़ी भूल की है।

(2) वर्ग की अस्पष्टता—मार्क्स के वर्ग की परिभाषा बड़ी अस्पष्ट और दोषपूर्ण है। मार्क्स ने अपनी सभी रचनाओं में समाज के दो प्रधान वर्गों—बूर्जुआ या पूँजीपति तथा सर्वहारा (Proletariat) का कोई स्पष्ट और सुनिश्चित लक्षण नहीं किया है।[1] एंगल्ज़ ने 1847 में सर्वहारा की व्याख्या करते हुए कहा था कि यह समाज का वह वर्ग है, जो अपनी आजीविका पूर्णरूप से अपने श्रम को बेचकर कमाता है और

1. लैंकास्टर—मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, पृ० 178-79.

पूँजी से प्राप्त होने वाले मुनाफों पर निर्भर नहीं होता है। एंगल्ज़ ने साम्यवादियों के वहुचर्चित शब्द—बूर्जुआ (Bourgeoise) या पूँजीपति की कोई व्याख्या नहीं की। लेनिन के मतानुसार पूँजीपति ऐसी सम्पत्ति के मालिक को कहते हैं कि जो इस सम्पत्ति के माध्यम से मजदूरों से अतिरिक्त मूल्य के रूप में अनुचित लाभ प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाला तथा मजदूरों का शोषण करने वाला व्यक्ति पूँजीपति है।

किन्तु यदि हम इन परिभाषाओं पर गम्भीर विचार करें तो हमें ये यथार्थ नहीं प्रतीत होती हैं। इनके आधार पर वर्तमान समाज में मजदूरों और पूँजीपतियों के दो स्पष्ट वर्ग निश्चित नहीं किए जा सकते हैं। आजकल पश्चिमी देशों में कारखानों में काम करने वाले अनेक मजदूर कम्पनियों के हिस्से खरीदकर हिस्सेदार बनते हैं, इस प्रकार वे कुछ अंशों में दूसरे मजदूरों को काम पर लगाने वाले तथा उनसे अतिरिक्त मूल्य के रूप में लाभ ग्रहण करने वाले पूँजीपति बन जाते हैं। दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग का स्वरूप निश्चित करना भी कठिन है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार चार-पाँच हजार रुपये का मासिक वेतन पाने वाला कारखाने का इंजीनियर या मैनेजर पूँजीपति नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह कारखाने की मशीनों का मालिक नहीं है। इस दृष्टि से, उत्पादन के साधनों से वंचित होने के कारण क्या उसे मजदूर कहना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना मजदूर शब्द के साथ घोर अन्याय करना है। इसी प्रकार यदि मार्क्स के उपर्युक्त लक्षण को कठोरता से लागू किया जाए तो मजदूरों को काम पर लगाकर उनके साथ स्वयमेव काम करने वाला व्यक्ति पूँजीपति नहीं हो सकता है और उत्तराधिकार से प्राप्त थोड़ी-सी सम्पत्ति पर निर्वाह करने वाला व्यक्ति पूँजीपति माना जाएगा। वस्तुतः समाज में इतनी परिवर्तनशीलता और जटिलता है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित दो सुस्पष्ट वर्ग वास्तविक जगत् में बहुत कम दिखाई देते हैं। फ्रांस के सुप्रसिद्ध श्रमिक संघवादी उग्र विचारक सोरेल ने तो यहाँ तक कहा है कि मार्क्समत-वादियों के वर्ग की सत्ता केवल कल्पनालोक में (mere abstraction) है।

(3) **मध्यम वर्ग की उपेक्षा**—इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई यह भी है कि समाज में एक बड़ी संख्या मध्यम वर्ग के लोगों—अध्यापकों, वकीलों, कारखानों के प्रबन्धकों, इन्जीनियरों, उच्च सरकारी सेवा करने वाले कर्मचारियों की है। आगे यह बताया जाएगा कि इस वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। इस वर्ग की सत्ता मार्क्स के दो वर्गों में होने वाले संघर्ष के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन करती है। समाज में दो वर्ग नहीं, अपितु कई वर्ग हैं।

(4) **समान वर्गों में संघर्ष**—मार्क्स ने कहा है कि मानव-इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है तथा यथार्थ स्थिति को नहीं प्रकट करता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इतिहास के पन्ने लड़ाइयों के वर्णनों से भरे हुए हैं। किन्तु इन लड़ाइयों को मार्क्स की व्याख्या के अनुसार वर्ग-संघर्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये अमीर और गरीब में, उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले तथा न रखने वाले सामाजिक दृष्टि से दो सर्वथा भिन्न वर्गों में नहीं हुए और न ही इन संघर्षों का कोई आर्थिक उद्देश्य था। प्रायः यह युद्ध एक ही वर्ग अथवा सामाजिक स्थिति रखने वाले व्यक्तियों में निजी स्वार्थों तथा वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं के संघर्ष के कारण

हुए। भारतीय इतिहास के कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। रामायण और महाभारत के युद्ध दो विभिन्न वर्गों में नहीं, अपितु समान स्थिति रखने वाले शासक वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में हुए। कौरव और पांडव न केवल एक ही क्षत्रिय जाति के थे, अपितु एक ही वंश में उत्पन्न होने वाले तथा भ्रातृसम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति थे। इनके युद्ध को वर्ग-संघर्ष किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता है।

प्राचीन एवं मध्ययुग के प्राय: सभी संघर्ष राजाओं में ही हुआ करते थे, सामाजिक दृष्टि से ये सभी शासकों के वर्ग से ही सम्बद्ध थे। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड के इतिहास में 15वीं शताब्दी में **गुलाबों के युद्ध** (Wars of Roses) हुए, इसमें लड़ने वाले दोनों पक्षों में से यार्क के घराने के समर्थकों का विशेष चिह्न या झण्डा सफेद गुलाब था तथा लैंकास्टर के घराने के समर्थकों का चिह्न लाल गुलाब था। ये दोनों पक्ष सामन्त एवं कुलीन वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। यह वास्तव में एक ही जमींदार या सामन्त वर्ग के दो दलों का संघर्ष था, न कि दो विभिन्न वर्गों का संघर्ष था। यही स्थिति मध्यकाल के अन्य प्रसिद्ध यूरोपियन युद्धों—नार्मन विजय (1066 ई०), शतवर्षीय युद्ध (1337-1453) की है। शतवर्षीय युद्ध किसी वर्ग-संघर्ष के कारण नहीं हुआ था, किन्तु इंगलिश राजाओं द्वारा फ्रांस के प्रदेशों पर स्वामित्व का दावा करने के कारण हुआ था। भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध युद्ध—पानीपत के तीन युद्ध और प्लासी जैसी लड़ाई राजनीतिक सत्ता पाने के लिए किए गए संघर्ष थे, वर्ग-संघर्ष नहीं थे। वर्तमान काल के युद्धों का एक बड़ा कारण उग्र राष्ट्रीयता की भावना है और ये युद्ध वर्गों का नहीं, किन्तु राष्ट्रों का संघर्ष है। उदाहरणार्थ, इनमें एक राष्ट्र इंगलैण्ड की जनता के सभी वर्ग—पूंजीपति और मजदूर मिलकर दूसरे राष्ट्र—जर्मनी के सभी वर्गों से संघर्ष करते हैं।

(5) **अनैतिहासिक कल्पना**—समाज में धनी और निर्धन का अन्तर सम्भवत: मानव-समाज के आरम्भ से ही चला आ रहा है, किन्तु इसके आधार पर इनके शाश्वत संघर्ष की मार्क्सवादी कल्पना न केवल सर्वथा अनैतिहासिक है, प्राचीन और मध्ययुग के इतिहास में नहीं मिलती है, अपितु पूंजीवाद के वर्तमान युग में भी नहीं मिलती है। यदि इसके कहीं दर्शन होते हैं तो इसका कारण केवल मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार है। सुप्रसिद्ध विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने इस प्रश्न की मीमांसा करने के बाद यह परिणाम निकाला है कि मार्क्स ने जिस वर्ग-संघर्ष की भविष्यवाणी की थी, उसे उसने अपनी शिक्षाओं से ही उत्पन्न किया है।[1] वस्तुत: इस समय मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्गों की भावना, संगठन, एकता और सुदृढ़ता हमें कहीं नहीं दिखाई देती है। मार्क्स के मतानुसार इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, जापान आदि देशों के पूंजीपतियों में आर्थिक हितों की समानता होने के कारण इनमें एकता की भावना है, किन्तु यह उसकी कोरी कल्पना है। वस्तुत. विभिन्न देशों के पूंजीपतियों के स्वार्थों में समानता नहीं, किन्तु विरोध होता है। यही दशा मजदूरों की है। मार्क्स के मतानुसार संसार के सभी देशों के मजदूरों के हित समान होने से उनमें एकता और सुदृढ़ता होनी चाहिए। किन्तु पिछले दो महायुद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मार्क्स की वर्ग-चेतना की अपेक्षा राष्ट्रीयता की भावना अधिक प्रबल है, क्योंकि इन युद्धों में एक देश के अमीर और गरीब वर्ग ने पूंजीपति

1. रसेल—फ्रीडम एण्ड ओर्गनाइजेशन, पृ० 249.

और मजदूर में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल एक-दूसरे को प्रबल सहयोग देते हुए शत्रु के साथ संघर्ष किया है। यह उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के सत्य न होने का प्रबल प्रमाण है।

(6) **राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के संघर्ष**—मार्क्स की एक बड़ी भूल यह है कि वह सामाजिक श्रेणियों (Social Classes) को आर्थिक आधार पर संगठित वर्ग मानकर इनमें संघर्ष की कल्पना करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समाज में सनातन काल से श्रेणी-भेद चला आया है। यह भी सत्य है कि इनमें संघर्ष चलता रहा है। किन्तु यह संघर्ष आर्थिक कारणों से नहीं हुआ, अपितु राजनीतिक सत्ता पाने के लिए होता रहा है। मार्क्स ने इस संघर्ष के स्वरूप को सही नहीं समझते हुए इसे शोषक और शोषित का संघर्ष कहा। मार्क्स का यह संघर्ष तभी हो सकता है, जब दोनों वर्गों का स्वरूप स्पष्ट हो, उनमें एकता और सुदृढ़ संगठन तथा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रबल विद्वेष की भावना हो। किन्तु इतिहास में ऐसी स्थिति दृष्टिगोचर नहीं होती है, अपितु हमें एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में संघर्ष दिखाई देते हैं। पापर ने यूरोप के मध्य-कालीन इतिहास से सम्राटों और पोपों के संघर्ष के रूप में इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। ये सम्राट् और पोप यद्यपि एक ही शासक वर्ग में से थे, तथापि चिरकाल तक उनमें उग्र विरोध चलता रहा।

(7) **साम्यवाद की सफलता में सन्देह**—मार्क्स वर्ग-संघर्ष में मजदूरों की विजय को ध्रुव सत्य मानता है। उसका यह विश्वास समाजवाद में उसकी गहरी अवस्था को भले ही प्रकट करे, किन्तु ऐतिहासिक सत्य को नहीं व्यक्त करता है। उसका यह सिद्धान्त वैज्ञानिक तथ्यों पर नहीं, किन्तु आशाओं और आकांक्षाओं पर आधारित है। कुछ समय के लिए हम भले ही इस बात को सत्य मान लें कि पूँजीवाद का पतन अनिवार्य है, तो भी इससे यह परिणाम नहीं निकलता है कि साम्यवाद की विजय अवश्य होगी; क्योंकि इतिहास का विकास सदैव एक ही निश्चित दिशा में नहीं होता है, उसमें नवीन परिस्थितियों से नई दिशाओं का विकास होता रहा है। लास्की जैसे साम्यवादी विचारक ने लिखा है कि "पूँजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद का आविर्भाव नहीं, अपितु ऐसी अराजकता हो सकती है, जिससे ऐसा अधिनायकतन्त्र उत्पन्न हो कि उसका साम्यवादी आदर्शों से कोई सम्बन्ध न हो।"[1] इटली और जर्मनी में ऐसा ही हुआ था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लोकतन्त्रीय शासन के विफल होने पर इटली में साम्यवाद के स्थान पर मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिज़्म का तथा जर्मनी में हिटलर की तानाशाही का विकास हुआ। ये दोनों अधिनायक साम्यवाद के उग्र विरोधी थे। अत इतिहास ने मार्क्स के इस कथन को मिथ्या सिद्ध किया है कि वर्ग-संघर्ष के कारण साम्यवाद की सफलता और विजय सर्वथा निश्चित है।

(8) **पूँजीवाद का विनाश न होना**—इसी प्रकार वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप पूँजीवाद के विनाश के सम्बन्ध में की गई मार्क्स की भविष्यवाणी भी सत्य नहीं सिद्ध हुई है। मार्क्स का यह मत था कि पूँजीवाद के विकास होने से उसका पतन अनिवार्य है, क्योंकि यह वर्ग-सघर्ष आदि के आन्तरिक विरोध उत्पन्न करके स्वयमेव अपनी कब्र खोदता है। किन्तु अभी तक पूँजीवाद का चरम विकास करने वाले—इंगलैण्ड, सं० रा०

1. लास्की—कम्यूनिज्म, पृ० 87-88.

अमेरिका आदि में इसका विध्वंस नहीं हुआ है।

(9) **वर्गहीन समाज की भ्रान्तिपूर्ण कल्पना**—वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप मार्क्स ने अन्त में एक वर्गहीन समाज (Classless Society) के स्थापित होने की कल्पना की है। उसने इसको युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए यह कहा है कि पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और मजदूर नामक दो वर्ग हैं, मजदूर जब पूँजीपति वर्ग का विध्वंस कर देंगे तो समाज में वर्ग-भेद की समाप्ति होकर समानता का साम्राज्य स्थापित होगा। किन्तु मार्क्स की यह कल्पना कई कारणों से सत्य नहीं प्रतीत होती है। **पहला** कारण तो यह है कि मजदूर वर्ग अपने सामान्य शत्रु पूँजीवाद का विरोध करने के लिए तो एक एवं संगठित हो सकता है, किन्तु इसके विनाश के बाद भी उसमें यह एकता और संगठन बना रहेगा, इसकी सम्भावना बहुत ही कम प्रतीत होती है। इसके बाद इसमें आपसी वैमनस्य, मतभेद और विरोध से तथा नई परिस्थितियों से नवीन वर्गों का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। भारत में 1947 से पहले अंग्रेजों की पराधीनता के पाश से मुक्त होने के महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस के सभी सदस्यों में गहरी एकता और संगठन बना हुआ था, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसमें प्रबल मतभेद और गुटबन्दियाँ उत्पन्न हो गई हैं। यही दशा पूँजीवाद के विनाश का लक्ष्य पूरा हो जाने के बाद वर्ग-विहीन समाज में उत्पन्न हो सकती है। **दूसरा** कारण इसका मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति से विरोध है। एक ओर तो मार्क्स इस पद्धति के अनुसार विश्व में सतत संघर्ष की तथा एक वस्तु द्वारा स्वयमेव अपना विरोधी तत्त्व उत्पन्न करने की बात मानता है और दूसरी ओर वह यह मानता है कि वर्गहीन समाज की दशा में सम्पूर्ण संघर्ष समाप्त हो जाएगा। यह उसके द्वन्द्वात्मक विकास के मौलिक मन्तव्य के सर्वथा प्रतिकूल है।

तीसरा कारण रूस जैसे साम्यवादी देशों का उदाहरण है। रूस से पूँजीवाद का विध्वंस हो चुका है, किन्तु वर्ग-विहीन समाज की स्थापना नहीं हुई है। उदाहरणार्थ, इस समय सोवियत संघ के समाज में चार वर्ग या श्रेणियाँ हैं।[1] पहले और सबसे ऊँचे वर्ग में उच्च सरकारी अधिकारी, पार्टी के नेता, सैनिक अधिकारी, कारखानों के संचालक एवं प्रबन्धक, वैज्ञानिक, कलाकार और लेखक आते हैं; इस वर्ग के व्यक्तियों की संख्या दस लाख परिवारों के लगभग है। दूसरे वर्ग में पहले वर्ग की अपेक्षा घटिया पद रखने वाले सरकारी और सैनिक कर्मचारी, सरकारी सामूहिक खेतों के प्रबन्धक, अधिक दक्ष कारीगर तथा तकनीकी कार्यकर्त्ता (Technicians) हैं, यह सोवियत समाज का मध्यम वर्ग है। इसकी संख्या 20 से 30 लाख परिवारों की है। तीसरे वर्ग में जनसंख्या का अधिकांश भाग—मजदूर और किसान आते हैं, इनकी संख्या 40 लाख परिवारों की है। चौथे वर्ग में दासों की भाँति श्रम करने वाले तथा राजनीतिक अथवा अन्य कारणों से सब प्रकार के अधिकारों से वंचित लाखों व्यक्ति हैं, ये सोवियत समाज से बहिष्कृत हैं और शूद्रों के समान हीन स्थिति रखते हैं। रूस में वर्गों की संख्या मार्क्स के वर्गहीन समाज का एक प्रबलतम खण्डन है। वहाँ बोल्शेविक क्रान्ति होने के बाद आधी शताब्दी बीत जाने पर अभी तक भी वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हुई है।

---

1 एबेन्स्टाइन—टुडेज इज्म्स पृ० 53.

अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value)**का सिद्धान्त**—एंगल्ज के मतानुसार मार्क्स के दो महान आविष्कार—इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त थे, इन दोनों खोजों से ही समाजवाद वैज्ञानिक बना। इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझने के लिए मूल्य का स्वरूप जान लेना आवश्यक है।

मूल्य के दो आधार—(क) उपयोगिता मूल्य—मार्क्स अन्य अर्थशास्त्रियों की भाँति वस्तु के मूल्य के दो प्रकार के आधार मानता है। पहला आधार उपयोगिता (Utility) है। उपयोगिता का अर्थ है मनुष्य की इच्छा पूरी करना। जो वस्तुएँ मनुष्य की इच्छाएँ पूरी करती हैं, वे उसके लिए उपयोगी हैं, अतः वे मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान हैं; जो वस्तुएँ उसकी इच्छाओं को पूरी नहीं करती हैं, वे उसके लिए उपयोगी न होने से कोई मूल्य नहीं रखती हैं। उदाहरणार्थ, मरुस्थल में पानी बहुत कम और रेत बहुत अधिक होती है, मनुष्यों की प्यास की इच्छा पूरी करने के लिए पानी अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु रेत की कोई उपयोगिता नहीं है। अतः इस उपयोगिता के कारण वहाँ पानी अत्यन्त मूल्यवान् पदार्थ तथा रेत कोई मूल्य न रखने वाला पदार्थ होता है।

(ख) विनिमय मूल्य—मूल्य का दूसरा आधार विनिमय (Exchange) है, इसे विनिमय मूल्य (Value in Exchange) कहते हैं। यह उस अनुपात को कहते हैं, जिसके आधार पर किसी वस्तु का दूसरी वस्तुओं से अदला-बदला किया जाता है। उदाहरणार्थ, किसान के पास गेहूँ अधिक मात्रा में है, उसे कपड़े की आवश्यकता है, जुलाहे के पास कपड़ा है तथा उसे गेहूँ की आवश्यकता है। दोनों अपनी वस्तुओं का अदला-बदला करते हैं, किसान एक मन गेहूँ देकर जुलाहे से 10 गज कपड़ा लेता है तो इस विनिमय मूल्य को हम यों प्रकट कर सकते हैं—

एक मन गेहूँ=दस गज कपड़ा

मार्क्स ने इसे गेहूँ तथा लोहे के उदाहरण से समझाया है और यह कहा है कि हम यह कल्पना कर लेते हैं कि 1 टन गेहूँ 2 टन लोहे के बराबर है। किन्तु अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि हम 1 टन गेहूँ को 2 टन लोहे के बराबर क्यों मान लेते हैं ? इस समीकरण का क्या आधार है ? मार्क्स के मत में इसका आधार एक तीसरी वस्तु है, जो एक टन गेहूँ में तथा दो टन लोहे में समान मात्रा में पाई जाती है, यदि ऐसा न होता तो हम दो टन लोहे का विनिमय मूल्य एक टन गेहूँ कभी निश्चित न करते। मार्क्स के मतानुसार यह तीसरी वस्तु श्रम है, **श्रम के आधार पर ही वस्तुओं का विनिमय मूल्य निश्चित होता है।** यही मूल्य का मानदण्ड है। यदि एक मन गेहूँ का विनिमय दस गज कपड़ा है तो इसका यह कारण है कि एक मन गेहूँ पैदा करने में उतना ही श्रम लगता है, जितना दस गज कपड़ा उत्पन्न करने में। इससे यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगाए गग श्रम (Labour) के आधार पर निश्चित होता है। अतः इसे मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) कहते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि कोई निकम्मा या आलसी जुलाहा दस गज कपड़ा तैयार करने में अधिक समय लेगा और होशियार जुलाहा कम समय लेगा, तो क्या इस आधार पर

विनिमय मूल्य में कोई परिवर्तन होगा ? इस विषय में मार्क्स का यह कहना है कि किसी वस्तु के उत्पादन में होने वाले श्रम-काल का अभिप्राय उस औसतन श्रम-काल से है, जो उसके उत्पादन के लिए सामान्य रूप से समाज में आवश्यक माना जाता है, यही विभिन्न वस्तुओं का विनिमय मूल्य निश्चित करता है। जिस वस्तु के बनाने में अधिक श्रम और समय लगता है, उसका मूल्य अधिक होता है, बैलगाड़ी से मोटर का मूल्य अधिक है, क्योंकि उसके निर्माण में अधिक श्रम लगता है। वस्तु का विनिमय मूल्य तो श्रमिक द्वारा उस पर व्यय किए जाने वाले श्रम से निश्चित होता है, किन्तु श्रमिक की मजदूरी किस आधार पर निश्चित होती है ? मार्क्स ने इस विषय में रिकार्डो आदि पुराने अर्थशास्त्रियों के मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि मजदूर को केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती है, जिससे वह जीवित रहते हुए अपना पेट भर सके, काम करने योग्य बना रहे, अपना तथा बाल-बच्चों का भरण-पोषण करते हुए सन्तानोत्पन्न कर सके। इसी को **मजदूरी का लौह नियम** (Iron Law of Wages) कहा जाता है। उसकी मजदूरी इसी के अनुसार निश्चित होती है।

अतिरिक्त मूल्य का स्वरूप—मार्क्स का यह कहना है कि उपर्युक्त नियम के अनुसार निश्चित होने वाली मजदूरी पाने वाला श्रमिक अपनी मजदूरी के बराबर मूल्य रखने वाली वस्तुओं को थोड़े समय में ही बना लेता है, किन्तु मिल-मालिक उससे अधिक समय तक काम लेता है और इस समय में उत्पन्न किए गए उसके माल का मूल्य स्वयमेव हड़प लेता है, यही **अतिरिक्त मूल्य** है। उदाहरणार्थ, भृति के लौह नियम के अनुसार दैनिक मजदूरी की दर दो रुपया है। मिल में काम करने वाला मजदूर उसे दी जाने वाली मजदूरी के मूल्य की अर्थात् दो रुपये की वस्तुएँ चार घण्टे में ही बना लेता है। किन्तु मिल-मालिक उससे आठ घण्टे काम लेता है। इसका यह मतलब है कि वह दिन-भर में चार रुपये के मूल्य की वस्तुएँ उत्पन्न करता है, मिल-मालिक दो रुपये उसे देकर दो रुपये अपनी जेब में डाल लेता है। मार्क्स के अनुसार यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए, किन्तु मिल-मालिक उसके श्रम की चोरी करता है, यही चोरी उसका मुनाफा है, इसी से उसकी पूंजी का निर्माण होता है। उसके मत में सब प्रकार की पूंजी का मूल स्रोत यही है कि मजदूर को जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि देते हुए उससे अधिक समय तक काम लिया जाए तथा इस अधिक समय में पैदा की गई वस्तुओं के अतिरिक्त मूल्य का कुछ भी अंश उसे न देते हुए स्वयमेव हथिया लिया जाए। यही शोषण पूंजीपति को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाता है।

यह अतिरिक्त मूल्य ही जमा होकर पूंजी का रूप धारण करता है। उत्पादन की वृद्धि के साथ अतिरिक्त मूल्य भी बढ़ता जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में 10 मजदूर रखने पर उन्हें 2 रु० दैनिक की मजदूरी देकर यदि प्रतिदिन 40 रु० के मूल्य की वस्तुएँ पैदा की जाती हैं तो मिल-मालिक को 20 रु० का दैनिक अतिरिक्त मूल्य मिलता है या मुनाफा होता है। किन्तु यदि 40 मजदूर रखकर 160 रु० का उत्पादन किया जाए तो मिल-मालिक को 80 रु० का लाभ होगा। इस अतिरिक्त मूल्य के कुछ हिस्से को पूंजीपति अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए रख लेता है, शेष धन उत्पादन-कार्य में लगा देता है, इसी को पूंजी कहते हैं; इसे निरन्तर बढ़ाना ही पूंजीपति का लक्ष्य होता है क्योंकि पूंजी अधिक होने से बड़े पैमाने पर उत्पादन-कार्य होगा, नई तथा अच्छी

मशीनें लगाकर उत्पादन-व्यय कम होगा । इससे उसे अधिक मुनाफा होगा ।

पूंजी का स्वरूप और दो प्रकार—मार्क्स पूंजी का मूलतत्त्व श्रमिकों का शोषण—उनके श्रम से अधिकतक मूल्य की वस्तुएँ बनाकर उन्हें कम-से-कम मजदूरी देना मानता है । वह पूँजी का अभिप्राय श्रमिकों के श्रम की चोरी तथा शोषण से प्राप्त अतिरिक्त मूल्य से जमा किए हुए उत्पादन के साधन समझता है । वह पूंजी को दो भागों में विभक्त करता है —(1) **स्थायी** (Constant) **पूंजी**, (2) **परिवर्तनशील** (Variable) **पूंजी ।** स्थायी पूंजी उत्पादन के साधनों—कच्चे माल, मशीनों, कारखाने की इमारतों पर व्यय की जाने वाली धनराशि है । इसका मूल्य स्थायी रहता है क्योंकि यह अतिरिक्त मूल्य को नहीं उत्पन्न करता है । परिवर्तनशील पूंजी मजदूरों को भृति के रूप में ही दी जाने वाली राशि है । यह अतिरिक्त मूल्य को उत्पन्न करती है ।[1] इससे यह स्पष्ट है कि मजदूरों पर व्यय की जाने वाली धनराशि से ही पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य या लाभ प्राप्त हो सकता है, अतः वह इसे बढ़ाने के लिए मजदूरों से अधिक-से-अधिक घण्टों तक काम लेने का, उन्हें कम-से-कम मजदूरी देने का, स्त्रियों और बच्चों को मजदूर रखकर मजदूरी कम देने का तथा श्रम की बचत करने वाली मशीनों को लगाने का पूरा प्रयत्न करता है । दूसरी ओर मजदूर अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए श्रमिक संघों के संगठन, सामूहिक(Collective), सौदे, हड़ताल आदि के उपायों का अवलम्बन करते हैं । इस प्रकार पूंजीवाद का एक बड़ा आन्तरिक विरोध (Inner Contradiction)—पूंजीपतियों और श्रमिकों का संघर्ष आरम्भ होता है और यह पूंजीवाद के विनाश के बीज बोता है ।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना—यह सिद्धान्त ऊपरी दृष्टि से बड़ा आकर्षक और मनोरम प्रतीत होता है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से निम्नलिखित कारणों के आधार पर इसकी इतनी कड़ी आलोचना की गई है कि आजकल इसे कोई भी निष्पक्ष विचारक सही नहीं मानता है ।

(1) अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का मौलिक आधार यह विचार है कि वस्तु के मूल्य के निर्धारण का एकमात्र तत्त्व इसके उत्पादन में लगने वाला मजदूर का श्रम है, अतः उसका सारा मूल्य मजदूर को ही मिलना चाहिए, पूंजीपति इस समय उसे इसका बहुत थोड़ा अंश देता है, शेष अंश को अतिरिक्त मूल्य के रूप में हड़प लेता है । यह विचार भ्रान्तिपूर्ण और मिथ्या है, क्योंकि मूल्य का निर्धारण केवल श्रम से नहीं होता है, इस पर प्रभाव डालने वाले अन्य भी अनेक तत्त्व हैं । वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूंजी, मशीनें, कच्चा माल, वैज्ञानिक ज्ञान, आवश्यक संगठन, पुरुषार्थ और प्रबन्धपटुता अपेक्षित है । श्रमिक इन सबके सहयोग के बिना अपने श्रम मात्र से कोई वस्तु नहीं उत्पन्न कर सकता है, अतः वस्तु के मूल्य का निर्धारण करने में श्रमिक के श्रम के अतिरिक्त ये सभी तत्त्व प्रभाव डालते हैं । परिणामतः मार्क्स का यह कहना ठीक नहीं है कि एक वस्तु के मूल्य में श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के सिवाय समूचा अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति द्वारा की जाने वाली चोरी है । इससे यह स्पष्ट है कि मार्क्स के इस सिद्धान्त का मौलिक विचार गलत है, अतः इसके आधार पर बनाया गया उसका

1. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन माडर्न पोलिटिकल थॉट, पृ० 422.

सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण है।

(2) पूँजीपति को वस्तुओं के उत्पादन में श्रमिक के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातों के लिए धनराशि व्यय करनी पड़ती है, मार्क्स इनकी सर्वथा उपेक्षा करता है। उसे कारखाने के सुधार के लिए, मशीनों की घिसावट (Depreciation) के लिए, श्रमिकों के जीवन को उत्तम बनाने की आवश्यक सुविधाएँ देने के लिए, उनकी बीमारी, बेकारी के बीमों के लिए काफी धनराशि व्यय करनी पड़ती है। वस्तु के मूल्य का निर्धारण करते हुए इन सब तत्त्वों को ध्यान में रखना पड़ता है, इन सबका व्यय मार्क्स के तथाकथित अतिरिक्त मूल्य से ही होता है, अतः उसका यह कहना सत्य नहीं है कि पूँजीपति मजदूरी के सिवाय समूचा अतिरिक्त मूल्य स्वयमेव हड़प कर लेता है। यह केवल उसके वैज्ञानिक सत्य के प्रति प्रेम को नहीं, अपितु पूँजीपतियों के प्रति विद्वेष को ही सूचित करता है। बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे दार्शनिक ने लिखा है कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त विशुद्ध विचार के क्षेत्र में मार्क्स की बड़ी देन नहीं है, अपितु यह वर्तमान पद्धति के प्रति उसकी घृणा का मूर्त्तरूप है।

(3) मार्क्स के मतानुसार अतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव नई पूँजी बनती चली जाती है, किन्तु उसकी यह कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती है। यदि पूँजी अतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव बढ़ती चली जाती तो पूँजीपति को अपनी पूँजी बढ़ाने के लिए प्रयत्न करने की, भारी सूद पर ऋण लेने की, कम्पनी के हिस्से बेचकर नई पूँजी प्राप्त करने का भगीरथ प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए थी।

(4) मार्क्स यह मानता है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य या मुनाफे बढ़ाने के प्रलोभन से अधिकाधिक मात्रा में नई मशीनें लगाता है ताकि वह इनसे अधिक उत्पादन करते हुए मजदूर के जीवननिर्वाह के लिए अपेक्षित भृति का उत्पादन कम-से-कम समय में करके, शेष समय में अधिकतम अतिरिक्त मूल्य पाने के लिए उत्पादन कर सके। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि स्थायी पूँजी—मशीनों, कच्चे माल आदि से कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता है, उसे अतिरिक्त मूल्य **परिवर्तनशील पूँजी** या मजदूरों से प्राप्त होता है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी और असंगत हैं। एक ओर तो मार्क्स यह कहता है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य पाने के लिए नई मशीनें लगाता है, दूसरी ओर उसका यह मत है कि मशीनों से उसे कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता, वह केवल मजदूरों से मिलता है। यदि वास्तव में ऐसा है तो वह मजदूरों के श्रम को कम करने वाली मशीनें क्यों लगाता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे मजदूरों के श्रम की चोरी से प्राप्त होने वाले पूँजीपति के मुनाफे में कमी आ जाएगी। कोई भी पूँजीपति इतना मूर्ख नहीं होगा कि वह अपने मुनाफे को स्वयमेव कम करना पसन्द करे। इस प्रकार मार्क्स अपने विरोधी कथनों से स्वयमेव असंगतियों के जाल में फँस जाता है।

(5) मार्क्स की एक अन्य बड़ी असंगति यह है कि उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पूँजी' के प्रथम खण्ड में और तृतीय खण्ड में अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध में विरोधी विचार प्रकट किए हैं। यह विरोध इसलिए उत्पन्न हुआ है कि पूँजी के पहले खण्ड में उसने यह कहा है कि अतिरिक्त मूल्य का एकमात्र स्रोत मजदूरों का श्रम है तथा विभिन्न उद्योगों में स्थायी पूँजी (Constant Capital) तथा परिवर्तनशील

(Variable) पूंजी का अनुपात बदलता रहता है। इन दोनों बातों से यह परिणाम निकलता है कि जिस उद्योग में मजदूरों की संख्या अधिक होगी, उसमें कम मजदूरों वाले उद्योग की अपेक्षा अधिक लाभ होगा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है। सभी उद्योगों में मुनाफे की दर लगभग एक-सी होती है। अधिक मजदूर रखने वाले उद्योग से बहुत अधिक तथा अधिक मशीनें रखने वाले उद्योग से बहुत कम मुनाफा नहीं होता है। मार्क्स ने 'पूँजी' के प्रथम खण्ड में इस आपत्ति का समाधान नहीं किया है, किन्तु तीसरे खण्ड के नवें अध्याय में इस आपत्ति का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह इतना अस्पष्ट है कि इसे पूरी तरह समझना सम्भव नहीं है। इसके बारे में पोस्टगेट ने लिखा है—"अतिरिक्त मूल्य एक ऐसी जटिल तथा गुह्य (Esoteric) प्रक्रिया द्वारा समूचे पूँजीपति वर्ग में बँट जाता है, जिसकी व्याख्या यहाँ नहीं की जा सकती है।" इस पर कोई टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

(6) मार्क्स ने 'पूँजी' के पहले खण्ड में प्रतिपादित श्रम सिद्धान्त के साथ मुनाफे की एक जैसी दर (Uniform Rate) का समन्वय करने के लिए 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में यह कहा है कि "वस्तुओं का विनिमय उत्पादन के दामों (Prices of Production) के आधार पर निश्चित होता है।" उत्पादन का दाम लागत मूल्य तथा औसत मुनाफे के योगफल के समान होता है, इसका उनके मूल्य (Value) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। पहले खण्ड में वह पदार्थों के विनिमय मूल्य (Exchange Value) का प्रतिपादन करता है और तीसरे खण्ड में वह दामों की चर्चा करते हुए कहता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य उनके विनिमय मूल्य के आधार पर नहीं, किन्तु उनके दामों के आधार पर होता है। ये दोनों परस्पर विरोधी स्थितियां भीषण असंगति को पैदा करती हैं। 'पूंजी' के पहले तथा तीसरे खण्ड में प्रतिपादित इन विरोधी सिद्धान्तों के कारण लोरिया ने लिखा है कि 'इससे मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त वास्तव में विकृत (Sophisticated) हो गया है और वह इसे निराशाजनक मूर्खता की सीमा तक पहुँचाने का उत्तरदायी है।"[1]

(7) मार्क्स के इस सिद्धान्त का एक बड़ा दोष यह है कि वह इसमें मूल्य (Value), दाम (Price) आदि शब्दों का प्रयोग मनमाने और अनिश्चित ढंग से करता है, उसके सामान्य मजदूर और मिल-मालिक वर्तमान वास्तविक जगत् के नहीं, किन्तु कल्पनालोक के प्राणी हैं, क्योंकि वह उनका जिस रूप में वर्णन करता है, वह रूप केवल उसके ग्रन्थों में ही मिलता है, वास्तविक रूप में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है। मार्क्स की दुनिया निराली है, उसमें प्रत्येक पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य और मुनाफा कमाने पर तुला हुआ है और मुनाफा कमाना सामान्य क्रिया का अनिवार्य परिणाम है, मजदूर दुगने या तिगुने कर दीजिए, मुनाफा भी दूना या तिगुना स्वयमेव हो जाएगा। इसमें किसी प्रकार की कुशलता, प्रबन्ध संगठन या योग्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके मत में पूंजी तब तक पूंजी नहीं है, जब तक यह अतिरिक्त मूल्य न उत्पन्न करे। पूंजीपति केवल वही व्यक्ति है, जो निठल्ला बैठा हुआ अतिरिक्त मूल्य पर गुलछर्रे उड़ाता है। उसने अपने ग्रन्थों में मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु कहीं

---

1. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० 317.

भी उसने इस बात को नहीं बताया है कि वह मूल्य शब्द का प्रयोग किस अर्थ में कर रहा है। कोई भी व्यक्ति हमें यह नहीं बता सकता है कि मूल्य से मार्क्स का वास्तव में क्या अभिप्राय था।[1] मार्क्स ने इसी प्रकार अन्य सभी महत्त्वपूर्ण आर्थिक शब्दों की मनमानी व्याख्या की है, इस कारण इनसे उसका असली अभिप्राय समझना बड़ा जटिल कार्य है।

वस्तुतः उसने अपने पूँजीवाद-विषयक विशेष मन्तव्यों और सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए ही आर्थिक प्रश्नों का विवेचन किया है। उसके एक प्रसिद्ध जीवनी-लेखक बीअर ने लिखा है कि इस दृष्टिकोण का खण्डन करना सम्भव नहीं है कि मार्क्स ने आर्थिक सचाइयों का वर्णन करने की अपेक्षा राजनीतिक और सामाजिक नारों का ही अधिक प्रतिपादन किया है।[2] मार्क्स के विषय में यह भी कहा जाता है कि सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन के नियमों के अन्वेषक के तथा अग्रगामी समाजशास्त्री के रूप में उसका असाधारण महत्त्व है, किन्तु आर्थिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में उसका महत्त्व एक आन्दोलनकारी से अधिक नहीं है, अतः उसके अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जा सकता है।[3]

साम्यवादी दल का संगठन तथा कार्यक्रम—मार्क्स के मतानुसार पूँजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है, किन्तु इसके आधार पर हमें इसकी प्रतीक्षा में चुपचाप नहीं बैठ जाना चाहिए, और न यही समझना चाहिए कि इसके लिए साम्यवादी दल के संगठन की और कार्यक्रम बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। साम्यवादियों का यह कहना है कि यद्यपि भविष्य में पूँजीवाद के विध्वंस के लिए साम्यवादी क्रान्ति अवश्य होनी है; फिर भी हमें इस विषय में निष्क्रिय नहीं बैठना चाहिए, अपितु इसे शीघ्र लाने के लिए पूरा प्रयास करना चाहिए।

कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो में यह बताया गया है कि पूँजीवाद के विनाश के लिए मजदूरों को तथा साम्यवादी दलों को निम्नलिखित कार्यक्रम सामान्य रूप से अपनाना चाहिए—(1) भूमि के रूप में सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त किया जाए; भूमि के तमाम लगान का उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए किया जाए। (2) आय-कर इस तरह लगाया जाए कि आमदनी के साथ-साथ वह भी काफी मात्रा में बढ़ता जाए। (3) उत्तराधिकार की प्रथा बिल्कुल मिटा दी जाए। (4) भगोड़ों और विद्रोहियों की सम्पत्ति जब्त कर ली जाए। (5) राज्य की पूंजी से राष्ट्रीय बैंक खोलकर लेन-देन के समूचे कार्य को राज्य के हाथ में केन्द्रित कर दिया जाए। बैंकों पर राज्य का एकाधिकार हो। (6) डाक, तार तथा यातायात के साधनों पर राज्य का पूरा अधिकार स्थापित किया जाए। (7) एक बड़ी योजना बनाकर राज्य के सभी उद्योग-धन्धों का तथा उत्पादन के साधनों का विस्तार किया जाए, परती पड़ी हुई तमाम जमीन पर खेती की जाए और जमीन को अधिक उपजाऊ बनाया जाए। (8) प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना अनिवार्य हो। उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए और विशेष रूप से खेती-

1. ग्रे वहीं, पृ० 321.
2. बीअर—दी लाइफ एण्ड टीचिंग्स ऑफ कार्ल मार्क्स, पृ० 129.
3. इस सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना के लिए देखिए—ई० वान बोहम—बावर्क—कार्ल मार्क्स एण्ड दी क्लोज ऑफ हिज सिस्टम, पाल एम० स्वीजी का नवीन संस्करण, न्यूयार्क, 1949.

बाड़ी के लिए, लोगों को संगठित किया जाए। (9) खेती-बाड़ी के कार्य का उद्योग-धन्धों के कार्य के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाए, देश की आबादी को शहरों और गाँवों में उचित रूप से बाँटकर नगरों और ग्रामों के भेद को धीरे-धीरे मिटा दिया जाए। (10) सार्वजनिक पाठशालाओं में सब बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था की जाए। बच्चों के कारखानों में काम लेने की वर्तमान प्रथा को बिल्कुल समाप्त किया जाए। पढ़ाई-लिखाई का औद्योगिक उत्पादन के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाए।

सर्वहारा या मजदूर वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat)—साम्यवादी क्रान्ति होने से पूँजीवाद का विनाश नहीं हो जाता है, इसके बाद संक्रमण काल (Transitional period) में क्रान्ति को सुदृढ़ एवं चिरस्थायी बनाए रखने के लिए श्रमिक एवं निर्धन वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित किया जाता है ताकि क्रान्ति के विरोधी एवं शत्रु पूँजीपतियों का पूरी तरह से सफाया किया जाए, साम्यवाद के विरुद्ध विरोधी क्रान्ति (Counter-revolution) के सब प्रयत्नों को निष्फल बना दिया जाए। क्रान्ति द्वारा पराजित होने पर भी पूँजीपति वर्ग प्राणपण से तथा लेनिन के शब्दों में 'सौगुनी' तथा 'हजारगुनी शक्ति' से साम्यवाद को मिटाने का पूरा प्रयत्न करता है, चिरकाल तक उसके आक्रमण की आशंका बनी रहती है। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए मजदूर वर्ग शासन पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करता है, इसका शासन लोकतन्त्रात्मक रीति से नहीं होता है, क्योंकि इसमें शासन-सत्ता केवल मजदूरों के हाथ में रहती है, अतः इसे **सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता** कहते हैं। इसकी शासन पद्धति बड़ी कठोर, निर्मम, हिंसात्मक और अत्याचारपूर्ण होती है, क्योंकि इसका प्रधान उद्देश्य पूँजीपतियों का उन्मूलन करके क्रान्ति को स्थायी बनाना है।

कम्यूनिस्ट घोषणापत्र के अनुसार क्रान्ति का पहला कदम है—मजदूर वर्ग का शासन स्थापित करना। अपने शासन का प्रयोग करके मजदूर वर्ग पूँजीपति वर्ग के हाथ से, धीरे-धीरे सारी पूँजी छीन लेगा, उत्पादन के तमाम साधनों को राज्य के हाथ में अर्थात् शासक वर्ग के रूप में संगठित मजदूर वर्ग के हाथ में सौंप देगा और उत्पादन की कुल शक्तियों को अधिक तेजी से बढ़ाएगा तथा ऊपर बताए गए साम्यवादी कार्यक्रम को क्रियात्मक रूप प्रदान करेगा।

मजदूर वर्ग की अधिनायकता के सम्बन्ध में मार्क्स और एंगल्ज ने बहुत कम लिखा है। एंगल्ज इस विषय में 1871 में फ्रांस की राजधानी में क्रान्ति होने पर स्थापित होने वाली पेरिस के कम्यून की अधिनायकता को आदर्श समझता था। लेनिन ने इस सिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन किया है और बोल्शेविक क्रान्ति में उसने रूस में ऐसी व्यवस्था स्थापित करके इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। यहाँ **मजदूर वर्ग की अधिनायकता** ने वास्तव में अत्यधिक अल्प संख्या रखने वाले तथा सुसंगठित **साम्यवादी दल की अधिनायकता** (Dictatorship of the Communist Party) का रूप ग्रहण किया है, चीन में भी यही स्थिति है, वहाँ भी साम्यवादी दल श्रमिक वर्ग की अधिनायकता का साधन बनकर शासन कर रहा है।

रूस में साम्यवादी दल ने लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व में अपनी अधिनायकता

स्थापित करके पूँजीवाद के विध्वंस एवं साम्यवादी क्रान्ति को स्थायी बनाने के लिए उपर्युक्त कार्यक्रम के अतिरिक्त अनेक उपायों का अवलम्बन किया है : **पहला** उपाय पूँजीपति वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले जमींदारों, धनियों, पुलिस, पादरी, मजदूरों से अपने लाभ के लिए काम लेने वाले व्यक्तियों—दुकानदारों, व्यापारियों आदि को मताधिकार से, राजनीतिक अधिकारों से और पद ग्रहण करने से वंचित करना था। **दूसरा** उपाय क्रान्ति-विरोधियों एवं षड्यन्त्रकारियों का निर्मम एवं निष्ठुर दमन है। रूस में साम्यवादी दल के अनेक प्रभावशाली सदस्यों—त्रातस्की, बुखारिन आदि पर क्रान्ति-विरोधी होने के आरोप लगाए गए, हजारों को देशनिर्वासन और प्राणदण्ड की सजाएँ मिलीं। स्तालिन के समय में रूस में भीषण आतंक का शासन बना रहा, खुश्चेव ने 14 फरवरी, 1956 को इस पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि उस समय यदि स्तालिन किसी उच्चतम अधिकारी को भी अपने पास बुलाता था तो उसे इस बात का विश्वास नहीं होता था कि वह सही सलामत अपने घर वापिस पहुँच सकेगा। इस प्रकार के शासन में गुप्तचरों का तथा पुलिस का जाल बिछा रहता है, तनिक भी सन्देह होने पर किसी व्यक्ति को कठोरतम दण्ड दिया जाता है। **तीसरा** उपाय साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य सभी दलों की समाप्ति, सरकारी कार्यों और नीतियों की सार्वजनिक आलोचना का निषेध तथा भाषण, लेखन और प्रकाशन की स्वाधीनता का अभाव है। **चौथा** उपाय पुराने पूँजीपतियों और सूदखोरों को शारीरिक श्रम करने के लिए बाधित करना है। **पाँचवाँ** उपाय बच्चों को शुरू से ही साम्यवादी विचारों के अनुसार शिक्षा देना है, जिससे उनके विचार बचपन से ही साम्यवादी साँचे में ढल जाएँ और ये पूँजीवादी दृष्टिकोण से विचार ही न कर सकें। **छठा** उपाय पूँजीवाद के समूलोन्मूलन के लिए उत्पादन के सभी साधनों—भूमि, खानों, कारखानों, व्यापार आदि पर सरकारी आधिपत्य स्थापित करना और इनका संचालन राज्य की ओर से करना है। विभिन्न योजनाओं द्वारा उद्योगों की और कृषि की विलक्षण उन्नति करने का प्रयत्न किया जाता है।

मार्क्स के मतानुसार मजदूर वर्ग की अधिनायकता एक संक्रमणकालीन अवस्था (Transitional stage) है। यह अवस्था थोड़े समय तक ही रहेगी। यह केवल क्रान्ति के शत्रुओं को निर्मूल करने के लिए तथा साम्यवादी व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए है। ऐसा हो जाने पर मजदूरों की अधिनायकता समाप्त हो जाएगी। किन्तु यह कब समाप्त होगी, इस विषय में मार्क्स तथा उसके अनुयायी कोई निश्चित उत्तर नहीं देते हैं। रूसियों का यह कहना है कि यह दशा एक पीढ़ी अर्थात् 20-25 वर्ष तक रहेगी।[1] किन्तु वहाँ 1917 की क्रान्ति के बाद दो पीढ़ी की अवधि बीत जाने के बाद भी अभी यह दशा समाप्त नहीं हुई है और न ही इसके शीघ्र समाप्त होने की आशा है।

मार्क्स के मतानुसार साम्यवादी क्रान्ति का अन्तिम लक्ष्य वर्गहीन (Classless) एवं राज्यहीन समाज स्थापित करना है। मजदूर वर्ग की अधिनायकता पूँजीवादी तथा साम्यवादी समाज की मध्यवर्ती दशा है। इस अधिनायकता की दशा में भी राज्य

1. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, 161.

की सत्ता बनी रहती है, पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य पर पूँजीपतियों का प्रभुत्व था, वे इसका उपयोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए तथा निर्धन लोगों के शोषण के लिए करते थे; मजदूर वर्ग की अधिनायकता में राज्य की शक्ति का प्रयोग श्रमिक वर्ग की हितसिद्धि के लिए तथा पूँजीपतियों के उन्मूलन के लिए किया जाता है। किन्तु ऐसा करते हुए यह अधिनायकता शनैः-शनैः समाज में सभी वर्गों का अन्त कर देती है, इसके परिणामस्वरूप संक्रमण काल के बाद राज्य और सरकार का अन्त होकर एक आदर्श अराजक साम्यवादी समाज स्थापित होता है। इसके लिए मार्क्स का राज्य-विषयक सिद्धान्त समझना आवश्यक है।

राज्य-विषयक सिद्धान्त—मार्क्स तथा एंगल्ज ने राज्य के विषय में अपने सिद्धान्त का बहुत ही कम विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न इसके उद्गम का है। इसका विवेचन एंगल्ज ने '**परिवार, वैयक्तिक सम्पत्ति और राज्य का उद्गम**' नामक पुस्तक में किया है। इसमें उसने यह बताया है कि मानव-समाज की आरम्भिक दशा में 'आदिम साम्यवाद' (Primitive Communism) की अवस्था थी। एंगल्ज़ने इस अवस्था में राज्य की सत्ता के बारे में निश्चित मत नहीं प्रकट किया है। कुछ स्थलों पर उसने इसकी सत्ता को अस्वीकार किया है, किन्तु अन्यत्र यह माना है कि आदिम अवस्था में मनुष्यों के आपसी विवादों का निर्णय करने के लिए, सार्वजनिक व्यवस्था और शान्ति की तथा जलपूर्ति की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज्य की संस्था बनी हुई थी। इस प्रकार परस्पर-विरोधी मत प्रतिपादित करते हुए वह हमें यह कहीं नहीं बताता है कि राज्य ने विशेष वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने वाले एक अत्याचारपूर्ण, परोपजीवी (Parasitic) शासन का रूप किस प्रकार धारण किया।

राज्य-विषयक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न इसके **उद्देश्य और स्वरूप** का है। इस विषय में मार्क्स का अपना विशेष मन्तव्य है और वह राजनीतिशास्त्र के अन्य विचारों से सर्वथा भिन्न है। अरस्तू ने कहा था कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को उत्तम बनाना तथा पूर्णरूप से विकसित करना है, राज्य की सत्ता इसलिए है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपना उच्चतम विकास कर सके। यह सबके सहयोग से सामान्य हित के कार्य करने वाला समुदाय है। राज्य समाज के विभिन्न तत्त्वों में सन्तुलन रखते हुए न केवल व्यक्ति के, अपितु सभ्यता के विकास में भी सहायक होता है। किन्तु मार्क्स इसके सर्वथा विपरीत यह मानता है कि राज्य शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गों के शोषण करने का साधन या उपकरण मात्र है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पूंजीपतियों का संगठन है, इसका उद्देश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह अपनी सम्पत्ति एवं हितों की रक्षा की दृष्टि से कानूनों का निर्माण करता है, कानून भंग करने वालों को पकड़ने तथा दण्ड देने के लिए पुलिस तथा न्यायालयों की व्यवस्था करता है। **कम्यूनिस्ट घोषणापत्र में** राज्य को **पूंजीपतियों की कार्यकारिणी समिति**' (Executive Committee of the Bourgeoise) कहा गया है। मार्क्स के मतानुसार राज्य अपनी सम्पत्ति और हितों को सुरक्षित बनाए रखने की दृष्टि से पूंजीपतियों द्वारा बनाए गए संगठन के अतिरिक्त कुछ भी नही है। एंगल्ज़ ने राज्य का लक्षण करते

हुए लिखा है कि "यह एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के उत्पीड़न करने का यन्त्र-मात्र है।" यह मानव-जीवन के विकास का उत्तम तथा स्वाभाविक साधन अथवा समाज के सभी वर्गों में सामंजस्य और संतुलन बनाए रखने वाला, उनके अधिकारों की रक्षा करने वाला तथा उनके कल्याण में संलग्न संगठन नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य एक विशेष वर्ग की प्रभुता को बनाए रखना तथा उसे अन्य वर्गों के शोषण की खुली छूट देना है, यह वर्ग आर्थिक उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित करके सेना, पुलिस और कानून द्वारा अपने वर्ग के आधिपत्य को सुदृढ़ बनाता है।

मार्क्स के मतानुसार राज्य शक्ति पर आधारित है। जब एक बार कोई वर्ग राजनीतिक सत्ता हस्तगत कर लेता है तो वह पूरी शक्ति के साथ इसे बनाए रखने का प्रयत्न करता है। राजनीतिक शक्ति का अभिप्राय एक वर्ग की उस संगठित शक्ति से है, जिसका उपयोग वह दूसरे वर्ग को दबाए रखने के लिए करता है। अतः राज्य का मौलिक उद्देश्य शासक वर्ग के हितों का संरक्षण तथा अन्य वर्गों का उत्पीड़न एवं दमन करना है।

मार्क्सवाद राज्य के इस उद्देश्य और स्वरूप का समर्थन वर्तमान पूंजीवादी राज्यों के कारनामों के आधार पर करता है। उनके मतानुसार किसी भी राज्य में साधारण जनता की अथवा मजदूर वर्ग की दशा सुधारने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है, केवल पूंजीपतियों के हितों की सुरक्षा के लिए कानून बनाए जाते हैं। पुलिस, न्यायालय, सेना और प्रशासन की व्यवस्था निर्धन व्यक्तियों का शोषण करने के लिए ही है। मजदूरों पर अपना आधिपत्य और प्रभुत्व बनाए रखने के लिए राज्य विद्यालयों तथा धार्मिक संगठनों का उपयोग करता है। विद्यालयों में निर्धन व्यक्तियों के बच्चों के मनों पर बचपन से ही यह प्रभाव डाला जाता है कि उन्हें राज्य के आदेशों का पालन करना चाहिए, धार्मिक संगठन मजदूरों को इस बात की शिक्षा देते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह करना महापाप है, उनकी दरिद्रता एवं दुरवस्था उनके दुष्कर्मों का दण्ड है, इसे भगवान् ने दिया है, अतः दरिद्रता को दैवी व्यवस्था समझकर सन्तोष करना चाहिए; इसके विरुद्ध असन्तोष, रोष या विद्रोह की भावना दैवी व्यवस्था को उलटने का महान् पाप होगा। इस प्रकार शासक वर्ग सभी प्रकार से शासित वर्ग को पराधीनता के पाश में जकड़कर उसका शोषण करता है।

राज्य के इस सिद्धान्त की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं: **पहली विशेषता** इसका वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह वस्तुतः उसी सिद्धान्त का परिणाम है। इसके अनुसार समाज में सदैव वर्ग-संघर्ष चलता रहता है, राज्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है, इसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करता रहता है। इसकी **दूसरी विशेषता** यह सूचित करती है कि राज्य सदैव मजदूरों का शोषण करता है, अतः इन दोनों के विरोध की समस्या का कभी समाधान नहीं हो सकता है, मजदूरों को राज्य के साथ कभी कोई समझौता नहीं करना चाहिए, अपितु उनका उद्देश्य इसके साथ अविरत संघर्ष करते हुए इसका विध्वंस करना होना चाहिए; इसके विनाश से ही श्रमिकों को दरिद्रता, दैन्य और भीषण कष्ट रूपी महादानवों के अत्याचारों से मुक्ति मिलेगी। **तीसरी विशेषता** यह है कि राज्य का आधार पाशविक शक्ति को मान लेने का स्वाभाविक परिणाम यह है कि इसकी समाप्ति के लिए भी शक्ति के प्रयोग को

आवश्यक माना जाए। 'विषस्य विषमौषधम्', शक्ति का प्रतिकार शक्ति से ही हो सकता है। वर्तमान पूँजीपति राज्य का उन्मूलन करने के लिए क्रान्ति और हिंसा की आवश्यकता स्वतःसिद्ध है। इसका अन्त ऐसे साधनों से ही हो सकता है। **चौथी विशेषता** राज्य के दमनात्मक और दण्डात्मक पहलू पर बल देना है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का प्रधान कार्य विशेष वर्ग के हितों को शक्ति द्वारा सुरक्षित बनाना है, अतः यह इस वर्ग को क्षति पहुँचाने वाले सभी कार्यों का दमन करता है। इसका अत्याचारी रूप उस समय पूर्णतया प्रकट होता है, जब मजदूरों द्वारा अपनी दशा को सुधारने के लिए की गई हड़तालों को रोकने तथा हड़ताली प्रदर्शनकारियों का दमन करने के लिए पुलिस लाठी चार्ज करती है, सेना गोलियाँ चलाती है तथा श्रमिक-नेताओं को जेलों की कोठरियों में बन्द किया जाता है। इससे मार्क्स ने यह परिणाम निकाला है कि राज्य का प्रधान कार्य जनता का कल्याण नहीं, किन्तु उसका दमन करना है। **पाँचवीं विशेषता** भविष्य में राज्य की संस्था का समाप्त हो जाना है। इसका प्रतिपादन आगे किया जाएगा।

राज्य के सिद्धान्त की आलोचना--मार्क्स के राज्य के उपर्युक्त सिद्धान्त में कई गम्भीर दोष हैं—(1) यह राज्य के स्वाभाविक और वास्तविक स्वरूप के स्थान पर उसका एकांगी, दूषित तथा विकृत दृष्टिकोण उपस्थित करता है। राज्य का प्रधान कार्य मनुष्य के उत्तम जीवन के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है, वह यह कार्य विदेशी शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करके तथा देश में आन्तरिक शान्ति की व्यवस्था उत्पन्न करके करता है। स्पेन्सर जैसे व्यष्टिवादी भी इस दृष्टि से राज्य की उपयोगिता मानते हैं; किन्तु मार्क्स राज्य के मौलिक एवं प्रधान कार्यों की उपेक्षा करते हुए उसके दमनात्मक कार्यों को अनावश्यक महत्त्व प्रदान करता है। वह राज्य के स्वाभाविक रूप को न देखकर उसके दूषित रूप को देखता है, यह वैसा ही है, जैसे कोई जेलखाने में जाकर अपराधियों के चरित्र के आधार पर मानवीय स्वभाव के बारे में कुछ सिद्धान्त निश्चित करे। यह सम्भव है कि कुछ राज्यों में विशेष वर्गों के हितों को ही प्रधान रूप से सुरक्षित रखा गया हो, किन्तु सभी राज्य सदैव साधारण जनता के हितों की उपेक्षा करते हुए विशेष वर्गों के हितों का पोषण करते हैं, इस धारणा को सार्वभौम रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है। प्राचीन एवं मध्य काल के इतिहास में जनता के कल्याण को सर्वोपरि रखने वाले राजाओं और राज्यों की कमी नहीं रही है।

(2) मार्क्स ने अपना सिद्धान्त एक शताब्दी पहले बनाया था, इसके बाद का इतिहास उसकी धारणा को पुष्ट नहीं करता है। उसके मतानुसार पूँजीवादी देशों में पूँजीपति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए मजदूरों को तथा जनता को लाभ पहुँचाने वाले कानून नहीं बनने देते हैं। किन्तु पिछले सौ वर्षों में लगभग सभी औद्योगिक देशों—इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, सं० रा० अमरीका आदि में मजदूरों की दशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले कानून बने हैं। अब सर्वत्र कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का विचार स्वीकार किया जाने लगा है। इंगलैण्ड जैसे पूँजीवाद का गढ़ समझे जाने वाले देशों में जनता के वोटों से निर्वाचित मजदूर-सरकारों ने बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे

के बारे में विभिन्न योजनाओं द्वारा निर्धन वर्ग की प्रधान समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया है। ये सब तथ्य मार्क्स के इस कथन को मिथ्या सिद्ध करते हैं कि राज्य पूँजीपतियों द्वारा निर्धन जनता के शोषण का प्रधान साधन है। इस समय वस्तुत: राज्य इनके उत्थान और कल्याण का प्रमुख उपकरण बने हुए हैं।

(3) मार्क्स का यह कथन भी सत्य नहीं है कि क्रान्ति के बिना वर्तमान पूँजीवादी राज्य में परिवर्तन नहीं हो सकता है, पूँजीवादी राज्य के विध्वंस और समाजवादी राज्य की स्थापना का एकमात्र साधन हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन है। इंगलैण्ड, अमरीका तथा भारत जैसे लोकतन्त्रीय परम्परा वाले देशों में शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से पूँजीवादी राज्य समाजवादी राज्य में परिणत हो रहे हैं। इंगलैण्ड में 1832 के सुधार कानून से शासन-सत्ता जमींदार वर्ग के हाथ से निकलकर मध्यम-वर्ग के हाथ में आ गई और इसने वहाँ सुधार कानूनों की एक लम्बी परम्परा का श्रीगणेश किया। यही कारण था कि 1848 में यूरोप के अन्य देशों में क्रान्तियाँ हुईं, किन्तु इंगलैण्ड में क्रान्ति नहीं हुई। सं० रा० अमरीका में राष्ट्रपति जैक्सन ने इसी प्रकार के परिवर्तन किए, 1930 की मन्दी के बाद राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने अपनी 'नवीन व्यवस्था' (New Deal) द्वारा महान् परिवर्तन किए। भारत में कांग्रेसी सरकारों ने जमींदारी उन्मूलन आदि के कानून बनाकर जमींदार वर्ग की समाप्ति बड़ी शान्तिपूर्ण रीति से की है। विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन द्वारा भारत की भूमि-व्यवस्था में एक महान् क्रान्ति की है। ये सब उदाहरण मार्क्स के क्रान्ति के एकमात्र उपाय का प्रबल खण्डन करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि पूँजीवादी राज्य को शान्तिपूर्ण वैध उपायों से समाजवादी राज्य में परिवर्तित किया जा सकता है।

राज्य की संस्था का लुप्त होना (Withering away of the State)—मजदूर वर्ग की अधिनायकता के संक्रमण काल के बाद मार्क्स एक ऐसी आदर्श अवस्था की कल्पना करता है, जिसमें राज्य और सरकार का अन्त हो जाएगा। इसमें मनुष्य पहली बार पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा, उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होगा। सब लोग अपनी शक्ति के अनुसार काम करेंगे, उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार उपभोगयोग्य वस्तुएँ दी जाएँगी। यह समाज न केवल राज्यहीन, किन्तु वर्गहीन भी होगा। यह मार्क्स के उपर्युक्त राज्य-विषयक सिद्धान्त का स्वाभाविक तर्कसंगत परिणाम है। वह राज्य को सत्तारूढ़ प्रबल वर्ग द्वारा निर्बल वर्ग के शोषण का यन्त्र या साधन समझता है। उसके मतानुसार राज्य की उपयोगिता शासक वर्ग के विशेषाधिकारों की रक्षा करना है। अत: जब तक समाज में वर्ग बने रहेंगे, तब तक एक विशेष वर्ग की सत्ता के समर्थक राज्य की सत्ता बनी रहेगी। किन्तु सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता हो जाने पर पूँजीपतियों के वर्ग का उन्मूलन हो जाएगा, इसके बाद स्वत: समाज में वर्ग-भेद की तथा दो पृथक् वर्गों की सत्ता समाप्त हो जाएगी, सब व्यक्तियों को समानता की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। इस दशा में कोई विशेष वर्ग न रहने के कारण उसकी सत्ता को बनाए रखने वाले राज्य की भी आवश्यकता या उपयोगिता नहीं रह जाएगी। अत: राज्य की व्यवस्था स्वयमेव लुप्त हो जाएगी। जिस प्रकार एक फूल अपने पूर्ण विकास के बाद स्वयमेव मुरझा (Wither) जाता है, उसी प्रकार अन्त में राज्य-रूपी फूल की पंखुड़ियाँ भी कुम्हलाकर या म्लान होकर गिर

जाएँगी और इस संस्था का धरती से लोप हो जाएगा।

एंगल्ज ने इस परिस्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है—"अन्त में जब राज्य समूचे समाज का वास्तविक प्रतिनिधि बन जाता है तो यह अपने को फालतू (Superfluous) बना देता है। उस समय समाज के किसी अंश को पराधीन बनाकर रखने वाला कोई वर्ग नहीं होता है। अतः इस समय दमन करने योग्य कोई तत्त्व न होने से राज्य की दमनकारी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है।...(इसलिए) राज्य का अन्त नहीं किया जाता है, अपितु इसकी व्यवस्था स्वयमेव म्लान होकर समाप्त हो जाती है।"[1] एंगल्ज़ ने 'परिवार के उद्‌गम' में भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए कहा है कि "वह युग आने वाला है, जब राज्य संग्रहालयों में रखी ज़ाने योग्य प्राचीन वस्तुओं—चरखे या काँसे के कुल्हाड़े की भाँति, अतीत काल की वस्तु बन जाएगी।"[2]

किन्तु मार्क्स और एंगल्ज की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं हुई। रूस में क्रान्ति को हुए आधी शताब्दी बीत चुकी है, किन्तु वहाँ राज्य उत्तरोत्तर प्रबल होता जा रहा है, उसकी विलुप्त होने और अतीत की वस्तु बन जाने की कोई आशा नहीं है। मार्क्स के इस सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करने के लिए मार्क्सवादियों की ओर से यह कहा जाता है[3] कि राज्य का लोप दो प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर होगा—(1) विश्व के सभी या लगभग सभी देश कम्यूनिस्ट बन जाएँ। (2) 'पूर्ण प्राचुर्य' (Absolute Abundance) की स्थिति उत्पन्न हो। इसका यह अभिप्राय है कि नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से तथा मशीनों की सहायता से प्रत्येक वस्तु के उत्पादन को इतनी अधिक प्रचुर मात्रा में किया जाए कि समाज में किसी वस्तु की कोई कमी न रहे। जब पूर्ण समृद्धि का स्वर्णयुग इस धरती पर उतर आएगा, उस समय किसी प्रकार का अभाव या दरिद्रता अथवा इनके आधार पर उत्पन्न होने वाला धनी-निर्धन का कोई वर्ग-भेद समाज में नहीं रह जाएगा। सब लोग अपनी सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का पूरा उपयोग कर सकेंगे। उस दशा में संक्रान्ति काल के ये सिद्धान्त तथा नारे समाप्त हो जाएँगे कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार वेतन दिया जाए' अथवा 'जो श्रम का कार्य नहीं करता है, उसे खाने को भी न दिया जाए'। इन नारों का स्थान अब यह नारा लेगा—'प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार दिया जाए।' समृद्धि का यह स्वर्णयुग आने पर राज्य की दमनकारी और नियन्त्रण करने वाली शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु राज्य के लोप की उपर्युक्त दोनों शर्तों का भविष्य में पूरा होना सम्भव नहीं दिखाई देता है। जान-बूझकर ऐसी शर्तें रखी गई हैं। ये शर्तें न कभी पूरी होंगी और न कभी राज्य लुप्त होगा।

मार्क्स का महत्त्व और मूल्यांकन—मार्क्स की महत्ता के सम्बन्ध में दो

1. एण्टी बूहॉरिंग, पृ० 308-309.
2. एंगल्ज—ओरिजिन ऑफ दी फैमिली, पृ० 198। ग्रे(दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० 327) ने लिखा है कि 1794 में जर्मन दार्शनिक फिख्टे (Fichte) ने भी राज्य के विलुप्त होने की कल्पना की थी।
3. मेयो—इंट्रोडक्शन टू मार्क्सिस्ट फिलासफी, पृ० 171.

परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं : पहला दृष्टिकोण उसके प्रशंसकों और भक्तों का है, वे उसे देवता या भगवान् का अवतार मानते हैं। दूसरा दृष्टिकोण उसके आलोचकों तथा पूँजीपतियों का है, उनके अनुसार वह शैतान या राक्षस है। किन्तु इन दोनों दृष्टिकोणों में मतभेद होते हुए भी उसके महत्त्व के सम्बन्ध में एक बात निर्विवाद रूप से कहीं जा सकती है कि उसने विश्व पर अमिट प्रभाव डाला है। मार्क्स के सिद्धान्तों की कितनी ही कटु आलोचना क्यों न की जाए, किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि संसार के अधिकांश देशों पर उसकी समाजवादी विचारधारा ने गहरा असर डाला है; इस समय विश्व की एक अरब के लगभग जनता प्रत्यक्ष रूप से मार्क्स के सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले साम्यवादी राज्यों में निवास करती है, इसने विश्व को दो प्रबल विरोधी गुटों में बाँट दिया है। मैक्सी ने लिखा है—"किसी भी समाज-विषयक विचारधारा पर कभी इतने प्रबल आक्षेप नहीं हुए, जितने मार्क्सवाद पर हुए हैं। उग्र एवं प्रतिगामी, समाजवादी तथा पूँजीवादी विचारकों ने पूरी शक्ति के साथ अपनी तोपों से इस पर गोलाबारी करके इसे विध्वस्त करने का प्रयत्न किया है। ··मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त के बारे में यह सिद्ध किया गया है कि इसमें आंशिक सत्य है, मार्क्स का आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) का सिद्धान्त सभी आर्थिक घटनाओं की व्याख्या करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है, वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त के इतिहास के तथ्यों का तथा समाज की वास्तविक रचना का विरोधी होने की बात प्रमाणित की जा चुकी है। पूँजी के केन्द्रीकरण तथा पूँजीवाद के विध्वंस के विषय में मार्क्स के द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ सत्य नहीं सिद्ध हुई हैं। राज्य को प्रधान रूप से आर्थिक शोषण का साधन मानने का मार्क्स का विचार अत्यधिक एकांगी और दोषपूर्ण प्रदर्शित किया जा चुका है। क्रान्ति और पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में मार्क्स के सिद्धान्त गलत और भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध किए जा चुके हैं। किन्तु इन सब खण्डनों के बावजूद मार्क्स आधुनिक युग के राजनीतिक और आर्थिक चिन्तन में एक शक्तिशाली तत्त्व बना हुआ है। मार्क्स के समय से सभी प्रकार के समाजवादी विचार मार्क्सवादी, मार्क्स-विरोधी या अर्द्धमार्क्सवादी (Quasi-Marxism) रहे हैं।"[1] ग्रे ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"उसके ग्रन्थों में अत्यधिक नीरसता है,उसके सिद्धान्तों में बड़ी गड़बड़ी और स्वाभाविक अन्तर्विरोध हैं, उसके स्वभाव और चरित्र में ऐसे दोष हैं जो उसे जनता का वीर नायक बनने में समर्थ नहीं बनाते हैं, किन्तु इन सब कमियों के होते हुए भी यह बात निर्विवाद है कि मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी का अधिकतम प्रभावशाली व्यक्ति है।"[2] वेपर के मतानुसार, "अपने सन्देश के प्रभाव की, अपनी शिक्षाओं द्वारा दी जाने वाली प्रेरणा की तथा भावी विकास पर डाले जाने वाले प्रभाव की दृष्टि से मार्क्स का स्थान विश्व में राजनीतिक चिन्तन करने वाले आचार्यों के किसी भी समूह में पूर्ण रूप से सुरक्षित है।"[3] मार्क्स के प्रभाव का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि इस समय विश्व की एक-तिहाई जनता शोषित एवं निर्धनता के कष्टों से पीड़ित मानवता को मुक्ति

1. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० 576.
2. ग्रे—दी सोशलिस्ट, ट्रेडीशन पृ० 330-31.
3. वेपर—पोलिटिकल थॉट, पृ० 217.

दिलाने वाले मसीहा और भगवान् के रूप में उसकी उपासना करती है एवं उसके कट्टर विरोधी भी उसे विश्व का एक अत्यन्त प्रभावशाली विचारक और दार्शनिक स्वीकार करते हैं।

लेनिन (1870-1924)—मार्क्स के सिद्धान्तों को रूस में सफल बनाने वाले विश्व के महान् क्रान्तिकारियों में अद्वितीय स्थान रखने वाले लेनिन ने एक सम्भ्रान्त कुल में, पाठशालाओं के एक निरीक्षक के घर में जन्म लिया। लेनिन का वास्तविक नाम व्लादिमिर इलयिच उलयनोव (Vladimir Ilyich Ulyanov) था। लेनिन का उपनाम उसने बाद में 1895 में ज़ार की सरकार द्वारा साइबेरिया में निर्वासित होकर लेना नदी के तट पर रहने के कारण ग्रहण किया। लेनिन के सभी भाई उग्र क्रान्तिकारी थे, उसके बड़े भाई को ज़ार एलेक्ज़ेण्डर तृतीय की हत्या का विफल प्रयत्न करने वाले षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के कारण प्राणदण्ड मिला था। इसने लेनिन को पक्का क्रान्तिकारी बना दिया। नवम्बर 1917 में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति का नेतृत्व करते हुए लेनिन ने विश्व में पहला साम्यवादी राज्य स्थापित किया। अगले पाँच वर्ष (1917-22) की अवधि में बीमार पड़ने से पहले तक उसने रूस में क्रान्ति को सुदृढ़ बनाने का भगीरथ प्रयास किया। दो वर्ष की बीमारी के बाद रूसी क्रान्ति का यह महान् नेता दिवंगत हुआ (21 जनवरी, 1924)।

लेनिन में कुशाग्र बुद्धि तथा व्यावहारिकता का विलक्षण समन्वय था। उसने मार्क्स के सिद्धान्तों में गहरी दिलचस्पी लेते हुए उनका प्रयोग रूस में क्रान्ति को सफल बनाने के लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही किया था, अतः उसने क्रान्ति करने की पद्धतियों और विधियों पर अधिक ध्यान दिया, इनके सम्बन्ध में बहुत चिन्तन किया और लिखा। उसकी रचनाओं के संग्रह 12 खण्डों में छपे हैं।[1] उसने विशेष रूप से इस समस्या पर विचार किया कि पूँजीवाद को समाजवाद के रूप में कैसे परिणत किया जा सकता है। इस क्षेत्र में उसने मार्क्स और एंगल्ज़ के सिद्धान्तों में कई नई बातें जोड़ीं, संशोधनवादियों द्वारा मार्क्सवाद पर किए जाने वाले आक्षेपों का उत्तर दिया और ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाला, जिनका मार्क्स और एंगल्ज़ ने बहुत कम प्रतिपादन किया था। स्तालिन ने लिखा है कि लेनिन का एक बड़ा कार्य यह था कि "वह मार्क्स के सिद्धान्त को अद्यतनीन (Uptodate) बनाए, उसके मन्तव्यों का पुनः प्रतिपादन करे, द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (Second International) के अवसरवादियों तथा संशोधनवादियों द्वारा दबा दिए गए मार्क्सवाद के सच्चे सिद्धान्तों का पुनरुद्धार करे तथा मार्क्सवाद को रूस की परिस्थितियों के अनुसार ढाले।" ऐसा करते हुए लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्तों में पर्याप्त परिवर्तन किया है। उसके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

लेनिन के प्रमुख सिद्धान्त—साम्राज्यवाद—लेनिन से पहले मार्क्सवाद के

1. लेनिन की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का हिन्दी अनुवाद 'संकलित रचनाएँ' के नाम से तीन खण्डों में 'विदेशी भाषा प्रकाशनगृह' मास्को, से प्रकाशित हुआ है। लेनिन की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कृतियों के हिन्दी अनुवाद मास्को से छप चुके हैं—साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था, राजसत्ता और क्रान्ति, मार्क्सवाद के ऐतिहासिक विकास की कुछ विशेषताएँ, पूर्व में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन, राष्ट्रों में आत्मनिर्णय का अधिकार, सोवियत सत्ता और स्त्रियों की स्थिति।

आलोचकों—बर्नस्टाइन आदि ने यह प्रतिपादित किया था कि पूँजीवाद के सम्बन्ध में मार्क्स द्वारा की गई अधिकांश भविष्यवाणियाँ भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई हैं। यूरोप के पूँजीवादी देशों –ब्रिटेन, फ्रांस आदि में मजदूरों की आर्थिक दशा अधिक बुरी नहीं हुई, अपितु मार्क्स के कथन के सर्वथा विपरीत पहले से अधिक अच्छी हुई है। पूँजीवादी देशों में वर्ग-संघर्ष भी उग्र नहीं हुआ, अपितु 1914 के विश्वयुद्ध में भाग लेने वाले सभी देशों के विभिन्न वर्गों ने अपने मतभेद और संघर्ष भुला दिए, सुदृढ़ रूप में एक एवं संगठित होकर शत्रु का सामना किया। लेनिन ने प्रथम विश्वयुद्ध में 1916 में इन आक्षेपों से मार्क्सवाद की रक्षा करने के लिए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था'** (Imperialism : The Highest Stage of Capitalism) लिखी और साम्राज्यवाद के विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके आरम्भ में ही उसने यह स्वीकार किया है कि ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे० ए० हॉब्सन की पुस्तक 'साम्राज्यवाद' में तथा आस्ट्रिया के मार्क्सवादी रुडोल्फ हिल्फर्डिंग की पुस्तक 'वित्तीय पूँजी' (Financial Capital) में इसकी बहुमूल्य व्याख्या की गई है।

लेनिन ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में साम्राज्यवाद के सिद्धान्त द्वारा मार्क्सवाद पर किए जाने वाले इस आक्षेप का समाधान किया है कि ब्रिटेन आदि पूँजीपति देशों में मजदूरों की दशा पहले से अधिक खराब क्यों नहीं हो रही है? लेनिन का यह कहना था कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि के साम्राज्यों ने इन देशों के मजदूरों को अधिक निर्धन और दुरवस्थापन्न होने से बचाया हुआ है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन को भारत जैसे अपने उपनिवेशों से अक्षय सम्पत्ति मिल रही है, इससे वहाँ के मजदूर समृद्ध हो रहे हैं। साम्राज्यवाद से सर्वहारा वर्ग का तथा शोषण का स्वरूप बदल गया है। इस साम्राज्य के कारण ब्रिटेन के पूँजीपति ब्रिटिश मजदूरों का नहीं, अपितु भारतवासियों का शोषण करते हैं, अब ब्रिटिश मजदूर नहीं, किन्तु भारतीय किसान और मजदूर ब्रिटेन का सर्वहारा वर्ग है। साम्राज्यवादी अपने उपनिवेशों के शोषण पर फूलते-फलते हैं, इनकी दशा निरन्तर गिरती चली जाती है, इनके शोषण से ब्रिटेन जैसे साम्राज्यवादी देशों के मजदूरों की दशा सुधर रही है। मार्क्स के सिद्धान्तों से साम्राज्यवाद का कोई विरोध नहीं है, अपितु यह उसके सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाला है, यद्यपि यह सत्य है कि मार्क्स पूँजीवाद की इस स्थिति को अपनी दूर-दृष्टि से नहीं देख सका था।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अन्तिम दशा मानते हुए उसके विकास का विस्तार से प्रतिपादन किया है। उसका यह कहना है कि पूँजीवाद का अधिकाधिक विकास होने से उसमें केन्द्रीकरण की प्रवृति बढ़ती है, विभिन्न उद्योगों के बड़े-बड़े संगठन, ट्रस्ट, मूल्यनिर्धारक संघ (Cartel) आदि बनने लगते हैं। सारे उद्योग मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में आने लगते हैं, इनका विभिन्न उद्योगों पर एकाधिपत्य या इजारेदारी (Monopoly) स्थापित हो जाती है। यही स्थिति वित्तीय क्षेत्र में आती है। बैंकों पर भी उद्योगपति अपना नियन्त्रण स्थापित करते हैं, इनका एकीकरण तथा केन्द्रीकरण होने लगता है, इन पर भी थोड़े से पूँजीपतियों का एकाधिकार हो जाता है। इस प्रकार से उद्योगों की एवं वित्त की स्वाभाविक प्रवृत्ति विस्तारवादी (Expansionist) होती है। पूँजीपति अपने देश में पूँजी लगाने और उद्योग बढ़ाने से सन्तुष्ट न होकर, दूसरे देशों में भी मुनाफा कमाने के लिए पूँजी लगाकर उद्योग

स्थापित करने लगते हैं। इस प्रकार ये पूंजीपति न केवल अपने माल का, अपितु पूंजी का भी अन्य देशों में निर्यात करने लगते हैं। पूंजी का निर्यात करने से तीन परिणाम उत्पन्न होते हैं: **पहला** परिणाम यह है कि पूंजीपति जिन देशों में अपनी पूंजी लगाते हैं, वहाँ अपना मुनाफा सुरक्षित रखने के लिए वहाँ से कच्चा माल पाने तथा अपने तैयार माल की खपत के लिए वे इस बात का पूरा प्रयत्न करते हैं कि वे देश या उपनिवेश उनके राजनीतिक प्रभुत्व में आ जाएँ, उनके साम्राज्य का अंग बनें ताकि वे उपनिवेशवासियों का शोषण करके अधिकतम लाभ कमा सकें, अंग्रेजों ने भारत में ऐसा ही किया था। सभी साम्राज्यवादी देश ऐसा करते हैं। इस शोषण से उपनिवेशवासियों की निर्धनता मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार निरन्तर बढ़ती चली जाती है। **दूसरा** परिणाम इससे युद्धों का होना है। दूसरे देशों में पूंजी लगाने के कारण पूंजीपति देशों में साम्राज्य एवं उपनिवेश पाने के लिए प्रबल होड़ शुरू हो जाती है। इस होड़ के कारण विभिन्न देशों में गुटबन्दियाँ होने लगती हैं. विभिन्न शक्तियाँ अपने माल के लिए मण्डियाँ सुरक्षित रखने तथा इसके लिए विभिन्न प्रदेश पाने के लिए युद्ध करना आरम्भ कर देती हैं। **तीसरा** परिणाम यह है कि इस प्रकार के युद्ध साम्राज्यवाद का एक महान् अन्तर्विरोध (Contradiction) हैं, इनसे पूंजीवाद के विध्वंस का तथा साम्यवादी क्रान्ति का पथ प्रशस्त होता है क्योंकि अपने स्वार्थों के लिए लड़े जाने वाले इन युद्धों में पूंजीपति मजदूरों को बलि का बकरा बनाते हैं, उन्हें सैनिक-शिक्षा देकर तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करके राष्ट्र के नाम पर शत्रु के साथ लड़ने के लिए रणभूमि में भेजते हैं। किन्तु मजदूर शीघ्र ही समझ जाते हैं कि उनका असली शत्रु कौन है, वे अपने देश के पूंजीपतियों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर देते हैं, इस प्रकार राष्ट्रीयता के नाम पर लड़े जाने वाले राष्ट्रीय युद्ध विशुद्ध वर्ग-युद्ध बन जाते हैं, इनमें मजदूर पूंजीवाद का विध्वंस करके साम्यवाद की स्थापना करते हैं। लेनिन ने इस प्रकार यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि मार्क्स का सिद्धान्त बिल्कुल ठीक था, पूंजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है, मार्क्स की केवल यही कमी थी कि उसने पूंजीवाद के विध्वंस से पहले की स्थिति—साम्राज्यवाद—का विशद रूप से प्रतिपादन नहीं किया था। लेनिन ने अपनी उपर्युक्त सुप्रसिद्ध पुस्तक द्वारा इस कमी को पूरा किया।

क्रान्तिकारी मार्क्सवाद (Revolutionary Marxism) **पर बल**—लेनिन ने अपनी पुस्तक 'राजसत्ता और क्रान्ति' (State and Revolution) में लिखा है कि उसका उद्देश्य मार्क्स की वास्तविक शिक्षाओं का पुनरुज्जीवन करना था। इसे उसने दो प्रकार से किया—(क) उसने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मौलिक सिद्धान्तों का पुनः प्रतिपादन Materialism and Empiro-Criticism' नामक रचना में किया, भौतिकशास्त्र के नवीन आलोक में इन सिद्धान्तों की व्याख्या की तथा इन पर किए जाने वाले आक्षेपों का युक्तियुक्त समाधान किया।[1] इसमें लेनिन की कोई नई देन या प्रतिपादन की नवीनता नहीं है। उसकी यह रचना वेपर के शब्दों में "अत्यन्त शुष्क,

1. इस विषय में लेनिन की कृतियों के हिन्दी अनुवाद के लिए देखिए, मास्को से प्रकाशित 'लेनिन की संकलित रचनाएँ' खण्ड 1, भाग 1, पृ० 31-64.

नीरस, पुनरावृत्ति-प्रधान तथा कट्टर सिद्धान्तवादी है।" (ख) लेनिन का दूसरा कार्य इस बात पर बल देना था कि समाजवाद की स्थापना क्रान्तिकारी साधनों से ही हो सकती है। उस समय बर्नस्टाइन का तथा ब्रिटेन के फेबियन दल का विश्वास था कि शान्तिपूर्ण साधनों से शनैः-शनैः एक विकासवादी प्रक्रिया (Evolutionary Process) द्वारा समाजवाद को स्थापित किया जा सकता है। किन्तु लेनिन इस सिद्धान्त का प्रबल विरोधी था। उसकी सम्मति में इसकी स्थापना क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती थी। अतः मार्क्स की शिक्षाओं में उसने क्रान्तिकारी तत्त्वों पर ही अधिक बल दिया। वह विश्व का न केवल एक महान् क्रान्तिकारी, अपितु क्रान्ति के सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाला तथा क्रान्ति के शास्त्र का महान् आचार्य था। इस क्षेत्र में उसकी नई देन तथा विशिष्ट महत्ता है। उसने मार्क्स के सिद्धान्तों के निम्नलिखित क्रान्तिकारी तत्त्वों पर बल दिया।

(अ) क्रान्ति की अनिवार्यता—मार्क्स अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में यह मानने लगा था कि ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका जैसे उद्योग-धन्धों की दृष्टि से कुछ अत्यन्त उन्नतिशील देशों में समाजवाद की स्थापना शनैः-शनैः क्रान्ति के बिना ही हो सकती है। एंगल्ज़ ने मार्क्स की पुस्तक "फ्रांस में वर्ग-युद्ध' (Class Struggle in France) के नवीन संस्करण को 1895 में प्रकाशित करते हुए इसकी भूमिका में यह विचार प्रकट किया था कि समाजवाद को लाने के लिए विद्रोही मजदूरों द्वारा गलियों में लड़ाइयाँ लड़ने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। अतः उस समय मार्क्स के अनेक अनुयायी और संशोधनवादी यह मानने लगे थे कि मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार शान्तिपूर्ण रीति से होना चाहिए, मार्क्स के क्रान्ति-विषयक विचारों में संशोधन की आवश्यकता है। इस विषय में उन्होंने मार्क्स के 'राज्य के विलुप्त होने' (Withering away of the State) के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया। उनका यह कहना था कि मताधिकार का क्षेत्र विस्तीर्ण होने से तथा सब लोगों को वोट का अधिकार देने से तथा मजदूरों द्वारा उद्योगों को चलाने वाली कम्पनियों में अधिकाधिक हिस्से खरीदने तथा इनके प्रबन्ध में भाग लेने से यह स्पष्ट है कि समाजवाद क्रान्ति के बिना शान्तिपूर्ण साधनों से स्थापित हो सकता है। लेनिन ने इसका प्रबल खण्डन करते हुए क्रान्ति की अनिवार्यता पर बल दिया। वह समूचे इतिहास को विरोधी शक्तियों का संघर्ष मानता था और इसे मानव-समाज के लिए अनिवार्य, हितकर एवं उचित समझता था। उसने मार्क्स की 'राज्य संस्था' के लुप्त होने के सिद्धान्त की एक दूसरे ढंग से व्याख्या करते हुए कहा कि इसका अभिप्राय 'साम्यवादी क्रान्ति होने के बाद स्थापित होने वाले सर्वहारा वर्ग के राज्य' के क्षीण होने से है। इस सिद्धान्त को क्रान्ति होने से पहले के राज्य पर लागू नहीं किया जा सकता है। ऐसा राज्य तो पूँजीपति वर्ग द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण करने वाली एक विशेष दमनकारी शक्ति है, इसका उन्मूलन केवल क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है। लेनिन ने न केवल क्रान्ति की अनिवार्यता पर बल दिया, अपितु क्रान्ति करने की कार्य-पद्धति, कला और दाँव-पेचों (Tactics) पर भी प्रकाश डाला तथा रूस में साम्यवादी क्रान्ति को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया।

(आ) क्रान्तिकारी कार्य-पद्धति और कला—लेनिन को क्रान्ति के शास्त्र का विश्व में एक सबसे बड़ा आचार्य माना जाता है। उसने संसार की क्रान्तियों का गहरा

अनुशीलन करके इनकी सफलता के सम्बन्ध में कुछ नियम निर्धारित किए थे। 1905 की रूसी क्रान्ति की विफलता ने उसे निरर्थक हिंसा का विरोधी बना दिया था, वह पूरी तैयारी के बिना, केवल जोश से की जाने वाली क्रान्तियों का घोर विरोधी था। उसके मतानुसार विद्रोह करना एक कला थी, इसके कुछ नियम थे, इन नियमों में निष्णात व्यक्ति ही क्रान्ति को सफल बना सकते थे।[1] इसका **पहला** नियम यह है कि क्रान्ति को खेल-तमाशा समझकर या निरे जोश में आकर नहीं करना चाहिए, इसे खूब सोच-समझकर आरम्भ करना चाहिए और इसके सफल होने तक निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। **दूसरा** नियम एक निश्चित क्षण पर और निश्चित स्थल पर अपनी समूची शक्ति लगा देना है, यदि ऐसा न होगा तो शत्रु अधिक संगठित और तैयार होने के कारण विद्रोहियों को कुचल देगा। **तीसरा** नियम शत्रु पर उस समय अप्रत्याशित हमला करना है, जब उसकी सेनाएँ विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई हों।

(इ) पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठन दल की महत्ता—एबेन्स्टाइन ने लिखा है कि लेनिन की सबसे बड़ी देन उसका पेशेवर क्रान्तिकारी (Professional Revolutionary) का विचार है।[2] पेशेवर क्रान्तिकारी का अभिप्राय उस व्यक्ति से है, जिसने क्रान्ति करना और इसे सफल बनाना ही अपने जीवन का पेशा या व्यवसाय बना लिया हो एवं क्रान्तिशास्त्र का पारंगत पण्डित हो। जिस प्रकार पुलिस को तथा सेना को अपने कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है, उसी प्रकार उसका विरोध करने वाले क्रान्तिकारी दल को पुलिस की आँखों में धूल झोंकने, उसके प्रयास विफल करने, गुप्त रूप से अपने दल को संगठित करने की तथा क्रान्ति के विविध कार्य करने की पूरी शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार से प्रशिक्षित मुट्ठी-भर क्रान्तिकारी हजारों मजदूरों से अधिक अच्छा काम कर सकते हैं। लेनिन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें?' (What is to be done ?) में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है।

साम्यवादी दल का स्वरूप - क्रान्ति को सफल बनाने के लिए लेनिन ने एक विशेष प्रकार के साम्यवादी दल के निर्माण पर बल दिया। ऊपर यह बताया जा चुका है कि यह अत्यधिक अनुशासित, संगठित, क्रान्तिशास्त्र में पारंगत, दृढ़निश्चयी, अपने लक्ष्य के लिए मर-मिटने वाले पेशेवर क्रान्तिकारियों का समूह था, इसे लेनिन क्रान्ति का अग्रदूत या लड़ाकू हरावल दस्ता (Vanguard) मानता था। इसके स्वरूप के बारे में मेन्शेविकों से उसका मौलिक मतभेद था। मार्तोव के नेतृत्व में मेन्शेविक साम्यवादी दल का एक लोकतन्त्रीय संगठन चाहते थे, इसके उद्देश्यों से सहानुभूति रखने वाला कोई भी व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता था, उनके मत में पश्चिमी देशों की भाँति लोकतन्त्रीय पद्धति से इस दल का संगठन होना चाहिए। किन्तु लेनिन का यह मत था कि इस दल की सदस्यता केवल उद्देश्यों के साथ सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों को नहीं, अपितु इन्हें अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले तथा क्रान्ति की सफलता के लिए चौबीसों घण्टे कार्य करने वाले व्यक्तियों को दी जानी चाहिए। यह सदस्यता इस प्रकार क्रान्तिकारी कार्यों में कर्मठ रूप से लगे व्यक्तियों तक ही सीमित रहनी चाहिए,

1. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ॰ 480.
2. एबेन्स्टाइन—टुडेज इज़्म्स, पृ॰ 24.

इस दल में कठोर अनुशासन अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा न हुआ तो ज़ारशाही द्वारा उत्पन्न की गई भीषण दमन की परिस्थितियों में इसका अस्तित्व बनाए रखना कठिन हो जाएगा, यह दल क्रान्ति को सफल नहीं बना सकेगा। दल के सामान्य सम्मेलनों के अतिरिक्त सभी समयों में दल के सदस्यों को इन सम्मेलनों द्वारा निर्वाचित केन्द्रीय समिति के आदेशों को शिरोधार्य करना चाहिए। संकट के समयों में पश्चिमी देशों की भाँति पार्टी के सभी सदस्यों से सम्मति लेने की सुविधा या समय नहीं होता है, ऐसे समयों में केन्द्रीय समिति के आदेशों का पालन किया जाना चाहिए। लेनिन के मतानुसार यदि इस विषय में मार्तोव का कथन माना जाता तो दल में सब प्रकार के सदस्य सम्मिलित हो जाते, इसमें क्रान्ति को सफल बनाने के लिए आवश्यक दृढ़ता, अनुशासन, संगठन, नेतृत्व और शक्ति नहीं आ सकती थी। लेनिन का यह कहना था कि "पार्टी उन सर्वोत्तम लोगों को लेकर बनाई जाती है, जो क्रान्तिकारी ध्येय के प्रति सबसे अधिक निष्ठावान् होते हैं। जब तक इच्छा की एकता, कार्यवाही की एकता और अनुशासन की एकता द्वारा आपस में जुड़े हुए, एकशिलात्मक चट्टान की तरह ठोस सैन्यदल के रूप में पार्टी का संगठन नहीं किया जाएगा, तब तक वह मजदूर वर्ग के अग्रणी लड़ाकू दल की भूमिका नहीं अदा कर पाएगी"। पार्टी का संगठन जब **केन्द्रीयतावाद** (Centralism) के असूलों पर किया जाता है, तभी वह मजबूत तथा एक सूत्र में आबद्ध हो सकती है। इसका अर्थ है—पार्टी के नेतृत्व का एक केन्द्र होना, और वह केन्द्र है पार्टी कांग्रेसों के बीच की अवधि में कार्य करने वाली केन्द्रीय समिति। इस समिति के कठोर नियन्त्रण में नीचे के संगठन ऊपर के संगठनों की कड़ी मातहती में काम करते हैं। लेनिन के शब्दों में, "केन्द्रीय संस्थाओं का संचालन स्वीकार करने से इनकार करने का मतलब है पार्टी में रहने से इन्कार कर देना, उसका अर्थ है पार्टी में फूट डालना।"[1] रूस में आज तक साम्यवादी दल लेनिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर काम कर रहा है और रूस के शासन की सफलता का एक बड़ा कारण वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी है।

लेनिन का यह सिद्धान्त मार्क्स के सिद्धान्त से कुछ भेद रखता है। मार्क्स यह मानता था कि पूंजीवाद से उत्पन्न परिस्थितियों से असन्तुष्ट मजदूर वर्ग क्रान्ति का नेतृत्व करेगा। किन्तु लेनिन इससे सहमत नहीं है, उसके मतानुसार मजदूरों में क्रान्ति की मनोवृत्ति नहीं होती है, इनमें केवल श्रमिक संघ (Trade Union) बनाने की ही मनोवृत्ति का विकास होता है, वह अपना संगठन मिल-मालिकों से अपनी माँगें मनवाने के लिए तथा सरकार को इनके हित के लिए कारखाना-कानून पास करवाने के लिए ही कर सकते हैं। किन्तु समाजवाद के सिद्धान्त का विकास दार्शनिक, ऐतिहासिक और आर्थिक सिद्धान्तों से हुआ है। इसका विकास करने वाले व्यक्ति सम्पत्तिशाली वर्ग के बुद्धिजीवी थे। वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता मार्क्स और एंगल्ज़ भी पूंजीपति बुद्धिजीवी वर्ग के थे। रूस में भी मजदूर-आन्दोलन के विकास से पृथक् रहने वाले बुद्धिजीवी वर्ग ने क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, अतः क्रान्ति का नेतृत्व मजदूर नहीं, किन्तु बुद्धिजीवी क्रान्तिकारी करते हैं। यही लोग मजदूरों में क्रान्ति की

1. 'लेनिन की संकलित रचनाएँ' (मास्को) खण्ड 1, भाग 1, पृ० 19.

भावना भरते हैं। मजदूर स्वयमेव क्रान्तिकारी या समाजवादी नहीं बनते हैं, उन्हें ऐसा बनाने का कार्य मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों से बना हुआ क्रान्तिकारी दल करता है।

लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी दल के इस सिद्धान्त से तीन परिणाम निकलते हैं और ये तीनों मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं: **पहले** परिणाम के अनुसार क्रान्ति विचारों के प्रचार से होती है, किन्तु मार्क्स के मत में "उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ (Material Conditions of Production) ही क्रान्ति को उत्पन्न करती है।" **दूसरा** परिणाम शक्ति के प्रयोग का प्रबल समर्थन है, मार्क्स तथा एंगल्ज ने शान्तिपूर्ण साधनों पर बल दिया था, किन्तु लेनिन शक्ति को शान्तिपूर्ण विकास से अधिक महत्त्व देता था। **तीसरा** परिणाम क्रान्ति का सदैव हिंसापूर्ण साधनों से सम्पन्न होना था, जबकि मार्क्स का यह मन्तव्य था कि क्रान्तिकारी जनता के हाथों में इतनी प्रबल शक्ति होगी कि इन्हें अधिक हिंसात्मक कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat)—मार्क्स के इस मौलिक सिद्धान्त में भी लेनिन ने कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए और इसे बिल्कुल नवीन रूप प्रदान किया। मार्क्स राज्य को एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का साधन समझता है। अतः क्रान्ति के बाद पूँजीवाद की समाप्ति कर देने पर वह मजदूर वर्ग की अधिनायकता स्थापित करता है। यह अधिनायकता किसी विशेष दल की नहीं है, मार्क्स इस अधिनायकता को लोकतन्त्रात्मक रूप प्रदान करता है। साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) में कहा गया है—"मजदूर वर्ग द्वारा की जाने वाली क्रान्ति में पहला पग सर्वहारा वर्ग को शासक वर्ग बनाना तथा लोकतन्त्र स्थापित करना होगा।" एंगल्ज ने इसी बात का समर्थन करते हुए 1891 में लिखा था कि मजदूर वर्ग लोकतन्त्रीय गणराज्य के रूप में ही सत्तारूढ़ हो सकता था। किन्तु लेनिन यह मानता था कि मजदूरों में न क्रान्तिकारी भावना होती है और न ही वे क्रान्ति के आ जाने पर उसका नियन्त्रण करने तथा उसे ठीक दिशा में संचालित करने की सामर्थ्य रखते हैं। यह कार्य पेशेवर क्रान्तिकारियों का सुव्यवस्थित, अनुशासनबद्ध और क्रान्तिशास्त्र का पूरा ज्ञान रखने वाला अल्पसंख्यक दल ही कर सकता है। इस दल को अवसर आने पर क्रान्ति करके सारी शक्ति अपने हाथ में ले लेनी चाहिए और अपने उत्कृष्ट ज्ञान से और कार्य-पद्धति से इस क्रान्ति को सफल बनाना चाहिए। यह कार्य वह अपनी अधिनायकता स्थापित करके ही कर सकता है। लेनिन इसे **सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता** कहता है, किन्तु वास्तव में यह क्रान्ति **साम्यवादी दल की सर्वहारा वर्ग पर स्थापित की जाने वाली अधिनायकता** (Dictatorship of the Communist Party over the Proletariat) है।

मार्क्स का यह सिद्धान्त था कि यह अधिनायकता अल्पकालीन तथा संक्रमण-कालीन (Transitional) व्यवस्था है। किन्तु रूस में आधी शताब्दी बीत जाने पर भी इसका अन्त नहीं हुआ है तथा इसे बनाए रखने का समर्थन निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया जाता है—(1) सोवियत संघ इस समय पूँजीवादी राज्यों से घिरा हुआ है, जब तक ये राज्य बने रहते हैं तब तक रूस में अधिनायकतन्त्र के समाप्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। लेनिन ने अवश्य अधिनायकतन्त्र वाले रूसी राज्य के शीघ्र ही

लुप्त होने की भविष्यवाणी की थी, क्योंकि उसका यह विश्वास था कि निकट भविष्य में होने वाली अन्य क्रान्तियों से यूरोप में पूंजीवाद का समूलोन्मूलन हो जाएगा। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, अतः रूस में सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के समाप्त होने की आशा नहीं है। (2) यूरोप के कुछ देशों में 1918, 1919 तथा 1923 में साम्यवादी क्रान्तियों के विफल हो जाने के कारण कई दृष्टियों से रूस में अधिनायकतन्त्र बनाए रखना समुचित एवं आवश्यक प्रतीत होता है। इससे अन्य देशों में साम्यवादी दलों को प्रबल प्रोत्साहन मिलता है, उनका मनोबल ऊँचा बना रहता है, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सहायता भी दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त स्तालिन को शीघ्र ही यह अनुभव हो गया कि राज्य केवल एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का साधन नहीं, अपितु इसके माध्यम से अनेक जन-कल्याणकारी कार्य कराके इसे मजदूर वर्ग की हितसिद्धि का साधन बनाया जा सकता है। इस प्रकार उपयोगी कार्य करने वाले राज्य का उन्मूलन करने की नहीं, अपितु उसे सुदृढ़ एवं स्थायी बनाने की आवश्यकता है।

मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों में अन्तर—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्क्स का कट्टर अनुयायी होते हुए भी रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कुछ बातों में लेनिन के विचार मार्क्स के विचारों से भिन्न थे। इनके प्रधान सैद्धान्तिक भेद निम्नलिखित हैं : (1) मार्क्स के मतानुसार पूंजीवाद के पूर्ण रूप से विकसित होने के बाद ही साम्यवादी क्रान्ति होती है, किन्तु लेनिन इसे क्रान्ति के लिए आवश्यक नहीं मानता था। रूस औद्योगिक दृष्टि से पश्चिमी यूरोप के देशों से बहुत पिछड़ा हुआ था, फिर भी वहाँ लेनिन के नेतृत्व में सफल बोल्शेविक क्रान्ति हुई। (2) मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) पर बल देते हुए यह कहा था कि पूँजीवाद के आन्तरिक विरोधों (Inner Contradictions) से इसका पतन अनिवार्य है. हम इसके लिए प्रयत्न करें या न करें, इस क्रान्ति ने आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अवश्यमेव घटित होना है। लेनिन का यह कहना था कि यह क्रान्ति आर्थिक घटनाओं के कारण स्वत. नहीं आएगी, उसे हमें अपने प्रयत्नों से लाना होगा। (3) मार्क्स के मतानुसार क्रान्ति का नेतृत्व कारखानों में काम करने वाले मजदूर करेंगे। लेनिन के मत में सब देशों के इतिहास से स्पष्ट है कि मजदूरों में श्रमिक संघवाद (Trade Unionism) की अर्थात् अपने संघ बनाकर अपनी दशाओं को सुधारने की तथा मजदूरी बढ़वाने का प्रयत्न करने की ही प्रवृत्ति होती है। अतः मजदूर साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व नहीं कर सकते हैं। इसका नेतृत्व तो पेशेवर क्रान्तिकारियों का सुदृढ़ रूप से सैनिक ढंग पर अनुशासित, संगठित और प्रशिक्षित साम्यवादी दल ही कर सकता है। (4) मार्क्स ने यह कहा था कि क्रान्ति के बाद भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए किन्तु लेनिन ने रूस में साम्यवादी क्रान्ति होने पर ऐसा नहीं किया, क्योंकि इससे रूस के अधिकांश किसानों के क्रान्ति-विरोधी हो जाने की सम्भावना थी। अतः लेनिन ने इस बात का प्रचार किया कि क्रान्ति के बाद भूमि पर किसानों का स्वत्व बना रहेगा। 1917 के पश्चात् उसने कुछ समय तक रूस में न केवल ऐसी स्थिति बनाए रखी, अपितु अपने देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुछ बातों में पूंजीवादी व्यवस्था से समझौता करने के लिए **नवीन आर्थिक नीति** (New Economic Policy, NEP) को अपनाया। (5) लेनिन ने पूंजीवाद की चरम दशा को सूचित करने वाले साम्राज्यवाद

के नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मार्क्स ने इसका कोई प्रतिपादन नहीं किया था। (6) मार्क्स साम्यवादी क्रान्ति के बाद श्रमिक वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat) को संक्रमणकालीन व्यवस्था मानता था और लोकतन्त्र के सिद्धान्त पर बहुत बल देता था, लेनिन इस अधिनायकता को विशुद्ध शक्ति पर आधारित मानता था, इसमें लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का कोई स्थान नहीं था। यह साम्यवादी दल द्वारा, श्रमिक वर्ग पर तथा सारी जनता पर स्थापित की जाने वाली निरंकुश तानाशाही थी।

उपर्युक्त मौलिक मतभेदों को देखते हुए सेबाइन ने लिखा है[1] कि लेनिन ने मार्क्स के मूल सिद्धान्तों में बहुत बड़ी मात्रा में परिवर्तन किया। जिस प्रकार मार्क्स ने यह दावा किया था कि उसने हेगल के द्वन्द्ववाद को उल्टा करके पैरों के बल खड़ा कर दिया है, उसी प्रकार लेनिन ने भी मार्क्स के सिद्धान्तों का शीर्षासन कर दिया। उसने अपने गुरु के जिन सिद्धान्तों को भक्तिपूर्वक मानने का दावा किया, उनको अपने क्रान्ति सम्बन्धी विचारों के साथ विरोध होने पर खण्डित करके त्याग दिया।

सेबाइन के मत में "लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्तों और सूत्रों का अनुसरण किया, किन्तु लेनिनवाद मार्क्सवाद से भिन्न हो गया।" वेपर ने इस विषय में यह लिखा है कि कई बार भाष्यकार मूलग्रन्थ के आशय में परिवर्तन कर देते हैं, लेनिन ने ऐसा ही किया।[2]

लेनिन का महत्त्व और देन—लेनिन ने उपर्युक्त परिवर्तन मार्क्स के मौलिक उद्देश्य—पूंजीवाद के विध्वंस एवं साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाने की दृष्टि से किए, इनके आधार पर रूस में बोल्शेविक क्रान्ति करके उसने मार्क्स के सिद्धान्तों को मूर्त्त, व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप दिया। वह मार्क्सवाद को कोई स्थायी और शाश्वत सिद्धान्त न मानकर एक सजीव, प्रगतिशील और परिवर्तनशील मत मानता था, उसने इसमें समयानुकूल संशोधन करके इनसे रूसी क्रान्ति को सफल बनाया। यह उसकी सबसे बड़ी देन थी। अतः साम्यवादी दर्शन में मार्क्स के साथ लेनिन को, मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को समान महत्त्व दिया जाता है। वेपर ने लिखा है कि "लेनिन ने भले ही मार्क्सवाद के विशुद्ध स्वरूप में बहुत मिलावट की हो, फिर भी उसने रूस को तथा दुनिया को जो देन दी है, उसके कारण उसके महत्त्व को किसी भी प्रकार कम नहीं किया जा सकता है।"[3] लेनिन की विशिष्ट देनें—क्रान्ति के सिद्धान्तों और पद्धतियों का विशद प्रतिपादन, मार्क्सवाद को रूस की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार ढालना तथा मार्क्स के सिद्धान्तों को साम्राज्यवाद आदि के सिद्धान्तों से अद्यतनीन (Up-to-date) बनाना था। इस कारण वह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में सदैव स्मरणीय समझा जाएगा। साम्यवादी जगत् में उसकी प्रतिष्ठा और पूजा निम्नलिखित सिद्धान्तों के कारण हैं—(2) साम्राज्यवाद म्रियमाण पूंजीवाद के विकास की अन्तिम दशा है। (2) पूंजीवादी देशों के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में उपनिवेशवादी

---

1. सेबाइन—ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० 699.
2. वेपर—पोलिटिकल थॉट, प० 217.
3. वही पुस्तक, पृ० 230.

(Colonial) तथा अर्द्ध-उपनिवेशवादी देशों की महत्ता। (3) विश्वक्रान्ति में साम्राज्य-वाद के विरोध की महत्ता। (4) सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का नेतृत्व ऐसे साम्यवादी दल द्वारा किया जाना, जो अनुशासित, अभिजात (Elite) तथा लोकतन्त्रीय केन्द्रीयता (Democratic Centralism) में विश्वास रखता हो। (5) कृषक वर्ग की क्रान्तिकारी महत्ता को स्वीकार करना। (6) यह विचार स्वीकार करना कि औद्योगिक दृष्टि से कम-विकसित देशों में क्रान्ति समाजवादी देशों में प्रवेश करने से पूर्व बूर्जुआ लोकतन्त्रीय दशा में से होकर गुजरती है और यह दशा प्रधान रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी होती है।

चौबीसवाँ अध्याय

बहुलवादी लास्की

जीवन— बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में हेरल्ड जोसेफ लास्की (1893-1950) ने बहुलबाद के विकास में बड़ा भाग लिया है। इनका जन्म हंगरी से आकर मैञ्चैस्टर में बसने वाले एक समृद्ध व्यापारी तथा कट्टर यहूदी नैथन लास्की के घर में हुआ। पिता छोटी आयु में ही असाधारण प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले पुत्र को अपने धार्मिक विधिविधान के अनुसार आदर्श यहूदी बनाना चाहता था। किन्तु स्वभावतः विद्रोही पुत्र को प्राचीन यहूदी कर्मकाण्ड की अपेक्षा आधुनिक विज्ञान, इतिहास तथा राजनीति की समस्याओं में अधिक अनुराग था। उसकी विद्रोही प्रवृत्ति सर्वप्रथम तब प्रकट हुई जब उसने यहूदी धर्म के नियमों का उल्लंघन करते हुए अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध, गुप्तरूप से स्काटलैण्ड जाकर अपने से 8 वर्ष बड़ी एक ईसाई लड़की फ्रिडा केरी (Frida Kerrey) से विवाह किया। लास्की पहली बार 1909 में इसे एक पार्टी में मिला था तथा आनुवंशिकता (Heredity) पर दिए गए उसके एक व्याख्यान से बड़ा प्रभावित हुआ था। इस समय उसे स्वयमेव इस विषय में बड़ा अनुराग था। 17 वर्ष की आयु में उसने 'सुप्रजननशास्त्र के क्षेत्र' (On the Scope of Eugenics) पर 'वैस्टमिंस्टर रिव्यू' में एक लेख लिखा था। इस पर इस विषय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर फ्रांसिस गाल्टन ने उसे बधाई का एक पत्र भी लिखा था। फ्रिडा के साथ इस विषय पर तथा अन्य प्रश्नों पर दो वर्ष तक उसका पत्रव्यवहार चलता रहा। 1911 में इन दोनों के विवाह से माता-पिता को गहरा धक्का लगा। बाप ने क्रुद्ध होकर लास्की को पढ़ाई का खर्च देना बन्द कर दिया। लास्की ने अब स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना था। वह अपने वैध विवाह को भंग करने के लिए तैयार नहीं था। अन्त में पिता-पुत्र में यह समझौता हुआ कि ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त करने तक पिता उसके सब व्यय पूरे करने के लिए 200 पौंड की राशि लास्की को इस शर्त पर देगा कि वह विवाह के समाचार को गुप्त रखेगा और स्काटलैण्ड में अपनी स्वतन्त्र जीविका कमाने वाली फ्रिडा से अध्ययन की समाप्ति तक नहीं मिलेगा[1]। 1914 में लास्की ने इतिहास में प्रथम श्रेणी में उपाधि प्राप्त की और पिता ने खर्च देना बन्द कर दिया। उसका यह कहना था कि फ्रिडा को यहूदी धर्म में दीक्षित होना

1. हर्बर्ट डीन—दी पोलिटिकल आइडियाज ऑफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० 4-5.

चाहिए, ऐसा होने पर ही लास्की अपने परिवार का सदस्य और सम्पत्ति का अधिकारी बन सकता है। लास्की और फ्रिडा इस बात के लिए तैयार नहीं थे, अतः उन्हें अपने परिवार से अलग होना पड़ा। 1920 में फ्रिडा ने लास्की के न चाहते हुए भी यहूदी धर्म स्वीकार करके पारिवारिक विवाद को शान्त किया तथा अपने सास-ससुर को सन्तुष्ट किया।

1914 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक होने के बाद पैतृक सम्पत्ति और सहायता से वंचित होने के कारण आजीविका कमाने के लिए लास्की ने अपने मित्र जार्ज लैन्सबरी के समाचारपत्र **डेली हेरल्ड** में आयलैंण्ड आदि की सामयिक समस्याओं पर लेख लिखना शुरू कर दिया। कुछ समय बाद प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर उसने सेना में भर्ती होने के लिए आवेदनपत्र दिया, किन्तु सैनिक के लिए निर्धारित किया गया आवश्यक शारीरिक स्वास्थ्य न होने के कारण वह सेना में नहीं लिया जा सका। इसी समय उसे कनाडा के माण्ट्रील नगर के मैकगिल विश्वविद्यालय में इतिहास के व्याख्याता का पद मिला, सितम्बर 1914 में वह माण्ट्रील चला गया। एक वर्ष तक यहाँ पढ़ाने के बाद वह सं० रा० अमरीका के सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय हार्वर्ड में अध्यापन करने लगा। 1920 में वह इंगलैण्ड वापिस लौटा, लन्दन स्कूल ऑफ इकनामिक्स में व्याख्याता तथा ग्राहम वालास के बाद राजनीतिशास्त्र का प्रोफेसर बना। उसने अपनी आयु के शेष 30 वर्ष लन्दन विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य में ही व्यतीत किए।

रचनाएँ—लास्की बहुत अधिक लिखने वाला था। उसने 35 वर्ष की अवधि में 30 पुस्तकें, 60 पुस्तिकाएँ लिखने के अतिरिक्त शोधपत्रिकाओं तथा समाचारपत्रों के लिए सैकड़ों लेख लिखे[2]। उसकी सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कृतियाँ निम्नलिखित हैं—'प्रभुसत्ता की समस्या' (The Problem of Sovereignty, 1917), 'आधुनिक राज्य में सत्ता का स्वरूप' (Authority in Modern State, 1919), 'लॉक से बेन्थम तक की राजनीतिक विचारधारा' (Political Thought from Locke to Bentham, 1920), 'प्रभुसत्ता के आधार' (Foundations of Sovereignty, 1921), 'राजनीतिशास्त्र के मूल तत्त्व' (A Grammar of Politics, 1925), 'आधुनिक राज्य में स्वतन्त्रता' (Liberty in the Modern State, 1930), 'संकटापन्न लोकतन्त्र' (Democracy in Crisis, 1933), 'राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप' (The State in Theory and Practice, 1935), 'इंगलैण्ड में संसदीय शासन' (Parliamentary Government in England, 1938), 'अमरीका की राष्ट्रपति पद्धति' (American Presidency, 1940), 'अमेरिकन लोकतन्त्र' (American Democracy, 1948), हमारे युग की दुविधा' (The Dilemma of Our Times, 1952)। इन पुस्तकों में प्रतिपादित लास्की के विचारों पर तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ता रहा और इनमें परिवर्तन होता रहा। उसके प्रधान विचार निम्नलिखित हैं—

लास्की के प्रमुख विचार—(क) प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का खण्डन—लास्की ने आस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त (Theory of Sovereignty) का

1. हर्बर्ट डीन—दी पोलिटिकल आइडियाज ऑफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० 333-34.

उग्र विरोध किया है। उस पर विलियम जेम्स आदि अमेरिकन विचारकों के बहुलवाद (Pluralism) का तथा व्यवहारवाद (Pragmatism) का बहुत प्रभाव पड़ा था। इसलिए वह राज्य को सर्वशक्तिमान् तथा प्रभुसत्तासम्पन्न एवं समाज का सर्वोपरि समूह न मानकर, परिवार, चर्च आदि अन्य सामाजिक समूहों (Groups) की भाँति एक सामान्य समूह मानता था। आस्टिन ने कहा था कि राज्य सर्वोच्च, अनियन्त्रित, अप्रतिबद्ध सत्ता और शक्ति रखने वाला संगठन है, उस पर किसी दूसरी शक्ति का नियन्त्रण नहीं है। वह समस्त शक्तियों का मूल स्रोत है, उसका आदेश ही कानून है। लास्की आस्टिन की राज्य की प्रभुसत्ता-विषयक उपर्युक्त धाराओं का खण्डन निम्नलिखित तर्कों तथा प्रमाणों के आधार पर करता है।

(1) **प्रभुसत्ता का सिद्धान्त अवास्तविक, असत्य तथा अत्युक्तिपूर्ण है।** मानव-जाति के सुदीर्घ इतिहास में हमें एक भी ऐसे शासक का प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता है, जो आस्टिन द्वारा बताई गई अनियन्त्रित तथा असीम शक्ति से सम्पन्न हो। प्रायः रूस के ज़ारों तथा टर्की के खलीफाओं को इस प्रकार का निरंकुश तथा सर्वशक्तिमान् शासक बताया जाता है। किन्तु यदि हम इनके शासन का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि वे निरंकुश शासक नहीं थे, उन्हें अपने देश की परम्परागत रूढ़ियों, रिवाजों, धार्मिक नियमों तथा लोकमत की भावना के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता था। उदाहरणार्थ, टर्की का सुल्तान इस्लाम के धार्मिक नियमों से बँधा हुआ था, वह किसी भी प्रकार खुल्लमखुल्ला इनकी अवहेलना नहीं कर सकता था। अतः आस्टिन का प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का विचार केवल कल्पना जगत् में ही है, वास्तविक इतिहास में हमें उसका कोई उदाहरण नहीं मिलता है। न केवल प्राचीन एवं मध्य काल के इतिहास में निरंकुश शासन के कोई दृष्टान्त नहीं मिलते, अपितु वर्तमान काल के अतीव प्रबल एवं शक्तिशाली राज्यों में भी ऐसी स्थिति नहीं है। कई बार राज्य को धार्मिक सम्प्रदायों या मजदूर संघों द्वारा प्रस्तुत की गई माँगों को स्वीकार करने के लिए बाधित होना पड़ता है। यदि राज्य वस्तुतः पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न होते तो उन्हें इन समुदायों के आगे नतमस्तक न होना पड़ता। लास्की की यह युक्ति दोषपूर्ण है। प्रभुसत्ता के समर्थकों का यह मत है कि यदि मनुष्य सदैव राज्य की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं तो इसका यह आशय नहीं है कि इससे आस्टिन का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य के आदेशों और कानूनों का सदा पालन होता ही है। यदि ऐसा होता तो कानून भंग करने वाले अपराधियों को पकड़ने तथा दण्ड देने के लिए पुलिस और न्यायालयों की व्यवस्था करने की कोई आवश्यकता न होती। इस सिद्धान्त का यह आशय भी नहीं है कि राज्य की आज्ञा को भंग करना नैतिक दृष्टि से बुरा या पाप है। यह सिद्धान्त केवल कानून के पक्ष पर बल देता है। इसका दोष केवल यही है कि यह राज्य के कानूनी पक्ष पर अधिक बल देते हुए कानून के बल का निर्माण करने वाली सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों की उपेक्षा करता है।[1]

(2) **लास्की प्रभुसत्ता के विचार का विरोध नैतिक आधार पर भी करता**

1. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 14-15.

है। मनुष्य का सर्वोच्च नैतिक कर्त्तव्य अपने व्यक्तित्व का विकास करना है। प्रभुसत्ता का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति आँख मूंदकर राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन करे, इस प्रकार का आज्ञापालन व्यक्ति के स्वतन्त्रतापूर्वक विकास करने में बड़ी प्रबल बाधा है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के विकास में सहायक होना है, न कि बाधक होना। यदि व्यक्ति राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन बिना सोचे-समझे करेगा तो वह राज्य का दास मात्र बन जाएगा। इस प्रकार की दासता व्यक्ति के नैतिक विकास में कोई सहयोग नहीं दे सकती है। व्यक्ति को राज्य का आदेश इसलिए नहीं मानना चाहिए कि यह राज्य द्वारा दिया गया है, अपितु इसलिए मानना उचित है कि यह नागरिकों द्वारा उत्तम जीवन बिताने में तथा उनका कल्याण व नैतिक विकास करने में सहायक है। राज्य के पास अपने आदेश पालन करवाने का एकमात्र आधार प्रजाजनों की आवश्यकताएँ पूरी करना तथा उनके विकास में सहयोग देना है।

(3) तीसरा कारण इस सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति उत्पन्न करना है। प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अपने को सर्वथा स्वतन्त्र समझते हुए स्वच्छन्द आचरण करते हैं। जर्मनी, इटली जैसे शक्तिशाली राज्य बेल्जियम, पोलैण्ड, एबीसीनिया जैसे निर्बल राज्यों पर हमला करते हैं। इससे युद्ध छिड़ते हैं, विनाश और विध्वंस का ताण्डव होता है। मानव-जाति को असीम कष्ट पहुँचता है। अतः मानव जाति के हित की दृष्टि से प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की समाप्ति वांछनीय है।

इन युक्तियों के आधार पर लास्की प्रभुसत्ता का विरोध करता है तथा राज्य के आदेशों के पालन की यह कसौटी निश्चित करता है कि इनसे उसके प्रजाजनों का कल्याण होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि लास्की व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देने वाले उदारवाद (Liberalism) विषयक जॉन मिल के विचारों से सहमत है; राज्य के जनकल्याणकारी उद्देश्य के बारे में वह बेन्थम की उपयोगितावादी (Utilitarian) परम्परा को मानता है। व्यक्ति के भौतिक विकास के महत्त्व के विषय में वह ग्रीन के आदर्शवादी (Idealist) विचारों को स्वीकार करता है। फिर भी वह आदर्शवाद की भाँति राज्य को सर्वोच्च स्थान न देकर बहुलवादी (Pluralistic) विचारधारा के अनुसार गौण स्थान प्रदान करता है।

इस विषय में लास्की के विचारों में परिवर्तन होता रहा। अपनी आरम्भिक रचनाओं में उसने उग्र बहुलवादी (Pluralistic) विचार प्रकट करते हुए प्रभुसत्ता का प्रबल विरोध किया है, राज्य की सर्वोच्च सत्ता का खण्डन किया है, इसे उसने मनुष्यों द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए स्वेच्छापूर्वक बनाए गए संगठनों (Voluntary Associations) की भाँति स्वीकार किया है। किन्तु बाद में 'राजनीतिशास्त्र के मूल तत्त्व' (Grammar of Politics) में उसने अपने प्रारम्भिक उग्र बहुलवाद में कुछ संशोधन कर दिया है। अब वह राज्य को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले वर्ग की इच्छाओं को क्रियात्मक रूप देने का साधन समझने लगा। यह उसके सत्ता-विषयक विचारों की विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा।

(ख) सत्ता-विषयक विचार—लास्की का पहले यह विचार था कि राज्य के

पास मनुष्यों को उनके विकास का पूरा अवसर देने की उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक बाध्यकारी शक्ति (Coercive power) होनी चाहिए। किन्तु उसे इस बात की पूरी आशंका और सम्भावना थी कि सत्ता का मद बड़ा प्रबल होता है, सत्तासम्पन्न व्यक्ति इसका प्रयोग जनहित के लिए न करके, शीघ्र ही अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए करने लगते हैं। अतः सदैव सरकार की शक्ति पर अंकुश लगाए जाने चाहिएँ। लास्की लोकतन्त्र-प्रणाली को इसीलिए अच्छा मानता है कि इसमें शासन-सत्ता पर प्रबल नियन्त्रण होता है और यह जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। किन्तु इसमें भी इस बात की सम्भावना हो सकती है कि सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग हो। इसे रोकने के लिए पुराना सिद्धान्त शासन करने वाली, कानून बनाने वाली तथा न्याय करने वाली तीनों शक्तियों के पार्थक्य (Separation of Powers) का सिद्धान्त था, किन्तु लास्की इससे सन्तुष्ट नहीं है। उसको इस पर एक बड़ी आपत्ति यह है कि इसमें सरकार अपने निर्णय करते हुए उन व्यक्तियों की इच्छाओं को ध्यान में नहीं रखती है, जिन पर इनका प्रभाव पड़ता है। अतः लास्की इस दोष को दूर करने के लिए तथा सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बल देता है, उसके मतानुसार सत्ता एक स्थान पर केन्द्रित न होकर अधिक-से-अधिक स्थानीय (local) तथा विभिन्न कार्य करने वाली (Functional) संस्थाओं में बँटी होनी चाहिए। सत्ता का मद केन्द्रीकरण से उत्पन्न होता है, यदि सत्ता को विभिन्न संस्थाओं में विकेन्द्रित कर दिया जाए तो शासन केन्द्रीकरण के दुष्परिणामों से बच जाएगा। जिस प्रकार एक संघीय (Federal) व्यवस्था में शासनसत्ता इसका निर्माण करने वाले विभिन्न अंगों में बँटी रहती है, इसी प्रकार राज्य की सत्ता इसमें विद्यमान विभिन्न संगठनों में विभक्त होनी चाहिए। इसीलिए लास्की यह कहता है कि **सत्ता संघीय होनी चाहिए** (Authority must be federal)।

सत्ता को विकेन्द्रित करने अथवा विभिन्न समुदायों में बाँटने के सम्बन्ध में लास्की ने कई ऐसे साधनों का निर्देश किया है, जिनकी सहायता से राज्य अपने नागरिकों की वास्तविक इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को अपने निर्णयों तथा कार्यों द्वारा अधिकतम क्रियात्मक रूप प्रदान कर सकें। ऐसा करने का **पहला** साधन सरकार द्वारा अपने विभिन्न विभागों के कार्य-संचालन में जनता की इच्छा को जानने तथा क्रियात्मक रूप देने के लिए परामर्शदात्री संस्थाओं (Advisory Bodies) की स्थापना है। उदाहरणार्थ, रेल के विभाग को लीजिए। सरकार को इस सम्बन्ध में कार्य करने के लिए एक ऐसी परामर्शदात्री समिति बनानी चाहिए, जिसमें रेल के व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले सभी पक्षों—रेल के प्रशासकों, इसका प्रयोग करने वाले यात्रियों, रेल द्वारा अपना माल भेजने वाले व्यापारियों तथा व्यवसायियों, इसके माध्यम से अपने कारखानों के लिए कच्चा माल मँगाने तथा तैयार माल दूसरे स्थानों पर भेजने वाले उद्योगपतियों का और इसमें काम करने वाले मजदूरों तथा अन्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। सरकार को रेल के सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने से पूर्व इस समिति की बैठक बुलाकर इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले सभी पक्षों से सलाह लेनी चाहिए, उनसे नये बनाए जाने वाले तथा अब तक बनाए गए कानूनों की उपयोगिता पर परामर्श करना चाहिए। **दूसरा** साधन संसद् या विधानसभा

में प्रस्तुत होने वाले विभिन्न प्रशासनात्मक प्रश्नों पर विचार करने के लिए संसत्सदस्यों की समितियों के निर्माण पर बल देना है। इस सुझाव का अनुसरण करते हुए ग्रेट ब्रिटेन, भारत आदि देशों में संसत्सदस्यों की वित्त, शिक्षा, रक्षा आदि विभिन्न विषयों पर विचार करने के लिए इस प्रकार की समितियाँ बनाई जाती हैं। **तीसरा** साधन नगरपालिका आदि स्थानीय संस्थाओं को स्वशासन के अधिकाधिक अधिकार देकर इन्हें शक्तिशाली बनाना है। **चौथा** साधन वैयक्तिक या निजी उद्योगों के क्षेत्र में विद्यमान प्रत्येक उद्योग की समुचित व्यवस्था का संचालन करने के लिए औद्योगिक समिति (Industrial Council) का निर्माण है। इसमें तीनों पक्षों के अर्थात् उद्योग पर स्वामित्व रखने वाले, इस उद्योग से बनी वस्तुओं का उपभोग करने वाले तथा सरकार के प्रतिनिधि होने चाहिएँ। इस समिति को इस उद्योग से सम्बन्ध रखने वाले मामलों के बारे में नियम बनाने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु इन नियमों पर उत्पादन-मन्त्रालय की स्वीकृति तथा विधानसभा का नियन्त्रण होना चाहिए। इस प्रकार इन साधनों से सत्ता का अधिकतम विकेन्द्रीकरण करके लास्की अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'राजनीतिशास्त्र के मूल तत्त्व' में व्यक्ति की स्वतन्त्रता में और राज्य के सामाजिक नियन्त्रण में समन्वय स्थापित करना चाहता है और बहुलवाद का प्रबल समर्थन करता है।

लास्की का विचार-परिवर्तन—1931 के बाद से अपनी पिछली रचनाओं में —विशेषतः **संकटापन्न लोकतन्त्र** (Democracy in Crisis) में तथा इंगलैण्ड में **संसदीय प्रणाली** में उसका झुकाव मार्क्सवाद की ओर है और उसने बहुलवाद को तिलांजलि दे दी है। अब वह राज्य की ऐसी सत्ता नहीं मानता, जिसे विकेन्द्रीकरण के उपर्युक्त साधनों से इसलिए नियन्त्रित किया जाना चाहिए ताकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई आँच न आ सके; अब वह मार्क्सवादियों की भाँति राज्य को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाली श्रेणी की इच्छा पूरी करने का उपकरण समझने लगा था। उसके विचारों में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के कारण ब्रिटिश राजनीति में होने वाले परिवर्तनों के कारण हुआ। उस समय ब्रिटेन में रैम्ज़े मैकडानल्ड के प्रधानमन्त्रित्व में मजदूर-मन्त्रिमण्डल था। भीषण आर्थिक मन्दी के कारण ब्रिटेन में बेकारी बढ़ने लगी, इससे बेकारी की दशा में सरकार से सहायता पाने वाले मजदूरों की संख्या में भारी वृद्धि के परिणामस्वरूप सरकार का व्यय बहुत अधिक बढ़ गया, किन्तु मन्दी के कारण उसकी आमदनी में निरन्तर कमी होने लगी। राज्य के बजट में आय और व्यय का सन्तुलन रखना विकट प्रश्न बन गया। राज्य का व्यय और घाटा बढ़ने लगा। इसे पूरा करने के लिए प्रधानमन्त्री मैकडानल्ड तथा अर्थमन्त्री स्नोडन ने बजट को सन्तुलित करने के उद्देश्य से बेकार मजदूरों को दी जाने वाली सहायता में भारी कटौती का तथा स्वर्णमान को तिलांजलि देने का निश्चय किया। मजदूर दल के अधिकांश सदस्यों ने उपर्युक्त प्रस्तावों का उग्र विरोध किया। इसके परिणामस्वरूप मजदूर दल में फूट पड़ गई। रैम्ज़े मैकडानल्ड ने इस आर्थिक संकट का निवारण करने के लिए पूंजीपति अनुदार दल के साथ समझौता करके एक राष्ट्रीय सरकार (National Government) बनाई। मजदूर दल के अधिकांश नेताओं ने तथा लास्की ने इसे मजदूरों के साथ विश्वासघात समझा। लास्की यह

समझता था कि इससे मार्क्सवादियों का यह मन्तव्य पुष्ट हुआ है कि चुनाव में मजदूर दल का बहुमत होने पर भी पूंजीपति उन्हें उल्लू बनाने में तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने में सफल होते हैं। इससे वह मार्क्सवादियों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को मानने लगा कि समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण उपायों से नहीं, किन्तु क्रान्ति से ही सम्भव है। 'इंगलैण्ड में संसदीय शासन' में उसने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि लार्डसभा 'धनियों का दुर्ग' (Fortress of Wealth) है। यह लोकसभा में मजदूर दल का बहुमत होने पर, उसके द्वारा पास किए जाने वाले समाजवादी कानूनों का विरोध करेगी। देश पर वास्तव में शासन करने वाली सिविल सर्विस में ऊँचा स्थान रखने वाले व्यक्ति कुलीन परिवारों से सम्बद्ध होने के कारण पूंजीवाद के पोषक होते हैं। अतः ये मजदूर दल की सरकार द्वारा अपनायी गई समाजवादी नीति को क्रियान्वित करने के मार्ग में रोड़े अटकाएँगे, इसलिए समाजवादी व्यवस्था को शान्तिपूर्ण रीति से स्थापित करना सम्भव नहीं है।

किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लास्की को अपने उपर्युक्त सिद्धान्त की भ्रांति उस समय स्पष्ट हुई, जब मजदूर दल ने 1945 के चुनावों में बहुमत पाने के बाद ब्रिटेन में समाजवाद की दिशा में ठोस प्रगति की, शान्तिपूर्ण रीति से अनेक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया, मजदूरों के कल्याण के लिए, बेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापे के संकटों का निवारण करने के लिए अनेक योजनाओं को क्रियात्मक रूप दिया। इस समय लास्की ब्रिटिश मजदूर दल का अध्यक्ष था, उसने शान्तिपूर्ण उपायों से ब्रिटेन में समाजवाद स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इसके बाद ही 1950 में उसका स्वर्गवास हुआ।

(ग) **राज्य की आज्ञा के पालन की समस्या** (Problem of Obedience)—यह राजनीतिक चिन्तन की सबसे पुरानी और मौलिक समस्या है कि प्रजाजनों को राज्य के आदेशों का पालन क्यों और किस हद तक करना चाहिए। इस विषय में कई उत्तर दिए जाते हैं : **पहला उत्तर** धर्मशास्त्रियों का है कि राज्य एक दैवी व्यवस्था है, भगवान् के आदेशों की भाँति राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन करना हमारा धार्मिक कर्त्तव्य है। **दूसरा** उत्तर यह है कि राज्य प्रकृति (Nature) द्वारा अथवा बुद्धि द्वारा की गई व्यवस्था है, अतः इसके आदेशों का पालन होना चाहिए। **तीसरा** उत्तर यह है कि मानव-समाज के उषाकाल में हुए एक सामाजिक समझौते (Social Contract) के कारण राज्य की आज्ञा का पालन किया जाता है। **चौथा** उत्तर दण्ड के भय से राज्य के आदेशों का पालन है। **पाँचवाँ** उत्तर उपयोगितावादियों का है कि राज्य के आदेशों का अनुसरण इसलिए किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति की सुरक्षा और भलाई इस बात पर आधारित है कि राज्य के आदेशों का पालन होता रहे, अन्यथा अव्यवस्था और अराजकता मच जाएगी।

लास्की ने इस समस्या पर गम्भीर विचार किया है। वह व्यक्तियों पर राज्य की सर्वोच्च प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में आस्था नहीं रखता, अतः उसके मतानुसार राज्य को अपने प्रजाजनों से पूर्ण राजभक्ति और निष्ठा पाने का अधिकार नहीं है। हमारे समाज में राज्य के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के समूह हैं, इनकी इच्छाएँ अलग-अलग प्रकार की हैं। इनमें से राज्य की इच्छा अथवा कानून को सर्वोपरि मानने का

कोई विशेष कारण नहीं है। उसके मतानुसार कानून केवल ऐसा उत्तम नियम है, जो अच्छे परिणाम उत्पन्न करता है।[1] उसका कानून का यह लक्षण उसके इस सामान्य विश्वास के अनुकूल है कि मनुष्यों के द्वारा अनुसरण किया जाने वाला उत्तम आचरण (Right conduct) वही है, जो सर्वोत्तम सम्भव परिणाम (best possible consequences) उत्पन्न करे। लास्की के इस लक्षण में एक बड़ा दोष यह है कि उत्तम (Right) या अच्छे (Good) की व्याख्या करना बहुत कठिन है। व्यावहारिक रूप से शक्तिशाली और सफल कार्य उत्तम समझा जाता है। उदाहरणार्थ, 17,6 में सं० रा० अमरीका के राज्यों ने इंगलैण्ड की शासन-सत्ता के विरुद्ध तथा 1861 में सं० रा० अमरीका के दक्षिणी राज्यों ने अपने संघीय शासन के विरुद्ध विद्रोह किया। इनमें पहला विद्रोह सफल हुआ तथा दूसरा विफल। अतः पहला विद्रोह न्यायोचित था और दूसरा उचित नहीं था। किन्तु सत्-असत् की यह कसौटी विद्रोह का परिणाम जानने के बाद ही लागू की जा सकती है, उससे पहले मनुष्य इस प्रश्न का निर्णय किस प्रकार करे।

इस विषय में अपनी उदारवादी व्यष्टिवादी प्रवृत्ति के कारण लास्की न्यूमैन द्वारा प्रतिपादित इस नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि "मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए, जिसे वह नैतिक दृष्टि से ठीक समझता है।"[1] इस सिद्धान्त को राज्य के क्षेत्र में लागू करते हुए वह कहता है कि राज्य व्यक्ति से केवल इसी आधार पर अपनी आज्ञाओं का पालन करवा सकता है कि ऐसा करते हुए प्रत्येक मामले में यह कार्य उसके लिए उत्तम तथा हितकर है। लास्की व्यक्ति द्वारा राजकीय आदेश के पालन को उसी दशा में उचित समझता है, जब व्यक्ति को इस बात का निश्चय हो जाए कि राज्य के आदेश का प्रयोजन उसके नैतिक आदर्शों के अनुकूल है। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, उसका लक्ष्य अपना चरम विकास करना है, वह राज्य के सभी आदेशों की परीक्षा अपने अन्तःकरण से इस दृष्टि से करता है कि कौनसे आदेश इसमें सहायक हैं; वह उन्हीं का पालन करता है, इनमें बाधक बनने वाले आदेशों की अवज्ञा करता है। व्यक्ति को राज्य के आदेश का पालन तभी करना चाहिए, जब वह उसे नैतिक दृष्टि से समुचित समझता हो।

लास्की के इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें व्यक्ति को अत्यधिक स्वतन्त्रता देते हुए अराजकता को खुली छूट दे दी गई है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता दी जाए कि अपने अन्तःकरण की भावना के प्रतिकूल कानूनों का पालन करना उसके लिए आवश्यक नहीं है तो सब व्यक्ति उन्हें पसन्द न आने वाले कानून तोड़ने लगेंगे, कानूनों का पालन करने की भावना लुप्त होने से समाज में अव्यवस्था और अराजकता मच जाएगी, किसी प्रकार का संगठित तथा नियमबद्ध जीवन बिताना असम्भव हो जाएगा। दूसरा दोष यह है कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से इतना उन्नत मान लिया गया है कि वह राज्य के प्रत्येक कार्य का औचित्य एवं अनौचित्य नैतिक दृष्टि से आंक सकता है। ऐसी क्षमता सब

1. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 35.
2. वही, पृ० 37.

व्यक्तियों में होना सम्भव नहीं है। लास्की सबको आवश्यकता से अधिक बुद्धिमान मान लेता है। इससे अव्यवस्था और अराजकता का भीषण दोष उत्पन्न होने की सम्भावना है। लास्की इसे स्वीकार करते हुए कहता है कि राज्य का कार्य ठीक है तो कोई व्यक्ति इसका विरोध नहीं करेगा। यदि यह कार्य ठीक नहीं है तो इसका विरोध होना उचित है। इस विषय में अराजकता का तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्ति के उच्चतम नैतिक विकास का उद्देश्य अराजकता की स्थिति से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह कई बार क्रान्तियों और विद्रोहों से अधिक अच्छी तरह पूरा होता है। लास्की के मतानुसार क्रान्ति मुट्ठी-भर षड्यन्त्रकारियों से नहीं होती है, यह सदैव असह्य अन्यायों तथा अत्याचारों को दूर करने के लिए होती है। इससे हमेशा समाज का कल्याण होता है।[1]

(घ) **अधिकारों का सिद्धान्त**—लास्की के मतानुसार व्यक्ति उसी दशा में राज्य के कानूनों का पालन करता है, जब यह उसको अपने नैतिक विकास की दृष्टि से उत्तम तथा उत्कृष्ट प्रतीत हो। यह तभी सम्भव है, जब नागरिकों के व्यक्तित्वों का विकास करने के लिए राज्य अधिकतम अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करे। उत्तम जीवनयापन के लिए व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करने के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियों को ही 'अधिकार' (Rights) कहते हैं। राज्य का प्रधान प्रयोजन व्यक्ति के लिए अधिकारों या उत्कृष्ट जीवनयापन के लिए अनुकूल परिस्थितियों को बनाए रखना है। प्रमुख अधिकार निम्नलिखित हैं—व्यक्ति को अपना पेट भरने के लिए कार्य पाने का अधिकार, अपनी मेहनत का पूरा पारिश्रमिक पाने का अधिकार, शिक्षा पाने का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, समानता का अधिकार। लास्की के मतानुसार यदि कोई राज्य अपने नागरिकों को ये अधिकार नहीं प्रदान करता तो वे उसके कानूनों तथा आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं।

लास्की अधिकारों के विषय में हॉब्स, लॉक और बेन्थम के 'अधिकारों के सिद्धान्त' (Legal Theory of Rights) का खण्डन करता है। इसके अनुसार अधिकार की यह परिभाषा की जाती है कि अधिकार राज्य द्वारा किसी क्षेत्र में स्वीकार किया जाने वाला व्यक्ति का दावा (Claim) है। इसे राज्य कानून द्वारा स्वीकार और लागू करता है। अतः यह कानूनी सिद्धान्त कहलाता है; यह बड़ा दोषपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि यह अधिकार के सम्बन्ध में इन मौलिक प्रश्नों पर कोई प्रकाश नहीं डालता है कि राज्य इस दावे को किस कारण से स्वीकार करता है और राज्य क्या वे सभी दावे मानता है, जिनको उसे मानना चाहिए। उदाहरणार्थ, राज्य को अपने नागरिकों को यह अधिकार अवश्य देना चाहिए कि वे आजीविका के लिए काम प्राप्त कर सकें। किन्तु अभी तक सोवियत संघ के अतिरिक्त बहुत कम राज्यों ने व्यक्ति के इस अधिकार को स्वीकार किया है। लॉक ने तथा उसके अनुयायियों ने पहले प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि सुदूर स्वर्णिम अतीतकाल में मनुष्य सभी अधिकारों का उपभोग करता था, बाद में मात्स्य न्याय अथवा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम प्रबल होने के कारण शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बल लोगों से अधिकार छीन लिए। राज्य का प्रादुर्भाव इन अधिकारों को दिलाने के लिए हुआ है। किन्तु आरम्भिक स्थिति के सर्वथा काल्पनिक होने के कारण यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है। इस विषय में लास्की का

1. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 42.

उत्तर समीचीन जान पड़ता है। उसका यह कहना है कि "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं, जिनके बिना मनुष्य अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता है।" अधिकार मनुष्य को इसलिए मिलने चाहिएँ कि वह इनसे अपना विकास कर सके। यदि उसे आजीविका कमाने का, समानता का, वैयक्तिक स्वाधीनता और विचारों के अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता का, शिक्षा पाने का अधिकार न मिले तो वह अपना विकास नहीं कर सकता है, अतः उसे ये अधिकार मिलने चाहिएँ।

लास्की का मूल्यांकन—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लास्की के स्थान के सम्बन्ध में उग्र मतभेद है। एक ओर उसके जीवनी-लेखक किंगस्ली मार्टिन (Kingsley Martin) ने उसे एक महान् शिक्षक, विद्वान् तथा ऐसा विलक्षण प्रतिभाशाली राजनीतिक विचारक माना है, जो 1930 से 40 तक इस क्षेत्र में सर्वोच्च बना रहा, जिसकी तुलना में लोकतन्त्रीय विचारों और संस्थाओं का अधिक गम्भीर ज्ञान रखने वाला कोई विचारक सत्रहवीं शताब्दी के बाद से उत्पन्न नहीं हुआ था। दूसरी ओर इसके विचारों का गम्भीर अध्ययन करने वाले हर्बर्ट डीन ने इससे सर्वथा विपरीत मूल्यांकन करते हुए कहा है कि उसने राजनीतिक विचारक या विद्वान् के रूप में कभी वैसा यश और कीर्ति नहीं प्राप्त की, जैसी उसकी आरम्भिक रचनाओं से आशा की जा रही थी। शुरू में इसकी रचनाओं में होनहारपन के लक्षण थे, किन्तु वे बाद में पूरे नहीं हुए। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत इसमें घटित नहीं हुई। 1930 के बाद उस की बौद्धिक शक्तियों का चरम विकास अवरुद्ध होने लगा, वह गम्भीर विचारक के स्थान पर कुछ विशेष सिद्धान्तों का प्रचारक और लेखक बन गया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपने जीवन के पिछले 20 वर्षों में उसने अपने अध्यापन द्वारा सैकड़ों विद्यार्थियों के मस्तिष्कों पर प्रभाव डाला, उनकी कल्पनाओं को उद्दीप्त किया, द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रान्तिकारी स्वरूप को प्रकट किया, उसकी अध्यक्षता में मजदूर दल ने भारत तथा पाकिस्तान को स्वतन्त्रता प्रदान की। उसने वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य की प्रभुसत्ता की समस्याओं को बड़े स्पष्ट तथा उग्र रूप में प्रस्तुत किया। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी, उसमें एक उच्चकोटि के दार्शनिक की भाँति विचारों की उच्चता, गम्भीरता एवं तटस्थभाव नहीं था, अतः उसे प्रथम कोटि के विचारकों में स्थान देना कठिन है। उसके भक्त जीवनी-लेखक मार्टिन की अपेक्षा उसके निष्पक्ष आलोचक श्री हर्बर्ट डीन का उपर्युक्त मूल्यांकन अधिक सही प्रतीत होता है। डीन के मतानुसार इसका प्रधान कारण लास्की का अपनी विलक्षण शक्तियों को चिन्तन के क्षेत्र में ही केन्द्रित न करके विभिन्न क्षेत्रों में लगा देना था।[1] यदि यह शक्ति एक ही क्षेत्र में लगी रहती तो अपने होनहारपन तथा विलक्षण चमक को अवश्य प्रदर्शित करती। एक अन्य आधुनिक आलोचक डॉ० शर्मा के मतानुसार लास्की में विभिन्न विरोधी विचारधाराओं—सन्देहवाद, आदर्शवाद, बहुलवाद, व्यवहारवाद (Pragmatism), उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद और उदारवाद—का ऐसा संघर्ष बना रहा कि वह इन असंगत और विरोधी तत्त्वों से उच्चकोटि के एक नवीन राजनीतिक दर्शन का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सका।[2]

1. हर्बर्ट डीन—दी पोलिटिकल आइडियाज ऑफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० 333-34.
2. जी० एन० शर्मा—दी पोलिटिकल थॉट ऑफ हेराल्ड जे० लास्की, पृ० 133.

सहायक ग्रन्थ-सूची

(क) अंग्रेज़ी ग्रन्थ

Barker, Ernest : Greek Political Theory—Plato and his Predecessors (Methuen, London, 1918).

Barker, Ernest (Tr.) : Politics of Aristotle (Oxford University Press, 1946).

Barker, E. : Political Thought in England—Herbert Spencer to 194 (Oxford Unversity Press).

Carlyle, A. J. : History of Medieval Political Theory in the West, 6 Vols, Barnes & Noble, N. Y., 1927-46.

Catlin, George : A History of Political Philosophies, Allen & Unwin, London, 1950.

Coker, F. W. : Readings in Political Philosophy, Macmillan, New York, 1937.

Davidson, William : Political Thought in England—Bentham to Mill, Oxford University Press.

Doyle, Phyllis : History of Political Thought, Jonathan Cape, London, 1949.

Dunning, William Archibald : A History of Political Thought : Vol. I. Ancient and Medieval ; Vol. II—From Luther to Montesque, Vol. III—From Rousseau to Spencer, Macmillan, New York, 1910-20.

Ebenstein, William : Great Political Thinkness—Plato to the Present, 3rd ed.

Ebenstein, W. : Modern Political Thought, 2nd ed., Holt, New York, 1960.

Ebenstein, W. : Today's Isms, 3rd ed., Prentice Hall, N. J. 1962.

Foster, Michael B. : Masters of Political Thought, Vol. I—Plato to Machiavelli (Harrap, 1942).

Gettell, R. G. : History of Political Thought (The Century Co., New York).

Hallowell, J. H. : Main Currents in Modern Political Thought, Holt, New York, 1950.

Hearnshaw, F. J. C. (ed). : The Social and Political Ideas of Some Great Medieval Thinknes, 7 Vols.(Barnes and Noble, New York).

Joad : Modern Political Theory (Oxford University. Press).

Jones E. T. : Masters of Political Thought, Vol. II—Machiavelli to Bentham (Harrap, 1947).

Lancaster, L. W. : Masters of Political Thought, Vol. III, Harrap, London, 1957.

Maxey, Chester, C. : Political Philosophies, Macmillan, New York, 1959.

Merriam, Barnes and Others : Political Theories—Present Times, Macmillan, New York, 1932.

McIlwain, C. H. : The Growth of Political Thought in the West, (Macmillan, New York, 1932).

Murray, R. R. : The History of Political Science from Plato to the Present, (Heffer & Sons, Cambridge, 1929).

Russel, Bertrand : History of Western Philosophy (Allen & Unwin London, 1946).

Russel, Bertrand : Wisdom of the West (Macdonald, London, 1959).

Sabine, G. A. : A History of Political Theory, Harrap, London, 1951.

Wayper, C. L. : Political Thought, London, 1954.

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

इंगलैण्ड का राजदर्शन : डेविडसन तथा बार्कर के उपर्युक्त ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद (किताब महल, अलाहाबाद, 1958)।

कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, रामनारायण कृत अनुवाद।

गणेश प्रसाद : राजनीतिक विचारधाराएँ (ओरियण्ट लांगमैन्स, 1957)।

गैटिल : राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, सत्यनारायण दुबे कृत अनुवाद (लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1960)।

वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास (हिन्दी समिति, लखनऊ, 1964)।

शर्मा, महादेव प्रसाद : आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद, चैतन्य पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद, 1959।

सेबाइन : राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास (एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली)।